

॥ श्रीः ॥

विद्याभवन राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला

४२



प्राकृत साहित्य का इतिहास

(ईसवी सन् के पूर्व पाँचवीं शताब्दी से ईसवी सन् की अठारहवीं शताब्दी तक)

डॉक्टर जगदीशचन्द्र जैन, एम. ए., पी-एच. डी.

(भूतपूर्व प्रोफेसर, प्राकृत जैन विद्यापीठ, मुजफ्फरपुर–बिहार)

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, रामनारायण रुइया कॉलेज, बंबई



चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी-१

प्रकाशक : चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी
संस्करण : प्रथम, वि० संवत् २०१८
मूल्य : २०-००

Phone : 3076

THE

VIDYABHAWAN RAS'TRABHASHA GRANTHAMALA

42

HISTORY OF PRAKRIT LITERATURE

(From 500 B. C. To 1800 A. D.)

By

DR. JAGADISH CHANDRA JAIN, M. A. Ph. D.

(Sometime Professor at Vaishali Institute of Post graduate studies in Prakrit, Gainology and Ahimsa, Muzaffarpur-Bihar)

HEAD OF THE DEPARTMENT OF HINDI

RAMNARAIN RUIA COLLEGE

BOMBAY.



THE

CHOWKHAMBA VIDYA BHAWAN

VARANASI-1

1961] [Rs. 20-00

THE

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

POST BOX NO. 69, VARANASI-1

INDIA.

1961

मुनि जिनविजय जी

और

मुनि पुण्यविजय जी

को

सादर समर्पित

भूमिका

भारत के अनेक विश्वविद्यालयों में प्राकृत का पठन-पाठन हो रहा है लेकिन उसका जैसा चाहिये वैसा आलोचनात्मक क्रमबद्ध अध्ययन अभी तक नहीं हुआ। कुछ समय पूर्व हर्मन जैकोबी, वैबर, पिशल और शूब्रिंग आदि विद्वानों ने जैन आगमों का अध्ययन किया था, लेकिन इस साहित्य में प्रायः जैनधर्म संबंधी विषयों की चर्चा ही अधिक थी इसलिये 'शुष्क और नीरस' समझ कर इसकी उपेक्षा ही कर दी गई। जर्मन विद्वान् पिशल ने प्राकृत साहित्य की अनेक पांडुलिपियों का अध्ययन कर प्राकृत भाषाओं का व्याकरण नामक खोजपूर्ण ग्रंथ लिखकर इस क्षेत्र में सराहनीय प्रयत्न किया। इधर मुनि जिनविजय जी के संपादकत्व में सिंघी सीरीज़ में प्राकृत साहित्य के अनेक अभिनव ग्रंथ प्रकाशित हुए। भारत के अनेक सुयोग्य विद्वान् इस दिशा में श्लाघनीय प्रयत्न कर रहे हैं जिसके फलस्वरूप अनेक सांस्कृतिक और ऐतिहासिक महत्त्वपूर्ण उपयोगी ग्रंथ प्रकाश में आये हैं। लेकिन जैसा ठोस कार्य संस्कृत साहित्य के क्षेत्र में हुआ है वैसा प्राकृत साहित्य के क्षेत्र में अभी तक नहीं हुआ। इस दृष्टि से प्राकृत साहित्य के इतिहास को क्रमबद्ध प्रस्तुत करने का यह सर्वप्रथम प्रयास है।

कलिकाल सर्वज्ञ के नाम से प्रख्यात आचार्य हेमचन्द्र के मतानुयायी विद्वानों की मान्यता है कि प्राकृत संस्कृत का ही अपभ्रष्ट रूप है। लेकिन रुद्रट के काव्यालंकार (२.१२) के टीकाकार नमिसाधु ने इस संबंध में स्पष्ट लिखा है—"व्याकरण आदि के संस्कार से विहीन समस्त जगत् के प्राणियों के स्वाभाविक वचन व्यापार को प्रकृति कहते हैं; इसी से प्राकृत बना है। बालक, महिलाओं आदि की यह भाषा सरलता से समझ में आ सकती है और समस्त भाषाओं की यह मूलभूत है। जब कि मेघधारा के समान एकरूप और देशविशेष या संस्कार के कारण जिसने विशेषता प्राप्त

की है और जिसके सत् संस्कृत आदि उत्तर विभेद हैं उसे संस्कृत समझना चाहिये।" आचार्य पाणिनि ने वाङ्मय की भाषा को छन्दस् और लोकभाषा को भाषा कहा है, इससे भी प्राकृत की प्राचीनता और लोकप्रियता सिद्ध होती है। वैदिक काल से जनसामान्य द्वारा बोली जाती हुई इन्हीं प्राकृत भाषाओं में बुद्ध और महावीर ने साधारण जनता के हितार्थ अपना प्रवचन सुनाया था।

बुद्ध और महावीर के पूर्व जनसामान्य की भाषा का क्या स्वरूप था, यह जानने के हमारे पास पर्याप्त साधन नहीं हैं। लेकिन इनके युग से लेकर ईसवी सन् की १८ वीं शताब्दी तक प्राकृत साहित्य के विविध क्षेत्रों में जो धार्मिक आख्यान, चरित, स्तुति, स्तोत्र, लोककथा, काव्य, नाटक, सट्टक, प्रहसन, व्याकरण, छंद, कोष, तथा अर्थशास्त्र, संगीतशास्त्र, सामुद्रिकशास्त्र आदि शास्त्रीय साहित्य की रचना हुई वह भारतीय इतिहास और साहित्य की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी है।

संस्कृत सुशिक्षितों की भाषा थी जब कि जनसामान्य की भाषा होने से प्राकृत को बाल, वृद्ध, स्त्रियाँ और अनपढ़ सभी समझ सकते थे। ईसवी सन् के पूर्व ५वीं शताब्दी से लेकर ईसवी सन् की ५वीं शताब्दी तक जैन आगम-साहित्य का संकलन और संशोधन होता रहा। तत्पश्चात् ईसवी सन् की दूसरी शताब्दी से १६वीं शताब्दी तक इस साहित्य पर निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णी और टीकायें लिखकर इसे समृद्ध बनाया गया। अनेक लौकिक और धार्मिक कथाओं आदि का इस व्याख्या-साहित्य में समावेश हुआ।

ईसवी सन् की चौथी शताब्दी से १७वीं शताब्दी तक कथा-साहित्य संबंधी अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रंथों की रचना हुई। ११वीं १२वीं शताब्दी का काल तो विशेष रूप से इस साहित्य की उन्नति का काल रहा। इस समय गुजरात में चालुक्य, मालवा में परमार तथा राजस्थान में गुहिलोत और चाहमान राजाओं का राज्य था और इन राजाओं का जैनधर्म के प्रति विशेष अनुराग था। फल यह हुआ कि गुजरात में अणहिल्लपुर पाटण, खंभात, और भडौंच, राजस्थान

में भिन्नमाल, जाबालिपुर और चित्तौड़ तथा मालवा में उज्जैन, ग्वालियर और धारा आदि नगर जैन श्रमणों की प्रवृत्तियों के केन्द्र बन गये।

ईसवी सन् की पहली शताब्दी से लेकर १८वीं शताब्दी तक प्रेम और शृंगार से पूर्ण प्राकृत काव्य की रचना हुई। यह साहित्य प्रायः अजैन विद्वानों द्वारा लिखा गया। मुक्तक काव्य प्राकृत साहित्य की विशेषता रही है, और संस्कृत काव्यशास्त्र के पंडित आनन्दवर्धन आदि विद्वानों ने तो मुक्तकों की रचना का प्रथम श्रेय संस्कृत को न देकर प्राकृत को ही दिया है। प्रेम और शृंगारप्रधान यह सरस रचना हाल की गाथासप्तशती से आरंभ होती है। आगे चलकर जब दक्षिण भारत साहित्यिक प्रवृत्तियों का केन्द्र बना तो केरलदेशवासी श्रीकंठ और रामपाणिवाद आदि मनीषियों ने अपनी रचनाओं से प्राकृत साहित्य के भंडार को संपन्न किया।

ईसवी सन् की प्रथम शताब्दी से १८वीं शताब्दी तक संस्कृत-नाटकों की रचना का काल रहा है। इस साहित्य में उच्च वर्ग के पुरुष, राजा की पटरानियाँ, मंत्रियों की कन्यायें आदि पात्र संस्कृत में, तथा स्त्रियाँ, विदूषक, धूर्त, विट और नौकर-चाकर आदि पात्र प्राकृत में संभाषण करते हैं। कर्पूरमञ्जरी आदि सट्टक-साहित्य में तो केवल प्राकृत का ही प्रयोग किया गया। इससे यही सिद्ध होता है कि दर्शकों के मनोरंजन के लिये नृत्य के अभिनय में प्राकृत का यथेष्ट उपयोग होता रहा।

संस्कृत की देखादेखी प्राकृत में भी व्याकरण, छन्द और कोषों की रचना होने लगी। ईसवी सन् की छठी शताब्दी से १८वीं शताब्दी तक इस साहित्य का निर्माण हुआ। मालूम होता है कि वररुचि से पहले भी प्राकृत व्याकरण लिखे गये, लेकिन आजकल वे उपलब्ध नहीं हैं। आनन्दवर्धन, धनंजय, भोजराज, रुय्यक, मम्मट, हेमचन्द्र, विश्वनाथ आदि काव्यशास्त्र के दिग्गज पंडितों ने प्राकृत भाषाओं की चर्चा करने के साथ-साथ, अपने ग्रंथों में प्रतिपादित रस और अलंकार आदि को स्पष्ट करने के लिये, प्राकृत काव्यग्रंथों

में से चुन चुनकर अनेक सरस उदाहरण प्रस्तुत किये। इससे प्राकृत काव्य-साहित्य की उत्कृष्टता का सहज ही अनुमान किया जा सकता है। इन सरस रचनाओं में पारलौकिक चिंताओं से मुक्त इहलौकिक जीवन की सरल और यथार्थवादी अनुभूतियों का सरस चित्रण किया गया है।

इसके अतिरिक्त अर्थशास्त्र, राजनीति, कामशास्त्र, निमित्तशास्त्र, अंगविद्या, ज्योतिष, रत्नपरीक्षा, संगीतशास्त्र आदि पर भी प्राकृत में महत्त्वपूर्ण ग्रंथ लिखे गये। इनमें से अधिकांश लुप्त हो गये हैं।

इस प्रकार लगभग २५०० वर्ष के इतिहास का लेखा-जोखा यहाँ प्रस्तुत किया गया है। इस दीर्घकाल में प्राकृत भाषा को अनेक अवस्थाओं से गुजरना पड़ा। प्राकृत के पैशाची, मागधी, अर्धमागधी, शौरसेनी और महाराष्ट्री आदि रूप सामने आये। जैसे प्राकृत संस्कृत की शैली आदि से प्रभावित हुई वैसे ही प्राकृत भी संस्कृत को बराबर प्रभावित करती रही। कालांतर में प्राकृत भाषा ने अपभ्रंश का रूप धारण किया और अपभ्रंश भाषायें व्रज, अवधी, मगही, भोजपुरी, मैथिली, राजस्थानी, पंजाबी आदि बोलियों के उद्भव में कारण हुईं। इस दृष्टि से प्राकृत साहित्य का इतिहास भारतीय भाषाओं और साहित्य के अध्ययन में विशेष उपयोगी सिद्ध होगा।

सन् १९४५ में जब मैंने 'जैन आगमों में प्राचीन भारत का चित्रण' नामक महानिबंध (थीसिस) लिखकर समाप्त किया तभी से मेरी इच्छा थी कि प्राकृत साहित्य का इतिहास लिखा जाये। समय बीतता गया और मैं इधर-उधर की प्रवृत्तियों में जुटा रहा। इधर सन् १९५६ से ही प्राकृत जैन विद्यापीठ मुजफ्फरपुर [बिहार] में मेरी नियुक्ति की बात चल रही थी। लगभग दो वर्ष बाद बिहार सरकार ने अपनी भूल का संशोधन कर अंततः अक्तूबर, १९५८ में प्राकृत जैन विद्यापीठ में मेरी नियुक्ति कर उदारता का परिचय दिया। यहाँ के शांत वातावरण में कार्य करने का यथेष्ट समय मिला। भगवान् महावीर की जन्मभूमि वैशाली की इस पवित्र भूमि का आकर्षण भी

कुछ कम प्रेरणादायक सिद्ध नहीं हुआ। जैन श्रमणों को इस क्षेत्र में अपने सिद्धांतों का प्रचार करने के लिये अनेक कष्टों का सामना करना पड़ा था। सचमुच बिहार राज्य की सरकार का मैं अतीव कृतज्ञ हूँ जिसने यह सुअवसर मुझे प्रदान किया।

पूना की शिक्षण प्रसारक मण्डली द्वारा संचालित रामनारायण रुइया कालेज, बंबई के अधिकारियों का भी मैं अत्यंत आभारी हूँ जिन्होंने अवकाश प्रदानकर मुझे प्राकृत जैन विद्यापीठ में कार्य करने की अनुमति दी।

प्राकृत साहित्य का इतिहास जैसी पुस्तक लिखने के लिये एक अच्छे पुस्तकालय की कमी बहुत अखरती है। पुस्तकें प्राप्त करने के लिये अहमदाबाद आदि स्थानों में दौड़ना पड़ा। आगम-साहित्य के सुप्रसिद्ध वेत्ता मुनि पुण्यविजय जी महाराज की लाइब्रेरी का पर्याप्त लाभ मुझे मिला। जैन आगम और जैन कथा संबंधी आदि अनेक विषयों पर चर्चा करके उन्होंने लाभान्वित किया। दुर्भाग्य से जैन आगम तथा अधिकांश प्राकृत साहित्य के जैसे आलोचनात्मक संस्करण होने चाहिये वैसे अभीतक प्रकाशित नहीं हुए, इससे पाठ शुद्धि आदि की दृष्टि से बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा। इस पुस्तक के कथा, चरित, और काव्यभाग को प्राकृत के प्रकाण्ड पंडित मुनि जिनविजय जी को सुनाने का सुअवसर मिला। उनके सुझावों का मैंने लाभ उठाया। सिंघी जैन ग्रंथमाला से प्रकाशित होनेवाले प्राकृत के बहुत से ग्रंथों की मुद्रित प्रतियां भी उनके सौहार्द से प्राप्त हुई। साहित्य अकादमी द्वारा पुरस्कृत दर्शन-शास्त्र के अद्वितीय विद्वान् पंडित सुखलाल जी को भी इस पुस्तक के कुछ अध्याय भेज दिये थे। उन्होंने अपना अमूल्य समय देकर उन्हें सुना और बहुमूल्य सुझाव दिये। प्राकृत जैन विद्यापीठ के डाइरेक्टर डाक्टर हीरालाल जैन का मुझ पर विशेष स्नेह रहा है। विद्यापीठ में उनका सहयोगी बन कर कार्य करने का सौभाग्य मुझे मिला, उन्होंने मुझे सदा प्रोत्साहित ही किया।

संस्कृत विद्या के केन्द्र वाराणसी में पुस्तक छपने और उसके प्रूफ देखे जाने के कारण कितने ही स्थानों पर प्राकृत के शब्दों में अनुस्वार के स्थान पर वर्ग का संयुक्त पंचमाक्षर छप गया है, इसके लिए क्षमाप्रार्थी हूँ।

प्राकृत विद्यापीठ के मेरे पी-एच० डी० के छात्र योगेन्द्रनारायण शर्मा, और एम० ए० के छात्र राजनारायण राय ने अलंकार-ग्रन्थों में प्राकृत पद्यों की सूची बनाने में सहायता की। चन्द्रशेखर सिंह ने बड़ी तत्परता के साथ इस पुस्तक की पांडुलिपि को टंकित किया। प्रोफेसर आद्याप्रसाद सिंह और डॉक्टर देवेश ठाकुर ने अनुक्रमणिका तैयार करने में सहायता की। चौखम्बा संस्थान के व्यवस्थापक बन्धुद्वय—मोहनदास एवं विट्ठलदास गुप्त—ने बड़े उत्साहपूर्वक इस पुस्तक का प्रकाशन किया। इन सब हितैषी मित्रों को किन शब्दों में धन्यवाद दूँ?

प्राकृत जैन विद्यापीठ
मुजफ्फरपुर
गांधी जयन्ती १९५९

जगदीशचन्द्र जैन

विषय-सूची

तीसरा अध्याय

चौथा अध्याय

पांचवां अध्याय

सातवां अध्याय

आठवां अध्याय

नौवां अध्याय

दसवां अध्याय

ग्यारहवां अध्याय

परिशिष्ट १

परिशिष्ट २



शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१९	३	अट्ठाइस	अट्ठारस
४५	८	सामयिक	सामायिक
५१	२१	विभुक्ति	विमुक्ति
७९	६	महासमुछो	महासमुद्दो
८१	१३	स्कंध	स्कंद
९५	२	अगुत्तरो०	अणुत्तरो०
१०६	१६	मुंसुंढि	मुसुंढि
१११	१४	एक-एक	एक
१३५	१३	जिनदासमणि	जिनदासगणि
१६४	१२	हूर्षकुल	हर्षकुल
१८९	२	कप्पसिअ	कप्पासिआ
१९५	१४	और और	और
२०५	८	पंगू प	पंगू
२२३	२८	मैं स्नेह करता हूँ	तू स्नेह करती है
२२९	७	पारांतिक	पारांचिक
२४२	५	गिरिगिट	गिरगिट
२४६	४	शल्प	शिल्प
२५७	१९	वेयश्या	वेश्यया
२६८	६	जातककथा, सरित्सागर	जातक, कथासरित्सागर
२९५	७	व्यंजन	व्यजन
३४२	८	वि० सं० १३२६ = ईसवी सन् १२६९	वि० सं० १३२७ = ईसवी सन् १२७०
३७२	६	तरंगलीला	तरंगलोला
३७०	१३	तरंगलीला	तरंगलोला
४४५	१३	आद्रककुमार	आर्द्रककुमार
४६०	२०	सूरत	सुरत
४६४	२०	सम्प्राति	सम्प्रति
४८३	२७ (नोट)	सिंगोली	सिंगोली की पहचान उडियान के संभलपुर से की जा सकती है

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४८९	१२	सुसुमा	सुंसुमा
४९७	२०	एडकक्षपुर	एडकाक्षपुर
५२६	१७	हरिभद्रशीलांक	हरिभद्र, शीलांक
५५७	१८	ऋषभत्त	ऋषभदत्त
५७५	११	शर्ववर्मा	शिववर्मा
५७५	२७	दलपतराय	दलपतराम
६१०	४	अनिरूद्ध	अनिरुद्ध
६५२	७	सिंहहर्ष	श्रीहर्ष

पृष्ठ	गाथा	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७०४	४	२	दसणं	दंसणं
७०५	५	२	उणिअ मवऊढो	उणिअमवऊढो
७०९	३	१	भाउअस्स	माउअस्स
७१०	६	२	हिअएतु	हिअएसु
७१२	५	२	मरिमो	भरिमो
७१३	१	२	सद्धहिमो	सद्दहिमो
७१३	२	२	रूप्पिणीअ	रुप्पिणीअ
७२२	३	२	विअसिअंच्छ	विअसिअच्छ
७२२	३	२	घण्णा	धण्णा
७२८	४	१	तस्य	तस्स
७३१	४	२	पुपवट्टदि	पवट्टदि
७३६	६	२	वड्ढीइ त्थणआणं	वड्ढीइत्थणआणं
७४७	३	१	गेणहूइ	गेण्हइ
७५१	१	२	पल्लव	पल्लवा
७५१	३	२	पडिघुम्मिरा	पडिघुम्मिरा
७६६	३	२	रूद्दस्स	रुद्दस्स
७६९	४	१	धअवडा	धअवडा
७७२	३	४ (अर्थ)	विष्णु	सूर्य
७७५	१	२	सुविअड्ढे	सुविअड्ढ
७७६	६	५ (अर्थ)	——	हटाने
७८०	१	१	विलिओणआओ	विलिअणयणाओ
७८०	७	२	घरं गणं	घरंगणं

प्राकृत साहित्य का इतिहास

पहला अध्याय

भाषाओं का वर्गीकरण

उपभाषाओं अथवा बोलियों को छोड़कर सारी दुनिया की भाषाओं की संख्या लगभग दो हजार कही जाती है। इनमें अधिकांश भाषाओं का तो अध्ययन हो चुका है, लेकिन अमरीका, अफ्रीका तथा प्रशांत महासागर के दुर्गम प्रदेशों में बोली जानेवाली भाषाओं का अध्ययन अभी नाममात्र को ही हुआ है। इन सब भाषाओं का वर्गीकरण चार खंडों में किया गया है—अफ्रीका-खंड, युरेशियाखंड, प्रशान्तमहासागरीयखंड और अमरीका-खंड। युरेशियाखंड में सेमेटिक, काकेशस, यूराल-अल्टाइक, एकाक्षर, द्राविड़, आग्नेय, अनिश्चित और भारोपीय (भारत-यूरोपीय) नाम की आठ शाखाओं का अन्तर्भाव होता है। भारोपीय कुल की भाषायें उत्तर भारत, अफगानिस्तान, ईरान तथा प्रायः सम्पूर्ण यूरोप में बोली जाती हैं। ये भाषायें केंटुम् (लैटिन भाषा में सौ के लिये केंटुम् शब्द का प्रयोग होता है) और शतम् (संस्कृत में सौ के लिये शतम् शब्द का प्रयोग होता है) नाम के दो समूहों में विभक्त हैं। शतम् वर्ग में इलीरियन, बाल्टिक, स्लैवोनिक, आर्मेनियन और आर्यभाषाओं का समावेश होता है। आर्य अथवा भारत-ईरानी उपकुल की तीन मुख्य भाषायें हैं—ईरानी, दरद और भारतीय आर्यभाषा। पुरानी ईरानी के सब से प्राचीन नमूने पारसियों के धर्मग्रन्थ अवेस्ता में पाये जाते हैं; यह भाषा ऋग्वेद से मिलती-जुलती है। दरद भाषा का क्षेत्र पामीर और पश्चिमोत्तर पंजाब के बीच में

है। संस्कृत साहित्य में काश्मीर के पास के प्रदेश के लिये दरद का प्रयोग हुआ है।

भारतीय आर्यभाषायें

भारतीय आर्यभाषाओं को तीन युगों में विभक्त किया जाता है। पहला युग प्राचीन भारतीय आर्यभाषा का है जो लगभग १५०० ईसवी पूर्व से लेकर ५०० ईसवी पूर्व तक चलता है। इस युग में वेदों की भाषा, तत्कालीन बोलचाल की लोकभाषा पर आधारित संस्कृत महाकाव्यों की भाषा तथा परिष्कृत साहित्यिक संस्कृत का अन्तर्भाव होता है। दूसरा मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा का युग है जो ५०० ईसवी पूर्व से ११०० ईसवी सन् तक चलता है। यह युग प्राकृत भाषाओं का युग है जिसमें पालि तथा प्राकृत—जिसमें उस काल की सभी जन-साधारण की बोलियाँ आ जाती हैं जो कि ध्वनितत्त्व के परिवर्त्तन और व्याकरणसंबंधी भिन्नतायें प्राचीन भारतीय आर्यभाषाओं से जुदा एक नई भाषा को जन्म दे रही थीं—का अन्तर्भाव होता है। तीसरा युग आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का युग है जो ११०० ईसवी सन् से लगा कर आज तक चलता है। इसमें अपभ्रंश और उसके उपभेदों का समावेश होता है।

मध्ययुगीन भारतीय आर्यभाषायें

मध्ययुगीन भारतीय आर्यभाषाओं को भी तीन भागों में विभक्त किया जाता है। प्रथम भाग में पालि, शिलालेखों की प्राकृत, प्राचीनतम जैन आगमों की अर्धमागधी, तथा अश्वघोष के नाटकों की प्राचीन प्राकृत का अन्तर्भाव होता है। दूसरे भाग में जैनों का धार्मिक और लौकिक साहित्य, क्लासिकल संस्कृत नाटकों की प्राकृत, हाल की सत्तसई, गुणाढ्य की बृहत्कथा, तथा प्राकृत के काव्य और व्याकरणों की मध्यकालीन प्राकृत आती है। तीसरे भाग में अपभ्रंश का समावेश होता है जो ईसवी सन् की पाँचवीं-छठी शताब्दी से आरंभ हो जाता

है। अपभ्रंश अपने पूर्ण विकास पर तभी पहुँच सका जब कि मध्ययुगीन प्राकृत को वैयाकरणों ने जटिल नियमों में बाँध कर आगे बढ़ने से रोक दिया। पहले प्राकृत भाषायें भी इसी प्रकार अपनी उन्नति के शिखर पहुँची थीं जब कि बोलचाल की भाषाओं ने साहित्यिक संस्कृत का रूप धारण कर लिया था। अस्तु, ईसवी सन् की बारहवीं शताब्दी में हेमचन्द्र ने अपने प्राकृतव्याकरण में जो अपभ्रंश के उदाहरण दिये हैं उनसे पता लगता है कि हेमचन्द्र के पूर्व ही अपभ्रंश भाषा अपने उत्कर्ष पर पहुँच चुकी थी।

प्राकृत और संस्कृत

पहले कतिपय विद्वानों का मत था कि प्राकृत की उत्पत्ति संस्कृत से हुई है[1] और प्राकृत संस्कृत का ही बिगड़ा हुआ (अपभ्रंश) रूप है, लेकिन अब यह मान्यता असत्य सिद्ध हो चुकी है। पहले कहा जा चुका है, आर्यभाषा का प्राचीनतम रूप हमें ऋग्वेद की ऋचाओं में मिलता है। दुर्भाग्य से आर्यों की बोलचाल का ठेठ रूप जानने के लिये हमारे पास कोई साधन नहीं है। लेकिन वैदिक आर्यों की यही सामान्य बोलचाल जो ऋग्वेद की संहिताओं की साहित्यिक भाषा से जुदा है, प्राकृत का मूलरूप है।[2]

---

१. देखिये हेमचन्द्र का प्राकृतव्याकरण (१.१ की वृत्ति)—प्रकृतिः संस्कृतम्। तत्र भवं तत आगतं वा प्राकृतम्।

२. पिशल ने 'प्राकृत भाषाओं का व्याकरण', अनुवादक डॉक्टर हेमचन्द्र जोशी, बिहार-राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९५८ (पृष्ठ ८-९) में प्राकृत और वैदिक भाषाओं की समानता दिखाई है—त्तण (वैदिक त्वन), स्त्रीलिंग षष्ठी के एकवचन का रूप आए (वैदिक आयै), तृतीया का बहुवचन रूप एहिं (वैदिक एभिः), आज्ञावाचक होहि (वैदिक बोधि), ता, जा, एत्थ (वैदिक तात्, यात्, इत्था), अम्हे (वैदिक अस्मे), वग्गूहिं (वैदिक वग्नुभिः), सद्धिं (वैदिक

भाषा की प्रवृत्ति सरलीकरण की ओर रहती है। कठिन शब्दों की अपेक्षा मनुष्य सरलता से बोले जाने योग्य शब्दों का प्रयोग करना अधिक पसन्द करता है। बोलियों पर भौगोलिक परिस्थिति और आबहवा का असर पड़ता है। नगरों और कोर्ट-कचहरियों में आकर बोलियों का परिष्कार होता है। विदेशी भाषाओं के शब्दों से भी मूल भाषा में परिवर्तन और परिवर्धन होता रहता है। इन्हीं सब कारणों से प्राचीन वैदिक आर्यों द्वारा बोली जानेवाली लोकभाषा बराबर बदलती रही और स्थानभेद के कारण समय-समय पर भिन्न-भिन्न रूपों में हमारे सामने आई। यही भाषा प्राकृत अर्थात् जन-सामान्य की भाषा कहलाई। क्रमशः एक ओर आर्यों द्वारा बोली जानेवाली सामान्य भाषा उत्तरोत्तर समृद्ध होती रही, दूसरी और साहित्यिक भाषा परिमार्जित होती रही। वैदिक संहिताओं के पश्चात् ब्राह्मण-ग्रन्थों की रचना हुई; पदपाठ द्वारा वैदिक संहिताओं को पद के रूप में उपस्थित किया, तथा संधि और समासों के आधार पर वाक्य के शब्दों को अलग-अलग किया। प्रातिशाख्य द्वारा संहिताओं के परम्परागत उच्चारण को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया गया। तत्पश्चात् वैदिक भाषा के अपरिचित हो जाने पर निघंटु में वैदिक शब्दों का संग्रह किया गया। यास्क (ईसवी पूर्व ८वीं शताब्दी) ने निघंटु की व्याख्या करते हुए निघंटु के प्रत्येक शब्द को लेकर उसकी व्युत्पत्ति और अर्थ पर विचार किया। इस समय पाणिनि (५०० ई० पू०) ने वैदिककालीन भाषा को व्याकरण के नियमों में बाँधकर सुसंस्कृत बनाया और प्राकृत का यह परिष्कृत, सुसज्जित और सुगठित रूप संस्कृत कहा जाने लगा। पतंजलि (१५० ई० पू०) ने वेदों की रक्षा के लिये व्याकरण का अध्ययन आवश्यक बताया है। इससे वर्णों के लोप, आगम और विकार का ज्ञान होना बताया गया है।

सध्रीम), विऊ (वैदिक विदुः), घिंसु (वैदिक ध्रंस), रुक्ख (वैदिक रुच) आदि।

व्याकरण से शून्य पुरुष के सम्बन्ध में कहा है कि वह देखता हुआ भी नहीं देखता और सुनता हुआ भी नहीं सुनता।[1] इससे मालूम होता है कि व्याकरण का महत्त्व बहुत बढ़ रहा था। फलतः एक ओर संस्कृत शिष्ट जनसमुदाय की भाषा बन रही थी, और दूसरी ओर अनपढ़ लोग जनसामान्य द्वारा बोली जानेवाली प्राकृत भाषा से ही अपनी आवश्यकतायें पूरी कर रहे थे।[2] स्वयं पाणिनि ने वाङ्मय की भाषा को छन्दस् और साधारणजनों की भाषा को भाषा कह कर उल्लिखित किया है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि साहित्यक भाषा और जन-सामान्य की भाषा अलग-अलग हो गई थी। संस्कृत, प्राचीन

---

१. रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम्। लोपागमवर्णविकारज्ञो हि सम्यग्वेदान्परिपालयिष्यतीति।

उत त्वः पश्यन्त ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।

महाभाष्य १-१-१, पृष्ठ २०,४४। पतंजलि ने (महाभाष्य, भार्गव-शास्त्री, निर्णयसागर, बंबई, सन् १९५१, १, पृष्ठ ७६, ८५) में लिखा है कि बड़े-बड़े विद्वान् ऋषि भी 'यद्वानः', 'तद्वानः' इन शुद्ध प्रयोगों के स्थान में 'यर्वाणः' 'तर्वाणः' के अशुद्ध प्रयोग करते थे। उस समय पलाश के स्थान पर पलाष, मंचक के स्थान पर मंजक और शश के स्थान पर षष आदि अशुद्ध शब्दों का व्यवहार किया जाता था।

२. रुद्रट के काव्यालंकार (२ . १२) पर टीका लिखनेवाले नमिसाधु ने प्राकृत और संस्कृत का निम्न लक्षण किया है—सकल-जगज्जन्तूनां व्याकरणादिभिरनाहितसंस्कारः सहजो वचनव्यापारः प्रकृतिः तत्र भवं सैव वा प्राकृतम्।······प्राकृतं बालमहिलादिसुबोधं सकलभाषानिबंधनभूतं वचनमुच्यते। मेघनिर्मुक्तजलमिवैकस्वरूपं तदेव च देशविशेषात्संस्कारकरणाच्च समासादितविशेषं सत्संस्कृताद्युत्तर-विभेदानाप्नोति। —व्याकरण आदि के संस्कार से विहीन समस्त जगत् के प्राणियों के स्वाभाविक वचनव्यापार को प्रकृति कहते हैं। उसे ही प्राकृत कहा जाता है। बालक, महिला आदि की समझ में यह सरलता से आ सकती है, और समस्त भाषाओं की यह कारणभूत है। मेघधारा

भारतीय आर्यभाषाओं की कितनी ही बोलियों द्वारा समृद्ध हुई। ये बोलियाँ ऋग्वेद से लेकर पाणिनि और पतंजलि के काल तक शताब्दियों तक चलती रहीं। संस्कृत प्रातिशाख्य से लेकर पतंजलि के कालतक निरन्तर परिष्कृत होती रही और अन्त में वह अष्टाध्यायी और महाभाष्य के सूत्रों में निबद्ध होकर सिमट गई। उधर लोकभाषा का अत्रुटित अक्षय प्रवाह शताब्दियों से चला आ रहा था जिसके विविध रूप भिन्न-भिन्न क्षेत्र और काल के जनसाहित्य में दृष्टिगोचर होते हैं। महावीर और बुद्ध ने इसी लोकभाषा को अपनाया और इसमें अपना उपदेशामृत सुना कर जनकल्याण किया। वस्तुतः मध्ययुगीन भारतीय आर्यभाषाओं का यह युग अत्यन्त समृद्ध कहलाया। इस युग में सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक क्षेत्र में जितनी उन्नति हुई उतनी प्राचीन भारतीय आर्यभाषाओं के काल में कभी नहीं हुई। अब तक राजे-महाराजे और महान् नायकों के चरित्रों का शिष्टजनों की भाषा में चित्रण किया जाता था, लेकिन अब लोकभाषा में जन-जीवन का बहुमुखी चित्रण किया जाने लगा जिससे जनसाहित्य की उत्तरोत्तर उन्नति हुई।

प्राकृत और अपभ्रंश

क्रमशः प्राकृत का भी परिष्कार हुआ और उसने भी साहित्यिक वेशभूषा धारण की। शिलालेखों, तथा क्लासिकल और व्याकरणसंबंधी प्राकृत-साहित्य का अध्ययन करने से इस बात का पता लगता है। बौद्धों के हीनयान सम्प्रदाय द्वारा मान्य त्रिपिटकों की पालि तथा जैन आगमों की अर्ध-प्राकृत (अर्ध-मागधी) प्राकृत बोलियों के ही साहित्यिक रूप हैं।

के समान एकरूप और देश-विशेष के कारण या संस्कार के कारण जिसने विशेषता प्राप्त की है और जिसके सत् संस्कृत आदि उत्तर विभेद हैं उसे संस्कृत कहते हैं। सरस्वतीकंठाभरण (२.८) और दशरूपक (२.६५) में प्राकृत को स्त्रियों की भाषा कहा है।

प्राकृत भाषाओं के साहित्य में अभिवृद्धि होने पर संस्कृत की भाँति प्राकृत को भी सुगठित बनाने के लिये वैयाकरणों ने व्याकरण के नियम बनाये। लेकिन प्राकृत बोलियाँ अपने अनेक भिन्न-भिन्न रूपों में लोक में प्रचलित थीं। इससे जब वररुचि आदि वैयाकरणों ने पाणिनि को आदर्श मानकर प्राकृत व्याकरणों की रचना की तो संस्कृत की भाँति प्राकृत में एकरूपता नहीं आ सकी। पहले तो प्राकृत भाषाओं के प्रकार ही जुदा-जुदा थे। एक भाषा के लक्षण दूसरी भाषा के लक्षणों से भिन्न थे। फिर व्याकरण के नियमों का प्रतिपादन करते समय त्रिविक्रम और हेमचन्द्र आदि व्याकरणकारों ने जो 'प्रायः' 'बहुल', 'क्वचित्', 'वा' इत्यादि शब्दों का प्रयोग किया है इससे पता लगता है कि ये नियम किसी भाषा के लिये शाश्वत रूप से लागू नहीं होते थे। यश्रुति और ण-न-संबंधी आदि नियमों में एकरूपता नहीं थी। खलु के स्थान में कहीं हु, और कहीं खु, तथा अपि के स्थान में कहीं पि, कहीं वि, कहीं मि और कहीं अवि रूप का चलन था। प्राकृत भाषा की इस बहुरंगी प्रवृत्ति के कई कारण थे। पहले तो यही कि जैसे-जैसे समय बीतता गया बोलियों में परिवर्त्तन होते गये; दूसरे, व्याकरण-संबंधी नियमों को बनाते समय स्वयं वैयाकरण असंदिग्ध नहीं थे; तीसरे, जिस साहित्य का उन्होंने विश्लेषण किया वह साहित्य भिन्न-भिन्न काल का था। अवश्य ही इसमें पांडुलिपि के लेखकों और प्राकृत ग्रंथों के आधुनिक सम्पादकों का दोष भी कुछ कम नहीं कहा जा सकता।[1]

जो कुछ भी हो, इससे एक लाभ अवश्य हुआ कि प्राकृत कुछ व्यवस्थित भाषा बन गई, लेकिन हानि यह हुई कि जन-जीवन से उसका नाता टूट गया। उधर जिन लोकप्रचलित

---

१. देखिये डा० पी० एल० वैद्य द्वारा लिखित त्रिविक्रम के प्राकृतशब्दानुशासन की भूमिका, पृष्ठ १७-२३।

बोलियों के आधार पर प्राकृत की रचना हुई थी, वे बोलियां नियमों में बाँधी नहीं जा सकीं। इनका विकास बराबर जारी रहा और ये अपभ्रंश के नाम से कही जाने लगीं। भाषाशास्त्र की शब्दावलि में कहेंगे अपभ्रंश अर्थात् विकास को प्राप्त भाषा। पहले, जैसे प्राचीन भारतीय आर्यभाषाओं के साहित्यिक भाषा हो जाने से मध्ययुगीन भारतीय आर्यभाषा प्राकृत को महत्त्वपूर्ण स्थान मिला था, उसी प्रकार जब मध्ययुगीन भारतीय आर्यभाषायें साहित्यिक रूप धारण कर जनसामान्य की भाषाओं से दूर हो गईं तो आधुनिक भारतीय आर्यभाषा अपभ्रंश को महत्त्व दिया गया; जनसाधारण की बोली की परंपरा निरंतर जारी रही। आगे चलकर जब अपभ्रंश भाषा भी लोकभाषा न रह कर साहित्यरूढ़ बनने लगी तो देशी भाषाओं–हिन्दी, राजस्थानी, पंजाबी, गुजराती, मराठी, बंगाली, सिंधी आदि–का उदय हुआ। वास्तव में प्राकृत, अपभ्रंश और देशी भाषा, इन तीनों का आरम्भकाल में एक ही अर्थ था—जैसे-जैसे इनका साहित्यिक रूप बना, वैसे-वैसे उनका रूप भी बदलता गया।[1]

प्राकृत भाषायें

इस प्रकार हम देखते हैं कि मध्ययुगीन भारतीय आर्यभापाओं के अनेक रूप थे। ये श्वेताम्बर जैन आगमों की अर्धमागधी प्राकृत, दिगम्बर जैनों के प्राचीन शास्त्रों की शौरसेनी प्राकृत, जैनों की धार्मिक और लौकिक कथाओं की प्राकृत, संस्कृत नाटकों में प्रयुक्त विविधरूपवाली प्राकृत, मुक्तक काव्यों की महाराष्ट्री प्राकृत, शिलालेखों की प्राकृत आदि के रूप में बिखरी हुई पड़ी थीं। इन सब भाषाओं को सामान्यतया प्राकृत के नाम से कहा जाता था, यद्यपि प्राकृत के व्याकरणकारों ने इनके

---

१. काव्यालंकार (पृष्ठ १५) के टीकाकार नमिसाधु ने 'प्राकृतमेवापभ्रंशः' लिखकर इसी कथन का समर्थन किया है।

अलग-अलग नाम दिये हैं। नाटककारों और अलंकारशास्त्र के पंडितों ने भी इन प्राकृतों के विविध रूप प्रदर्शित किये हैं। दर-असल प्राकृत बोलियों के बोलचाल की भाषा न रह जाने के कारण इन बोलियों का रूप नियत करने में बड़ी कठिनाई हो रही थी। विविध रूप में बिखरे हुए प्राकृत साहित्य को पढ़-पढ़ कर ही व्याकरणकार अपने सूत्रों की रचना करते थे। इससे वैयाकरणों ने प्राकृत की बोलियों का जो विवेचन किया वह बड़ा अस्पष्ट और अपूर्ण रह गया। इन व्याकरणों को पढ़ कर यह पता नहीं चलता कि कौन से ग्रन्थों का विश्लेषण कर के इन नियमों की रचना की गई है, तथा अश्वघोष के नाटक, खरोष्ट्री लिपि का धम्मपद, अर्धमागधी के जैन आगम आदि की प्राकृतों का वास्तव में क्या स्वरूप था। अवश्य ही अठारहवीं शताब्दी में रामपाणिवाद आदि प्राकृत साहित्य के उत्तरकालीन लेखकों ने इन व्याकरणों का अध्ययन कर अपनी रचनायें प्रस्तुत कीं, लेकिन ऐसी रचनायें केवल उँगलियों पर गिनने लायक हैं।

भरतनाट्यशास्त्र (१७-४८) में मागधी, अवन्तिजा, प्राच्या, शौरसेनी, अर्धमागधी, वाह्लीका और दाक्षिणात्या नाम की सात प्राकृत भाषायें गिनाई गई हैं, यद्यपि इनके सम्बन्ध में यहाँ विशेष जानकारी नहीं मिलती। आगे चल कर संस्कृत के नाटककारों ने अपने पात्रों के मुँह से भिन्न-भिन्न बोलियाँ कहलवाई हैं और व्याकरणकारों ने इन बोलियों का विवेचन किया है, लेकिन इससे प्राकृतों का भाषाशास्त्रीय ज्ञान प्राप्त करने में जरा भी सहायता नहीं मिलती। व्याकरणकारों में प्राकृत बोलियों का विस्तृत विवेचन करनेवालों में वररुचि का नाम सर्वप्रथम आता है। उनके अनुसार प्राकृत (जिसे आगे चल कर महाराष्ट्री नाम दिया गया है), पैशाची, मागधी और शौरसेनी ये चार प्राकृत भाषायें हैं।[1] इस सम्बन्ध में ध्यान देने की बात है कि

१. राजशेखर ने काव्यमीमांसा (विहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना से सन् १९५४ में प्रकाशित, पृष्ठ १४) में संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और

वररुचि के प्राकृतप्रकाश के प्रथम आठ परिच्छेदों में केवल प्राकृत भाषा का ही विवेचन है, पैशाची, मागधी और शौरसेनी का नहीं। टीकाकारों ने इन प्रथम आठ या नौ परिच्छेदों पर ही टीकायें लिखी हैं जिन्हें वे वररुचिकृत मानते थे। इससे भी यही सिद्ध होता है कि प्रारंभिक व्याकरणकार सामान्यरूप से प्राकृत को ही मुख्य मानते थे, तथा साहित्यिक रचनाओं की यह भाषा समझी जाती थी।[1] शूद्रक के मृच्छकटिक के अनुसार सूत्रधार द्वारा बोली जानेवाली भाषा को प्राकृत कहा गया है, यद्यपि बाद के वैयाकरणों की शब्दावलि में यही भाषा शौरसेनी बन गई है।[2]

प्राकृत और महाराष्ट्री

वररुचि ने प्राकृतप्रकाश (१२–३२) में शौरसेनी के लक्षण बताने के पश्चात् 'शेषं महाराष्ट्रीवत्' लिखा है, इसलिये कुछ लोगों का मानना है कि महाराष्ट्री को ही मुख्य प्राकृत स्वीकार करना चाहिये, तथा शौरसेनी इसी के बाद का एक रूप है। इसके सिवाय, दंडी ने भी अपने काव्यादर्श (१. ३४) में महाराष्ट्र में बोली जानेवाली महाराष्ट्री को उत्तम प्राकृत कहा है (महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः)। वररुचि के प्राकृतप्रकाश के

पैशाच नामकी भाषायें बताई हैं। इनमें संस्कृत को पुरुष का मुख, प्राकृत को बाहु, अपभ्रंश को जघन और पैशाच को पाद कहा है। लाट देश के लोग संस्कृतद्वेषी होते थे और प्राकृत काव्यों का वे बड़े सुचारु रूप से पाठ करते थे (पृष्ठ ८३)।

१. राजशेखर ने बालरामायण (१.१०) में प्राकृत भाषा को श्रव्य, दिव्य और प्रकृतिमधुर कहा है, तथा अपभ्रंश को सुभव्य और भूतभाषा (पैशाची) को सरसवचन बताया है।

२. एषोऽस्मि भोः कार्यवशात्प्रयोगवशाच्च प्राकृतभाषी संवृत्तः (अंक १, ८वें श्लोक के बाद); डा० ए० एन० उपाध्ये, लीलावईकहा की भूमिका, पृष्ठ ७५ पर से।

१२वें परिच्छेद के सम्बन्ध में पहले कहा जा चुका है कि इस पर भामह की टीका नहीं, इसलिये उसकी प्रामाणिकता पर विश्वास नहीं किया जा सकता। दंडी की उक्ति के संबंध में, जैसा कि पुरुषोत्तम के प्राकृतानुशासन की अपनी फ्रेंच भूमिका में[1] नित्ती डौल्ची महोदया ने बताया है, दंडी उक्त श्लोक द्वारा प्राकृत भाषाओं का वर्गीकरण नहीं करना चाहता, उसके कहने का तात्पर्य है कि महाराष्ट्र में बोली जानेवाली महाराष्ट्री को इसलिये प्रकृष्ट भाषा कहा है क्योंकि यह सूक्तिरूपी रत्नों का सागर है और इसमें सेतुबंध आदि लिखे गये हैं। यह पूरा श्लोक इस प्रकार है—

> महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः।
> सागरः सूक्तिरत्नानां सेतुबन्धादि यन्मयम्॥

इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि शौरसेनी आदि प्राकृतों से भिन्न महाराष्ट्री सर्वश्रेष्ठ प्राकृत माने जाने के कारण प्राकृत नाम से कही जाने लगी थी।[2] वैसे पुरुषोत्तम ने अपने प्राकृतानुशासन (११. १) में महाराष्ट्री और शौरसेनी के ऐक्य का प्रतिपादन किया है। उद्योतनसूरि ने पाययभासा और मरहट्ठयदेसी (भाषा) को भिन्न-भिन्न स्वीकार किया है। वररुचि ने भी जो प्राकृत के सम्बन्ध में नियम दिये हैं उनका हेमचन्द्र के नियमों से मेल नहीं खाता। इससे यही मालूम होता है कि व्याकरणकारों में प्राकृत भाषाशास्त्र के सम्बन्ध में मतैक्य नहीं है। दरअसल बाद में होनेवाले व्याकरणकारों ने केवल अपने से पूर्व उपलब्ध सामाग्री को ही महत्त्व नहीं दिया, बल्कि समय-

---

१. देखिये पिशल के 'प्राकृत भाषाओं का व्याकरण' के आमुख में डाक्टर हेमचन्द्र जोशी द्वारा इस भूमिका के कुछ भाग का किया हुआ हिन्दी अनुवाद , पृष्ठ ३ ।

२. देखिये डाक्टर ए० एन० उपाध्ये की लीलावईकहा की भूमिका पृष्ठ ७८ ।

समय पर जो साहित्य का निर्माण होता रहा उसका भी विश्लेषण उन्होंने किया। इससे प्राकृतों के जितने भी रूप व्याकरणकारों को साहित्य के आधार से उपलब्ध हुए उन्हें वे एकत्रित करते गये, बोलियों की विशेषताओं की ओर उनका ध्यान न गया। आगे चलकर जब इन एकत्रित प्रयोगों का विश्लेषण किया गया तो इस बात का पता लगना कठिन हो गया कि अमुक प्रयोग महाराष्ट्री का है और अमुक शौरसेनी का। उदाहरण के लिये, गाहाकोस (गाथासप्तशती) और गौडवहो को विद्वान् महाराष्ट्री प्राकृत की कृति मानते हैं, जब कि स्वयं ग्रन्थकर्ताओं के अनुसार (सप्तशती २; गौडवहो ६५,६२) ये रचनायें प्राकृत की हैं। सेतुबंध के कर्ता ने अपनी रचना के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा, लेकिन दंडी के कथन से मालूम होता है कि यह महाराष्ट्री प्राकृत की रचना है। लीलावतीकार ने अपनी रचना को मरहट्टदेसी भाषा (महाराष्ट्री प्राकृत) में लिखा हुआ कहा है। ऐसी हालत में डाक्टर आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये का कथन ठीक ही है कि जबतक प्राकृत की प्रामाणिक रचनायें उपलब्ध नहीं होतीं जिनमें कि उन बोलियों के सम्बन्ध में विशिष्ट उल्लेख हो, तबतक इन बोलियों के रूप का पता लगना कठिन है।[1]

प्राकृत भाषाओं के प्रकार

पालि और अशोक की धर्मलिपियाँ

बुद्धघोष ने बौद्ध त्रिपिटक या बुद्धवचन के सामान्य अर्थ में पालि (पालि=परियाय=मूलपाठ=बुद्धवचन) शब्द का प्रयोग किया है। इसे मागधी अथवा मगधभाषा भी कहा गया है।[2] मगध में बोली जानेवाली इसी भाषा में बौद्धों के त्रिपिटक

---

१. वही पृष्ठ ७८-८०।

२. भरतसिंह उपाध्याय, पालि साहित्य का इतिहास, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, वि० सं० २००८।

का संग्रह मिलता है। यह भाषा अपने शुद्ध साहित्यिक रूप में बढ़ते हुए प्रभाव के नीचे दक्षिण-पश्चिम और दक्षिण में वृद्धि को प्राप्त हुई। दक्षिण-पश्चिम की अशोकी प्राकृत से इसकी काफी समानता है। मध्ययुगीन भारतीय आर्यभाषाओं के इस आरंभिक काल में प्रियदर्शी अशोक के शिलालेखों और सिक्कों पर खुदी हुई बोलियों का भी अन्तर्भाव होता है। ये लेख ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपियों में भारत में और भारत के बाहर लंका में उपलब्ध हुए हैं, जो संस्कृत में न होकर केवल प्राकृत में ही पाये जाते हैं। सम्राट् अशोक के बाद भी स्तंभों आदि के ऊपर ८०० वर्ष तक इस प्रकार के लेख उत्कीर्ण होते रहे।

भारतेतर प्राकृत

भारतेतर प्राकृत खरोष्ठी लिपि में लिखे हुए प्राकृत धम्मपद[1] का स्थान महत्त्वपूर्ण है। इसमें १२ परिच्छेद हैं जिनमें २३२ गाथाओं में बुद्ध-उपदेश का संग्रह है। इसकी भाषा पश्चिमोत्तर प्रदेश की बोलियों से मिलती-जुलती है। इनसे अनुमान होता

---

१. एमिले सेनार ने इसके कुछ अवशेषों का संग्रह सन् १८९७ में प्रकाशित किया था। उसके पश्चात् बरुआ और मित्र ने युनिवर्सिटी ऑव कलकत्ता की ओर से सन् १९२१ में नया संस्करण छपवाया।

पालि धम्मपद के साथ प्राकृत धम्मपद की तुलना की जा सकती है—

प्राकृत— य ज वषशत जतु अगि परियरे वने
चिरेन सपितेलेन दिवरात्र अतद्रितो।
एक जि भवितत्मन मुहुत विव पुअए
समेव पुयन षेभ य जि वषशत हुत॥

पालि— यो च वस्ससतं जन्तु अग्गिं परिचरे वने
एकं च भावितत्तानम् मुहुत्तं अपि पूजये
सा येव पूजना सेय्यो यंचे वस्ससतं हुतम्।
पृष्ठ ३५।

है कि खरोष्ठी धम्मपद का मूल रूप भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश में ही लिखा गया। लिपि के आधार पर इसका समय ईसवी सन् २०० माना गया है।

खरोष्ठी के लेख चीनी तुर्किस्तान में भी मिले हैं[1] जिनका अनुसंधान औरल स्टाइन ने किया है। इन लेखों की भाषा का मूल स्थान पेशावर के आसपास पश्चिमोत्तर प्रदेश माना जाता है। इनमें राजा की ओर से जिलाधीशों को आदेश, क्रय-विक्रय-संबंधी पत्र आदि उपलब्ध होते हैं। इन लेखों की प्राकृत निया प्राकृत नाम से कही गई है; इस पर ईरानी, तोखारी और मंगोली भाषाओं का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। ये लेख ईसवी सन् की लगभग तीसरी शताब्दी में लिखे गये हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ में हमें मध्ययुगीन प्राचीन भारतीय आर्य-भाषाओं की आरंभ-कालीन प्राकृत के अन्तर्गत पालि अथवा अशोक के शिलालेखों की प्राकृत का विवेचन अपेक्षित नहीं है। हम उसके बाद की प्राकृतों का ही अध्ययन यहाँ करना चाहते हैं जो जैन आगमों की अर्धमागधी से आरंभ होती हैं।

अर्धमागधी

जैसे बौद्ध त्रिपिटक की भाषा को पालि नाम दिया गया है वैसे ही जैन आगमों की भाषा को अर्धमागधी कहा जाता है। अर्धमागधी को आर्ष (ऋषियों की भाषा) भी कहा गया है। हेमचन्द्र ने अपने प्राकृतव्याकरण (१.३) में बताया है कि उनके व्याकरण के सब नियम आर्ष भाषा के लिये लागू नहीं होते क्योंकि उसमें बहुत से अपवाद हैं (आर्षे हि सर्वे विधयो

---

१. ये लेख बोयेर, रैपसन और सेनार नाम के तीन विद्वानों द्वारा संपादित होकर सन् १९२० में क्लरेण्डन प्रेस, आक्सफोर्ड से छपे हैं। इनका अंग्रेजी अनुवाद बरो के द्वारा रायल एशियाटिक सोसायटी की जेम्स जी० फरलोंग सीरीज़ में सन् १९४० में लंदन से प्रकाशित हुआ है।

विकल्प्यन्ते)। त्रिविक्रम ने प्राकृतशब्दानुशासन में आर्ष और देश्य भाषाओं को रूढिगत (रूढत्वात्) मानकर उनकी स्वतंत्र उत्पत्ति बताते हुए उनके लिये व्याकरण के नियमों की आवश्यकता ही नहीं बताई। इसका यही अर्थ हुआ कि आर्ष भाषा की प्रकृति या आधार संस्कृत नहीं है, वह अपने स्वतंत्र नियमों का पालन करती है (स्वतंत्रत्वाच्च भूयसा)।[1] रुद्रट के काव्यालंकार पर टीका लिखते हुए नमिसाधु ने आर्ष भाषा को अर्धमागधी कहते हुए उसे देवों की भाषा बताया है।[2] बाल, वृद्ध और अनपढ़ लोगों पर अनुकम्पा करके उनके हितार्थ समदर्शियों ने इस भाषा में उपदेश दिया था,[3] और यह भाषा आर्य, अनार्य और पशु-पक्षियों तक की समझ में आ सकती थी।[4] इससे यही सिद्ध होता है कि जैसे बौद्धों ने मागधी भाषा को सब भाषाओं का मूल माना है,[5] वैसे ही जैनों ने

---

१. देश्यमार्षं च रूढत्वात्स्वतंत्रत्वाच्च भूयसा।
लक्ष्म नापेक्षते, तस्य संप्रदायो हि बोधकः॥ ७, पृ० २।

२. आरिसवयणे सिद्धं देवाणं अद्धमागहा वाणी (२ . १२)।

३. अम्ह इत्थिबालवुड्ढअक्खरअयाणमाणाणं अणुकंपणत्थं सव्वसत्त-समदरसीहिं अद्धमागहाए भासाते सुत्तं उवदिट्ठं, तं च अण्णेसिं पुरतो ण पगासिज्जति (आचारांगचूर्णी, पृ० २५५)।

४. अद्धमागहा भासा भासिज्जमाणी तेसिं सव्वेसिं आयरियमणाय-रियाणं दुपय-चउप्पय-मिय-पसु-पक्खिसरिसिवाणं अप्पप्पणो भासत्ताए परिणमइ (समवायांग ३४); तथा देखिये ओवाइय ३४, पृ० १४६; पण्णवणा, १ . ३७। वाग्भट ने अलंकारतिलक (१ . १) में लिखा है—'सर्वार्धमागधीम् सर्वभाषासु परिणामिणीम्। सार्वीयाम् सर्वतोवाचम् सार्वज्ञीम् प्रणिदध्महे' अर्थात् हम उस वाणी को नमस्कार करते हैं जो सब की अर्धमागधी है, सब भाषाओं में अपना परिणाम दिखाती है, सब प्रकार से पूर्ण है और जिसके द्वारा सब कुछ जाना जा सकता है।

५. देखिये विभंग-अट्ठकथा (३८७ इत्यादि)। यहाँ बताया है कि यदि बालकों को बचपन से कोई भी भाषा न सिखाई जाये तो वे

अर्धमागधी को अथवा वैयाकरणों ने आर्ष भाषा को मूल भाषा स्वीकार किया है जिससे अन्य भाषाओं और बोलियों का उद्गम हुआ। अर्धमागधी जैन आगमों की भाषा है, संस्कृत नाटकों में इसका प्रयोग नहीं हुआ।

यद्यपि ध्वनितत्त्व की अपेक्षा अर्धमागधी पालि से बाद की भाषा है, फिर भी शब्दावलि, वाक्य-रचना और शैली की दृष्टि से प्राचीनतम जैन सूत्रों की यह भाषा पालि के बहुत निकट है। पालि की भाँति अर्धमागधी भी संस्कृत से काफी प्रभावित है। इस संबंध में हरमन जैकोबी ने जो आचारांग-सूत्र की भूमिका (पृष्ठ ८-१४) में पालि और अर्धमागधी की तुलना करते हुए जैन प्राकृत का एक लघु व्याकरण दिया है वह पढ़ने योग्य है। पिशल ने अर्धमागधी के अनेक प्राचीन रूप दिये हैं।[1]

भरत ने नाट्यशास्त्र (१७.४८) में मागधी, आवंती, प्राच्या, शौरसेनी, वाह्लीका और दाक्षिणात्या के साथ अर्धमागधी को सात भाषाओं में गिनाया है।[2] निशीथचूर्णीकार (११, पृष्ठ

स्वयं ही मागधी भाषा बोलने लगते हैं। यह भाषा नरक, तिर्यंच, प्रेत, मनुष्य और देवलोक में समझी जाती है।

१. खिप्पामेव (क्षिप्रं एव) गोयमा इ (गोयमा इति), पडुच्च (प्रतीत्य), अहा (यथा), अण्णमण्णेहिं (अन्यमन्यैः), देवत्ताए (देवत्वाय), योगसा (योगेन), धम्मुणा (धर्मेण), आइक्खइ (आख्याति), पाउणइ (प्राप्नोति), कुव्वइ (करोति), कट्टु (कृत्वा), भुंजित्तु (भुक्त्वा), करित्ताणं (कृत्वा), भोच्चा (भुक्त्वा), आरुसियाणं (आरुष्य) आदि; प्राकृतभाषाओं का व्याकरण, पृष्ठ ३३।

२. यहाँ कहा है कि अर्धमागधी, नाटकों में नौकरों, राजपूतों और श्रेष्ठियों द्वारा बोली जानी चाहिये, यद्यपि संस्कृत नाटकों में अर्धमागधी नहीं बोली जाती।

७३३ साइक्लोस्टाइल प्रति) ने मगध के अर्ध भाग में बोली जानेवाली अथवा अठारह देशीभाषाओं[1] से नियत भाषा को (मगहद्धविसयभासानिबद्धं अद्धमागहं, अहवा अट्ठाइसदेसी-भासाणियतं अद्धमागहं) अर्धमागधी कहा है। नवांगी टीकाकार अभयदेव के अनुसार इस भाषा में कुछ लक्षण मागधी के और कुछ प्राकृत के पाये जाते हैं, इसलिये इसे अर्धमागधी कहा जाता है (मागधभाषालक्षणं किंचित्, किंचिच्च प्राकृत-भाषालक्षणं यस्यामस्ति सा अर्धमागध्याः इति व्युत्पत्त्या)।[2] हेमचन्द्र ने यद्यपि जैन आगमों के प्राचीन सूत्रों को अर्धमागधी में लिखे हुए (पोराणमद्धमागहभासानिययं हवइ सुत्तं— प्राकृतव्याकरण ८,४,२८७ वृत्ति) बताया है, लेकिन अर्धमागधी के नियमों का उन्होंने अलग से विवेचन नहीं किया। मागधी के नियम बताते हुए प्रसंगवश अर्धमागधी का भी एकाध नियम बता दिया है। जैसे कि मागधी में र का ल और स का श हो जाता है, तथा पुल्लिंग में कर्ताकारक एकवचन एकारान्त होता है (जैसे कतरः-कतरे); अर्धमागधी में भी कर्ताकारक एक-वचन में ओ का ए हो जाता है,[3] लेकिन र और स में यहां कोई परिवर्तन नहीं होता। मार्कण्डेय के मत में शौरसेनी के

---

१. मगध, मालव, महाराष्ट्र, लाट, कर्णाटक, द्रविड़, गौड, विदर्भ आदि देशों की भाषाओं को देशीभाषा नाम दिया गया है (बृहत्कल्प-भाष्य, २, पृ० ३८२)। कुवलयमाला में १८ देशीभाषाओं का स्वरूप बताया गया है, देखिये इस पुस्तक का छठा अध्याय।

२. भगवती ५.४; ओवाइय टीका ३४।

३. पिशल ने प्राकृतभाषाओं का व्याकरण (पृ० २८-९) में बताया है कि अर्धमागधी और मागधी का संबंध अत्यन्त निकट का नहीं है। लेकिन उनके अनुसार तव शब्द का व्यवहार दोनों ही भाषाओं में षष्ठी के एकवचन के रूप में व्यवहृत होता है; यह रूप अन्य प्राकृत भाषाओं में नहीं मिलता।

पास होने से मागधी को ही अर्धमागधी कहा गया है।[1] देखा जाय तो अर्धमागधी का यही लक्षण ठीक मालूम होता है। यह भाषा शुद्ध मागधी नहीं थी; पश्चिम में शौरसेनी और पूर्व में मागधी के बीच के क्षेत्र में यह बोली जाती थी, इसीलिये इसे अर्धमागधी कहा गया है। महावीर जहाँ विहार करते, इसी मिली-जुली भाषा में उपदेश देते थे। शनैःशनैः और भी प्रान्तों की देशी भाषाओं का मिश्रण इसमें हो गया। जैन आगमों को संकलित करने के लिये स्कंदिलाचार्य की अध्यक्षता में मथुरा में और देवर्धिगणि क्षमाश्रमण की अध्यक्षता में वलभी में भरनेवाले साधु-सम्मेलनों के पश्चात् जैन आगमों की अर्धमागधी में अवश्य ही इन स्थानीय प्राकृतों का रंग चढ़ा होगा। हरिभद्रसूरि ने जैन आगमों की भाषा को अर्धमागधी न कह कर प्राकृत नाम से उल्लिखित किया है।[2] हरमन जैकोबी ने इसे जैन प्राकृत नाम दिया है, जो उचित ही है।

शौरसेनी

शौरसेनी शूरसेन (व्रजमंडल, मथुरा के आसपास का प्रदेश) की भाषा थी। इसका प्रचार मध्यदेश (गंगा-यमुना की उपत्यका) में हुआ था। भरत (ईसवी सन् की तीसरी शताब्दी) ने अपने नाट्यशास्त्र में शौरसेनी का उल्लेख किया है, जबकि महाराष्ट्री का नाम यहाँ नहीं मिलता। नाट्यशास्त्र (१७·४६) के अनुसार नाटकों की बोलचाल में शौरसेनी का आश्रय लेना चाहिये, तथा (१७·५१) महिलाओं और उनकी सहेलियों को इस भाषा में

---

१. शौरसेन्या अदूरत्वादियमेवार्धमागधी (१२.३८) तुलना कीजिये क्रमदीश्वर के संक्षिप्तसार (५.९८) से जहाँ अर्धमागधी को महाराष्ट्री और मागधी का मिश्रण स्वीकार किया है।

२. बालस्त्रीवृद्धमूर्खाणां नृणां चारित्रकांक्षिणाम्।
अनुग्रहार्थं तत्त्वज्ञैः सिद्धान्तः प्राकृतः स्मृतः॥
(दशवैकालिकवृत्ति, पृ० २०३)

बोलना चाहिये। हेमचन्द्र ने आर्ष प्राकृत के पश्चात् शौरसेनी का ही उल्लेख किया है, उसके बाद मागधी और पैशाची का। साहित्यदर्पण (६.१५६,१६५) में सुशिक्षित स्त्रियों के अलावा बालक, नपुंसक, नीच ग्रहों का विचार करनेवाले ज्योतिषी, विक्षिप्त और रोगियों को नाटकों में शौरसेनी बोलने का विधान है। मार्कण्डेय ने प्राकृतसर्वस्व (१०.१) में शौरसेनी से ही प्राच्या का उद्भव बताया है (प्राच्यासिद्धिः शौरसेन्याः)। लक्ष्मीधर ने षड्भाषाचन्द्रिका (श्लोक ३४) में कहा है कि यह भाषा छद्मवेषधारी साधुओं, किन्हीं के अनुसार जैनों तथा अधम और मध्यम लोगों के द्वारा बोली जाती थी। वररुचि ने संस्कृत को शौरसेनी का आधारभूत स्वीकार किया है (प्राकृतप्रकाश १२.२), और शौरसेनी के कुछ नियमों का विवेचन कर शेष नियमों को महाराष्ट्री के समान समझ लेने को कहा है (१२.३२)।

ध्वनितत्त्व की दृष्टि से शौरसेनी मध्यभारतीय आर्यभाषा के विकास में संक्रमणकाल की अवस्था है, महाराष्ट्री का स्थान इसके बाद आता है।[1] दिगम्बर सम्प्रदाय के प्राचीन शास्त्रों की यह भाषा है जो प्रायः पद्य में है, पिशल ने इसे जैन शौरसेनी

---

१. इस सम्बन्ध के वाद-विवाद के लिये देखिये पिशल, प्राकृत-भाषाओं का व्याकरण, पृष्ठ १८-२५, ३९-४३; कोनो और लानमन, कर्पूरमजरी, पृष्ठ १३९ आदि; एम० घोष का जरनल ऑव डिपार्टमेण्ट ऑव लैटर्स, जिल्द २३, कलकत्ता, १९३३ में प्रकाशित 'महाराष्ट्री शौरसेनी के बाद का रूप' नामक लेख; ए० एम० घाटगे का जरनल ऑव द युनिवर्सिटी ऑव बंबई, जिल्द ३, भाग ४ में 'शौरसेनी प्राकृत' नाम का लेख; एस० के० चटर्जी का जरनल ऑव डिपार्टमेण्ट ऑव लैटर्स, जिल्द २९, कलकत्ता, १९३६ में 'द स्टडी ऑव न्यू इण्डो-आर्यन' नाम का लेख; एम० ए० घाटगे का जरनल ऑव द यूनिवर्सिटी ऑव बंबई, जिल्द ४, भाग ६ आदि में प्रकाशित 'महाराष्ट्री लैंग्वेज एण्ड लिटरेचर' नाम का लेख; ए० एन० उपाध्ये, कंसवहो की भूमिका, पृष्ठ ३९-४२।

नाम दिया है। पिशल के अनुसार बोलियों में जो बोलचाल की भाषायें व्यवहार में लाई जाती हैं, उनमें शौरसेनी का स्थान सर्वप्रथम है (प्राकृतभाषाओं का व्याकरण, पृष्ठ ३६)। हर्मन जैकोबी ने इसे क्लासिकल-पूर्व (प्रीक्लासिकल) नाम दिया है। दुर्भाग्य से दिगम्बर सम्प्रदाय के प्राचीन शास्त्रों की भाँति संस्कृत नाटकों के भी आलोचनात्मक संस्करण प्रकाशित नहीं हुए, फिर भी अश्वघोष (ईसवी सन् की प्रथम शताब्दी) तथा भास (ईसवी सन् की तीसरी शताब्दी) के नाटकों के पद्यभाग में जो रूप मिलते हैं वे शौरसेनी के माने जाते हैं, महाराष्ट्री के नहीं। इसी प्रकार शूद्रक के मृच्छकटिक और मुद्राराक्षस के पद्यभाग में, और कर्पूरमंजरी में भी शौरसेनी ही रूप उपलब्ध होते हैं।[1] इससे शौरसेनी की प्राचीनता पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। संस्कृत से प्रभावित होने के कारण इसमें प्राचीन कृत्रिम रूपों की अधिकता पाई जाती है।[2]

व्याकरण के नियमानुसार शौरसेनी में त के स्थान में द और थ के स्थान में ध हो जाता है (वररुचि १२.३ ; हेमचन्द्र ४.२६७ ; मार्कण्डेय ६.२.२०,२४ ; रामशर्मा तर्कवागीश २.१.५)। लेकिन जैकोबी आदि विद्वान् इस परिवर्त्तन को शौरसेनी की विशेषता नहीं स्वीकार करते। प्राकृत भाषाओं की प्रथम अवस्थाओं में इस परिवर्त्तन के चिह्न दृष्टिगोचर नहीं होते। अश्वघोष के नाटकों में शौरसेनी का प्राचीन रूप उपलब्ध

---

१. इस सम्बन्ध में डाक्टर मनोमोहन घोष द्वारा संपादित कर्पूर-मंजरी के नये संस्करण की विद्वत्तापूर्ण भूमिका देखने योग्य है।

२. शौरसेनी की विशेषता के द्योतक दाणम्मि (दाने), व्व (इव), जाणित्ता (ज्ञात्वा), भविय (भूत्वा), भोदूण (भूत्वा), किच्चा (कृत्वा), पावदि (प्राप्नोति), मुणदि (जानाति) आदि रूप पिशल ने प्राकृत भाषाओं का व्याकरण पृष्ठ ३८-३९ में दिये हैं। शौरसेनी में कुछ अर्धमागधी के रूप भी मिलते हैं। संज्ञा शब्दों के कर्ता एकवचन का रूप यहाँ ओकारान्त होता है।

होता है, लेकिन यहाँ भी उक्त नियम लागू नहीं होता। भास के नाटकों में त के स्थान में द हो जाने के उदाहरण (जैसे भवति-भोदि) पाये जाते हैं, लेकिन कहीं त का लोप भी देखने में आता है (जैसे सीता-सीआ)। नाट्यशास्त्र के पद्यों में भी त के दोनों ही रूप मिलते हैं। इसी प्रकार दिगम्बरों के शौरसेनी के प्राचीन ग्रंथों में भी इति के स्थान में इदि तथा अतिशय के स्थान में अइसय ये दोनों रूप दिखाई देते हैं। विद्वानों का मानना है कि शौरसेनी की उत्पत्ति होने के बाद अश्वघोष और प्राकृत शिलालेखों (ईसवी सन् की दूसरी शताब्दी) के पश्चात् शौरसेनी भाषा के संबंध में उक्त नियम बना और आगे चलकर शौरसेनी का विकास रुक जाने पर वैयाकरणों ने इस नियम को शौरसेनी का प्रधान लक्षण स्वीकार कर लिया। शौरसेनी ही नहीं, महाराष्ट्री प्राकृत भी अपनी प्रथम अवस्था में इस नियम से प्रभावित हुई[1]।

---

१. डा० ए० एम० घाटगे, 'शौरसेनी प्राकृत', जरनल ऑव द युनिवर्सिटी ऑव बंबई, मई, १९३५; डाक्टर ए० एन० उपाध्ये, 'पैशाची, लैंग्वेज एण्ड लिटरेचर', एनल्स ऑव भांडारकर ओरिंटिएल इंस्टिट्यूट, जिल्द २१, १९३९-४०; लीलावईकहा की भूमिका, पृष्ठ ८३।

डाक्टर घाटगे ने शौरसेनी के निम्न लक्षण दिये हैं :—

(क) द और ध का अपने मूल रूप में रहना (मार्कण्डेय के अनुसार शौरसेनी में द का लोप नहीं होता। अश्वघोष के नाटकों में द और ध पाये जाते हैं; जैसे हिदयेन, दधि। नाट्यशास्त्र के पद्यों में भी छादन्ता, विदारिदे आदि में द का रूप देखने में आता है)। (ख) क्ष का क्ख, (ग) ऋ का इ, (घ) ऐ का ए, (ङ) औ का ओ हो जाता है। (च) सप्तमी के एक वचन में एकारान्त प्रत्यय, (छ) पंचमी के एकवचन में आदो, (ज) द्वितीया के बहुवचन में णि, (झ) भविष्यकाल में स्स, और (ञ) क्त्वा प्रत्यय के स्थान पर इअ प्रत्यय लगता है, आदि।

इसके अतिरिक्त (क) न्य, ण्य और ज्ञ के स्थान में ञ्ञ होना,

महाराष्ट्री

भरत के नाट्यशास्त्र में महाराष्ट्री प्राकृत का उल्लेख नहीं है। अश्वघोष और भास के नाटकों में भी महाराष्ट्री के प्रयोग देखने में नहीं आते। हेमचन्द्र, शुभचन्द्र और श्रुतसागर ने भी आर्ष प्राकृत का ही उल्लेख किया है, महाराष्ट्री का नहीं। वररुचि ने अपने प्राकृतप्रकाश में शौरसेनी के लक्षण बताने के पश्चात् 'शेषं महाराष्ट्रीवत्' (१२.३२) लिखकर महाराष्ट्री को मुख्य प्राकृत स्वीकार किया है, लेकिन जैसा पहले कहा जा चुका है इस अध्याय पर भामह की टीका नहीं है, इसलिये इस अध्याय को प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। महाकवि दंडी ने महाराष्ट्र में बोली जानेवाली भाषा को उत्तम प्राकृत कहा क्योंकि इसमें सूक्तिरूपी रत्नों का सागर है और सेतुबंध[1] इसी में लिखा गया

(ख) त के स्थान में द होना, (ग) क, ग, च, ज का लोप होना (अश्वघोष के नाटकों में इनका लोप नहीं पाया जाता। भास के नाटकों और नाट्यशास्त्र में दोनों रूप देखने में आते हैं। आगे चलकर इन व्यंजनों के लोप को शौरसेनी का लक्षण मान लिया गया। दिगंबरों के प्राचीन ग्रन्थों में भी इन व्यंजनों के संबंध में कोई निश्चित नियम नहीं पाया जाता)। (घ) ख, घ, फ, भ का लोप होना (इन व्यञ्जनों के सम्बन्ध में भी कोई निश्चित नियम नहीं पाया जाता। उदाहरण के लिये अश्वघोष में सखि आदि शब्द मिलते हैं)। (ङ) क्त्वा प्रत्यय के स्थान में दूण प्रत्यय लगना आदि नियमों में एकरूपता नहीं पाई जाती। इससे यही अनुमान होता है कि शौरसेनी भाषा क्रमशः विकास को प्राप्त हो रही थी। देखिये उपर्युक्त जरनल में घाटगे का लेख।

१. लेकिन सेतुबंध के दा, दाव, उदू आदि रूप महाराष्ट्री के रूप न मानकर शौरसेनी के ही मानने चाहिये, देखिए डाक्टर ए० एन० उपाध्ये, एनल्स ऑव भांडारकर इंस्टिट्यूट १९३९-४० में 'पैशाची लैंग्वेज और लिटरेचर' नामक लेख; डाक्टर मनोमोहन घोष, कर्पूरमंजरी की भूमिका, पृष्ठ ७२।

है। इससे महाराष्ट्री प्राकृत के साहित्य की समृद्धता का सूचन होता है। संस्कृत नाटकों में सर्वप्रथम कालिदास के अभिज्ञान-शाकुन्तल नाटक में महाराष्ट्री के प्रयोग दिखाई देते हैं।[1] दंडी को छोड़कर पूर्वकाल (ईसवी सन् १००० के पूर्व) के अलंकार-शास्त्र के पंडित महाराष्ट्री से अनभिज्ञ थे।[2]

ध्वनि-परिवर्तन की दृष्टि से महाराष्ट्री प्राकृत अत्यन्त समृद्ध है। डाक्टर पिशल के शब्दों में 'न कोई दूसरी प्राकृत साहित्य में कविता और नाटकों के प्रयोग में इतनी अधिक लाई गई है और न किसी दूसरी प्राकृत के शब्दों में इतना अधिक फेरफार हुआ है।' तथा 'महाराष्ट्री प्राकृत में संस्कृत शब्दों के व्यंजन इतने अधिक और इस प्रकार से निकाल दिये गये हैं[3] कि अन्यत्र कहीं यह बात देखने में नहीं आती। ······ये व्यंजन इसलिये हटा

---

१. प्रोफेसर जैकोबी ने महाराष्ट्री का समय कालिदास का समय (ईसवी सन् की तीसरी शताब्दी) और डाक्टर कीथ ने चौथी शताब्दी के बाद स्वीकार किया है।

२. डाक्टर मनोमोहन घोष के अनुसार मध्यभारतीय-आर्यभाषा के रूप में महाराष्ट्री काफी समय बाद (ईसवी सन् ६००) स्वीकृत हुई, कर्पूरमंजरी की भूमिका, पृष्ठ ७६।

डा० ए० एन० उपाध्ये ने भी महाराष्ट्री को शौरसेनी का ही बाद का रूप स्वीकार किया है, देखिये चन्दलेहा की भूमिका। डाक्टर ए० एम० घाटगे उक्त मत से सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार हेमचन्द्र आदि वैयाकरणों ने जो प्राकृत का विवेचन किया है, उससे उनका तात्पर्य महाराष्ट्री प्राकृत से ही है, देखिये जरनल ऑव युनिवर्सिटी ऑव बम्बई, मई, १९३६ में 'महाराष्ट्री लैंग्वेज और लिटरेचर' नाम का लेख।

३. उदाहरण के लिये नीचे लिखे शब्दों पर ध्यान दीजिये—

कअ (कच, कृत), कइ (कति, कपि, कवि, कृति), काअ (काक, काच, काय), मअ (मत, मद, मय, मृग, मृत), सुअ (शुक, सुत, श्रुत)।

दिये गये कि इस प्राकृत का प्रयोग सबसे अधिक गीतों में किया जाता था ; अधिकाधिक लालित्य लाने के लिये यह भाषा श्रुति-मधुर बनाई गई[1]।' हाल की सत्तसई और जयवल्लभ का वज्जालग्ग महाराष्ट्री प्राकृत के सर्वश्रेष्ठ मुक्तक काव्य हैं जिनमें एक से एक बढ़कर कवियों की रचनाओं का संग्रह है। सेतुबंध और गउडवहो जैसे महाकाव्य भी महाराष्ट्री प्राकृत में ही लिखे गये हैं। डाक्टर हरमन जैकोबी ने इसे जैन महाराष्ट्री नाम से उल्लिखित किया है। जैन महाराष्ट्री के संबंध में 'आवश्यक कथायें' नामक ग्रंथ का पहला भाग एर्नेस्ट लौयमान ने सन् १८९७ में लाइप्त्सिख से प्रकाशित कराया था। तत्पश्चात् हरमन जैकोबी ने 'औसगेवैल्ते एर्त्सैलुङ्गन इन महाराष्ट्रीत्सुर आइनफ्युरुङ्ग इन डास स्टूडिउम डेस प्राकृत ग्रामाटिक टैक्स्ट वोएरतरबुख' (महाराष्ट्री से चुनी हुई कहानियाँ प्राकृत के अध्ययन में प्रवेश कराने के लिये) सन् १८८६ में लाइप्त्सिख से प्रकाशित कराया। इसमें जैन महाराष्ट्री की उत्तरकालीन कथाओं का संग्रह किया गया।

हेमचन्द्र के समय तक शौरसेनी के बहुत से नियम महाराष्ट्री प्राकृत के लिये लागू होने लगे थे। वररुचि और हेमचन्द्र ने महाराष्ट्री प्राकृत के निम्न लक्षण दिये हैं—

(क) क, ग, च, ज, त, द, प, य और व का प्रायः लोप हो जाता है (वररुचि २.२ ; हेमचन्द्र १.१७.७)।

(ख) ख, घ, ध, थ, फ और भ के स्थान में ह हो जाता है (वररुचि २.२५ ; हेमचन्द्र १.१८७)।[2]

---

१. प्राकृतभाषाओं का व्याकरण, पृष्ठ १८।

२. अन्य नियमों के लिये देखिये वररुचि का प्राकृतप्रकाश (१–९ परिच्छेद); हेमचन्द्र का प्राकृतव्याकरण (८. १–४, सूत्र १·२५९); लक्ष्मीधर की षड्भाषाचन्द्रिका (पृ० १–२४६); मार्कण्डेय का प्राकृतसर्वस्व (१–८)।

लेकिन हस्तलिखित प्रतियों में इन नियमों का अक्षरशः पालन देखने में नहीं आता। कतिपय आधुनिक सम्पादक विद्वानों ने सत्तसई और कर्पूरमंजरी आदि के संस्करणों में उक्त नियमों का अक्षरशः पालन करने का प्रयत्न किया है, लेकिन इससे लाभ के बदले हानि ही अधिक हुई है।

पैशाची

पैशाची एक बहुत प्राचीन प्राकृत बोली है जिसकी गणना पालि, अर्धमागधी और शिलालेखी प्राकृतों के साथ की जाती है। चीनी तुर्किस्तान के खरोष्ट्री शिलालेखों में पैशाची की विशेषतायें देखने में आती हैं।[1] जार्ज ग्रियर्सन के मतानुसार पैशाची पालि का ही एक रूप है जो भारतीय आर्यभाषाओं के विभिन्न रूपों के साथ मिश्रित हो गई है। वररुचि ने प्राकृत-प्रकाश के दसवें परिच्छेद में पैशाची का विवेचन करते हुए शौरसेनी को उसकी अधारभूत भाषा स्वीकार किया है। रुद्रट के काव्यालंकार (२,१२) की टीका में नमिसाधु ने इसे पैशाचिक कहा है। हेमचन्द्र ने प्राकृतव्याकरण (४. ३०३-२४) में पैशाची के नियमों का वर्णन किया है। त्रिविक्रम ने प्राकृत-शब्दानुशासन (३.२.४३) और सिंहराज ने प्राकृतरूपावतार के बीसवें अध्याय में इस भाषा का उल्लेख किया है। मार्कण्डेय ने प्राकृतसर्वस्व (पृष्ठ २) में कांचीदेशीय, पांड्य, पांचाल, गौड, मागध, व्राचड, दाक्षिणात्य, शौरसेन, कैकय, शाबर और द्राविड़ नाम के ११ पिशाचज (पिशाच देश) बताये हैं। वैसे मार्कण्डेय ने कैकय, शौरसेन और पांचाल नाम की तीन पैशाची बोलियों का उल्लेख किया है। रामशर्मा तर्कवागीश ने प्राकृतकल्पतरु (३.३) में कैकेय, शौरसेन, पांचाल, गौड,

---

१. देखिये डाक्टर हीरालाल जैन का नागपुर युनिवर्सिटी जरनल, दिसम्बर १९४१ में प्रकाशित 'पैशाची ट्रेट्स इन द लैंग्वेज ऑव द खरोष्ट्री इंस्क्रिप्शन्स फ्रॉम चाइनीज़ तुर्कीस्तान' नामक लेख।

मागध और व्राचड पैशाच का विवेचन किया है। लक्ष्मीधर की षड्भाषाचन्द्रिका (श्लोक ३५) के अनुसार पैशाची और चूलिका पैशाची राक्षस, पिशाच और नीच व्यक्तियों द्वारा बोली जाती थी। यहाँ पांड्य, केकय, बाह्लीक, सिंह (? सह्य), नेपाल, कुन्तल, सुधेष्ण, भोज, गांधार, हैवक, (?) और कन्नौज की गणना पिशाच देशों में की गई है। इन नामों से पता चलता है कि पैशाची भारत के उत्तर और पश्चिमी भागों में बोली जाती रही होगी। भोजदेव ने सरस्वतीकंठाभरण (२, पृष्ठ १४४) में उच्च जाति के लोगों को शुद्ध पैशाची बोलने के लिये मना किया है। दंडी ने काव्यादर्श (१.३८) में पैशाची भाषा को भूतभाषा बताया है।

पैशाची ध्वनितत्त्व की दृष्टि से संस्कृत, पालि और पल्लववंश के दानपत्रों की भाषा से मिलती-जुलती है। संस्कृत के साथ समानता होने के कारण इसमें श्लेषालंकार की बहुत सुविधा है। गुणाढ्य की बृहत्कथा पैशाची की सबसे प्राचीन कृति है। दुर्भाग्य से आजकल यह उपलब्ध नहीं है। बुधस्वामी के बृहत्कथाश्लोकसंग्रह, क्षेमेन्द्र की बृहत्कथामंजरी और सोमदेव के कथासरित्सागर से इसके संबंध में बहुत सी बातों का परिचय प्राप्त होता है। प्राकृतव्याकरण और अलंकार के पंडितों ने जो थोड़े-बहुत उदाहरण या उद्धरण दिये हैं उनके ऊपर से इस भाषा का कुछ ज्ञान होता है।[1]

---

१. वररुचि ने प्राकृतप्रकाश के दसवें परिच्छेद में पैशाची के निम्न लक्षण दिये हैं:—

(क) पैशाची में वर्ग के तृतीय और चतुर्थ अक्षरों के स्थान में क्रमशः प्रथम और द्वितीय अक्षर हो जाते हैं (गगन–गकन, मेघ–मेख), (ख) ण के स्थान में न हो जाता है (तरुणी–तलुनी), (ग) ष्ट के स्थान में सट हो जाता है (कष्ट–कसट), (घ) स्न के स्थान में सन हो जाता है (स्नान–सनान), (ङ) न्य के स्थान में ञ्ञ हो जाता है (कन्या–कञ्ञा)।

चंड (प्राकृतलक्षण ३. ३८), हेमचन्द्र (प्राकृतव्याकरण

हेमचन्द्र, त्रिविक्रम और लक्ष्मीधर ने पैशाची के साथ चूलिका-पैशाची का भी विवेचन किया है।[1]

मागधी

मगध जनपद (बिहार) की यह भाषा थी। अर्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री और पैशाची की भाँति इस प्राकृत में स्वतंत्र रचनायें नहीं पाई जातीं, केवल संस्कृत नाटकों में इसके प्रयोग देखने में आते हैं। पूर्व और पश्चिम के वैयाकरणों में मागधी के सम्बन्ध में काफी मतभेद पाया जाता है। मार्कण्डेय ने प्राकृतसर्वस्व (पृष्ठ १०१) में कोहल का मत दिया है जिसके अनुसार यह प्राकृत राक्षस, भिक्षु, क्षपणक और

---

४. ३०३–२४) और नमिसाधु ने भी रुद्रट के काव्यालंकार की टीका (पृष्ठ १४) में पैशाची भाषा के नियम दिये हैं। कवि राजशेखर ने काव्यमीमांसा (पृष्ठ १२४) में कहा है कि अवन्तिका, पारियात्र और दशपुर आदि के कवि भूतभाषा (पैशाची) का प्रयोग करते थे। कल्हण की राजतरंगिणी में दर्द और म्लेच्छों के साथ भोट्टों का गिनाया गया है। इन लोगों को पीतवर्ण का बताया है जिससे ये मंगोल नस्ल के जान पड़ते हैं। पैशाची की तुलना उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त में बोली जाने वाली पश्तो भाषा से की जा सकती है। देखिये डाक्टर हीरालाल जैन का उपर्युक्त लेख।

१. हेमचन्द्र के अनुसार इस भाषा में वर्ग के तीसरे और चौथे अक्षर के स्थान में क्रमशः वर्ग के पहले और दूसरे अक्षर हो जाते हैं (जैसे गिरि–किरि, धूली–थूली, भगवती–फकवती) और र के स्थान में ल हो जाता है (जैसे रुद्द–लुद्द, हरं–हलं)। चूलिक, चूडिक अथवा शूलिकों का नाम तुखार, यवन, पह्लव और चीन के लोगों के साथ गिनाया गया है। बागची के अनुसार यह भाषा सोगडियन लोगों द्वारा उत्तर-पश्चिम में बोली जाती थी। देखिये, डाक्टर हीरालाल जैन का उपर्युक्त लेख।

चेटों आदि द्वारा बोली जाती थी। भरत के नाट्यशास्त्र (१७. ५०, ५५–५६) के कथनानुसार अन्तःपुर में रहनेवालों, सेंध लगानेवालों, अश्वरक्षकों और आपत्तिग्रस्तनायकों द्वारा मागधी बोली जाती थी। दशरूपककार (२.६५) का कहना है कि पिशाच और नीच जातियाँ इस भाषा का प्रयोग करती थीं। शूद्रक के मृच्छकटिक में संवाहक, शकार का दास स्थावरक, वसन्तसेना का नौकर कुंभीलक, चारुदत्त का नौकर वर्धमानक, भिक्षु तथा चारुदत्त का पुत्र रोहसेन ये छहों (टीकाकार पृथ्वीधर के अनुसार) मागधी में बोलते हैं। शकुन्तला नाटक में दोनों प्रहरी और धीवर तथा शकुन्तला का छोटा पुत्र सर्वदमन इसी भाषा में बात करते हैं। मुद्राराक्षस में जैन साधु, दूत तथा चांडाल के वेश में अपना पार्ट खेलने वाले सिद्धार्थक और समिद्धार्थक मागधी में ही बोलते हैं। वेणीसंहार में राक्षस और उसकी स्त्री इसी प्राकृत का प्रयोग करते हैं। पिशल के कथनानुसार सोमदेव के ललितविग्रहराजनाटक में जो मागधी प्रयुक्त की गई है वह वैयाकरणों के नियमों के साथ अधिक मिलती है। यहाँ भाट और चर मागधी में बात करते हैं।[1]

वररुचि और हेमचन्द्र ने मागधी के नियमों का वर्णन कर शेष नियम शौरसेनी की भांति समझ लेने का आदेश दिया है। जान पड़ता है शौरसेनी से अत्यधिक प्रभावित होने के कारण ही इस प्राकृत का रूप बहुत अस्पष्ट हो गया।[2]

---

१. प्राकृतभाषाओं का व्याकरण, पृष्ठ ४५।

२. पिशल का कहना है कि मागधी में सबसे अधिक सचाई के साथ हेमचन्द्र के ४. २८८ नियम का पालन हुआ है। इसके अनुसार स के स्थान में श और र के स्थान में ल (विलास–विलाश; नर–नल) हो जाता है। इसी तरह ४. २८७ नियम का भी पालन हुआ है। इसके अनुसार पुल्लिंग और नपुंसकलिंग अकारान्त शब्दों का कर्ता एकवचन में एकारान्त रूप होता है (नरः–नले)। इसके अतिरिक्त वररुचि (११. ९) और हेमचन्द्र (४. ३०१) के अनुसार मागधी में अहं के

पुरुषोत्तम ने प्राकृतानुशासन (अध्याय १३-१५) में मागधी भाषा के अन्तर्गत शाकारी, चाण्डाली और शाबरी भाषाओं का उल्लेख किया है। यहाँ शाकारी को मागधी की विभाषा,[1] चाण्डाली को मागधी की विकृति और शाबरी[2] को एक प्रकार की मागधी (मागधीविशेष) कहा गया है। चाण्डाली में ग्राम्योक्तियों की बहुलता पाई जाती है।

पिशल का कथन है कि मागधी एक भाषा नहीं थी, बल्कि इसकी बोलियाँ भिन्न-भिन्न स्थानों में प्रचलित थीं। इसीलिये

स्थान पर य्ये हो जाता है, कभी र्य के स्थान पर भी य्ये ही होता है। वररुचि (११. ४,७) तथा हेमचन्द्र (४. २९२) के अनुसार य जैसे का तैसा रहता है और ज के स्थान पर भी य हो जाता है। द्य, र्य और र्ज के स्थान पर य्य होता है, लेकिन यह नियम ललितविग्रहराज के सिवाय अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, पृष्ठ ४५।

वररुचि (११वां परिच्छेद) और हेमचन्द्र (४. २०७–३०२) के अनुसार मागधी के कुछ नियम निम्न प्रकार से हैं:—

(क) ज के स्थान में य हो जाता है (जायते–यायदे)।

(ख) र्य और र्ज के स्थान में य्य हो जाता है (कार्यम्–कय्ये, दुर्जनः–दुय्यणे)।

(ग) क्ष के स्थान में स्क हो जाता है (राक्षस–लस्कशे)।

(घ) न्य, ण्य, ज्ञ, ञ्ज, के स्थान में ञ्ञ हो जाता है (अभिमन्यु–अहिमञ्ञु, पुण्यवन्तः–पुञ्ञवन्ते, प्रज्ञा–पञ्ञा, अञ्जली–अञ्ञली)।

(ङ) क्त्वा के स्थान में दाणि हो जाता है (कृत्वा–करिदाणि)।

१. मार्कण्डेय (पृष्ठ १०५) ने भी शाकारी को मागधी का ही रूप बताया है—मागध्याः शाकारी, सिध्यतीति शेषः।

२. मार्कण्डेय ने चांडाली को मागधी और शौरसेनी का मिश्रण स्वीकार किया है (पृष्ठ १०७)। शाबरी को उसने चांडाली से आविर्भूत माना है (पृष्ठ १०८)।

'क्ष के स्थान पर कहीं ह्क, कहीं श्क; र्थ के स्थान पर कहीं स्त और श्त; ष्क के स्थान पर कहीं स्क और कहीं श्क लिखा जाता है। इसलिये मागधी में वे सब बोलियाँ सम्मिलित करनी चाहिये जिनमें ज के स्थान पर य, र के स्थान पर ल, स के स्थान पर श लिखा जाता है और जिनके अ में समाप्त होनेवाले संज्ञा शब्दों के अन्त में अ के स्थान पर ए जोड़ा जाता है।'[1]



---

१. प्राकृतभाषाओं का व्याकरण, पृष्ठ ४८।

दूसरा अध्याय

जैन आगम साहित्य

जैन आगम (ईसवी सन् के पूर्व ५वीं शताब्दी से लेकर ईसवी सन् की ५वीं शताब्दी तक)

जैन आगमों को श्रुतज्ञान अथवा सिद्धांत के नाम से भी कहा जाता है। जैन परम्परा के अनुसार अर्हत भगवान् ने आगमों का प्ररूपण किया और उनके गणधरों ने इन्हें सूत्ररूप में निबद्ध किया।[1] आगमों की संख्या ४६ है।[2]

---

१. अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं।
सासणस्स हियट्ठाए, तओ सुत्तं पवत्तेइ॥
—भद्रबाहु, आवश्यकनिर्युक्ति ९२।

२. ८४ आगमों के नाम निम्न प्रकार से हैं (जैनग्रंथावलि, श्री जैन श्वेताम्बर कान्फरेन्स, मुम्बई वि० सं० १९६५, पृ० ७२)—

११ अंग, १२ उपांग, ५ छेदसूत्र (पंचकप्प को निकालकर), ५ मूलसूत्र (उत्तरज्झयण, दसवेयालिय, आवस्सय, नंदि, अणुयोगदार), ८ अन्य ग्रन्थ (कल्पसूत्र, जीतकल्प, यतिजीतकल्प, श्राद्धजीतकल्प, पाक्षिक, खामणा, वंदित्तु, ऋषिभाषित) और निम्नलिखित ३० प्रकीर्णक:—

१. चतुःशरण	११. अजीवकल्प	२१. पिंडनिर्युक्ति
२. आतुरप्रत्याख्यान	१२. गच्छाचार	२२. सारावलि
३. भक्तपरिज्ञा	१३. मरणसमाधि	२३. पर्यंताराधना
४. संस्तारक	१४. सिद्धप्राभृत	२४. जीवविभक्ति
५. तंदुलवैचारिक	१५. तीर्थोद्गार	२५. कवच
६. चंद्रवेध्यक	१६. आराधनापताका	२६. योनिप्राभृत
७. देवेन्द्रस्तव	१७. द्वीपसागरप्रज्ञप्ति	२७. अंगचूलिया
८. गणिविद्या	१८. ज्योतिष्करण्डक	२८. वंगचूलिया
९. महाप्रत्याख्यान	१९. अंगविद्या	२९. वृद्धचतुःशरण
१०. वीरस्तव	२०. तिथिप्रकीर्णक	३०. जंबूपयन्ना

१२ अंग—आयारंग, सूयगडंग, ठाणांग, समवायांग, वियाहपण्णत्ति (भगवती), नायाधम्मकहाओ, उवासगदसाओ, अंतगडदसाओ, अणुत्तरोववाइयदसाओ, पण्हवागरणाइं, विवागसुय, दिट्ठिवाय (विच्छिन्न)।

१२ उपांग—ओववाइय, रायपसेणइय, जीवाभिगम, पन्नवणा, सूरियपण्णत्ति, जंबुद्दीवपण्णत्ति, चन्दपण्णत्ति, निरयावलियाओ, कप्पवडंसियाओ, पुप्फियाओ, पुप्फचूलियाओ, वण्हिदसाओ।

---

१२ निर्युक्तियाँ-

१. आवश्यक	५. सूत्रकृताङ्ग	९. कल्पसूत्र
२. दशवैकालिक	६. बृहत्कल्प	१०. पिंडनिर्युक्ति
३. उत्तराध्ययन	७. व्यवहार	११. ओघनिर्युक्ति
४. आचारांग	८. दशाश्रुत	१२. संसक्तनिर्युक्ति

(सूर्यप्रज्ञप्तिनिर्युक्ति और ऋषिभाषितनिर्युक्ति अनुपलब्ध हैं)। ये सब मिलकर ८३ आगम होते हैं। इनमें जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण का विशेषावश्यक महाभाष्य जोड़ने से ८४ हो जाते हैं।

श्वेताम्बर स्थानकवासी ३२ आगम मानते हैं।

नन्दीसूत्र (४३ टीका, पृष्ठ ९०–९५) के अनुसार श्रुत के दो भेद बताये गये हैं—अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट। प्रश्न पूछे बिना अर्थ का प्रतिपादन करनेवाले श्रुत को अङ्गबाह्य, तथा गणधरों के प्रश्न करने पर तीर्थंकर द्वारा प्रतिपादित श्रुत को अंगप्रविष्ट कहते हैं। अंगबाह्य के दो भेद हैं—आवश्यक और आवश्यकव्यतिरिक्त। सामयिक आदि आवश्यक के छह भेद हैं। आवश्यकव्यतिरिक्त कालिक और उत्कालिक भेद से दो प्रकार का है। जो दिन और रात्रि की प्रथम और अन्तिम पोरिसी में पढ़ा जाये उसे कालिक और जो किसी कालविशेष में न पढ़ा जाये उसे उत्कालिक कहते हैं। कालिक के उत्तराध्ययन आदि ३१ और उत्कालिक के दशवैकालिक आदि २८ भेद हैं। अंगप्रविष्ट के आचारांग आदि १२ भेद हैं। विस्तार के लिये देखिये मोहनलाल, दलीचन्द, देसाई, जैनसाहित्यनो इतिहास, श्रीजैन श्वेतांबर कॉन्फरेन्स, बम्बई, १९३३, पृष्ठ ४०-४५। आगमों के विशेष परिचय के लिये देखिये समवायांग,

१० पइन्ना—चउसरण, आउरपच्चक्खाण, महापच्चक्खाण, भत्तपरिण्णा, तंदुलवेयालिय, संथारग, गच्छायार, गणिविज्जा, देविंदत्थय, मरणसमाही।

६ छेयसुत्त—निसीह, महानिसीह, ववहार, दसासुयक्खंध (आयारदसाओ), कप्प (बृहत्कल्प), पंचकप्प (अथवा जीयकप्प)।

४ मूलसुत्त—उत्तरज्झयण, दसवेयालिय, आवस्सय, पिंड-निज्जुत्ति (अथवा ओहनिज्जुत्ति)।

नन्दी और अनुयोगदार।

श्वेतांबर और दिगंबर दोनों ही सम्प्रदाय इन्हें आगम कहते हैं। अन्तर इतना ही है कि दिगंबर सम्प्रदाय के अनुसार काल-दोष से ये आगम नष्ट हो गये हैं जब कि श्वेताम्बर सम्प्रदाय इन्हें स्वीकार करता है।

प्राचीन काल में समस्त श्रुतज्ञान १४ पूर्वों[1] में अन्तर्निहित था। महावीर ने अपने ११ गणधरों को इसका उपदेश दिया। शनैः शनैः कालदोष से ये पूर्व नष्ट हो गये; केवल एक गणधर उनका ज्ञाता रह गया, और यह ज्ञान छह पीढ़ियों तक चलता रहा।

पक्खिय और नन्दिसूत्र। जिनप्रभसूरि ने काव्यमाला सप्तम गुच्छक में प्रकाशित 'सिद्धांतागमस्तव' में स्तवन के रूप में आगमों का परिचय दिया है। तथा देखिये प्रोफेसर वेबर, इण्डियन ऐंटीक्वेरी (१७–२१) में प्रकाशित 'सेक्रेड लिटरेचर ऑव द जैन्स' नामक लेख; प्रोफेसर हीरा-लाल, रसिकदास कापडिया, हिस्ट्री ऑव द कैनोनिकल लिटरेचर ऑव द जैन्स; आगमोनु दिग्दर्शन; जगदीशचन्द्र जैन, लाइफ इन ऐंशियेण्ट इण्डिया ऐज़ डिपिक्टेड इन जैन कैनन्स, पृष्ठ ३१–४३।

१. चौदह पूर्वों के नाम—उत्पादपूर्व, अग्रायणी, वीर्यप्रवाद, अस्ति-नास्तिप्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, समयप्रवाद, प्रत्या-ख्यानप्रवाद, विद्यानुप्रवाद, अवन्ध्य, प्राणावाय, क्रियाविशाल और बिन्दुसार।

तीन वाचनायें

जैन परंपरा के अनुसार महावीरनिर्वाण[1] के लगभग १६० वर्ष पश्चात् (ईसवी सन् के पूर्व लगभग ३६७ में) चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में, मगध में भयंकर दुष्काल पड़ा जिससे अनेक जैन भिक्षु भद्रबाहु के नेतृत्व में समुद्रतट की ओर प्रस्थान कर गये। बाकी बचे हुए स्थूलभद्र (स्वर्गगमन महावीरनिर्वाण के २१६ वर्ष पश्चात्) के नेतृत्व में वहीं रहे। दुष्काल समाप्त हो जाने पर स्थूलभद्र ने पाटलिपुत्र में जैन श्रमणों का एक सम्मेलन बुलाया जिसमें श्रुतज्ञान को व्यवस्थित करने के लिये खंड-खंड करके ग्यारह अंगों का संकलन किया गया। लेकिन दृष्टिवाद किसी को याद नहीं था इसलिये पूर्वों का संकलन नहीं हो सका। चतुर्दश पूर्वधारी केवल भद्रबाहु थे, वे उस समय नेपाल में थे। ऐसी हालत में संघ की ओर से पूर्वों का ज्ञान-संपादन करने के लिये कुछ साधुओं को नेपाल भेजा गया। लेकिन इनमें से केवल स्थूलभद्र ही टिक सके, बाकी लौट आये। अब स्थूलभद्र पूर्वों के ज्ञाता तो हो गये किन्तु किसी दोष के प्रायश्चित्त-स्वरूप भद्रबाहु ने अन्तिम चार पूर्वों को किसी को अध्यापन करने के लिये मना कर दिया। इस समय से शनैः-शनै पूर्वों का ज्ञान नष्ट होता गया। अस्तु, जो कुछ भी उपलब्ध हुआ उसे

---

१. महावीरनिर्वाण का काल मुनि कल्याणविजयजी ने बुद्ध-परिनिर्वाण के १४ वर्ष बाद ईसवी पूर्व ५२७ में स्वीकार किया है, 'वीर-निर्वाण संवत और कालगणना', नागरीप्रचारिणी पत्रिका, जिल्द १०–११। तथा देखिये हरमन जैकोबी का 'बुद्ध उण्ड महावीराज़ निर्वाण' आदि लेख जिसका गुजराती अनुवाद भारतीय विद्या, सिंघी स्मारक में छपा है; तथा कीथ का बुलेटिन स्कूल ऑव ओरिएण्टेल स्टडीज़ ६, ८५९–८६६; शूब्रिंग, दी लेहरे डर जैनाज़; पृष्ठ ५, ३०; डॉक्टर हीरालाल जैन, नागपुर युनिवर्सिटी जरनल, दिसम्बर, १९४० में 'डेट ऑव महावीराज़ निर्वाण' नामक लेख।

पाटलिपुत्र के सम्मेलन में सिद्धांत के रूप में संकलित कर लिया गया। यही जैन आगमों की पाटलिपुत्र वाचना कही जाती है।[1]

कुछ समय पश्चात् महावीरनिर्वाण के लगभग ८२७ या ८४० वर्ष बाद (ईसवी सन् ३००–३१३ में) आगमों को सुव्यवस्थित रूप देने के लिये आर्यस्कंदिल के नेतृत्व में मथुरा में एक दूसरा सम्मेलन हुआ। इस समय एक बड़ा अकाल पड़ा जिससे साधुओं को भिक्षा मिलना कठिन हो गया और आगमों का अभ्यास छूट जाने से आगम नष्टप्राय हो गये। दुर्भिक्ष समाप्त होने पर इस सम्मेलन में जो जिसे स्मरण था उसे कालिक श्रुत के रूप में एकत्रित कर लिया गया। इसे माथुरी वाचना के नाम से कहा जाता है। कुछ लोगों का कथन है कि दुर्भिक्ष के समय श्रुत का नाश नहीं हुआ, किन्तु आर्यस्कंदिल को छोड़कर अनेक मुख्य-मुख्य अनुयोगधारियों को अपने जीवन से हाथ धोना पड़ा।[2]

इसी समय नागार्जुन सूरि के नेतृत्व में वलभी में एक और सम्मेलन भरा। इसमें, जो सूत्र विस्मृत हो गये थे उन्हें स्मरण करके सूत्रार्थ की संघटनापूर्वक सिद्धांत का उद्धार किया

---

१. आवश्यकचूर्णी २, पृष्ठ १८७। तथा देखिये हरिभद्र का उपदेशपदः—

जाओ अ तम्मि समये दुक्कालो दो य दसम वरिसाणि।
सव्वो साहुसमूहो गओ तओ जलहितीरेसु॥
तदुवरमे सो पुणरवि पाडलिपुत्ते समागओ विहिया।
संघेणं सुयविसया चिंता किं कस्स अत्थेति॥
जं जस्स आसि पासे उद्देसज्झयणमाइसंघडिउं।
तं सव्वं एक्कारय अंगाइं तहेव ठवियाइं॥

२. नन्दीचूर्णी पृष्ठ ८।

गया। आगमों की इस वाचना को प्रथम वलभी वाचना कहते हैं।[1]

इन दोनों वाचनाओं का उल्लेख ज्योतिष्करंडकटीका आदि ग्रंथों में मिलता है। ज्योतिष्करंडकटीका के कर्त्ता आचार्य मलयागिरि के अनुसार अनुयोगद्वार आदि सूत्र माथुरी वाचना और ज्योतिष्करंडक वलभी वाचना के आधार से संकलित किये गये हैं। उक्त दोनों वाचनाओं के पश्चात् आर्यस्कंदिल और नागार्जुन सूरि परस्पर नहीं मिल सके और इसीलिये सूत्रों में वाचनाभेद स्थायी बना रह गया।[2]

तत्पश्चात् लगभग १५० वर्ष बाद, महावीरनिर्वाण के लगभग ९८० या ९९३ वर्ष पश्चात् (ईसवी सन् ४५३-४६६ में) वलभी में देवर्धिगणि क्षमाश्रमण के नेतृत्व में चौथा सम्मेलन बुलाया गया। इस संघसमवाय में विविध पाठान्तर और वाचनाभेद आदि का समन्वय करके माथुरी वाचना के आधार से आगमों को संकलित कर उन्हें लिपिबद्ध कर दिया गया। जिन पाठों का समन्वय नहीं हो सका उनका 'वायणान्तरे पुण', 'नागार्जुनीयास्तु एवं वदन्ति' इत्यादि रूप में उल्लेख किया गया।[3] दृष्टिवाद फिर भी उपलब्ध न हो सका, अतएव उसे व्युच्छिन्न घोषित कर दिया गया। इसे जैन आगमों की अंतिम और द्वितीय वलभी

---

१. कहावली, २९८; मुनि कल्याणविजय, वीरनिर्वाण और जैन-कालगणना, पृष्ठ १२० आदि; मुनि पुण्यविजय, भारतीय जैन श्रमण परंपरा अने लेखनकला, पृष्ठ १६ टिप्पण।

२. ज्योतिष्करंडकटीका, पृष्ठ ४१; गच्छाचारवृत्ति ३; जंबूद्वीप-प्रज्ञप्तिसूत्र १७ टीका, पृष्ठ ८७।

३. देखिये मुनि कल्याणविजय, वीरनिर्वाण और जैन कालगणना, पृष्ठ ११२-११८।

वाचना कहते हैं। श्वेताम्बर सम्प्रदाय द्वारा मान्य वर्तमान आगम इसी संकलना का परिणाम है।[1]

आगमों की भाषा

महावीर ने अर्धमागधी भाषा में उपदेश दिया और गणधरों ने इस उपदेश के आधार पर आगमों की रचना की। समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति और प्रज्ञापना आदि सूत्रों में भी आगमों की भाषा को अर्धमागधी कहा है। हेमचन्द्र ने इसे आर्ष प्राकृत अर्थात् प्राचीन प्राकृत नाम दिया है और इसे प्राचीन सूत्रों की भाषा माना है।[2] गणधरों द्वारा संगृहीत जैन आगमों की यह भाषा अपने वर्तमान रूप में हमें महावीरनिर्वाण के लगभग १००० वर्ष बाद उपलब्ध होती है। दीर्घकाल के इस व्यवधान में समय-समय पर जो आगमों की वाचनायें हुईं उनमें आगम-ग्रन्थों में निश्चय ही काफी परिवर्तन हो गया होगा। आगम के टीकाकारों का इस ओर लक्ष्य गया है। टीकाकारों के विवरणों में विविध पाठांतरों का पाया जाना इसका प्रमाण है। उदाहरण के लिये राजप्रश्नीय के विवरणकार ने मूल पाठ से भिन्न कितने ही पाठांतर उद्धृत किये हैं। शीलांकसूरि ने भी सूत्रकृतांग की टीका में लिखा है कि सूत्रादर्शों में अनेक प्रकार के सूत्र उपलब्ध होते हैं, हमने एक ही आदर्श को स्वीकार कर यह विवरण लिखा है, अतएव यदि कहीं सूत्रों में विसंवाद दृष्टिगोचर हो तो चित्त में व्यामोह नहीं करना चाहिये।[3] ऐसी हालत में

---

१. बौद्ध त्रिपिटक की तीन संगीतियों का उल्लेख बौद्ध ग्रंथों में आता है। पहली संगीति राजगृह में, दूसरी वैशाली में और तीसरी सम्राट् अशोक के समय बुद्ध-परिनिर्वाण के २३६ वर्ष बाद पाटलिपुत्र में हुई। इसी समय से बौद्ध आगम लिपिबद्ध किये गये। देखिये कर्न, मैनुअल ऑव इण्डियन बुद्धिज़्म, पृष्ठ १०१ इत्यादि।

२. देखिये इसी पुस्तक का पहला अध्याय।

३. सूत्रकृतांग २,२–३९ सूत्र की टीका।

टीकाकारों को सूत्रार्थ स्पष्ट करने के लिये आगमों की मूल भाषा में काफी परिवर्त्तन और संशोधन करना पड़ा है। इन ग्रन्थों में प्राकृतव्याकरण के रूपों की विविधतायें दृष्टिगोचर होती हैं। उदाहरण के लिये, कल्पसूत्र की प्राचीन प्रतियों में कहीं य श्रुति मिलती है (जैसे तित्थयर), कहीं नहीं भी मिलती है (जैसे आअअणं), कहीं य श्रुति के स्थान में 'इ' का प्रयोग देखने में आता है (जैसे चयं के स्थान पर चइं), कहीं ह्रस्व स्वर का प्रयोग (जैसे गुत्त), और कहीं ह्रस्व स्वर के बदले दीर्घ स्वर का प्रयोग देखा जाता है (जैसे गोत्त)। क, ग, च, ज, त, द, प, य और व का प्रायः लोप हो जाता है (सिद्धहेम, ८.१.१७७), तथा ख, घ, ध, और भ के स्थान में ह हो जाता है (सिद्धहेम ८.१.१८७), इन नियमों का भी पालन प्राचीन प्राकृत ग्रन्थों में देखने में नहीं आता।[1] कितनी ही बार बाद में होनेवाले आचार्यों ने शब्दों के प्रयोगों में अनेक परिवर्त्तन कर डाले। प्राचीन प्राकृत के साथ इनका संबंध कम हो गया, ऐसी हालत में अपने वक्तव्य को पाठकों अथवा श्रोताओं को समझाने के लिये उन्हें भाषा में फेरफार करना पड़ा। अभयदेव और मलयागिरि आदि टीकाकारों की टीकाओं में भाषासम्बन्धी यह फेरफार स्पष्ट लक्षित होता है।[2] जैन आगमों की अर्धमागधी भाषा और बौद्धसूत्रों की पालिभाषा के एक ही प्रदेश और काल

---

१. मुनि पुण्यविजय जी से ज्ञात हुआ है कि भगवतीसूत्र आदि की हस्तलिखित प्राचीन प्रतियों में महावीरे के स्थान पर मधावीरे और देवेहिं के स्थान पर देवेभिं आदि पाठ मिलते हैं।

२. मुनि पुण्यविजयजी ने आगमों की प्राचीनतम हस्तलिखित प्रतियों में भाषा और प्रयोग की प्रचुर विविधतायें पाये जाने का उल्लेख बृहत्कल्पसूत्र, छठे भाग की प्रस्तावना, पृष्ठ ५७ पर किया है। तथा देखिये उनकी कल्पसूत्र (साराभाई मणिलाल नवाब, अहमदाबाद) की प्रस्तावना पृष्ठ ४-६; उन्हीं की अंगविज्जा की प्रस्तावना, पृष्ठ ८-११।

की उपज होते हुए भी दोनों में इतना अन्तर कैसे हो गया, यह एक बड़ा रोचक विषय है जिसका स्वतंत्र रूप से अध्ययन करने की आवश्यकता है। जो कुछ भी हो, आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, निशीथ, व्यवहार और बृहत्कल्प-सूत्र आदि आगमों में भाषा का जो स्वरूप दिखाई देता है, वह काफी प्राचीन है। दुर्भाग्य से इन सूत्रों के संशोधित संस्करण अभीतक प्रकाशित नहीं हुए, ऐसी दशा में पाटन और जैसलमेर के प्राचीन भंडारों में पाई जानेवाली हस्तलिखित प्रतियों में भाषा का जो रूप उपलब्ध होता है[1], वही जैन आगमों की प्राकृत का प्राचीनतम रूप समझना चाहिये।[2]

आगमों का महत्त्व

इसमें सन्देह नहीं कि महावीरनिर्वाण के पश्चात् १००० वर्ष के दीर्घकाल में आगम साहित्य काफी क्षतिग्रस्त हो चुका था। दृष्टिवाद नाम का बारहवाँ अंग लुप्त हो गया था, दोगिद्धदसा, दीहदसा, बंधदसा, संखेवितदसा और पण्हवागरण नाम की दशायें व्युच्छिन्न हो गई थीं, तथा कालिक और उक्कालिक श्रुत का बहुत सा भाग नष्ट हो गया था। आचारांग सूत्र का महापरिण्णा अध्ययन तथा महानिशीथ और दस प्रकीर्णकों का बहुत-सा भाग विस्मृत किया जा चुका था।[3] जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति,

---

१. बृहत्कल्पभाष्य की विक्रम संवत् की १२वीं शताब्दी की लिखी हुई एक हस्तलिखित प्रति पाटण के भंडार में मौजूद है। इस सूचना के लिये पुण्यविजय जी का आभारी हूँ।

२. विन्टरनीज़ आदि विद्वानों ने आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन और दशवैकालिक आदि प्राचीन जैन सूत्रों की पद्यात्मक भाषा की धम्मपद आदि की भाषा से तुलना करते हुए, गद्यात्मक भाषा की अपेक्षा उसे अधिक प्राचीन माना है। देखिये प्राकृतभाषाओं का व्याकरण, पृष्ठ २९।

३. अनुपलब्ध आगमों की एक साथ दी हुई सूची के लिये देखिये, प्रोफेसर हीरालाल रसिकदास कापड़िया, आगमोनुं दिग्दर्शन, पृष्ठ १९८ २०६।

प्रश्नव्याकरण, अन्तकृद्दशा, अनुत्तरोपपातिकदशा, सूर्यप्रज्ञप्ति और चन्द्रप्रज्ञप्ति में आमूल परिवर्त्तन हो गया था, तथा ज्ञातृधर्मकथा, व्याख्याप्रज्ञप्ति और विपाकसूत्र आदि के परिमाण में ह्रास हो गया था। तात्पर्य यह है कि अनेक सूत्र गलित हो चुके थे, वृद्ध सम्प्रदाय और परम्परायें नष्ट हो गई थीं तथा वाचनाओं में इतनी अधिक विषमता आ गई थी कि सूत्रार्थ का स्पष्टीकरण कठिन हो गया था। आगमों के नामों और उनकी संख्या तक में मतभेद हो गये थे। रायपसेणइय को कोई राजप्रश्नीय, कोई राजप्रसेनकीय और कोई राजप्रसेनजित् नाम से उल्लिखित करते थे। सम्प्रदाय के विच्छिन्न हो जाने से टीकाकार वज्जी (वज्जी= लिच्छवी) का अर्थ इन्द्र (वज्रं अस्य अस्तीति), काश्यप (महावीर का गोत्र) का अर्थ इक्षुरस का पान करनेवाले (काशं उच्छुं तस्य विकारः कास्यः रसः स यस्य पानं स काश्यपः) और वैशालीय (वैशाली के रहनेवाले महावीर) का अर्थ विशालगुणसंपन्न ('वेसालीए' गुणा अस्य विशाला इति वैशालीयाः) करने लगे थे। वर्णन-प्रणाली में पुनरुक्ति भी यहाँ खूब पाई जाती है; 'जाव' (यावत्) शब्द से जहाँ-तहाँ इसका दिग्दर्शन कराया गया है।[1]

लेकिन यह सब होते हुए भी जो आगम-साहित्य अवशेष बचा है, वह किसी भी हालत में उपेक्षणीय नहीं है। इस विशालकाय साहित्य में प्राचीनतम जैन परम्परायें, अनुश्रुतियाँ, लोककथायें, तत्कालीन रीति-रिवाज, धर्मोपदेश की पद्धतियाँ, आचार-विचार, संयम-पालन की विधियाँ आदि अनेकानेक विषय उल्लिखित हैं जिनके अध्ययन से तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक अवस्थाओं पर प्रकाश पड़ता है, तथा जैनधर्म के विकास की त्रुटित शृंखलायें जोड़ी जा सकती हैं। उदाहरण के लिये, व्याख्याप्रज्ञप्ति में महावीर का तत्त्वज्ञान, उनकी शिष्य-

---

१. पालि-त्रिपिटक में 'जाव' के स्थान में 'पेय्यालं' (पातुं अलं) शब्द का प्रयोग किया गया है।

परंपरा, तत्कालीन राजे-महाराजे तथा अन्य तीर्थिकों के मत-मतान्तरों का विवेचन है। कल्पसूत्र में महावीर का विस्तृत जीवन, उनकी विहार-चर्या और जैन श्रमणों की स्थविरावली उपलब्ध होती है। कनिष्क राजा के समकालीन मथुरा के जैन शिलालेखों में इस स्थविरावली के भिन्न-भिन्न गण, कुल और शाखाओं का उल्लेख किया गया है। ज्ञातृधर्मकथा में निर्ग्रंथ-प्रवचन की उद्बोधक अनेक भावपूर्ण कथा-कहानियों, उपमाओं और दृष्टान्तों का संग्रह है जिससे महावीर की सरल उपदेश-पद्धति पर प्रकाश पड़ता है। आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन और दशवैकालिक सूत्रों के अध्ययन से जैन मुनियों के संयम-पालन की कठोरता का परिचय प्राप्त होता है। डाक्टर विन्टरनीज़ ने इस प्रकार के साहित्य को श्रमण-काव्य नाम दिया है जिसकी तुलना महाभारत तथा बौद्धों के धम्मपद और सुत्तनिपात आदि से की गई है। राजप्रश्नीय, जीवाभिगम और प्रज्ञापना आदि सूत्रों में वास्तुशास्त्र, संगीत, नाट्य, विविध कलायें, प्राणिविज्ञान, वनस्पतिविज्ञान आदि अनेक विषयों का विवेचन मिलता है। छेदसूत्र तो आगमसाहित्य का प्राचीनतम महाशास्त्र है जिसमें निर्ग्रन्थ श्रमणों के आहार-विहार, गमनागमन, रोग-चिकित्सा, विद्या-मंत्र, स्वाध्याय, उपसर्ग, दुर्भिक्ष, महामारी, तप, उपवास, प्रायश्चित्त आदि से सम्बन्ध रखनेवाली विपुल सामग्री भरी पड़ी है जिसके अध्ययन से तत्कालीन समाज का एक सजीव चित्र सामने आ जाता है। बृहत्कल्पसूत्र में उल्लेख है कि श्रमण भगवान् महावीर जब साकेत के सुभूमिभाग उद्यान में विहार कर रहे थे तो उन्होंने अपने भिक्षु-भिक्षुणियों को पूर्व दिशा में अंग-मगध तक, दक्षिण में कौशांबी तक, पश्चिम में थूणा (स्थानेश्वर) तक तथा उत्तर में कुणाला (उत्तरकोसल) तक विहार करने का आदेश दिया। इतने ही क्षेत्र को उस समय उन्होंने जैन श्रमणों के विहार करने योग्य मान कर आर्य क्षेत्र घोषित किया था। निस्सन्देह इस सूत्र को महावीर जितना ही प्राचीन मानना चाहिये। भाषाशास्त्र की दृष्टि से भी प्राकृत

भाषा का यह प्राचीनतम साहित्य अत्यंत उपयोगी और महत्त्वपूर्ण है।

आगमों का काल

महावीर ने अपने गणधरों को आगम-सिद्धांत का उपदेश दिया, अतएव आगमों के कुछ अंश को महावीरकालीन मानना होगा। अवश्य ही यह कहना कठिन है कि आगम का कौन-सा अंश उनका साक्षात् उपदेश है और कौन सा नहीं। बहुत-कुछ तो मौलिक आधारों को सामने रखकर अथवा देश-काल की परिस्थिति को देखते हुए बाद में निर्मित किया गया होगा। आगमों का कोई आलोचनात्मक संस्करण न होने के कारण यह कठिनाई और बढ़ जाती है। वस्तुतः आगमों का समय निर्धारित करने के लिये प्रत्येक आगम में प्रतिपादित विषय और उसकी वर्णन-शैली आदि का तुलनात्मक अध्ययन करना आवश्यक है। आगमों का अंतिम संकलन ईसवी सन् की पाँचवीं शताब्दी में निर्धारित हुआ, अतएव इनका अंतिम समय यही स्वीकार करना होगा। इस साहित्य में सामान्यतया अंग, मूलसूत्र और छेदसूत्र विषय और भाषा आदि की दृष्टि से प्राचीन मालूम होते हैं, तत्पश्चात् उपांग, प्रकीर्णक, तथा नंदी और अनुयोगद्वार का नामोल्लेख किया जा सकता है। ईसवी सन् की १७वीं शताब्दी तक इन ग्रन्थों पर अनेकानेक टीका-टिप्पणियाँ लिखी जाती रहीं।

द्वादशांग

जैन शास्त्रों में सबसे प्राचीन ग्रन्थ अंग हैं। इन्हें वेद भी कहा गया है[1] (ब्राह्मणों के प्राचीनतम शास्त्र भी वेद कहे जाते हैं)। ये अंग बारह हैं, इसलिये इन्हें द्वादशांग कहा जाता है। द्वादशांग का दूसरा नाम गणिपिटक है (बौद्धों के प्राचीनशास्त्र

---

१. दुवालसंगं वा प्रवचनं वेदो (आचारांगचूर्णी, ५, १८५)।

को त्रिपिटक कहा गया है)। ये अंग महावीर के गणधर सुधर्मा स्वामीरचित माने जाते हैं। बारहवें अंग का नाम दृष्टिवाद है जिसमें चौदह पूर्वों का समावेश है। यह लुप्त हो गया है, इसलिये आजकल ग्यारह ही अंग उपलब्ध हैं। इन अंगों के विषयों का वर्णन समवायांग और नन्दीसूत्र में दिया हुआ है।

आयारंग (आचारांग)

आचारांग सूत्र[1] का द्वादश अंगों में महत्त्वपूर्ण स्थान है, इसलिये इसे अंगों का सार कहा है[2]। सामयिक नाम से भी इसका उल्लेख किया गया है।[3] निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थिनियों के आचार-विचार का इसमें विस्तार से वर्णन है। इसमें दो श्रुतस्कंध हैं। प्रथम श्रुतस्कंध में नौ अध्ययन हैं जो वंभचेर (ब्रह्मचर्य) कहलाते हैं। इनमें ४४ उद्देशक हैं। द्वितीय श्रुतस्कंध में १६ अध्ययन हैं जो तीन चूलिकाओं में विभक्त हैं। दोनों के विषय और वर्णनशैली देखकर जान पड़ता है कि पहला श्रुत-स्कंध दूसरे की अपेक्षा अधिक मौलिक और प्राचीन है। मूल में पहला ही श्रुतस्कंध था, बाद में भद्रबाहु द्वारा आचारांग पर निर्युक्ति लिखते समय इसमें आयारग्ग (चूलिका) लगा दिये गये। आचारांग की गणना प्राचीनतम जैन सूत्रों में की जाती है। यह गद्य और पद्य दोनों में है; कुछ गाथायें अनुष्टुप् छंद में हैं। इसकी भाषा प्राचीन प्राकृत का नमूना है। इस सूत्र पर भद्रबाहु ने निर्युक्ति, जिनदासगणि ने चूर्णी और शीलांक (ईसवी सन् ८७६) ने टीका लिखी है। शीलांक की टीका गंधहस्ति-कृत शस्त्रपरिज्ञा विवरण के अनुसार लिखी गई है। जिनहंस

---

१. निर्युक्ति और शीलांक की टीका सहित आगमोदय समिति द्वारा सन् १९३५ में प्रकाशित। इसका प्रथम श्रुतस्कंध वाल्टर शूब्रिंग द्वारा संपादित होकर लिप्ज़ग में सन् १९१० में प्रकाशित हुआ।

२. अंगाणं किं सारो ? आयारो। आचारांग १·१ की भूमिका।

३. नायाधम्मकहाओ, अध्ययन ५।

ने इस पर दीपिका लिखी है। हर्मन जैकोबी ने सेक्रेड बुक्स ऑव द ईस्ट के २२वें भाग में इसका अंग्रेजी अनुवाद किया है और इसकी खोजपूर्ण प्रस्तावना लिखी है।

शस्त्रपरिज्ञा नाम के प्रथम अध्ययन में पृथ्वीकाय आदि जीवों की हिंसा का निषेध है। लोकविजय अध्ययन में अप्रमाद, अज्ञानी का स्वरूप, धनसंग्रह का परिणाम, आशा का त्याग, पापकर्म का निषेध आदि का प्रतिपादन है। मृत्यु से हर कोई डरता है, इस सम्बन्ध में उक्ति है :—

नत्थि कालस्स णागमो। सव्वे पाणा पियाउया, सुहसाया, दुक्खपडिकूला, अप्पियवहा, पियजीविणो जीविउकामा। सव्वेसिं जीवियं पियं।

—मृत्यु का आना निश्चित है। सब प्राणियों को अपना-अपना जीवन प्रिय है, सभी सुख चाहते हैं, दुःख कोई नहीं चाहता, मरण सभी को अप्रिय है, सभी जीना चाहते हैं। प्रत्येक प्राणी जीवन की इच्छा रखता है, सबको जीवित रहना अच्छा लगता है।

शीतोष्णीय अध्ययन में विरक्त मुनि का स्वरूप, सम्यक्‌दर्शी का लक्षण और कषाय-त्याग आदि का प्रतिपादन है। मुनि और अमुनि के सम्बन्ध में कहा है :—

सुत्ता अमुणी, सया मुणिणो जागरंति।[1]

अर्थात् अमुनि सोते हैं और मुनि सदा जागते हैं।

---

१. मिलाइये थेरगाथा (१९३) के साथ—

न ताव सुपितं होति रत्तिनक्खत्तमालिनी।
पटिजग्गितुमेवेसा रत्ति होति विजानता॥

—नक्षत्रों से भरी यह रात सोने के लिये नहीं। ज्ञानी के लिये यह रात जागकर ध्यान करने योग्य है।

इतिवुत्तक, जागरियसुत्त (४७) और भगवद्गीता (२-६९) भी देखिये।

रति और अरति में समभाव रखने का उपदेश देते हुए कहा है:—

का अरई ? के आणंदे ? इत्थंपि अग्गहे चरे ।
सव्वं हासं परिच्चज्ज आलीनगुत्तो परिव्वए ॥

—क्या अरति है और क्या आनन्द है ? इनमें आसक्ति न रख कर संयमपूर्वक विचरण करे। सब प्रकार के हास्य का परित्याग करे, तथा मन, वचन और काया का गोपन करके संयम का पालन करे।

सम्यक्त्व अध्ययन में तीर्थंकरभाषितधर्म, अहिंसा, देहदमन, संयम की साधना आदि का विवेचन है। यहाँ देह को कृश करने, मांस और शोणित को सुखाने तथा आत्मा को दमन करने का उपदेश है।

लोकसार अध्ययन में कुशील-त्याग, संयम में पराक्रम, चारित्र, तप आदि का प्ररूपण है। बाह्य शत्रुओं से युद्ध करने की अपेक्षा अभ्यन्तर शत्रु से जूझना ही श्रेष्ठ बताया है। इन्द्रियों की उत्तेजना कम करने के लिये रूखा-सूखा आहार करना, भूख से कम खाना, एक स्थान पर कायोत्सर्ग से खड़े रहना और दूसरे गाँव में विहार करने का उपदेश है। इतने पर भी इन्द्रियाँ यदि वश में न हों तो आहार का सर्वथा त्याग कर दे, किन्तु स्त्रियों के प्रति मन को चंचल न होने दे।

धूत अध्ययन में परीषह-सहन, प्राणिहिंसा, धर्म में रति आदि विविध विषयों का विवेचन है। मुनि को उपधि का त्याग करने का उपदेश देते हुए कहा है कि जो मुनि अल्प वस्त्र रखता है अथवा सर्वथा वस्त्ररहित होता है, उसे यह चिन्ता नहीं होती कि उसका वस्त्र जीर्ण हो गया है, उसे नया वस्त्र लाना है। अचेल मुनि को कभी तृण-स्पर्श का कष्ट होता है, कभी गर्मी-सर्दी का और कभी दंशमशक का, लेकिन इन सब कष्टों को वह यही सोच कर सहन करता है कि इससे उसके कर्मों का भार हलका हो रहा है।

महापरिज्ञा नामक अध्ययन व्युच्छिन्न है, इसलिये उपलब्ध नहीं है। विमोक्ष अध्ययन में परीषह-सहन, वस्त्रधारी का आचार, वस्त्रत्याग में तप, संलेखना की विधि, समाधिमरण आदि का प्रतिपादन है। परीषह सहन करने का उपदेश देते हुए कहा है कि यदि शीत से कांपते हुए किसी साधु को देखकर कोई गृहस्थ पूछे—'हे आयुष्मन्! आपको काम तो पीड़ा नहीं देता?' तो उत्तर में साधु कहता है—'मुझे काम पीड़ा नहीं देता, लेकिन शीत सहन करने की मुझ में शक्ति नहीं है।' ऐसी हालत में यदि गृहस्थ उसके लिये अग्नि जलाकर उसके शरीर को उष्णता पहुँचाना चाहे तो साधु को अग्नि का सेवन करना योग्य नहीं। आहार करने के संबंध में आदेश है कि भिक्षु-भिक्षुणी भोजन करते हुए आहार को बांये जबड़े से दांये जबड़े की ओर, और दांये जबड़े से बांये जबड़े की ओर न ले जायें, बल्कि बिना स्वाद लिये हुए ही उसे निगल जायें। यदि दंशमशक आदि जीव-जन्तु साधु के मांस और रक्त का शोषण करें तो साधु उन्हें रजोहरण आदि द्वारा दूर न करे। ऐसे समय यही विचार करे कि ये जीव केवल मेरे शरीर को ही हानि पहुँचाते हैं, मेरा स्वतः का कुछ नहीं बिगाड़ सकते।

उपधान-श्रुत अध्ययन में महावीर की कठोर साधना का वर्णन है। लाढ़ देश में जब वे वज्जभूमि और सुब्भभूमि नामक स्थानों में विहार कर रहे थे तो उन्हें अनेक उपसर्ग सहन करने पड़े—

लाढेहिं तस्सुवस्सग्गा बहवे जाणवया लूसिंसु।
अह लूहदेसिए भत्ते कुक्कुरा तत्थ हिंसिंसु निवइंसु॥
अप्पे जणे निवारेइ लूसणए सुणए दसमाणे।
छुच्छुकारिंति आहंसु समणं कुक्कुरा दसंतु त्ति॥

लाढ़ देश में विचरते हुए महावीर ने अनेक उपसर्ग सहे। वहाँ के निवासी उन्हें मारते और दाँतों से काट लेते। आहार

भी उन्हें रूखा-सूखा ही मिलता। वहाँ के कुत्ते उन्हें बहुत कष्ट देते।[1] कोई एकाध व्यक्ति ही कुत्तों से उन्हें बचाता। छू-छू करके वे कुत्तों को काटने के लिये महावीर पर छोड़ते।

फिर—

उवसंकमंतमपडिन्नं गामन्तियम्मि अप्पत्तं।
पडिनिक्खमित्तु लूसिंसु एयाओ परं पलेहित्ति॥
हयपुव्वो तत्थ दंडेण अदुवा मुट्ठिणा अदु कुन्तफलेण।
अदु लेलुणा कवालेण हन्ता हन्ता बहवे कंदिंसु॥
मंसाणि छिन्नपुव्वाणि उट्ठंभिया एगया कायं।
परीसहाइं लुंचिंसु अदुवा पंसुणा उवकरिंसु॥
उच्चालिय निहणिंसु अदुवा आसणाउ खलइंसु।
वोसट्ठकाय पणयाऽसी दुक्खसहे भगवं अपडिन्ने॥

—भोजन या स्थान के लिये आते हुए महावीर जब किसी ग्राम के पास पहुँचते तो ग्रामवासी गाँव से बाहर आकर उन्हें मारते और वहाँ से दूर चले जाने के लिये कहते। वे लोग डंडे, मुष्टि, भाले की नोंक, मिट्टी के ढेले अथवा कंकड़-पत्थर से मारते और बहुत शोर मचाते। कितनी ही बार वे उनके शरीर का मांस नोंच लेते, शरीर पर आक्रमण करते और अनेक प्रकार के कष्ट देते। वे उनके ऊपर धूल बरसाते, ऊपर उछालकर उन्हें नीचे पटक देते और आसन से गिरा देते। लेकिन शरीर की ममता छोड़कर सहिष्णु महावीर अपने लक्ष्य के प्रति अचल रहते।

द्वितीय श्रुतस्कंध के पिंडैषणा अध्ययन में भिक्षु-भिक्षुणियों के आहार-संबंधी नियमों का विस्तृत वर्णन है। पितृभोजन, इन्द्र आदि महोत्सव अथवा संखडि (भोज)[2] के अवसर पर

---

१. आजकल भी छोटा नागपुर डिवीज़न और उसके आसपास के प्रदेशों में कुत्तों का बहुत उपद्रव है।

२. संखडि के लिये देखिये बृहत्कल्पभाष्य ३, ३१४८, पृष्ठ ८८१-८९१; जगदीशचन्द्र जैन, लाइफ इन ऐंशियेण्ट इण्डिया ऐज़ डिपिक्टेड

उपस्थित होकर साधुओं को भिक्षा ग्रहण करने का निषेध है। मार्ग में यदि स्थाणु, कंटक, कीचड़ आदि पड़ते हों तो भिक्षा के लिये गमन न करे। बहुत अस्थिवाले मांस और बहुत कांटेवाली मछली के भक्षण करने के संबंध में चर्चा की गई है। शय्या अध्ययन में वसति के गुण-दोषों और गृहस्थ के साथ रहने में लगनेवाले दोषों का विवेचन है। ईर्या अध्ययन में मुनि के विहारसंबंधी नियमों का प्ररूपण है। भिक्षु-भिक्षुणी को देश की सीमा पर रहनेवाले अकालचारी और अकालभक्षी दस्यु, म्लेच्छ और अनार्यों आदि के देशों में विहार करने का निषेध है। जहाँ कोई राजा न हो, गणराजा ही सब कुछ हो, युवराज राज्य का संचालन करता हो, दो राजाओं का राज्य हो, परस्पर विरोधी राज्य हों, वहाँ गमन करने का निषेध है। नाव पर बैठकर नदी आदि पार करने के संबंध में नियम बताये हैं। नाव में यात्रा करते समय यदि यात्री कहे कि इस साधु से नाव भारी हो गई है, इसलिये इसे पकड़ कर पानी में डाल दो तो यह सुनकर साधु अपने चीवर को अच्छी तरह बाँधकर अपने सिर पर लपेट ले। उनसे कहे कि आप लोग मुझे इस तरह से न फेंकें, मैं स्वयं पानी में उतर जाऊँगा। यदि वे फिर भी पानी में डाल ही दें[1] तो रोष न करे। जल को तैर कर पार करने में असमर्थ हो तो उपधि का त्याग कर कायोत्सर्ग करे, अन्यथा किनारे पर पहुँच कर गीले शरीर से बैठा रहे। जल यदि जंघा से पार किया जा सकता हो तो जल को आलोडन करता हुआ न जाये। एक पैर को जल में रख और दूसरे को ऊपर उठाकर नदी आदि पार करे।

इन जैन कैनन्स, पृष्ठ २३९-२४०। मज्झिमनिकाय (१,४४८) में इसे संखति कहा है।

१. अवारिय जातक (३७६) पृष्ठ २३० इत्यादि में भी इस तरह के उल्लेख पाये जाते हैं।

भाषाजात अध्ययन में भाषासंबंधी आचार-विचारों का वर्णन है। वस्त्रैषणा अध्ययन में मुनियों के वस्त्रसंबंधी नियमों का उल्लेख है। भिक्षु-भिक्षुणी को उन्हीं वस्त्रों की याचना करना चाहिये जो फेंकने लायक हैं तथा जिनकी श्रमण, ब्राह्मण, वनीपक[1] आदि इच्छा नहीं करते। पात्रैषणा अध्ययन में पात्रसंबंधी नियमों का विधान है। अवग्रहप्रतिमा अध्ययन में उपाश्रयसंबंधी नियम बताये हैं। आम, गन्ना और लहसुन के भक्षण करने के संबंध में नियमों का विधान है। ये सात अध्ययन प्रथम चूलिका (परिशिष्ट) के अंतर्गत आते हैं।

दूसरी चूलिका में भी सात अध्ययन हैं। स्थान अध्ययन में स्थानसंबंधी, निशीथिका अध्ययन में स्वाध्याय करने के स्थान-संबंधी, और उच्चारण-प्रश्रवण अध्ययन में मल-मूत्र का त्याग करनेसंबंधी नियमों का विधान है। तत्पश्चात् शब्द, रूप और परक्रिया (कर्मबंधजनक क्रिया) संबंधी नियमों का विवेचन है। यदि कोई गृहस्थ साधु के पैर साफ़ करे, पैर में से काँटा निकाले, चोट लग जाने पर मलहम-पट्टी आदि करे तो साधु को सर्वथा उदासीन रहने का उपदेश है।

तीसरी चूलिका में दो अध्ययन हैं। भावना अध्ययन में महावीर के चरित्र और महाव्रत की पाँच भावनाओं का वर्णन है। महावीरचरित्र का उपयोग भद्रबाहु के कल्पसूत्र में किया गया है। विमुक्ति अध्ययन में मोक्ष का उपदेश है।

सूयगडंग (सूत्रकृतांग)

सूत्रकृतांग को सूतगड, सुत्तकड अथवा सूयगडं नाम से भी कहा जाता है।[2] स्वसमय और परसमय का भेद बताये जाने

---

१. आहार आदि के लोभी जो प्रिय भाषण आदि द्वारा भिक्षा माँगते हैं (पिंडनिर्युक्ति, ४४४–४४५), स्थानांग सूत्र (३२३ अ) में श्रमण, ब्राह्मण, कृपण, अतिथि और श्वान ये पाँच वनीपक बताये गये हैं।

२. निर्युक्ति तथा शीलांक की टीका सहित आगमोदय समिति, बंबई द्वारा १९१७ में प्रकाशित। मुनि पुण्यविजयजी निर्युक्ति और चूर्णी सहित इसका संपादन कर रहे हैं।

के कारण (सूचा कृतम् इति स्वपरसमयार्थसूचकं सूचा साऽस्मिन् कृतम् इति) इसे सूत्रकृतांग नाम से कहा गया है। इसके दो श्रुतस्कंध हैं—पहले में सोलह और दूसरे में सात अध्ययन हैं। पहला श्रुतस्कंध एक अध्ययन को छोड़कर पद्य में है और दूसरा गद्य-पद्य दोनों में। अनुष्टुप्, वैतालिक और इन्द्रवज्रा छन्दों का यहाँ प्रयोग किया गया है। सूयगडं पर भद्रबाहु ने निर्युक्ति लिखी है; इस पर चूर्णी भी है। शीलांक ने वाहरिगणि की सहायता से टीका लिखी है। हर्षकुल और साधुरंग ने दीपिकाओं की रचना की है। हर्मन जैकोबी ने सेक्रेड बुक्स ऑव द ईस्ट के ४५ वें भाग में इसका अंग्रेजी अनुवाद किया है। भाषा और विषय-प्ररूपण की शैली को देखते हुए इस सूत्र की गणना भी प्राचीनतम सूत्रों में की जाती है।

प्रथम श्रुतस्कंध के समय अध्ययन में स्वसमय और पर-समय का निरूपण किया गया है। यहाँ पंचभूतवादी, अद्वैतवादी, जीव और शरीर को अभिन्न स्वीकार करनेवाले, जीव को पुण्य-पाप का अकर्त्ता माननेवाले, पाँच भूतों के साथ आत्मा को छठा भूत स्वीकार करनेवाले तथा किसी क्रिया के फल में विश्वास न करनेवाले मतवादियों के सिद्धांतों का विवेचन है। यहाँ नियतिवाद, अज्ञानवाद, जगत्कर्तृत्ववाद और लोकवाद का निरसन किया है। वैतालीय अध्ययन में शरीर की अनित्यता, उपसर्गसहन, काम-परित्याग और अशरणत्व आदि का प्ररूपण है। उपसर्ग अध्ययन में श्रमण धर्म को पालन करने में आनेवाले उपसर्गों का विवेचन है—

> एवं सेहेवि अप्पुट्ठे भिक्खायरियाअकोविए।
> सूरं मण्णति अप्पाणं जाव लूहं न सेवए॥
> जया हेमंतमासंमि सीतं फुसइ सव्वगं।
> तत्थ मंदा विसीयंति रज्जहीणा व खत्तिया॥
> पुट्ठे गिम्हाहिजावेणं विमणे सुपिवासिए।
> तत्थ मंदा विसीयंति मच्छा अप्पोदए जहा॥

अप्पेगे खुधियं भिक्खुं सुणी डंसति लूसए।
तत्थ मंदा विसीयंति तेउपुट्ठा व पाणिणो॥
अप्पेगे वइ जुंजंति नगिणा पिंडोलगाहमा।
मुंडा कंडूविणट्ठंगा उज्जला असमाहिता॥
पुट्ठो य दंसमसएहिं तणफासमचाइया।
न मे दिट्ठे परे लोए जइ परं मरणं सिया॥
अप्पेगे पलियंते सिं चारो चोरो त्ति सुव्वयं।
बंधंति भिक्खुयं बाला कसायवयणेहि य॥
तत्थ दंडेण संवीते मुट्ठिणा अदु फलेण वा।
नातीणं सरती बाले इत्थी वा कुद्धगामिणी॥

—भिक्षाचर्या में अकुशल, परीषहों से अछूता अभिनव प्रव्रजित शिष्य अपने आपको तभीतक शूर समझता है जब तक कि वह संयम का सेवन नहीं करता। जब हेमंत ऋतु में भयंकर शीत सारे अंग को कँपाती है, तब मंद शिष्य राज्यभ्रष्ट क्षत्रियों की भाँति विषाद को प्राप्त होते हैं। ग्रीष्म ऋतु के भीषण अभिताप से आक्रांत होने पर वे विमनस्क और प्यास से व्याकुल हो जाते हैं। उस समय थोड़े जल में तड़पती हुई मछली की भाँति वे विषाद को प्राप्त होते हैं यदि कोई कुत्ता आदि क्रूर प्राणी बुभुक्षित साधु को काटने लगे तो अग्नि से जले हुए प्राणी की भाँति मन्द शिष्य विषाद को प्राप्त होते हैं। कोई लोग इन के साधुओं को देखकर प्रायः तिरस्कारयुक्त वचन कहते हैं—'ये नंगे हैं, परपिंड के अभिलाषी हैं, मुंडित हैं, खुजली से इनका शरीर गल गया है, इनके पसीने से बदबू आती है और ये कितने बीभत्स हैं!" डाँस-मच्छर से कष्ट पाता हुआ और तृण-स्पर्श को सहन करने में असमर्थ साधु के मन में कदाचित् यह विचार आ सकता है कि परलोक तो मैंने देखा नहीं, इसलिये इस यातना से छुटकारा पाने के लिये मरण ही श्रेयस्कर है। कुछ अज्ञानी पुरुष (अनार्य-देशवासी) भ्रमण करते हुए भिक्षुक को देखकर सोचते हैं—"यह गुप्तचर है, यह चोर है," और फिर उसे बाँध देते हैं, और

कटुवचन कहकर धिक्कारते हैं। डंडे, घूँसे, तख्ते आदि से वे उसकी मरम्मत करते हैं, और तब क्रोध में आकर घर से निकल कर भागनेवाली स्त्री की भाँति उस भिक्षु को बार-बार अपने स्वजनों की याद आती है।

स्त्रीपरिज्ञा अध्ययन में बताया है कि साधुओं को किस प्रकार स्त्रीजन्य उपसर्ग सहन करना पड़ता है। कभी साधु के किसी स्त्री के वशीभूत हो जाने पर स्त्री उस साधु के सिर पर पादप्रहार करती है, और कहती है कि यदि तू मेरी जैसी सुन्दर केशोंवाली स्त्री के साथ विहार नहीं करना चाहता, तो मैं भी अपने केशों का लोंच कर डालूँगी। वह उसे अपने पैरों को रचाने, कमर दबवाने, अन्न-जल लाने, तिलक और आँखों में अंजन लगाने के लिये सलाई तथा हवा करने के लिये पंखा लाने का आदेश देती है। बच्चे के खेलने के लिये खिलौने लाने को कहती है, उसके कपड़े धुलवाती है, और गोद में लेकर उसे खिलाने का आदेश देती है। नरक-विभक्ति अध्ययन में नरक के घोर दुःखों का वर्णन है। वीरस्तुति अध्ययन में महावीर को हस्तियों में ऐरावण, मृगों में सिंह, नदियों में गंगा और पक्षियों में गरुड़ की उपमा देते हुए लोक में सर्वोत्तम बताया है। कुशील-परिभाषा अध्ययन में कुशील का वर्णन है। वीर्य अध्ययन में वीर्य का प्ररूपण है। धर्म अध्ययन में मतिमान् महावीर के धर्म का प्ररूपण है। समाधि अध्ययन में दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप रूप समाधि को उपादेय बताया है। मार्ग अध्ययन में महावीरोक्त मार्ग को सर्वश्रेष्ठ प्रतिपादन करते हुए अहिंसा आदि धर्मों का प्ररूपण है। समवसरण अध्ययन में क्रिया, अक्रिया, विनय और अज्ञानवाद का खण्डन है। याथातथ्य अध्ययन में उत्तम साधु आदि के लक्षण बताये हैं। ग्रंथ अध्ययन में साधुओं के आचार-विचार का वर्णन है। जैसे पक्षी के बच्चे को ढंक आदि मांसाहारी पक्षी मार डालते हैं, उसी प्रकार गच्छ से निकले हुए साधु को पाखंडी साधु उठाकर ले जाते हैं और अपने

में मिला लेते हैं। आदान अध्ययन में स्त्री-सेवन आदि के त्याग का विधान है। गाथा अध्ययन में माहण (ब्राह्मण), श्रमण, भिक्षु और निर्ग्रन्थ की व्याख्या है।

द्वितीय श्रुतस्कंध में सात अध्ययन हैं। पुण्डरीक अध्ययन में इस लोक को पुष्करिणी की उपमा देते हुए तज्जीवतच्छरीर, पंचमहाभूत, ईश्वर और नियतिवादियों के सिद्धांतों का खंडन किया है। साधु को दूसरे के लिये बनाये हुए, उद्गम, उत्पाद और एषणा दोषों से रहित, अग्नि द्वारा शुद्ध, भिक्षाचरी से प्राप्त, साधुवेष से लाये हुए, प्रमाण के अनुकूल, गाड़ी को चलाने के लिये उसके धुरे पर डाले जानेवाले तेल की भाँति तथा घाव पर लगाये जानेवाले लेप के समान, केवल संयम के निर्वाह के लिये, बिल में प्रवेश करते हुए साँप की भाँति, स्वाद लिये बिना ही, अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य को ग्रहण करना चाहिये। क्रियास्थान अध्ययन में तेरह क्रियास्थानों का वर्णन है। यहाँ भौम, उत्पाद, स्वप्न, अंतरीक्ष, आंग, स्वर, लक्षण, व्यंजन, स्त्री-लक्षण[1] आदि शास्त्रों का उल्लेख है। अनेक प्रकार के दंडों का विधान है। आहारपरिज्ञान अध्ययन में वनस्पति, जलचर और पक्षियों आदि का वर्णन है। प्रत्याख्यानक्रिया अध्ययन में जीवहिंसा हो जाने पर प्रत्याख्यान की आवश्यकता बताई गई है। आचारश्रुताध्ययन में साधुओं के आचार का प्ररूपण है। पाप, पुण्य, बन्ध, मोक्ष, साधु, असाधु, और लोक, अलोक आदि न स्वीकार करने को यहाँ अनाचार कहा है। छठे अध्ययन में गोशाल, शाक्यभिक्षु, ब्राह्मण, एकदंडी और हस्तितापसों[2] के

---

१. दीघनिकाय (१, पृ० ९) में अंग, निमित्त, उप्पाद, सुपिन और लक्खण आदि का उल्लेख है। मनुस्मृति (६-५०) में भी उत्पात, निमित्त, नक्षत्र और अंगविद्या का नाम आता है।

२. ये लोग अपने बाण द्वारा हाथी को मारकर महीनों तक उसके मांस से अपना पेट भरते थे। इनका कहना था कि इस तरह हम अन्य जीवों की हत्या से बच जाते हैं। देखिये सूत्रकृतांग २·६। यहां टीका-

साथ आर्द्रक मुनि का संवाद है। वणिकों (?वनीपकों) के संबंध में गोशाल के मुख से कहलाया गया है—

वित्तेसिणो मेहुणसंपगाढा ते भोयणट्ठा वणिया वयंति।
वयं तु कामेसु अज्झोववन्ना अणारिया पेमरसेसु गिद्धा॥

—वणिक् (वनीपक) धन के अन्वेषी, मैथुन में अत्यन्त आसक्त और भोजन-प्राप्ति के लिये इधर-उधर चक्कर मारा करते हैं। हम तो उन्हें कामासक्त, प्रेमरस के प्रति लालायित और अनार्य कहते हैं।

सातवें अध्ययन का नाम नालन्दीय है। इस अध्ययन में वर्णित घटना नालन्दा में घटित हुई थी, इसलिये इसका नाम नालन्दीय पड़ा। गौतम गणधर नालन्दा में लेप गृहपति के हस्तियाम नामक वनखंड में ठहरे हुए थे। वहाँ पार्श्वनाथ के शिष्य उदकपेढालपुत्र के साथ उनका वाद-विवाद हुआ और अन्त में पेढालपुत्र ने चातुर्याम धर्म[1] त्याग कर पंच महाव्रत स्वीकार किये।

ठाणांग (स्थानांग)

स्थानांग सूत्र में अन्य आगमों की भाँति उपदेशों का संकलन नहीं, बल्कि यहाँ स्थान अर्थात् संख्या के क्रम से बौद्धों के अंगुत्तरनिकाय की भाँति लोक में प्रचलित एक से दस तक वस्तुएँ गिनाई गई हैं।[2] इस सूत्र में दस अध्ययनों में ७८३ सूत्र हैं। इसके टीकाकार हैं अभयदेवसूरि (ईसवी सन् १०६३),

---

कार ने बौद्ध साधुओं को हस्तितापस कहा है। ललितविस्तर (पृ० २४८) में हस्तिव्रत तपस्वियों का उल्लेख है।

१. दीघनिकाय (३, पृष्ठ ४८ इत्यादि) में चातुर्याम धर्म का उल्लेख है। मज्झिमनिकाय के चूलसकुलुदायिसुत्त में निगण्ठनाटपुत्त और उनके चातुर्याम संवर का उल्लेख मिलता है।

२. दूसरी आवृत्ति, सन् १९३७ में अहमदाबाद से प्रकाशित।

जिन्होंने आचारांग, सूत्रकृतांग और दृष्टिवाद को छोड़कर शेष नौ अंगों पर टीकायें लिखी हैं, इसलिये वे नवांगवृत्तिकार कहे जाते हैं। अभयदेव के कथन से मालूम होता है कि सम्प्रदाय के नष्ट हो जाने से, शास्त्रों के उपलब्ध न होने से, बहुत-सी बातों को भूल जाने से, वाचनाओं के भेद से, पुस्तक अशुद्ध होने से, सूत्रों के अति गंभीर होने से तथा जगह-जगह मतभेद होने के कारण विषयवस्तु के प्रतिपादन में बहुत-सी त्रुटियाँ रह गई हैं।[1] फिर भी द्रोणाचार्य आदि के सहयोग से उन्होंने इस ग्रंथ की टीका रची है। नागर्षि ने इस पर दीपिका लिखी है।

प्रथम अध्ययन में एक संख्यावाली वस्तुओं को गिनाया है। आत्मा एक है (एगे आया)। दूसरे अध्ययन में श्रुतज्ञान के अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट नामक दो भेदों का प्रतिपादन है। चन्द्र, सूर्य और नक्षत्रों के स्वरूप का कथन है। जम्बूद्वीप अधिकार में जम्बूद्वीप का स्वरूप है। तीसरे अध्ययन में दास, भृतक और साझेदार (भाइल्लग) की गिनती जघन्य पुरुषों में की है। माता-पिता, भर्त्ता और धर्माचार्य के उपकारों का बदला देने को दुष्कर कहा है।[2] मगध, वरदाम और प्रभास नामक तीर्थों और तीन प्रकार की प्रव्रज्या का उल्लेख है। निर्ग्रंथ और

---

१. सत्संप्रदायहीनत्वात् सदूहस्य वियोगतः।
सर्वस्वपरशास्त्राणामदृष्टेरस्मृतेश्च मे ॥
वाचनानामनेकत्वात् पुस्तकानामशुद्धितः।
सूत्राणामतिगांभीर्यान्मतभेदाच्च कुत्रचित् ॥
क्षूणानि संभवन्तीह, केवलं सुविवेकिभिः।
सिद्धान्तेऽनुगतो योऽर्थः सोऽस्माद् ग्राह्यो न चेतरः ॥
—(पृष्ठ ४९९ अ आदि)

२. इस संबंध में धम्मपद अट्ठकथा (२३. ३, भाग ४, पृ० ७-१३) में एक मार्मिक कथा दी है जिसके हिन्दी अनुवाद के लिये देखिये जगदीशचन्द्र जैन, प्राचीन भारत की कहानियाँ, पृ० ५-९।

निर्ग्रंथिनियों के तीन प्रकार के वस्त्र और पात्रों का उल्लेख है। वैदिक शास्त्रों में ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद और कथाओं में अर्थ, धर्म और काम की चर्चा है। पंडक (नपुंसक), वातिक, क्लीब, ऋणपीड़ित, राजापकारी, दास आदि को दीक्षा के अयोग्य बताया है।[1] चौथे अध्ययन में सर्वप्राणातिपातवेरमण, सर्वमृषावादवेरमण, सर्वअदत्तादानवेरमण, सर्वबहिद्धादानवेरमण[2] को चातुर्याम धर्म कहा है। चार पन्नत्तियों में चंदपन्नत्ती, सूरपन्नत्ती, जंबुद्दीवपन्नत्ती और दीवसागरपन्नत्ती का तथा चार प्रकार के हाथी,[3] चार नौकर,[4] चार विकथा (स्त्री, भक्त, देश, राज) और चार महाप्रतिपदाओं (चैत्र, आषाढ़, आश्विन और कार्तिक की प्रतिपदाओं) का उल्लेख है। आजीवकों के चार प्रकार के कठोर तप[5] का और चार हेतुओं में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम का उल्लेख है। तत्पश्चात् चार तीर्थिक, चार प्रव्रज्या, चार

१. विनयपिटक के अन्तर्गत महावग्ग में उपसंपदा और प्रव्रज्या के प्रकरण में नपुंसक, दास और ऋणधारी आदि को दीक्षा के अयोग्य कहा है।

२. बहिर्द्धा—मैथुनं परिग्रहविशेषः आदानं च परिग्रहः तयोर्द्वन्द्वैकत्वमथवा आदीयत इत्यादानं-परिग्राह्यं वस्तु तच्च धर्मोपकरणमपि भवतीत्यत आह—बहिस्तात् धर्मोपकरणाद् बहिर्यदिति, इह च मैथुनं परिग्रहेऽन्तर्भवति। ४. १ टीका।

३. हाथियों के लिये देखिये सम्मोहविनोदिनी अट्ठकथा, पृ० ३९७।

४. याज्ञवल्क्यस्मृति (प्रकरण १४, पृ० २४९) में अनेक प्रकार के दासों का उल्लेख है। ग्रियर्सन ने बिहार पेज़ेन्ट लाइफ (पृ० ३१५) में मजूर, जन, बनिहार, कमरिया, कमियाँ, चाकर, बहिया और चरवाह ये नौकरों के प्रकार बताये हैं।

५. उग्रतप, घोरतप, घृतादिरसपरित्याग (रसनिज्जूहणया), और जिह्वेन्द्रियप्रतिसंलीनता। जैनों के तप से इनकी तुलना की जा सकती है। बौद्धों के नंगुट्ठजातक में भी आजीवकों की तपस्या का उल्लेख है।

कृषि, चार संघ, चार बुद्धि, चार नाट्य, गेय, माल्य और अलंकार आदि का कथन है। पाँचवें अध्ययन में पाँच महाव्रत और पाँच राजचिह्नों का उल्लेख है। जाति, कुल, कर्म, शिल्प और लिंग के भेद से पाँच प्रकार की आजीविका का प्ररूपण है। गंगा, यमुना, सरयू, एरावती (राप्ती) और मही[1] नामक महानदियों के पार करने का निषेध है, लेकिन राजभय, दुर्भिक्ष, नदी में फेंक दिये जाने पर अथवा अनार्यों का आक्रमण आदि होने पर इस नियम में अपवाद बताया है। इसी प्रकार वर्षाकाल में गमन का निषेध है, लेकिन अपवाद अवस्था में यह नियम लागू नहीं होता। अपवाद अवस्था में हस्तकर्म, मैथुन, रात्रिभोजन[2] तथा सागारिक और राजपिंड ग्रहण करने का कथन है। साधारणतया निर्ग्रंथ और निर्ग्रन्थिनियों का साथ में रहने का निषेध है, लेकिन निर्ग्रंथिनियों के क्षिप्तचित्त अथवा यक्षाविष्ट अवस्था को प्राप्त हो जाने पर इस नियम का उल्लंघन किया जा सकता है। इसी प्रकार निर्ग्रंथिनी यदि पशु, पक्षी आदि से संत्रस्त हो, गड्ढे आदि में गिर पड़े, कीचड़ में फँस जाये, नाव पर आरोहण करे या नाव पर से उतरे तो उस समय अचेल निर्ग्रंथ सचेल निर्ग्रंथिनी को अवलंबन दे सकता है। आचार्य या उपाध्याय द्वारा गण को छोड़कर जाने के सम्बन्ध में नियमों का उल्लेख है। निर्ग्रंथ और निर्ग्रंथिनियों के पाँच प्रकार के वस्त्र और रजोहरण का उल्लेख है। अतिथि, कृपण, ब्राह्मण, श्वान और श्रमण नाम के पाँच वनीपक गिनाये गये हैं। बाईस तीर्थंकरों में से वासुपूज्य, मल्ली, अरिष्टनेमी, पार्श्व और महावीर के कुमार-

---

१. यह नदी सारन (बिहार) जिले में बहकर सोनपुर में गंडक में मिल जाती है। आठ महीने यह सूखी रहती है। विनयपिटक के चुल्लवग्ग (९. १. ४) तथा मिलिन्दपण्ह (हिन्दी अनुवाद, पृ० १४४, ४६८) में इन नदियों का उल्लेख है।

२. मज्झिमनिकाय के लकुटिकोपमसुत्त में विकाल भोजन का निषेध है।

प्रव्रजित होने का उल्लेख है।[1] यमुना, सरयू, आवी (एरावती अथवा अचिरावती), कोसी और मही नामक नदियाँ गंगा में, तथा शतद्रु, विपाशा, विनस्ता, एरावती (रावी) और चन्द्रभागा सिन्धु नदी में मिलती हैं। छठे अध्ययन में अंबष्ठ, कलंद, वेदेह, वेदिग, हरित, चुंचुण नामक छह आर्य जातियों, तथा उग्र, भोग, राजन्य, इक्ष्वाकु, णाय और कौरव नामक छह आर्यकुलों का उल्लेख है। सातवें अध्ययन में कासव, गोतम, वच्छ, कोच्छ, कोसिय, मंडव और वासिट्ठ इन सात मूल गोत्रों का कथन है। इन सातों के अवान्तर भेद बताये गये हैं।[2] सात मूल नय, सात स्वर, सात दंडनीति और सात रत्नों आदि का उल्लेख है। महावीर वज्रर्षभनाराय संहनन और समचतुरस्र संस्थान से युक्त थे तथा सात रयणी (मुट्ठी बाँध कर एक हाथ का माप) ऊँचे थे। उनके तीर्थ में जमालि, तिष्यगुप्त, आषाढ़, अश्वमित्र, गंग, षडूलक, रोहगुप्त और गोष्ठामहिल नामक सात निह्नवों की उत्पत्ति हुई। आठवें अध्ययन में आठ अक्रियावादी, आठ महानिमित्त

---

१. आवश्यकनिर्युक्ति (२४३–२४४) में कथन है—

वीरं अरिट्ठनेमिं पासं मल्लिं च वासुपुज्जं च।
एए मोत्तूण जिणे अवसेसा आसि रायाणो॥
रायकुलेसु वि जाया विसुद्धवंसेसु खत्तियकुलेसु।
न य इत्थियाभिसेया(?) कुमारवासंमि पव्वइया॥

मुनि पुण्यविजय जी अपने २०–९–१९४२ के पत्र में सूचित करते हैं कि यहां इच्छियाभिसेया पाठ है, अर्थात् इन तीर्थंकरों ने अभिषेक की इच्छा नहीं की। स्वयं आचार्य मलयगिरि ने इसका अर्थ 'ईप्सित अभिषेक' किया है।

२. गोत्रों के लिये देखिये अंगविज्जा (अध्याय २५); मनुस्मृति, (पृष्ठ ३९९, श्लोक ८–१९, ३२–९, ४७–६); याज्ञवल्क्यस्मृति (प्रकरण ४, पृष्ठ २८, श्लोक ९१–९५)।

और आठ प्रकार के आयुर्वेद[1] का उल्लेख है। महावीर द्वारा दीक्षित आठ राजाओं और कृष्ण की आठ अग्रमहिषियों का नामोल्लेख है। नौवें अध्ययन में नवनिधि और महावीर के नौ गणों—गोदास, उत्तरबलिस्सह, उद्देह, चारण, उद्दवातित, विस्सवातित, कामड्ढिय, माणव और कोडित के नाम हैं। दसवें अध्ययन में दस प्रकार की प्रव्रज्या का प्ररूपण है। स्वाध्याय न करने के काल का निरूपण किया गया है। दस महानदियों, तथा चंपा, मथुरा, वाराणसी, श्रावस्ती, साकेत, हस्तिनापुर, कांपिल्य, मिथिला, कौशांबी और राजगृह नामकी दस राजधानियों[2] के नाम गिनाये गये हैं। दस चैत्य वृक्षों में आसत्थ, सत्तिवन्न, सामलि, उंबर, सिरीस, दहिवन्न, वंजुल, पलास, वप्प और कणियार को गिनाया है। दृष्टिवाद सूत्र के दस नाम गिनाये हैं। दस दशाओं में कम्मविवाग, उवासग, अंतगड, अणुत्तरोववाय, आयार, पण्हवागरण, बंध, दोगिद्धि, दीह और संखेविय को गिनाया है, इन आगमों के अवान्तर अध्ययनों का नामोल्लेख है। अंतगड, अणुत्तरोववाय, आचार, पण्हवागरण, दोगिद्धि तथा दीह आदि दशाओं में ये अध्ययन इसी रूप में उपलब्ध नहीं होते, जिसका मुख्य कारण टीकाकार ने आगमों में वाचना-भेद का होना बताया है। दस आश्चर्यों में महावीर के गर्भहरण की घटना और स्त्री का तीर्थंकर होना गिनाया गया है।

समवायांग

जैसे स्थानांग में एक से लगाकर दस तक जीव आदि के स्थानों का प्ररूपण है, इसी प्रकार इस सूत्र में एक से लगाकर

---

१. कुमारभृत्य, कायचिकित्सा, शालाक्य, शल्यहत्या, जंगोली (विषविघाततंत्र), भूतविद्या, क्षारतंत्र (वाजीकरण), रसायन। तथा देखिये अंगविज्जा, अध्याय ५०।

२. दीघनिकाय के महापरिनिब्बाण सुत्त में चंपा, राजगृह, श्रावस्ती, साकेत, कौशांबी और वाराणसी नाम के महानगरों का उल्लेख है।

कोड़ाकोड़ि संख्या तक की वस्तुओं का संग्रह (समवाय) है।[1] बारह अंग और चौदह पूर्वों के विषयों का वर्णन तथा ब्राह्मी आदि अठारह लिपियों का और नन्दिसूत्र का उल्लेख यहाँ मिलता है। मालूम होता है कि द्वादशांग के सूत्रबद्ध होने के पश्चात् यह सूत्र लिखा गया है। अभयदेव सूरि ने इस पर टीका लिखी है।

एक वस्तु में आत्मा, दो में जीव और अजीव राशि, तीन में तीन गुप्ति, चार में चार कषाय, पाँच में पंच महाव्रत, छह में छह जीवनिकाय, सात में सात समुद्घात, आठ में आठ मद, नौ में आचारांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कंध के नौ अध्ययन, दस में दस प्रकार का श्रमणधर्म, दस प्रकार के कल्पवृक्ष, ग्यारह में ग्यारह उपासक प्रतिमा, ग्यारह गणधर, बारह में बारह भिक्षु-प्रतिमा, तेरह में तेरह क्रियास्थान, चौदह में चतुर्दश पूर्व, चतुर्दश जीवस्थान, चतुर्दश रत्न, पन्द्रह में पन्द्रह प्रयोग, सोलह में सूत्रकृतांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कंध के सोलह अध्ययन, सत्रह में सत्रह प्रकार का असंयम, सत्रह प्रकार का मरण, अठारह में अठारह प्रकार का ब्रह्मचर्य और अठारह लिपियों आदि का प्ररूपण किया गया है। अठारह लिपियों में बंभी (ब्राह्मी[2]), जवणी (यवनानी) दोसाउरिया, खरोट्टिया (खरोष्ठी[3]) खरसाविया (पुक्खरसारिया), पहराइया, उच्चत्तरिया, अक्खर-

---

१. अहमदाबाद से सन् १९३८ में प्रकाशित।

२. व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र के आरम्भ में ब्राह्मी लिपि को नमस्कार किया गया है। ऋषभदेव की पुत्री ब्राह्मी ने इस लिपि को चलाया था। ईसवी पूर्व ५०० ३०० तक भारत की समस्त लिपियाँ ब्राह्मी के नाम से कही जाती थीं। मुनि पुण्यविजय, भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखनकला, पृष्ठ ९।

३. ईसवी पूर्व ५वीं शताब्दी में यह लिपि अरमईक लिपि में से निकली है, मुनि पुण्यविजय, वही, पृष्ठ ८।

पुट्ठिया, भोगवयता, वेणइया, णिण्हइया, अंक, गणिय, गंधव्व, आदस्स, माहेसर, दामिली और पोलिंदी लिपियाँ गिनाई गई हैं।[1] उन्नीस वस्तुओं में नायाधम्मकहाओ के प्रथम श्रुतस्कंध के उन्नीस अध्ययन गिनाये हैं। चौबीस तीर्थंकरों में महावीर, नेमिनाथ, पार्श्व, मल्लि और वासुपूज्य को छोड़ कर शेष उन्नीस तीर्थंकरों को गृहस्थ-प्रव्राजित कहा है। तत्पश्चात् बीस असमाधि के स्थान, इक्कीस शबल चारित्र, बाईस परीषह, दृष्टिवाद के बाईस सूत्र आदि का प्ररूपण है। दृष्टिवाद के बाईस सूत्रों में कुछ सूत्रों का त्रैराशिक[2] (गोशालमत) सूत्र परिपाटी के अनुसार किये जाने का उल्लेख है। सूत्रकृतांग के द्वितीय श्रुतस्कंध के तेईस अध्ययन, चौबीस देवाधिदेव (तीर्थंकर), पचीस भावनायें, सत्ताईस अनगार के गुण, उनतीस पापश्रुत-प्रसंग आदि का प्ररूपण है। पापश्रुतों में भौम, उत्पात, स्वप्न, अंतरीक्ष, आंग, स्वर, व्यंजन और लक्षण इन अष्टांग निमित्तों को गिनाया है। सूत्र, वृत्ति और वार्तिक के भेद से इन श्रुतों के चौबीस भेद बताये हैं।[3] इनमें विकथानुयोग, विद्यानुयोग, मंत्रानुयोग, योगानुयोग और अन्य तीर्थिक-प्रवृत्तानुयोग के मिला देने से उनतीस भेद हो जाते हैं। तत्पश्चात्

---

१. लिपियों के लिये देखिये पन्नवणा (१. ५५ अ); विशेषावश्यकभाष्य (५. ४६४); हरिभद्र का उपदेशपद; लावण्यसमयगणि, विमलप्रबंध (पृष्ठ १२३); लक्ष्मीवल्लभ उपाध्याय, कल्पसूत्र टीका; ललितविस्तर (पृ० १२५ इत्यादि); मुनि पुण्यविजय, चित्रकल्प, पृष्ठ ६; भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखनकला, पृष्ठ ६-७; ललितविस्तर (पृष्ठ १२५) में ६४ लिपियों का उल्लेख है।

२. कल्पसूत्र के अनुसार आर्य महागिरी के शिष्य ने त्रैराशिक मत की स्थापना की थी।

३. इससे निमित्तसंबंधी शास्त्र के विस्तृत साहित्य होने का पता लगता है। अष्टांग महानिमित्त शास्त्र को पूर्वों का अंग बताया है।

मोहनीय के तीस स्थान, इकतीस सिद्ध आदि गुण, बत्तीस योगसंग्रह, तेंतीस आशातना, चौंतीस बुद्धों (तीर्थंकरों) के अतिशय बताये गये हैं। अर्धमागधी भाषा का यहाँ उल्लेख है। यह भाषा आर्य, अनार्य तथा पशु-पक्षियों तक की समझ में आ सकती थी। पैंतीस सत्य वचन के अतिशय, उत्तराध्ययन के छत्तीस अध्ययन, चवालीस ऋषिभाषित अध्ययन, दृष्टिवाद सूत्र के छियालीस मातृकापद, ब्राह्मी लिपि के छियालीस मातृका-अक्षर, चौवन उत्तम पुरुष, अंतिम रात्रि में महावीर द्वारा उपदिष्ट पचपन अध्ययन, बहत्तर कला और भगवती सूत्र के चौरासी सहस्र पदों का यहाँ उल्लेख है। द्वादशांग में वर्णित विषय का कथन किया है। दृष्टिवाद सूत्र में आजीविक और त्रैराशिक सूत्र परिपाटी से उल्लिखित सूत्रों का कथन है जिससे आजीविक मतानुयायियों का जैन आचार-विचार के साथ घनिष्ठ संबंध होने की सूचना मिलती है।[1] फिर तीर्थंकरों के चैत्यवृक्षों आदि का उल्लेख है।

---

१. मक्खलिगोशाल को बौद्धसूत्रों में पूरणकस्सप, अजितकेसकंबली, पकुधकच्चायन, संजय बेलट्ठिपुत्त और निगंठनाटपुत्त के साथ यशस्वी तीर्थंकरों में गिनाया गया है। गोशालमत के अनुयायी, जैनों की भाँति पंचेन्द्रिय जीव और छह लेश्याओं के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। वे लोग उदुंबर, पीपल, बड़ आदि फलों और कंदमूल का भक्षण नहीं करते, तथा अंगारकर्म, वनकर्म, शकटकर्म, भाटकर्म, स्फोटककर्म, दंतवाणिज्य, लाक्षावाणिज्य, केशवाणिज्य, रसवाणिज्य, विषवाणिज्य, यंत्रपीलनकर्म, निर्लांछनकर्म, दवाग्निदापन, सरोवरद्रह और तालाब का शोषण तथा असतीपोषण इन १५ कर्मादानों का त्याग करते हैं। जैन आगमों में गोशालक के अनुयायियों द्वारा देवगति पाये जाने का उल्लेख है। व्याख्याप्रज्ञप्ति के अनुसार गोशाल मर कर देवलोक में उत्पन्न हुआ तथा भविष्य में वह मोक्ष का अधिकारी होगा।

वियाहपण्णत्ति (व्याख्याप्रज्ञप्ति)

व्याख्याप्रज्ञप्ति को भगवतीसूत्र भी कहा जाता है।[1] प्रज्ञप्ति का अर्थ है प्ररूपण। जीवादि पदार्थों की व्याख्याओं का प्ररूपण होने से इसे व्याख्याप्रज्ञप्ति कहा जाता है। ये व्याख्यायें प्रश्नोत्तर रूप में प्रस्तुत की गई हैं। गौतम गणधर श्रमण भगवान् महावीर से जैनसिद्धांतविषयक प्रश्न पूछते हैं और महावीर उनका उत्तर देते हैं। इस सूत्र में कुछ इतिहास-संवाद भी हैं जिनमें अन्य तीर्थिकों के साथ महावीर का वाद-विवाद उद्धृत है। इस सूत्र के पढ़ने से महावीर की जीवन-संबंधी बहुत-सी बातों का पता चलता है। महावीर को यहाँ वेसालिय (वैशाली के रहनेवाले) और उनके श्रावकों को वेसालियसावय (वैशालीय अर्थात् महावीर के श्रावक) कहा गया है। अनेक स्थलों पर पार्श्वनाथ के शिष्यों के चातुर्याम धर्म का त्याग कर महावीर के पंच महाव्रतों को अंगीकार करने का उल्लेख है जिससे महावीर के पूर्व भी निर्ग्रन्थ प्रवचन का अस्तित्व सिद्ध होता है। गोशालक के कथानक से महावीर और गोशालक के घनिष्ठ संबंध पर प्रकाश पड़ता है। इसके अतिरिक्त आर्य स्कंद, कात्यायन, आनंद, माकंदीपुत्र, वज्जी विदेहपुत्र (कूणिक) नौ मल्लकी और नौ लेच्छकी, उदयन, मृगावती, जयन्ती आदि महावीर के अनुयायियों के संबंध में बहुत-सी बातों की जानकारी मिलती है। अंग, वंग, मलय, मालवय, अच्छ, वच्छ, कोच्छ, पाढ़, लाढ़, वज्जि, मोलि, कासी, कोसल, अवाह और संभुत्तर (सुह्मोत्तर) इन सोलह जनपदों का उल्लेख यहाँ मिलता है। इसके सिवाय अन्य अनेक ऐतिहासिक, धार्मिक एवं पौराणिक

---

१. अभयदेव की टीकासहित आगमोदय समिति द्वारा सन् १९२१ में प्रकाशित; जिनागमप्रचार सभा अहमदाबाद की ओर से वि० सं० १९७९-१९८८ में पं० बेचरदास और पं० भगवानदास के गुजराती अनुवादसहित चार भागों में प्रकाशित।

विषयों की चर्चा इस बृहत् ग्रन्थ में पाई जाती है। पन्नवणा, जीवाभिगम, ओववाइय, रायपसेणइय और नन्दी आदि सूत्रों का बीच-बीच में हवाला दिया गया है। विषय को समझाने के लिये उपमाओं और दृष्टान्तों का यथेष्ट उपयोग किया है। कहीं विषय की पुनरावृत्ति भी हो गई है। किसी उद्देशक का वर्णन बहुत विस्तृत है, किसी का बहुत संक्षिप्त। विषय के वर्णन में क्रमबद्धता भी नहीं मालूम होती, और कई स्थलों पर विषय का स्पष्टीकरण नहीं होता। चूर्णीकार तक को अर्थ की संगति नहीं बैठती। सब मिलाकर इस सूत्र में ४१ शतक हैं, प्रत्येक शतक अनेक उद्देशकों में विभक्त है। अभयदेवसूरि ने इसकी टीका लिखी है जिसे उन्होंने विक्रम संवत् ११२८ में पाटण में लिखकर समाप्त किया था। टीकाकार के काल में आगमों की अनेक परंपरायें विच्छिन्न हो चुकी थीं, इसलिये चूर्णी[1] और जीवाभिगम-वृत्ति आदि की सहायता से संशयग्रस्त मन से उन्होंने यह टीका लिखी। वाचना-भेद के कारण भी कम कठिनाई नहीं हुई। अभयदेव के अनुसार भगवतीसूत्र में ३६ हज़ार प्रश्न हैं और २ लाख ८८ हज़ार पद। लेकिन समवायांग और नन्दीसूत्र के अनुसार पदों की संख्या क्रम से ८४ हज़ार और १ लाख ४४ हज़ार बताई गई है। इस पर अवचूर्णी भी है। दानशेखर ने लघुवृत्ति की रचना की है।[2]

पहले शतक में दस उद्देशक हैं। इनमें कर्म, कर्मप्रकृति, शरीर, लेश्या, गर्भशास्त्र, भाषा आदि का विवेचन है, और तीर्थिकों के मतों का उल्लेख है। ब्राह्मी लिपि को यहाँ नमस्कार किया है।[3]

---

१. मुनि पुण्यविजयजी से पता लगा कि व्याख्याप्रज्ञप्ति की एक अति लघु चूर्णी प्रकाशित होने वाली है।

२. भाषाशास्त्र के अध्ययन की दृष्टि से पिशल ने इस सूत्र की संज्ञा और धातुरूपों के अध्ययन को महत्त्वपूर्ण बताया है। प्राकृतभाषाओं का व्याकरण, पृ० ३४।

३. बहुत संभव है कि जैन आगमों की यह लिपि रही हो।

महावीर और आर्यरोह में लोक-अलोक के संबंध में प्रश्नोत्तर होते हैं। अंडे और मुर्गी में पहले कौन पैदा हुआ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा है कि दोनों पहले भी हैं और पीछे भी। महावीर के शिष्य और पार्श्व के अनुयायी आर्य कालासवेसियपुत्त में प्रश्नोत्तर होते हैं और कालासवेसियपुत्त चातुर्याम धर्म का त्याग कर पंच महाव्रत स्वीकार करते हैं। दूसरे शतक में भी दस उद्देशक हैं। यहाँ कात्यायनगोत्रीय आर्यस्कंदक परिव्राजक के आचार-विचारों का विस्तृत वर्णन है। यह परिव्राजक चार वेदों का सांगोपांग वेत्ता तथा गणित, शिक्षा, आचार, व्याकरण, छंद, निरुक्त और ज्योतिषशास्त्र का पंडित था। श्रावस्ती के वैशालिकश्रावक (महावीर के श्रावक) पिंगल और स्कंदक परिव्राजक के बीच लोक आदि के संबंध में प्रश्नोत्तर होते हैं। अन्त में स्कंदक महावीर के पास जाकर श्रमणधर्म में दीक्षा ले लेते हैं, और विपुल पर्वत पर संलेखना द्वारा देह त्याग करते हैं। तुंगिका नगरी के श्रमणोपासकों का वर्णन पढ़िये—

तत्थ णं तुंगियाए नयरीए बहवे समणोवासया परिवसंति अड्ढा, दित्ता, विच्छिन्नविपुलभवण-सयणासण-जाण-वाहणाइण्णा, बहुधण-बहुजायरूव-रयया, आयोग-पयोगसंपउत्ता, विच्छड्डियविपुलभत्त-पाणा, बहुदासी-दास-गो-महिस-गवेलयप्पभूया, बहुजणस्स अपरिभूया, अभिगयजीवाजीवा, उवलद्धपुण्ण-पावा, आसव-संवर-निज्जर-किरिया-ऽहिकरणबंध-मोक्खकुसला, असहेज्जदेवासुरनाग-सुवण्ण-जक्ख-रक्खस-किन्नर-किंपुरुस-गरुल-गंधव्व-महोरगाईएहिं देवगणेहिं निग्गंथाओ पावयणाओ अणतिक्कमणिज्जा, णिग्गंथे पावयणे निस्संकिया, निक्कंखिया, निवितिगिच्छा, लद्धट्ठा, गहियट्ठा, पुच्छियट्ठा, अभिगयट्ठा, विणिच्छियट्ठा, अट्ठिमिंजपेमाणुरागरत्ता, अयमाउसो! निग्गंथे पावयणे अट्ठे, अयं परमट्ठे, सेसे अणट्ठे, असियफलिहा, अवंगुयदुवारा, चियत्तंतेउरघरप्पवेसा बहूहिं सीलव्वय-गुण-वेरमण-पच्चक्खाण-पोसहो-ववासेहिं चाउद्दस-ट्ठमु-द्दिट्ठ-पुण्णमासिणीसु परिपुण्णं पोसहं सम्मं अणुपालेमाणा,

समणे निग्गंथे फासु-एसणिज्जेणं असणपाणखाइम-साइमेणं, वत्थ-पडिग्गह-कंबल-पायपुंछणेणं, पीठ-फलग-सेज्जासंथारएणं, ओसह-भेसज्जेणं पडिलाभेमाणा अहापडिग्गहिएहिं तवोकम्मेहिं अप्पाणं भावेमाणा विहरंति।

—तुंगिया नगरी में बहुत से श्रमणोपासक रहते थे। वे धनसम्पन्न और वैभवशाली थे। उनके भवन विशाल और विस्तीर्ण थे, शयन, आसन, यान, वाहन से वे सम्पन्न थे, उनके पास पुष्कल धन और चाँदी-सोना था, रुपया व्याज पर चढ़ाकर वे बहुत-सा धन कमाते थे। अनेक कलाओं में निपुण थे। उनके घरों में अनेक प्रकार के भोजन-पान तैयार किये जाते थे, अनेक दास-दासी, गाय, भैंस, भेड़ आदि से वे समृद्ध थे। वे जीव-अजीव के स्वरूप को भली भाँति समझते और पुण्य-पाप को जानते थे, आस्रव, संवर, निर्जरा, क्रिया, अधिकरण, बंध और मोक्ष के स्वरूप से अवगत थे। देव, असुर, नाग, सुवर्ण, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किंपुरुष, गरुड़, गंधर्व, महोरग आदि तक उन्हें निर्ग्रन्थ प्रवचन से डिगा नहीं सकते थे। निर्ग्रन्थ प्रवचन में वे शंकारहित, आकांक्षारहित और विचिकित्सारहित थे। शास्त्र के अर्थ को उन्होंने ग्रहण किया था, अभिगत किया था और समझ-बूझकर उसका निश्चय किया था। निर्ग्रन्थ प्रवचन के प्रति उनका प्रेम उनके रोम-रोम में व्याप्त था। वे केवल एक निर्ग्रन्थ प्रवचन को छोड़कर बाकी सबको निष्प्रयोजन मानते थे। उनकी उदारता के कारण उनका द्वार सबके लिये खुला था। वे जिस किसी के घर या अन्तःपुर में जाते वहाँ प्रीति ही उत्पन्न करते। शीलव्रत, गुणव्रत, विरमण, प्रत्याख्यान, प्रोषध और उपवासों के द्वारा चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस और पूर्णमासी के दिन वे पूर्ण प्रोषध का पालन करते। श्रमण निर्ग्रन्थों को प्रासुक और ग्राह्य अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, पात्र, कंबल, पादप्रोंछन (रजोहरण), आसन, फलक (सोने के लिये काठ का तख्ता), शय्या, संस्तारक, औषध और भेषज से

प्रतिलाभित करते हुए वे यथा-प्रतिगृहीत तपकर्म द्वारा आत्म ध्यान में लीन विहार करते थे।

प्रश्नोत्तर की शैली देखिये :—

तहारूवं णं भंते ! समणं वा माहणं वा पज्जुवासमाणस्स वा किंफला पज्जुवासणा ?

गोयमा ! सवणफला।

से णं भंते ! सवणे किं फले ?

णाणफले।

से णं भंते ! णाणे किं फले ?

विन्नाणफले।

से णं भंते ! विन्नाणे किं फले ?

पच्चक्खाणफले।

से णं भंते ! पच्चक्खाणे किं फले ?

संजमफले।

से णं भंते ! संयमे किं फले ?

अणण्हयफले।

एवं अणण्हये ?

तवफले।

तवे ?

वोदाणफले।

से णं भंते ! वोदाणे किं फले ?

(वोदाणे) अकिरियाफले।

से णं भंते ! अकिरिया किं फला ?

सिद्धिपज्जवसाणफला पन्नत्ता गोयमा !

—"हे भगवन् ! श्रमण या ब्राह्मण की पर्युपासना करने का क्या फल होता है ?"

"हे गौतम ! (सत् शास्त्रों का) श्रवण करना उसका फल है।"

"श्रवण का क्या फल होता है ?"

"ज्ञान।"
"ज्ञान का क्या फल होता है?"
"विज्ञान।"
"विज्ञान का क्या फल होता है?"
"प्रत्याख्यान।"
"प्रत्याख्यान का क्या फल है?"
"संयम।"
"संयम का क्या फल है?"
"आस्रवरहित होना।"
"आस्रवरहित होने का क्या फल है?"
"तप।"
"तप का क्या फल है?"
"कर्मरूप मल का साफ करना।"
"कर्मरूप मल को साफ करने का क्या कल है?"
"निष्क्रियत्व।"
"निष्क्रियत्व का क्या फल है?"
"सिद्धि।"

इसी उद्देशक (२.५) में राजगृह में वैभारपर्वत के महातपोपतीरप्रभ नामक उष्ण जल के एक विशाल कुण्ड का उल्लेख है।[1]

तीसरे शतक में दस उद्देशक हैं। यहाँ ताम्रलिप्ति (तामलूक) के निवासी मोरियपुत्र तामली का उल्लेख है। उसने मुंडित होकर प्राणामा प्रव्रज्या स्वीकार की। अन्त में पादोपगमन अनशन द्वारा देह का त्याग किया। सबर, बब्बर, टंकण[2] आदि

---

१. बौद्ध साहित्य में इसे तपोदा कहा गया है (विनयपिटक ३, पृष्ठ १०८; दीघनिकाय अट्ठकथा १, पृष्ठ ३५)। आजकल यह तपोवन के नाम से प्रसिद्ध है।

२. टंकण म्लेच्छ उत्तरापथ के रहने वाले थे। ये बड़े दुर्जय थे और जब आयुध आदि से युद्ध नहीं कर पाते थे तो भागकर पर्वत की शरण

म्लेच्छ जातियों का यहाँ उल्लेख है। फिर पूरण गृहपति की दानामा प्रव्रज्या का वर्णन है। संलेखना द्वारा भक्त-पान का त्याग करके उसने देवगति प्राप्त की। इस प्रसंग पर देवेन्द्र और असुरेन्द्र के युद्ध का वर्णन किया गया है। असुरेन्द्र भाग कर महावीर की शरण में गया और देवेन्द्र ने अपने वज्र का उपसंहार किया।[1] तीसरे उद्देशक में समुद्र में ज्वार-भाटा आने के कारण पर प्रकाश डाला गया है। चौथे और पाँचवें शतकों में भी दस-दस उद्देशक हैं। पाँचवें शतक में प्रश्न किया गया है कि क्या शक्रदूत हरिणेगमेषी गर्भहरण करने में समर्थ है? देवों द्वारा अर्धमागधी भाषा में बोले जाने का उल्लेख है। फिर उद्योत और अंधकार के कारण पर प्रकाश डाला गया है। सातवें शतक के छठे उद्देशक में अवसर्पिणी काल के दुषमा-दुषमा काल का विस्तृत वर्णन है। महाशिला कंटक और रथमुशल संग्राम का उल्लेख है। इन संग्रामों में वज्जी विदेहपुत्र कूणिक की जीत हुई और १८ गणराजा हार गये। आठवें शतक के पाँचवें उद्देशक में आजीविकों के प्रश्न प्रस्तुत किये हैं। आजीविक सम्प्रदाय के आचार-विचार का यहाँ उल्लेख है। नौवें शतक के दूसरे उद्देशक में चन्द्रमा के प्रकाश के संबंध में चर्चा है। बत्तीसवें उद्देशक में वाणियगाम (बनिया) के गांगेय नामक पार्श्वापत्य द्वारा पूछे हुए प्रश्नोत्तरों की चर्चा है। गांगेय अनगार ने अन्त में चातुर्याम धर्म का

लेते थे। तथा देखिये सूत्रकृतांग (३.३.१८), आवश्यकचूर्णी, पृष्ठ १२०; वसुदेवहिण्डी (इस पुस्तक का चौथा अध्याय); बृहत्कथाकोश (३.२); महाभारत (२.२९.४४; ३.१४२.२४ इत्यादि); जरनल ऑव द यू० पी० हिस्टोरिकल सोसायटी, जिल्द १७, भाग १, पृष्ठ ३५ पर डाक्टर मोतीचन्द का लेख।

१. टीकाकार का इस संबंध में कथन है कि यहाँ कुछ भाग चूर्णीकार को भी अवगत नहीं, फिर वाचनाभेद के कारण भी अर्थ का निश्चय नहीं हो सका।

त्याग कर पाँच महाव्रत स्वीकार किये। तेंतीसवें उद्देशक में माहण (बंभण) कुंडग्गाम के ऋषभदत्त ब्राह्मण और देवानंदा ब्राह्मणी का उल्लेख है। महावीर के माहणकुंडग्गाम में समवसृत होने पर ऋषभदत्त और देवानंदा उनके दर्शन के लिये गये। महावीर को देखकर देवानंदा के स्तनों में से दूध की धारा बहने लगी। यह देखकर गौतम ने इस संबंध में प्रश्न किया। महावीर ने उत्तर दिया कि देवानंदा उसकी असली माता है और वे उनके पुत्र हैं, पुत्र को देखकर माता के स्तनों में दूध आना स्वाभाविक है। अन्त में दोनों ने महावीर के पास दीक्षा ग्रहण की। माहणकुंडग्गाम के पश्चिम में खत्तियकुंडग्गाम था। यहाँ महावीर की ज्येष्ठ भगिनी सुदर्शना का पुत्र और उनकी कन्या प्रियदर्शना का पति जमालि नाम का क्षत्रियकुमार रहता था। वह महावीर के दर्शन करने गया और उनके मुख से निर्ग्रंथप्रवचन का श्रवण कर माता-पिता की अनुमतिपूर्वक उसने प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। कुछ समय बाद महावीर के साथ उसका मतभेद हो गया और उनसे अलग होकर उसने अपना स्वतंत्र मत स्थापित किया। ग्यारहवें शतक में अनेक वनस्पतियों की चर्चा है। इस शतक के नौवें उद्देशक में हस्तिनापुर के शिवराजर्षि का उल्लेख है। इन्होंने दिशाप्रोक्षक तापसों की दीक्षा ग्रहण की थी, आगे चलकर महावीर ने इन्हें अपना शिष्य बनाया। ग्यारहवें शतक में रानी प्रभावती के वासगृह का सुंदर वर्णन है। रानी स्वप्न देखकर राजा से निवेदन करती है। राजा अष्टांगनिमित्तधारी स्वप्नलक्षण-पाठक को बुलाकर उससे स्वप्नों का फल पूछता है। उसे प्रीतिदान से लाभान्वित करता है। तत्पश्चात् नौ मास व्यतीत होने पर रानी पुत्र को जन्म देती है। राज्य में पुत्रजन्म-उत्सव बड़ी धूमधाम से मनाया जाता है। बारहवें शतक के दूसरे उद्देशक में कौशांबी के राजा उदयन की माता मृगावती और जयंती आदि श्रमणोपासिकाओं का उल्लेख है। मृगावती और जयंती ने महावीर के पास उनका धर्मोपदेश श्रवण किया। जयंती ने महावीर से अनेक

प्रश्न किये। उसका प्रश्न था—सुप्तपना अच्छा है या जागृत-पना? भगवान् ने उत्तर में कहा—"कुछ लोगों का सुप्तपना अच्छा है, कुछ का जागृतपना।" छठे उद्देशक में राहु द्वारा चन्द्र के ग्रसित होने के संबंध में प्रश्न है। दसवें शतक में आत्मा को कथंचित् ज्ञानस्वरूप और कथंचित् अज्ञानस्वरूप बताया है। तेरहवें शतक के छठे उद्देशक में वीतिभयनगर (भेरा, पंजाब में) के राजा उद्रायण की दीक्षा का उल्लेख है। चौदहवें शतक के सातवें उद्देशक में केवलज्ञान की अप्राप्ति से खिन्न हुए गौतम को महावीर आश्वासन देते हैं। पन्द्रहवें शतक में गोशाल की विस्तृत कथा दी हुई है जो बहुत महत्त्व की है। यहाँ महावीर के ऊपर गोशाल द्वारा तेजोलेश्या छोड़े जाने का उल्लेख है जिसके कारण पित्तज्वर से महावीर को खून के दस्त होने लगे। यह देखकर सिंह अनगार को बहुत दुःख हुआ। महावीर ने उसे मेंढियग्रामवासी रेवती के घर भेजा, और कहा—"उसने जो दो कपोत तैयार कर रक्खे हैं; उन्हें मैं नहीं चाहता, वहाँ जो परसों के दिन अन्य मार्जारकृत कुक्कुटमांस रक्खा है, उसे ले आओ" (दुवे कावोयसरीरा उवक्खडिया तेहिं नो अट्ठो। अत्थि से अन्ने पारियासिए मज्जारकडए कुक्कुड-मंसए तमाहराहि)।[1] सत्रहवें शतक के पहले उद्देशक में

---

1. अभयदेवसूरि ने इस पर टीका करते हुए लिखा है—'''इत्यादेः श्रूयमाणमेवार्थं केचिन्मन्यन्ते (कुछ तो श्रूयमाण अर्थ अर्थात् मांसपरक अर्थ को ही स्वीकार करते हैं)। अन्ये त्वाहुः—कपोतकः—पक्षिविशेषस्त-द्वद् ये फले वर्णसाधर्म्यात्ते कपोते—कूष्मांडे, ह्रस्वे कपोते कपोतके, ते च शरीरे वनस्पतिजीवदेहत्वात् कपोतकशरीरे, अथवा कपोतकशरीरे इव धूसरवर्णसाधर्म्यादेव कपोतशरीरे कूष्मांडफले एव ते उपसंस्कृते—संस्कृते (कुछ का कथन है कि कपोत का अर्थ यहाँ कूष्मांड-कुम्हड़ा करना चाहिये)। 'तेहिं नो अट्ठो' त्ति बहुपापत्वात्। 'पारिआसिए'त्ति पारि-वासितं ह्यस्तनमित्यर्थः। 'मज्जारकडए' इत्यादेरपि केचित् श्रूयमाणमेवार्थं मन्यन्ते ('मार्जारकृत' का भी कुछ लोग श्रूयमाण अर्थ ही मानते हैं)।

उदायी हस्ती का उल्लेख है। अठारहवें शतक के दसवें उद्देशक में वाणिज्यग्राम के सोमिल नामक ब्राह्मण ने महावीर से प्रश्न किया कि सरसों (सरिसव) भक्ष्य है या अभक्ष्य ? महावीर ने उत्तर दिया—भक्ष्य भी है, अभक्ष्य भी। यदि सरिसव का अर्थ समान वयवाले मित्र लिया जाये तो अभक्ष्य है, और यदि धान्य लिया जाये तो भक्ष्य है। फिर आत्मा को एक रूप, दो रूप, अक्षय, अव्यय, अवस्थित, तथा अनेक, भूत, वर्तमान और भावी परिणामरूप प्रतिपादित किया है। बीसवें शतक में कर्मभूमि, अकर्मभूमि आदि तथा विद्याचारण आदि की चर्चा है। पच्चीसवें शतक के छठे उद्देशक में निर्ग्रंथों के प्रकार बताये गये हैं। तीसवें शतक में क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादी की चर्चा है।

नायाधम्मकहाओ (ज्ञातृधर्मकथा)

ज्ञातृधर्मकथा को णाहधम्मकहा अथवा णाणधम्मकहा भी कहा गया है।[1] इसमें उदाहरणों (नाय) के साथ धर्मकथाओं (धम्मकहा) का वर्णन है, इसलिये इसे नायाधम्मकहाओ कहा जाता है। ज्ञातृपुत्र महावीर की धर्मकथाओं का प्ररूपण होने से भी इस अंग को उक्त नाम से कहा है। ज्ञातृधर्मकथा जैन आगमों का एक प्राचीनतम अंग है। इसकी वर्णनशैली एक विशिष्ट

अन्ये त्वाहुः—मार्जारो वायुविशेषः तदुपशमनाय कृतं संस्कृतं मार्जारकृतं (कुछ का कथन है कि मार्जार कोई वायुविशेष है, उसके उपशमन के लिये जो तैयार किया गया हो वह 'मार्जारकृत' है)। अपरे त्वाहुः—मार्जारो विरालिकाभिधानो वनस्पतिविशेषस्तेन कृतं-भावितं यत्तत्तथा। किं तत् ? इत्याह कुक्कुटकमांसं बीजपूरकं कटाहम् (दूसरों के अनुसार मार्जार का अर्थ है विरालिका नाम की वनस्पति, उससे भावित बीजपूर-बिजौरा)। 'आहराहि'त्ति निरवद्यत्वात्। पृ० ६९२ अ। तथा देखिये रतिलाल एम. शाह का भगवान् महावीर अने मांसाहार (पाटण, १९५९); मुनि न्यायविजयजी, भगवान् महावीर मुं औषधग्रहण (पाटण, १९५९)।

१. आगमोदय समिति द्वारा सन् १९१९ में प्रकाशित।

प्रकार की है। विभिन्न उदाहरणों, दृष्टान्तों और लोक में प्रचलित कथाओं के द्वारा बड़े प्रभावशाली और रोचक ढंग से यहाँ संयम, तप और त्याग का प्रतिपादन किया है। ये कथायें एक-एक बात को स्पष्ट समझाकर शनैः शनैः आगे बढ़ती हैं, इसलिये पुनरावृत्ति भी काफी हुई है। किसी वस्तु अथवा प्रसंगविशेष का वर्णन करते हुए समासांत पदावलि का भी उपयोग हुआ है जो संस्कृत लेखकों की साहित्यिक छटा की याद दिलाता है। इसमें दो श्रुतस्कंध हैं। पहले श्रुतस्कंध में १९ अध्ययन हैं और दूसरे में १० वर्ग हैं। अभयदेव सूरि ने इस पर टीका लिखी है जिसे द्रोणाचार्य ने संशोधित किया है। इस अंग की विविध वाचनाओं[1] का उल्लेख अभयदेव ने किया है।

पहला उत्क्षिप्त अध्ययन है। राजगृह नगर के राजा श्रेणिक का पुत्र अभयकुमार राजमंत्री के पद पर आसीन था। एक बार की बात है कि रानी धारिणी गर्भवती हुई। उसने एक शुभ स्वप्न देखा जो पुत्रोत्पत्ति का सूचक था। कुछ मास व्यतीत होने पर रानी को दोहद हुआ कि वह हाथी पर सवार होकर वैभार पर्वत पर विहार करे। दोहद पूर्ण होने पर यथासमय रानी ने पुत्र को जन्म दिया जिसका नाम मेघकुमार रक्खा गया। नगर में खूब खुशियाँ मनाई गईं। बालक के जातकर्म आदि संस्कार संपन्न हुए। देश-विदेश की धात्रियों की गोद में पलकर बालक बड़ा होने लगा। आठ वर्ष का होने पर उसे कलाचार्य के पास पढ़ने भेजा गया और ७२ कलाओं[2] में वह निष्णात हो

---

१. किमपि स्फुटीकृतमिह स्फुटेऽप्यर्थतः।
सकष्टमतिदेशतो विविधवाचनातोऽपि यत् ॥
नायाधम्मकहाओ की प्रशस्ति।

२. ७२ कलाओं के लिये लिए देखिये समवायांग, पृष्ठ ७७ अ; ओवाइय सूत्र ४०; रायपसेणिय, सूत्र २११; जम्बुद्दीवपन्नत्ति टीका २, पृष्ठ १३६ इत्यादि; पंडित बेचरदास, भगवान् महावीर नी धर्मकथाओ, पृष्ठ १९३ इत्यादि।

गया। युवा होने पर अनेक राजकन्याओं के साथ उसका पाणि-ग्रहण हुआ। एक बार, श्रमण भगवान् महावीर राजगृह में पधारे और गुणशिल चैत्य (गुणावा) में ठहर गये। मेघकुमार महावीर के दर्शनार्थ गया, और उनका धर्म श्रवण कर उसे प्रव्रज्या लेने की इच्छा हुई। मेघकुमार की माता ने जब यह समाचार सुना तो अचेत होकर वह पृथ्वी पर गिर पड़ी। होश में आने पर उसने मेघकुमार को निर्ग्रंथ धर्म की कठोरता का प्रतिपादन करने वाले अनेक दृष्टांत देकर प्रव्रज्या ग्रहण करने से रोका, लेकिन मेघ-कुमार ने एक सुनी। आखिर माता-पिता को प्रव्रज्या ग्रहण करने की अनुमति देनी पड़ी। मेघकुमार ने पंचमुष्टि लोच किया और अब वे मुनिव्रतों का पालन करते हुए तप और संयम में अपना समय यापन करने लगे। साधु जीवन व्यतीत करते समय, कभी किसी अन्य साधु के आते-जाते हुए उन्हें हाथ-पैर सिकोड़ने पड़ते, और कभी किसी साधु का पैर उन्हें लग जाता, जिससे उनकी निद्रा में बाधा होती। यह देखकर मेघकुमार को बहुत बुरा लगा। उन्होंने अनगार धर्म छोड़कर गृहस्थ धर्म में वापिस लौट जाने की इच्छा प्रकट की। इस पर महावीर भगवान् ने मेघकुमार के पूर्वभव की कथा सुनाई जिसे सुनकर वे धर्म में स्थिर हुए। अन्त में विपुल पर्वत पर आरोहण कर मेघकुमार ने संलेखना धारणा की और भक्त-पान का त्याग कर वे कालगति को प्राप्त हुए।

कथा के बीच में शयनीय, व्यायामशाला, स्नानगृह, उप-स्थानशाला, वर्षाऋतु, देश-विदेश की धात्रियाँ, राजभवन, शिविका और हस्तिराज आदि के साहित्यिक भाषा में सुंदर वर्णन दिये हैं। इस प्रसंग पर मेघकुमार और उनकी माता के बीच जो संवाद हुआ, उसे सुनिये—

माता—नो खलु जाया ! अम्हे इच्छामो खणमवि विप्पओगं सहित्तए। तं भुञ्जाहि ताव जाया ! विपुले माणुसस्स कामभोगे जाव ताव वयं जीवामो। तओ पच्छा अम्हेहिं कालगएहिं परिण-

यवये वुड्ढियकुलवंसतंतुकज्जंमि निरवएक्खे समणस्स अंतिए मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइस्ससि ।

तए णं से मेहे कुमारे अम्मापिऊहिं एवं वुत्ते समाणे अम्मापियरो एवं वयासी—

तहेव णं तं अम्मो ! जहेव णं तुमे ममं एवं वयह, 'तुमं सि णं जाया ! अम्हं एगे पुत्ते तं चेव जाव निरवएक्खे समणस्स जाव पव्वइस्ससि ।' एवं खलु अम्मयाओ ! माणुस्सए भवे अधुवे अणियए असासए वसणसउवद्दवाभिभूए विज्जुलयाचंचले अणिच्चे जलबुब्बुयसमाणे कुसग्गजलबिंदुसन्निभे संझब्भरागसरिसे सुविणदंसणोवमे सडणपडणविद्धंसणधम्मे पच्छा पुरं च णं अवस्सविप्पजहणिज्जे । से के णं जाणइ अम्मयाओ ! के पुव्विं गमणाए के पच्छा गमणाए ? तं इच्छामि णं अम्मयाओ ! तुब्भेहिं अब्भणुन्नाए समाणे समणस्स जाव पव्वइत्तए ।

तए णं मेहं कुमारं अम्मापियरो एवं वयासी—

इमाओ ते जाया ! सरिसियाओ सरित्तयाओ सरिव्वयाओ सरिसलावण्णरूवजोव्वणगुणोववेयाओ सरिसेहिंतो रायकुलेहिंतो आणियल्लियाओ भारियाओ । तं भुंजाहि णं जाया ! एयाहिं सद्धिं विउले माणुस्सए कामभोगे । पच्छा भुत्तभोगे समणस्स जाव पव्वइस्ससि ।

तए णं से मेहे कुमारे अम्मापियरं एवं वयासी—

तहेव णं अम्मयाओ ! जं णं तुब्भे ममं एवं वयह— 'इमाओ ते जाया ! सरिसियाओ जाव पव्वइस्ससि ।' एवं खलु अम्मयाओ ! माणुस्सगा कामभोगा असुई असासया वंतासवा पित्तासवा खेलासवा सुक्कासवा सोणियासवा दुरुस्सासनीसासा दुरूवमुत्तपुरीसपूयबहुपडिपुण्णा उच्चारपासवणखेलसिंघाणगवंतपित्तसुक्कसोणियसंभवा अधुवा अणियत्ता असासया सडणपडणविद्धंसणधम्मा पच्छा पुरं च णं अवस्सविप्पजहणिज्जा । से के णं अम्मयाओ ! जाव पव्वइत्तए ।

—माता—हे पुत्र ! हम क्षणभर के लिये भी तुम्हारा वियोग

नहीं सह सकते। अतएव हे पुत्र! जब तक हम जीवित रहें, विपुल मानवीय कामभोगों का यथेष्ट उपभोग करो। तत्पश्चात् हमारी मृत्यु होने पर, परिणत वय में, तुम्हारी वंश और कुल-परंपरा में वृद्धि होने पर, संसार से उदासीन होकर तुम श्रमण भगवान् महावीर के समीप मुंडित हो गृहस्थ धर्म को त्याग अनगार धर्म में प्रव्रज्या ग्रहण करना।

मेघकुमार—तुमने कहा है कि संसार से उदासीन होकर प्रव्रज्या ग्रहण करना, लेकिन हे माता! यह मनुष्य भव अध्रुव है, अनियत है, अशाश्वत है, सैकड़ों दुःख और उपद्रवों से आक्रान्त है, विद्युत् के समान चंचल है, जल के बुद्बुदे के समान, कुश की नोक पर पड़े हुए जलबिंदु के समान, संध्याकालीन राग के समान और स्वप्नदर्शन के समान क्षणभंगुर है, विनाशलील है, कभी न कभी इसका त्याग अवश्य ही करना पड़ेगा। ऐसी हालत में हे अम्मा! कौन जानता है कौन पहले मरे और कौन बाद में? अतएव आप लोगों की अनुमतिपूर्वक मैं श्रमण भगवान् महावीर के पादमूल में प्रव्रज्या ग्रहण करना चाहता हूँ।

माता-पिता—देखो, ये तुम्हारी पत्नियाँ हैं। ये एक से एक बढ़कर लावण्यवती तथा रूप, यौवन और गुणों की आगार हैं, समान राजकुलों से ये आई हैं। अतएव इनके साथ विपुल कामभोगों का यथेष्ट उपभोग कर, उसके पश्चात् प्रव्रज्या ग्रहण करना।

मेघकुमार—आपने कहा है कि एक से एक बढ़कर लावण्यवती पत्नियों के साथ उपभोग करने के पश्चात् प्रव्रज्या ग्रहण करना, लेकिन हे माता-पिता! ये कामभोग अशुचि हैं, अशाश्वत हैं, वमन, पित्त, श्लेष्म, शुक्र, शोणित, मूत्र, पुरीष, पीप आदि से परिपूर्ण हैं, ये अध्रुव हैं, अनियत हैं, अशाश्वत हैं, तथा विनाशशील हैं, इसलिये कभी न कभी इनका त्याग अवश्य करना होगा। फिर हे माता-पिता! कौन जानता है कि पहले

कौन मरे और कौन बाद में ? अतएव आपकी अनुमतिपूर्वक में प्रव्रज्या स्वीकार करना चाहता हूँ। आपलोग अनुमति दें।

निर्ग्रंथप्रवचन की दुर्धर्षता बताते हुए कहा है—

अहीव एगंतदिट्ठीए, खुरो इव एगंतधाराए, लोहमया इव जवा चावेयव्वा, वालुयाकवले इव निरस्साए, गंगा इव महानई पडिसोयगमणाए, महासमुद्दो इव भुयाहिं दुत्तरे, तिक्खं चंकमियव्वं, गरुअं लंबेयव्वं, असिधाराव्वयं चरियव्वं।

—इस प्रवचन में सर्प के समान एकांतदृष्टि और छुरे के समान एकांत धार रखनी होती है, लोहे के जौ के समान इसे चबाना पड़ता है। बालू के ग्रास के समान यह नीरस है, महानदी गंगा के प्रवाह के विरुद्ध तैरने तथा महासमुद्र को भुजाओं द्वारा पार करने की भाँति दुस्तर है, असिधाराव्रत के समान इसका आचरण दुष्कर है। (कायर, कापुरुष और क्लीबों का इसमें काम नहीं है)।

दूसरे अध्ययन का नाम संघाट है। राजगृह नगर में धन्य नामका एक सार्थवाह रहता था। भद्रा उसकी भार्या थी। देवदत्त उनका एक बालक था जिसे पंथक नामक दासचेट खिलाने के लिये बाहर ले जाया करता था। एक बार पंथक राजमार्ग पर देवदत्त को खिला रहा था कि इतने में विजय चोर बालक को उठा ले गया। बहुत ढूँढ़ने पर भी जब बालक का पता न लगा तो नगर-रक्षकों को साथ ले धन्य ने नगर के पास के जीर्ण उद्यान में प्रवेश किया। वहाँ पर बालक का शव एक कुँए में पड़ा मिला। नगर-रक्षकों ने चोर का पीछा किया और उसे पकड़ कर जेल में डाल दिया। संयोगवश किसी अपराध के कारण धन्य को भी जेल हो गई और धन्य को भी उसी जेल में रक्खा गया। धन्य की स्त्री भद्रा अपने पति के वास्ते जेल में रोज़ खाने का डिब्बा (भोयणपिडग) भेजती, उसमें से विजय चोर और धन्य दोनों भोजन करते। कुछ समय बाद धन्य रिश्वत आदि देकर जेल से छूट गया और विजय चोर वहीं मर गया।

तीसरे अध्ययन का नाम अंडक है। इसमें मयूरी के अंडों के दृष्टान्त द्वारा धर्मोपदेश दिया है। देवदत्ता नामकी गणिका का यहाँ सरस वर्णन है। मयूरपोषक मोर के बच्चों को नृत्य की शिक्षा दिया करते थे।

कूर्म नाम के चौथे अध्ययन में दो कछुओं के दृष्टान्त द्वारा धर्मोपदेश दिया है।

पाँचवें अध्ययन का नाम शैलक है। इसमें मद्यपायी राजर्षि शैलक का आख्यान है। द्वारका नगरी के उत्तर-पश्चिम में स्थित रैवतक पर्वत का वर्णन है। इस पर्वत के समीप नंदन नामका एक सुन्दर वन था जहाँ सुरप्रिय नामका यक्षायतन था। भगवान् अरिष्टनेमि का आगमन सुनकर कृष्ण वासुदेव अपने दल-बल-सहित उनके दर्शन के लिये चले। थावच्चापुत्त ने अरिष्टनेमि का धर्म श्रवण कर दीक्षा ग्रहण की। उधर सोगंधिया नगरी में शुक नामका एक परिव्राजक रहता था जो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, षष्ठितंत्र और सांख्यसिद्धांत का पंडित था। शौचमूलक धर्म का वह उपदेश देता था। इस नगरी का सुदर्शन श्रेष्ठि शुक परिव्राजक का अनुयायी था। बाद में उसने शुक का शौचमूलक धर्म त्याग कर थावच्चापुत्त का विनय-मूलक धर्म अंगीकार कर लिया। शुक परिव्राजक और थावच्चापुत्त में वाद-विवाद हुआ और शुक भी थावच्चापुत्त के धर्म का अनुयायी बन गया। कुछ समय बाद सेलगपुर के शैलक राजा ने अपने मंत्रियों के साथ शुक के समीप जाकर श्रमणदीक्षा ग्रहण की। लेकिन रूखा-सूखा, ठंढा-बासी और स्वादरहित विकाल भोजन करने के कारण उसके सुखोचित सुकुमार शरीर में असह्य वेदना हुई। इस समय अपने पुत्र का आमंत्रण पाकर वह उसकी यानशाला में जाकर रहने लगा। वैद्य के उपदेश से उसने मद्य का सेवन किया। अन्त में बोध प्राप्त कर के पुंडरीक पर्वत पर तप करते हुए उसने सिद्धि पाई।

छठे अध्ययन में तुंबी के दृष्टान्त से जीव की ऊर्ध्वगति का निरूपण किया है।

सातवें अध्ययन का नाम रोहिणी है। राजगृह नगर के धन्य सार्थवाह के चार पतोहुएँ थीं जिनके नाम थे—उज्झिका, भोगवती, रक्षिका और रोहिणी। एक बार धन्य ने उनकी परीक्षा ली और उनकी योग्यतानुसार उन्हें घर का काम-काज सौंप दिया। उज्झिका को घर के झाड़ने-पोंछने, भोगवती को घर की रसोई बनाने, रक्षिता को घर के माल-खजाने की देखभाल करने का काम सौंपा और रोहिणी को सारे घर की मालकिन बना दिया।[1]

आठवें अध्ययन में मल्ली की कथा है। मल्ली विदेहराजा की कन्या थी। पूर्व जन्म में उसने स्त्री नामगोत्र और तीर्थंकर नामगोत्र कर्म का बंध किया था जिससे उसे तीर्थंकर पद की प्राप्ति हुई। यहाँ तालजंघ पिशाच का विस्तृत वर्णन किया गया है। लोग इन्द्र, स्कंध, रुद्र, शिव, वैश्रमण, नाग, भूत, यक्ष, अज्जा, और कोट्टकिरिया[2] की पूजा-उपासना किया करते थे। यहाँ सुवर्णकार श्रेणी और चित्रकार श्रेणी का उल्लेख है। चोक्खा नाम की परिव्राजिका शौचमूलक धर्म का उपदेश देती थी। अगडदर्दुर (कूपमंडूक) और समुद्रदर्दुर का सरस संवाद दिया गया है। मल्ली ने पंचमुष्टि लोच करके श्रमण-दीक्षा स्वीकार की और संमेदशैल (आधुनिक पारसनाथ हिल) शिखर पर पादोपगमन धारण कर सिद्धि पाई।

नौवें अध्ययन में जिनपालित और जिनरक्षित नामके माकंदीपुत्रों की कथा है। आँधी-तूफान आने पर समुद्र में जहाज के डूबने का उत्प्रेक्षाओं से पूर्ण सुन्दर वर्णन है। नारियल के

---

१. प्रोफेसर लॉयमन ने अपनी जर्मन पुस्तक 'बुद्ध और महावीर' (नरसिंहभाई ईश्वरभाई पटेल द्वारा गुजराती में अनूदित) में बाइबिल की मेथ्यू और ल्यूक की कथा के साथ इसकी तुलना की है।

२. विस्तार के लिए देखिये जगदीशचन्द्र जैन, लाइफ इन ऐंशियेण्ट इण्डिया, पृष्ठ २१५-२२५।

तेल का उल्लेख है। रत्नद्वीप में अश्वरूप-धारी एक यक्ष रहता था।[1]

दसवें अध्ययन में चन्द्रमा की हानि-वृद्धि का दृष्टान्त देकर जीवों की हानि-वृद्धि का प्ररूपण किया है।

ग्यारहवें अध्ययन का नाम दावद्दव है। दावद्दव एक प्रकार के सुन्दर वृक्षों का नाम है जो समुद्रतट पर होते थे। झंझावात चलने पर इस वृक्ष के पत्ते झड़ जाते थे। वृक्ष के दृष्टान्त द्वारा श्रमणों को उपदेश दिया गया है।

बारहवें अध्ययन में परिखा के जल के दृष्टान्त से धर्म का निरूपण किया है। चातुर्याम धर्म का यहाँ उल्लेख है।

तेरहवें अध्ययन में दर्दुर (मेंढक) की कथा है। राजगृह नगर में नंद नामका एक मणिकार (मनियार) श्रेष्ठी रहता था। उसने वैभार पर्वत के पास एक पुष्करिणी[2] खुदवाई और उसके चारों ओर चार बगीचे लगवाये। पूर्व दिशा के बगीचे में उसने एक चित्रसभा, दक्षिण दिशा के बगीचे में एक महानसशाला (रसोईशाला), पश्चिम दिशा के बगीचे में एक चिकित्सालय और उत्तर दिशा के बगीचे में एक अलंकारियसभा (जहाँ नाई हजामत आदि बनाकर शरीर का अलंकार करते हों—सैलून) बनवाई। अनेक राहगीर, तृण ढोने वाले, लकड़ी ढोनेवाले, अनाथ, भिखारी आदि इन शालाओं से पर्याप्त लाभ उठाते। एक बार नंद श्रेष्ठी बीमार पड़ा और अनेक औषधोपचार करने पर भी अच्छा न हुआ। मर कर वह उसी पुष्करिणी में मेंढक हुआ। कुछ दिन बाद राजगृह में महावीर का समवशरण आया और यह मेंढक उनके दर्शनार्थ चला। लेकिन मार्ग में

---

१. मिलाइये वलाहस्स जातक (१९६) के साथ। दिव्यावदान में भी यह कथा आती है।

२. बिहार का प्रदेश आजकल भी पुष्करिणियों (पोखरों) से सम्पन्न है, पोखर खुदवाना यहाँ परम धर्म माना जाता है।

राजा श्रेणिक के एक घोड़े के पाँव के नीचे आकर कुचला गया। मर कर वह स्वर्ग में गया।

चौदहवें अध्ययन का नाम तेयली है। तेयलिपुर में तेयलिपुत्र नामका एक मंत्री रहता था। उसी नगर में मूषिकारदारक नाम का एक सुनार था। पोट्टिला नामकी उसकी एक सुन्दर कन्या थी। तेयलिपुत्र और पोट्टिला का विवाह हो गया। कुछ समय बाद तेयलिपुत्र को अपनी पत्नी प्रिय न रही और वह उसके नाम से भी दूर भागने लगा। एक बार तेयलिपुर में सुव्रता नामकी एक आर्या का आगमन हुआ। पोट्टिला ने उससे किसी वशीकरण मंत्र अथवा चूर्ण आदि की याचना की, लेकिन आर्या ने अपने दोनों कानों को अपनी उँगलियों से बन्द करते हुए पोट्टिला को इस तरह की बात भी ज़बान पर न लाने का आदेश दिया। पोट्टिला ने श्रमणधर्म में प्रव्रज्या ग्रहण कर देवगति प्राप्त की।

पन्द्रहवें अध्ययन का नाम नंदीफल है। अहिच्छत्रा नगरी (आधुनिक रामनगर, बरेली ज़िला) में कनककेतु नाम का राजा राज्य करता था। एक बार वह विविध प्रकार का माल-असबाब अपनी गाड़ियों में भर कर अपने सार्थ के साथ बनिज-व्यापार के लिये रवाना हुआ। मार्ग में उसने नंदीफल वृक्ष देखे। कनककेतु ने सार्थ के लोगों को उन वृक्षों से दूर ही रहने का आदेश दिया। फिर भी कुछ लोग इसकी परवा न कर उन वृक्षों के पास गये और उन्हें अपने जीवन से वंचित होना पड़ा।

सोलहवें अध्ययन का नाम अवरकंका है। चंपा नगरी में तीन ब्राह्मण रहते थे। उनकी स्त्रियों के नाम थे क्रमशः नागसिरी, भूयसिरी और जक्खसिरी। एक बार नागसिरी ने धर्मघोष नाम के स्थविर को कड़ुवी लौकी का साग बना कर उनके भिक्षापात्र में डाल दिया जिसे भक्षण कर उनका प्राणान्त हो गया। जब उसके घर के लोगों को यह ज्ञात हुआ तो नागसिरी पर बहुत डाट-फटकार पड़ी और उसे घर से निकाल दिया गया। मर कर वह

नरक में गई। अगले जन्म में उसने चम्पा के एक सार्थवाह के घर जन्म ग्रहण किया। सुकुमालिया उसका नाम रक्खा गया। बड़ी होने पर जिनदत्त के पुत्र सागर से उसका विवाह हो गया और सागर घर-जमाई बन कर रहने लगा। लेकिन कुछ ही समय बाद सागर सुकुमालिया के अंगस्पर्श को सहन न कर सकने के कारण उसे छोड़ कर चला गया। अन्त में सुकुमालिया ने गोपालिका नामकी आर्या के समक्ष उपस्थित होकर प्रव्रज्या अंगीकार कर ली। कालक्रम से सुकुमालिया मना किये जाने पर भी अपने संघ से अलग रहने लगी। वह पुनः पुनः अपने हाथ, पाँव, मुँह, सिर आदि धोने में समय-यापन करती। मर कर वह स्वर्ग में देवी हुई। अगले जन्म में वह द्रुपद राजा के घर द्रौपदी के रूप में पैदा हुई। उसका स्वयंवर रचाया गया और पाँच पाँडवों के साथ उसका विवाह हुआ। उसने पंडुसेन को जन्म दिया। अंत में द्रोपदी ने प्रव्रज्या ग्रहण की और ग्यारह अंगों का अध्ययन करती हुई, तप-उपवास में समय व्यतीत करने लगी।

सत्रहवें अध्ययन में कालियद्वीप के[1] सुंदर अश्वों का वर्णन है। अश्व के दृष्टांत द्वारा धर्मोपदेश देते हुए कहा है कि साधु स्वच्छन्दविहारी अश्वों के समान विचरण करते हैं। जैसे शब्द आदि से आकृष्ट न होकर अश्व पाशबंधन में नहीं पकड़े जाते, उसी तरह विषयों के प्रति उदासीन साधु भी कर्मों द्वारा नहीं बँधते।

अठारहवें अध्ययन में सुंसुमा की कथा है। एक बार विजय-नामक चोर-सेनापति सुंसुमा को उठाकर ले गया। नगर-रक्षकों ने उसका पीछा किया। लेकिन चोर ने सुंसुमा का सिर काटकर उसे कुएँ में फेंक दिया और स्वयं जंगल में भाग गया। सुंसुमा का पिता भी अपने पुत्रों के साथ नगर-रक्षकों के साथ आया

---

१. डॉक्टर मोतीचन्द ने इसकी पहचान जंजीबार से की है, सार्थवाह, पृ० १७२।

था। भूख-प्यास के कारण जब वह अत्यंत व्याकुल होने लगा और चलने तक में असमर्थ हो गया तो अपनी मृत पुत्री के मांस का भक्षण कर उसने अपनी क्षुधा शान्त की[1]।

उन्नीसवें अध्ययन में पुंडरीक राजा की कथा है। पुंडरीक के छोटे भाई का नाम कंडरीक था। कंडरीक ने स्थविरों से धर्मोपदेश सुना और प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। लेकिन कंडरीक रूखा-सूखा भोजन करने और कठोर व्रत पालने के कारण अनगारधर्म में न टिक सका, और उसने पुनः गृहस्थाश्रम स्वीकार कर लिया।

उवासगदसाओ (उपासकदशा)

उपासकदशा के दस अध्ययनों में महावीर के दस उपासकों के आचार का वर्णन है, इसलिये इसे उवासगदसाओ भी कहा जाता है।[2] वर्णन में विविधता कम है। धर्म में उपासकों की श्रद्धा-भक्ति रखने के लिये इस अंग की रचना की गई है। अभयदेव ने इस पर टीका लिखी है।

पहले अध्ययन में वाणियगाम[3] के धनकुबेर आनंद उपासक की कथा है। वाणियगाम के उत्तरपश्चिम में कोल्लाक संनिवेश (आधुनिक कोल्हुआ) था जहाँ आनन्द के अनेक सगे-संबंधी रहा करते थे। एक बार वाणियगाम में महावीर का आगमन हुआ। आनन्द ने उनकी वंदना कर बारह व्रत स्वीकार किये। उसने धन, धान्य, हिरण्य, सुवर्ण, खाद्य, गंध, वस्त्र आदि

---

१. संयुत्तनिकाय (२, पृ० ९७) में भी मृत कन्या के मांस को भक्षण करके जीवित रहने का उल्लेख है।

२. आगमोदयसमिति बंबई द्वारा १९२० में प्रकाशित। होएर्नले ने इसे बिब्लोथिका इंडिका, कलकत्ता से १८८५-८८ में अंग्रेजी अनुवाद के साथ प्रकाशित किया है।

३. इसकी पहचान मुजफ्फरपुर ज़िले में बसाढ़ (वैशाली) के पास के बनिया नामक गाँव से की जाती है।

अनेक वस्तुओं के भोगोपभोग का किंचित् परिमाण किया, तथा अंगारकर्म, वनकर्म, दंतवाणिज्य, विषवाणिज्य, यंत्रपीडनकर्म आदि पन्द्रह कर्मदानों का त्याग किया।[1] अन्य तीर्थिकों का सम्मान करना और भिक्षा आदि से उनका सत्कार करना छोड़ दिया। अपने ज्येष्ठ पुत्र को कुटुंब का भार सौंपकर वह कोल्लाक संन्निवेश की ज्ञातृक्षत्रियों की पौषधशाला में जाकर श्रमण भगवान् महावीर के धर्म का पालन करने लगा। तपश्चर्या के कारण उसका शरीर कृश हो गया और भक्त-पान का प्रत्याख्यान करके संलेखनापूर्वक वह समय यापन करने लगा। गृहस्थ अवस्था में ही आनन्द को अवधिज्ञान की प्राप्ति हुई। मर कर वह स्वर्ग में देव हुआ।

दूसरे अध्ययन में कामदेव उपासक की कथा है। यहाँ एक पिशाच का विस्तृत वर्णन है जिसने कामदेव को अपने व्रत से डिगाने के लिये अनेक प्रकार के उपद्रव किये। जब वह अपने उद्देश्य में सफल न हुआ तो कामदेव की स्तुति करने लगा। महावीर भगवान् ने भी कामदेव की प्रशंसा की और उन्होंने श्रमण निर्ग्रंथों को बुलाकर उपसर्गों को शांतिपूर्वक सहन करने का आदेश दिया।

---

१. आजीविक मतानुयायियों के लिये भी इनके त्याग का विधान है। इस सम्प्रदाय की विशेष जानकारी के लिये देखिये होर्नल का एनसाइक्लोपीडिया ऑव रिलीजन एण्ड एथिक्स (जिल्द १, पृ. २५९-६८) में 'आजीविकाज़' नामक लेख; डॉक्टर बी. एम. बरुआ, 'द आजीविकाज़'; 'प्री-बुद्धिस्ट इण्डियन फिलासफी' पृष्ठ २९७-३१८; डॉक्टर बी. सी. लाहा, हिस्टौरिकल ग्लीनींग्ज़, पृष्ठ ३७ इत्यादि; ए. एल. बाशम, हिस्ट्री एण्ड डॉक्ट्रीन्स ऑव द आजीविकाज़; जगदीशचन्द्र जैन, लाइफ इन एंशियेण्ट इंडिया ऐज़ डिपिक्टेड इन जैन कैनन्स, पृष्ठ २०७-११, जगदीशचन्द्र जैन, संपूर्णानन्द अभिनन्दन ग्रंथ में 'मंखलिपुत्र गोशाल और ज्ञातृपुत्र महावीर' नामक लेख।

तीसरे अध्ययन में वाराणसी के चुलणीपिता गृहपति की कथा है। चुलणीपिता को भी देवजन्य उपसर्ग सहन करना पड़ा। चुलणीपिता अपना ध्यान भंग कर उस पिशाच को पकड़ने के लिये दौड़ा। इस समय उसकी माता ने उसे समझाया और भग्न व्रतों का प्रायश्चित्त करके फिर से धर्मध्यान में लीन होने का उपदेश दिया।

चौथे अध्ययन में सुरादेव गृहपति की कथा है। यहाँ भी देव उपसर्ग करता है।

पाँचवें अध्ययन में चुल्लशतक की कथा है।

छठे अध्ययन में कुंडकोलिक श्रमणोपासक की कथा है। मंखलिगोशाल की धर्मप्रज्ञप्ति को महावीर की धर्मप्रज्ञप्ति की अपेक्षा श्रेष्ठ बताया गया, लेकिन कुंडकोलिक ने इस बात को स्वीकार न किया।

सातवें अध्ययन में पोलासपुर के आजीविकोपासक सद्दालपुत्र कुंभकार की कथा है। नगर के बाहर सद्दालपुत्र की पाँच सौ दुकानें थीं। वह महावीर के दर्शनार्थ गया और उसने उन्हें निमंत्रित किया। गोशाल के नियतिवाद के संबंध में दोनों में चर्चा हुई जिसके फलस्वरूप सद्दालपुत्र ने आजीविकों का धर्म त्यागकर महावीर का धर्म स्वीकार कर लिया। सद्दालपुत्र की भार्या ने भी महावीर के बारह व्रतों को अंगीकार किया। बाद में मंखलिगोशाल ने महावीर से भेंट की। महावीर को यहाँ महाब्राह्मण, महागोप, महासार्थवाह, महाधर्मकथक और महानियमिक शब्दों द्वारा संबोधित किया है।

आठवें अध्ययन में महाशतक गृहपति की कथा है। महाशतक के अनेक पत्नियाँ थीं। रेवती उनमें मुख्य थी। रेवती अपनी सौतों को मार डालने के षड्यंत्र में सफल हुई। वह बड़ी मांसलोलुप थी। महाशतक का धर्मध्यान में समय बिताना उसे बिलकुल पसन्द न था, इसलिये वह प्रायः उसकी धर्म-

प्रवृत्तियों में विघ्न उपस्थित किया करती। लेकिन महाशतक अन्ततक अपने व्रत से न डिगा।

नौवें अध्याय में नंदिनीपिता और दसवें में सालिहीपिता की कथा है।

अन्तगडदसाओ (अन्तकृद्दशा)

संसार का अन्त करनेवाले केवलियों का कथन होने से इस अंग को अन्तकृद्दशा कहा गया है।[1] जैसे उपासकदशा में उपासकों की कथायें हैं, वैसे ही इसमें अर्हतों की कथायें हैं। इस अंग की कथायें भी प्रायः एक जैसी शैली में लिखी गई हैं। कथा के कुछ अंश का वर्णन कर शेष को 'वण्णओ जाव' (वर्णकः यावत्) आदि शब्दों द्वारा व्याख्याप्रज्ञप्ति अथवा ज्ञातृधर्मकथा आदि की सहायता से पूर्ण करने के लिये कहा गया है। कृष्ण-वासुदेव की कथा यहाँ आती है। अर्जुनक माली की कथा रोचक है। उपासकदशा की भाँति इस अंग में भी दस अध्ययन होने चाहिये, लेकिन हैं इसमें आठ वर्ग (अध्ययनों के समूह)। स्थानांगसूत्र में इस अंग के विषय का जो वर्णन दिया है उससे प्रस्तुत वर्णन बिलकुल भिन्न है। अभयदेवसूरि ने इस पर टीका लिखी है।

पहले वर्ग में दस अध्ययन हैं, जिनमें गोयम, समुद्र, सागर आदि का वर्णन है। पहले अध्ययन में सिद्धि प्राप्त करनेवाले गोयम की कथा है। द्वारका नगरी के उत्तर-पूर्व में रैवतक नाम का पर्वत था, उसमें सुरप्रिय नामक एक यक्षायतन था। द्वारका

---

१. एम. डी. बारनेट ने इसे और अणुत्तरोववाइय को १९०७ में अंग्रेजी अनुवाद के साथ लंदन से प्रकाशित किया है; एम. सी. मोदी का अनुवाद अहमदाबाद से १९३२ में प्रकाशित हुआ है। अखिलभारतीय श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन शास्त्रोद्धारक समिति राजकोट से १९५८ में हिन्दी-गुजराती अनुवाद सहित इसका एक और संस्करण निकला है।

में कृष्णवासुदेव राज्य करते थे। अंधगवण्ही भी यहीं रहते थे। उनके गोयम नाम का पुत्र हुआ जिसने अरिष्टनेमि से दीक्षा ग्रहण कर शत्रुञ्जय पर्वत पर सिद्धि प्राप्त की।

दूसरे वर्ग में आठ अध्ययन हैं। तीसरे वर्ग के प्रथम अध्ययन में अणीयस का आख्यान है। भद्दिलपुर नगर (हज़ारीबाग जिले में कुलुहा पहाड़ी के पास भदिया नाम का गाँव) में नाग गृहपति की सुलसा नामक भार्या से अणीयस का जन्म हुआ था। शत्रुंजय पर्वत पर जाकर उन्होंने सिद्धि प्राप्त की। नौवें अध्ययन में हरिणगमेषी द्वारा सुलसा के गर्भपरिवर्तन किये जाने का उल्लेख है। देवकी के गजसुकुमाल नामक पुत्र का जन्म हुआ। उसने सोमिल ब्राह्मण की सोमश्री कन्या से विवाह किया। कुछ समय बाद गजसुकुमाल ने अरिष्टनेमि से श्रमणदीक्षा ग्रहण कर ली। सोमिल ब्राह्मण को यह अच्छा न लगा। एक बार गजसुकुमाल जब श्मशान में ध्यानावस्थित हो कायोत्सर्ग में खड़े थे तो सोमिल ने क्रोध में आकर उनके शरीर को जला दिया। इससे गजसुकुमाल के शरीर में अत्यन्त वेदना हुई, किन्तु बड़े शान्तभाव से उन्होंने उसे सहन किया। केवलज्ञान प्राप्त करके उन्होंने सिद्ध गति पाई।

चौथे और पाँचवें वर्गों में दस-दस अध्ययन हैं। पाँचवें वर्ग के पहले अध्ययन में पद्मावती की कथा है। द्वीपायन ऋषि के कोप के कारण द्वारका नगरी के विनष्ट हो जाने पर जब कृष्णवासुदेव दक्षिण में पांडुमथुरा (आधुनिक मदुरा) की ओर प्रस्थान कर रहे थे, तो मार्ग में जराकुमार के बाण से आहत होने पर उनकी मृत्यु हो गई और मर कर वे नरक में गये।[1] रानी पद्मावती ने अरिष्टनेमि के पास दीक्षा ग्रहण की।

छठे वर्ग में सोलह अध्ययन हैं। राजगृह में अर्जुनक नाम का एक मालाकार रहता था। उसकी भार्या का नाम बन्धुमती था।

---

१. घटजातक में वासुदेव, बलदेव, कण्हदीपायन और द्वारवती की कथा आती है।

नगर के बाहर पुष्पों का एक सुन्दर बगीचा था, जहाँ मोग्गरपाणि (मुद्गर हाथ में लिये हुए) यक्ष का एक आयतन था। इसमें हाथ में लोहे की एक मुद्गर धारण किये हुए मोग्गरपाणि यक्ष की काष्ठमय प्रतिमा थी। अर्जुनक प्रतिदिन पुष्पाराम से सुन्दर पुष्प चुनकर अपनी टोकरी में लाता। सबसे पहले वह यक्षायतन में जाकर पुष्पों द्वारा यक्ष की अर्चना करता, फिर राजमार्ग पर बैठ कर पुष्पों को बेचता। एक बार वह अपनी भार्या के साथ बगीचे में पुष्प चुन रहा था कि नगर की गोष्ठी के छह गुण्डों (गोट्ठिल) ने उसकी भार्या को पकड़ लिया और उसके साथ दुष्कर्म में प्रवृत्त हो गये। अर्जुनक को जब यह पता लगा तो उसे बड़ा दुख हुआ कि मोग्गरपाणि यक्ष की मौजूदगी में मेरी स्त्री के साथ ऐसा दुष्कृत्य किया गया। उसे यक्ष के ऊपर बड़ा गुस्सा आया। वह यक्ष को लकड़ी का ठूँठमात्र कहकर उसका अपमान करने लगा। उसके बाद यक्ष अर्जुनक के शरीर में प्रविष्ट हो गया और अर्जुनक नगरवासियों को अपनी लोहे की मुद्गर से मारता-पीटता भ्रमण करने लगा। अन्त में अर्जुनक ने श्रमण भगवान् महावीर के पास पहुँचकर प्रव्रज्या अंगीकार कर सिद्धि पाई। अइमुत्त-कुमार ने बाल्य अवस्था में प्रव्रज्या ग्रहण की। आठवें वर्ग में अनेक व्रत, उपवास और तपों का उल्लेख है।

अणुत्तरोववाइयदसाओ (अनुत्तरोपपातिकदशा)

अनुत्तर विमानों में उत्पन्न होनेवाले विशिष्ट पुरुषों का आख्यान होने के कारण इस अंग को अनुत्तरोपपातिकदशा कहा है। उपासकदशा और अन्तकृद्दशा की भाँति इसमें भी प्राचीन काल में दस अध्याय थे, लेकिन अब कुल तीन वर्ग रह गये हैं। सर्वत्र एक ही शैली में प्रायः पादोपगमन द्वारा किसी पर्वत पर देह त्यागकर सिद्धि पाने का उल्लेख है। ये उक्त तीनों ही आगम साहित्य आदि की दृष्टि से सामान्य कोटि में आते हैं। अभयदेव ने इस पर टीका लिखी है। पहले वर्ग में दस, दूसरे

में तेरह और तीसरे में दस अध्ययन हैं। तीसरे वर्ग के प्रथम अध्याय में धन्य अनगार की तपस्या का वर्णन है—

धण्णे णं अणगारे णं सुक्केणं पायजंघोरुणा, विगयतडिकरालेणं कडिकडाहेणं पिट्ठिमस्सिएणं उदरभायणेणं, जोइज्जमाणेहिं पासुलियकडाएहिं, अक्खसुत्तमाला विव गणेज्जमाणेहिं पिट्ठिकरंडगसंधीहिं, गंगातरंगभूएणं उरकडगदेसभाएणं, सुक्कसप्पसमाणेहिं बाहाहिं, सिढिलकडाली विव लंबंतेहिं य अग्गहत्थेहिं, कंपमाणवाइए विव वेवमाणीए सीसघडीए, पव्वायवयणकमले उब्भडघडमुहे, उब्बुड्डणयणकोसे, जीवंजीवेण गच्छइ, जीवंजीवेण चिट्ठइ, भासं भासिस्सामि त्ति गिलाइ, से जहानामए इंगालसगडिया इ वा (जहा खंदओ तहा) (जाव) हुयासणे इव भासरासिपलिच्छण्णे तवेणं तेएणं तवतेएसिरीए उवसोभेमाणे चिट्ठइ।

—उसके पाद, जंघा और ऊरु सूखकर रूक्ष हो गये थे; पेट पिचक कर कमर से जा लगा था और दोनों ओर से उठा हुआ विकराल कढ़ाई के समान हो गया था; पसलियाँ दिखाई दे रही थीं; पीठ की हड्डियाँ अक्षमाला की भाँति एक-एक करके गिनी जा सकती थीं, वक्षःस्थल की हड्डियाँ गंगा की लहरों के समान अलग-अलग दिखाई पड़ती थीं, भुजायें सूखे हुए सर्प की भाँति कृश हो गई थीं, हाथ घोड़े के मुँह पर बाँधने के तोबरे की भाँति शिथिल होकर लटक गये थे; सिर वातरोगी के समान काँप रहा था; मुख मुरझाये हुए कमल की भाँति म्लान हो गया था और घट के समान खुला हुआ होने से बड़ा विकराल प्रतीत होता था; नयनकोश अन्दर को धँस गये थे; अपनी आत्मशक्ति से ही वह उठ-बैठ सकता था; बोलते समय उसे मूर्च्छा आ जाती थी, राख से आच्छन्न अग्नि की भाँति अपने तप और तेज द्वारा वह शोभित हो रहा था।[1]

---

१. मज्झिमनिकाय के महासीहनादसुत्त में बुद्ध भगवान् ने इसी प्रकार की अपनी पूर्व तपस्याओं का वर्णन किया है; तथा देखिये बोधिराजकुमारसुत्त; दीघनिकाय, कस्सपसीहनादसुत्त।

पण्हवागरणाइं (प्रश्नव्याकरण)

प्रश्नव्याकरण को पण्हवागरणदसा अथवा वागरणदसा के नाम से भी कहा गया है।[1] प्रश्नों के उत्तर (वागरण) रूप में होने के कारण इसे पण्हवागरणाइं नाम दिया गया है; यद्यपि वर्तमान सूत्र में कहीं भी प्रश्नोत्तर नहीं हैं, केवल आस्रव और संवर का वर्णन मिलता है। स्थानांग और नन्दीसूत्र में जो इस आगम का विषय-वर्णन दिया है, उससे यह बिलकुल भिन्न है। नन्दी के अनुसार इसमें प्रश्न, अप्रश्न, प्रश्नाप्रश्न और विद्यातिशय आदि की चर्चा है जो यहाँ नहीं है। स्पष्ट है कि मूल सूत्र विच्छिन्न हो गया है। इसमें दो खंड हैं। पहले में पाँच आस्रवद्वार और दूसरे में पाँच संवरद्वारों का वर्णन है। अभयदेव ने इस पर टीका लिखी है जिसका संशोधन निर्वृतिकुल के द्रोणाचार्य ने किया था। नयविमल ने भी इस पर टीका लिखी है।

पहले खण्ड के पहले द्वार में प्राणवध का स्वरूप बताया है। त्रस-स्थावर जीवों का वध करने से या उन्हें कष्ट पहुँचाने से हिंसा का पाप लगता है। हिंसकों में शौकरिक (सूअर का शिकार करनेवाले), मच्छबंध (मच्छीमार), शाकुनिक (चिड़ीमार), व्याध, वागुरिक (जाल लगाकर जीव-जन्तु पकड़नेवाले) आदि का उल्लेख है। शक, यवन, बब्बर, मुरुंड, पक्कणिय, पारस, दमिल, पुलिंद, डोंब, मरहट्ठ आदि म्लेच्छ[2] जातियों के नाम गिनाये हैं। फिर आयुधों के नाम हैं। दूसरे द्वार में मृषावाद का विवेचन है। मृषावादियों में जुआरी, गिरवी रखनेवाले, कपटी, वणिक्, हीन-अधिक तोलनेवाले, नकली

---

१. अभयदेव की टीका के साथ १९१९ में आगमोदय समिति द्वारा बंबई से प्रकाशित; अमूल्यचन्द्रसेन, ए क्रिटिकल इन्ट्रोडक्शन टु द पण्हवागरणम्, वुर्जबर्ग, १९३६।

२. इन जातियों के लिये देखिये जगदीशचन्द्र जैन, लाइफ इन ऐंशियेंट इंडिया ऐज़ डिपिक्टेड इन जैन कैनन्स, पृष्ठ ३५८-६६।

मुद्रा बनानेवाले, और कपटी साधुओं आदि का उल्लेख है। यहाँ नास्तिकवादी, वामलोकवादी, असद्भाववादी आदि के मतों का विवेचन है। तीसरे अदत्तादान नामक द्वार में बिना दी हुई वस्तु के ग्रहण करने का विवेचन है। हस्तलाघव (हाथ की सफाई) को अदत्तादान का एक प्रकार कहा गया है। चोरी करनेवालों में तस्कर, साहसिक, ग्रामघातक, ऋणभंजक (ऋण नहीं चुकानेवाले), राजदुष्टकारी, तीर्थभेदक, गोचोरक आदि का उल्लेख है। संग्राम तथा अनेक प्रकार के आयुधों के नाम गिनाये गये हैं। परद्रव्य का अपहरण करनेवाले जेलों में विविध बंधनों आदि द्वारा किस प्रकार यातना भोगते हैं,[1] इसका विस्तृत वर्णन है। चौथे द्वार में अब्रह्म का विवेचन है। इसे ग्रामधर्म भी कहा है। अब्रह्मसेवन करनेवाले विषयभोगों की तृप्ति हुए बिना ही मरणधर्म को प्राप्त करते हैं। यहाँ भोगोपभोग-संबंधी हाथी, घोड़ा, बहुमूल्य वस्त्र, सुगन्धित पदार्थ, आभूषण, वाद्य, मणि, रत्न आदि राजवैभव का वर्णन है। तत्पश्चात् मांडलिक राजा व युगलिकों का वर्णन किया गया है। सीता, द्रौपदी, रुक्मिणी, पद्मावती, तारा, कांचना (कुछ लोग रानी चेलना को ही कांचना कहते हैं), रक्तसुभद्रा, अहल्या आदि स्त्रियों की प्राप्ति के लिये युद्ध किये जाने का उल्लेख है। पाँचवें द्वार में परिग्रह का कथन है। परिग्रह का संचय करने के लिये लोक अनेक प्रकार के शिल्प और कलाओं का अध्ययन करते हैं, असि, मसि, वाणिज्य, अर्थशास्त्र और धनुर्विद्या का अभ्यास करते हैं और वशीकरण आदि विद्यायें सिद्ध करते हैं। लोभ परिग्रह का मूल है।

दूसरे खंड के पहले द्वार में अहिंसा का विवेचन है। अहिंसा को भगवती कहा है। यहाँ साधु के योग्य निर्दोष भिक्षा के

---

1. मज्झिमनिकाय के महादुक्खखंध में दंड के अनेक प्रकार बताये हैं।

नियम बताये गये हैं। अहिंसाव्रत की पाँच भावनाओं का विवेचन है। दूसरे द्वार में सत्य की व्याख्या है। सत्य के प्रभाव से मनुष्य समुद्र को पार कर लेता है और अग्नि भी उसे नहीं जला सकती। सत्यव्रत की पाँच भावनाओं का विवेचन है। तीसरे द्वार में दत्त-अनुज्ञात नामके तीसरे संवर का विवेचन है। पीठ, पाट, शय्या आदि ग्रहण करने के संबंध में साधुओं के नियमों का उल्लेख है। व्रत की पाँच भावनाओं का विवेचन है। दंशमशक के उपसर्ग के संबंध में कहा है कि दंशमशक के उपद्रव से साधुओं को क्षुब्ध नहीं होना चाहिए और डाँस-मच्छरों को भगाने के लिये धूआँ आदि नहीं करना चाहिये। चौथे द्वार में ब्रह्मचर्य का विधान है। इस व्रत का भंग होने पर व्रती विनय, शील, तप और नियमों से च्युत हो जाता है, और ऐसा लगता है जैसे कोई घड़ा भग्न हो गया हो, दही को मथ दिया गया हो, आटे का बुरादा बन गया हो, जैसे कोई काँटों से बिंध गया हो, पर्वत की शिला टूटकर गिर पड़ी हो और कोई लकड़ी कटकर गिर गई हो। ब्रह्मचर्य का प्रतिपादन करने के लिये बत्तीस प्रकार की उपमायें दी गई हैं। ब्रह्मचर्य व्रत की पाँच भावनाओं का विवेचन है। स्त्रियों के संसर्ग से सर्वथा दूर रहने का विधान है। पाँचवें द्वार में अपरिग्रह का विवेचन है। साधु को सर्व पापों से निवृत्त होकर मान-अपमान और हर्ष-विषाद में समभाव रखते हुए काँसे के पात्र की भाँति स्नेहरूप जल से दूर, शंख की भाँति निर्मल-चित्त, कछुए की भाँति गुप्त, पोखर में रहनेवाले पद्मपत्र की भाँति निर्लेप, चन्द्र की भाँति सौम्य, सूर्य की भाँति प्रदीप्त और मेरु पर्वत की भाँति अचल रहने का विधान है।

विवागसुय (विपाकश्रुत)

पाप और पुण्य के विपाक का इसमें वर्णन होने से इसे विपाकश्रुत कहा गया है।[1] स्थानांग सूत्र में इसे कम्मविवाय-

१. अभयदेव की टीका सहित वि. सं. १९२२ में बड़ौदा से प्रकाशित

दसाओ नाम से कहा है। स्थानांगसूत्र के अनुसार उवासगदसाओ, अंतगडदसाओ, अगुत्तरोववाइयदसाओ और पण्हवागरणदसाओ की भाँति इसमें भी दस अध्ययन होने चाहिये, लेकिन हैं इसमें बीस। इसमें दो श्रुतस्कंध हैं—दुखविपाक और सुखविपाक। दोनों में दस-दस अध्ययन हैं। गौतम गणधर बहुत से दुखी लोगों को देखकर उनके संबंध में महावीर से प्रश्न करते हैं और महावीर उनके पूर्वभवों का वर्णन करते हैं। अभयदेव सूरि ने इस पर टीका लिखी है। प्रद्युम्नसूरि की भी टीका है।

प्रथम श्रुतस्कंध के पहले अध्ययन में मियापुत्त की कथा है। मियापुत्त विजय क्षत्रिय का पुत्र था जो जन्म से अन्धा, गूँगा और बहरा था; उसके हाथ, पैर, कान, आँख और नाक की केवल आकृतिमात्र दिखाई देती थी। उसकी माँ उसे भौंतले में भोजन खिलाती थी। एक बार गौतम गणधर महावीर की अनुज्ञा लेकर मियापुत्त को देखने के लिये उसके घर गये। तत्पश्चात् गौतम के प्रश्न करने पर महावीर ने मियापुत्त के पूर्वभव का वर्णन किया। पूर्वजन्म में मियापुत्त इक्काई नाम का रट्ठकूड (राठौर) था जो ग्रामवासियों से बड़ी क्रूरता से कर आदि वसूल कर उन्हें कष्ट देता था। एक बार वह व्याधि से पीड़ित हुआ। एक से एक बढ़कर अनेक वैद्यों ने उसकी चिकित्सा की, किन्तु कोई लाभ न हुआ। मर कर उसने विजय क्षत्रिय के घर जन्म लिया।

दूसरे अध्ययन में उज्झिय की कथा है। उज्झिय वाणियगाम के विजयमित्र सार्थवाह का पुत्र था। गौतम गणधर वाणियगाम में भिक्षा के लिये गये। वहाँ उन्होंने हाथी, घोड़े और बहुत से पुरुषों का कोलाहल सुना। पता लगा कि राजपुरुष किसी की मुश्कें बाँध कर उसे मारते-पीटते हुए लिये जा रहे हैं। गौतम के

प्रोफेसर ए. टी. उपाध्ये ने अंग्रेजी अनुवाद किया है जो बेलगाँव से १९३५ में प्रकाशित हुआ है।

प्रश्न करने पर महावीर ने उसके पूर्वभव का वर्णन किया। हस्तिनापुर में भीम नाम का एक कूटग्राह (पशुओं का चोर) था। उसके उत्पला नाम की भार्या थी। उत्पला गर्भवती हुई और उसे गाय, बैल आदि का मांस भक्षण करने का दोहद हुआ। उसने गोत्रास नामक पुत्र को जन्म दिया। यही गोत्रास वाणियगाम में विजयमित्र के घर उज्झिय नाम का पुत्र हुआ। उज्झिय जब बड़ा हुआ तो उसके माता-पिता मर गये और नगर-रक्षकों ने उसे घर से निकाल कर उसका घर दूसरों को दे दिया। ऐसी हालत में वह द्यूतगृह, वेश्यागृह और पानागारों (मद्यगृहों) में भटकता हुआ समय यापन करने लगा। कामज्झया नाम की वेश्या के घर वह आने-जाने लगा। यह वेश्या राजा को भी प्रिय थी। एक दिन उज्झिय वेश्या के घर पकड़ा गया और राजपुरुषों ने उसे प्राणदण्ड दे दिया।

तीसरे अध्ययन में अभग्गसेण की कथा है। पुरिमताल (आधुनिक पुरुलिया, दक्षिण विहार) में शालाटवी चोरपल्ली में विजय नाम का एक चोर-सेनापति रहता था। उसकी खन्दसिरी नाम की स्त्री ने अभग्गसेण को जन्म दिया। पूर्वभव में वह निन्नय नाम का एक अंडों का व्यापारी था। वह कबूतर, मुर्गी, मोरनी आदि के अंडों को आग पर तलता, भूनता और उन्हें बेच कर अपनी आजीविका चलाता। कालक्रम से विजय चोर के मर जाने पर अभग्गसेण को सेनापति के पद पर बैठाया गया। आभग्गसेण पुरिमताल और उसके आसपास गाँवों को लूट-खसोट कर निर्वाह करने लगा। नगर के राजा ने उसे पकड़ने की बहुत कोशिश की मगर अभग्गसेण हाथ न आया। एक बार राजा ने अपने नगर में कोई उत्सव मनाया। इस अवसर पर उसने अभग्गसेण को भी निमंत्रण दिया और धोखे से पकड़कर उसे मार डाला।

चौथे अध्याय में सगड की कथा है। सगड साहंजणी के सुभद्र नामक सार्थवाह का पुत्र था। पहले भव में वह छणिय

नाम का एक गड़रिया (छागलिय) था। माता-पिता की मृत्यु हो जाने पर राजपुरुषों ने उसे घर से निकाल दिया और उसका घर दूसरों को दे दिया। सगड़ एक अवारे का जीवन बिताने लगा। सुसेण मंत्री ने उसे प्राणदण्ड की आज्ञा दी।

पाँचवें अध्ययन में बहस्सइदत्त की कथा है। बहस्सइदत्त कौशांबी के सोमदत्त पुरोहित का पुत्र था। पूर्वभव में वह महेश्वरदत्त नाम का पुरोहित था जो राजा की बल-वृद्धि के लिये ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के बालकों को मारकर शान्तिहोम करता था। महेश्वरदत्त को राजा के अन्तःपुर में आने-जाने की छूट थी। किसी समय रानी से उसका सम्बन्ध हो गया। दुश्चरित्र का पता लगने पर राजा ने उसके वध की आज्ञा दी।

छठे अध्ययन में नन्दिवद्धण की कथा है। वह श्रीदाम राजा का पुत्र था। पूर्वभव में वह राजा का चारगपालय (जेलर) था। जेल में चोर, परदारसेवी, गँठकतरे, राजापकारी, कर्जदार, बालघातक, जुआरी आदि बहुत से लोग रहते थे। वह उन्हें अनेक प्रकार की यातनायें दिया करता था। नन्दिवद्धण अपने पिता को मारकर स्वयं राज-सिंहासन पर बैठना चाहता था। उसने किसी नाई (अलंकारिय) के साथ मिलकर एक षड्यंत्र रचा। पता लग जाने पर नन्दिवद्धण को प्राणदण्ड की आज्ञा दी गई।

सातवें अध्ययन में उम्बरदत्त की कथा है। वह सागरदत्त सार्थवाह का पुत्र था। पूर्वभव में वह अष्टांग आयुर्वेद में कुशल एक सुप्रसिद्ध वैद्य था। रोगियों को मत्स्य-मांस के भक्षण का उपदेश देता हुआ वह उनकी चिकित्सा करता था। अनेक रोगों से पीड़ित हो उसने प्राणों का त्याग किया।

आठवें अध्ययन में सोरियदत्त की कथा है। सोरियदत्त समुद्रदत्त नाम के एक मछुए का पुत्र था। पूर्वभव में वह किसी राजा के घर रसोइये का काम करता था। वह अनेक पशु-पक्षी और मत्स्य आदि का स्वादिष्ट मांस तैयार करता और राजा को

खिलाता। एक बार मत्स्य का भक्षण करते हुए सोरियदत्त के गले में मछली का कांटा अटक गया और वह मर गया।

नौवें अध्ययन में देवदत्ता की कथा है। देवदत्ता दत्त नाम के एक गृहपति की कन्या थी। वेसमणदत्त राजा के पुत्र पूसनन्दि के साथ उसका विवाह हो गया। पूसनन्दि बड़ा मातृभक्त था। वह तेल की मालिश आदि द्वारा अपनी माता की सेवा-शुश्रूषा में सदा तत्पर रहता था। देवदत्ता को यह बात पसन्द न थी। एक दिन रात्रि के समय उसने अपनी सोती हुई सास की हत्या कर दी। राजा ने देवदत्ता के वध कीआज्ञा दी।

दसवें अध्ययन में अंजू की कथा है। अंजू धनदेव सार्थवाह की कन्या थी। विजय नाम के राजा से उसका विवाह हुआ। एक बार वह किसी व्याधि से पीड़ित हुई और जब कोई वैद्य उसे अच्छा न कर सका तो वह मर गई।

दूसरे श्रुतस्कंध में सुखविपाक की कथायें हैं जो लगभग एक ही शैली में लिखी गई हैं।

दिट्ठिवाय (दृष्टिवाद)

दृष्टिवाद द्वादशांग का अन्तिम बारहवाँ अंग है जो आजकल व्युच्छिन्न है।[1] विभिन्न दृष्टियों (मत-मतांतरों) का प्ररूपण

---

१. दिगम्बर आम्नाय के अनुसार दृष्टिवाद के कुछ अंशों का उद्धार षट्खंडागम और कषायप्राभृत में उपलब्ध है। अग्रायणी नामक द्वितीय पूर्व के १४ अधिकार (वस्तु) बताये गये हैं जिनमें पाँचवें अधिकार का नाम चयनलब्धि है। इस अधिकार का चौथा पाहुड कम्मपयडी या महाकम्मपयडी कहा जाता है। इसी का उद्धार पुष्पदंत और भूतबलि ने सूत्ररूप से षट्खंडागम में किया है। इसी तरह ज्ञानप्रवाद नाम के पाँचवें पूर्व का उद्धार गुणधर आचार्य ने किया है। ज्ञानप्रवाद के १२ अधिकारों में १०वें अधिकार के तीसरे पाहुड का नाम 'पेज्ज', 'पेज्जदोस' या 'कसायपाहुड' है। इसका गुणधर आचार्य ने १८० गाथाओं में विवरण किया है। देखिये डॉक्टर हीरालाल जैन, षट्खंडागम की प्रस्तावना २, पृष्ठ ४१-६८।

होने के कारण इसे दृष्टिवाद कहा गया है। विशेषनिशीथचूर्णि के अनुसार इस सूत्र में द्रव्यानुयोग[1], चरणानुयोग, धर्मानुयोग और गणितानुयोग का कथन होने के कारण, छेदसूत्रों की भाँति इसे उत्तम-श्रुत कहा है। तीन वर्ष के प्रव्रजित साधु को निशीथ और पाँच वर्ष के प्रव्रजित साधु को कल्प और व्यवहार का उपदेश देना बताया गया है, लेकिन दृष्टिवाद के उपदेश के लिये बीस वर्ष की प्रव्रज्या आवश्यक है।[2] स्थानांगसूत्र (१०.७४२) में दृष्टिवाद के दस नाम गिनाये हैं—अणुजोगगत (अनुयोगगत), तच्चावात (तत्त्ववाद), दिट्ठिवात (दृष्टिवाद), धम्मावात (धर्मवाद), पुव्वगत (पूर्वगत), भासाविजत (भाषाविजय), भूयवात (भूतवाद), सम्मावात (सम्यग्वाद), सव्वपाणभूतजीवसत्तसुहावह (सर्वप्राणभूतजीवसत्त्वसुखावह) और हेउवात (हेतुवाद)।

दृष्टिवाद के व्युच्छिन्न होने के सम्बन्ध में एक से अधिक परंपरायें जैन आगमों में देखने में आती हैं। एक बार पाटलिपुत्र में १२ वर्ष का दुष्काल पड़ा। भिक्षा के अभाव में साधु लोग समुद्रतट पर जाकर रहने लगे। सुभिक्ष होने पर फिर से सब पाटलिपुत्र में एकत्रित हुए। उस समय आगम का जो कोई उद्देश या खंड किसी को याद था, सब ने मिलकर उसे संग्रहीत किया, और इस प्रकार ११ अंग संकलित किये गये। लेकिन दृष्टिवाद किसी को याद नहीं था। उस समय चतुर्दश पूर्वधारी भद्रबाहु नैपाल में विहार करते थे। संघ ने एक संघाटक (साधुयुगल) को उनके पास दृष्टिवाद का अध्ययन करने के लिये भेजा। संघाटक ने नैपाल पहुँचकर संघ का प्रयोजन

---

१. कहीं पर दृष्टिवाद में केवल द्रव्यानुयोग की चर्चा को प्रधान बताया गया है। अन्यत्र इस सूत्र में नैगम आदि नय और उसके भेद-प्रभेदों की प्ररूपणा मुख्य बताई गई है (आवश्यकनिर्युक्ति ७६०)।

२. बृहत्कल्पभाष्य ४०४।

निवेदन किया। लेकिन भद्रबाहु ने उत्तर दिया—दुर्भिक्ष के कारण मैं महाप्राण का अभ्यास नहीं कर सका था, अब कर रहा हूँ, इसलिये दृष्टिवाद की वाचना देने में असमर्थ हूँ। यह बात संघाटक ने पाटलिपुत्र लौटकर संघ से निवेदन की। संघ ने फिर से संघाटक को भद्रबाहु के पास भेजा और पुछवाया कि संघ की आज्ञा उल्लंघन करनेवाले को क्या दंड दिया जाए? अन्त में निश्चय हुआ कि किसी मेधावी को भद्रबाहु के पास भेजा जाये और वे उसे सात वाचनायें दें।[1] स्थूलभद्र को बहुत से साधुओं के साथ भद्रबाहु के पास भेजा गया। धीरे-धीरे वहाँ से सब साधु खिसक आये, अकेले स्थूलभद्र रह गये। महाप्राण व्रत किंचित् अवशेष रह जाने पर एक दिन आचार्य ने स्थूलभद्र से पूछा—"कोई कष्ट तो नहीं है?" स्थूलभद्र ने उत्तर दिया—"नहीं।" उन्होंने कहा—"तुम थोड़े दिन और ठहर जाओ, फिर मैं तुम्हें शेष वाचनायें एक साथ ही दे दूँगा।" स्थूलभद्र ने प्रश्न किया—"कितना और बाकी रहा है?" आचार्य ने उत्तर दिया—"अठासी सूत्र।" उन्होंने स्थूलभद्र को चिन्ता न करने का आश्वासन दिया और कहा कि थोड़े ही समय में तुम इसे समाप्त कर लोगे। कुछ दिन पश्चात् महाप्राण समाप्त हो जाने पर स्थूलभद्र ने भद्रबाहु से नौ पूर्व और दसवें पूर्व की दो वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त कर लिया। इसके बाद वे पाटलिपुत्र चले गये। आगे चलकर भद्रबाहु ने उन्हें शेष चार पूर्व इस शर्त पर पढ़ाये कि वे इनका ज्ञान और किसी को प्रदान न करें। उसी समय से दसवें पूर्व की अन्तिम दो वस्तुएँ तथा बाकी के चार पूर्व व्युच्छिन्न हुए माने जाते हैं।[2]

---

१. १ भिक्षाचर्या से आये हुए को, २ दिवसार्ध की कालवेला में, ३ संज्ञा का उत्सर्ग करके आये हुए को, ४ विकाल में, ५-८ आवश्यक की तीन प्रतिपृच्छा।

२. आवश्यकसूत्र, हरिभद्रटीका, पृष्ठ ६९६ अ–६९८; हरिभद्र, उपदेशपद और उसकी टीका, पृष्ठ ८९।

दूसरी परंपरा के अनुसार आर्यरक्षित जब पाटलिपुत्र से सांगोपांग चार वेदों और चतुर्दश विद्यास्थानों[1] का अध्ययन कर के दशपुर लौटे तो वहाँ उनका बहुत ज़ोरशोर से स्वागत किया गया। जब वे अपनी माता के पास पहुँचे तो उसने पूछा–"बेटा ! तुमने दृष्टिवाद का भी अध्ययन किया या नहीं ?" आर्यरक्षित ने उत्तर दिया—"नहीं।" उनकी माँ ने कहा, "देखो, हमारे इक्षुगृह में तोसलिपुत्र आचार्य ठहरे हुए हैं। तुम उनके पास जाओ, वे तुम्हें पढ़ा देंगे।" यह सुनकर आर्यरक्षित इक्षुघर में पहुँचे। वे सोचने लगे—मुझे दृष्टिवाद के नौ अंग तो पढ़ ही लेने चाहिये, दसवाँ तो समस्त उपलब्ध है नहीं। उसके बाद वे आचार्य तोसलिपुत्र के समक्ष उपस्थित हुए। उन्होंने पूछा—"क्यों आये हो ?" आर्यरक्षित ने उत्तर दिया—"दृष्टिवाद का अध्ययन करने।" आचार्य ने कहा—"लेकिन बिना दीक्षा दिये दृष्टिवाद हम नहीं पढ़ाते।" आर्यरक्षित ने उत्तर दिया—"दीक्षा ग्रहण करने के लिये मैं तैयार हूँ।" फिर उन्होंने कहा—"यह सूत्र परिपाटी से ही पढ़ना पड़ता है।" आर्यरक्षित ने उत्तर दिया—"उसके लिये भी मेरी तैयारी है।" तत्पश्चात् आर्यरक्षित ने आचार्य से अन्यत्र चलकर रहने की प्रार्थना की। वहाँ पहुँच कर आर्यरक्षित ने दीक्षा ग्रहण की और ग्यारह अंगों का अध्ययन किया। तोसलिपुत्र को जितना दृष्टिवाद का ज्ञान था उतना उन्होंने पढ़ा दिया। उस समय युगप्रधान आर्यवज्र (वज्रस्वामी) उज्जयिनी में विहार कर रहे थे। पता चला कि वे दृष्टिवाद के बड़े पंडित हैं। आर्यरक्षित उज्जयिनी के लिये रवाना हो गये। आर्यवज्र के पास पहुँचकर उन्होंने नौ पूर्वों का ज्ञान प्राप्त किया। दसवाँ उन्होंने आरंभ किया ही था कि इतने में आर्यरक्षित के लघु भ्राता फल्गुरक्षित उन्हें लिवाने आ गये। आर्यरक्षित ने फल्गुरक्षित को दीक्षित कर लिया और वह भी वहीं रहकर

---

१. शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष, कल्प (छह अंग), चार वेद, मीमांसा, न्याय, पुराण और धर्मशास्त्र।

अध्ययन करने लगा। एक दिन पढ़ते-पढ़ते आर्यरक्षित ने आर्यवज्र से प्रश्न किया—"महाराज ! दसवें पूर्व का अभी कितना भाग बाकी है ?" आर्यवज्र ने उत्तर दिया—"अभी केवल एक बिंदुमात्र पूर्ण हुआ है, समुद्र जितना अभी बाकी है।" यह सुनकर आर्यरक्षित को बड़ी चिन्ता हुई। वह सोचने लगे कि ऐसी हालत में क्या मैं इसका पार पा सकता हूँ ? तत्पश्चात् आर्यरक्षित वहाँ से यह कहकर चले आये कि मेरा लघु भ्राता आ गया है, अब कृपा करके उसे पढ़ाइये। आर्यवज्र ने सोचा कि मेरी थोड़ी ही आयु अवशेष है और फिर यह शिष्य लौट कर आयेगा नहीं, इसलिये शेष पूर्वों का मेरे समय से ही व्युच्छेद समझना चाहिये। आर्यरक्षित दशपुर चले गये और फिर लौटकर नहीं आये।[1] नन्दीसूत्र में दृष्टिवाद के पाँच विभाग गिनाये हैं—परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत (१४ पूर्व[2]), अनुयोग और चूलिका। परिकर्म के द्वारा

---

१. आवश्यकसूत्र, हरिभद्रटीका, पृष्ठ ३००-३०३।

२. पूर्व दृष्टिवाद का ही एक भाग है। दशाश्रुतस्कन्धचूर्णी के अनुसार भद्रबाहु ने दृष्टिवाद का उद्धार असमाधिस्थान नामक प्राभृत के आधार से किया है। आवश्यकभाष्य के अनुसार आचार्य महागिरि के शिष्य कौडिन्य और उनके शिष्य, दूसरे निह्नव के प्रतिष्ठाता, अश्वमित्र विद्यानुवाद नामक पूर्व के अन्तर्गत नैपुणिक वस्तु में पारङ्गत थे। पूर्वों में से अनेक सूत्र तथा अध्ययन आदि उद्धृत किये जाने के उल्लेख आगमों की टीकाओं में पाये जाते हैं। उदाहरण के लिए, आत्मप्रवादपूर्व में से दशवैकालिक सूत्र का धम्मपण्णत्ति (षड्जीवनिकाय), कर्मप्रवाद में से पिंडेसणा, सत्यप्रवाद में से वक्कसुद्धी नामक अध्ययन तथा शेष अध्ययन प्रत्याख्यानपूर्व की तृतीय वस्तु से उद्धृत हैं। ओघनिर्युक्ति, बृहत्कल्प, दशाश्रुतस्कन्ध, निशीथ और व्यवहार को भी प्रत्याख्यानप्रवाद में से उद्धृत बताया है। उत्तराध्ययन के टीकाकार वादिवेताल शांतिसूरि के अनुसार उत्तराध्ययन का परिषह नामक अध्ययन दृष्टिवाद से लिया गया है। महाकल्पश्रुत भी इसी से उद्धृत माना जाता है।

सूत्रों को यथावत् समझने की योग्यता प्राप्त की जाती है। इसके सात भेद हैं। समवायांग के अनुसार इनमें से प्रथम छः भेद स्वसमय अर्थात् अपने सिद्धांत के अनुसार हैं और सातवाँ भेद (च्युताच्युतश्रेणिका) आजीविक सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार है। जैन चार नयों को स्वीकार करते हैं इसलिये वे चतुष्कनयिक कहलाते हैं, जब कि आजीविक सम्प्रदायवाले वस्तु को त्रि-आत्मक (जैसे जीव, अजीव, जीवाजीव) मानने के कारण त्रैराशिक कहे जाते हैं। परिकर्मशास्त्र अपने मूल और उत्तरभेदों सहित नष्ट हो गया है। सूत्र विभाग में तीर्थिकों के मत-मतांतरों का खंडन है। इसके छिन्नच्छेद, अच्छिन्नछेद, त्रिक और चतुर् नाम के चार नयों की अपेक्षा बाईस सूत्रों के अठासी भेद होते हैं। चार नयों में अच्छिन्नच्छेद और त्रिकनय परिपाटी आजीविकों की, तथा छिन्नच्छेद और चतुर्नय परिपाटी जैनों की कही जाती थी। इन चार नयों का स्वरूप नन्दी और समवायांगसूत्र की टीका में समझाया गया है। पूर्व विभाग में उत्पादपूर्व आदि चौदह पूर्वग्रंथों का समावेश होता है। तीर्थ-प्रवर्तन के समय तीर्थंकर अपने गणधरों को सर्वप्रथम पूर्वगत सूत्रार्थ का ही विवेचन करते हैं, इसलिये इन्हें पूर्व कहा जाता है। 'पूर्वधर' नाम से प्रख्यात विक्रम की लगभग पाँचवीं शताब्दी के आचार्य शिवशर्मसूरि ने कम्मपयडि (कर्मप्रकृति) और सयग (शतक) की रचना की है। अनुयोग अर्थात् अनुकूल संबंध। सूत्र द्वारा प्रतिपादित अर्थ के अनुकूल संबंध को अनुयोग कहा जाता है। इसके दो भेद हैं—मूल प्रथमानुयोग और गंडिका-नुयोग। मूल प्रथमानुयोग में तीर्थंकर आदि महान् पुरुषों के पूर्वभवों का वर्णन है। चूलिका अर्थात् शिखर। दृष्टिवाद का जो विषय परिकर्म, सूत्र, पूर्व और अनुयोग में नहीं कहा जा सका, उसका संग्रह चूलिका में किया है। प्रथम चार पूर्वों की ही चूलायें बताई गई हैं। ये सब मिलकर बत्तीस होती हैं।

बृहत्कल्पनिर्युक्ति (१४६) में तुच्छ स्वभाववाली, बहु

अभिमानी, चंचल इन्द्रियोंवाली और मन्द बुद्धिवाली सब स्त्रियों को दृष्टिवाद (भूयावाय) पढ़ने का निषेध किया है।[1]

द्वादश उपांग

वैदिक ग्रंथों में पुराण, न्याय और धर्मशास्त्र को उपांग कहा है। चार वेदों के भी अंग और उपांग होते हैं। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छंद, निरुक्त और ज्योतिष ये छह अंग हैं, तथा पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र उपांग। बारह अंगों की भाँति बारह उपांगों का उल्लेख भी प्राचीन आगम ग्रंथों में उपलब्ध नहीं होता। नंदीसूत्र (४४) में कालिक और उत्कालिक रूप में ही उपांगों का उल्लेख मिलता है। अंगों की रचना गणधरों ने की है और उपांगों की स्थविरों ने, इसलिये भी अंगों और उपांगों का कोई संबंधविशेष सिद्ध नहीं होता। यद्यपि कुछ आचार्यों ने अंगों और उपांगों का संबंध जोड़ने का प्रयत्न किया है, लेकिन विषय आदि की दृष्टि से इनमें कोई संबंध प्रतीत नहीं होता।

उववाइय (ओववाइय-औपपातिक)

उपपात अर्थात् जन्म—देव-नारकियों के जन्म; अथवा सिद्धि-गमन का इस उपांग में वर्णन होने से इसे औपपातिक कहा है।[2] विन्टरनीज़ के अनुसार इसे औपपातिक न कहकर उप-

---

१. प्रश्न किया गया है कि यदि दृष्टिवाद में सब कुछ अन्तर्गत हो जाता है तो फिर उसीका प्ररूपण किया जाना चाहिये, अन्य आगमों का नहीं। उत्तर में कहा है कि दुर्बुद्धि, अल्पायु तथा स्त्रियों आदि को लक्ष्य करके अन्य आगमों का प्ररूपण किया गया है। दृष्टिवाद की भाँति अरुणोपपात और निशीथ आदि के अध्ययन की भी स्त्रियों को मनाई है। देखिये आवश्यकचूर्णी १, पृ० ३५; बृहत्कल्पभाष्य १,१४६, पृ० ४६।

२. इस ग्रंथ का पहला संस्करण कलकत्ते से सन् १८८० में प्रकाशित हुआ था। फिर आगमोदय समिति, भावनगर ने इसे प्रकाशित

पादिक ही कहना अधिक उचित है। इसमें ४३ सूत्र हैं। अभयदेवसूरि ने प्राचीन टीकाओं के आधार पर वृत्ति लिखी है, जिसका संशोधन अणहिलपाटण के निवासी द्रोणाचार्य ने किया। ग्रंथ का आरंभ चम्पा के वर्णन से होता है—

तेणं कालेणं तेणं समएणं चंपा नाम नयरी होत्था, रिद्धत्थिमियसमिद्धा पमुइयजणजाणवया आइण्णजणमणुस्सा हलसयसहस्ससंकिट्ठविकिट्ठलट्ठपण्णत्तसेउसीमा कुक्कुडसंडेअगामपउरा उच्छुजवसालिकलिया गोमहिसगवेलगप्पभूता आयारवंतचेइयजुवइविविहसण्णिविट्ठबहुला उक्कोडियगायगंठिभेयगभडतक्करखंडरक्खरहिया खेमा णिरुवद्दवा सुभिक्खा वीसत्थसुहावासा अणेगकोडिकुडुंबियाइण्णणिव्वुयसुहा णडणट्टगजल्लमल्लमुट्ठियवेलंबयकहगपवगलासगआइक्खगलंखमंखतूणइल्लतुंबवीणियअणेगतालायराणुचरिया आरामुज्जाणअगडतलागदीहियवप्पिणिगुणोववेया नंदणवणसन्निभप्पगासा। उव्विद्धविउलगंभीरखायफलिहा चक्कगयमुसुंढिओरोहसयग्घिजमलकवाडघणदुप्पवेसा धणुकुडिलवंकपागारपरिक्खित्ता कविसीसयवट्टरइयसंठियविरायमाणा अट्टालयचरियदारगोपुरतोरणउण्णयसुविभत्तरायमग्गा छेयायरियरइयदढफलिहइंदकीला। विवणिवणिच्छेत्तसिप्पियाइण्णणिव्वुयसुहा सिंघाडगतिगचउक्कचच्चरपणियावणविविहवत्थुपरिमंडिया सुरम्मा नरवइपविइण्णमहिवइपहा अणेगवरतुरगमत्तकुंजररहपहकरसीयसंदमाणीयाइण्णजाणजुग्गा विमउलणवणलिणिसोभियजला पंडुरवरभवणसण्णिमहिया उत्ताणणयणपेच्छणिज्जा पासादीया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा।

—उस काल में, उस समय में चम्पा नाम की नगरी थी। वह ऋद्धियुक्त, भयवर्जित और धन-धान्य आदि से समृद्ध थी। यहाँ

किया। तीसरा संस्करण पंडित भूरालाल कालिदास ने वि० सं० १९१४ में सूरत से प्रकाशित किया। अखिलभारतीय श्वेताम्बर स्थानकवासी जैनशास्त्रोद्धारसमिति, राजकोट से सन् १९५९ में हिन्दी-गुजराती अनुवाद सहित इसका एक और संस्करण निकला है।

के लोग बड़े आनन्दपूर्वक रहते थे। जनसमूह से यह आकीर्ण थी। यहाँ की सीमा सैकड़ों-हजारों हलों से खुदी हुई थी, और बीज बोने योग्य थी। गाँव बहुत पास-पास थे। यहाँ ईख, जौ और धान की प्रचुर खेती होती थी। गाय, भैंस, और भेड़ प्रचुर संख्या में थीं। यहाँ सुंदराकार चैत्य और वेश्याओं के अनेक सन्निवेश थे। रिश्वतखोर, गँठकटे, चोर, डाकू और कर लेनेवाले शुल्कपालों का अभाव था। यह नगरी उपद्रवरहित थी, यहाँ पर्याप्त भिक्षा मिलती थी और लोग विश्वासपूर्वक आराम से रहते थे। यहाँ अनेक कौटुंबिक बसते थे। इस नगरी में अनेक नट, नर्तक, रस्सी पर खेल करनेवाले, मल्ल, मुष्टि से प्रहार करने-वाले, विदूषक, तैराक, गायक, ज्योतिषी, बाँस पर खेल करनेवाले, चित्रपट दिखाकर भिक्षा माँगनेवाले, तूणा बजानेवाले, वीणा-वादक और ताल देनेवाले लोग बसते थे। यह नगरी आराम, उद्यान, तालाब, बावड़ी आदि के कारण नंदनवन के समान प्रतीत होती थी। विशाल और गंभीर खाई से यह युक्त थी। चक्र, गदा, मुसुंढि, उरोह (छाती को चोट पहुँचानेवाला), शतघ्नी तथा निश्छिद्र कपाटों के कारण इसमें शत्रु प्रवेश नहीं कर सकता था। यहाँ वक्र प्राकार बने हुए थे। यह गोल कपिशीर्षक (कँगूरे), अटारी, चरिका (घर और प्राकार के बीच का मार्ग), द्वार, गोपुर, तोरण आदि से रम्य थी। इस नगर की अर्गला (मूसल) और इन्द्रकील (ओट) चतुर शिल्पियों द्वारा निर्मित किये गये थे। यहाँ के बाजार और हाट शिल्पियों से आकीर्ण थे। शृंगाटक, त्रिक, चतुष्क और चत्वर बिक्री के योग्य वस्तुओं और दूकानों से मंडित थे। राजमार्ग राजाओं के गमनागमन से आकीर्ण थे। अनेक सुंदर घोड़े, हाथी, रथ, पालकी, गाड़ी आदि यहाँ की परम शोभा थी। यहाँ के तालाब कमलिनियों से शोभित थे। अनेक सुन्दर भवन यहाँ बने हुए थे। चम्पा नगरी बड़ी प्रेक्षणीय, दर्शनीय और मनोहारिणी थी।

चम्पा नगरी के उत्तर पूर्व में पूर्णभद्र नाम का एक सुप्रसिद्ध

चैत्य था जो एक वनखंड से शोभित था। इस वनखंड में अनेक प्रकार के वृक्ष लगे थे। चंपा में राजा भंभसार (बिंबसार) का पुत्र कूणिक (अजातशत्रु) राज्य करता था। एक बार श्रमण भगवान् महावीर अपने शिष्यसमुदाय के साथ विहार करते हुए चंपा में आये और पूर्णभद्र चैत्य में ठहरे। अपने वार्ता-निवेदक से महावीर के आगमन का समाचार पाकर कूणिक बहुत प्रसन्न हुआ और अपने अन्तःपुर की रानियों आदि के साथ महावीर का धर्म श्रवण करने के लिये चल पड़ा। महावीर ने निर्ग्रंथ प्रवचन का उपदेश दिया।

उस समय महावीर के ज्येष्ठ शिष्य गौतम इन्द्रभूति वहीं पास में ध्यान में अवस्थित थे। महावीर के समीप उपस्थित हो उन्होंने जीव और कर्म के संबंध में अनेक प्रश्न किये। इन प्रश्नों का उत्तर देते हुए महावीर ने दण्ड के प्रकार, विधवा स्त्रियों, व्रती और साधुओं, गंगातट पर रहनेवाले वानप्रस्थी तापसों, श्रमणों, ब्राह्मण और क्षत्रिय परिव्राजकों, अम्मड परिव्राजक और उसके शिष्यों, आजीविक तथा अन्य श्रमणों और निह्नवों का विवेचन किया। जन्म-संस्कारों और ७२ कलाओं का उल्लेख भी यहाँ किया गया है। अन्त में सिद्धशिला का वर्णन है।

रायपसेणइय (राजप्रश्नीय)

राजप्रश्नीय की गणना प्राचीन आगमों में की जाती है[1]। इसके दो भाग हैं जिनमें २१७ सूत्र हैं। मलयगिरि (ईसवी

---

१. नन्दीसूत्र में इसे रायपसेणिय कहा गया है। मलयगिरि ने रायपसेणीअ नाम स्वीकार किया है। डाक्टर विंटरनीज़ के अनुसार मूल में इस आगम में राजा प्रसेनजित् की कथा थी, बाद में प्रसेनजित् के स्थान में पएस लगाकर प्रदेशी से इसका सम्बन्ध जोड़ने की कोशिश की गयी। आगमोदयसमिति ने इसे १९२५ में प्रकाशित किया था। गुजराती अनुवाद के साथ इसका सम्पादन पंडित बेचरदास जी ने किया है जो वि० संवत् १९९४ में अहमदाबाद से प्रकाशित हुआ है।

सन् की १२वीं शताब्दी) ने इसकी टीका लिखी है। पहले भाग में सूर्याभदेव के विमान का विस्तृत वर्णन है। सूर्याभदेव अपने परिवारसहित महावीर के दर्शनार्थ जाता है, उनके समक्ष उपस्थित होकर नृत्य करता है और नाटक रचाता है। दूसरे भाग में पार्श्वनाथ के प्रमुख शिष्य केशीकुमार और श्रावस्ती के राजा प्रदेशी के बीच आत्मासंबंधी विशद चर्चा की गई है।[1] अन्त में प्रदेशी केशीकुमार के मत को स्वीकार कर उनके धर्म का अनुयायी बन जाता है।

औपपातिक सूत्र की भाँति इस ग्रन्थ का आरंभ आमलकप्पा नगरी के वर्णन से होता है। इस नगरी के उत्तर-पूर्व में आम्रशालवन नाम का चैत्य था, जिसके चारों ओर एक सुंदर उद्यान था।

चंपा नगरी में सेय नाम का राजा राज्य करता था। एक बार महावीर अनेक श्रमण और श्रमणियों के साथ विहार करते हुए आमलकप्पा पधारे और आम्रशालवन में ठहर गये। राजा सेय अपने परिवारसहित महावीर के दर्शनार्थ गया। महावीर ने धर्मोपदेश दिया।

सौधर्म स्वर्ग में रहनेवाले सूर्याभदेव को जब महावीर के आगमन की सूचना मिली तो वह अपनी पटरानियों आदि के साथ विमान में आरूढ़ हो आमलकप्पा जा पहुँचा। सूर्याभदेव ने महावीर से कुछ प्रश्न किये और फिर उन्हें ३२ प्रकार के नाटक दिखाये। विमान की रचना के प्रसंग में यहाँ वेदिका, सोपान, प्रतिष्ठान, स्तंभ, फलक, सूचिका, तथा प्रेक्षागृह, वाद्य और नाटकों के अभिनय आदि का वर्णन है जो स्थापत्यकला, संगीतकला और नाट्यकला की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।[2] इस

---

१. मिलाइये दीघनिकाय के पायासिसुत्त के साथ।

२. यहाँ वर्णित ईहामृग, वृषभ, घोड़ा, मनुष्य, मगर, पक्षी, सर्प, किन्नर, शरभ, चमरी गाय, हाथी, वनलता और पद्मलता के मोटिफ़ (अभिप्राय) ईसवी सन् की पहली-दूसरी शताब्दी की मथुरा की

प्रसंग में यहाँ पुस्तकसंबंधी डोर, गाँठ, दावात (लिप्पासन), ढक्कन, श्याही, लेखनी और पुट्ठे (कंबिया) का उल्लेख है।

दूसरे भाग में राजा प्रदेशी और कुमारश्रमण केशी का सरस संवाद आता है। सेयविया नगरी में राजा प्रदेशी नाम का कोई राजा राज्य करता था। उसके सारथी का नाम चित्त था। चित्त शाम, दाम, दण्ड और भेद में कुशल था, इसलिये प्रदेशी उसे बहुत मानता था। एक बार चित्त सारथी श्रावस्ती के राजा जितशत्रु के पास कोई भेंट लेकर गया। वहाँ उसने पार्श्वनाथ के अनुयायी केशी नामक कुमारश्रमण के दर्शन किये। केशीकुमार ने चातुर्याम धर्म (प्राणातिपातविरमण, मृषावादविरमण, अदत्तादानविरमण और बहिद्धादानविरमण) का उपदेश दिया। कुछ समय बाद जब चित्त सारथी सेयविया लौटने लगा तो उसने केशीकुमार को सेयविया पधारने का निमंत्रण दिया।

समय बीतने पर केशीकुमार विहार करते हुए श्रावस्ती से सेयविया पधारे। अवसर पाकर चित्त सारथी किसी बहाने से राजा प्रदेशी को उनके दर्शन के लिये लिवा ले गया। राजा प्रदेशी ने जीव और शरीर को एक सिद्ध करने के लिये बहुत-सी युक्तियाँ दीं, केशीकुमार ने उनका निराकरण कर जीव और शरीर को भिन्न सिद्ध किया—

तए णं केसी कुमारसमणे पएसिं रायं एवं वयासी—

"पएसी, से जहानामए कूडागारसाला सिया दुहओलित्ता गुत्ता, गुत्तदुआरा निवायगंभीरा। अहं णं केइ पुरिसे भेरिं च दण्डं च गहाय कूडागारसालाए अन्तो अन्तो अणुपविसइ। अणुपवि-

---

स्थापत्य कला में चित्रित हैं। वाद्यों के सम्बन्ध में काफी गड़बड़ी मालूम होती है। मूलपाठ में इनकी संख्या ४९ कही गई है, लेकिन वास्तविक संख्या ५९ है। बहुत से वाद्यों का स्वरूप अस्पष्ट है। टीकाकार के अनुसार नाट्यविधियों का उल्लेख चौदह पूर्वों के अन्तर्गत नाट्यविधि नामक प्राभृत में मिलता है, लेकिन यह प्राभृत विच्छिन्न है।

सित्ता तीसे कूडागारसालाए सव्वओ समन्ता घणनिचियनिरन्तर-निच्छिड्डाइं दुवारवयणाइं पिहेइ। तीसे कूडागारसालाए बहुमज्झदेसभाए ठिच्चा तं भेरिं दण्डएण महया-महया सद्देणं तालेज्जा। से नूणं पएसी, से सद्दे णं अन्तोहिंतो बहिया निग्गच्छइ ?"

"हन्ता निग्गच्छइ।"

"अत्थि णं पएसी, तीसे कूडागारसालाए केइ छिड्डे वा जाव राई वा जओ णं से सद्दे अन्तोहिंतो बहिया निग्गए ?"

"नो इणट्ठे समट्ठे।"

"एवामेव, पएसी, जीवे वि अप्पडिहयगई पुढविं भिच्चा सिलं पव्वयं भिच्चा अन्तोहिंतो बहिया निग्गच्छइ। तं सद्दहाहि णं तुमं, पएसी, अन्नो जीवो अन्नं सरीरं, नो तं जीवो तं सरीरं।"

—कुमारश्रमण केशी ने राजा प्रदेशी से कहा—

"प्रदेशी ! कल्पना करो कोई कूटागारशाला दोनों ओर से लिपी-पुती है, और उसके द्वार चारों ओर से बन्द हैं, जिससे उसमें वायु प्रवेश न कर सके। अब यदि कोई पुरुष भेरी और बजाने का डंडा लेकर उसके अन्दर प्रवेश करे, और प्रवेश करने के बाद द्वारों को खूब अच्छी तरह बन्द कर ले, फिर उसमें बैठकर ज़ोर-ज़ोर से भेरी बजाये, तो क्या हे प्रदेशी ! वह शब्द बाहर सुनाई देगा ?"

"हाँ, वह शब्द बाहर सुनाई देगा।"

"क्या कूटागारशाला में कोई छिद्र है जिससे शब्द निकल कर बाहर चला जाता है ?"

"नहीं, ऐसी बात नहीं है।"

"इसी प्रकार, हे प्रदेशी ! जीव की गति कोई नहीं रोक सकता। वह पृथ्वी, शिला और पर्वत को भेदकर बाहर चला जाता है। इसलिये तुम्हें इस बात पर विश्वास करना चाहिये कि जीव भिन्न है और शरीर भिन्न है, तथा जीव और शरीर एक नहीं हो सकते।"

यहाँ कंबोजदेश के घोड़ों; क्षत्रिय, गृहपति, ब्राह्मण और ऋषि नाम की चार परिषद्; कला, शिल्प और धर्म आचार्य नाम के तीन आचार्य; शास्त्र, अग्नि, मंत्र और विष द्वारा मारण के उपाय तथा ७२ कलाओं का उल्लेख है।

जीवाजीवाभिगम

पक्खिय और नंदीसूत्र में जीवाजीवाभिगम की गणना उक्कालिय सूत्रों में की गई है। इसमें गौतम गणधर और महावीर के प्रश्न-उत्तर के रूप में जीव और अजीव के भेद-प्रभेदों का विस्तृत वर्णन है।[1]

प्राचीन परंपरा के अनुसार इसमें बीस विभाग थे। मलयगिरि ने इस पर टीका लिखी है। उनके अनुसार इस उपांग में अनेक स्थलों पर वाचनाभेद हैं और बहुत से सूत्र विच्छिन्न हो गये हैं। हरिभद्र और देवसूरि ने इस पर लघु वृत्तियाँ लिखी हैं। इस सूत्र पर एक-एक चूर्णी भी है जो अप्रकाशित है। प्रस्तुत सूत्र में नौ प्रकरण (प्रतिपत्ति) हैं जिनमें २७२ सूत्र हैं। तीसरा प्रकरण सबसे बड़ा है जिसमें देवों तथा द्वीप और सागरों का विस्तृत वर्णन है। इस प्रकरण में रत्न, अस्त्र, धातु, मद्य,[2] पात्र,

---

१. मलयगिरि की टीका सहित देवचन्द लालभाई, निर्णयसागर, बम्बई से सन् १९१९ में प्रकाशित।

२. यहाँ चन्द्रप्रभा (चन्द्रमा के समान रंगवाली), मणिशलाका, वरसीधु, वरवारुणी, फलनिर्यासस्सार (फलों के रस से तैयार की हुई), पत्रनिर्यासस्सार, पुष्पनिर्यासस्सार, चोयनिर्यासस्सार, बहुत द्रव्यों को मिला कर तैयार की हुई, संध्या के समय तैयार हो जानेवाली, मधु, मेरक, रिष्ठ नामक रत्न के समान वर्णवाली, दुग्धजाति (पीने में दूध के समान लगनेवाली), प्रसन्ना, नेल्लक, शतायु (सौ बार शुद्ध करने पर भी जैसी की तैसी रहनेवाली), खर्जूरसार, मृद्वीकासार (द्राक्षासव), कापिशायन, सुपक्क और खोदरस (ईख के रस को पकाकर तैयार की हुई) नामक मद्यों के प्रकार बताये गये हैं। रामायण और महाभारत

आभूषण, भवन, वस्त्र, मिष्टान्न, दास, त्योहार, उत्सव, यान, कलह और रोग आदि के प्रकारों का उल्लेख है। जम्बूद्वीप के वर्णन-प्रसंग में पद्मवरवेदिका की दहलीज़ (नेम), नींव (प्रतिष्ठान), खंभे, पटिये, साँधे, नली, छाजन आदि का उल्लेख किया है जो स्थापत्यकला की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इसी प्रसंग में उद्यान वापी, पुष्पकरिणी, तोरण, अष्टमंगल, कदलीघर, प्रसाधनघर, आदर्शघर, लतामंडप, आसन, शालभंजिका,[1] सिंहासन और सुधर्मा सभा आदि का वर्णन है।

पन्नवणा (प्रज्ञापना)

प्रज्ञापना में ३४९ सूत्र हैं जिनमें प्रज्ञापना, स्थान, लेश्या, सम्यक्त्व, समुद्घात आदि ३६ पदों का प्रतिपादन है।[2] ये पद गौतम इन्द्रभूति और महावीर के प्रश्नोत्तरों के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं। जैसे अंगों में भगवतीसूत्र, वैसे ही उपांगों में प्रज्ञापना सबसे बड़ा है। इसके कर्ता वाचकवंशीय पूर्वधारी आर्यश्याम हैं जो सुधर्मा स्वामी की तेइसवीं पीढ़ी में हुए और महावीर-निर्वाणके ३७६ वर्ष बाद मौजूद थे। हरिभद्रसूरि ने इस पर विषम पदों की व्याख्या करते हुए प्रदेशव्याख्या नाम

में मद्य के प्रकारों का उल्लेख है। मनुस्मृति (११-९४) में नौ प्रकार के मद्य बताये गये हैं। देखिये आर० एल० मित्र, इण्डो-आर्यन, जिल्द १, पृ० ३९६ इत्यादि, जगदीशचन्द्र जैन, लाइफ इन ऐंशियेण्ट इण्डिया, पृ० १२४-२६। सम्मोहविनोदिनी अट्ठकथा (पृ० ३८१) में पाँच प्रकार की सुरा बताई गई है।

१. अवदानशतक (६, ५२, पृष्ठ ३०२) में श्रावस्ती में शाल-भंजिका त्योहार मनाने का वर्णन है।

२. मलयगिरि की टीकासहित निर्णयसागर प्रेस, बम्बई १९१८–१९१९ में प्रकाशित। पंडित भगवानदास हर्षचन्द्र ने मूल ग्रन्थ और टीका का गुजराती अनुवाद अहमदाबाद से वि० संवत् १९९१ में तीन भागों में प्रकाशित किया है।

की लघुवृत्ति लिखी है।[1] उसी के आधार पर मलयगिरि ने प्रस्तुत टीका लिखी है। कुलमंडन ने इस पर अवचूरि की रचना की है। यहाँ पर भी अनेक पाठभेदों का उल्लेख है। टीकाकार ने बहुत से शब्दों की व्याख्या न करके उन्हें 'सम्प्रदायगम्य' कहकर छोड़ दिया है। पहले पद में पृथिवी, जल, अग्नि, वायु तथा वृक्ष, बीज, गुच्छ, लता, तृण, कमल, कंद, मूल, मगर, मत्स्य,[2] सर्प, पशु, पक्षी आदि का वर्णन है। अनार्यों में शक, यवन, किरात, शबर, बर्बर आदि म्लेच्छ जातियों का उल्लेख है। आर्य क्षेत्रों में २५½[3] देशों का; जाति-आर्यों में अंबष्ठ, विदेह

---

१. ऋषभदेव केशरीमल संस्था की ओर से सन् १९४७ में रतलाम से प्रकाशित।

२. यहाँ सूत्र ३३ में सण्ह, खवल्ल (आधुनिक केवइ), जुंग, (झिंगा), विज्झडिय, हलि, मगरि (मंगूरी), रोहिय (रोहू), हलीमागरा, गागरा, वडा, वडगरा (बुल्ला), गब्भया, उसगारा, तिमितिमिंगिला (बरारी), णक्का, तंदुला, कणिक्का (कनई), मालिसत्थिया, लंभण, पडागा और पडागाइपडागा मछलियों के नाम दिये हैं। मच्छखल का उल्लेख आचारांग (२, १, १, ४) में मिलता है। इसे धूप में सुखाकर भोज आदि के अवसर पर काम में लेते थे। उत्तराध्ययन (१९.६४) तथा विपाकसूत्र (८, पृष्ठ ४७) में मछली पकड़ने के अनेक प्रकारों का उल्लेख है। अंगविज्जा (अध्याय ५०, पृष्ठ २२८) भी देखिये। धनपाल ने पाइअलच्छीनाममाला (६०) में सउला (सउरी), सहरा, मीणा, तिमी, झसा और अणमिसा का उल्लेख किया है। खासकर उत्तर बिहार में मछलियों की सैकड़ों किस्में पाई जाती हैं जिनमें रोहू, बरारी, नैनी, भकुरा, पटया आदि मुख्य हैं।

३. १ मगध (राजगृह), २ अंग (चम्पा), ३ वंग (ताम्रलिप्ति), ४ कलिंग (कांचनपुर), ५ काशी (वाराणसी), ६ कोशल (साकेत), ७ कुरु (गजपुर), ८ कुशावर्त (शौरिपुर), ९ पांचाल (कांपिल्यपुर), १० जांगल (अहिच्छत्रा), ११ सौराष्ट्र (द्वारवती), १२ विदेह (मिथिला),

आदि का ; कुल-आर्यों में उग्र, भोग, आदि का ; कर्म-आर्यों में कपास, सूत, कपड़ा आदि बेचनेवालों का, और शिल्प-आर्यों में बुनकर, पटवे, चित्रकार, मालाकार आदि का उल्लेख किया गया है। अर्धमागधी बोलनेवालों को भाषा-आर्य कहा है। इसी प्रसंग में ब्राह्मी, यवनानी, खरोष्ट्री, अंकलिपि, आदर्शलिपि आदि का उल्लेख है।

भाषा नाम के ग्यारहवें पद का विवेचन उपाध्याय यशोविजय जी ने किया है, जिसका गुजराती भावार्थ पंडित भगवानदास हर्षचन्द्र ने प्रज्ञापनासूत्र द्वितीय खंड में दिया है।

सूरियपन्नत्ति (सूर्यप्रज्ञप्ति)

सूर्यप्रज्ञप्ति[1] पर भद्रबाहु ने निर्युक्ति लिखी थी जो कलिकाल के दोष से आजकल उपलब्ध नहीं है। इस पर मलयगिरि ने टीका लिखी है। इस ग्रन्थ में सूर्य, चन्द्र और नक्षत्रों की गति आदि का १०८ सूत्रों में, २० प्राभृतों में विस्तारसहित वर्णन है। बीच-बीच में ग्रन्थकार ने इस विषय की अन्य मान्यताओं का भी

१३ वत्स (कौशांबी), १४ शांडिल्य (नन्दिपुर), १५ मलय (भद्रिल-पुर), १६ मत्स्य (वैराट), १७ वरणा (अच्छा), १८ दशार्ण (मृत्ति-कावती), १९ चेदि (शुक्ति), २० सिन्धु-सौवीर (वीतिभय), २१ शूरसेन (मथुरा), २२ भंगि (पापा), २३ वट्टा (मासपुरी ?), २४ कुणाल (श्रावस्ति), २५ लाढ़ (कोटिवर्ष), २५½ केकयीअर्ध (श्वेतिका)। इनकी पहचान के लिये देखिये जगदीशचन्द्र जैन, लाइफ इन ऐंशियेण्ट इण्डिया, पृष्ठ २५०-५६।

१. यह ग्रन्थ मलयगिरि की टीकासहित आगमोदयसमिति, निर्णयसागर प्रेस, बंबई १९१९ में प्रकाशित हुआ है। बिना टीका के मूल ग्रन्थ को समझना कठिन है। वेबर ने इस पर 'उबेर डी सूर्यप्रज्ञप्ति' नामक निबन्ध सन् १८६८ में प्रकाशित किया था। डॉक्टर आर० शाम-शास्त्री ने इस उपांग का संक्षिप्त अनुवाद 'ए ब्रीफ़ ट्रान्सलेशन ऑव महावीरज़ सूर्यप्रज्ञप्ति' नाम से किया है, यह देखने में नहीं आ सका।

उल्लेख किया है। पहले प्राभृत में दो सूर्यों का उल्लेख है।[1] जब सूर्य दक्षिण, पश्चिम, उत्तर और पूर्व दिशाओं में घूमता है तो मेरु के दक्षिण, पश्चिम, उत्तर और पूर्ववर्ती प्रदेशों में दिन होता है। भ्रमण करते हुए दोनों सूर्यों में परस्पर कितना अंतर रहता है, कितने द्वीप-समुद्रों का अवगाहन करके सूर्य भ्रमण करता है, एक रात-दिन में वह कितने क्षेत्र में घूमता है आदि का वर्णन इस प्राभृत में किया गया है। दूसरे प्राभृत में सूर्य के उदय और अस्त का वर्णन है। इस संबंध में अन्य अनेक मान्यताओं का उल्लेख है। तीसरे प्राभृत में चन्द्र-सूर्य द्वारा प्रकाशित द्वीप-समुद्रों का वर्णन है। चौथे प्राभृत में चन्द्र-सूर्य के आकार आदि का प्रतिपादन है। छठे प्राभृत में सूर्य के ओज का कथन है। दसवें प्राभृत में नक्षत्रों के गोत्र आदि का उल्लेख है। इनमें मौद्गल्यायन, सांख्यायन, गौतम, भारद्वाज, वासिष्ठ, काश्यप, कात्यायन आदि गोत्र मुख्य हैं। कौन से नक्षत्र में कौन सा भोजन लाभकारी होता है, इसका वर्णन है। पूर्वाफाल्गुनी में मेढ़क का, उत्तराफाल्गुनी में नखवाले पशुओं का और रेवती में जलचर का मांस लाभकारी बताया है। अठारहवें अध्याय में सूर्य-चन्द्र के परिभ्रमण का वर्णन है। बाईसवें अध्याय में नक्षत्रों की सीमा, विष्कंभ आदि का प्रतिपादन है। तेरहवें प्राभृत में चन्द्रमा की हानि-वृद्धि का उल्लेख है।

जम्बुद्दीवपन्नत्ति (जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति)

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति पर मलयगिरि ने टीका लिखी थी, लेकिन वह नष्ट हो गई। तत्पश्चात् इस पर कई टीकायें लिखी गईं।

---

१. भास्कर ने अपने सिद्धांतशिरोमणि और ब्रह्मगुप्त ने अपने स्फुट-सिद्धांत में जैनों की दो सूर्य और दो चन्द्र की मान्यता का खंडन किया है। लेकिन डॉक्टर थीबो ने बताया है कि ग्रीक लोगों के भारतवर्ष में आने के पहले जैनों का उक्त सिद्धांत सर्वमान्य था। देखिये जरनल ऑव द एशियाटिक सोसाइटी ऑव बंगाल, जिल्द ४९, पृष्ठ १०७ आदि, १८१ आदि, 'आन द सूर्यप्रज्ञप्ति' नामक लेख।

धर्मसागरोपाध्याय ने वि० सं० १६३६ में टीका लिखी जिसे उन्होंने अपने गुरु हीरविजय के नाम से प्रसिद्ध किया। पुण्यसागरोपाध्याय ने वि० सं० १६४५ में इसकी टीका की रचना की; यह टीका अप्रकाशित है। उसके बाद बादशाह अकबर के गुरु हीरविजय सूरि के शिष्य शान्तिचन्द्रवाचक ने वि० सं० १६५० में प्रमेयरत्नमंजूषा नाम की टीका लिखी।[1] ब्रह्मर्षि ने एक दूसरी टीका लिखी, यह भी अप्रकाशित है। अनेक स्थानों पर त्रुटित होने के कारण प्रमेयरत्नमंजूषा टीका की पूर्ति जीवाजीवाभिगम आदि के पाठों से की गई है। यह ग्रन्थ दो भागों में विभाजित है—पूर्वार्ध और उत्तरार्ध। पूर्वार्ध में चार और उत्तरार्ध में तीन वक्षस्कार हैं जो १७६ सूत्रों में विभक्त हैं। पहले वक्षस्कार में जम्बूद्वीपस्थित भरतक्षेत्र (भारतवर्ष) का वर्णन है जो अनेक दुर्गम स्थान, पर्वत, गुफा, नदी, अटवी, श्वापद आदि से वेष्टित है, जहाँ अनेक तस्कर, पाखंडी, याचक आदि रहते हैं और जो अनेक विप्लव, राज्योपद्रव, दुष्काल, रोग आदि से आक्रान्त है। दूसरे वक्षस्कार में अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी का वर्णन करते हुए सुषमा-सुषमा, सुषमा, सुषमा-दुषमा, दुषमा-सुषमा, दुषमा और दुषमा-सुषमा नाम के छह कालों का विवेचन है। सुषमा-सुषमा काल में दस प्रकार के कल्पवृक्षों का वर्णन है जिनसे इष्ट पदार्थों की प्राप्ति होती है। सुषमा-दुषमा नाम के तीसरे काल में १५ कुलकरों का जन्म हुआ जिनमें नाभि कुलकर की मरुदेवी नाम की पत्नी से आदि तीर्थंकर ऋषभ उत्पन्न हुए। ऋषभ कोशल के निवासी थे, तथा वे प्रथम

---

१. यह ग्रन्थ शान्तिचन्द्र की टीका के साथ देवचन्द लालभाई ग्रन्थमाला में निर्णयसागर प्रेस, बंबई में १९२० में प्रकाशित हुआ है। इस ग्रन्थ की चूर्णी देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धार ग्रन्थांक ११० में छप रही है। कुछ मुद्रित फर्मे मुनि पुण्यविजयजी की कृपा से देखने को मुझे मिले। दिगम्बर आचार्य पद्मनन्दिमुनि ने भी जम्बुद्दीवपण्णत्ति की रचना की है। देखिये आगे चौथा अध्याय।

राजा, प्रथम जिन, प्रथम केवली, प्रथम तीर्थंकर और प्रथम धर्मवरचक्रवर्ती कहे जाते थे। उन्होंने ७२ कलाओं, स्त्रियों की ६४ कलाओं तथा अनेक शिल्पों का उपदेश दिया। तत्पश्चात् अपने पुत्रों का राज्याभिषेक कर श्रमणधर्म में दीक्षा ग्रहण की। तपस्वी-जीवन में उन्होंने अनेक उपसर्ग सहन किये। पुरिमताल नगर के उद्यान में उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हुई और वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी कहलाने लगे। अष्टापद (कैलाश) पर्वत पर उन्होंने सिद्धि प्राप्त की। उनकी अस्थियों पर चैत्य और स्तूप स्थापित किये गये। दुषमा-सुषमा नाम के चौथे काल में २३ तीर्थंकर, ११ चक्रवर्ती, ६ बलदेव और ६ वासुदेवों ने जन्म लिया। दुषमा काल में धर्म और चारित्र के, तथा दुषमा-दुषमा नामक छठे काल में प्रलय होने पर समस्त मनुष्य, पशु, पक्षी और वनस्पति के नाश होने का उल्लेख है। तीसरे वक्षस्कार में भरत चक्रवर्ती और उसकी दिग्विजय का विस्तृत वर्णन है।[1] इस अवसर पर भरत और किरातों की सेनाओं में घनघोर युद्ध का वर्णन किया गया है। अष्टापद पर्वत पर भरत चक्रवर्ती को निर्वाण प्राप्त हुआ। पाँचवें वक्षस्कार में तीर्थंकर के जन्मोत्सव का वर्णन है।

चन्दपन्नत्ति (चन्द्रप्रज्ञप्ति)

चन्द्रप्रज्ञप्ति का विषय सूर्यप्रज्ञप्ति से बिलकुल मिलता है।[2] इसमें २० प्राभृतों में चन्द्र के परिभ्रमण का वर्णन है। सूर्यप्रज्ञप्ति की भाँति इन प्राभृतों का वर्णन गौतम इन्द्रभूति और महावीर

---

१. तुलना के लिये विष्णुपुराण और भागवतपुराण (५) देखना चाहिये।

२. विंटरनीज़ के अनुसार मूलरूप में इस उपांग की गणना सूर्य-प्रज्ञप्ति से पहले की जाती थी और इसका विषय मौजूदा विषय से भिन्न था, हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, भाग २, पृष्ठ ४५७।

के प्रश्नोत्तरों के रूप में किया गया है। बीच-बीच में अन्य मान्यताओं का उल्लेख है। इस पर मलयगिरि ने टीका लिखी है। श्रीअमोलक ऋषि ने इसका हिन्दी अनुवाद किया है जो हैदराबाद से प्रकाशित हुआ है। स्थानांगसूत्र में चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति और द्वीपसागरप्रज्ञप्ति को अंगबाह्य श्रुत में गिना गया है।

निरयावलिया अथवा कप्पिया (कल्पिका)

निरवलिया श्रुतस्कंध में पाँच उपांग हैं—१. निरयावलिया अथवा कप्पिया (कल्पिका), २. कप्पवडंसिया (कल्पावतंसिका), ३. पुप्फिया (पुष्पिका), ४. पुप्फचूलिया (पुष्पचूलिका), ५. वण्हिदसा (वृष्णिदशा)।[1] श्रीचन्द्रसूरि ने इन पर टीका लिखी है। पहले ये पाँचों उपांग निरयावलिसूत्र (निरय+आवलि=नरक की आवलिका का जिसमें वर्णन हो) के नाम से कहे जाते थे, लेकिन आगे चलकर १२ उपांगों और १२ अंगों का संबंध जोड़ने के लिये इन्हें अलग-अलग गिना जाने लगा। राजगृह में विहार करते समय सुधर्मा नामक गणधर ने अपने शिष्य आर्य जम्बू के प्रश्नों का समाधान करने के लिये इन उपांगों का प्रतिपादन किया।

निरयावलिया सूत्र में दस अध्ययन हैं। पहले अध्ययन में कूणिक (अजातशत्रु) का जन्म, कूणिक का अपने पिता श्रेणिक (बिंबसार) को जेल में डालकर स्वयं राज्यसिंहासन पर बैठना, श्रेणिक की आत्महत्या, कूणिक का अपने छोटे भाई वेहल्लकुमार से सेचनक हाथी लौटाने के लिये अनुरोध, तथा कूणिक और वैशाली के गणराजा चेटक के युद्ध का वर्णन है—[2]

---

१. प्रोफेसर गोपाणी और चौकसी द्वारा संपादित, १९३८ में अहमदाबाद से प्रकाशित।

२. दीघनिकाय के महापरिनिब्बाणसुत्त में वज्जियों के विरुद्ध अजातशत्रु के युद्ध का वर्णन है।

तए णं से कूणिए कुमारे अन्नया कयाइ सेणियस्स रन्नो अंतरं जाणइ, जाणित्ता सेणियं रायं नियलबंधणं करेइ, करेत्ता अप्पाणं महया महया रायाभिसेएणं अभिसिंचावेइ। तए णं से कूणिए कुमारे राया जाए महया महया...। तए णं से कूणिए राया अन्नया कयाइ ण्हाए जाव सव्वालंकारविभूसिए चेल्लणाए देवीए पायवंदए हव्वमागच्छइ। तए णं से कूणिए राया चेल्लणं देविं ओहय० जाव झियायमाणिं पासइ, पासित्ता चेल्लणाए देवीए पायग्गहणं करेइ, करेत्ता चेल्लणं देविं एवं वयासि—किं णं अम्मो, तुम्हं न तुट्ठी वा न ऊसए वा न हरिसे वा नाणंदे वा? जं णं अहं सयमेव रज्जसिरिं जाव विहरामि। तए णं सा चेल्लणा देवी कूणियं रायं एवं वयासि—कहण्णं पुत्ता, ममं तुट्ठी वा उस्सए हरिसे वा आणंदे वा भविस्सइ? जं णं तुमं सेणियं रायं पियं देवयं गुरुजणगं अच्चंतनेहाणुरागरत्तं नियलबंधणं करित्ता अप्पाणं महया रायाभिसेएणं अभिसिंचावेसि। तए णं से कूणिए राया चिल्लणं देविं एवं वयासी—घाएउकामे णं अम्मो, मम सेणिए राया, एवं मारेउं बंधिउं निच्छुभिउकामए णं अम्मो, ममं सेणिए राया, तं कहन्नं अम्मो ममं सेणिए राया अच्चंतनेहाणुरागरत्ते? तए णं सा चेल्लणा देवी कूणियं कुमारं एवं वयासी—एवं खलु पुत्ता, तुमंसि मम गब्भे आभूये समाणे तिण्हं मासाणं बहुपडिपुन्नाणं ममं अमेयारूवे दोहले पाउब्भूए—धन्नाओ णं ताओ अम्मयाओ जाव अंगपडिचारियाओ निरवसेसं भाणियव्वं जाव जाहे वि य णं तुमं वेयणाए अभिभूए महया जाव तुसिणीए संचिट्ठसि एवं खलु तव पुत्ता, सेणिये राया अच्चंतनेहाणुरागरत्ते। तए णं कूणिए राया चेल्लणाए देवीए अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म चिल्लणं देविं एवं वयासि—दुट्ठुं णं अम्मो, मए कयं, सेणियं रायं पियं देवयं गुरुजणगं अच्चंतनेहाणुरागरत्तं नियलबंधणं करंतेणं, तं गच्छामि णं सेणियस्स रन्नो सयमेव नियलाणि छिंदामि त्ति कट्टु परसुहत्थगए जेणेव चारगसाला तेणेव पहारित्थ गमणाए।

—इसके बाद कूणिक कुमार ने राजा के दोषों का पता लगाकर उसे बेड़ी में बँधवा दिया और बड़े ठाठ-बाट से अपना राज्याभिषेक किया। एक दिन वह स्नान कर और अलंकारों से विभूषित हो चेलना रानी के पाद-वंदन करने के लिये गया। उसने देखा कि चेलना किसी सोच-विचार में बैठी हुई है। कूणिक ने चेलना के चरणस्पर्श कर प्रश्न किया—"माँ, अब तो मैं राजा बन गया हूँ, फिर तुम क्यों सन्तुष्ट नहीं हो?" चेलना ने उत्तर दिया—"बेटे, तू ने तुझसे स्नेह करनेवाले देवतुल्य अपने पिता को जेल में डाल दिया है, फिर भला मुझे कैसे संतोष हो सकता है?" कूणिक ने कहा—"माँ, वह मेरी हत्या करना चाहता था, मुझे देशनिकाला देना चाहता था, फिर तुम कैसे कहती हो कि वह मुझसे स्नेह करता था?" चेलना ने उत्तर दिया—"बेटे, तू नहीं जानता कि जब तू गर्भ में आया तो मुझे तेरे पिता के उदर का मांस भक्षण करने का दोहद हुआ।[1] उस समय तेरे पिता को हानि पहुँचाये बिना अभयकुमार की कुशल युक्ति से मेरी इच्छा पूरी की गई। तेरे पैदा होने पर तुझे अपशकुन जान कर मैंने तुझे कूड़ी पर फिंकवा दिया। वहाँ मुर्गे की पूँछ से तेरी उँगली में चोट लग जाने के कारण तेरी उँगली में वेदना होने लगी। उस समय तेरी वेदना शान्त करने के लिये तेरे पिता तेरी दुखती हुई उँगली को अपने मुँह में डालकर चूस लेते जिससे तेरा दर्द शान्त हो जाता। इससे तू समझ सकता है कि राजा तुझे कितना प्यार करता था।" यह सुनकर कूणिक को अपने किये पर बहुत पश्चात्ताप हुआ, और वह हाथ में कुठार ले अपने पिता के बंधन काटने के लिये जेल की ओर चल दिया।[2]

---

१. बौद्धों के अनुसार राजा के दाहिने घुटने का रक्तपान करने का दोहद रानी को हुआ था (दीघनिकाय अट्ठकथा, १, पृष्ठ १३३ इत्यादि)।

२. बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार अजातशत्रु ने अपने पिता को तापन-गेह में रक्खा था, केवल उसकी माता ही उससे मिलने जा सकती थी।

कप्पवडंसिया (कल्पावतंसिका)

कल्पावतंसिका (कल्पावतंस अर्थात् विमानवासी देव) में दस अध्ययन हैं। इनमें राजा श्रेणिक के दस पौत्रों का वर्णन है।

पुप्फिया (पुष्पिका)

पुष्पिका में भी दस अध्ययन हैं। पहले और दूसरे अध्ययनों में चन्द्र और सूर्य का वर्णन है। तीसरे अध्ययन में सोमिल ब्राह्मण की कथा है। इस ब्राह्मण ने वानप्रस्थ तपस्वियों की दीक्षा ग्रहण की थी। वह दिशाओं का पूजक था तथा भुजायें ऊपर उठाकर सूर्याभिमुख हो तप किया करता था। चौथे अध्ययन में सुभद्रा नाम की आर्यिका की कथा है। संतान न होने के कारण सुभद्रा अत्यंत दुखी रहती। उसने सुव्रता के पास श्रमणदीक्षा ग्रहण कर ली। लेकिन आर्यिका होकर भी सुभद्रा बालकों से बहुत स्नेह करती थी। कभी वह उनका शृंगार करती, कभी गोदी में बैठाकर उन्हें खिलाती-पिलाती और उनसे क्रीड़ा किया करती थी। उसे बहुत समझाया गया लेकिन वह न मानी। दूसरे जन्म में वह किसी ब्राह्मण के कुल में उत्पन्न हुई और बच्चों के मारे उसकी नाक में दम हो गया।[1]

वह अपने बालों में भोजन छिपा कर ले जाने लगी, बाद में उसने अपने शरीर पर सुगंधित जल लगाना शुरू किया जिसे चाटकर राजा अपनी क्षुधा शान्त कर लेता था। अजातशत्रु को जब इस बात का पता लगा तो उसने अपनी माता का मिलना बन्द कर दिया। अजातशत्रु ने गुस्से में आकर राजा के पैरों को काट कर उसे तेल और नमक से तलवाया जिससे राजा की मृत्यु हो गई। इतने में अजातशत्रु को पुत्रजन्म का समाचार मिला। वह अपने पिता को तापनगेह से मुक्त करना चाहता था, लेकिन उसके तो प्राणों का अन्त हो चुका था! वही, पृष्ठ १३५ इत्यादि।

१. स्थानांगसूत्र के अनुसार इस अध्ययन में प्रभावती का वर्णन होना चाहिये था।

पुप्फचूला (पुष्पचूला)

इस उपांग में श्री, ह्री, धृति आदि दस अध्ययन हैं।

वण्हिदसा (वृष्णिदशा)

नन्दीचूर्णी के अनुसार यहाँ पर अंधग शब्द का लोप हो गया है, वस्तुतः इस उपांग का नाम अंधगवृष्णिदशा है। इसमें बारह अध्ययन हैं। पहले अध्ययन में द्वारवती (द्वारका) नगरी के राजा कृष्ण वासुदेव का वर्णन है। अरिष्टनेमि विहार करते हुए रैवतक पर्वत पर आये। कृष्ण वासुदेव हाथी पर सवार हो अपने दल-बल सहित उनके दर्शन के लिये गये। वृष्णिवंश के १२ पुत्रों ने अरिष्टनेमि के पास दीक्षा ग्रहण की।



दस पइण्णग (दस प्रकीर्णक)

नंदीसूत्र के टीकाकार मलयगिरि के अनुसार तीर्थंकर द्वारा उपदिष्ट श्रुत का अनुसरण करके श्रमण प्रकीर्णकों की रचना करते हैं, अथवा श्रुत का अनुसरण करके वचनकौशल से धर्म-देशना आदि के प्रसंग से श्रमणों द्वारा कथित रचनायें प्रकीर्णक कही जाती हैं। महावीर के काल में प्रकीर्णकों की संख्या १४,००० बताई गई है। आजकल मुख्यतया निम्नलिखित दस प्रकीर्णक उपलब्ध हैं—चउसरण (चतुःशरण), आउरपच्चक्खाण (आतुरप्रत्याख्यान), महापच्चक्खाण (महाप्रत्याख्यान), भत्त-परिण्णा (भक्तपरिज्ञा), तन्दुलवेयालिय (तन्दुलवैचारिक), संथारग (संस्तारक), गच्छायार (गच्छाचार), गणिविज्जा (गणिविद्या), देविंदथय (देवेन्द्रस्तव) मरणसमाही (मरण-समाधि)।[1]

चउसरण (चतुःशरण)

चतुःशरण को कुसलाणुबंधि अज्झयण भी कहा है। इसमें ६३ गाथायें हैं। अरिहंत, सिद्ध, साधु और जिनदेशित धर्म को एकमात्र शरण माना गया है, इसलिये इस प्रकीर्णक को चतुःशरण कहा जाता है। यहाँ दुष्कृत की निन्दा और सुकृत के प्रति अनुराग व्यक्त किया है। इस प्रकीर्णक को त्रिसंध्य ध्यान करने योग्य कहा है। अन्तिम गाथा में वीरभद्र का उल्लेख होने

---

१. कुछ लोग मरणसमाही और गच्छायार के स्थान पर चन्दाविज्झय (चन्द्रावेध्यक) और वीरत्थव को दस प्रकीर्णकों में मानते हैं। अन्य देविंदथय और वीरत्थव को मिला देते हैं, तथा संथारग को नहीं गिनते और इनकी जगह गच्छायार और मरणसमाही का उल्लेख करते हैं। चउसरण आदि दस प्रकीर्णक आगमोदय समिति की ओर से १९२७ में प्रकाशित हुए हैं।

से यह रचना वीरभद्रकृत मानी जाती है। इस पर भुवनतुंग की वृत्ति और गुणरत्न की अवचूरि है।

आउरपच्चक्खाण (आतुरप्रत्याख्यान)

इसे बृहदातुरप्रत्याख्यान भी कहा है। इसमें ७० गाथायें हैं। दस गाथाओं के बाद का कुछ भाग गद्य में है। यहाँ बालमरण और पंडितमरण के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन है। प्रत्याख्यान को शाश्वत गति का साधक बताया है। इसके कर्ता भी वीरभद्र माने जाते हैं।[1] इस पर भी भुवनतुङ्ग ने वृत्ति और गुणरत्न ने अवचूरि लिखी है।

महापच्चक्खाण (महाप्रत्याख्यान)

इसमें १४२ गाथायें हैं जिसमें से कुछ अनुष्टुप् छन्द में हैं। यहाँ दुश्चरित्र की निन्दा की गई है। एकत्व भावना, माया का त्याग, संसार-परिभ्रमण, पंडितमरण, पुद्गलों से अतृप्ति, पाँच महाव्रत, दुष्कृतनिन्दा, वैराग्य के कारण, व्युत्सर्जन, आराधना आदि विविध विषयों पर यहाँ विचार किया गया है। प्रत्याख्यान के पालन करने से सिद्धि बताई है।

भत्तपरिण्णय (भक्तपरिज्ञा)

इसमें १७२ गाथायें हैं। अभ्युद्यत मरण द्वारा आराधना होती है। इस मरण को भक्तपरिज्ञा, इंगिनी और पादोपगमन के भेद से तीन प्रकार का बताया है। दर्शन को मुख्य बताते हुए कहा है कि दर्शन से भ्रष्ट होनेवालों को निर्वाण की प्राप्ति नहीं होती। घोर कष्ट सहन कर सिद्धि पानेवालों के अनेक दृष्टान्त दिये हैं। मन को बंदर की उपमा देते हुए कहा है कि जैसे बंदर एक क्षण भर के लिये भी शान्त नहीं बैठ सकता, वैसे ही मन कभी निर्विषय नहीं होता। स्त्रियों को भुजंगी की उपमा देते हुए

---

१. इस प्रकीर्णक की कुछ गाथायें मूलाचार में पाई जाती हैं।

उन्हें अविश्वास की भूमि, शोक की नदी, पाप की गुफा, कपट की कुटी, क्लेशकरी, दुःख की खानि आदि विशेषणों से संबोधित किया है। उदासीन भाव क्यों रखना चाहिये—

छलिआ अवयक्खंता निरावयक्खा गया अविग्घेणं।
तम्हा पवयणसारे निरावयक्खेण होअव्वं॥

—अपेक्षायुक्त जीव छले जाते हैं, निरपेक्ष निर्विघ्न पार होते हैं। अतएव प्रवचनसार में निरपेक्ष भाव से रहना चाहिये।

इस प्रकीर्णक के कर्ता भी वीरभद्र माने जाते हैं। गुणरत्न ने इस पर अवचूरि लिखी है।

तन्दुलवेयालिय (तन्दुलवैचारिक)[1]

इसमें ५८६ गाथायें हैं, बीच-बीच में कुछ सूत्र हैं। यहाँ गर्भ का काल, योनि का स्वरूप, गर्भावस्था में आहारविधि, माता-पिता के अङ्गों का उल्लेख, जीव की बाल, क्रीड़ा, मंद आदि दस दशाओं का स्वरूप और धर्म में उद्यम आदि का विवेचन है। युगलधर्मियों के अंग-प्रत्यंगों का साहित्यिक भाषा में वर्णन है जो संस्कृत काव्य-ग्रन्थों का स्मरण कराता है। संहनन और संस्थानों का विवेचन है। तंदुल की गणना, काल के विभाग—श्वास आदि का मान, शिरा आदि की संख्या का—प्रतिपादन है। काय की अपवित्रता का प्ररूपण करते हुए कामुकों को उपदेश दिया है। स्त्रियों को प्रकृति से विषम, प्रियवचनवादिनी, कपटप्रेम-गिरि की तटिनी, अपराधसहस्र की गृहिणी, शोक उत्पन्न करनेवाली, बल का विनाश करनेवाली, पुरुषों का वधस्थान, वैर की खानि, शोक का शरीर, दुश्चरित्र का स्थान, ज्ञान की

---

१. सौ वर्ष की आयुवाला पुरुष प्रति दिन जितना तन्दुल—चावल—खाता है, उसकी संख्या के विचार के उपलक्षण से यह सूत्र तन्दुल-वैचारिक कहा जाता है, मोहनलाल दलीचन्द देसाई, जैन साहित्य नो इतिहास, पृष्ठ ८०।

स्खलना, साधुओं की वैरिणी, मत्त गज की भाँति काम के परवश, बाघिन की भाँति दुष्टहृदय, कृष्ण सर्प के समान अविश्वसनीय, वानर की भाँति चंचल-चित्त, दुष्ट अश्व की भाँति दुर्दम्य, अरतिकर, कर्कशा, अनवस्थित, कृतघ्न आदि विशेषणों से संबोधित किया है। नारी के समान पुरुषों का और कोई अरि नहीं है (नारीसमा न नराणं अरीओ नारीओ) इसलिये उन्हें नारी, अनेक प्रकार के कर्म और शिल्प आदि के द्वारा पुरुषों को मोहित करने के कारण महिला (नाणाविहेहिं कम्मेहिं सिप्पइयाएहिं पुरिसे मोहंति ति महिलाओ), पुरुषों को मदयुक्त करने के कारण प्रमदा (पुरिसे मत्ते करंति त्ति पमयाओ), महान् कलह उत्पन्न करने के कारण महिलिया (महंतं कलिं जणयंति त्ति महिलियाओ), पुरुषों को हावभाव आदि के कारण रमणीय प्रतीत होने के कारण रामा (पुरिसे हावभावमाइएहिं रमंति ति रामाओ), पुरुषों के अंगों में राग उत्पन्न करने के कारण अंगना (पुरिसे अंगाणुराए करिंति त्ति अंगणाओ), अनेक युद्ध, कलह, संग्राम, अटवी, शीत, उष्ण, दुःख, क्लेश आदि उपस्थित होने पर पुरुषों का लालन करने के कारण ललना (नाणाविहेसु जुद्धभंडणसंगामाडवीसु मुहारणगिण्हणसीउण्हदुक्खकिलेससमाइएसु पुरिसे लालंति त्ति ललणाओ), योग-नियोग आदि द्वारा पुरुषों को वश करने के कारण योषित् (पुरिसे जोगनिओएहिं वसे ठाविंति त्ति जोसियाओ), तथा पुरुषों का अनेक प्रकार के भावों द्वारा वर्णन करने के कारण वनिता (नाणाविहेहिं भावेहिं वण्णिंति त्ति वण्णिआओ) कहा है।[1] विजयविमल ने इस पर वृत्ति लिखी है।

---

१. संयुत्तनिकाय के सळायतन-वग्ग के अन्तर्गत मातुग्गामसंयुत्त में बुद्ध भगवान् ने पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों को अधिक दुःखभागिनी माना है। उन्हें पाँच कष्ट होते हैं—बाल्यकाल में माता-पिता का घर छोड़ना पड़ता है, दूसरे के घर जाना पड़ता है, गर्भधारण करना पड़ता है, प्रसव करना पड़ता है, पुरुष की सेवा करनी पड़ती है। भरतसिंह उपाध्याय, पालि साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १६८।

संथारग (संस्तारक)

इसमें १२३ गाथायें हैं। इसमें अन्तिम समय में आराधना करने के लिये संस्तारक (दर्भ आदि की शय्या) के महत्त्व का वर्णन है। जैसे मणियों में वैडूर्य, सुगंधित पदार्थों में गोशीर्ष चन्दन और रत्नों में वज्र श्रेष्ठ है, वैसे ही संस्तारक को सर्वश्रेष्ठ बताया है। तृणों का संस्तारक बनाकर उस पर आसीन हुआ मुनि मुक्तिसुख को प्राप्त करता है। संस्तारक पर आरूढ होकर पंडितमरण को प्राप्त होनेवाले अनेक मुनियों के दृष्टांत यहाँ दिये गये हैं। सुबंधु, चाणक्य आदि गोबर के उपलों की अग्नि में प्रदीप्त हो गये और उन्होंने परमगति प्राप्त की।[1] इस पर भी गुणरत्न ने अवचूरि लिखी है।

गच्छायार (गच्छाचार)

इसमें १३७ गाथायें हैं, कुछ अनुष्टुप् छंद में हैं और कुछ आर्या में। इस पर आनन्दविमलसूरि के शिष्य विजयविमलगणि की टीका है। महानिशीथ, बृहत्कल्प और व्यवहार सूत्रों की सहायता से साधु-साध्वियों के हितार्थ यह प्रकीर्णक रचा गया है। इसमें गच्छ में रहनेवाले आचार्य तथा साधु और साध्वियों के आचार का वर्णन है। आचारभ्रष्ट, आचार-भ्रष्टों की उपेक्षा करनेवाला तथा उन्मार्गस्थित आचार्य मार्ग को नाश करनेवाला कहा गया है। गच्छ में ज्येष्ठ साधु कनिष्ठ साधु के प्रति विनय, वैयावृत्य आदि के द्वारा बहुमान प्रदर्शित करते हैं, तथा वृद्ध हो जाने पर भी स्थविर लोग आर्याओं के साथ वार्तालाप नहीं करते। आर्याओं के संसर्ग को अग्निविष के समान बताया है। संभव है कि स्थविर का चित्त स्थिर हो, फिर भी अग्नि के समीप रहने से जैसे घी पिघल जाता है, वैसे ही स्थविर के संसर्ग से आर्या का चित्त

---

१. डाक्टर ए० एन० उपाध्याय ने बृहत्कथाकोश की भूमिका (पृष्ठ २६-२९) में भत्तपरिण्णा, मरणसमाही और संथारग की कथाओं को एक साथ दिया है।

पिघल सकता है। ऐसे समय यदि स्थविर अपना संयम खो बैठे तो उसकी ऐसी ही दशा होती है जैसे श्लेष्म (कफ) में लिपटी हुई मक्खी की। इसलिये साधु को बाला, वृद्धा, नातिन, दुहिता और भगिनी तक के शरीर के स्पर्श का निषेध किया है।[1] गच्छाचार की टीका (६३-६६) में वराहमिहिर को भद्रबाहु का भाई बताया है। चंदसूरपन्नत्ति आदि शास्त्रों का अध्ययन करके वराहमिहिर ने वाराहीसंहिता की रचना की, ऐसा उल्लेख यहाँ मिलता है।

गणिविज्जा (गणिविद्या)

इसमें ८२ गाथायें हैं। यह ज्योतिष का ग्रन्थ है। यहाँ दिवस-तिथि, नक्षत्र, करण, ग्रह-दिवस, मुहूर्त, शकुन-बल, लग्न-बल और निमित्त-बल का विवेचन है। होरा शब्द का यहाँ प्रयोग हुआ है।

देविंदथय (देवेन्द्रस्तव)

इसमें ३०७ गाथायें हैं। यहाँ कोई श्रावक चौबीस तीर्थंकरों का वन्दन करके महावीर का स्तवन करता है। इस प्रसंग पर श्रावक की पत्नी अपने पति से इन्द्र आदि के संबंध में प्रश्न पूछती है। प्रश्न के उत्तर में श्रावक ने कल्पोपन्न और कल्पातीत देवों आदि का वर्णन किया है। इस प्रकीर्णक के रचयिता वीरभद्र माने जाते हैं।

मरणसमाही (मरणसमाधि)

मरणसमाधि प्रकीर्णकों में सबसे बड़ा है। इसमें ६६३ गाथायें हैं। मरणविभक्ति, मरणविशोधि, गुणरत्न, मरणसमाधि, संलेखना श्रुत, भक्तपरिज्ञा, आतुरप्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान और आराधना इन श्रुतों के आधार से मरणविभक्ति अथवा

---

1. मिलाइये मनुस्मृति (२–२१५) के साथ—

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥

मरणसमाधि की रचना की गई है। आरम्भ में शिष्य प्रश्न करता है कि समाधिपूर्वक मरण किस प्रकार होता है ? इसके उत्तर में आराधना, आराधक, तथा आलोचना, संलेखना, क्षामणा, काल, उत्सर्ग, अवकाश, संस्तारक, निसर्ग, वैराग्य, मोक्ष, ध्यानविशेष, लेश्या, सम्यक्त्व और पादोपगमन इन चौदह द्वारों का विवेचन किया है। आचार्य के गुणों आदि का प्रतिपादन है। अनशन तप का लक्षण और ज्ञान की महिमा बताई गई है। यहाँ संलेखना की विधि और पंडितमरण आदि का विवेचन है। धर्म का उपदेश देने के लिये अनेक श्रेष्ठी आदि के दृष्टान्त दिये हैं। परीषह-सहन कर पादोपगमन आदि तप के द्वारा सिद्धगति पानेवालों के दृष्टांत उल्लिखित हैं। अंत में बारह भावनाओं का विवेचन है।

उक्त दस प्रकीर्णकों के अतिरिक्त और भी अनेक प्रकीर्णकों की रचना हुई।[1] इसमें ऋषिभाषित, तीर्थोद्गार (तित्थुग्गालिय), अजीवकल्प, सिद्धपाहुड, आराधनापताका, द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, ज्योतिषकरंडक, अंगविद्या, योनिप्राभृत आदि मुख्य हैं।

तित्थोगालियपयन्नु (तीर्थोद्गार)

यह ग्रन्थ श्रुत से उद्धृत किया गया है, इसमें १२३३ गाथायें हैं। इसकी विक्रम संवत् १४५२ की लिखी हुई एक ताड़पत्र की प्रति पाटण के भंडार में मौजूद है। इसमें पाटलिपुत्र की वाचना का विस्तृत वर्णन है। यहाँ कहा गया है कि पालक के ६०, नन्दों के १५०, मौर्यों के १६०, पुष्यमित्र के ३५, बलमित्र-भानुमित्र के ६०, नहसेण के ४० और गर्दभिल्ल के १०० वर्ष समाप्त होने पर शक राजाओं का राज्य स्थापित हुआ। इस ग्रन्थ में वलभी नगर के भंग होने का उल्लेख मिलता है।[2] मुनि कल्याणविजय

---

१. जैन श्वेताम्बर कान्फरेन्स, मुम्बई द्वारा वि० सं० १९६५ में प्रकाशित जैनग्रन्थावलि में पृष्ठ ७२ पर प्रकीर्णकों की तीन भिन्न-भिन्न सूचियां दी हुई हैं।

२. मेरुतुङ्ग के प्रबन्धचिंतामणि (पृ० १०९) के अनुसार विक्रम काल के ३७५ वर्ष बाद वलभी का भंग हुआ। प्रभावकचरित (पृष्ठ

जी ने अपने 'वीरसंवत् और जैनकालगणना' (नागरीप्रचारिणी पत्रिका, जिल्द १०-११ में प्रकाशित) नामक निबंध में तित्थोगालिय का कुछ अंश उद्धृत किया है। मुनि जी के कथनानुसार इस प्रकीर्णक की रचना विक्रम की चौथी शताब्दी के अन्त और पाँचवीं शताब्दी के आरम्भ में हुई होनी चाहिये।

अजीवकल्प

इसमें ४० गाथायें हैं। इसकी एक अति जीर्ण त्रुटित प्रति पाटण के भण्डार में मौजूद है। इसमें आहार, उपधि, उपाश्रय, प्रस्रवण, शय्या, निषद्या, स्थान, दण्ड, परदा, अवलेखनिका, दन्तधावन आदिसम्बन्धी उपघातों का वर्णन है।

सिद्धपाहुड (सिद्धप्राभृत)

इसमें ११६ गाथाओं में सिद्धों के स्वरूप आदि का वर्णन है।[1]

इस पर एक टीका भी है। अग्रायणी नामके दूसरे पूर्व के आधार से इसकी रचना हुई है।

आराधनापताका

यह ग्रन्थ भी अभीतक अप्रकाशित है, इसकी हस्तलिखित प्रति पाटण भण्डार में मौजूद है। इसके कर्ता वीरभद्र हैं

---

७४) के अनुसार वीरनिर्वाण के ८४५ वर्ष पश्चात् किसी तुरुष्क के हाथ से वलभी का नाश हुआ परन्तु जिनप्रभसूरि के तीर्थकल्प में कहा है कि गज्जणवइ (ग़ज़नी का बादशाह) हम्मीर द्वारा वि० सं० ८४५ में वलभी का भंग हुआ। मोहनलाल दलीचन्द देसाई तीर्थकल्प के उल्लेख को ही अधिक विश्वसनीय मानते हैं, जैन साहित्य नो इतिहास, पृष्ठ १४५ फुटनोट।

1. आत्मानन्द जैन सभा, भावनगर की ओर से सन् १९२१ में प्रकाशित।

जिन्होंने वि० सं० १०७८ में इस प्रकीर्णक की रचना की। इसमें ६६० गाथायें हैं।

द्वीपसागरप्रज्ञप्ति

इसमें ?८० गाथायें हैं जिनमें द्वीप-सागर का कथन है। यह भी अप्रकाशित है।

जोइसकरंडग (ज्योतिष्करंडक)

पूर्वाचार्यरचित यह आगम वलभी वाचना के अनुसार संकलित है।[1] इस पर पादलिप्तसूरि ने प्राकृत टीका की रचना की थी। इस टीका के अवतरण मलयगिरि ने इस ग्रन्थ पर लिखी हुई अपनी संस्कृत टीका में दिये हैं। यहाँ सूर्यप्रज्ञप्ति के विषय का संक्षेप में कथन किया गया है। इसमें २१ प्राभृत हैं जिनमें कालप्रमाण, घटिकादि कालमान, अधिकमासनिष्पत्ति, तिथिसमाप्ति, चन्द्र-नक्षत्र आदि संख्या, चन्द्रादि-गति-गमन, दिन-रात्रि-वृद्धि-अपवृद्धि आदि खगोल सम्बन्धी विषय का कथन है।

अंगविज्जा (अंगविद्या)

इसके सम्बन्ध में इस पुस्तक के अन्तिम अध्याय में लिखा जायेगा।

पिंडविसोहि (पिंडविशुद्धि)

इसके कर्ता जिनवल्लभगणि हैं जो विक्रम संवत् की १२वीं शताब्दी में मौजूद थे।[2] पिंडनिज्जुत्ति के आधार पर उन्होंने

---

१ ऋषभदेवकेशरीमल संस्था, रतलाम की ओर से सन् १९२८ में प्रकाशित।

२. विजयदान सूरीश्वर जी जैनग्रंथमाला, सूरत द्वारा सन् १९३९ में प्रकाशित।

इसकी रचना की है। इस ग्रन्थ पर श्रीचन्द्रसूरि, यशोदेव आदि आचार्यों ने वृत्ति, अवचूरि, और दीपिका की रचना की है।

तिथिप्रकीर्णक

कोई तिथिप्रकीर्णक की भी गिनती प्रकीर्णकों में करते हैं।

सारावलि

इसमें ११६ गाथायें हैं। आरंभ में पंच परमेष्ठियों की स्तुति है।

पज्जंताराहणा (पर्यंताराधना)

इसे आराधनाप्रकरण या आराधनासूत्र भी कहते हैं। इसमें ६६ गाथायें हैं।[1] इसके कर्ता सोमसूरि हैं। इसमें अन्तिम आराधना का स्वरूप समझाया गया है।

जीवविभक्ति

इसमें २५ गाथायें हैं। इसके कर्ता जिनचन्द्र हैं।

कवचप्रकरण

इसके कर्ता जिनेश्वरसूरि के शिष्य नवांग-वृत्तिकार अभयदेव-सूरि के गुरु जिनचन्द्रसूरि थे। इसमें १२३ गाथायें हैं।

जोणिपाहुड

इसके सम्बन्ध में इस पुस्तक के अन्तिम अध्याय में लिखा जायेगा।

कोई अंगचूलिया, वंगचूलिया (वग्गचूलिया) और जंबुपयन्ना को भी प्रकीर्णकों में गिनते हैं।



---

१. अवचूरि और गुजराती अनुवाद सहित श्रीबुद्धि-वृद्धि-कर्पूर-ग्रंथमाला की ओर से वि० सं० १९९४ में प्रकाशित।

छेदसूत्र

छेदसूत्र जैन आगमों का प्राचीनतम भाग होने से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इन सूत्रों में निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थिनियों के प्रायश्चित्त की विधि का प्रतिपादन है। ये सूत्र चारित्र की शुद्धता स्थिर रखने में कारण हैं, इसलिये इन्हें उत्तमश्रुत कहा है (जम्हा एत्थ सपायच्छित्तो विधी भण्णति, जम्हा य तेण चरणविसुद्धी करेति, तम्हा तं उत्तमसुतं—निशीथ, १६ उद्देशक, ६१८४ भाष्यगाथा की चूर्णी, (पृ० २५३)। छेदसूत्रों में जैन भिक्षुओं के आचार-विचारसंबंधी नियमों का विवेचन है जिसे भगवान महावीर और उनके शिष्यों ने देश-काल की परिस्थितियों के अनुसार श्रमण सम्प्रदाय के लिये निर्धारित किया था। बौद्धों के विनयपिटक से इनकी तुलना की जा सकती है। छेदसूत्रों के गंभीर अध्ययन के बिना कोई आचार्य अपने संघाड़े (भिक्षु सम्प्रदाय) को लेकर ग्रामानुग्राम विहार नहीं कर सकता, गीतार्थ नहीं बन सकता तथा आचार्य और उपाध्याय जैसे उत्तरदायी पदों का अधिकारी नहीं हो सकता। निशीथ के भाष्यकर्ता ने छेदसूत्रों को प्रवचन का रहस्य प्रतिपादित कर गुह्य बताया है।[1] जैसे कच्चे घड़े में रक्खा हुआ जल घड़े को नष्ट कर देता है, उसी प्रकार इन सूत्रों में प्रतिपादित सिद्धान्तों का रहस्य अल्प सामर्थ्यवाले व्यक्ति के नाश का कारण होता है। छेदसूत्र संक्षिप्त शैली में लिखे गये हैं। इनकी संख्या छह है—निसीह (निशीथ), महानिसीह (महानिशीथ),

---

१. बौद्धों के विनयपिटक को भी छिपाकर रखने का आदेश है जिससे अपयश न हो। देखिये मिलिन्दपण्ह (हिन्दी अनुवाद, पृ० २३२)।

ववहार (व्यवहार),[1] दसासुयक्खंध (दशाश्रुतस्कंध), कप्प (बृहत्कल्प), पंचकप्प (पंचकल्प अथवा जीयकप्प—जीतकल्प)।

निसीह (निशीथ)

छेदसूत्रों में निशीथ का स्थान सर्वोपरि है,[2] और यह सबसे बड़ा है। इसे आचारांगसूत्र के द्वितीय श्रुतस्कंध की पाँचवीं चूला मानकर आचारांग का ही एक भाग माना जाता है। इसे निशीथचूला अध्ययन कहा गया है। इसका दूसरा नाम आचारप्रकल्प है। निशीथ का अर्थ है अप्रकाश (अंधकार-रात्रि[3])। जैसे रहस्यसूत्र-विद्या, मंत्र और योग—अपरिपक्व लोगों के समक्ष प्रकट नहीं किये जाते, उसी प्रकार निशीथसूत्र को रात्रि के समान अप्रकाशधर्म-रहस्यरूप-स्वीकार कर गोपनीय बताया गया है। यदि कोई निर्ग्रन्थ कदाचित् निशीथसूत्र

---

१. कहीं दसा और कल्प को एक मानकर अथवा कल्प और व्यवहार को एक मानकर पंचकल्प और जीतकल्प को अलग-अलग माना गया है। सम्भवतः आगे चलकर छह की संख्या पूरी करने के लिये पञ्चकल्प के स्थान पर जीतकल्प को स्वीकार कर लिया गया। स्थानकवासी सम्प्रदाय में निसीह, कप्प, ववहार और दसासुयक्खंध नाम के चार छेदसूत्र माने गये हैं।

२. यह महत्त्वपूर्ण सूत्र भाष्य और चूर्णी के साथ अभी हाल में उपाध्याय कवि श्री अमरमुनि और मुनि श्री कन्हैयालाल 'कमल' द्वारा सम्पादित होकर सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा से सन् १९५७-५८ में तीन भागों में प्रकाशित हुआ है। चौथा भाग प्रकाशित हो रहा है। प्रोफेसर दलसुख मालवणिया ने 'निशीथ : एक अध्ययन' नाम से इसकी महत्त्वपूर्ण प्रस्तावना लिखी है।

३. जं होति अप्पगासं, तं तु निसीहं ति लोगसंसिद्धं।
जं अप्पगासधम्मं, अण्णं पि तयं निसीधं ति॥
(निशीथसूत्र-भाष्य ६९)

भूल जाये तो वह जीवनपर्यंत आचार्यपद का अधिकारी नहीं हो सकता। निशीथसूत्र में निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थिनियों के आचार-विचारसंबंधी उत्सर्ग और अपवादविधि का प्ररूपण करते हुए प्रायश्चित्त आदि का सूक्ष्म विवेचन है। जान पड़ता है प्राचीनकाल से ही निशीथसूत्र के कर्तृत्व के संबंध में मतभेद चला आता है। निशीथ-भाष्यकार के अनुसार चतुर्दश पूर्वधारियों ने इस प्रकल्प की रचना की[1] और नौवें प्रत्याख्यान नामक पूर्व के आधार पर यह सूत्र लिखा गया।[2] पंचकल्प-चूर्णी में भद्रबाहु निशीथ के कर्ता बताये गये हैं।[3] इस सूत्र में २० उद्देशक हैं और प्रत्येक उद्देशक में अनेक सूत्र निबद्ध हैं। सूत्रों के ऊपर निर्युक्ति, सूत्र और निर्युक्ति के ऊपर संघदासगणि का भाष्य तथा सूत्र, निर्युक्ति और भाष्य पर जिनदासमणि महत्तर की सारगर्भित विशेषचूर्णी (विसेसनिसीह-चुण्णि) है। निशीथ पर लिखा हुआ बृहद्भाष्य उपलब्ध नहीं है। प्रद्युम्नसूरि के शिष्य ने इस पर अवचूर्णी की भी रचना की है।

पहले उद्देशक में ५८ सूत्र हैं। इन पर ४९७—८१५ गाथाओं का भाष्य है। सर्वप्रथम भिक्षु के लिये हस्तमैथुन (हत्थकम्म[4])

---

१. कामं जिणपुव्वधरा, करिंसु सोधिं तहा वि खलु एण्हिं।
चोद्दसपुव्वणिबद्धो, गणपरियट्टी पकप्पधरो॥ (वही ६६७४)

२. प्रत्याख्यान पूर्व में बीस वस्तु (अधिकार) हैं। उनमें तीसरे अधिकार का नाम आचार है, उसमें बीस प्राभृत हैं। बीसवें प्राभृत को लेकर निशीथ की रचना हुई।

३. मुनिपुण्यविजय, बृहत्कल्पभाष्य की प्रस्तावना, पृष्ठ ३। चूर्णीकार जिनदासगणि महत्तर के अनुसार परम पूज्य सुप्रसिद्ध विसाह-गणि महत्तर ने अपने शिष्य-प्रशिष्यों के हितार्थ निशीथसूत्र की रचना की।

४. विनयपिटक (३, पृष्ठ ११२, ११७) में भी इसका उल्लेख है।

वर्जित कहा गया है। काष्ठ, उँगली अथवा शलाका आदि से अंगादान (पुरुषेन्द्रिय) के संचालन का निषेध किया है। अंगादान को तेल, घी, नवनीत आदि से मर्दन करने, शीत अथवा उष्ण जल से प्रक्षालन करने तथा ऊपर की त्वचा को हटा कर उसे सूँघने आदि का निषेध है। (इस संबंध में भाष्यकार ने सिंह, आशीविष, व्याघ्र और अजगर आदि के दृष्टान्तों द्वारा बताया है कि जैसे सोते हुए सिंह आदि को जगा देने से वे जीवन का अन्त कर देते हैं, उसी प्रकार अंगादान के संचालित करने से तीव्र मोह का उदय होता है जिससे चारित्र भ्रष्ट हो जाता है)। तत्पश्चात् शुक्रपात और सुगंधित पुष्प आदि सूँघने का निषेध है। पदमार्ग (सोपान) और दगवीणिय (पतनाला), छींका, रज्जु, चिलिमिलि[1] (कनात) आदि के निर्माण को वर्जित कहा है। कैंची (पिप्पलग), नखछेदक, कर्णशोधक, पात्र, दण्ड, यष्टि, अवलेखनिका (वर्षाऋतु में कीचड़ हटाने का बाँस का बना उपकरण) तथा बाँस की सुई (वेणूसूइय) के सुधरवाने का निषेध है। वस्त्र में थेगली (पडियाणिया) लगाना वर्जित है। (यहाँ भाष्यकार ने जंगिय, भंगिय, सणय, पोत्तय, खोमिय और तिरीडपट्ट नामके वस्त्रों का उल्लेख किया है)।[2] वस्त्र को बिना विधि के सीने का निषेध

---

१. चुल्लवग्ग (६,२,६) इसे चिलिमिका कहा गया है।

२. जंगिय अथवा जांघिक ऊन का बना वस्त्र होता था। भंगिय का उल्लेख विनयवस्तु के मूल सर्वास्तिवाद (पृष्ठ ९२) में किया गया है। भाग वृक्ष से तैयार किया हुआ वस्त्र कुमाऊँ (उत्तरप्रदेश) जिले में अभी भी मिलता है। बृहत्कल्पभाष्य (२–३६६१) में रुई से बने कपड़े को पोत्तग कहा है। सन के बने कपड़े को खोमिय कहते हैं। तिरीडवट्ट सम्भवतः सिर पर बाँधने की एक प्रकार की पगड़ी थी। देखिये स्थानांग-सूत्र १७०; बृहत्कल्पभाष्य ४, १०१७; विशेष के लिये देखिये जगदीश-चन्द्र जैन, लाइफ इन ऐंशियेण्ट इण्डिया, पृष्ठ १२८–२९।

है। (यहां भाष्यकार ने गग्गरग, दंडि, जालग, दुखील, एक्क, गोमुत्तिग; तथा झसंकट और विसरिगा नामकी सीने की विधियाँ बतायी हैं)।[1]

दूसरे उद्देशक में ५६ सूत्र हैं जिन पर ८१६-१४३७ गाथाओं का भाष्य है। पहले सूत्र में काष्ठ के दंडवाले रजोहरण (पायपुंछण) रखने का निषेध किया है। परुष वचन बोलने का निषेध है (चूर्णिकार ने टक्क (टंक), मालव और सिन्धु-देश के वासियों को स्वभाव से परुष-भाषी कहा है)। भिक्षुओं को चर्म रखना निषिद्ध है (इस प्रसंग पर भाष्यकार ने एगपुड, सकलकसिण, दुपड, कोसग, खल्लग, वग्गुरी, खपुसा, अद्धजंघा और जंघा नामके जूतों का उल्लेख किया है।[2] (यहाँ अपवाद

---

१. गग्गरसिव्वणा जहा संजतीणं। डंडिसिव्वणी जहा गारत्थाणं। जालगसिव्वणी जहा वरक्खाइसु एगसरा, जहा संजतीणं पयालणीकसा-सिव्वणी जिब्भंगे वा दिज्जति। दुक्खीला संधिज्जंते उभओ खीला देंति। एगखीला एगतो देति। गोमुत्तासंधिज्जंते इओ इओ एक्कसिं वत्थं विंधइ। एसा अविधिविधिझसंकटा सा संधणे भवति, एक्कतो वा उक्कुइते सम्भवति। विसरिया सरडो भण्णति (१. ७८२ की चूर्णी, पृष्ठ ६०)।

२. एक तले के जूते को एगपुड और दो तलों के जूते को दुपड कहा जाता था। सकलकसिण (सकलकृत्स्न) जूते कई प्रकार के होते थे। पाँव की उंगलियों के नखों की रक्षा के लिये कोसग का उपयोग होता था। सर्दी के दिनों में पाँव की बिवाई से रक्षा के लिये खल्लक काम में लाते थे। महावग्ग (५, २, ३) में इसे खल्लकबन्ध कहा है। जो उँगलियों को ढक कर ऊपर से पैरों को ढक लेता था, उसे वग्गुरी कहते थे। खपुसा घुटनों तक पहना जाता था। इससे सर्दी, साँप, बर्फ और कांटों से रक्षा हो सकती थी। अद्धजंघा आधी जंघा को और जंघा समस्त जंघा को ढकने वाले जूते कहलाते थे। देखिये बृहत्कल्पभाष्य ४, १०५९ इत्यादि। विनयपिटक के चर्मस्कन्धक में भी जूतों का उल्लेख मिलता है।

मार्ग के अनुसार मार्गजन्य कंटक, सर्प और शीत के कष्टों से बचने के लिये, रुग्ण अवस्था में अर्श की व्याधि से पीड़ित होने पर, सुकुमार राजा आदि के निमित्त, पैर में फोड़ा आदि हो जाने पर, आँखें कमज़ोर होने पर, बाल-साधुओं के निमित्त, आर्यों के निमित्त तथा कारणविशेष उपस्थित होने पर जूते धारण करने का विधान है)। तत्पश्चात् प्रमाण से अतिरिक्त वस्त्र रखने और बहुमूल्य वस्त्र धारण करने का निषेध है (इस प्रसंग पर भाष्यकार ने साहरक[1], रूपग और नेलक आदि सिक्कों का उल्लेख किया है)। भिक्षु को अखण्ड वस्त्र धारण करने का विधान है। सागारिक (साधु को रहने का स्थान देनेवाला गृहस्थ) के दिये हुए भोजन ग्रहण करने का निषेध है। शय्या-संस्तारक रखने के सम्बन्ध में नियमों का उल्लेख किया है। जिनकल्पिक और स्थविरकल्पिक की उपधि का वर्णन है।

तीसरे उद्देशक में ८० सूत्र हैं जिन पर १४३८–१५५४ भाष्य की गाथायें हैं। पहले सूत्र में आगंतगार (धर्मशाला, मुसाफिरखाना आदि), आरामागार या गृहपति के कुल आदि में ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाकर आहार आदि माँगने का निषेध है। गृहपति के मना करने पर भिक्षा के निमित्त प्रवेश करने का निषेध है। संखडि (भोज) के स्थान पर उपस्थित होकर अशन-पान ग्रहण करने का निषेध है। पैरों के प्रमार्जन, परिमर्दन, प्रक्षालन आदि का निषेध है। शरीर के प्रमार्जन, संवाहन, परिमर्दन आदि का निषेध है। फोड़े आदि के उपचार करने का निषेध है। लम्बे बढ़े हुए बाल, नख आदि के काटने का निषेध है। दाँत, ओष्ठ आदि के प्रमार्जन अथवा धोने आदि का निषेध है। शरीर के स्वेद, जल्ल, मल्ल आदि अथवा आँख की ढीढ़, कान का मैल आदि के साफ करने का निषेध है। वशीकरणसूत्र (ताबीज़) बना कर देने का निषेध है। यहाँ मृतकगृह (भाष्यकार

१. एक इस्लाम-पूर्व सिक्का, जो सेबियन (Sabean) सिक्के के नाम से कहा जाता था।

और चूर्णीकार के अनुसार म्लेच्छ जाति के लोग अपने घर के भीतर मृतक को गाड़ देते हैं, उसे जलाते नहीं), मृतकस्तूप, मृतकलेण, तथा उदंबर, न्यग्रोध, असत्थ (अश्वत्थ–पीपल), इक्षु, शालि, कपास, चंपा, चूत (आम्र) आदि का उल्लेख किया गया है।

चौथे उद्देशक में ११२ सूत्र हैं जिन पर १५५५-१८६४ गाथाओं का भाष्य है। आरम्भ में राजा, राजरक्षक, नगररक्षक, निगमरक्षक आदि को वश में करने तथा उनकी पूजा-अर्चना करने का निषेध है। भिक्षु को निर्ग्रन्थिनियों के उपाश्रय में विना विधि के प्रवेश करने का निषेध है। निर्ग्रन्थिनी के आगमनपथ में दंड, यष्टि, रजोहरण, मुखपत्ती आदि उपकरण रखने का निषेध है। खिलखिला कर हँसने का निषेध है। पार्श्वस्थ, कुशील और संसक्त आदि संघाड़े के साधुओं के साथ सम्बन्ध रखने का निषेध है। सस्निग्ध हस्त आदि से अशन-पान ग्रहण करने का निषेध है। परस्पर पाद, काय, दन्त, ओष्ठ आदि के प्रमार्जन, प्रक्षालन आदि का निषेध है। उच्चार (टट्टी) और प्रश्रवण (पेशाब) की स्थापना-विधि के नियम बताये गये हैं।

पाँचवें उद्देशक में ७७ सूत्र हैं जिन पर १८६५-२१६४ गाथाओं का भाष्य है। सर्वप्रथम सचित्त वृक्ष के नीचे बैठकर आलोचना, स्वाध्याय आदि करने का निषेध है। अपनी संघाटी को अन्य तीर्थिकों आदि से सिलवाने का निषेध है। पिचुमन्द (नीम), पलाश, बेल, आदि के पत्रों को उपयोग में लाते हुए आहार करने का निषेध है। पादप्रोंछन, दण्ड, यष्टि, सुई आदि लौटाने योग्य वस्तुओं को नियत अवधि के भीतर लौटा देने का विधान है। सन, कपास आदि कातने का निषेध है। दारुदंड, वेलुदण्ड, वेतदंड आदि ग्रहण करने का निषेध है। मुख, दन्त, ओष्ठ, नासिका आदि को वीणा के समान बजाने का निषेध है। अलावुपात्र, दारुपात्र, मृत्तिकापात्र आदि को तोड़ने-फोड़ने का निषेध है। रजोहरण के सम्बन्ध में नियम बताये हैं।

छठे उद्देशक में ७७ सूत्र हैं जिन पर २१६५–२२८६ गाथाओं का भाष्य है। यहाँ मैथुन-सेवा की इच्छा से किसी स्त्री (माउग्गाम[1]) की अनुनय-विनय करने का निषेध है। मैथुन की इच्छा से हस्तकर्म करने, अंगादान को मर्दन, संवाहन, प्रक्षालन आदि करने, कलह करने, पत्र लिखने, जननेन्द्रिय को पुष्ट करने और चित्र-विचित्र वस्त्र धारण करने का निषेध किया है।

सातवें उद्देशक में ९१ सूत्र हैं जिन पर २२८७–२३४० भाष्य की गाथायें हैं। यहाँ भी मैथुनसंबंधी निषेध बताया गया है। मैथुन की इच्छा से माला बनाने और धारण करने, लोहा, ताँबा आदि संग्रह करने; हार, अर्धहार आदि धारण करने, अजिन, कंबल आदि धारण करने, परस्पर पाद आदि प्रमार्जन और परिमर्दन आदि करने, सचित्त पृथ्वी पर सोने, बैठने, परस्पर चिकित्सा आदि करने, तथा पशु-पक्षी के अंगोपांगों को स्पर्श आदि करने का निषेध किया है। इस प्रसंग में विविध प्रकार की माला, हार, वस्त्र, कंबल आदि का उल्लेख है जिनका चूर्णीकार ने स्पष्टीकरण किया है।

आठवें उद्देशक में १८ सूत्र हैं जिन पर २३४१–२४९५ गाथाओं का भाष्य है। आगंतगार, आरामागार आदि स्थानों में स्त्री के साथ अकेले विहार, स्वाध्याय, अशन-पान, उच्चार-प्रश्रवण एवं कथा करने का निषेध है। उद्यान, उद्यान-गृह आदि में स्त्री के साथ अकेले बिहार आदि करने आदि का निषेध है। स्वगच्छ अथवा परगच्छ की निर्ग्रन्थिनी के साथ विहार आदि करने का निषेध है। क्षत्रिय और मूर्धाभिषिक्त राजाओं के यहाँ किसी समवाय अथवा मह (उत्सव) आदि के अवसर पर अशन-पान आदि ग्रहण करने का निषेध है। यहाँ इन्द्र, स्कंद, रुद्र, मुकुंद, भूत, यक्ष, नाग, स्तूप, चैत्य, वृक्ष, गिरि, दरि, अगड, तडाग,

---

१. भोजपुरी भाषा में मउगी का अर्थ पत्नी होता है।

ह्रद, नदी, सर, सागर, और आकर[1] नामक महों का उल्लेख किया गया है।

नौवें उद्देशक में २८ सूत्र हैं जिन पर २४९६–२६०५ गाथाओं में भाष्य लिखा गया है। भिक्षु के लिये राजपिंड ग्रहण करने का निषेध है। उसे राजा के अंतःपुर में प्रवेश करने की मनाई है (यहाँ पर भाष्यकार ने जीर्ण अन्तःपुर, नव अंतःपुर और कन्या अन्तःपुर नाम के अंतःपुरों का उल्लेख किया है। दंडधर, दंडारक्खिय, दौवारिक, वर्षधर, कंचुकिपुरुष और महत्तर नामक राजकर्मचारी अन्तःपुर की रक्षा के लिये नियुक्त रहते थे)।[2] क्षत्रिय और मूर्धाभिषिक्त राजाओं का अशन-पान आदि ग्रहण करने का निषेध है। यहाँ पर चंपा, मथुरा, वाराणसी, श्रावस्ती, साकेत, कांपिल्य, कौशांबी, मिथिला, हस्तिनापुर और राजगृह नाम की दस अभिषिक्त राजधानियाँ गिनाई गई हैं जहाँ राजाओं का अभिषेक किया जाता था। अन्त में खुज्जा (कुब्जा), चिलाइया (किरातिका), वामणी (वामनी), वडभी (बड़े पेटवाली) बब्बरी, बउसी, जोणिया, पल्हविया, ईसणी, थारुगिणी, लउसी, लासिया, सिंहली, आरबी, पुलिंदी, सबरी, पारिसी नामक दासियों का उल्लेख है।[3]

दसवें उद्देशक में ४७ सूत्र हैं जिन पर २६०६–३२७५ गाथाओं का भाष्य है। भिक्षु को आचार्य (भदंत) के प्रति कठोर एवं कर्कश वचन नहीं बोलने चाहिये। आचार्य की आशातना (तिरस्कार) नहीं करनी चाहिये। अनन्तकाय-युक्त आहार का भक्षण नहीं करना चाहिये। लाभ-अलाभसंबंधी निमित्त के कथन का निषेध है। प्रव्रज्या आदि के लिये शिष्य के अपहरण करने का निषेध है। अन्यगच्छीय साधु-साध्वी

---

१. इन उत्सवों के लिये देखिये जगदीशचन्द्र जैन, लाइफ इन ऐंशियेण्ट इण्डिया, पृष्ठ २१५-२५।

२. विशेष के लिये देखिये वही पृष्ठ ५५-५९।

३. तथा देखिए व्याख्याप्रज्ञप्ति ९.६; ज्ञातृधर्मकथा १।

को बिना पूछताछ के तीन रात्रि के उपरान्त रखने का निषेध है। प्रायश्चित्त ग्रहण करनेवाले के साथ आहार आदि ग्रहण करने का निषेध है। ग्लान (रोगी) की सेवा-शुश्रूषा करने का विधान किया है। प्रथम वर्षाकाल में ग्रामानुग्राम विहार करने का निषेध है। अपर्युषणा में पर्युषणा (यहाँ पज्जोसवणा, परिवसणा, पज्जुसणा, वासावास-वर्षावास-पढम समोसरण आदि शब्दों को भाष्यकार ने पर्यायवाची कहा है) करने एवं पर्युषणा में अपर्युषणा न करने से लगनेवाले दोषों का कथन है। (चूर्णीकार ने यहाँ कालकाचार्य की कथा दी है जिन्होंने प्रतिष्ठान के राजा सातवाहन के आग्रह पर भाद्रपद सुदी पंचमी को इन्द्रमह-दिवस होने के कारण भाद्रपद सुदी चतुर्थी को पर्यूषण की तिथि घोषित की। इसी समय से महाराष्ट्र में श्रमणपूजा (समणपूय) नामक उत्सव मनाया जाने लगा)।

ग्यारहवें उद्देशक में ९२ सूत्र हैं जिन पर ३२७६-३९७५ गाथाओं का भाष्य है। लोहे, तांबे, सीसे, सींग, चर्म, वस्त्र आदि के पात्र रखने और उनमें आहार करने का निषेध है। धर्म के अवर्णवाद और अधर्म के वर्णवाद बोलने का निषेध है। घी, तेल आदि द्वारा अन्यतीर्थिक अथवा गृहस्थ के पैरों के प्रमार्जन, परिमर्दन आदि का निषेध है। अपने आप तथा दूसरे को भयभीत अथवा विस्मित करने का निषेध है। मुखवर्ण—मुँहदेखी स्तुति—करने का निषेध है। विरुद्धराज्य में गमनागमन का निषेध है। दिवाभोजन की निन्दा और रात्रिभोजन की प्रशंसा करने का निषेध है। मांस, मत्स्य आदि के ग्रहण करने का निषेध है। नैवेद्य पिंड के उपभोग का निषेध है। स्वच्छंदाचारी की प्रशंसा करने का निषेध है। अयोग्य व्यक्तियों को प्रव्रज्या देने का निषेध है (यहाँ भाष्याकार ने बाल, वृद्ध, नपुंसक, दास, ऋणी आदि अठारह प्रकार के व्यक्तियों को प्रव्रज्या के अयोग्य कहा है। नपुंसक के सोलह भेद गिनाये गये हैं। दासों के भी भेद बताये हैं)। सचेलक और अचेलक

के निवास के संबंध में विधि-निषेध का कथन है। अन्त में विविध प्रकार के मरण गिनाये गये हैं।

बारहवें उद्देशक में ४२ सूत्र हैं जिन पर ३९७६-४२५५ गाथाओं का भाष्य है। पहले सूत्र में करुणा से प्रेरित होकर त्रस जीवों को रस्सी आदि से बाँधने अथवा बंधनमुक्त करने का निषेध है। बार-बार प्रत्याख्यान भंग करने का निषेध है। लोमवाला चर्म रखने का निषेध है। दूसरे के वस्त्र से आच्छादित तृणपीठक आदि पर बैठने का निषेध है। साध्वी की संघाटी अन्यतीर्थिक अथवा किसी गृहस्थ से सिलाने का निषेध है। पृथ्वीकाय आदि की विराधना का निषेध है। सचित्त वृक्ष पर चढ़ने का निषेध है। गृहस्थ के भाजन में भोजन करने का निषेध है। गृहस्थ के वस्त्र पहनने और उसकी शय्या पर सोने का निषेध है; उससे चिकित्सा कराने का निषेध है। वापी, सर, निर्झर, पुष्करिणी आदि का सौन्दर्य-निरीक्षण करने का निषेध है। सुंदर ग्राम, नगर, पट्टण आदि को देखने की अभिलाषा करने का निषेध है। अश्वयुद्ध, हस्तियुद्ध आदि में सम्मिलित होने का निषेध है। काष्ठकर्म, चित्रकर्म, लेपकर्म, दंतकर्म आदि देखने का निषेध है। विविध महोत्सवों में स्त्री-पुरुषों के गाते, नाचते और हँसते हुए देखने का निषेध है। दिन में गोबर इकट्ठा कर रात्रि के समय उसे शरीर पर लेप करने का निषेध है। गंगा, यमुना, सरयू, ऐरावती और मही नाम की नदियों को महीने में दो अथवा तीन बार पार करने का निषेध है।

तेरहवें उद्देशक में ७८ सूत्र हैं जिन पर ४२५६-४४७२ गाथाओं का भाष्य है। पहले सचित्त, सस्निग्ध, सरजस्क आदि पृथ्वी पर बैठने, सोने और स्वाध्याय करने आदि का निषेध किया गया है। देहली, स्नानपीठ, भित्ति, शिला, मंच आदि पर बैठने का निषेध है। अन्यतीर्थिक अथवा गृहस्थ आदि को शिल्प, श्लोक (वर्णना), अष्टापद (द्यूत), कला

आदि सिखाने का निषेध है। कौतुककर्म, भूतिकर्म, प्रश्न, प्रश्नाप्रश्न, निमित्त, लक्षण आदि के प्रयोग करने का निषेध है। अन्यतीर्थिक अथवा गृहस्थ को मार्गभ्रष्ट होने पर रास्ता बताने का निषेध है। उन्हें धातुविद्या अथवा निधि बताने का निषेध है। पानी से भरे हुए पात्र, दर्पण, मणि, तेल, मधु, घी, आदि में मुँह देखने का निषेध है। वमन, विरेचन तथा बल आदि की वृद्धि के लिये औषध सेवन का निषेध है। पार्श्वस्थ आदि शिथिलाचारियों को वन्दन करने का निषेध है। धात्री, दूती, निमित्त, आजीविका, चूर्ण, योग आदि पिंड ग्रहण करने का निषेध है।

चौदहवें उद्देशक में ४५ सूत्र हैं जिन पर ४४७३–४६८९ गाथाओं का भाष्य है। यहाँ पात्र (पडिग्गह = पतद्ग्रह) के खरीदने, अदल-बदल करने आदि का निषेध है। लूले, लँगड़े, कनकटे, नककटे आदि असमर्थ साधु-साध्वियों को अतिरिक्त पात्र देने का विधान है। नवीन, सुरभिगंध अथवा दुरभिगंध पात्र को विशेष आकर्षक बनाने का निषेध है। गृहस्थ से पात्र स्वीकार करते समय उसमें से त्रसजीव, बीज, कन्द, मूल, पत्र, पुष्प आदि निकालने का निषेध है। परिषद् में से उठकर पात्र की याचना करने का निषेध है।

पन्द्रहवें उद्देशक में १५४ सूत्र हैं जिन पर ४६९०–५०६४ गाथाओं का भाष्य है। सचित्त आम्र, आम्रपेशी, आम्रचोयक आदि के भोजन का निषेध है। आगंतगर, आरामागार तथा गृहपतिकुलों में उच्चार-प्रश्रवण स्थापित करने की विधि बताई है। पार्श्वस्थ आदि को आहार, वस्त्र आदि देने अथवा उनसे ग्रहण करने का निषेध है। विभूषा के लिये अपने पैर, शरीर, दाँत, ओष्ठ आदि के प्रमार्जन, प्रक्षालन आदि का निषेध है।

सोलहवें अध्याय में ५० सूत्र हैं जिन पर ५०६५–५६०३ गाथाओं का भाष्य है। भिक्षु को सागारिक आदि की शय्या में प्रवेश करने का निषेध है। सचित्त ईख, गंडेरी आदि भक्षण

करने का निषेध है। अरण्य में साथ लेकर चलनेवाले आरण्यकों के अशन-पान के भक्षण का निषेध है। संयमी को असंयमी और असंयमी को संयमी कहने का निषेध है। लड़ाई-झगड़ा करनेवाले तीर्थिकों के अशन-पान आदि ग्रहण करने का निषेध (भाष्यकार ने यहाँ सात निह्नवों का प्रतिपादन किया है) है। दस्यु (क्रोध में आकर जो अपने दाँतों से काट लेते हों—दसणेहिं दसंति तेण दसू-भाष्यकार), अनार्य, म्लेच्छ (अस्फुट भाषा बोलनेवाले—मिलक्खूऽव्वत्तभासी—भाष्यकार) और प्रत्यंत देश-वासियों के जनपदों में विहार करने का निषेध (यहाँ मगध, कौशांबी, थूणा और कुणाला आदि को छोड़कर बाकी देशों की गणना अनार्य देशों में की गई है) है। दुगुंछिय (जुगुप्सित) कुलों में अशन, पान, वस्त्र, कंबल, आदि ग्रहण करने का निषेध है। अन्यतीर्थिक अथवा गृहस्थों के साथ भोजन ग्रहण करने का निषेध है। आचार्य-उपाध्याय की शय्या और संस्तारक को पैर लग जाने पर हाथ से बिना छुए नमस्कार न करने से भिक्षु दोष का भागी होता है। प्रमाण और गणना से अधिक उपधि रखने का निषेध है।

सत्रहवें उद्देशक में १५१ सूत्र हैं जिन पर ५६०४-५९९६ गाथाओं का भाष्य है। कौतूहल से त्रस जीवों को रस्सी आदि से बाँधने का निषेध है। यहाँ अनेक प्रकार की मालाओं, धातुओं, आभूषणों, विविध वस्त्र, कंबलों आदि के उपभोग करने का निषेध किया गया है। निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थिनी को अन्यतीर्थिक तथा गृहस्थ से पाद आदि परिमर्दन आदि कराने का निषेध है। भिक्षु को गाने, बजाने, नाचने और हँसने आदि का निषेध है। यहाँ वीणा आदि अनेक वाद्यों का उल्लेख किया गया है।

अठारहवें उद्देशक में ७४ सूत्र हैं जिन पर ५९९७-६०२७ गाथाओं का भाष्य है। निष्कारण नाव की सवारी करने का निषेध है। थल से जल में और जल से थल में नाव को

खींचकर ले जाने का निषेध है। नाव में रस्सी आदि बाँधकर खींचने और उसे खेने का निषेध है। नाव के छिद्र में से पानी आता देखकर उसे हस्त, पाद अथवा कुशपत्र आदि से ढँकने का निषेध है। वस्त्र को खरीदकर पहनने आदि का निषेध है। दुरभिगंध वस्त्र को शीत जल आदि से प्रक्षालन आदि करने का निषेध है। वस्त्र द्वारा पृथिवीकाय आदि जीवों को हटाने का निषेध है।

उन्नीसवें उद्देशक में ४० सूत्र हैं जिन पर ६०२८–६२७१ भाष्य की गाथाएं हैं। मद्य (वियड) को खरीद कर पान करने का निषेध है। मद्य साथ लेकर गाँव-गाँव में विहार करने का निषेध है। संध्या समय स्वाध्याय करने का निषेध (भाष्यकार के कथनानुसार संध्या के समय गुह्यक[1] देव-विचरण करते रहते हैं। इसलिये उनसे ठगे जाने की संभावना है) है। यहाँ कालिक श्रुत के तीन और दृष्टिवाद के सात प्रश्न पूछे जाने का उल्लेख है (भाष्यकार के अनुसार नयवाद, गणित और अष्टांगनिमित्त को लेकर सात प्रश्नों का कथन किया गया है)। इन्द्रमह, स्कंदमह, यक्षमह और भूतमह नामक चार महामहों के अवसर पर स्वाध्याय का निषेध है। अयोग्य सूत्र का पाठ करने और योग्य के पाठ न करने का निषेध है।

बीसवें उद्देशक में ५३ सूत्र हैं जिन पर ६२७२-६७०३ गाथाओं का भाष्य है। इस सूत्रों में प्रथम २० सूत्र व्यवहारसूत्र से मिलते हैं। यहाँ प्रायश्चित्त आदि का वर्णन है। शालिभद्रसूरि के शिष्य श्रीचन्द्रसूरि ने इस उद्देशक की सुबोधा नाम की व्याख्या की है।

महानिसीह (महानिशीथ)

छेदसूत्रों में महानिशीथ को कभी दूसरा और कभी छठा

---

१. गुह्यक के लिये देखिये हॉपकिन्स, इपिक माइथोलोजी, पृष्ठ १४७ इत्यादि।

छेदसूत्र माना जाता है।[1] इसे समस्त प्रवचन का परम सार कहा गया है। निशीथ को लघुनिशीथ और इस सूत्र को महानिशीथ कहा गया है, यद्यपि बात उल्टी ही है। वास्तव में मूल महानिशीथ विच्छिन्न हो गया है, उसे दीमकों ने खा लिया है और उसके पत्र नष्ट हो गये हैं।[2] बाद में हरिभद्रसूरि ने उसका संशोधन किया तथा सिद्धसेन, वृद्धवादि, यक्षसेन, देवगुप्त, यशवर्धन, रविगुप्त, नेमिचन्द्र और जिनदासगणि आदि आचार्यों ने इसे बहुमान्य किया। भाषा और विषय की दृष्टि से इस सूत्र की गणना प्राचीन आगमों में नहीं की जा सकती। इसमें तन्त्रसंबंधी तथा जैन आगमों के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों के भी उल्लेख मिलते हैं।

महानिशीथ में छह अध्ययन और दो चूला हैं। सल्लुद्धरण नामके पहले अध्ययन में पापरूपी शल्य की निन्दा और आलोचना करने के लिये १८ पापस्थानक बताये गये हैं। दूसरे अध्ययन में कर्मों के विपाक का विवेचन करते हुए पापों की

---

१. इसकी हस्तलिखित प्रति मुनिपुण्यविजय जी के पास है; यह ग्रन्थ शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाला है। इसे १९१८ में वाल्टर शूब्रिंग ने जर्मन भाषा की प्रस्तावनासहित बर्लिन से प्रकाशित किया है। सोजित्रा के श्री नरसिंहभाई ईश्वरभाई पटेल ने इसका गुजराती भावानुवाद किया है। मुनि पुण्यविजयजी की यह हस्तलिखित प्रति मुनि जिनविजयजी की कृपा से मुझे देखने को मिली।

२. एत्थ य जत्थ जत्थ पयंपयेणाऽणुलग्गं सुत्तलावगं ण संपज्जइ तत्थ तत्थ सुयहरेहिं कुलिहियदोसो ण दायव्वो त्ति। किंतु जो सो एयस्स अचिंतचिंतामणिकप्पभूयस्स महानिसीहसुयक्खंधस्स पुव्वायरिसो आसि तहिं चेव खंडाखंडीए उद्देहिया एहिं हेऊहिं बहवे पण्णगा परिसडिया तहावि अच्चंतसमुहत्थाइसयं ति इमं महानिसीहसुयक्खंधं कसिण-पवयणस्स परमसारभूयं परं तत्तं महत्थं ति कलिऊण पवयणवच्छल्लत्तणेण। मुनिपुण्यविजयजी की हस्तलिखित प्रति पर से। तथा देखिये जिन-प्रभसूरि की विधिमार्गप्रपा; विविधतीर्थकल्प।

आलोचना करने का उल्लेख है। तीसरे और चौथे अध्ययन में साधुओं को कुशील साधुओं का संसर्ग न करने का उपदेश है। यहाँ नवकारमंत्र, उपधान, दया और अनुकंपा के अधिकारों का विवेचन है। वज्रस्वामी ने नवकारमंत्र का उद्धार करके उसे मूलसूत्र में स्थान दिया, इसका यहाँ उल्लेख है।[1] कुशील का संसर्ग छोड़कर आराधक बननेवाले नागिल की कथा दी हुई है। पाँचवें अध्ययन का नाम नवनीतसार है। इसमें गुरु-शिष्य का संबंध बताते हुए गच्छ का वर्णन किया गया है। गच्छाचार नाम के प्रकीर्णक को इसके आधार से रचा गया है। छठे अध्ययन में प्रायश्चित्त के दस और आलोचना के चार भेदों का वर्णन है। आचार्य भद्द के एक गच्छ में पाँच सौ साधु और बारह सौ साध्वियों के होने का उल्लेख है। भोजन की जगह शुद्ध जल ग्रहण करने का गच्छ का नियम था, जिससे एक साध्वी बीमार पड़ गई। लक्ष्मणादेवी जंबूदाडिम और सिरिया की अन्तिम पुत्री थी। विवाह के थोड़े ही दिन पश्चात् वह विधवा हो गई। उसने दीक्षा ग्रहण कर ली। एक दिन पक्षियों की संभोग-क्रीड़ा देखकर वह कामातुर हो गई। अगले जन्म में वह किसी गणिका की दासी के रूप में पैदा हुई। गणिका ने उसके नाक, कान आदि काटकर उसे कुरूप बनाना चाहा। दासी को किसी तरह इस बात का पता लग गया और वह उस स्थान से भाग गई। बाद में किसी व्यक्ति से उसने विवाह कर लिया। लेकिन उसकी सौत उससे बहुत ईर्ष्या करती थी। उसकी मृत्यु होने पर उसके शव को पशु-पक्षियों के खाने के लिये जंगल में फेंक दिया गया। चूलाओं में सुज्झसिव, सुसढ़ और अंजनश्री आदि की कथायें हैं। यहाँ सती होने का तथा राजा के अपुत्र होने के कारण उसकी विधवा कन्या को राजगद्दी पर बैठाने का

---

१. षट्खंडागम के टीकाकार वीरसेन आचार्य के अनुसार आचार्य पुष्पदंत णमोकारमंत्र के आदि कर्त्ता माने गये हैं। देखिये डॉक्टर हीरालाल जैन की षट्खंडागम, भाग २ की प्रस्तावना, पृष्ठ ३५-४१।

उल्लेख मिलता है। कीमिया बनाने का उल्लेख भी पाया जाता है।

ववहार (व्यवहार)

व्यवहारसूत्र को द्वादशांग का नवनीत कहा गया है। तीन मुख्य छेदसूत्रों में इसकी गिनती है,[1] शेष दो हैं निशीथ और बृहत्कल्प। इसके कर्ता श्रुतकेवली भद्रबाहु हैं जिन्होंने इस सूत्र पर निर्युक्ति भी लिखी है। व्यवहारसूत्र के ऊपर भाष्य भी है, लेकिन उसके कर्ता का नाम अज्ञात है। निर्युक्ति और भाष्य की गाथायें परस्पर मिल गई हैं। भाष्यकार ने व्यवहारसूत्रों पर भाष्य लिखने में अपनी असमर्थता प्रकट की है। मलयगिरि ने भाष्य पर विवरण लिखा है। व्यवहारसूत्र पर बृहद्भाष्य भी था जो अनुपलब्ध है। इसकी चूर्णी मिलती है जो प्रकाशित नहीं हुई। व्यवहारभाष्य पर अवचूरि भी लिखी गई है।

व्यवहारसूत्र निशीथ की अपेक्षा छोटा और बृहत्कल्प की अपेक्षा बड़ा है। इसमें दस उद्देशक हैं। पहले उद्देशक में ३४ सूत्र हैं। आरंभ में बताया है कि प्रमाद के कारण अथवा अनजाने में यदि भिक्षु दोष का भागी हो जाये तो उसे आलोचना करनी चाहिये, आचार्य उसे प्रायश्चित्त देते हैं। यदि कोई साधु गण को छोड़ कर अकेला विहार करे और फिर उसी गण में लौटकर आना चाहे तो उसे आचार्य, उपाध्याय आदि के समक्ष अपनी आलोचना, निन्दा, गर्हा आदि करके विशुद्धि प्राप्त करनी चाहिये। यदि कोई भी न मिले तो ग्राम, नगर, निगम, राजधानी, खेड, कर्बट, मडंब, पट्टण, द्रोणमुख आदि की पूर्व

---

१. यह ग्रन्थ भाष्य और मलयगिरि की टीकासहित सन् १९२६ में भावनगर से प्रकाशित हुआ है। कल्प, व्यवहार और निशीथ ये तीनों सूत्र वाल्टेर शूब्रिंग द्वारा संपादित होकर अहमदाबाद से प्रकाशित हुए हैं।

अथवा उत्तर दिशा में अपने मस्तक पर दोनों हाथों की अंजलि रख, 'मैंने ये अपराध किये हैं' कहकर आलोचना करे।

दूसरे उद्देशक में ३० सूत्र हैं। यहाँ परिहारकल्प में स्थित रुग्ण साधु को गण से बाहर निकालने का निषेध है। यही नियम अनवस्थाप्य और पारंचिक प्रायश्चित्त में स्थित तथा क्षिप्तचित्त, यक्षाविष्ट, उन्मादप्राप्त, उपसर्गप्राप्त, प्रायश्चित्तप्राप्त आदि भिक्षु के संबंध में भी लागू होता है। यदि दो साधर्मिक एकत्र विहार करते हैं और उनमें से कोई एक कोई अकृत्य कर्म करके आलोचना करता है तो यदि वह स्थापनीय है तो उसे अलग रखना चाहिये, और आवश्यकता पड़ने पर उसका वैयावृत्य करना चाहिये। परिहारकल्प-स्थित भिक्षु को अशन-पान आदि प्रदान करने का निषेध है; स्थविरों की आज्ञा से ही उसे अशन-पान दिया जा सकता है।

तीसरे उद्देशक में २९ सूत्र हैं। यदि कोई भिक्षु गण का धारक बनना चाहे तो स्थविरों को पूछकर ही उसे ऐसा करना योग्य है। अन्यथा उसे छेद अथवा परिहार का भागी होना पड़ता है। तीन वर्ष की पर्यायवाला, आचार आदि में कुशल, बहुश्रुतवेत्ता श्रमण निर्ग्रन्थ कम-से-कम आचारप्रकल्प (निशीथ) धारी को, पाँच वर्ष की पर्यायवाला कम-से-कम दशा-कल्प और व्यवहारधारी को तथा आठ वर्ष की पर्यायवाला कम-से-कम स्थानांग और समवायांगधारी को उपदेश दे सकने योग्य है। यदि कोई भिक्षु गण छोड़कर मैथुन का सेवन करे तो तीन वर्ष तक वह आचार्यपद का अधिकारी नहीं हो सकता। यदि कोई गणावच्छेदक अपने पद पर रहकर मैथुनधर्म का सेवन करे तो जीवनपर्यन्त उसे कोई पद देना योग्य नहीं।

चौथे उद्देशक में ३२ सूत्र हैं। आचार्य और उपाध्याय के लिये हेमन्त और ग्रीष्म ऋतुओं में अकेले विहार करने का निषेध किया गया है, वर्षाकाल में दो के साथ विहार करने का विधान है। गणावच्छेदक को तीन के साथ विहार करना

योग्य है। बीमार हो जाने पर आचार्य-उपाध्याय दूसरे से कहें कि मेरे कालगत हो जाने पर अमुक व्यक्ति को यह पद दिया जाये। लेकिन यदि वह व्यक्ति योग्य हो तो ही उसे वह पद देना चाहिये, अन्यथा नहीं। यदि बहुत से साधर्मिक एक साथ विचरने की इच्छा करें तो स्थविरों से बिना पूछे ऐसा नहीं करना चाहिये। यदि ऐसा करें तो छेद अथवा परिहार तप का प्रायश्चित्त ग्रहण करना चाहिये।

पाँचवें उद्देशक में २१ सूत्र हैं। हेमन्त और ग्रीष्म में प्रवर्त्तिनी साध्वी को दो के साथ और गणावच्छेदिका को तीन के साथ विहार करना चाहिये। वर्षावास में प्रवर्त्तिनी को तीन के साथ और गणावच्छेदिका को चार के साथ विहार करने का विधान है। कोई तरुण निर्ग्रन्थ अथवा निर्ग्रन्थिनी यदि आचारप्रकल्प (निशीथ) भूल जाये तो उसे जीवनपर्यन्त आचार्यपद अथवा प्रवर्त्तिनी पद देने का निषेध है। एक साथ भोजन आदि करने-वाले निर्ग्रन्थ अथवा निर्ग्रन्थिनियों को एक दूसरे के समीप आलोचना करने का निषेध है। यदि रात्रि अथवा विकाल में किसी निर्ग्रन्थ को साँप (दीहपट्ठ) काट ले तो साध्वी से औषधोपचार कराने का विधान है।

छठे उद्देशक में ११ सूत्र हैं। स्थविरों से बिना पूछे अपने सगे-सम्बन्धियों के घर भिक्षा के लिये जाने का निषेध है, अन्यथा छेद अथवा परिहार का विधान है। ग्राम आदि में एक द्वारवाले स्थल में बहुत से अल्पश्रुतधारी भिक्षुओं के रहने का निषेध है। आचारप्रकल्प के ज्ञाता साधुओं के साथ रहने का विधान है। जहाँ बहुत से स्त्री-पुरुष स्नान करते हों वहाँ यदि कोई श्रमण निर्ग्रन्थ किसी छिद्र की सहायता से अथवा हस्तकर्म का सेवन कर वीर्यपात करे तो उसके लिये एक मास के अनुद्घाती परिहार तप के प्रायश्चित्त का विधान है।

सातवें उद्देशक में ११ सूत्र हैं। एक आचार्य की मर्यादा में रहनेवाले निर्ग्रन्थ अथवा निर्ग्रन्थिनियों को पीठ पीछे व्यवहार बन्द

न कर के प्रत्यक्ष में मिलकर, भूल आदि बताकर संभोग (एक साथ भोजन आदि करना) और विसंभोग की विधि बताई है। किसी निर्ग्रन्थिनी को अपने वैयावृत्य के लिये प्रव्रजित आदि करने का निषेध है। अयोग्य काल में स्वाध्याय का निषेध है। तीन वर्ष की पर्यायवाला श्रमण तीस वर्ष की पर्यायवाली श्रमणी का उपाध्याय ; तथा पाँच वर्ष की पर्यायवाला श्रमण साठ वर्ष की पर्यायवाली श्रमणी का आचार्य बन सकता है।[1] ग्रामानुग्राम विहार करते समय यदि कोई भिक्षु कालधर्म को प्राप्त हो जाये तो प्रासुक निर्जीव स्थान को अच्छी तरह देखभाल कर के उसे वहाँ परिष्ठापन कर दे। सागारिक के घर में रहने के पूर्व उसके पिता, भाई, पुत्र और उसी विधवा कन्या की अनुज्ञा प्राप्त कर लेनी चाहिये। राजा की अनुज्ञा लेकर वसति में ठहरने का विधान है।

आठवें उद्देशक में १६ सूत्र हैं। स्थविरों के लिये दंड, भांड, छत्र, मात्रक, यष्टि, वस्त्र और चर्म के उपयोग का विधान है। गृहपति के कुल में पिंडपात ग्रहण करने के लिये प्रविष्ट किसी निर्ग्रन्थ का यदि कोई उपकरण छूट जाये और कोई साधर्मी उसे देख ले तो उसे ले जाकर दे दे। यदि वह उपकरण उसका न हो तो उसे एकान्त में ले जाकर रख दे। यहाँ कवलाहारी, अल्पाहारी और ऊनोदरी निर्ग्रन्थों का उल्लेख किया गया है।

नौवें उद्देशक में ४३ सूत्र हैं। सागारिक के घर में यदि कोई पाहुना, दास, नौकर-चाकर आदि भोजन बनाये और भिक्षु को दे तो उसे ग्रहण न करना चाहिये। सागारिक की चक्किशाला (तेल की दुकान), गोलियशाला (गुड़ की दुकान), दौषिकशाला (कपड़े की दुकान), गंधियशाला (सुगंधित पदार्थों की दुकान)

---

१. बौद्धों के विनयपिटक में कहा गया है—सौ वर्ष की उपसंपदा पाई हुई भिक्षुणी को भी उसी दिन के संपन्न भिक्षु के लिये अभिवादन, प्रत्युत्थान, अञ्जलि जोड़ना आदि करना चाहिये। भरतसिंह उपाध्याय पालि साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ३२१

आदि से वस्तु ग्रहण करने के संबंध में नियमों का प्रतिपादन किया है। यहाँ भिक्षुप्रतिमा और मोकप्रतिमा का विवेचन है।

दसवें उद्देशक में ३४ सूत्र हैं। इसमें यवमध्यचन्द्रप्रतिमा और वज्रमध्यप्रतिमा का वर्णन है। आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत नाम के पाँच प्रकार के व्यवहार का उल्लेख है। चार प्रकार के पुरुष, चार आचार्य और चार अन्तेवासियों का उल्लेख है। स्थविर तीन प्रकार के होते हैं—जाति, श्रुत और पर्याय। साठ वर्ष का जातिस्थविर, श्रुत का धारक श्रुतस्थविर, तथा बीस वर्ष की पर्यायवाला साधु पर्यायस्थविर कहा जाता है। निर्ग्रन्थ अथवा निर्ग्रन्थिनी को दाढ़ी-मूंछ आने के पूर्व आचारप्रकल्प (निशीथ) के अध्ययन का निषेध है। तीन वर्ष का दीक्षाकाल समाप्त होने पर आचारप्रकल्प नामक अध्ययन, चार वर्ष समाप्त होने पर सूयगडंग, पाँच वर्ष समाप्त होने पर दशा-कल्प-व्यवहार, आठ वर्ष समाप्त होने पर ठाणांग और समवायांग, दस वर्ष समाप्त होने पर वियाहपण्णत्ति, ग्यारह वर्ष समाप्त होने पर क्षुल्लिकाविमान-प्रविभक्ति, महतीविमानप्रविभक्ति (यहाँ विमानों का विस्तृत वर्णन किया गया है), अंगचूलिका (उपासकदशा आदि की चूलिका), वर्गचूलिका, और व्याख्याप्रज्ञप्तिचूलिका नाम के अध्ययन, बारह वर्ष समाप्त होने पर अरुणोपपात, गरुडोपपात,[1] वरुणोपपात, वैश्रमणोपपात, और वेलंधरउपपात नामक अध्ययन, तेरह वर्ष समाप्त होने पर उत्थानश्रुत, समुत्थान-श्रुत, देवेन्द्रउपपात, नाग और परियापनिका, चौदह वर्ष समाप्त होने पर स्वप्नभावना अध्ययन, पन्द्रह वर्ष समाप्त होने पर चारणभावना अध्ययन, सोलह वर्ष समाप्त होने पर तेजोनिसर्ग अध्ययन, सत्रह वर्ष समाप्त होने पर आशीविषभावना अध्ययन, अठारह वर्ष समाप्त होने पर दृष्टिवाद नामक अंग और बीस वर्ष समाप्त होने पर सर्व सूत्रों के पठन का अधिकारी होता है। यहाँ दस प्रकार के वैयावृत्य का उल्लेख है।

---

१. गुणचन्द्रगणि के कहारयणकोस में इस सूत्र का उल्लेख है।

दससुयक्खंध (दशाश्रुतस्कंध)

दशाश्रुतस्कंध जिसे दसा, आयारदसा अथवा दसासुय भी कहा जाता है, चौथा छेदसूत्र है।[1] कुछ लोग दसा के साथ कप्प को जोड़कर ववहार को अलग मानते हैं, और कुछ दसा को अलग करके कल्प और व्यवहार को एक स्वीकार करते हैं। इससे इस सूत्र की उपयोगिता स्पष्ट है। दशाश्रुतस्कंध के कर्ता भद्रबाहु माने जाते हैं। इस पर निर्युक्ति है। निर्युक्ति के कर्ता भद्रबाहु छेदसूत्रों के कर्ता भद्रबाहु से भिन्न जान पड़ते हैं। दशाश्रुतस्कंध पर चूर्णी भी है। ब्रह्मर्षि पार्श्वचन्द्रीय ने इस पर वृत्ति लिखी है।

इस ग्रन्थ में दस अध्ययन हैं, जिनमें आठवें और दसवें विभाग को अध्ययन और बाकी को दशा कहा गया है। पहली दशा में असमाधि के बीस स्थान गिनाये हैं। दूसरी दशा में शबल के इक्कीस स्थानों का उल्लेख है। इनमें हस्तकर्म, मैथुन, रात्रिभोजन, राजपिंडग्रहण, एक मास के भीतर एक गण छोड़कर दूसरे गण में चले जाना आदि स्थान मुख्य हैं। तीसरी दशा में आशातना के तेईस प्रकारों का उल्लेख है। जो मुनि इनका सेवन करते हैं वे शबल हो जाते हैं। चौथी दशा में आठ प्रकार की गणिसंपदा बताई गई है—आचारसंपदा, श्रुतसंपदा, शरीरसंपदा, वचनसंपदा, वाचनासंपदा, मतिसंपदा, प्रयोगसंपदा और संग्रहसंपदा। इन संपदाओं का यहाँ विस्तार से वर्णन है। पाँचवीं दशा में चित्तसमाधिस्थान का वर्णन है। इसके धर्मचिन्ता आदि दस भेद बताये हैं। छठी दशा में उपासक की ११ प्रतिमाओं का विवेचन है। आरम्भ में अक्रियावादी, क्रियावादी आदि मिथ्यात्व का प्ररूपण करते हुए उनकी क्रियाओं के फल का वर्णन किया है। काषाय वस्त्र, दातौन, स्नान, मर्दन, विलेपन, शब्द,

---

१. पंन्यास मणिविजयगणिवरग्रन्थमाला में वि० सं० २०११ में प्रकाशित।

स्पर्श, रस, रूप, गन्ध, माला, अलंकार आदि से नास्तिकवादी की निर्वृति नहीं होती। यहाँ बन्धन के अनेक प्रकार बताये हैं। दसवीं प्रतिमा में क्षुरमुंडन कराने अथवा शिखा धारण करने का विधान है। सातवीं दशा में १२ प्रकार की भिक्षुप्रतिमा का वर्णन है। भावप्रतिमा पाँच प्रकार की है—समाधि, उपधान, विवेक, पडिसंलीण और एकल्लविहार। इनके भेद-प्रभेदों का वर्णन किया गया है।

आठवें अध्ययन में श्रमण भगवान् महावीर का च्यवन, जन्म, संहरण, दीक्षा, केवलज्ञान और मोक्ष का विस्तृत वर्णन है। कहीं काव्यमय भाषा का प्रयोग भी हुआ है। इसी का दूसरा नाम पज्जोसणाकप्प अथवा कल्पसूत्र है।[1] जिनप्रभ, धर्मसागर, विनय-विजय, समयसुन्दर, रत्नसागर, संघविजय, लक्ष्मीवल्लभ आदि अनेक आचार्यों ने इस पर टीकायें लिखी हैं।[2] इसे पर्यूषण के दिनों में साधु लोग अपने व्याख्यानों में पढ़ते हैं।[3] महावीर पहले माहणकुंडग्गाम के ऋषभदत्त की पत्नी देवानंदा ब्राह्मणी के गर्भ में अवतरित हुए, लेकिन क्योंकि अरहंत, चक्रवर्ती, बलदेव तथा वासुदेव भिक्षुक और ब्राह्मण आदि कुलों में जन्म धारण नहीं

---

१. समयसुन्दरगणि की टीकासहित सन् १९३९ में बम्बई से प्रकाशित। हर्मन जैकोबी द्वारा लिप्जिग से सन् १८७९ में सम्पादित; जैकोबी ने सेक्रेड बुक्स ऑव दि ईस्ट के २२वें भाग में अंग्रेजी में अनुवाद भी किया है। सन् १९५८ में राजकोट से हिन्दी-गुजराती अनुवाद सहित इसका संस्करण निकला है।

२. देखिये, जैनग्रन्थावलि, श्री जैन श्वेतांबर कान्फरेन्स, मुंबई, वि० सं० १९६५, पृष्ठ ४८-५२।

३. छेदग्रन्थों में इसका अन्तर्भाव होने के कारण पहले इस सूत्र को सभा में नहीं पढ़ा जाता था। बाद में वि० सं० ५२३ में आनन्दपुर के राजा ध्रुवसेन के पुत्र की मृत्यु हो जाने से इसे व्याख्यानों में पढ़ा जाने लगा।

करते,[1] इसलिये इन्द्र ने उन्हें खत्तियकुंडग्गाम के गणराजा काश्यपगोत्रीय सिद्धार्थ की पत्नी वशिष्ठगोत्रीय त्रिशला के गर्भ में परिवर्तित कर दिया। कौण्डिन्यगोत्रीय यशोदा से उनका विवाह हुआ। महावीर ३० वर्ष की अवस्था तक गृहवास में रहे, और माता-पिता के कालगत हो जाने पर अपने ज्येष्ठ भ्राता नन्दिवर्धन की अनुज्ञा लेकर ज्ञातृखंड नामक उद्यान में उन्होंने दीक्षा ग्रहण की। साधुकाल में उन्हें अनेक उपसर्ग सहन करने पड़े। १२ वर्ष उन्होंने तप किया और जंभियग्राम के बाहर उज्जुवालिया नदी के किनारे तप करते हुए उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। अट्ठियग्गाम, चम्पा, पृष्ठचम्पा, वैशाली, वाणियगाम, नालन्दा, मिथिला, भद्दिया, आलंभिया, श्रावस्ति, पणियभूमि और मज्झिमपावा में उन्होंने चातुर्मास व्यतीत करते हुए ३० वर्ष तक विहार किया। तत्पश्चात् ७२ वर्ष की अवस्था में उन्होंने निर्वाणलाभ किया। इस शुभ अवसर पर काशी-कोशल के नौ मल्लकि और नौ लिच्छवी नामक १८ गणराजाओं ने सर्वत्र प्रकाश कर बड़ा उत्सव मनाया। महावीरचरित्र के पश्चात् पार्श्व, नेमी, ऋषभदेव तथा अन्य तीर्थंकरों का चरित्र लिखा गया है। कल्पसूत्र के दूसरे भाग में स्थविरावली के गण, शाखा और कुलों का उल्लेख है, जिनमें से कई मथुरा के ईसवी सन् की पहली शताब्दी के शिलालेखों में उत्कीर्ण हैं। तीसरे भाग में सामाचारी अर्थात् साधुओं के नियमों का विवेचन है।

नौवीं दशा में महामोहनीय कर्मबन्ध के तीस स्थानों का प्ररूपण है। इस प्रसंग पर महावीर चम्पा नगरी के पूर्णभद्र चैत्य में समवसृत होते हैं और उनके व्याख्यान के समय राजा कूणिक (अजातशत्रु) अपनी रानी धारिणी के साथ उपस्थित रहता है। दसवें अध्ययन में नौ निदानों का वर्णन है। महावीर के राजगृह

---

१. ललितविस्तर (पृष्ठ २०) में भी कहा है कि बोधिसत्त्व तीन कुलों में उत्पन्न नहीं होते।

नगर के गुणशिल चैत्य में समवसृत होने पर राजा श्रेणिक महारानी चेलना के साथ दर्शनार्थ उपस्थित होते हैं।

कप्प (कल्प अथवा बृहत्कल्प)

कल्प अथवा बृहत्कल्प को कल्पाध्ययन भी कहते हैं[1], जो पर्यूषणकल्पसूत्र से भिन्न है। जैन श्रमणों के प्राचीनतम आचारशास्त्र का यह महाशास्त्र है। निशीथ और व्यवहार की भाँति इसकी भाषा काफी प्राचीन है, यद्यपि टीकाकारों ने अन्य आगमों की भाँति यहाँ भी बहुत सा हेरफेर कर डाला है। इससे साधु-साध्वियों के संयम के साधक (कल्प-योग्य) अथवा बाधक (अकल्प-अयोग्य) स्थान, वस्त्र, पात्र आदि का विस्तृत विवेचन है, इसलिये इसे कल्प कहते हैं। इसमें छह उद्देशक हैं। मलयगिरि के अनुसार प्रत्याख्यान नामके नौवें पूर्व के आचार नामक तीसरी वस्तु के बीसवें प्राभृत में प्रायश्चित्त का विधान किया गया है; कालक्रम से पूर्व का पठन-पाठन बन्द हो जाने से प्रायश्चित्तों का उच्छेद हो गया जिसके परिणाम स्वरूप भद्रबाहुस्वामी ने कल्प और व्यवहार की रचना की और इन दोनों छेदसूत्रों पर सूत्रस्पर्शिक निर्युक्ति लिखी। कल्प के ऊपर संघदासगणि क्षमाश्रमण ने लघुभाष्य की रचना की है। मलयगिरि के कथनानुसार भद्रबाहु की निर्युक्ति और संघदासगणि की भाष्य की गाथायें परस्पर मिल गई हैं, और इनका पृथक् होना असंभव है। भाष्य के ऊपर हेमचन्द्र आचार्य के समकालीन मलयगिरि ने अपूर्ण विवरण लिखा है जिसे लगभग सवा दो सौ वर्ष बाद संवत् १३३२ में क्षेमकीर्तिसूरि ने पूर्ण किया है। कल्प के ऊपर बृहद्भाष्य भी है जो केवल तीसरे उद्देश तक ही मिलता है। इस पर विशेषचूर्णी भी लिखी गई है।

---

१. संघदासगणि के भाष्य तथा मलयगिरि और क्षेमकीर्ति की टीकाओं के साथ मुनि पुण्यविजयजी द्वारा सुसम्पादित होकर आत्मानंद जैनसभा भावनगर से १९३३-१९४२ में प्रकाशित।

पहले उद्देशक में ५१ सूत्र हैं। पहले निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थिनियों के कच्चे ताल और प्रलम्ब भक्षण करने का निषेध बताया है।[1] ग्राम, नगर, खेट, कर्वटक, मडंब, पत्तन, आकर, द्रोणमुख, निगम, राजधानी, आश्रम, निवेश, संबाध, घोष, अंशिका, पुटभेदन, और संकर[2] आदि स्थानों का प्रतिपादन किया है। एक बड़े और एक दरवाजे वाले ग्राम, नगर आदि में निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थिनियों को एक साथ नहीं रहने का विधान है। जिस उपाश्रय के चारों ओर अथवा बाजू में दूकानें हों या आसपास में रास्ते हों, वहाँ निर्ग्रन्थिनियों को रहना योग्य नहीं। उन्हें द्वाररहित खुले उपाश्रय में नहीं रहना चाहिये। ऐसी हालत में परदा (चिलिमिलिका) रखने का विधान है। निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थिनियों को नदी आदि के किनारे रहने और चित्रकर्म से युक्त उपाश्रय में रहने का निषेध है। वर्षावास में निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थिनियों को विहार करने का निषेध है, हेमन्त और ग्रीष्म ऋतुओं में ही वे विहार कर सकते हैं। वैराज्य अथवा विरुद्धराज्य के समय गमनागमन का निषेध है। रात्रि के समय अथवा विकाल में अशन-पान ग्रहण करने और मार्ग में गमन करने का निषेध है। साकेत के पूर्व में अंग-मगध तक, दक्षिण में कौशांबी तक, पश्चिम में थूणा (स्थानेश्वर) तक और उत्तर में कुणालविषय (उत्तर कौशल) तक गमन करने का विधान है; इन्हीं क्षेत्रों को आर्यक्षेत्र कहा गया है।

दूसरे उद्देशक में बताया है कि जिस उपाश्रय में शालि, व्रीहि, मूंग आदि फैले पड़े हों, सुरा, सौवीर आदि मद्य के घड़े

---

१. जान पड़ता है दुर्भिक्ष के समय उत्तर विहार, उड़ीसा और नैपाल आदि देशों में जैन साधुओं को ताड़ के फल खाकर निर्वाह करना पड़ता था।

२. विवेचन के लिये देखिये जगदीशचन्द्र जैन का नागरीप्रचारिणी-पत्रिका (वर्ष ५९, सम्वत् २०११ अङ्क ३-४) में 'जैन आगम-ग्रन्थों की महत्त्वपूर्ण शब्द-सूचियाँ' नामक लेख।

रक्खे हों, अग्नि जल रही हो, दीपक का प्रकाश हो रहा हो, पिंड, क्षीर, दही आदि बिखरे पड़े हों, वहाँ रहना योग्य नहीं। आगमनगृह (सार्वजनिक स्थान), खुले हुए घर, वंशीमूल (घर के बाहर का चौंतरा), वृक्षमूल आदि स्थानों में निर्ग्रन्थि-नियों के रहने का निषेध है। पाँच प्रकार के वस्त्र और रजोहरण धारण करने का विधान है।

तीसरे उद्देशक में निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थिनियों को एक दूसरे के उपाश्रय में आने-जाने की मर्यादा का उल्लेख करते हुए वहाँ सोने, बैठने, आहार, स्वाध्याय और ध्यान करने का निषेध किया है। रोग आदि की दशा में चर्म रखने का विधान है। कृत्स्न और अकृत्स्न वस्त्र रखने की विधि का उल्लेख है। प्रव्रज्या ग्रहण करते समय उपकरण ग्रहण करने का विधान है। वर्षाकाल तथा शेष आठ मास में वस्त्र व्यवहार करने की विधि बताई है। घर के अन्दर अथवा दो घरों के बीच में बैठने, सोने आदि का निषेध है। विहार करने के पूर्व गृहस्थ की शय्या, संस्तारक आदि लौटाने का विधान है। ग्राम, नगर आदि के बाहर यदि राजा की सेना का पड़ाव हो तो वहाँ ठहरने का निषेध है।

चौथे उद्देशक में प्रायश्चित्त और आचारविधि का उल्लेख है। हस्तकर्म, मैथुन और रात्रिभोजन का सेवन करने पर अनुद्घातिक अर्थात् गुरु प्रायश्चित्त का विधान है। पारंचिक और अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त के योग्य स्थान बताये गये हैं। षण्डक (नपुंसक), वातिक और क्लीब को प्रव्रज्या देने का निषेध है। दुष्ट, मूढ और व्युद्ग्राहित (भ्रान्त चित्तवाला) को उपदेश और प्रव्रज्या आदि का निषेध है। सदोष आहार-सम्बन्धी नियम बताये हैं। एक गण छोड़कर दूसरे गण में जाने के सम्बन्ध में नियमों का उल्लेख है। रात्रि के समय अथवा विकाल में साधु के कालगत होने पर उसके परिष्ठापन की विधि बताई है।[1]

---

१. मृतक के क्रिया-कर्म के लिये देखिये रामायण (४.२५. १६ इत्यादि), तथा बी० सी० लाहा, इण्डिया डिस्क्राइब्ड, पृ० १९३।

निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थिनियों में झगड़ा (अधिकरण) आदि होने पर भिक्षाचर्या का निषेध है। गंगा, यमुना, सरयू, कोसी, और मही नदियों में से कोई भी नदी एक मास के भीतर एक बार से अधिक पार करने का निषेध है। कुणाला में एरावती नदी को पार करते समय एक पाँव जल में रख कर दूसरे पाँव को ऊँचा उठाकर पार करने का निषेध है। ऋतुबद्धकाल और वर्षा ऋतु में रहने लायक उपाश्रयों का वर्णन है।

पाँचवें उद्देशक में सूर्योदय के पूर्व और सूर्योदय के पश्चात् भोजन-पान के सम्बन्ध में नियम बताये हैं। निर्ग्रन्थिनी को पिंडपात आदि के लिये गृहपति के कुल में अकेले जाने तथा रात्रि अथवा विकाल में उसे पशु-पक्षी आदि को स्पर्श करने का निषेध है। निर्ग्रन्थिनी को अचेल और बिना पात्र के रहने का निषेध है। सूर्याभिमुख होकर एक पग आदि से खड़ी रह कर तपश्चर्या आदि करने का निषेध है। रात्रि अथवा विकाल के समय सर्प से दष्ट किये जाने के सिवाय सामान्य दशा में निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थिनियों को एक दूसरे का मूत्रपान करने का निषेध है।[1] उन्हें एक दूसरे के शरीर पर आलेपन द्रव्य की मालिश आदि करने का निषेध है।

छठे उद्देशक में निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थिनियों को छह प्रकार के दुर्वचन बोलने का निषेध किया गया है। साधु के पैर में यदि कांटा आदि लग गया है तो और साधु स्वयं निकालने में असमर्थ हों तो नियम के अपवाद रूप में निर्ग्रन्थिनी उसे निकाल सकती है। निर्ग्रन्थिनी यदि कीचड़ आदि में फंस गई हो तो निर्ग्रन्थ उसे सहारा दे सकता है। क्षिप्तचित्त अथवा यक्षाविष्ट निर्ग्रन्थिनी को निर्ग्रन्थ द्वारा पकड़ कर रखने का विधान है। छह प्रकार के कल्पों का उल्लेख किया गया है।

---

१. विनयपिटक के भैषज्यस्कन्धक में यह विधान पाया जाता है।

पंचकप्प (पंचकल्प)

पंचकल्पसूत्र और पंचकल्पमहाभाष्य दोनों एक हैं। जिस प्रकार पिंडनिर्युक्ति दशवैकालिकनिर्युक्ति का, और ओघनिर्युक्ति आवश्यकनिर्युक्ति का ही पृथक् किया हुआ एक अंश है, वैसे ही पंचकल्पभाष्य बृहत्कल्पभाष्य का अंश है। मलयगिरि और क्षेमकीर्तिसूरि ने इसका उल्लेख किया है। इस भाष्य के कर्ता संघदासगणि क्षमाश्रमण हैं।[1] इस पर चूर्णी भी है जो अभीतक प्रकाशित नहीं हुई है।

जीयकप्पसुत्त (जीतकल्पसूत्र)

कहीं जीतकल्प की गणना छेदसूत्रों में की जाती है।[2] इसमें जैन श्रमणों के आचार (जीत)[3] का विवेचन करते हुए उनके लिये दस प्रकार के प्रायश्चित्त का विधान हैं जो १०३ गाथाओं में वर्णित हैं। जीतकल्प के कर्ता विशेषावश्यकभाष्य के रचयिता जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण हैं जिनका समय ६४५ विक्रम संवत् माना जाता है। जिनभद्रगणि ने जीतकल्पसूत्र के ऊपर भाष्य भी लिखा है जो बृहत्कल्पभाष्य, व्यवहारभाष्य, पंचकल्पभाष्य, पिंडनिर्युक्ति आदि ग्रन्थों की गाथाओं का संग्रहमात्र है। सिद्धसेन आचार्य ने इस पर चूर्णी की रचना की है जिस पर श्रीचन्द्रसूरि ने वि० सं० १२२७ में विषमपदव्याख्या टीका लिखी है। तिलकाचार्य की वृत्ति भी इस पर मौजूद है।

इस सूत्र में प्रायश्चित्त का माहात्म्य प्रतिपादन कर उसके

---

१. देखिये मुनि पुण्यविजयजी की बृहत्कल्पसूत्र छठे भाग की प्रस्तावना, पृ० ५६।

२. मुनि पुण्यविजय द्वारा सम्पादित वि० सं० १९९४ में अहमदाबाद से प्रकाशित ; चूर्णि और टीका सहित मुनि जिनविजय जी द्वारा सम्पादित, वि० सं० १९८३ में अहमदाबाद से प्रकाशित।

३. आयारजीदकप्प का वट्टकेर के मूलाचार (५.१९०) और शिवार्य की भगवतीआराधना (गाथा १३०) में उल्लेख है।

निम्नलिखित दस भेद बताये हैं—आलोचना, प्रतिक्रमण, मिश्र (आलोचना और प्रतिक्रमण), विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, अनवस्थाप्य, पारंचिक। फिर प्रत्येक प्रायश्चित्तविधि का विधान किया है। भद्रबाहु के पश्चात् अन्तिम दो प्रायश्चित्तों का व्युच्छेद बताया गया है।

यतिजीतकल्प और श्राद्धजीतकल्प भी जीतकल्प के ही अन्दर गिने जाते हैं। यतिजीतकल्प में यतियों का आचार है। इसके कर्त्ता सोमप्रभसूरि हैं, इस पर साधुरत्न ने वृत्ति लिखी है। श्राद्धजीतकल्प में श्रावकों का आचार है। इसके रचयिता धर्मघोष हैं, सोमतिलक ने इस पर वृत्ति लिखी है।



मूलसूत्र

बारह उपांगों की भाँति मूलसूत्रों का उल्लेख भी प्राचीन आगम ग्रन्थों में देखने में नहीं आता।[1] इन ग्रन्थों में साधु-जीवन के मूलभूत नियमों का उपदेश है, इसलिये इन्हें मूलसूत्र कहा है। कुछ लोग उत्तराध्ययन, आवश्यक और दशवैकालिक सूत्रों को ही मूलसूत्र मानते हैं, पिंडनिर्युक्ति और ओघनिर्युक्ति को मूलसूत्रों में नहीं गिनते। इनके अनुसार पिंडनिर्युक्ति दशवैकालिकनिर्युक्ति का, और ओघनिर्युक्ति आवश्यकनिर्युक्ति का ही एक अंश है। कुछ विद्वान् पिंडनिर्युक्ति को मूलसूत्रों में सम्मिलित कर मूलसूत्रों की संख्या चार मानते हैं, और कुछ पिंडनिर्युक्ति के साथ ओघनिर्युक्ति को भी शामिल कर लेते हैं। कहीं पक्खियसुत्त का नाम भी लिया जाता है। आगमों में मूलसूत्रों का स्थान कई दृष्टियों से बहुत महत्त्व का है। इनमें उत्तराध्ययन और दशवैकालिक जैन आगमों के प्राचीनतम सूत्रों में गिने जाते हैं, और इनकी तुलना सुत्तनिपात, धम्मपद आदि प्राचीन बौद्धसूत्रों से की जाती है।

उत्तरज्झयण (उत्तराध्ययन)

उत्तराध्ययन में महावीर के अन्तिम चातुर्मास के समय उनसे बिना पूछे हुए ३६ विषयों के उत्तर संगृहीत हैं, इसलिये

---

१. सब से पहले भावसूरि ने जैनधर्मवरस्तोत्र (श्लोक ३०) की टीका (पृ० ९४) में निम्नलिखित मूलसूत्रों का उल्लेख किया है—अथ उत्तराध्ययन १, आवश्यक २, पिण्डनिर्युक्ति तथा ओघनिर्युक्ति ३, दशवैकालिक ४ इति चत्वारि मूलसूत्राणि—प्रो० एच० आर० कापडिया, द कैनोनिकल लिटरेचर ऑव द जैन्स, पृ० ४३ फुटनोट।

इसे उत्तराध्ययन कहते[1] हैं। धार्मिक-काव्य की दृष्टि से यह आगम बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसमें उपमा, दृष्टांत, और विविध संवादों द्वारा काव्यमय मार्मिक भाषा में त्याग, वैराग्य और संयम का उपदेश है। डॉक्टर विंटरनीज़ ने इस प्रकार के साहित्य को श्रमण-काव्य की कोटि में रख कर महाभारत, धम्मपद और सुत्तनिपात आदि के साथ इस सूत्र की तुलना की है। भद्रबाहु ने इस पर निर्युक्ति और जिनदासगणि महत्तर ने चूर्णी लिखी है। थारापद्रगच्छीय वादिवेताल शान्तिसूरि (मृत्यु सन् १०४० में) ने शिष्यहिता नाम की पाइय टीका और नेमिचन्द्रसूरि (पूर्व नाम देवेन्द्रगणि) ने शांतिसूरि के आधार पर सुखबोधा (सन् १०७३ में समाप्त) टीका लिखी है। इसी प्रकार लक्ष्मी-वल्लभ, जयकीर्ति, कमलसंयम, भावविजय, विनयहंस, हर्षकुल आदि अनेक विद्वानों ने भी टीकायें लिखी हैं। जॉर्ल शार्पेण्टियर ने अंग्रेजी प्रस्तावना सहित मूलपाठ का संशोधन किया है। हर्मन जैकोबी ने इसे सेक्रेड बुक्स ऑव द ईस्ट के ४५वें भाग में अंग्रेजी अनुवाद सहित प्रकाशित किया है।

उत्तराध्ययन में ३६ अध्ययन हैं[2], जिनमें नेमिप्रव्रज्या, हरिकेश-आख्यान, चित्त-संभूति की कथा, मृगापुत्र का आख्यान, रथनेमी और राजीमती का संवाद, केशी और गौतम का संवाद

---

१. जिनदासगणि महत्तर की चूर्णी रतलाम से १९३३ में प्रकाशित हुई है; शान्तिसूरि की टीका सहित देवचंद लालभाई जैनपुस्तकोद्धार-माला के ३३, ३६ और ४१ वें पुष्प में बंबई से प्रकाशित ; नेमिचन्द्र की सुखबोधा टीका बंबई से सन् १९३७ में प्रकाशित। अखिल भारतीय श्वेतांबर स्थानकवासी जैनशास्त्रोद्धार समिति राजकोट से सन् १९५९ में हिन्दी-गुजराती अनुवाद सहित इसका एक नया संस्करण निकला है।

२. समवायांग सूत्र में उल्लिखित उत्तराध्ययन के ३६ अध्ययनों से ये कुछ भिन्न हैं।

आदि वर्णित हैं। भद्रबाहु की निर्युक्ति (४) के अनुसार इस ग्रन्थ के ३६ अध्ययनों में से कुछ अध्ययन जिनभाषित हैं, कुछ प्रत्येकबुद्धों द्वारा प्ररूपित हैं और कुछ संवादरूप में कहे गये हैं। वादिवेताल शान्तिसूरि के अनुसार, इस सूत्र का दूसरा अध्ययन दृष्टिवाद से लिया गया है, द्रुमपुष्पिका नामक दसवां अध्ययन स्वयं महावीर ने कहा है, कापिलीय नामक आठवां अध्ययन प्रत्येकबुद्ध कपिल ने प्ररूपित किया है और केशी-गौतमीय नामक तेईसवां अध्ययन संवादरूप में प्रस्तुत किया गया है।

पहले अध्याय में विनय का वर्णन है—

मा गलियस्सेव कसं, वयणमिच्छे पुणो पुणो।
कसं व दट्ठुमाइन्ने, पावगं परिवज्जए॥

जैसे मरियल घोड़े को बार-बार कोड़े लगाने की जरूरत होती है, वैसे मुमुक्षु को बार-बार गुरु के उपदेश की अपेक्षा न करनी चाहिये। जैसे अच्छी नस्ल का घोड़ा चाबुक देखते ही ठीक रास्ते पर चलने लगता है, उसी प्रकार गुरु के आशय को समझ कर मुमुक्षु को पापकर्म त्याग देना चाहिये।

दूसरे अध्ययन में साधु के लिये परीषह[1]-जय को मुख्य बताया है। तप के कारण साधु की बाहु-जंघा आदि कृश हो जायें और उसके शरीर की नस-नस दिखाई देने लगे, फिर भी उसे संयम में दीनवृत्ति नहीं करनी चाहिये। उसे यह नहीं सोचना चाहिये कि मेरे वस्त्र जीर्ण हो गये हैं और मैं कुछ ही

---

१. यहाँ २२ परीषहों का उल्लेख है। बौद्धों के सुत्तनिपात (३.१८) में भी शीत, उष्ण, क्षुधा, पिपासा, वात, आतप, दंश (डांस) और सरीसृप का सामना करने का उल्लेख है। आजकल भी उत्तर विहार में वैशाली और मिथिला के आसपास का प्रदेश डाँस और मच्छरों से आक्रान्त रहता है, इससे जान पड़ता है कि खास कर इसी प्रदेश में इन नियमों की स्थापना की गई थी।

दिन में अचेल (वस्त्ररहित) हो जाऊँगा, अथवा मेरे इन वस्त्रों को देखकर कोई मुझे नये वस्त्र देगा—

परिजुन्नेहिं वत्थेहिं होक्खामि त्ति अचेलए।
अदुवा सचेलए होक्खं, इति भिक्खू न चिंतए॥

तीसरे अध्ययन में मनुष्यत्व, श्रुति, श्रद्धा और संयम धारण करने की शक्ति, इन चार वस्तुओं को दुर्लभ कहा है। असंस्कृत नामके चौथे अध्ययन का पहला सूत्र है—

असंखयं जीविय मा पमायए, जरोवणीयस्स हु णत्थि ताणं।
एयं वियाणाहि जणे पमत्ते, कन्नू विहिंसा अजया गहिंति॥

—टूटा हुआ जीवन-तन्तु फिर से नहीं जुड़ सकता, इसलिये हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद न कर। जरा से ग्रस्त पुरुष का कोई शरण नहीं है, फिर प्रमादी, हिंसक और अयत्नशील जीव किसकी शरण जायेंगे ?

एलग नाम के अध्ययन में बताया है—

कुसग्गमेत्ता इमे कामा, सन्निरुद्धम्मि आउए।
कस्स हेउं पुराकाउं, जोगक्खेमं न संविदे॥

—ये काम-भोग कुश के अग्रभाग पर स्थित ओस की बूंद के समान हैं। ऐसी हालत में आयु अल्प होने पर क्यों न कल्याणमार्ग को प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाय ?

कापिलीय अध्ययन में लक्षणविद्या, स्वप्नविद्या और अंगविद्या का उपयोग साधु के लिये वर्जित कहा है। नौवें अध्ययन में नमिप्रव्रज्या का वर्णन है। नमि राजा मिथिला नगरी में राज्य करते थे। अपनी सेना, अन्तःपुर और सगे-संबंधियों को रोते-विलखते छोड़ वे तप करने चले गये।[1] द्रुमपत्रक अध्ययन में

---

१. मिलाइये महाजनक जातक (५३९) और महाभारत शांतिपर्व (१२.१७८) के साथ। बौद्ध और जैन संस्कृति की तुलना के लिये देखिये, विन्टरनीज़, सम प्रोब्लम्स ऑव इण्डियन लिटरेचर में 'एसेटिक

एक क्षण के लिये भी प्रमाद न करने का उपदेश है। हरिकेशीय अध्ययन में चांडाल कुल में उत्पन्न हरिकेशबल नाम के भिक्षु का वर्णन है।[1] यह भिक्षु ब्राह्मणों की यज्ञशाला में भिक्षा माँगने गया जब कि ब्राह्मणों ने उसका अपमान कर उसे वहाँ से भगा दिया। अंत में हरिकेशबल ने ब्राह्मणों को हिंसामय यज्ञ-याग के त्याग करने का उपदेश दिया। तेरहवें अध्ययन में चित्त और संभूति के नाम के चांडाल-पुत्रों की कथा है।[2] इषुकारीय अध्ययन में किसी ब्राह्मण के दो पुत्र अपने पिता को उपदेश देकर सन्मार्ग पर लाते हैं—

पिता—केण अब्भाहओ लोओ, केण वा परिवारिओ।
का वा अमोहा वुत्ता, जाया! चिंतावरो हु मि॥

—यह लोक किससे पीड़ित है, किससे व्याप्त है? कौन से अमोघ शस्त्रों का प्रहार इस पर हो रहा है? हे पुत्रो, यह जानने के लिये मैं चिन्तित हूँ।

पुत्र—मच्चुणऽब्भाहओ लोओ, जराए परिवारिओ।
अमोहा रयणी वुत्ता, एवं ताय! वियाणह॥

—हे पिता, यह लोक मृत्यु से पीड़ित है, जरा से व्याप्त है, और रात्रियाँ अमोघ प्रहार द्वारा इसे क्षीण कर रही हैं।

लिटरेचर इन ऐंशियेण्ट इण्डिया' नामक अध्याय; हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर, जिल्द २, पृ० ४६६-७०; जार्ल शार्पेण्टियर, उत्तराध्ययन भूमिका, पृ० ४४ इत्यादि; ए० एम० घाटगे, एनेल्स ऑव भांडारकर ओरिण्टिएल रिसर्च इंस्टिटयूट, जिल्द १७, १९३६ में 'ए फ्यू पैरेलल्स इन जैन एण्ड बुद्धिस्ट वर्क्स' नामक लेख।

१. मिलाइये चित्तसंभूत जातक के साथ।

२. हरिकेश मुनि की कथा प्रकारान्तर से मातंग जातक में दी हुई है। डॉक्टर आल्सडार्फ ने इस संबंध में वेल्वेल्कर फेलिसिटेशन वॉल्यूम, दिल्ली, १९५७ में इस सम्बन्ध में एक लेख प्रकाशित किया है।

अपने पिता के प्रबुद्ध हो जाने पर अन्त में उसके पुत्र कहते हैं—

जस्सऽत्थि मच्चुणा सक्खं, जस्स वऽत्थि पलायणं।
जो जाणइ न मरिस्सामि, सो हु कंखे सुए सिया॥

—जिसकी मृत्यु के साथ मित्रता है, अथवा जो मृत्यु का नाश करता है, और जिसे यह विश्वास है कि वह मरनेवाला नहीं, वही आगामी कल का विश्वास करता है।

अन्त में ब्राह्मण अपनी पत्नी और दोनों पुत्रों के साथ संसार का त्याग कर श्रमणधर्म में दीक्षित हो जाता है।[1]

पन्द्रवें अध्ययन में सद्भिक्षु के लक्षण बताये हैं। सतरहवें अध्ययन में पाप-श्रमण के लक्षण कहे हैं। अठारहवें अध्ययन में संजय राजा का वर्णन है जिसने मुनि का उपदेश श्रवण कर श्रमण-धर्म में दीक्षा ग्रहण की। यहाँ भरत आदि चक्रवर्ती तथा नमि, करकण्डू, दुमुख और नग्नजित्[2] प्रत्येकबुद्धों के दीक्षित होने का उल्लेख है। उन्नीसवें अध्ययन में मृगापुत्र की दीक्षा का वर्णन है।[3] बीसवें अध्ययन में अनाथी मुनि का जीवन-वृत्तान्त है। राजा श्रेणिक ने एक वृक्ष के नीचे बैठे हुए किसी मुनि को देखकर उससे प्रश्न किया—

तरुणो सि अज्जो पव्वइओ, भोगकालम्मि संजया।
उवविट्ठोसि सामन्ने, एयमट्ठं सुणेमि ता॥

—हे आर्य! कृपाकर कहिये कि भोगों को भोगने योग्य इस तरुण अवस्था में आपने क्यों यह दीक्षा ग्रहण की है?

मुनि—अणाहो मि महाराय! णाहो मज्झ न विज्जई।
अणुकंपगं सुहिं वा वि, कंची णाभिसमेमऽहं॥

---

१. मिलाइये हत्थिपाल जातक के साथ।

२. मिलाइये सुत्तनिपात के पब्बज्जासुत्त के साथ।

३. कुम्भकार जातक में चार प्रत्येकबुद्धों का उल्लेख मिलता है।

—महाराज ! मैं अनाथ हूँ, मेरा कोई नाथ नहीं है। अनुकंपा करनेवाला कोई मित्र आजतक मुझे नहीं मिला।

राजा—होमि नाहो भयंताणं, भोगे भुंजाहि संजया।
मित्तनाईपरिवुडो, माणुस्सं खलु दुल्लहं ॥

—आप जैसे ऋद्धिधारी पुरुष का यदि कोई नाथ नहीं है तो मैं आपका नाथ होता हूँ। अपने मित्र और स्वजनों से परिवेष्टित ही आप यथेच्छ भोगों का उपभोग करें।

मुनि—अप्पणावि अणाहो सि, सेणिआ ! मगहाहिवा !
अप्पणा अणाहो संतो, कस्स णाहो भविस्ससि ॥

—हे मगधराज श्रेणिक ! तू स्वयं ही अनाथ है, फिर भला दूसरों का नाथ कैसे बन सकता है ?

इसके बाद मुनि ने अपने जीवन का आद्योपान्त वृत्तान्त श्रेणिक को सुनाया और श्रेणिक निर्ग्रन्थ धर्म का उपासक बन गया।

बाईसवें अध्ययन में अरिष्टनेमि और राजीमती की कथा है। कृष्ण वासुदेव के संबंधी अरिष्टनेमि जब राजीमती को व्याहने आये तो उन्हें बाड़ों में बँधे हुए पशुओं का चीत्कार सुनाई दिया। पता चला कि पशुओं को मार कर बारातियों के लिये भोजन बनेगा, यह सुनकर अरिष्टनेमि को वैराग्य हो आया और वे रैवतक (गिरनार) पर्वत पर तप करने चल दिये। बाद में राजीमती ने भी दीक्षा ग्रहण कर ली और वह भी इसी पर्वत पर तप करने लगी। एक बार की बात है, वर्षा के कारण राजीमती के सब वस्त्र गीले हो गये। उसने अपने वस्त्रों को निचोड़ कर सुखा दिया और पास की एक गुफा में खड़ी हो गई। संयोगवश उस समय वहाँ अरिष्टनेमि के भाई रथनेमि ध्यान में अवस्थित थे। राजीमती को वस्त्ररहित अवस्था में देखकर उनका मन चलायमान हो गया। राजीमती से वे कहने लगे—

रहनेमि अहं भद्दे ! सुरूवे ! चारुभासिणी !
ममं भयाहि सुतणु ! न ते पीला भविस्सई।

एहि ता भुंजिमो भोए, माणुस्सं खु सुदुल्लहं।
भुत्तभोगी पुणो पच्छा, जिणमग्गं चरिस्सिमो॥

—हे भद्रे! सुरूपे! मंजुभाषिणी! मैं रथनेमी हूँ, तू मुझसे भयभीत मत हो। हे सुंदरी! तुझे मुझसे कोई कष्ट न होगा। आओ, हम दोनों भोगों को भोगें। यह मनुष्य जन्म बड़ी कठिनता से प्राप्त होता है। भोग भोगने के पश्चात् फिर हम जिनमार्ग का सेवन करेंगे।

राजीमती—

जइ सि रूवेण वेसमणो, ललिएण नलकूवरो।
तहावि ते न इच्छामि, जइ सि सक्खं पुरंदरो॥
धिरत्थु ते जसोकामी! जो तं जीवियकारणा।
वंतं इच्छसि आवेउं, सेयं ते मरणं भवे[1]॥
जइ तं काहिसि भावं जा जा दिच्छसि नारिओ।
वायाविद्धुव्व हडो, अट्ठिअप्पा भविस्ससि॥

—हे रथनेमि! यदि तू रूप से वैश्रमण, चेष्टा से नलकूबर अथवा साक्षात् इन्द्र ही क्यों न बन जाय, तो भी मैं तुझे न चाहूँगी। हे यश के अभिलाषी! तुझे धिक्कार है। तू जीवन के लिये वमन की हुई वस्तु का पुनः सेवन करना चाहता है, इससे तो मर जाना श्रेयस्कर है। जिस किसी भी नारी को देख कर यदि तू उसके प्रति आसक्तिभाव प्रदर्शित करेगा तो वायु के झोंके से इधर-उधर डोलनेवाले तृण की भाँति तेरा चित्त कहीं भी स्थिर न रहेगा।

तेइसवें अध्ययन में पार्श्वनाथ के शिष्य केशीकुमार और महावीर वर्धमान के शिष्य गौतम के ऐतिहासिक संवाद का उल्लेख है। पार्श्वनाथ ने चातुर्याम का उपदेश दिया है, महावीर

---

१. मिलाइये—

धिरत्थु तं विसं वन्तं यमहं जीवितकरणा।
वन्तं पच्चावमिस्सामि मतम्मे जीविता वरं॥

विसवन्तजातक (६९)।

ने पाँच महाव्रतों का; पार्श्वनाथ ने सचेल धर्म का प्ररूपण किया है और महावीर ने अचेल धर्म का। इस मतभेद का क्या कारण हो सकता है ? इस पर चर्चा करते हुए गौतम ने बताया है कि कुछ लोगों के लिए धर्म का समझना कठिन होता है, कुछ के लिए धर्म का पालना कठिन होता है और कुछ के लिये धर्म का समझना और पालना दोनों आसान होते हैं, इसलिये अलग-अलग शिष्यों के लिये अलग-अलग रूप से धर्म का प्रतिपादन किया गया है। गौतम ने बताया कि बाह्यलिंग केवल व्यवहार नय से मोक्ष का साधन है, निश्चय नय से तो ज्ञान, दर्शन और चारित्र ही वास्तविक साधन समझने चाहिये।

यज्ञीय नाम के पच्चीसवें अध्ययन में जयघोष मुनि और विजयघोष ब्राह्मण का संवाद है। जयघोष मुनि को देखकर विजयघोष ने कहा—'हे भिक्षु ! मैं तुझे भिक्षा न दूँगा। यह भोजन वेदों के पारंगत, यज्ञार्थी, ज्योतिषशास्त्र और छह अंगों के ज्ञाता केवल ब्राह्मणों के लिये सुरक्षित है'। यह सुनकर सच्चे ब्राह्मण का लक्षण बताते हुए जयघोष ने कहा—

जो लोए बंभणो वुत्तो अग्गी वा महिओ जहा।
सदा कुसलसंदिट्ठं, तं वयं बूम माहणं॥
न वि मुंडिएण समणो, न ओंकारेण बंभणो।
न मुणी रण्णवासेणं, कुसचीरेण तावसो॥
समयाए समणो होइ, बंभचेरेण बंभणो।
नाणेण य मुणी होइ, तवेणं होइ तावसो॥
कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वइस्सो कम्मुणा होइ, सुद्दो होइ कम्मुणा॥[1]

—इस लोक में जो अग्नि की तरह पूज्य है, उसे कुशल पुरुष ब्राह्मण कहते हैं। सिर मुंडा लेने से श्रमण नहीं होता, ओंकार का जाप करने से ब्राह्मण नहीं होता, जंगल में रहने से

---

१. मिलाइये धम्मपद के ब्राह्मणवग्ग तथा सुत्तनिपात, वसलसुत्त २१-२७ ; सेलसुत्त २१-२२ के साथ।

मुनि नहीं होता और कुश-चीवर धारण करने से कोई तपस्वी नहीं कहा जाता। समता से श्रमण, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण, ज्ञान से मुनि और तप से तपस्वी होता है। कर्म से ब्राह्मण, कर्म से क्षत्रिय, कर्म से वैश्य और अपने कर्म से ही मनुष्य शूद्र कहा जाता है।

शेष अध्ययनों में मोक्षमार्ग, सम्यक्त्व-पराक्रम, तपोमार्ग, चारित्रविधि, लेश्या, अनगार और जीवाजीवविभक्ति आदि का वर्णन है।

२ आवस्सय (आवश्यक)

आवश्यक अथवा आवस्सग (षडावश्यकसूत्र) में नित्यकर्म के प्रतिपादक छह आवश्यक क्रियानुष्ठानों का उल्लेख है, इसलिये इसे आवश्यक कहा गया है[1]। इसमें छह अध्याय हैं—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदन, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान। इस पर भद्रबाहु की निर्युक्ति है। निर्युक्ति और भाष्य दोनों साथ छपे हैं। जिनभद्रगणि ने विशेषावश्यकभाष्य की रचना की है। आवश्यकनिर्युक्ति के साथ ही यह सूत्र हमें उपलब्ध होता है। इस पर जिनदासगणि महत्तर की चूर्णी है। हरिभद्रसूरि

१. जिनदासगणि महत्तर की चूर्णी १९२८ में रतलाम से प्रकाशित ; हरिभद्रसूरि की शिष्यहिता टीका सहित आगमोदयसमिति, बंबई, १९१६ में प्रकाशित ; मलयगिरि की टीका आगमोदयसमिति, बंबई, १९२८ में प्रकाशित ; माणिक्यशेखर सूरि की निर्युक्तिदीपिका १९३९ में सूरत से प्रकाशित। अखिल भारतीय श्वेतांबर स्थानकवासी जैनशास्त्रोद्धार समिति राजकोट से सन् १९५८ में हिन्दी-गुजराती अनुवाद सहित इसका एक नया संस्करण निकला है। जर्मनी के सुप्रसिद्ध विद्वान् अर्न्स्ट लायमन ने आवश्यकसूत्र और उसकी टीकाओं आदि पर बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इस सम्बन्ध का प्रथम भाग आवश्यक लितरेतुर (Avashyaka literatur) नाम से हैम्बर्ग से सन् १९३४ में जर्मन भाषा में प्रकाशित हुआ है।

ने शिष्यहिता नाम की टीका लिखी है। दूसरी टीका मलयगिरि की है। माणिक्यशेखर सूरि ने निर्युक्ति के ऊपर दीपिका लिखी है। हरिभद्रसूरि ने अपनी टीका में उक्त छह प्रकरणों का ३५ अध्ययनों में वर्णन किया है जिसमें अनेक प्राचीन प्राकृत और संस्कृत कथाओं का समावेश है। तिलकाचार्य ने भी आवश्यकसूत्र पर लघुवृत्ति लिखी है।

राग-द्वेष रहित समभाव को सामायिक कहते हैं। सामायिक करने वाला विचार करता है—'मैं सामायिक करता हूं, यावज्जीवन सब प्रकार के सावद्य योग का मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना से त्याग करता हूँ, उससे निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, अपने आपका परित्याग करता हूं।' दूसरे आवश्यक में चौबीस तीर्थंकरों का स्तवन है। तीसरे में वंदन-स्तवन किया गया है। शिष्य गुरु के पास बैठकर गुरु के चरणों का स्पर्श कर उनसे क्षमा याचना करता है और उनकी सुखसाता के संबंध में प्रश्न करता है। चौथे आवश्यक में प्रतिक्रमण का उल्लेख है। प्रमादवश शुभयोग से च्युत होकर, अशुभ योग को प्राप्त करने के बाद, फिर से शुभ योग को प्राप्त करने को प्रतिक्रमण कहते हैं। प्रतिक्रमण करनेवाले जीव ने यदि दस श्रमणधर्मों की विराधना की हो, किसी को कष्ट पहुँचाया हो, अथवा स्वाध्याय में प्रमाद आदि किया हो तो उसके मिथ्या होने की प्रार्थना करता है और सर्वसाधुओं को मस्तक नमा कर वंदन करता है। पाँचवें आवश्यक में वह कायोत्सर्ग-ध्यान के लिये शरीर की निश्चलता में स्थित रहना चाहता है। छठे आवश्यक में प्रत्याख्यान—सर्व सावद्य कर्मों से निवृत्ति—की आवश्यकता बताई है। इसमें अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य का त्याग किया जाता है।

३ दसवेयालिय (दशवैकालिक)

काल से निवृत्त होकर विकाल में अर्थात् सन्ध्या समय में इसका अध्ययन किया जाता था, इसलिये इसे दशवैकालिक

कहा गया है।[1] इसके कर्ता शय्यंभव हैं।[2] ये पहले ब्राह्मण थे और बाद में जैनधर्म में दीक्षित हो गये। दीक्षा ग्रहण करने के बाद उनके मणग नाम का पुत्र हुआ। बड़े होने पर मणग ने अपने पिता के संबंध में जिज्ञासा प्रकट की और जब उसे पता लगा कि उन्होंने दीक्षा ले ली है तो वह उनकी खोज में निकल पड़ा। अपने पिता को खोजते-खोजते वह चंपा में पहुँचा जहाँ शय्यंभव विहार कर रहे थे। शय्यंभव को अपने दिव्य ज्ञान से पता चला कि उसका पुत्र केवल छह महीने जीवित रहनेवाला है। यह जानकर उन्होंने दस अध्ययनों में दशवैकालिक की रचना की। इस सूत्र के अन्त में दो चूलिकायें हैं जो शय्यंभव की लिखी हुई नहीं मानी जातीं। भद्रबाहु के अनुसार (निर्युक्ति १६–१७) दशवैकालिक का चौथा अध्ययन आत्मप्रवाद पूर्व में से, पाँचवाँ कर्मप्रवाद पूर्व में से, सातवाँ सत्यप्रवाद पूर्व में से और शेष अध्ययन प्रत्याख्यान पूर्व की तीसरी वस्तु में से लिये गये हैं। भद्रबाहु ने इस पर निर्युक्ति, अगस्त्यसिंह ने चूर्णी, जिनदासगणि महत्तर ने चूर्णी और हरिभद्रसूरि ने टीका लिखी है। इस पर तिलकाचार्य, सुमतिसूरि और विनयहंस आदि विद्वानों की वृत्तियाँ भी मौजूद हैं। यापनीयसंघीय अपराजितसूरि (अपर नाम विजयाचार्य) ने भी दशवैकालिक पर विजयोदया टीका लिखी है जिसका उल्लेख उन्होंने अपनी भगवतीआराधना की टीका में किया है। जर्मन विद्वान् वाल्टर शूब्रिंग ने भूमिका आदि सहित तथा लायमेन

---

१. सुधर्मा महावीर के गणधर थे, उनके बाद जम्बू हुए। जम्बू अन्तिम केवली थे, उनके समय से केवलज्ञान होना बन्द हो गया। जम्बूस्वामी के पश्चात् प्रभव नाम के तीसरे गणधर हुए। फिर शय्यंभव हुए, फिर यशोभद्र, संभूतिविजय, भद्रबाहु और उनके बाद स्थूलभद्र हुए। शय्यंभव की दीक्षा के लिये देखिये हरिभद्र, दशवैकालिकवृत्ति, पृ० २०-१।

२. जिनदासगणि महत्तर की चूर्णी सन् १९३३ में रतलाम से प्रकाशित; हरिभद्र की टीका बंबई से वि० सं० १९९९ में प्रकाशित।

ने मूलसूत्र और निर्युक्ति के जर्मन अनुवाद के साथ इसे प्रकाशित किया है। उत्तराध्ययन की भाँति पिशल ने इस सूत्र को भाषाशास्त्र के अध्ययन की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण माना है। दशवैकालिक के पाठों की अशुद्धता की ओर उन्होंने खास तौर से लक्ष्य किया है।[1]

पहला अध्ययन द्रुमपुष्पित है। यहाँ साधु को भ्रमर की उपमा दी है—

जहा दुमस्स पुप्फेसु भमरो आवियइ रसं।
न य पुप्फं किलामेइ सो य पीणेइ अप्पयं॥[2]

—जैसे भ्रमर वृक्ष के पुष्पों को विना पीड़ा पहुँचाये उनका रसास्वादन कर अपने आपको तृप्त करता है, वैसे ही भिक्षु आहार आदि की गवेषणा में रत रहता है।

दूसरा अध्ययन श्रामण्यपूर्वक है।[3] श्रामण्य कैसे प्राप्त किया जा सकता है, इसके संबंध में कहा है—

कहं नु कुज्जा सामण्णं जो कामे न निवारए।
पए पए विसीयन्तो संकप्पस्स वसं गओ[4]॥

---

१. प्राकृतभाषाओं का व्याकरण, पृष्ठ ३५। दशवैकालिक के पद्यों की आचारांगसूत्र के साथ तुलना के लिये देखिये डॉक्टर ए० एम० घाटगे का न्यू इण्डियन एण्टीक्वेरी (जिल्द १, नं० २ पृ० १३०-७) में 'पैरेलल पैसेजेज़ इन द दशवैकालिक एण्ड द आचारांग' नामक लेख।

२. मिलाइये—यथापि भमरो पुप्फं वण्णगंधं अहेठयं।
पलेति रसमादाय एवं गामे मुनी चरे॥
धम्मपद, पुप्फवग्ग ६।

३. इस अध्ययन की बहुत सी गाथायें उत्तराध्ययनसूत्र के २२वें अध्ययन से मिलती हैं।

४. मिलाइये—कति हं चरेय्य सामञ्ञं चित्तं चे न निवारेय्य।
पदे पदे विसीदेय्य संकप्पानं वसानुगो॥
संयुत्तनिकाय (१. २. ७)

—जो काम-भोगों का निवारण नहीं करता, वह संकल्प-विकल्प के अधीन होकर पद-पद पर स्खलित होता है, फिर वह श्रामण्य को कैसे पा सकता है ?

वत्थगंधमलंकारं इत्थीओ सयणाणि य ।
अच्छन्दा जे न भुंजंति न से चाइ त्ति वुच्चइ ॥

—वस्त्र, गंध, अलंकार, स्त्री और शयन—इनका जो स्वेच्छा से भोग नहीं करता, वह त्यागी है ।

समाए पेहाए परिव्वयन्तो ।
सिया मणो निस्सरई बहिद्धा ॥
न सा महं नो वि अहं पि तीसे ।
इच्चेव ताओ विणएज्ज रागं ॥

—सम भावना से संयम का पालन करते हुए कदाचित् मन इधर-उधर भटक जाये तो उस समय यही विचार करना चाहिये कि न वह मेरी है और न मैं उसका ।

क्षुल्लिकाचार-कथा नामक तीसरे अध्ययन में निर्ग्रन्थ महर्षियों के लिये उद्दिष्ट भोजन, स्नान, गंध, दन्तधावन, राजपिंड, छत्र-धारण, वमन, विरेचन आदि का निषेध है। षड्जीवनीकाय अध्ययन में छह जीवनिकायों को मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदन से हानि पहुँचाने का निषेध किया है। फिर सर्व प्राणातिपात-विरमण, मृषावाद-विरमण, अदत्तादान-विरमण, मैथुन-विरमण, परिग्रह-विरमण और रात्रिभोजन-विरमण का उल्लेख है। पाँचवें अध्ययन में दो उद्देश्य हैं। यहाँ बताया है कि भिक्षाचर्या के लिये जाते समय और भिक्षाग्रहण करते समय साधु किन बातों का ध्यान रक्खे।[1] बहुत हड्डी (अस्थि) वाला

१. कोसिय जातक (२२६) में भी भिक्षु के लिये अकालगमन का निषेध है—

काले निक्खमणा साधु नाकाले साधुनिक्खमो ।
अकालेन हि निक्खम्म एककंपि बहूजनो ॥

मांस[1] (पुद्गल) और बहुत कांटे वाली मछली (अणिमिस) ग्रहण न करे। भोजन करते समय यदि हड्डी, काँटा, तृण, काष्ठ, कंकर आदि मुँह में आ जाय तो उन्हें मुँह से न थूक कर हाथ में लेकर एक ओर रख दे। भिक्षु के लिये मदिरापान का निषेध बताया है।[2]

यत्नपूर्वक आचरण के लिये इतिवुत्तक (१२, पृ० १०) में उल्लेख है—

यतं चरे यतं तिट्ठे यतं अच्छे यतं सये।
यतं सम्मिञ्जये भिक्खू यतमेनं पसारये॥

१. हरिभद्रसूरि ने इस पर टीका (पृ० ३५६) करते हुए लिखा है—अयं किल कालाद्यपेक्षया ग्रहणे प्रतिषेधः; अन्ये त्वभिदधति—वनस्पत्यधिकारात्तथाविधफलाभिधाने।

चूर्णीकार ने लिखा है—

मंसं वा णेइ कप्पइ साहूणं, कंचि कालं देसं पडुच्च इमं सुत्तमागतं (दशवैकालिकचूर्णी, पृ० १८४)।

इस संबंध में आचारांग के टीकाकार ने कहा है—

बहुअट्ठियेण मंसेण वा बहुकंटएण मच्छेण वा उवनिमंतिज्जा···एयप्पगारं निग्घोसं सुच्चा···नो खलु मे कप्पइ···अभिकंखसि मे दाउं जावइयं तावइयं पुग्गलं दलयाहि मा य अट्ठियाइं—अर्थात् पुद्गल (मांस) ही दो, अस्थि नहीं। फिर भी यदि कोई अस्थियाँ ही पात्र में डाल दे तो मांस-मत्स्य का भक्षण कर अस्थियों को एकान्त में रख दे। टीका—एवं मांससूत्रमपि नेयं। अस्य चोपदानं क्वचिल्लूताद्युपशमनार्थं सद्वैद्योपदेशतो बाह्यपरिभोगेन स्वेदादिना ज्ञानाद्युपकारकत्वात्फलवद्दृष्टं—आचारांग (२), १, १०, २८१ पृ० ३२३। अववादुस्सग्गियं (अपवाद औत्सर्गिकं)—'बहु अट्ठियं पोग्गलं अणिमिसं वा बहुकण्टं।' एवं अववादतो गिण्हंतो भणाइ—मंसं दल, मा अट्ठियं'—विशेषनिशीथचूर्णी (साइक्लोस्टाइल्ड प्रति), १६ पृ० १०३४; आवश्यकचूर्णी, २, पृ० २०२।

२. ज्ञातृधर्मकथा (५) में शैलक ऋषि का मद्यपान द्वारा रोग शान्त होने का उल्लेख ऊपर आ चुका है। बृहत्कल्पभाष्य (९५४–५६) में ग्लान अवस्था में वैद्य के उपदेशपूर्वक मद्य (विकट) ग्रहण करने का उल्लेख है।

धर्मार्थकथा अथवा महाचारकथा नामक अध्ययन में साधुओं के अठारह स्थानों का निरूपण है। अहिंसा की आवश्यकता बताते हुए कहा है—

सव्वजीवा वि इच्छन्ति जीविउं न मरिज्जिउं।
तम्हा पाणवहं घोरं निग्गन्था वज्जयन्ति णं॥

—सब जीव जीने की इच्छा करते हैं, मरना कोई नहीं चाहता, इसलिये निर्ग्रन्थ मुनि प्राणवध का त्याग करते हैं।

परिग्रह के संबंध में कहा है—

जं पि वत्थं व पायं वा कंबलं पायपुंछणं।
तं पि संजमलज्जट्ठा धारेन्ति परिहरन्ति य॥
न सो परिग्गहो वुत्तो नायपुत्तेण ताइणा।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो इइ वुत्तं महेसिणा॥

—वस्त्र, पात्र, कंबल और पादप्रोंछन जो साधु धारण करते हैं, वह केवल संयम और लज्जा के रक्षार्थ ही करते हैं। वस्त्र, पात्र आदि रखने को परिग्रह नहीं कहते, ज्ञातपुत्र महावीर ने मूर्च्छा-आसक्ति को परिग्रह कहा है।

सातवें अध्ययन में वाक्यशुद्धि का प्रतिपादन है। आठवें अध्ययन में आचार-प्रणिधि का वर्णन है—

बहुं सुणेइ कण्णेहिं, बहुं अच्छीहिं पेच्छई।
न य दिट्ठं सुयं सव्वं, भिक्खू, अक्खाउमरिहई॥

—भिक्षु कानों से बहुत कुछ सुनता है, आँखों से बहुत कुछ देखता है, लेकिन जो वह सुनता और देखता है उस सब को किसी के सामने कहना योग्य नहीं।

धर्माचरण का उपदेश—

जरा जाव न पीलेइ वाही जाव न वड्ढइ।
जाविन्दिया न हायन्ति ताव धम्मं समाचरे॥

—बुढ़ापा जब तक पीड़ा नहीं देता, व्याधि कष्ट नहीं पहुँचाती और इन्द्रियाँ क्षीण नहीं होतीं, तब तक धर्म का आचरण करे।

फिर—

उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे।
मायं चज्जव-भावेणं, लोभं संतोसओ जिणे।।

—क्रोध को उपशम से, मान को मृदुता से, माया को आर्जव से और लोभ को संतोष से जीते।

स्त्रियों से बचने का उपदेश—

जहा कुक्कुडपोयस्स निच्चं कुललओ भयं।
एवं खु बंभचारिस्स इत्थी-विग्गहओ भयं।।
चित्त-भित्तिं न निज्झाए नारिं वा सुअलंकियं।
भक्खरं पिव दट्ठूणं दिट्ठिं पडिसमाहरे।।
हत्थपायपडिच्छिन्नं कण्णवासविगप्पियं।
अवि वाससइं नारिं बंभयारी विवज्जए।।

—जैसे मुर्गी के बच्चे को बिलाड़ी से सदा भय रहता है, वैसे ही ब्रह्मचारी को स्त्रियों के शरीर से भयभीत रहना चाहिये। स्त्रियों के चित्रों से शोभित भित्ति अथवा अलंकारों से सुशोभित नारी की ओर न देखे। यदि उस ओर दृष्टि पड़ भी जाये तो जिस प्रकार हम सूर्य को देखकर दृष्टि संकुचित कर लेते हैं, वैसे ही भिक्षु को भी अपनी दृष्टि संकुचित कर लेनी चाहिये। जिसके हाथ-पाँव और नाक-कान कटे हुए हों अथवा जो सौ वर्ष की बुढ़िया हो, ऐसी नारी से भी भिक्षु को दूर ही रहना चाहिये।

विनय समाधि अध्ययन में चार उद्देश हैं। यहाँ विनय को धर्म का मूल कहा है। सभिक्षु नाम के अध्ययन में अच्छे भिक्षु के लक्षण बताये हैं[1]। अन्त में दो चूलिकायें हैं, पहली रतिवाक्य और दूसरी विविक्तचर्या।

---

१. उत्तराध्ययन के पन्द्रहवें अध्ययन का नाम और विषय आदि भी यही है।

४ पिंडनिज्जुत्ति (पिंडनिर्युक्ति)

पिंड का अर्थ है भोजन; इस ग्रंथ में पिंडनिरूपण, उद्गम दोष, उत्पादन दोष, एषणा दोष और ग्रास एषणा दोषों का प्ररूपण किया गया है[1]। इसमें ६७१ गाथायें हैं, निर्युक्ति और भाष्य की गाथायें परस्पर मिल गई हैं, इसलिये उनका अलग पता नहीं चलता। पिंडनिर्युक्ति के रचयिता भद्रबाहु हैं। दशवैकालिकसूत्र के पाँचवें अध्ययन का नाम पिंडैषणा है। इस अध्ययन पर लिखी गई निर्युक्ति के विस्तृत हो जाने के कारण उसे पिंडनिर्युक्ति के नाम से एक अलग ही आगम स्वीकार कर लिया गया। इसमें साधुओं की आहार-विधि का वर्णन है[2]। इसलिये इसकी गणना छेदसूत्रों में भी की जाती है। इस पर मलयगिरि की बृहद्वृत्ति और वीराचार्य की लघुवृत्ति मौजूद है।

पिंडनिर्युक्ति में आठ अधिकार हैं—उद्गम, उत्पादन, एषणा, संयोजना, प्रमाण, अंगार, धूम और कारण। पिंड के नौ भेद हैं। इनमें सीपी, शंख तथा सर्पदंश का शमन करने के लिये दीमकों के घर की मिट्टी, वमन को रोकने के लिये मक्खी की विष्टा, क्षुर आदि रखने के लिये चर्म, टूटी हुई हड्डी जोड़ने के लिये अस्थि, दाँत, नख, मार्गभ्रष्ट साधु को बुलाने के लिये सींग और कोढ़ आदि दूर करने के लिये गोमूत्र[3] आदि का उपयोग साधु के लिये बताया है। उद्गम दोष सोलह प्रकार का है।

---

१. इस पर मलयगिरि की टीका देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार ग्रन्थमाला में सूरत से सन् १९१८ में प्रकाशित हुई है। भाष्य भी साथ में छपा है।

२. वट्टकेर के मूलाचार (६. १–६२) की गाथायें पिंडनिर्युक्ति की गाथाओं से मिलती हैं।

३. मिलिन्दपण्ह (हिन्दी अनुवाद, पृ० २१२) में गोमूत्र-पान का विधान है।

साधुओं के निमित्त अथवा उद्देश्य से बनाया हुआ, खरीद कर अथवा उधार लाया हुआ, किसी वस्तु को हटा कर दिया हुआ और ऊपर चढ़ कर लाया हुआ भोजन निषिद्ध कहा है। उत्पादन दोष के सोलह भेद हैं। दुर्भिक्ष आदि पड़ने पर साधुओं को भिक्षा प्राप्त करने में बड़ी कठिनाइयाँ हुआ करती थीं। इसलिये जहाँ तक हो दोषों को बचाकर भिक्षा ग्रहण करने का विधान है। धाई का कार्य करके भिक्षा प्राप्त करना धात्रीपिंड दोष कहा जाता है। संगमसूरि इस प्रकार से भिक्षा-ग्रहण कर अपना निर्वाह करते थे; उन्हें प्रायश्चित का भागी होना पड़ा। कोई समाचार ले जाकर भिक्षा प्राप्त करना दूतीपिंड दोष है; धनदत्त मुनि का यहाँ उदाहरण दिया है। इसी प्रकार अनेक साधु भविष्य बताकर, जाति, कुल, गण, कर्म और शिल्प की समानता उद्घोषित कर, श्रमण, ब्राह्मण, अतिथि और श्वान के भक्त बन कर, क्रोध, मान, माया और लोभ का उपयोग करके, दाता की प्रशंसा करके, चिकित्सा, विद्या, मंत्र अथवा वशीकरण का उपयोग करके भिक्षा ग्रहण करते थे। इसे सदोष भिक्षा कहा है। एषणा (निर्दोष आहार) के दस भेद हैं। बाल, वृद्ध, उन्मत्त, कंपित-शरीर, ज्वर-पीड़ित, अंध, कुष्ठी, खड़ाऊ पहने, बेड़ी में बद्ध आदि पुरुषों से भिक्षा ग्रहण करना निषिद्ध है। इसी प्रकार भोजन करती हुई, दही बिलोती हुई, आटा पीसती हुई, चावल कूटती हुई, रुई धुनती हुई, कपास ओटती हुई आदि स्त्रियों से भिक्षा नहीं लेने का विधान है। स्वाद के लिये भिक्षा में प्राप्त वस्तुओं को मिलाकर खाना संयोजना दोष है। आहार के प्रमाण को ध्यान में रखकर भिक्षा नहीं ग्रहण करना प्रमाण दोष है। आग में अच्छी तरह पकाये हुए भोजन में आसक्ति दिखाना अंगार दोष, और अच्छी तरह न पकाये हुए भोजन की निन्दा करना धूमदोष है। संयमपालन, प्राणधारण और धर्मचिन्तन आदि का ध्यान न रख कर गृध्रता के लिये भोजन करना कारण दोष है।

५ ओहनिज्जुत्ति (ओघनिर्युक्ति)

ओघ अर्थात् सामान्य या साधारण। विस्तार में गये बिना इस निर्युक्ति में सामान्य कथन किया गया है, इसलिये इसे ओघनिर्युक्ति कहा जाता है[1]; यह सामान्य सामाचारी को लेकर लिखी गई है। इसके कर्ता भद्रबाहु हैं। इसे आवश्यकनिर्युक्ति का अंश माना जाता है। पिंडनिर्युक्ति की भाँति इसमें भी साधुओं के आचार-विचार का प्रतिपादन है और अनेक उदाहरणों द्वारा विषय को स्पष्ट किया गया है। ओघनिर्युक्ति को भी छेदसूत्रों में गिना गया है। इसमें ८११ गाथायें हैं, निर्युक्ति और भाष्य की गाथायें मिश्रित हो गई हैं। द्रोणाचार्य ने ओघनिर्युक्ति पर चूर्णी की भाँति प्राकृत-प्रधान टीका लिखी है। मलयगिरि ने वृत्ति की रचना की है। अवचूरि भी इस पर लिखी गई है। ओघनिर्युक्ति में प्रतिलेखनद्वार, पिंडद्वार, उपधिनिरूपण, अनायतनवर्जन, प्रतिसेवनाद्वार, आलोचनाद्वार और विशुद्धिद्वार का प्ररूपण है।

संयम पालने की अपेक्षा आत्मरक्षा करना आवश्यक है, इस विषय का ऊहापोह करते हुए कहा है—

सव्वत्थ संजमं संजमाउ अप्पाणमेव रक्खिज्जा।
मुच्चइ अइवायाओ पुणो विसोही न याविरई॥

—सर्वत्र संयम की रक्षा करनी चाहिये, लेकिन संयम पालन की अपेक्षा अपनी रक्षा अधिक आवश्यक है। क्योंकि जीवित रहने पर, संयम से भ्रष्ट होने पर भी, तप आदि द्वारा विशुद्धि

---

१. द्रोणाचार्य ने इस पर वृत्ति लिखी है, जो आगमोदयसमिति, बंबई से १९१९ में प्रकाशित हुई है। भाष्य भी निर्युक्ति के साथ ही छपा है। मुनि मानविजय जी ने द्रोणाचार्य की वृत्ति के साथ इसे सूरत से सन् १९५७ में प्रकाशित किया है।

की जा सकती है। आखिर तो परिणामों की शुद्धता ही मोक्ष का कारण है।

फिर—

संजमहेउं देहो धारिज्जइ सो कओ उ तदभावे ?
संजमफाइनिमित्तं देहपरिपालणा इट्ठा ।[1]

—संयम पालन के लिये ही देह धारण की जाती है, देह के अभाव में संयम का कहाँ से पालन किया जा सकता है? इसलिये संयम की वृद्धि के लिये देह का पालन करना उचित है।

यदि कोई साधु बीमार हो गया हो तो तीन, पाँच या सात साधु स्वच्छ वस्त्र धारण कर, शकुन देखकर वैद्य के पास गमन करें। यदि वह किसी के फोड़े में नश्तर लगा रहा हो तो उस

---

१. इस विषय को लेकर जैन आचार्यों में काफी विवाद रहा है। विशेषनिशीथचूर्णी में भी यही अभिप्राय व्यक्त किया गया है कि जहाँ तक हो विराधना नहीं ही करनी चाहिये, किन्तु यदि कोई चारा न हो तो ऐसी हालत में विराधना भी की जा सकती है (जइ सक्कइ तो अविराहिंतेहिं, विराहिंतेहिं वि ण दोसो, पीठिका, साइक्लोस्टाइल्ड प्रति, पृ० ९०। यहाँ बताया गया है कि जैसे मंत्रविधि से विषभक्षण करने पर वह सदोष नहीं होता, इसी तरह विधिपूर्वक की हुई हिंसा दुर्गति का कारण नहीं होती—जहा विसं विधीए मंतपरिग्गहितं खज्जमाणं अदोसाय भवति, अविधीए पुण खज्जमाणं मारगं भवति, तहा हिंसा विधीए मंतेहिं जण्णजापमादीहिं कज्जमाणा ण दुग्गतिगमणाय भवति, तम्हा णिरवायता परसामो हिंसा विधीए कप्पति काउं, एवं दिट्ठंतेण कप्पमकप्पं कज्जति, अकप्पं कप्पं कज्जति। निशीथचूर्णी, साइक्लोस्टाइल्ड प्रति, १५, पृष्ठ ९५५। महाभारत, शांतिपर्व (१२–१४१ आदि) में आपद्धर्म उपस्थित होने पर विश्वामित्र ऋषि को चोरी करने के लिये बाध्य होना पड़ा। 'जीवन् धर्मं चरिष्यामि' (यदि जीता रहा तो धर्म का आचरण कर सकेगा) का यहाँ समर्थन किया गया है।

समय उससे बात न करें। जब वह पवित्र स्थान में आकर बैठ जाये तो उसे रोगी का हाल कहें। फिर जो उपचार वह बताये उसे ध्यानपूर्वक सुनें।[1]

ग्राम में प्रवेश कर साधु लोग स्थान के मालिक (शय्यातर) से पूछकर वसति (ठहरने का स्थान) में ठहरते हैं। चातुर्मास बीत जाने पर उससे पूछकर अन्यत्र गमन करते हैं। संध्या के समय आचार्य अपने गमन की सूचना देते हैं और चलने के पूर्व शय्यातर के परिवार को धर्म का उपदेश देते हैं। साधु लोग शकुन देखकर गमन करते हैं; रात्रि में गमन नहीं करते; दूसरे स्थान में पहुँचते-पहुँचते यदि रात हो जाये तो जंगली जानवर, चोर, रक्षपाल, बैल, कुत्ते और वेश्या आदि का डर रहता है। ऐसे समय यदि कोई टोके तो कह देना चाहिये कि हम लोग चोर नहीं हैं। वसति में पहुँचने पर यदि चोर का भय हो तो एक साधु वसति के द्वार पर खड़ा रहे और दूसरा मल-मूत्र (कायिकी) का त्याग करे। यहाँ मल-मूत्र त्याग करने की विधि बताई है। कभी कोई विधवा, प्रोषितभर्तृका अथवा रोक कर रक्खी हुई स्त्री साधु को अकेला पाकर घर का द्वार बन्द कर दे, तो यदि साधु स्त्री की इच्छा करता है तो वह संयम से भ्रष्ट हो जाता है। यदि इच्छा नहीं करता तो स्त्री झूठमूठ उसकी बदनामी उड़ा सकती है। यदि कोई स्त्री उसे जबर्दस्ती पकड़ ले तो साधु को चाहिये कि वह स्त्री को धर्मोपदेश दे। यदि स्त्री फिर भी न छोड़े तो गुरु के समीप जाने का बहाना बनाकर वहाँ से चला जाये। फिर भी सफलता न मिले तो व्रत भंग करने के लिये वह कमरे में चला जाय और उपायान्तर न देख रस्सी आदि से लटक कर प्राणान्त कर ले।

उपधि का निरूपण करते हुए जिनकल्पियों के निम्नलिखित बारह उपकरण बताये हैं—पात्र, पात्रबन्ध, पात्रस्थापन, पात्र-

---

१. इस वर्णन के लिए देखिये, सुश्रुतसंहिता, (अ० २९, सूत्र १३, पृ० १७५ आदि)।

केसरिका (पात्रमुखवस्त्रिका), पटल,[1] रजस्त्राण, गोच्छक, तीन प्रच्छादक (वस्त्र), रजोहरण और मुखवस्त्रिका। इनमें मात्रक और चोलपट्ट मिला देने से स्थविरकल्पियों के चौदह उपकरण हो जाते हैं। उक्त बारह उपकरणों में मात्रक, कमढग, उग्गहणंतग (गुह्य अंग की रक्षा के लिये), पट्टक (उग्गहणंतग को दोनों ओर से ढकने वाला; जाँघिये की भाँति), अद्धोरुग (उग्गहणंतग और पट्टक के ऊपर पहने जानावाला), चलनिका (घुटनों तक आनेवाला बिना सींया वस्त्र), अब्भिंतरनियंसिणी (आधी जाँघों तक लटका रहनेवाला वस्त्र; वस्त्र बदलते समय साध्वियाँ इसका उपयोग करती थीं), बहिनियंसिणी (घुट्टियों तक लटका रहनेवाला; डोरी के द्वारा इसे कटि में बाँधा जाता था) नामक वस्त्र उल्लेखनीय है। इसके अलावा निम्न वस्त्र शरीर के ऊपरी भाग में पहने जाते थे—कंचुक (वक्षस्थल को ढकनेवाला वस्त्र), उक्कच्छिय (कंचुक के समान ही होता था), वेकच्छिय (कंचुक और उक्कच्छिय दोनों को ढकनेवाला वस्त्र), संघाड़ी, खंधकरणी (चार हाथ लंबा वस्त्र, वायु आदि से रक्षा करने के लिये पहना जाता था)। ये सब मिलाकर २५ उपकरण आर्याओं के लिये बताये गये हैं। यहाँ पात्र, दण्ड, यष्टि, चर्म, चर्मकोश, चर्मच्छेद, योगपट्टक, चिलमिली और उपानह आदि उपकरणों के धारण करने का प्रयोजन बताया है। साधु के उपकरणों में यष्टि आदि रखने का विधान है। यष्टि आत्मप्रमाण, वियष्टि अपने से चार अंगुल कम, दण्ड बाहुप्रमाण, विदण्ड काँख (कक्षा) प्रमाण और नालिका अपने प्रमाण से चार अंगुल

---

१. भोजन-पात्र में पुष्प आदि न गिर जाये इसलिये साधारणतया यह वस्त्र काम में आता था, लेकिन इसके अलावा उस समय जो साधु नग्न अवस्था में विहार करते थे वे इस वस्त्र को अपने लिंग को संवरण करने के काम में लेते थे—लिंगस्स संवरणे वेदोदयरक्खणे पडला ॥ ७०२ ॥ इस उल्लेख की ओर मुनि पुण्यविजय जी ने मेरा ध्यान आकर्षित किया है, एतदर्थ मैं आभारी हूँ।

अधिक होती है। जल की थाह लेने के लिये नालिका, परदा बाँधने के लिये यष्टि, उपाश्रय के दरवाजे में लगाने के लिये (उवस्सयबारघट्टणी) वियष्टि, भिक्षा के लियें भ्रमण करते समय आठ महीने रक्षा के लिये दंड तथा वर्षाकाल में विदण्ड का उपयोग किया जाता है। तत्पश्चात् लाठियों के भेद बताते हुए एक, तीन और सात पोरी आदि वाली लाठी को शुभ तथा चार, पाँच और छह पोरी वाली लाठी को अशुभ कहा है।

यहाँ (पृष्ठ १५२) 'चाणक्कए वि भणियं' कह कर निम्न अवतरण दिया गया है—"जह काइयं न वोसिरइ ततो अदोसो" (यदि मल-मूत्र का त्याग नहीं करता तो दोष नहीं है)।

पक्खियसुत्त (पाक्षिकसूत्र)

पाक्षिकसूत्र आवश्यकसूत्र में गर्भित हो जाता है। जैन-धर्म में पाँच प्रकार के प्रतिक्रमण बताये हैं :—दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक और सांवत्सरिक। यहाँ पाक्षिक प्रतिक्रमण को लेकर ही पक्खियसुत्त की रचना हुई है। इस हिसाब से इसे आवश्यकसूत्र का अंग समझना चाहिये। इस पर यशोदेवसूरि ने सुखविबोधा नाम की वृत्ति लिखी है।[1] इस सूत्र में रात्रिभोजन को मिला कर छह महाव्रतों और उनके अतिचारों का विवरण है। क्षमाश्रमणों की वन्दना की गई है। २८ उक्कालिय, ३७ कालिय तथा १२ अंगों के नामों की सूची यहाँ दी गई है।

खामणासुत्त (क्षामणासूत्र)

इसे पाक्षिकक्षामणासूत्र भी कहते हैं। कोई इसे पाक्षिक-सूत्र के साथ गिनते हैं, कोई अलग।

---

१. यशोदेवसूरि की टीका सहित देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, सूरत से सन् १९५१ में प्रकाशित।

वंदित्तुसुत्त

इसे श्राद्धप्रतिक्रमणसूत्र भी कहते हैं।[1] इसकी पहली गाथा 'वंदित्तु सव्वसिद्धे' से आरम्भ होती है, इसलिए इसे वंदित्तुसुत्त कहा जाता है। यह सूत्र गणधरों द्वारा रचित कहा गया है। इस पर अकलंक, देवसूरि, पार्श्वसूरि, जिनेश्वरसूरि, श्रीचन्द्रसूरि, तिलकाचार्य, रत्नशेखरसूरि आदि आचार्यों ने टीकाएँ लिखी हैं। सबसे प्राचीन विजयसिंह की चूर्णी है जो संवत् ११८३ (सन् ११२६) में लिखी गई है।

इसिभासिय (ऋषिभाषित)

प्रत्येकबुद्धों द्वारा भाषित होने से इसे ऋषिभाषित कहा है।[2] इसमें नारद, अंगरिसि, वल्कलचीरि, कुम्मापुत्त,[3] महाकासव, मंखलिपुत्त, बाहुक, रामपुत्त, अम्मड, मायंग, वारत्तय, इसिगिरि, अद्दालय, दीवायण, वेसमण[4] आदि ४५ अध्ययनों में

---

१. पार्श्वसूरि, चन्द्रसूरि और तिलकाचार्य की वृत्तियों सहित विनयभक्ति सुन्दरचरणग्रन्थमाला में वि० सं० १९९७ में प्रकाशित। रत्नशेखरसूरि की वृत्ति का अनुसरण करके किसी आचार्य ने अवचूरि लिखी है जो वन्दनप्रतिक्रमणावचूरि के नाम से देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार ग्रन्थमाला में सन् १९५२ में प्रकाशित हुई है।

२. ऋषभदेव केशरीमल संस्था, रतलाम द्वारा सन् १९२७ में प्रकाशित।

३. थेरगाथा (४) में कुम्मापुत्त स्थविर का उल्लेख है।

४. सूत्रकृतांग (३·४–२, ३, ४, पृष्ठ ९४ अ–९५) में रामगुप्त राजर्षि, बाहुक, नारायणमहर्षि, असितदेवल, द्वीपायन, पराशर आदि महापुरुषों को सम्यक्चारित्र के पालन करने से मोक्ष की प्राप्ति बताई है। चउसरण की टीका (६४) में भी अन्यलिंग-सिद्धों में वक्कलचीरी आदि तथा अजिन-सिद्धों में पुंडरीक, गौतम आदि का उल्लेख है।

प्रत्येकबुद्धों के चरित्र दिये हुए हैं। इसमें अनेक अध्ययन पद्य में हैं। इस सूत्र पर निर्युक्ति लिखे जाने का उल्लेख है जो आजकल अनुपलब्ध है।

नन्दी और अनुयोगदार

नन्दी की गणना अनुयोगद्वार के साथ की जाती है। ये दोनों आगम अन्य आगमों की अपेक्षा अर्वाचीन हैं। नन्दी के कर्ता दूष्यगणि के शिष्य देववाचक हैं। कुछ लोग देववाचक और देवर्धिगणि क्षमाश्रमण को एक ही मानते हैं। लेकिन यह ठीक नहीं है; दोनों की गच्छ परम्परायें भिन्न-भिन्न हैं। जिनदासगणि महत्तर ने इस सूत्र पर चूर्णी तथा हरिभद्र और मलयगिरि ने टीकायें लिखी हैं।[1]

नन्दीसूत्र में ६० पद्यात्मक गाथायें और ५६ सूत्र हैं। आरम्भ की गाथाओं में महावीर, संघ और श्रमणों की स्तुति की गई है। स्थविरावली में भद्रबाहु, स्थूलभद्र, महागिरि, आर्य श्याम, आर्य समुद्र, आर्य मंगु, आर्य नागहस्ति, स्कंदिल आचार्य, नागार्जुन, भूतदिन्न आदि के नाम मुख्य हैं। प्रथम सूत्र में ज्ञान के पाँच भेद बताये हैं। फिर ज्ञान के भेद–प्रभेदों का विस्तार से कथन है। सम्यक् श्रुत में द्वादशांग गणिपिटक के आचारांग आदि १२ भेद बताये गए हैं। द्वादशांग सर्वज्ञ, सर्वदर्शियों द्वारा भाषित माना है। मिथ्याश्रुत में भारत (महाभारत)

---

१. चूर्णी सन् १९२८ में रतलाम से प्रकाशित; हरिभद्र की टीका सहित सन् १९२८ मे रतलाम से और मलयगिरि की टीका सहित सन् १९२४ में बम्बई से प्रकाशित। इस आगम की कुछ कथाओं की तुलना कालिपाद मित्र ने इण्डियन हिस्टौरिकल क्वार्टर्ली (जिल्द १९, नं० ३-४) में प्रकाशित 'सम टेल्स ऑव एंशिएण्ट इज़राइल, देअर ओरिजिनल्स एण्ड पैरेलल्स' नामक लेख में अन्य कथाओं के साथ की है।

रामायण, भीमासुरक्ख[1], कौटिल्य[2], घोटकमुख[3], सगडभद्दिआ, कप्पसिअ, नागसुहुम, कनकसत्तरि[4], वइसेसिय (वैशेषिक), बुद्धवचन, त्रैराशिक, कापिलिक, लोकायत, षष्ठितंत्र, माठर, पुराण, व्याकरण, भागवत, पातंजलि, पुस्सदेवय, लेख, गणित, शकुनरुत, नाटक आदि तथा ७२ कलायें और सांगोपांग चार वेदों की गणना की गई है।

नन्दीसूत्र के अनुसार श्रुत के दो भेद हैं :—गमिक श्रुत और आगमिक श्रुत। गमिक श्रुत में दृष्टिवाद और आगमिक में कालिक का अन्तर्भाव होता है। अथवा श्रुत के दो भेद किये गये हैं—अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट। टीकाकार के अनुसार अंगप्रविष्ट गणधरों द्वारा और अंगबाह्य स्थविरों द्वारा रचे जाते हैं। आचारांग, सूत्रकृतांग आदि के भेद से अंगप्रविष्ट के १२ भेद हैं। अंगबाह्य दो प्रकार का है—आवश्यक और आवश्यकव्यतिरिक्त। आवश्यक सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदन, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान के भेद से छह प्रकार का है। आवश्यकव्यतिरिक्त के दो भेद हैं—कालिक (जो दिन और रात्रि की प्रथम और अंतिम पोरिसी में पढ़ा जाता है) और उत्कालिक। कालिक के निम्नलिखित भेद बताये गये हैं—

---

१. व्यवहारभाष्य (१, पृष्ठ १३२) में माठर और कोडिन्न की दंडनीति के साथ भंभीय और आसुरुक्ख का उल्लेख है। नेमिचन्द्र के गोम्मटसार जीवकांड (३०३, पृष्ठ ११७) में आभीय और आसुरुक्ख तथा ललितविस्तर (पृष्ठ १५६) में आंभीय और आसुर्य का नाम आता है। तथा देखिये मूलाचार (५-६१) टीका।

२. सूत्रकृतांगचूर्णी (पृष्ठ २०८) में चाणक्कोडिल्ल और बौद्धों के चूलवंस (६४-३) में कोटल्ल का उल्लेख है।

३. अर्थशास्त्र (पृष्ठ २८२) और कामसूत्र (पृष्ठ १८८) में घोटकमुख का उल्लेख है। मज्झिमनिकाय (२, पृष्ठ १५७ आदि) भी देखिये।

४. ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका।

उत्तरज्झयण, दसाओ, कप्प, ववहार, निसीह, महानिसीह, इसिभासिय, जंबुद्दीवपन्नत्ति, दीवसागरपन्नत्ति, चंदपन्नत्ति, खुड्डियाविमाणपविभत्ति, महल्लिआविमाणपविभत्ति, अंगचूलिका, वग्गचूलिका, विवाहचूलिका, अरुणोववाय, वरुणोववाय, गरुलोववाय, धरणोववाय, वेसमणोववाय, वेलंधरोववाय, देविंदोववाय, उट्ठाणसुय, समुट्ठाणसुय, नागपरिआवणिआओ, निरयावलियाओ, कप्पिआओ, कप्पवडिंसियाओ, पुप्फियाओ, पुप्फचूलियाओ, वण्हिदसाओ आदि। उत्कालिक के निम्नलिखित भेद हैं:—दसवेआलिय, कप्पाकप्पिय, चुल्लकप्पसुअ, महाकप्पसुअ, उववाइअ, रायपसेणिअ, जीवाभिगम, पण्णवणा, महापण्णवणा, पमायप्पमाय, नंदी, अनुयोगदार, देविंदत्थअ, तंदुलवेआलिअ, चंदाविज्झय, सूरपण्णत्ति, पोरिसिमंडल, मंडलपवेस, विज्जाचरणविणिच्छअ, गणिविज्जा, झाणविभत्ती, मरणविभत्ती, आयविसोही, वीयरागसुअ, संलेहणासुअ, विहारकप्प, चरणविही, आउरपच्चक्खाण, महापच्चक्खाण आदि।

अनुयोगदार (अनुयोगद्वार)

यह आर्यरक्षित द्वारा रचित माना जाता है। विषय और भाषा की दृष्टि से यह सूत्र काफी अर्वाचीन मालूम होता है।[1] इस पर भी जिनदासगणि महत्तर की चूर्णी तथा हरिभद्र और अभयदेव के शिष्य मलधारि हेमचन्द्र की टीकायें हैं। प्रश्नोत्तर की शैली में इसमें प्रमाण—पल्योपम, सागरोपम, संख्यात, असंख्यात और अनंत के प्रकार, तथा निक्षेप, अनुगम और नय का प्ररूपण है। नाम के दस प्रकार, नव काव्य-रस और उनके उदाहरण, मिथ्याशास्त्र, स्वरों के नाम, स्थान, उनके लक्षण, ग्राम, मूर्च्छना आदि का वर्णन किया है। कुप्रावचनिकों में चरक,

---

१. हरिभद्रसूरि की टीका सहित सन् १९२८ में रतलाम से और मलधारी हेमचन्द्र की टीका सहित सन् १९३६ में भावनगर से प्रकाशित।

चीरिक, चर्मखंडिअ, भिक्खोण्ड, पांडुरंग, गौतम, गोव्रतिक, गृहिधर्म, धर्मचिन्तक, विरुद्ध और वृद्धों[1] का उल्लेख है। अनुयोगद्वारचूर्णी में इनकी व्याख्या की गई है। पांच प्रकार के सूत्रों में अंडय, बोंडय, कीडय, बालज, और किट्टिस के नाम गिनाये हैं। मिथ्याशास्त्रों में नन्दी में उल्लिखित महाभारत, रामायण आदि गिनाये गये हैं; एक वैशिक[2] अधिक है। आगम, लोप, प्रकृति और विकार का प्रतिपादन करते हुए व्याकरण-सम्बन्धी उदाहरण दिये हैं। समास, तद्धित, धातु और निरुक्ति का विस्तृत विवेचन है। पाखण्डियों में श्रमण, पांडुरंग[3], भिक्षु, कापालिक, तापस और परिव्राजक का उल्लेख है। कर्मकारों[4] में

---

१. इनके अर्थ के लिये देखिये जगदीशचन्द्र जैन, लाइफ इन ऐंशियेण्ट इण्डिया, पृष्ट २०६–७।

२. सूत्रकृतांगटीका (४, १, २०, पृष्ठ १११) में वैशिक का अर्थ कामशास्त्र किया है जिसका अध्ययन करने के लिए लोग पाटलिपुत्र जाया करते थे। सूत्रकृतांगचूर्णी (पृष्ठ १४०) में वैशिक का एक वाक्य उद्धृत किया है—दुर्विज्ञयो हि भावः प्रमदानाम्। निम्नलिखित श्लोक भी उद्धृत है—

एता हसंति च रुदंति च अर्थहेतोः।
विश्वासयंति च नरं न च विश्वसंति ॥
स्त्रियः कृतार्थाः पुरुषं निरर्थकं।
निष्पीलितालक्तकवत् त्यजंति ॥

भरत के नाट्यशास्त्र में वैशिक नामका २३ वां अध्याय है। ललित-विस्तर (पृष्ठ १५६) में भी वैशिक का उल्लेख है। दामोदर के कुट्टिनीमत (श्लोक ५०४) में दत्त को वैशिक का कर्त्ता बताया है।

३. निशीथचूर्णी, (पृष्ठ ८६५) के अनुसार गोशाल के शिष्य पांडुरभिक्षु कहे जाते थे। धम्मपद-अट्ठकथा (४, पृष्ठ ८) में भी इनका उल्लेख है।

४. प्रज्ञापना (१, ३७) में कर्म और शिल्प,आर्यों का उल्लेख किया गया है।

तृण, काष्ठ और पत्र ढोनेवाले, कपड़ा बेचनेवाले (दोसिय), सूत बेचनेवाले (सोत्तिय), बर्तन बेचनेवाले (भंडवेआलिअ) और कुम्हार (कोलालिअ), तथा शिल्पजीवियों में कपड़ा बुननेवाले (तंतुवाय), पट्टकार, काष्ठकार, छत्रकार, चित्रकार, दंतकार, कोट्टिमकार आदि का उल्लेख है। गणों में मल्लों का नाम गिनाया है। प्रमाण के चार भेद हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम। अनुमान तीन प्रकार का है—पूर्ववत्, शेषवत् और दृष्टसाधर्म्य।



तीसरा अध्याय

आगमों का व्याख्या-साहित्य

(ईसवी सन् की लगभग २सरी शताब्दी से लेकर १६वीं शताब्दी तक)

पालि त्रिपिटक पर बुद्धघोष की अट्ठकथाओं की भांति आगम-साहित्य पर भी निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णी, टीका, विवरण, विवृति, वृत्ति, दीपिका, अवचूरि, अवचूर्णी विवेचन, व्याख्या, छाया, अक्षरार्थ, पंजिका, टब्बा, भाषाटीका, वचनिका आदि विपुल व्याख्यात्मक साहित्य लिखा गया है। इसमें से बहुत कुछ प्रकाश में आ गया है और अभी बहुत कुछ भंडारों में पड़ा हुआ है। आगमों का विषय इतना गंभीर और पारिभाषिक है कि व्याख्यात्मक साहित्य के बिना उसे समझना कठिन है। वाचना-भेद और पाठों की विविधता के कारण तथा अनेक वृद्ध सम्प्रदायों के विस्मृत हो जाने के कारण यह कठिनाई और बढ़ जाती है। आगमों के टीकाकारों ने इस ओर जगह-जगह लक्ष्य किया है। प्राकृत साहित्य के इतिहास की अध्ययन की दृष्टि से इस व्याख्यात्मक साहित्य में निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णी तथा कतिपय टीकायें प्राकृतबद्ध होने के कारण महत्वपूर्ण हैं। इन चार के साथ आगमों को मिला देने से यह साहित्य पंचांगी कहा जाता है। पंचागी का अध्ययन प्राकृत साहित्य के क्रमिक विकास को समझने के लिए अत्यंत उपयोगी है।

निज्जुत्ति (निर्युक्ति)

व्याख्यात्मक ग्रन्थों में निर्युक्ति का स्थान सर्वोपरि है। सूत्र में निश्चय किया हुआ अर्थ जिसमें निबद्ध हो उसे निर्युक्ति कहा है

(णिज्जुत्ता ते अत्था, जं बद्धा तेण होइ णिज्जुत्ती[1])। निर्युक्ति आगमों पर आर्या छंद में प्राकृत गाथाओं में लिखा हुआ संक्षिप्त विवेचन है। इसमें विषय का प्रतिपादन करने के लिए अनेक कथानक, उदाहरण और दृष्टांतों का उपयोग किया है, जिनका उल्लेख-मात्र यहाँ मिलता है। यह साहित्य इतना सांकेतिक और संक्षिप्त है कि बिना भाष्य और टीका के सम्यक् प्रकार से समझ में नहीं आता। इसीलिए टीकाकारों ने मूल आगम के साथ-साथ निर्युक्तियों पर भी टीकायें लिखी हैं। प्राचीन गुरु परम्परा से आगत पूर्व साहित्य के आधार पर ही निर्युक्ति-साहित्य की रचना की गई जान पड़ती है। संक्षिप्त और पद्यबद्ध होने के कारण यह साहित्य आसानी से कंठस्थ किया जा सकता था और धर्मोपदेश के समय इसमें से कथा आदि के उद्धरण दिये जा सकते थे। पिंडनिर्युक्ति और ओघनिर्युक्ति आगमों के मूलसूत्रों में गिनी गई हैं, इससे निर्युक्ति-साहित्य की प्राचीनता का पता चलता है कि वलभी वाचना के समय, ईसवी सन् की पांचवीं-छठी शताब्दी के पूर्व ही, निर्युक्तियाँ लिखी जाने लगी थीं। नयचक्र के कर्त्ता मल्लवादी (विक्रम संवत् की ५ वीं शताब्दी) ने अपने ग्रन्थ में निर्युक्ति की गाथा का उद्धरण दिया है, इससे भी उक्त कथन का समर्थन होता है।[2] आचारांग, सूत्रकृतांग, सूर्यप्रज्ञप्ति, व्यवहार, कल्प, दशाश्रुतस्कंध उत्तरा-ध्ययन, आवश्यक, दशवैकालिक और ऋषिभाषित इन दस सूत्रों पर निर्युक्तियाँ लिखी गई हैं।[3] इनके लेखक परंपरा के अनुसार भद्रबाहु माने जाते हैं जो संभवतः छेदसूत्र के कर्त्ता अंतिम

---

१. निर्युक्तानामेव सूत्रार्थानां युक्तिः—परिपाट्या योजनं। हरिभद्र, दशवैकालिक-वृत्ति, पृष्ठ ४।

२. देखिये मुनिपुण्यविजय जी द्वारा संपादित बृहत्कल्पसूत्र, भाग ६ का आमुख, पृष्ठ ६।

३. मुनि पुण्यविजयजी विक्रम की दूसरी शताब्दी निर्युक्तियों का रचनाकाल मानते हैं। (देखिये वही, पृष्ठ ५)।

श्रुतकेवलि भद्रबाहु से भिन्न हैं।[1] दुर्भाग्य से बहुत से आगमों की निर्युक्ति और भाष्य की गाथायें परस्पर इतनी मिश्रित हो गई हैं कि चूर्णीकार भी उन्हें पृथक् नहीं कर सके।[2] निर्युक्तियों में अनेक ऐतिहासिक, अर्ध-ऐतिहासिक और पौराणिक परंपरायें, जैनसिद्धांत के तत्व और जैनों के परंपरागत आचार-विचार सन्निहित हैं।

भास (भाष्य)

निर्युक्तियों की भाँति भाष्य भी प्राकृत गाथाओं में संक्षिप्त शैली में लिखे गये हैं। बृहत्कल्प, दशवैकालिक आदि सूत्रों के भाष्य और निर्युक्ति की गाथायें परस्पर अत्यधिक मिश्रित हो गई हैं, इसलिये अलग से उनका अध्ययन करना कठिन है। निर्युक्तियों की भाषा के समान भाष्यों की भाषा भी मुख्यरूप से प्राचीन प्राकृत (अर्धमागधी) है; अनेक स्थलों पर मागधी और शौर शौरसेनी के प्रयोग भी देखने में आते हैं; मुख्य छंद आर्या है। भाष्यों का समय सामान्य तौर पर ईसवी सन् की लगभग चौथी-पाँचवी शताब्दी माना जा सकता है। भाष्य-साहित्य में खासकर निशीथभाष्य, व्यवहारभाष्य और बृहत्कल्प-भाष्य का स्थान अत्यंत महत्व का है। इस साहित्य में अनेक प्राचीन अनुश्रुतियाँ, लौकिक कथायें और परंपरागत निर्ग्रंथों के प्राचीन आचार-विचार की विधियों आदि का प्रतिपादन है।

---

१. अगस्त्यसिंह की दशवैकालिकचूर्णी में प्रथम अध्ययन की निर्युक्ति गाथाओं की संख्या कुल ५४ है जब कि हरिभद्र की टीका में यह संख्या १५६ तक पहुँच गई है, इससे भी निर्युक्ति और भाष्य की गाथाओं में गड़बड़ी होने का पता चलता है (देखिये वही)।

२. इसिभासिय के ऊपर भी निर्युक्ति थी लेकिन सूर्यप्रज्ञप्ति की निर्युक्ति की भांति यह भी अनुपलब्ध है। महानिशीथ के अनुसार पंचमंगलश्रुतस्कंध के ऊपर भी निर्युक्ति लिखी गई थी। मूलाचार (५, ८२) में आराधनानिर्युक्ति का भी उल्लेख है।

जैन-श्रमण संघ के प्राचीन इतिहास को सम्यक् प्रकार से समझने के लिये उक्त तीनों भाष्यों का गंभीर अध्ययन आवश्यक है। हरिभद्रसूरि के समकालीन संघदासगणि क्षमाश्रमण, जो वसुदेवहिण्डी के कर्त्ता संघदासगणि वाचक से भिन्न हैं, कल्प, व्यवहार और निशीथ भाष्यों के कर्ता के रूप में प्रसिद्ध हैं। निम्नलिखित ग्यारह सूत्रों के भाष्य उपलब्ध हैं—निशीथ, व्यवहार, कल्प, पंचकल्प, जीतकल्प, उत्तराध्ययन, आवश्यक, दशवैकालिक, पिंडनिर्युक्ति, ओघनिर्युक्ति।

आगमेतर ग्रंथों में चैत्यवंदन, देववंदनादि और नवतत्त्व-गाथाप्रकरण आदि पर भी भाष्य लिखे गये हैं।

चुण्णि (चूर्णी)

आगमों के ऊपर लिखे हुए व्याख्या-साहित्य में चूर्णियों का स्थान बहुत महत्त्व का है। चूर्णियाँ गद्य में लिखी गई हैं। संभवतः पद्य में लिखे हुए निर्युक्ति और भाष्य-साहित्य में जैन-धर्म के सिद्धांतों को विस्तार से प्रतिपादन करने के लिये अधिक गुंजायश नहीं थी। इसके अलावा, चूर्णियाँ केवल प्राकृत में ही न लिखी जाकर संस्कृतमिश्रित प्राकृत में लिखी गई थीं, इसलिये भी इस साहित्य का क्षेत्र निर्युक्ति और भाष्य की अपेक्षा अधिक विस्तृत था। चूर्णियों में प्राकृत की प्रधानता होने के कारण इसकी भाषा को मिश्र प्राकृत भाषा कहना सर्वथा उचित ही है। चूर्णियों[1] में प्राकृत की लौकिक, धार्मिक अनेक

---

१. निशीथ के विशेषचूर्णिकार ने चूर्णी की निम्न परिभाषा दी है—पागडो ति प्राकृतः प्रगटो वा पदार्थो वस्तुभावो यत्र सः, तथा परिभाष्यते अर्थोऽनयेति परिभाषा चूर्णिरुच्यते। अभिधानराजेन्द्र-कोष में चूर्णी की परिभाषा देखिए—

अत्थबहुलं महत्थं हेउनिवाओवसग्गगंभीरं।
बहुपायमवोच्छिन्नं गमणयसुद्धं तु चुण्णपयं॥

जिसमें अर्थ की बहुलता हो, महान् अर्थ हो, हेतु, निपात और

कथायें दी हैं, प्राकृत भाषा में शब्दों की व्युत्पत्ति दी है तथा संस्कृत और प्राकृत के अनेक पद्य उद्धृत किये हैं। चूर्णियों में निशीथ की विशेषचूर्णी तथा आवश्यकचूर्णी का स्थान बहुत महत्त्व का है। इनमें जैन पुरातत्त्व से संबंध रखनेवाली विपुल सामग्री मिलती है। देश-देश के रीति-रिवाज, मेले-त्योहार, दुष्काल, चोर-लुटेरे, सार्थवाह, व्यापार के मार्ग, भोजन, वस्त्र, आभूषण आदि विषयों का इस साहित्य में वर्णन है जिससे जैन आचार्यों की जनसंपर्क की वृत्ति, व्यवहारकुशलता और उनके व्यापक अध्ययन का पता लगता है। लोककथा और भाषाशास्त्र की दृष्टि यह साहित्य अत्यन्त उपयोगी है। वाणिज्य-कुलीन कोटिकगणीय वज्रशाखीय जिनदासगणि महत्तर अधिकांश चूर्णियों के कर्ता के रूप में प्रसिद्ध हैं; इनका समय ईसवी सन् की छठी शताब्दी के आसपास माना जाता है। निम्नलिखित आगमों पर चूर्णियाँ उपलब्ध हैं—आचारांग, सूत्रकृतांग, व्याख्या-प्रज्ञप्ति, कल्प, व्यवहार निशीथ, पंचकल्प, दशाश्रुतस्कंध जीत-कल्प, जीवाभिगम, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, उत्तराध्ययन, आवश्यक, दशवैकालिक, नन्दी और अनुयोगद्वार।

आगमेतर ग्रन्थों में श्रावकप्रतिक्रमणसूत्र, सार्धशतक तथा कर्मग्रन्थों पर चूर्णियाँ लिखी गई हैं।

टीका

निर्युक्ति, भाष्य, और चूर्णियों की भांति आगमों के ऊपर विस्तृत टीकायें भी लिखी गई हैं जो आगम सिद्धान्त को

उपसर्ग से जो युक्त हो, गंभीर हो, अनेक पदों से समन्वित हो, जिसमें अनेक गम (जानने के उपाय) हों और जो नयों से शुद्ध हो उसे चूर्णीपद समझना चाहिये।

बौद्ध विद्वान् महाकच्चायन निरुक्ति के कर्त्ता कहे गये हैं। निरुक्ति दो प्रकार की है, चूलनिरुक्ति और महानिरुक्ति, देखिए जी० पी० मलालसेकर, डिक्शनरी ऑव पाली प्रोपर नेम्स, जिल्द २, पृष्ठ ७९।

समझने के लिए अत्यंत उपयोगी हैं। ये टीकायें संस्कृत में हैं, यद्यपि कुछ टीकाओं का कथासंबंधी अंश प्राकृत में भी उद्धृत किया गया है। जान पड़ता है कि आगमों की अंतिम वलभी वाचना के पूर्व ही आगमों पर टीकायें लिखी जाने लगी थीं। विक्रम की तीसरी शताब्दी के आचार्य अगस्त्यसिंह ने अपनी दशवैकालिकचूर्णी में अनेक स्थलों पर इन प्राचीन टीकाओं की ओर संकेत किया है। इसके अतिरिक्त, हिमवंत थेरावली के अनुसार आर्य मधुमित्र के शिष्य तत्त्वार्थ के ऊपर महाभाष्य के लेखक आर्य गंधहस्ती ने आर्यस्कंदिल के आग्रह पर १२ अंगों पर विवरण लिखा था। आचारांगसूत्र का विवरण विक्रम संवत् के २०० वर्ष बाद लिया गया।[1] इससे आगमों पर लिखे गये व्याख्यात्मक साहित्य का समय काफी पहले पहुँच जाता है। टीकाकारों में याकिनीसूनु हरिभद्रसूरि (७०५–७७५ ईसवी सन्) का नाम उल्लेखनीय है जिन्होंने आवश्यक, दशवैकालिक नन्दी और अनुयोगद्वार पर टीकायें लिखीं। प्रज्ञापना पर भी हरिभद्र ने टीका लिखी है। इन टीकाओं में लेखक ने कथाभाग को प्राकृत में ही सुरक्षित रक्खा है। हरिभद्रसूरि के लगभग १०० वर्ष पश्चात् शीलांकसूरि ने आचारांग और सूत्रकृतांग पर संस्कृत टीकायें लिखीं। इनमें जैन आचार-विचार और तत्त्वज्ञानसंबंधी अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों का विवेचन किया गया है।

हरिभद्रसूरि की भांति टीकाओं में प्राकृत कथाओं को सुरक्षित रखनेवाले आचार्यों में वादिवेताल शान्तिसूरि, नेमिचन्द्रसूरि और मलयगिरि का नाम उल्लेखनीय है। शान्तिसूरि और नेमिचन्द्र ईसवी सन् की ११वीं शताब्दी में हुए थे। शान्तिसूरि की तो टीका का नाम ही पाइय (प्राकृत) टीका है, इसे शिष्यहिता अथवा उत्तराध्ययनसूत्र-बृहद्वृत्ति भी कहा गया है। नेमिचन्द्रसूरि ने इस टीका के आधार पर सुखबोधा नाम की

---

१. देखिये पुण्यविजयजी द्वारा संपादित बृहत्कल्पसूत्र भाग ६ का आमुख।

टीका लिखी है। शान्तिसूरि ने प्राकृत की कथायें उद्धृत करते हुए अनेक स्थलों पर वृद्धसम्प्रदाय, वृद्ध, वृद्धवाद अथवा 'अन्ने भणंति' कहा है जिससे सिद्ध होता है कि प्राचीनकाल से इन कथाओं की परंपरा चली आ रही थी। उक्त दोनों टीकाओं में बंभदत्त और अगडदत्त की कथायें तो इतनी लम्बी हैं कि वे एक स्वतंत्र पुस्तक का विषय हैं। अन्य टीकाकारों में ईसवी सन् की १२वीं शताब्दी के विद्वान् अभयदेवसूरि, द्रोणाचार्य मलधारि हेमचन्द्र, मलयगिरि, तथा क्षेमकीर्ति (ईसवी सन् १२७५), शान्तिचन्द्र (ईसवी सन् १५९३) आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। वास्तव में आगम-सिद्धांतों पर व्याख्यात्मक साहित्य का इतनी प्रचुरता से निर्माण हुआ कि वह एक अलग ही साहित्य बन गया। इस विपुल साहित्य ने अपने उत्तरकालीन साहित्य के निर्माण में योगदान दिया जिसके परिणामस्वरूप प्राकृत भाषा का कथा-साहित्य, चरित-साहित्य, धार्मिक-साहित्य और शास्त्रीय-साहित्य उत्तरोत्तर विकसित होकर अधिकाधिक समृद्ध होता गया।

निर्युक्ति-साहित्य

आचारांगनिर्युक्ति

आचारांगसूत्र पर भद्रबाहुसूरि ने ३५६ गाथाओं में निर्युक्ति लिखी है। इन पर शीलांक ने महापरिण्णा अध्ययन की दस गाथाओं को छोड़कर टीका लिखी है। द्वादशांग के प्रथम अंग आचारांग को प्रवचन का सार और आचारधारी को गणियों में प्रधान कहा गया है। कौन किसका सार है, इसका विवेचन करते हुए कहा है—

> अंगाणं किं सारो ? आयारो, तस्स हवइ किं सारो ?
> अणुओगत्थो सारो, तस्सवि य परूवणा सारो ॥
> सारो परूवणाए चरणं, तस्सवि य होइ निव्वाणं।
> निव्वाणस्स उ सारो, अव्वाबाहं जिणा बिंति ॥

—अंगों का क्या सार है ? आचारांग। आचारांग का क्या सार है ? अनुयोगार्थ अर्थात् उसका विख्यात अर्थ। अनुयोगार्थ का सार प्ररूपणा है। प्ररूपणा का सार चारित्र है। चारित्र का सार निर्वाण है, और निर्वाण का सार अव्याबाध है—ऐसा जिनेन्द्र ने कहा है।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार मुख्य वर्ण बताते हुए अंबष्ठ (ब्राह्मण पुरुष और वैश्य स्त्री से उत्पन्न), उग्र (क्षत्रिय पुरुष और शूद्र स्त्री से उत्पन्न), निषाद अथवा पाराशर (ब्राह्मण पुरुष और शूद्र स्त्री से उत्पन्न), अयोगव (शूद्र पुरुष और वैश्य स्त्री से उत्पन्न), मागध (वैश्य पुरुष और क्षत्रिय स्त्री से उत्पन्न), सूत (क्षत्रिय पुरुष और ब्राह्मण स्त्री से उत्पन्न), वैदेह (वैश्य पुरुष और ब्राह्मण स्त्री से उत्पन्न), और चाण्डाल (शूद्र पुरुष और ब्राह्मण स्त्री से उत्पन्न) नामक नौ अवान्तर वर्णों का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त, उग्र पुरुष और क्षत्ता स्त्री से उत्पन्न श्वपाक, विदेह पुरुष और क्षत्ता स्त्री से उत्पन्न बुक्कस तथा शूद्र पुरुष और निषाद स्त्री से उत्पन्न कुक्कुरक का उल्लेख किया गया है। इसके पश्चात् दिशाओं का स्वरूप बताया है। फिर पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजकाय, वनस्पतिकाय, त्रस तथा वायुकाय जीवों के भेद-प्रभेद का कथन है। कषाय को समस्त कर्मों का मूल कहा है।

नीचे लिखी गाथाओं में विविध वादियों द्वारा 'सकुण्डलं वा वयणं न व त्ति' नाम की समस्यापूर्त्ति की गई है—

(१) परिव्राजक—

भिक्खं पविट्ठेण मएऽज्ज दिट्ठं, पमयामुहं कमलविसालनेत्तं।
वक्खित्तचित्तेण न सुट्ठु नायं, सकुण्डलं वा वयणं न व त्ति ॥

—भिक्षा के लिये जाते समय मैंने कमल के समान विशाल नेत्र वाली प्रमदा का मुँह देखा। विक्षिप्त चित्त होने के कारण मुझे पता नहीं लगा कि मुख कुण्डल-सहित था या कुण्डलरहित ?

(२) तापस—

फलोदएणं मि गिहं पविट्ठो, तत्थासणत्था पमया मि दिट्ठा।
वक्खित्तचित्तेण न सुट्ठु नायं सकुंडलं वा वयणं न व त्ति ॥

—फल के उदय से घर में प्रविष्ट करते समय मैंने वहाँ आसन पर बैठी हुई प्रमदा को देखा। विक्षिप्त चित्त होने के कारण मुझे यह पता नहीं लगा कि उसका मुख कुण्डल सहित था या नहीं ?

(३) शौद्धोदनि का शिष्य—

मालाविहारंमि मएऽज्ज दिट्ठा, उवासिया कंचणभूसियंगी।
वक्खित्तचित्तेण न सुट्ठु नायं, सकुंडलं वा वयणं न व त्ति ॥

—मालाविहार के समय आज मैंने सुवर्ण से भूषित अंगवाली उपासिका को देखा। विक्षिप्त चित्त होने के कारण मुझे ठीक पता नहीं लगा कि उसका मुख कुंडल सहित था या नहीं ?

(४) क्षुल्लक—

खंतस्स दंतस्स जिइंदियस्स, अज्झप्पजोगे गयमाणसस्स।
किं मज्झ एएण विचिंतिएण ? सकुंडलं वा वयणं न व त्ति ॥

—क्षमाशील, दमयुक्त, जितेन्द्रिय और अध्यात्म योग में दत्तचित्त मेरे द्वारा यह सोचने से क्या लाभ कि उसका मुख कुंडल से भूषित था या नहीं ?

सातवें उद्देश में मरण के भेद बताये गये हैं। तोसलि देश (आधुनिक धौलि, कटक जिले में) तोसलि नाम के आचार्य को किसी मरखनी भैंस ने मार दिया था। उसके बाद संल्लेखना का विवेचन किया है।

द्वितीय श्रुतस्कंध में वल्गुमती और गौतम नाम के नैमित्तक की कथा आती है।

सूत्रकृतांगनिर्युक्ति

सूत्रकृतांगनिर्युक्ति में २०५ गाथायें हैं। राजगृह नगर के बाहर नालन्दा के समीप मनोरथ नाम के उद्यान में इन्द्रभूति

गणधर ने उदक नामक निर्ग्रन्थ के प्रश्न करने पर नालन्दीय अध्ययन का प्रतिपादन किया था। ये उदक निर्ग्रंथ पार्श्वनाथ के शिष्य (पासावच्चिज्ज = पार्श्वापत्य) थे और इन्होंने श्रावक के व्रतों के संबंध में प्रश्न किया था। आर्द्रककुमार आर्द्रकपुर के निवासी थे तथा महावीर के समवशरण के अवसर पर उनका गोशालक, त्रिदंडी और हस्तितापसों के साथ वाद-विवाद हुआ। ऋषिभाषितसूत्र का यहाँ उल्लेख है। यहाँ पर गौतम (ग्रोव्रतिक), चंडीदेवक (चक्रधरप्रायाः—टीका), वारिभद्रक (जलपान करनेवाले), अग्निहोत्रवादी तथा जल को पवित्र माननेवाले साधुओं का नामोल्लेख है। क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादियों के भेद-प्रभेद गिनाये गये हैं।[1] पार्श्वस्थ, अवसन्न और कुशील नामक निर्ग्रन्थ साधुओं के साथ परिचय करने का निषेध है।

सूर्यप्रज्ञप्तिनिर्युक्ति

भद्रबाहु ने सूर्यप्रज्ञप्ति के ऊपर निर्युक्ति की रचना की थी, लेकिन टीकाकार मलयगिरि के कथनानुसार कलिकाल के दोष से यह निर्युक्ति नष्ट हो गई है, इसलिये उन्होंने केवल सूत्रों की ही व्याख्या की है।

बृहत्कल्प, व्यवहार और निशीथनिर्युक्ति

बृहत्कल्प और व्यवहारसूत्र के ऊपर भी भद्रबाहु ने निर्युक्ति लिखी थी। बृहत्कल्पनिर्युक्ति संघदासगणि क्षमाश्रमण के लघुभाष्य की गाथाओं के साथ और व्यवहार की निर्युक्ति व्यवहार भाष्य की गाथाओं के साथ मिश्रित हो गई है। निशीथ की निर्युक्ति का आचारांगसूत्र का ही एक अध्ययन होने से आचारांग-निर्युक्ति में उसका समावेश हो जाता है। यह भी निशीथ भाष्य के साथ मिल गई है।

१. देखिये जगदीशचन्द्र जैन, लाइफ इन ऐंशिएण्ट इंडिया, पृष्ठ २११–५।

दशाश्रुतस्कंधनिर्युक्ति

दशाश्रुतस्कंध जितना लघु है उतनी ही लघु उस पर निर्युक्ति लिखी गई है। आरंभ में प्राचीनगोत्रीय अंतिम श्रुतकेवली तथा दशा, कल्प और व्यवहार के प्रणेता भद्रबाहु को नमस्कार किया है। दशा, कल्प और व्यवहार का यहाँ एक साथ कथन है। परिवसण, पज्जुसण, पज्जोसमण, वासावास, पढमसमोसरण, ठवणा आदि पर्यायवाची शब्द हैं। अज्ज मंगू का यहाँ उल्लेख है।

उत्तराध्ययननिर्युक्ति

उत्तराध्ययन सूत्र पर भद्रबाहु ने ५५६ गाथाओं में निर्युक्ति की रचना की है। शान्त्याचार्य ने उत्तराध्ययन सूत्र के साथ-साथ निर्युक्ति पर भी टीका लिखी है। निर्युक्ति-गाथाओं का अर्थ लिखकर उसका भावार्थ वृद्धसम्प्रदाय से अवगत करने का उल्लेख है और जहाँ कहीं टीकाकार को इस सम्प्रदाय की परंपरा उपलब्ध नहीं हुई वहाँ उन्होंने निर्युक्ति की गाथाओं की टीका नहीं लिखी है (उदाहरण के लिये देखिये ३५५–५६ गाथायें)। इस निर्युक्ति में गंधार श्रावक, तोसलिपुत्र आचार्य स्थूलभद्र, स्कंदकपुत्र, ऋषि पाराशर, कालक, तथा करकंडू आदि प्रत्येकबुद्ध, तथा हरिकेश, मृगापुत्र आदि की कथाओं का उल्लेख किया है; आठ निह्नवों का विस्तार से विवेचन है। भद्रबाहु के चार शिष्यों द्वारा राजगृह में वैभार पर्वत की गुफा में शीत-समाधि ग्रहण किये जाने, तथा मुनि सुवर्णभद्र के मच्छरों का घोर उपसर्ग (मशक-परिपीत-शोणित = मच्छर जिनके शोणित को चूस गये हों) सहन कर कालगत होने का कथन है। कंबोज के घोड़ों का यहाँ उल्लेख है। कहीं-कहीं मनोरंजक उक्तियों के रूप में मागधिकायें भी मिल जाती हैं। किसी नायिका का पति कहीं अन्यत्र रात बिताकर आया है और दिन चढ़ जाने

पर भी नहीं उठा। यह देखकर नायिका एक मागधिका[1] पढ़ती है।

अइरुग्गयए य सूरिए, चेइयथूभगए य वायसे।
भित्ती गयए व आयवे, सहि ! सुहिओ हु जणो न बुज्झइ ॥

—सूर्य को निकले हुए काफी समय हो गया, कौवे चैत्य के खंभों पर बैठकर काँव-काँव करने लगे, सूर्य का प्रकाश दिवालों तक चढ़ आया, लेकिन हे सखि ! फिर भी यह मौजी पुरुष सोकर नहीं उठा।

एक सूक्ति देखिये—

राईसरिसवमित्ताणि परछिद्दाणि पाससि।
अप्पणो बिल्लमित्ताणि पासंतोऽवि न पाससि ॥

—राई के समान तू दूसरे के दोषों को तो देखती है, किन्तु बेल के समान अपने स्वयं के अवगुणों को देखकर भी नहीं देखती।

आवश्यकनिर्युक्ति

निर्युक्तियों में आवश्यकनिर्युक्ति का स्थान बहुत महत्त्व का है।[2] माणिक्यशेखरसूरि ने इस पर दीपिका लिखी है। आवश्यकसूत्र में प्रतिपादित छह आवश्यकों का विस्तृत विवेचन भद्रबाहु ने आवश्यकनिर्युक्ति में किया है। यहाँ भद्रबाहु द्वारा

---

१. हेमचन्द्र के छन्दोनुशासन और उसकी टीका (पृष्ठ २५ अ, पंक्ति ३, निर्णयसागर, बम्बई १९१२) में मागधी का लक्षण निम्न प्रकार से दिया है—ओजे चौ युजि षचौ लदलदान्तौ मागधी। अर्थात् इस छंद में विषम पंक्तियों में ४ + ४ + लघु + २ + लघु + २ और सम पंक्तियों में ६ + ४ + लघु + २ + लघु + २ मात्रायें होती हैं।

२. मूलाचार में (६, १९३) में आवस्सयणिज्जुत्ति का उल्लेख है।

आवश्यक आदि दस निर्युक्तियाँ रचे जाने का उल्लेख है।[1] अनेक सूक्तियाँ कही गई हैं :—

जहा खरो चंदणभारवाही, भारस्स भागी न हु चंदणस्स।
एवं खु नाणी चरणेण हीणो, नाणस्स भागी न हु सोग्गईए॥
हयं नाणं कियाहीणं, हया अन्नाणओ किया।
पासंतो पंगुलो दड्ढो, धावमाणो अ अंधओ॥
संजोगसिद्धीइ फलं वयंति, न हु एगचक्केण रहो पयाइ।
अंधो य पंगू प वणे समिच्चा, ते संपउत्ता नगरं पविट्ठा॥

—जैसे चंदन का भार ढोनेवाला गधा भार का ही भागी होता है, चन्दन का नहीं, उसी प्रकार चारित्र से विहीन ज्ञानी केवल ज्ञान का ही भागी होता है, सद्गति का नहीं। क्रियारहित ज्ञान और अज्ञानी की क्रिया नष्ट हुई समझनी चाहिये। (जंगल में आग लग जाने पर) चुपचाप खड़ा देखता हुआ पंगु और भागता हुआ अंधा दोनों ही आग में जल मरते हैं। दोनों के संयोग से सिद्धि होती है; एक पहिये से रथ नहीं चल सकता। अंधा और लंगड़ा दोनों एकत्रित होकर नगर में प्रविष्ट हुए।

निम्नलिखित गाथा में सामायिक-लाभ के दृष्टांत उपस्थित करते हुए दृष्टान्तों के केवल नाममात्र गिनाये हैं—

पल्लयगिरिसरिउवला पिवीलिया पुरिसपहजरग्गहिया।
कुद्दवजलवत्थाणि य सामाइयलाभदिट्ठंता॥

—पल्य, पहाड़ी नदी के पत्थर, पिपीलिका, पुरुष, पथ, ज्वर-गृहीत, कोद्रव, जल और वस्त्र ये सामयिक-लाभ के दृष्टांत समझने चाहिये (टीकाकार ने इन दृष्टांतों का विस्तार से प्रतिपादन किया है)।

---

1. आवस्सगस्स दसकालिअस्स तह उत्तरज्झमायारे।
सूअगडे निज्जुत्तिं वोच्छामि तहा दसाणं च।
कप्पस्स य निज्जुत्तिं ववहारस्सेव परमनिउणस्स॥
सूरिअपन्नत्तीए वुच्छं इसीभासिआणं च॥

णमोकार मंत्र को सर्व पापों का नाशक कहा है—

> अरिहंतनमुक्कारो सव्वपावपणासणो।
> मंगलाणं च सव्वेसिं, पढइ हवइ मंगलं॥

योग्य-अयोग्य शिष्य का लक्षण समझाने के लिये गाय, चन्दन की भेरी, चेटी, श्रावक, बधिर, गोह और टंकण देश के वासी म्लेच्छ वणिकों आदि के दृष्टांत दिये गये हैं। तत्पश्चात् कुलकरों के पूर्वभव आदि का वर्णन है। ऋषभदेव का चरित विस्तार से कहा गया है। २४ तीर्थंकरों ने जिन नगरों में उपवास के पश्चात् पारणा किया उनका उल्लेख है। ऋषभदेव के बहली, अंबड और इल्ला (?) आदि यवन देशों में विहार करने का उल्लेख है। तीर्थंकरों के गोत्रों और जन्मभूमि आदि का कथन है। महावीर के गर्भहरण से लेकर उनके निर्वाण तक की मुख्य घटनाओं का उल्लेख है। उनके उपसर्गों का विस्तार से वर्णन है। गणधरवाद में ग्यारह गणधरों की जन्मभूमि, गोत्र, उनकी प्रव्रज्या और केवलज्ञान प्राप्ति का उल्लेख है। आर्यवज्र (वइररिसि) और आर्यरक्षित के वृत्तान्त तथा निह्नवों के स्वरूप का प्रतिपादन है। आर्यवज्र पदानुसारी थे, और उन्होंने महापरिज्ञा अध्ययन से आकाशगामिनी विद्या का उद्धार किया था। सामायिक आदि का स्पष्टीकरण करने के लिये दमदंत, मेतार्य, कालक, चिलातीपुत्र, आत्रेय, धर्मरुचि, इलापुत्र और तेतलिपुत्र के उदाहरण दिये हैं। औत्पातिक, वैनयिक, कार्मिक और पारिणामिक इन चार प्रकार की बुद्धियों के अनेक मनोरंजक उदाहरण दिये हैं। रोहक की प्रत्युत्पन्नमति का कौशल दिखाने के लिये शिला, मेंढा, कुक्कुट, तिल, बालू की रस्सी, हाथी, कूप, वनखंड, पायस (खीर) आदि के उदाहरण दिये हैं[1] जिनमें अनेक बुद्धिवर्धक पहेलियाँ और लौकिक कथा-

---

१. महाउम्मग्ग जातक में यहाँ की अनेक कथायें महोसधपंडित के नाम से उल्लिखित हैं। इन कहानियों के हिन्दी अनुवाद के लिए देखिए जगदीशचन्द्र जैन, दो हज़ार वर्ष पुरानी कहानियाँ।

कहानियों का समावेश है। फिर पंच परमेष्ठियों के स्वरूप का प्रतिपादन है।

वन्दना अध्ययन में संगम स्थविर, आर्यवज्र, अन्निकापुत्र, उदायन ऋषि आदि मुनियों के जीवन-वृत्तान्त हैं। ब्रह्मचर्य से भ्रष्ट साधुओं को पार्श्वस्थ की संज्ञा दी है। मथुरा में सुभिक्षा प्राप्त होने पर भी आर्यमंगु आहार का कोई प्रतिबंध नहीं रखते थे, इसलिये उन्हें पार्श्वस्थ कहा गया है।[1] प्रतिक्रमण अध्ययन में नागदत्त का उदाहरण दिया है। तत्पश्चात् आलोचना आदि योगसंग्रह के उदाहरण दिये हैं जिनमें परम्परागत अनेक कथाओं का उल्लेख है। इन कथाओं में आर्य महागिरि, आर्य सुहत्थी स्थूलभद्र, धर्मघोष, वास्तक, सालिवाहन, गुग्गुल भगवान्, करकंडू आदि प्रत्येकबुद्ध और आर्य पुष्पभूति आदि के वृत्तान्त कहे गये हैं। बाईस तीर्थंकरों के द्वारा सामायिक, तथा वृषभ और महावीर के द्वारा छेदोपस्थापना का उपदेश दिये जाने का उल्लेख है। कायोत्सर्ग अध्ययन में अंगबाह्य के अंतर्गत कालिकश्रुत के ३६ भेद तथा उत्कालिक श्रुत के २८ भेद बताये हैं। यहाँ पर नन्दीसूत्र का उल्लेख है जिससे पता

---

१. भगवतीसूत्र के १५ वें शतक में कहा है कि एक बार जब २४ वर्ष की दीक्षावाला मंखलि गोशाल आजीवक मत की उपासिका हालाहला कुम्हारी के घर श्रावस्ती में ठहरा हुआ था तो उसके पास शान, कलंद, कर्णिकार, अछिद्र, अग्निवेश्यायन और गोमायुपुत्र अर्जुन नाम के छह दिशाचर आये। यहाँ टीकाकार अभयदेव ने दिशाचर का अर्थ 'भगवच्छिष्याः पार्श्वस्थीभूताः' अर्थात् पतित हुए महावीर के शिष्य किया है। चूर्णीकार ने इन्हें 'पासावच्चिज्ज' अर्थात् पार्श्वनाथ के शिष्य कहा है। ये लोग पूर्वगत अष्टांग महानिमित्त के ज्ञाता बताये गये हैं। पार्श्वस्थ निर्ग्रंथ साधुओं का उल्लेख अन्यत्र भी मिलता है। क्या पार्श्वस्थ निर्ग्रन्थों को ही तो पासावच्चिज्ज नहीं कहा? आजीवक मतानुयायी गोशाल का भी उनसे घनिष्ठ संबंध मालूम होता है।

लगता है कि संभवतः नन्दी के बाद में आवश्यकनिर्युक्ति की रचना हुई।

दशवैकालिकनिर्युक्ति

दशवैकालिक के ऊपर भद्रबाहु ने ३७१ गाथाओं में निर्युक्ति लिखी है।[1] इसमें अनेक लौकिक और धार्मिक कथानकों तथा सूक्तियों द्वारा सूत्रार्थ का स्पष्टीकरण किया गया है। हिंगुशिव, गंधर्विका, सुभद्रा, मृगावती, नलदाम और गोविन्दवाचक आदि की अनेक कथायें यहाँ वर्णित हैं। जैसे कहा जा चुका है, इन कथाओं का प्रायः नामोल्लेख ही निर्युक्ति-गाथाओं में उपलब्ध होता है, इन्हें विस्तार से समझने के लिये चूर्णी अथवा टीका की शरण लेना आवश्यक है। गोविन्दवाचक बौद्ध थे; ज्ञानप्राप्ति के लिये उन्होंने प्रव्रज्या ग्रहण की, आगे चल कर वे महावादी हुए। कूणिक (अजातशत्रु) गौतमस्वामी से प्रश्न करते हैं कि चक्रवर्ती मर कर कहाँ उत्पन्न होते हैं ? उत्तर में कहा गया— सातवें नरक में। कूणिक ने फिर पूछा—मैं मर कर कहाँ जाऊँगा ? गौतम स्वामी ने उत्तर दिया—छठे नरक में। प्रश्नोत्तर के रूप में कहीं तार्किकशैली में तत्त्वचर्चा की झलक भी दिखाई दे जाती है। शिष्य ने शंका की कि गृहस्थ लोग क्यों न साधुओं के लिये भोजन बना कर रख दें। गुरू ने इसका निषेध किया—

वासइ न तणस्स कए न तणं वड्ढइ कए मयकुलाणं।
न य रुक्खा सयसाला (? खा) फुल्लन्ति कए महुयराणं॥

—तृणों के लिये पानी नहीं बरसता, मृगों के लिये तृण नहीं बड़े होते, और इसी प्रकार सौ शाखाओं वाले वृक्ष भौरों के लिये पुष्पित नहीं होते। (इसी तरह गृहस्थों को साधुओं के लिये आहार आदि नहीं बनाना चाहिये)।

---

१. प्रोफेसर लायमन ने इसका सम्पादन कर इसे ज़ेड० डी० एम० जी० (जिल्द ४६, पृष्ठ ५८१–६६३) में प्रकाशित किया है।

शिष्य की शंका—

अग्गिम्मि हवीहूयइ आइच्चो तेण पीणिओ संतो।
वरिसइ पयाहियाए तेणोसहिओ परोहिंति॥

—(उपर्युक्त कथन ठीक नहीं)। अग्नि में घी का हवन किया जाता है, उससे प्रसन्न होकर आदित्य प्रजा के हित के लिये बरसता है और उससे फिर ओषधियाँ पैदा होती हैं।

गुरु—

किं दुब्भिक्खं जायइ ? जइ एवं अहभवे दुरिट्ठंतु।
किं जायइ सव्वत्था दुब्भिक्खं अह भवे इंदो ?
वासइ तो किं विग्घं निग्घायाईहिं जायए तस्स।
अह वासइ उउसमये न वासइ तो तणट्ठाए॥

यदि सदा घी के हवन करने से ही वर्षा होती है तो फिर दुर्भिक्ष क्यों पड़ता है ? यदि कहा जाये कि खोटे नक्षत्रों के कारण ऐसा होता है तो भी सदा दुर्भिक्ष नहीं पड़ना चाहिये। यदि कहो कि इन्द्र वर्षा करता है तो बिजली के गिरने आदि से उसे कोई विघ्न नहीं होना चाहिये। यदि कहा जाय कि यथाकाल ऋतु में जल की वृष्टि होती है तो फिर यही मानना होगा कि तृण आदि के लिये पानी नहीं बरसता।

आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेगणी और निर्वेदनी नाम की चार कथाओं का यहाँ उल्लेख मिलता है।

संसत्तनिज्जुत्ति (संसक्तनिर्युक्ति)

यह निर्युक्ति किसी आगम ग्रन्थ पर न लिखी जाकर स्वतंत्र है। चौरासी आगमों में इसकी गणना की गई है। इसमें ६४ गाथायें हैं। चतुर्दश पूर्वधारी भद्रबाहु ने इसकी रचना की है।

गोविन्दणिज्जुत्ति (गोविन्दनिर्युक्ति)

यह भी एक स्वतंत्र निर्युक्ति है। इसे दर्शनप्रभावक शास्त्र कहा गया है। एकेन्द्रिय जीवों की सिद्धि करने के लिये गोविन्द

ने इसकी रचना की थी। यह एक न्यायशास्त्र की कृति थी।[1] आजकल यह भी उपलब्ध नहीं है।

आराधनाणिज्जुत्ति (आराधनानिर्युक्ति)

वट्टकेर ने अपने मूलाचार में मरणविभक्ति आदि सूत्रों के साथ आराधनानिर्युक्ति का उल्लेख किया है। इस निर्युक्ति के संबंध में और कुछ ज्ञात नहीं है।



१. बृहत्कल्पभाष्य ५, ५४७२, १४५१; निशीथचूर्णी (साइक्लो इस्टाइल प्रति पृष्ठ ६९९–७३९)। आवश्यकचूर्णी (पृष्ठ ३१) में 'तंमि भणितं' कहकर गोविन्दणिज्जुत्ति का उद्धरण दिया है—जस्स अहिसंधारण-पुव्विगा करणसत्थी अत्थि सो सन्नी लब्भति, अहिसंधारणपुव्विया णाम मणसापुव्वापरं संचितिऊण जा पवित्ती निवत्ती वा सा अहिसंधारण-पुव्विगा करणसत्ती भण्णति, सा य जेसिं अत्थि ते जीवा जं सद्दं सोऊण बुज्झंति तं हेउगोवएसेण सण्णिसुयं भण्णति।

भाष्य-साहित्य

निशीथभाष्य

निशीथ, कल्प और व्यवहारभाष्य के प्रणेता हरिभद्रसूरि के समकालीन संघदासगणि माने जाते हैं जो वसुदेवहिण्डी के रचयिता संघदासगणिवाचक से भिन्न हैं। निशीथभाष्य की अनेक गाथायें बृहत्कल्पभाष्य और व्यवहारभाष्य से मिलती हैं जो स्वाभाविक ही है। पीठिका में सस, एलासाढ़, मूलदेव और खंडा नाम के चार धूर्तों की मनोरंजक कथा दी गई है जिसे हरिभद्रसूरि ने अपने कथा-साहित्य में स्थान देकर धूर्ताख्यान जैसे सरस ग्रंथ की रचना की। भाष्य में यह कथा अत्यंत संक्षेप में है—

> सस-एलासाढ़-मूलदेव-खंडा य जुण्णउज्जाणे।
> सामत्थणे को भत्तं, अक्खातं जे ण सद्दहति॥
> चोरभया गावीओ, पोट्टलए बंधिऊण आणेमि।
> तिलअइरूढकुहाड़े, वणगय मलणा य तेल्लोदा॥
> वणगयपाटणकुंडिय, छम्मासा हत्थिलग्गणं पुच्छे।
> रायरयग मो वादे, जहिं पेच्छइ ते इमे वत्था॥

सस, एलासाढ़, मूलदेव और खंडा एक जीर्ण उद्यान में ठहरे हुए थे। प्रश्न उठा कि कौन सब को भोजन खिलाये? तय पाया कि सब अपने-अपने अनुभव सुनायें, और जो इन अनुभवों पर विश्वास न करे वही भोजन का प्रबन्ध करे। सबसे पहले एलासाढ़ की बारी आई। एलासाढ़ ने कहा—"एक बार मैं अपनी गाय लेकर किसी जंगल में गया। इतने में वहाँ चोरों का आक्रमण हो गया। गायों को एक कंबल में छिपा अपनी पोटली बाँधकर मैं गाँव को लौट आया। थोड़ी देर में चोर गाँव में आ घुसे। यह देखकर गाँव के लोग एक फूट (वालुंक) में घुस गये। इस फूट को एक बकरी खा गई।

बकरी को एक अजगर निगल गया और उस अजगर को एक पक्षी खा गया। पक्षी उड़कर वटवृक्ष के ऊपर जा बैठा। उस पक्षी का एक पाँव नीचे की ओर लटक रहा था। उस वृक्ष के नीचे राजा की सेना ने पड़ाव डाल रक्खा था। सेना का एक हाथी पक्षी के पाँव में अटक गया। पाँव में कुछ अटक जाने से वह पक्षी वहाँ से उड़ने लगा और उसके साथ-साथ हाथी भी उड़ने लगा। यह देखकर किसी शब्दवेधी ने अपने तीर से पक्षी को मार गिराया। राजा ने उसका पेट चिरवाया तो उसमें से बकरी निकली, बकरी में से फूट निकली, और फूट में से सारा गाँव का गाँव निकल पड़ा। अपनी गायें लेकर मैं वहाँ से चला आया।"

सस ने दूसरा आख्यान सुनाया—"मैं किसी खेत में गया। वहाँ एक बहुत बड़ा तिल का झाड़ खड़ा था। मैं जब तिल के झाड़ के पास घूम रहा था तो मुझे एक जंगली हाथी दिखाई दिया। वह मेरे पीछे लग गया। हाथी से पीछा छुड़ाने के लिये मैं उस तिल के झाड़ पर चढ़ गया। हाथी झाड़ के चारों ओर चक्कर काटने लगा जिससे तेल की एक नदी बह निकली। वह हाथी इस नदी में गिर कर मर गया। मैंने उसकी खाल से एक मशक बनाई और उसे तेल से भर लिया। इस मशक को एक वृक्ष पर टाँग कर मैं अपने घर चला आया। अपने लड़के को मैंने यह मशक लाने को कहा। जब वह उसे दिखाई न पड़ी तो वह समूचे वृक्ष को उखाड़ लाया। अपने घर से घूमता-घामता मैं यहाँ आया हूँ।"

मूलदेव ने अपना अनुभव सुनाया—"एक बार अपनी जवानी में गंगा को सिर पर धारण करने की इच्छा से छत्र और कमंडल हाथ में ले मैं अपने स्वामी के घर गया। इतने में मैंने देखा कि एक जंगली हाथी मेरे पीछे लग गया है। मैं डर के मारे एक कमंडल में छिप गया। हाथी भी मेरे पीछे-पीछे कमंडल में घुस आया। छह महीने तक वह मेरे पीछे भागता फिरा।

कमंडल की टोंटी में से मैं तो बाहर निकल आया, लेकिन हाथी की पूँछ टोंटी में अटकी रह गई। रास्ते में गंगा नदी पड़ी जिसे पार करके मैं अपने स्वामी के घर पहुँचा। वहाँ से आप लोगों के पास आया हूँ।"

खंडपाणा ने अपनी कहानी सुनाई—"मैं एक धोबी की लड़की थी। एक बार मैं अपने पिता जी के साथ कपड़ों की एक बड़ी गाड़ी भर कर नदी के किनारे कपड़े धोने गई। जब कपड़े धूप में सूख रहे थे तो जोर की हवा चली और सब कपड़े उड़ गये। यह देखकर राजा के भय से गोह का रूप धारण कर मैं रात्रि के समय नगर के बगीचे में गई। वहाँ मैं आम की लता बन गई। तत्पश्चात् पटह का शब्द सुनकर मैंने फिर से नया शरीर धारण किया। उधर कपड़ों की गाड़ी की रस्सियाँ (णाडगवरत्ता) गीदड़ और बकरे खा गये थे। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते मेरे पिता जी को भैंसे की पूँछ मिली जिस पर वे रस्सियाँ लिपटी हुई थीं। मेरे कपड़े हवा में उड़ गये थे और मेरे नौकर-चाकरों का भी पता नहीं था। उनका पता लगाने के लिये मैं राजा के पास गई। वहाँ से घूमती-घामती यहाँ आई हूँ। तुम लोग मेरे नौकर हो और जो कपड़े तुमने पहन रक्खे हैं वे मेरे हैं।"

और भी अनेक सरस लौकिक कथा-कहानियाँ निशीथभाष्य में जहाँ-तहाँ बिखरी पड़ी हैं।

साधुओं के आचार-विचार संबंधी अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों का प्रतिपादन यहाँ उपलब्ध होता है। उदाहरण के लिये, प्रायश्चित्तद्वार का वर्णन करते हुए साधु के वास्ते उड्डाह (प्रवचन की हँसी) से बचने के लिये, संयम के हेतु, बोधिक[1] चोरों से

---

1. ये मालवा की पर्वतश्रेणियों में रहते और उज्जैनी के लोगों को भगाकर ले जाते थे। (विशेषनिशीथचूर्णी १६, पृष्ठ १११० साइक्लोस्टाइल प्रति)। महाभारत (६, ९, ३९) में भी बोधों का उल्लेख है।

अपनी रक्षा के लिये, प्रतिकूल क्षेत्र में तथा नव प्रव्रजित साधु के निमित्त मृषा बोलने का विधान किया गया है। अदत्तादान के संबंध में भी यही बात है। ऐसे प्रसंग उपस्थित होने पर कहा है—

जइ सव्वसो अभावो, रागादीणं हवेज्ज णिद्दोसो।
जतणाजुतेसु तेसु, अप्पतरं होइ पच्छित्तं॥

—यदि सर्वप्रकार से राग आदि का अभाव है तो साधु निर्दोष ही रहता है। यतनापूर्वक कोई कार्य करने पर बहुत अल्प प्रायश्चित्त की आवश्यकता पड़ती है।

उक्त कथन का समर्थन करने के लिये एक कथा दी हुई है। किसी राजा के पुत्र न होने के कारण उसे बड़ी चिंता रहती थी। मंत्री ने सलाह दी कि साधुओं को धर्मकथा के छल से अन्तःपुर में निमंत्रित कर उनसे संतानोत्पत्ति कराई जाये[1]। पूर्व योजना के अनुसार किसी साधु को अन्तःपुर में बुलाया गया। लेकिन उसने कहा कि मैं जलती हुई अग्नि में गिर कर प्राण दे दूँगा, लेकिन अपने चिरसंचित व्रत का भंग न होने दूँगा। यह सुनकर कोपाविष्ट हो राजपुरुषों ने उसका सिर धड़ से अलग कर दिया। तत्पश्चात् दूसरे साधुओं को बुलाया गया। उन्हें वह कटा हुआ सिर दिखाकर कहा गया कि यदि तुम भी हमारी आज्ञा का उल्लंघन करोगे तो यही दशा होगी। ऐसी हालत में कोई साधु प्रसन्न होकर विचार करता है कि चलो इस बहाने से स्त्री-सेवन का सुख तो मिलेगा, दूसरा भयभीत होकर सोचता है कि ऐसा न करने से मेरी भी यही गति होगी, तीसरा सोचता है कि इस तरह मरने से क्या लाभ? जीवित रहने पर तो प्रायश्चित्त आदि द्वारा शुद्धि की जा सकती है, फिर मैं दीर्घकाल तक संयम का पालन करूँगा।

---

१. देखिये आचारांग (२, २, १, २९४, पृष्ठ ३३२ इत्यादि); विनयपिटक (३, पृष्ठ १३४) में साधुओं से पुत्रोत्पत्ति कराने का उल्लेख है।

रात्रिभोजन के दोषों को गिनाते हुए कहा है कि रात्रि में भोजन करने से मछली, बिच्छू, चींटी, पुष्प, बीज, विष और कंटक आदि भोजन में मिश्रित हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त कुत्ते, गीदड़ और मकोड़े आदि से काटे जाने तथा काँटे आदि से बींधे जाने का भय रहता है।[1] उत्तरापथ आदि में रात्रि-भोजन प्रचलित होने से साधुओं को वहाँ रात्रि में भोजन करने के लिये बाध्य होना पड़ता था। बहुत से लोग दिवाभोजन को अप्रशस्त और रात्रि-भोजन को प्रशस्त समझते थे—

आउं बलं च वड्ढति, पीणेति य इंदियाइ णिसिभत्तं।
णेव य जिज्जति देहो, गुणदोसविवज्जओ चेव॥

—रात्रि-भोजन से आयु और बल की वृद्धि होती है, इन्द्रियाँ पुष्ट होती हैं और शरीर जल्दी ही जीर्ण नहीं होता। दिवाभोजन के संबंध में इससे उलटा समझना चाहिये।

साधुओं को साध्वियों का संपर्क न करने के संबंध में छेदसूत्रों में अत्यन्त कठोर नियमों का विधान है, फिर भी, कभी उनमें प्रेमपूर्ण पत्र-व्यवहार चल जाता था—

काले सिहि-णंदिकरे, मेहनिरुद्धम्मि अंबरतलम्मि।
मित-मधुर-मंजुभासिणि, ते धन्ना जे पियासहिता॥

—यह समय मयूरों को आनन्ददायी है, मेघ आकाश में छाये हुए हैं। हे मित, मधुर और मंजुभाषिणी! जो अपनी प्रिया के समीप हैं वे धन्य हैं।

प्रत्युत्तर—
कोमुति णिसा य पवरा, वारियवामा यदुद्धरो मयणो।
रेहंति य सरयगुणा, तीसे य समागमो णत्थि॥

---

१. मार्ग में चोरों के, गड्ढे में गिर पड़ने के और व्यभिचारिणी स्त्रियों के भय से बुद्ध ने भी रात्रिभोजन के त्याग का विधान किया है। देखिये मज्झिमनिकाय, लकुटिकोपम तथा कीटागिरि सुत्तन्त।

—रात्रि में सुन्दर चांदनी छिटकी हुई है, वामा (स्त्री) का मार्ग निरुद्ध है, मदन (कामदेव) दुर्धर्ष है, शरद्ऋतु शोभित हो रही है, फिर भी समागम होने का कोई उपाय नहीं।

परस्पर-अनुरक्त स्त्री और पुरुष की आकृतियों का वर्णन भाष्यकार ने किया है—

काणच्छि रोमहरिसो, वेवहु सेओ वि दिट्ठमुहराओ।
णीसासजुता य कधा, वियंभियं पुरिसआयारा॥

—कानी आँख से देखना, रोमांचित हो जाना, शरीर में कंप होना, पसीना छूटने लगना, मुँह पर लाली दिखाई देने लगना, बार-बार निश्वास और जँभाई लेना—ये स्त्री में अनुरक्त पुरुष के लक्षण हैं।

स्त्री की दशा देखिये—

सकडक्खपेहणं बाल-सुवणं कण्ण-णास-कंडुयणं।
छण्णंगदंसणं घट्टणाणि उवगूहणं बाले॥
णीयल्लयदुच्चरिताणुकित्तणं तस्सुहीण य पसंसा।
पायंगुट्ठेण मही-विलेहणं णिट्ठुभणपुव्वं॥

—सकटाक्ष नयनों से देखना, बालों को सँवारना, कान और नाक को खुजलाना, गुह्य अंग को दिखाना, घर्षण और आलिंगन, तथा अपने प्रिय के समक्ष अपने दुश्चरितों का बखान करना, उसके हीन गुणों की प्रशंसा करना, पैर के अंगूठे से ज़मीन खोदना और खखारना—ये पुरुष के प्रति आसक्त स्त्री के लक्षण समझने चाहिये।

निशीथभाष्य में आचार-विचार और रीति-रिवाजसंबंधी बहुत से विषयों का उल्लेख है। उदाहरण के लिये, पुलिंद आदि अनार्य जंगल में जाते हुए साधु को आर्य समझ कर मार डालते थे। विविध प्रकार का माल-असबाब लेकर सार्थवाह अपने सार्थ के साथ बनिज-व्यापार के लिये दूर-दूर देशों में भ्रमण करते थे। संखडी (भोज) धूमधाम से मनाई जाती थी। कवड्डग (कौड़ी), कागणी, दीनार और केवडिय आदि

सिक्के प्रचलित थे। तोसली में तालोदक (तालाब)[1] और राजगृह में तापोदक कुंड प्रसिद्ध थे। तोसली की व्याघरणशाला (एक प्रकार का स्वयंवर-मंडप) में हमेशा एक अग्निकुंड प्रज्वलित रहता था जहाँ बहुत से चेटक और एक चेटकी स्वयंवर के लिये प्रविष्ट होते थे। यहाँ कप्प (बृहत्कल्प), नन्दिसूत्र तथा सिद्धसेन और गोविन्दवाचक का उल्लेख है। गोविंदवाचक १८ बार वाद में हार गये, बाद में एकेन्द्रिय जीव की सिद्धि के लिये उन्होंने गोविन्दनिर्युक्ति की रचना की। आचारांग आदि को ज्ञान और गोविंदनिर्युक्ति को दर्शन के उदाहरण रूप में उपस्थित किया गया है।

व्यवहारभाष्य

निशीथ और बृहत्कल्पभाष्य की भाँति व्यवहारभाष्य भी परिमाण में काफी बड़ा है। मलयगिरि ने इस पर विवरण लिखा है। व्यवहारनिर्युक्ति और व्यवहारभाष्य की गाथायें परस्पर मिश्रित हो गई हैं। इस भाष्य में साधु-साध्वियों के आचार-विचार, तप, प्रायश्चित्त, और प्रसंगवश देश-देश के रीतिरिवाज आदि का वर्णन है।

शुद्ध भाव से आलोचना करना साधु के लिये मुख्य बताया है—

जह बालो जपंतो कज्जमकज्जं च उज्जुयं भणइ।
तं तह आलोइज्जा मायामयविप्पमुक्को उ॥

—जैसे कोई बालक अच्छे या बुरे कार्य को सरल भाव से प्रकट कर देता है, उसी प्रकार माया और मद से रहित कार्य-अकार्य की आलोचना आचार्य के समक्ष कर देनी चाहिये।

---

१. इसिताल नाम के तालाब का भी यहाँ उल्लेख है (बृहत्कल्पभाष्य ३, ४२२३)। खारवेल के हाथीगुंफा शिलालेख में इसका नाम आता है।

गण के लिये आचार्य की आवश्यकता बताई है। जैसे नृत्य बिना नट नहीं होता, नायक बिना स्त्री नहीं होती, गाड़ी के धुरे के बिना चक्र नहीं चलता, वैसे ही गणी अर्थात् आचार्य के बिना गण नहीं चलता। औषधि आदि द्वारा अपने गण की रक्षा करना आचार्य के लिये परमावश्यक है। जैसे बल, वाहन और रथ से हीन निर्बुद्धि राजा अपने राज्य की रक्षा नहीं कर सकता, वैसे ही सूत्र और औषधि से विहीन आचार्य अपने गच्छ की रक्षा करने में समर्थ नहीं होता। पद-पद पर साधुओं को स्त्रियों से सावधान रहने का उपदेश दिया गया है। मनु का अनुकरण करते हुए भाष्यकार भी स्त्रियों को स्वातंत्र्य देने के पक्ष में नहीं हैं—

जाया पितिव्वसा नारी, दत्ता नारी पतिव्वसा।
विहवा पुत्तवसा नारी, नत्थि नारी सयंवसा॥

—बाल्यावस्था में नारी पिता के, विवाहित होने पर पति के और विधवा होने पर वह अपने पुत्र के वश में रहती है, वह कभी भी स्वाधीन नहीं रहती।

इन सब उपदेशों के बावजूद अनेक प्रसंग ऐसे होते थे जब कि साधु अपने संयम से च्युत हो जाते, लेकिन प्रायश्चित्त द्वारा उन्हें शुद्ध कर लिया जाता था। बीमारी आदि फैल जाने पर देशान्तर जाने में उन्हें बहुत-सी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता। मार्ग में उन्हें चोर, जंगली जानवर, सर्प, गौल्मिक, आरक्षक, प्रत्यनीक (विद्वेष करनेवाले), कर्दम और कंटक आदि का भय रहता। राजसभा में वाद-विवाद में पराजित होने पर अपमानित होना पड़ता। ऐसे समय वे अन्य साधुओं द्वारा पीटे जाते, बाँध लिये जाते और उनका भोजन-पान तक बन्द कर दिया जाता। बहुत से देशों में उन्हें पात्र मिलने में कठिनाई होती। ऐसी हालत में उन्हें नन्दी, पतद्ग्रह, विपद्ग्रह, कमढ़क, विमात्रक और प्रश्रवणमात्रक पात्रों को रखना पड़ता। वर्षाकाल में निम्नलिखित स्थान साधुओं के लिये उत्कृष्ट बताये

गये हैं—जहाँ अधिक कीचड़ न हो, द्वीन्द्रियादि जीवों की बहुलता न हो, प्रासुक भूमि हो, रहने योग्य दो-तीन बसतियाँ हों, गोरस की प्रचुरता हो, बहुत लोग रहते हों, कोई वैद्य हो, औषधियाँ मिलती हों, धान्य की प्रचुरता हो, राजा सम्यक् प्रकार से प्रजा को पालता हो, पाखंडी साधु कम रहते हों, भिक्षा सुलभ हो, और स्वाध्याय में कोई विघ्न न होता हो। जहाँ कुत्ते अधिक हों वहाँ साधु को बिहार करने का निषेध है।

मथुरा का जैनों में बड़ा माहात्म्य था। यहाँ स्तूपमह उत्सव मनाया जाता था। जैन-मान्यता के अनुसार मथुरा में देवताओं द्वारा रत्नमय स्तूप का निर्माण किया गया था,[1] जिसे लेकर जैन और बौद्धों में बहुत विवाद चला। भरुयकच्छ (भड़ौंच) और गुणसिल चैत्य (राजगिर से तीन मील की दूरी पर आधुनिक गुणावा) का भी बड़ा महत्त्व बताया गया है। देश-देश के लोगों के संबंध में चर्चा करते हुए कहा है कि मगध के निवासी किसी बात को इशारेमात्र से समझ लेते, जब कि कौशल के लोग उसे देखकर, और पांचाल के निवासी आधी बात कहने पर समझते थे, और दक्षिणापथ के वासी तो उसे तब तक न समझ पाते जब तक कि वह बात साफ़-साफ़ कह न दी जाये। अन्यत्र आंध्र देशवासियों को क्रूर, महाराष्ट्रियों को वाचाल तथा कोशल के वासियों को पापी कहा गया है।

तीन प्रकार के हीन लोग गिनाये गये हैं—जातिजुंगित, कर्मजुंगित और शिल्पजुंगित। जातिजुंगितों में पाण, डोंब, किणिक और श्वपच, कर्मजुंगितों में पोषक, संवर (टीकाकार ने इसका शोधक अर्थ किया है), नट, लंख, व्याध, मछुए, रजक और वागुरिक, तथा शिल्पजुंगितों में पट्टकार और नापितों का उल्लेख है। आर्यरक्षित, आर्यकालक, राजा सातवाहन, प्रद्योत, मुरुण्ड, चाणक्य, चिलातपुत्र, अवन्तिसुकुमाल और

---

१. मथुरा के कंकाली टीले की खुदाई में इस स्तूप के सम्बन्ध में बहुत सी बातों का पता लगता है।

रोहिणेय चोर आदि की कथायें वर्णित हैं। आर्यसमुद्र और आर्यमंगु का उल्लेख है। कुशिष्य को महाकल्पश्रुत पढ़ाने का निषेध है। विप्लव, महामारी, दुर्भिक्ष, चोर, धन-धान्य और कोष की हानि तथा बलवान प्रत्यंत राजा का उपद्रव—ये बातें राज्य के लिये हानिकारक कही गई हैं। राजा, युवराज, महत्तर, अमात्य, कुमार और रूपयक्ष[1] के लक्षण बताये गये हैं। तप, सत्त्व, सूत्र, एकत्व और बल इन पाँच भावनाओं का विवेचन है।

बृहत्कल्पभाष्य

संघदासगणि क्षमाश्रमण इस भाष्य के रचयिता हैं। बृहत्कल्प की भाष्यपीठिका में ८०५ गाथायें हैं जिनमें ज्ञानपंचक, सम्यक्त्व, सूत्रपरिषद्, स्थंडिलभूमि, पात्रलेप, गोचर्या, वसति की रक्षा, वस्त्रग्रहण, अवग्रह, विहार आदि का वर्णन है। स्त्रियों के लिये भूयावाद (दृष्टिवाद) पढ़ने का निषेध है। श्रावकभार्या, साप्तपदिक, कोंकणदारक, नकुल, कमलामेला, शंब का साहस और श्रेणिक के क्रोध की कथाओं का वर्णन है। अपने शिष्यों के बोध के लिये आर्यकालक के उज्जैनी से सुवर्णभूमि (बरमा) के लिये प्रस्थान करने का उल्लेख है। अभिनव नगर बसाने के लिये भूमि आदि की परीक्षा करके, भूमि खोदकर, ईंटों की नींव रखकर, ईंटें चिनकर, और पीठक बनाकर प्रासाद का निर्माण करना चाहिये। शिष्यों को उपदेश देने के लिये ब्राह्मणों की कथा दी है—

अन्नो दुज्झिहि कल्लं, निरत्थयं किं वहामि से चारिं।
चउचरणगवी य मया, अवण्णहाणी य मरुयाणं ॥
माणे हुज्ज अवन्नो, गोवज्झा मा पुणो य न दलिज्जा।
वयमवि दोज्झामो पुण, अणुग्गहो अन्नदूढे वि ॥

---

१. जो भंभीय, आसुरुक्ख, माठर के नीतिशास्त्र और कौण्डिन्य की दंडनीति में कुशल हो और सत्य का पक्ष लेता हो उसे रूपयक्ष कहा है। मिलिन्दपण्ह (पृ० ३४४) में रूपदक्ख नाम मिलता है।

सीसा पडिच्छगाणं, भरो त्ति ते वि य हु सीसगभरो त्ति।
न करिंति सुत्तहाणी, अन्नत्थ वि दुल्लहं तेसिं॥

—किसी व्यक्ति ने चतुर्वेदी ब्राह्मणों को एक गाय दान में दी। ब्राह्मण गाय को बारी-बारी से दुहते। जिसकी बारी होती वह सोचता कल तो मुझे दुहना नहीं, इसलिये इसे घास-चारा ही देना व्यर्थ है। कुछ समय बाद गाय मर गई जिससे ब्राह्मणों को अपयश का भागी बनना पड़ा। कुछ समय बाद फिर से उन लोगों को एक गाय दान में मिली। उन्होंने सोचा कि यदि अबकी बार भी हम गाय को घास-चारा न देंगे तो वह मर जायेगी। लोग फिर हमारी निन्दा करेंगे, गोहत्या का हमें पाप लगेगा, और भविष्य में हम दान से वंचित रह जायेंगे। यह सोचकर वे गाय को घास-चारा देने लगे।

इस उदाहरण से शिष्यों को अपने आचार्यों की सेवा-शुश्रूषा में रत रहने का उपदेश दिया गया है।

कौमुदिकी, संग्रामिकी, दुर्भूतिका और अशिवोपशमिनी नाम की चार भेरियों, तथा जानती, अजानती और दुर्विदग्धा नाम की तीन परिषदों का उल्लेख है। लौकिक परिषद् के पाँच भेद हैं—पूरयन्ती, छत्रवती, बुद्धि, मंत्री, और राहस्यिकी। साधुओं की वसति बनाने के लिये वल्लियों के ऊपर बाँस बिछाकर, उन्हें चारों ओर से चटाइयों से ढककर, उन्हें सुतलियों से बाँध कर ऊपर से घास बिछा देना चाहिये, फिर उसे गोबर से लीप देना चाहिये।

दूसरे भाग में प्रथम उद्देश्य के १–६ सूत्रों पर ८०६–२१२४ गाथायें हैं। इनमें प्रलम्बसूत्र की विस्तृत व्याख्या, अध्वद्वार, ग्लानद्वार, ग्राम, नगर, खेड, कर्वटक, मडंब, पत्तन आदि की व्याख्या, जिनकल्पी का स्वरूप, समवसरणद्वार, प्रशस्त-अप्रशस्त भावनायें, गमनद्वार, स्थविरकल्पी की स्थिति, प्रतिलेखनाद्वार, भिक्षाद्वार, चैत्यद्वार, रथयात्रा की यातनायें, वैद्य के समीप गमन करने की विधि, निर्ग्रंथनियों का विहार और वसतिद्वार आदि

का विवेचन है। उत्तानमल्लकाकार, अवाङ्मुखमल्लकाकार, सम्पुट-मल्लकाकार, उत्तानखंडमल्लक, अवाङ्मुखखंडमल्लक, संपुटखंड-मल्लक, भित्ति, पडालिका, वलभी, अक्षपाट, रुचक और काश्यप नामक ग्रामों की व्याख्या की गई है। पाषाण, ईंट, मिट्टी, काष्ठ (खोड), बाँस और काँटों के बने हुए प्राकारों का उल्लेख है। साधु को विभिन्न देशों की भाषाओं का ज्ञाता होना चाहिये। जनपद की परीक्षा करते हुए साधु को इस बात का ज्ञान होता है कि किस देश में किस प्रकार से धान्य पैदा होता है। उदाहरण के लिये, लाट देश में वर्षा से, सिन्ध में नदी के जल से, द्रविड में तालाब के जल से, उत्तरापथ में कुँए के जल से तथा बन्नासा और डिंभरेलक में नदी के पूर से धान्य की पैदावार होती है, काननद्वीप में नाव के द्वारा धान रोपा जाता है। कहीं सुभाषित भी दिखाई दे जाते हैं—

कत्थ व न जलइ अग्गी, कत्थ व चंदो न पायडो होइ।
कत्थ वरलक्खणधरा, न पायडा होंति सप्पुरिसा॥
उदए न जलइ अग्गी, अब्भच्छिन्नो न दीसइ चंदो।
मुक्खेसु महाभागा, विज्जापुरिसो न मायंति॥

—अग्नि कहाँ प्रकाशमान नहीं होती? चन्द्रमा कहाँ प्रकाश नहीं करता? शुभ लक्षण के धारक सत्पुरुष कहाँ प्रकट नहीं होते? अग्नि जल में बुझ जाती है, चन्द्रमा मेघाच्छादित आकाश में दिखाई नहीं देता और विद्यासंपन्न पुरुष मूर्खों की सभा में शोभा को प्राप्त नहीं होते।

साधुओं को कब विहार करना चाहिये—

उच्छू बोलिंति वइं, तुंबीओ जायपुत्तभंडाओ।
वसहा जायत्थामा, गामा पव्वायचिक्खल्ला॥
अप्पोदगा या मग्गा, वसुहा वि य पक्कमट्टिया जाया।
अन्नोकंता पंथा, विहरणकालो सुविहियाणं॥

—जब ईख बाड़ों के बाहर निकलने लगें, तुंबियों में छोटे-छोटे तुंबक लग जायें, बैल ताक़तवर दिखाई देने लगें, गाँवों की

कीचड़ सूखने लगे, रास्तों का पानी कम हो जाये, जमीन की मिट्टी कड़ी हो जाये और जब पथिक परदेश जाने लगें तो साधुओं के विहार का समय समझना चाहिये।

चार प्रकार के चैत्य गिनाये गये हैं—साधर्मिक, मंगल, शाश्वत और भक्ति। मथुरा में नये घरों का निर्माण करने पर उनके उत्तरंगों में अर्हत् भगवान् की प्रतिमा स्थापित की जाती थी। रुग्ण साधु की वैद्य द्वारा चिकित्सा कराने का विस्तार से उल्लेख है। यहाँ पर टीकाकार ने दक्षिणापथ के काकिणी, भिल्लमाल के द्रम्म और पूर्वदेश के दीनार अथवा केतर (केवडिक) नाम के सिक्कों का उल्लेख किया है। निर्ग्रन्थिनियों के विहार का विस्तृत वर्णन है।

तीसरे भाग में बृहत्कल्प सूत्र के प्रथम उद्देश के १०–५० सूत्र हैं जिन पर २१२५–३२८९ गाथाओं का भाष्य है। इनमें वगडा, आपणगृहादि, अपावृतद्वार उपाश्रय, घटीमात्रक, चिलिमिलिका, दकतीर, चित्रकर्म, सागारिकनिश्रा, सागारिकोपाश्रय, प्रतिबद्ध-शय्या, गृहपतिकुलमध्यवास, व्यवशमन, चार, वैराज्य–विरुद्धराज्य, अवग्रह, रात्रिभक्त, रात्रिवस्त्रादिग्रहण, हरियाहडिया, अध्वगमन, संखड़ी, विचारभूमि–विहारभूमि और आर्यक्षेत्र की व्याख्या की गई है। काम की दस अवस्थाओं का वर्णन है। कोई साध्वी किसी साधु को दुर्बल देख कर उससे दुर्बलता का कारण पूछती है। साधु उत्तर देता है—

> संदंसणेण पीई, पीईउ रईउ वीसंभो।
> वीसंभाओ पणओ, पंचविहं वड्ढए पिम्मं॥
> जह जह करेसि नेहं, तह तह नेहो मे वड्ढइ तुमम्मि।
> तेण नडिओ मि बलियं, जं पुच्छसि दुब्बलतरो त्ति॥

—दर्शन से प्रीति उत्पन्न होती है, प्रीति से रति, रति से विश्वास और विश्वास से प्रणय उत्पन्न होता है, इस तरह प्रेम पाँच प्रकार से बढ़ता है। जैसे जैसे मैं स्नेह करता हूँ वैसे वैसे

तुम्हारे प्रति मेरी प्रीति बढ़ती है। किन्तु इस स्नेह से मैं वंचित रहता हूँ—यही मेरे दुर्बल होने का कारण है।

निर्ग्रंथों को स्त्रियों के संपर्क से दूर ही रहने का उपदेश है—

आसंकितो व वासो, दुक्खं तरुणा य सन्नियत्तेउं।
धंतं पि दुब्बलासो, खुब्भइ बलवाण मज्झम्मि॥

—निवास स्थान में स्त्रियों की आशंका सदा बनी रहती है। जैसे अत्यन्त दुर्बल अवस्था को प्राप्त घोड़ा भी घोड़ियों के बीच में रहता हुआ क्षोभ को प्राप्त होता है, वही दशा स्त्रियों के बीच में रहते हुए तपोनिष्ठ तरुण साधु की होती है।

भिक्षा के लिये जाती हुई आर्यिकाओं की मजाक उड़ाते हुए कोई कहता है—

वंदामु खंति! पडपंडुरसुद्धदंति!
रच्छाए जंति! तरुणाण मणं हरंति॥

—क्षमाशील इस आर्यिका को हम प्रणाम करते हैं। उसके दाँतों की पंक्ति अत्यन्त शुभ्र है, और मार्ग पर जाती हुई वह तरुण जनों के मन को हरती है।

इस सम्बन्ध में दो मित्रों का वार्तालाप सुनिये—

पाणसमा तुज्झ मया, इमा या सरिसी सरिव्वया तीसे।
संखे खीरनिसेओ, जुज्जइ तत्तेण तत्तं च॥
सो तत्थ तीए अन्नाहि वा वि निब्भत्थिओ गओ गेहं।
खामिंतो किल सुढियो, अक्खुन्नहि अग्गहत्थेहिं॥
पाएसु चेडरूवे, पाडेतु भणइ एस भे माता।
जं इच्छइ तं दिज्जह, तुमं पि साइज्ज जायाइं॥

—हे मित्र! तुम्हारी प्राणप्रिया मर गई है, लेकिन यह देखो रूप और अवस्था में यह साध्वी उसी के समान है। जैसे शंख में दूध भरने से वह उसी के रंग का हो जाता है, और तपा हुआ लोहा तपे हुए लोहे के साथ मिल जाता है, वैसे ही तुम्हारा भी इसके साथ सम्बन्ध हो सकता है। यह सुनकर वह

संयती अथवा अन्य संयतियाँ उस पुरुष को धिक्कारती हैं और वह पुरुष अपने मित्र के साथ अपने घर लौट आता है। एक दिन भिक्षा के लिये घर आई हुई उस संयती को देखकर उसके प्रति वह बहुमान प्रदर्शित करता है। वह उसके चरणों का स्पर्श करता है और अपनी पहली पत्नी के बच्चों से उसके पैर पड़वा कर उनसे कहता है कि यह तुम्हारी माँ है, और संयती से कहता है कि देखो यह तुम्हारे बच्चे हैं। तत्पश्चात् यथेच्छ वस्त्र, अन्न-पान आदि से वह उसका सत्कार करता है।

वर्षाकाल में गमन करने से वृक्ष की शाखा आदि का सिर पर गिर जाने, कीचड़ में रपट जाने, नदी में बह जाने अथवा काँटा लग जाने आदि का डर रहता है, इसलिये निर्ग्रंथ और निर्ग्रन्थिनियों को वर्षाकाल में गमन करने का निषेध है।[1] विरुद्धराज्य में संक्रमण करने से बंध, वध, आदि का डर रहता है। रात्रि अथवा विकाल में भोजन करने से गड्ढे आदि में गिरने, साँप अथवा कुत्ते से काटे जाने, बैल से मारे जाने, अथवा काँटा आदि लग जाने का भय रहता है। इस प्रसंग पर कालोदाई नाम के एक भिक्षु की कथा दी है। यह भिक्षु रात्रि के समय किसी ब्राह्मणी के घर भिक्षा माँगने गया था। वह ब्राह्मणी गर्भवती थी। अंधेरा होने के कारण ब्राह्मणी को कील न दिखाई दी और कील पर गिर जाने से उसकी मृत्यु हो गई।[2] बिहार-मार्ग के लिये उपयोगी तालिका, पुट, वर्ध्र, कोशक, कृत्ति, सिक्कक, कापोतिका आदि चर्म के उपकरणों और पिप्पलक, सूची, आरी, नखरदन आदि लोहे के

---

१. विशेषकर उत्तर बिहार में बागमती, कोसी और गंडक नदियों में बाढ़ आ जाने के कारण आवागमन बिलकुल ठप्प हो जाता है, इसीको ध्यान में रखकर भिक्षुओं के लिये चातुर्मास में गमनागमन करने का निषेध किया मालूम होता है।

२. मज्झिमनिकाय के लकुटिकोपम सुत्त में भी स्त्री के गर्भपात की बात कही गई है।

उपकरणों का उल्लेख है। तीन सिंहों के घातक कृतकरण श्रमण का उदाहरण दिया है। सार्थवाह तथा संखडि (भोज) का वर्णन है। शैलपुर में ऋषितड़ाग, भड़ौंच में कुंडलमेण्ठ व्यन्तर की यात्रा तथा प्रभास, अर्बुदाचल, प्राचीनवाह आदि स्थानों का उल्लेख है। संखडी के प्रकार बताये गये हैं। उज्जैनी का राजा संप्रति आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ति (वीर निर्वाण के २९१ वर्ष बाद स्वर्गस्थ) का समकालीन था, उसके समय से साढ़े पच्चीस जनपदों की आर्यक्षेत्रों में गणना की जाने लगी।[1]

चतुर्थ भाग में द्वितीय उद्देश के १–२५ और तृतीय उद्देश के १–३१ सूत्र हैं। इन पर ३२८०–४८७६ गाथाओं का भाष्य है। इनमें उपाश्रय, सागारिकपारिहारिक, आहृतिकानिर्हृतिका, अंशिका, पूज्यभक्तोपकरण, उपधि, रजोहरण, उपाश्रयप्रवेश, चर्म, कृत्स्नाकृत्स्न वस्त्र, भिन्नाभिन्न वस्त्र, अवग्रहानन्तक अवग्रहपट्टक, निश्रा, त्रिकृत्स्न, समवसरण, यथारत्नाधिकवस्त्रपरिभाजन, यथारत्नाधिकशय्यासंस्तारकपरिभाजन, कृतिकर्म, अन्तरगृहस्थानादि, अन्तरगृहाख्यानादि, शय्यासंस्तारक, अवग्रहप्रकृत, सेनाप्रकृत और अवग्रहप्रमाण का विवेचन है। सदा जागृत रहने का उपदेश दिया है—

जागरह नरा! णिच्चं, जागरमाणस्स वड्ढते बुद्धी।
जो सुवति ण सो धण्णो, जो जग्गति सो सया धण्णो॥[2]

—हे मनुष्यो! सदा जागृत रहो। जागृत मनुष्य की बुद्धि का विकास होता है। जो जागता है वह सदा धन्य है।

अग्नि, पचन, व्याघरण, पणित और भंडशालाओं का उल्लेख है। जांगमिक, भांगिक, सानक पोतक और तिरीट नाम के

---

१. देखिये अध्याय दूसरा, पृ० ५२।

२. मिलाइये—जागरन्ता सुणाथे तं ये सुत्ता ते पबुज्झथ।
सुत्ता जागरितं सेय्यो नत्थि जागरतो भयं॥
इतिवुत्तक, जागरिय सुत्त ४७।

पांच प्रकार के वस्त्रों का उल्लेख है। दूष्यों में कोयवि (रुई से भरा वस्त्र), प्रावारक (कंबल), दाढिगालि, पूरिका, विरलिका, उपधान, तूली[1], आलिंगनिका, गंडोपधान और मसूरक[2] का उल्लेख है। तथा एकपुट, सकलकृत्स्न, द्विपुट, खल्लक, खपुसा, वागुरा, कोशक, जंघा, अर्धजंघा नामक जूतों का उल्लेख है। दक्षिणापथ के दो रूपकों का मूल्य कांचीपुर के एक नेलक के बराबर होता था, और कांचीपुर के दो रूपक पाटलिपुत्र के एक रूपक के बराबर होते थे।[3] थूणा आदि देशों में किनारी (दशा) कटे हुए वस्त्र धारण करने, तथा जिनकल्पी साधुओं को पात्र आदि बारह प्रकार की उपधि रखने का विधान है। शील और लज्जा को स्त्रियों का भूषण कहा है—

ण भूसणं भूसयते सरीरं विभूसणं सीलहिरी य इत्थिए।
गिरा हि संखारजुया वि संसती, अपेसला होइ असाहुवादिणी॥

—हार आदि आभूषणों से स्त्री का शरीर विभूषित नहीं होता, उसका भूषण तो शील और लज्जा ही है। सभा में संस्कारयुत असाधुवादिनी वाणी प्रशस्त नहीं कही जाती।

विधिपूर्वक गोचरी के लिए भ्रमण करती हुई यदि कोई संयती किसी गृहस्थ द्वारा घर्षित कर दी जाये तो उसकी रक्षा करने का विधान है। यहाँ पुरुष के संवास के बिना भी गर्भ की संभावना बताई है। स्त्री को हर दशा में सचेल रहने का विधान है। उज्जैनी, राजगृह और तोसलिनगर में कुत्रिकापण (बड़ी दूकानें जहाँ हर वस्तु मिलती है) होने का उल्लेख है। यदि वस्त्र का परिभाजन करते समय साधुओं में परस्पर

---

१. दीघनिकाय (१, पृ० ७) में तूलिक का उल्लेख है।

२. महावग्ग (५. १०.३) और चुल्लवग्ग (६. २.४) में विविध तकियों का उल्लेख मिलता है।

३. जैनागमों में वर्णित सिक्कों के संबंध में देखिए डॉक्टर उमाकान्त शाह का राजेन्द्रसूरिस्मारक ग्रन्थ, १९५७ में लेख।

विवाद उपस्थित हो जाये तो किस प्रकार विवाद को शान्त करे—

अज्जो ! तुमं चेव करेहि भागे, ततो णु घेच्छामो जहक्कमेणं।
गिण्हाहि वा जं तुह एत्थ इट्ठं, विणासधम्मीसु हि किं ममत्तं॥

—हे आर्य ! लो, तुम ही इसका विभाग करो। इसके बाद हम लोग यथाक्रम से ग्रहण करेंगे। जो तुम्हें अच्छा लगे वह तुम ले लो। वस्त्र आदि वस्तुएँ विनाशशील हैं, इसलिए उनमें ममत्व करना उचित नहीं।

आचार्य के अभ्युत्थानसंबंधी प्रायश्चित का वर्णन—

भग्गऽम्ह कडी अब्भुट्ठणेण देइ य अणुट्ठणे सोही।
अनिरोहसुहो वासो, होहिइ णे इत्थ अच्छामो॥

—पहले गच्छ में आचार्य के लिए बार-बार उठने-बैठने से हमारी कमर टूट गई है। वहाँ यदि हम नहीं उठते थे तो प्रायश्चित्त का भागी होना पड़ता था और कठोर वचन सहन करने पड़ते थे लेकिन इस गच्छ में प्रवेश करने के बाद बड़ा सुखकर जीवन हो गया है। इसलिए अब यहीं रहेंगे, लौटकर अपने गच्छ में नहीं जायेंगे।

जिनशासन का सार क्या है—

जं इच्छसि अप्पणतो, जं च ण इच्छसि अप्पणतो।
तं इच्छ परस्स वि या, एत्तियगं जिणसासणयं॥

—जिस बात की अपने लिए इच्छा करते हो, उसकी दूसरे के लिए भी इच्छा करो, और जो बात अपने लिए नहीं चाहते हो उसे दूसरे के लिए भी न चाहो—यही जिनशासन है।

मृत्यु का भय सामने है, इसलिये जो करना है आज ही कर लो—

जं कल्ले कायव्वं, णरेण अज्जे व तं वरं काउं।
मच्चू अकलुणहिअओ, न हु दीसइ आवयंतो वि॥
तूरह धम्मं काउं, मा हु पमायं खणंपि कुव्वित्था।
बहुविग्घो हु मुहुत्तो, मा अवरण्हं पडिच्छाहि॥

—जो कल करना है उसे आज ही कर डालना चाहिए, क्योंकि क्रूर यम आता हुआ दिखाई नहीं देता। धर्म का आचरण करने के लिए शीघ्रता करो। प्रत्येक मुहूर्त्त में अनेक विघ्न उपस्थित होते हैं, अतएव अपराह्न काल की भी प्रतीक्षा न करो।

पाँचवें भाग में चतुर्थ उद्देश के १-३४ और पंचम उद्देश के १–४२ सूत्र हैं। इन सूत्रों पर ४८७७–६०५९ गाथाओं का भाष्य है। इनमें अनुद्घातिक, पारांतिक, अनवस्थाप्य, प्रव्राजनादि, वाचना, संज्ञाप्य, ग्लान, अनेषणीय, कल्पस्थित, अकल्पस्थित, गणान्तरोपसंपत्, विष्वग्भवन, अधिकरण, परिहारिक, महानदी, उपाश्रयविधि; ब्रह्मापाय, अधिकरण, संस्तृतनिर्विचिकित्सा, उद्‌गार, आहारविधि, पानकविधि, ब्रह्मरक्षा, मोक, परिवासित और व्यवहार का विवेचन है। हस्तमैथुन, मैथुन, अथवा रात्रिभोजन का सेवन करने से गुरु प्रायश्चित का विधान किया है।

छठे भाग में छठे उद्देश के १–२० सूत्र हैं जिन पर ६०६०–६४९० गाथाओं का भाष्य है। इनमें वचन, प्रस्तार, कंटकादि उद्धरण, दुर्ग, क्षिप्तचित्त आदि, परिमंथ और कल्पस्थिति सूत्रों का विवेचन है। मथुरा में देवनिर्मित स्तूप का उल्लेख है। यदि कोई वणिक् बहुत सा धन जहाज में भर कर जलयात्रा करे और जहाज के डूब जाने से उसका सारा धन नष्ट हो जाये, तो वह अपने ऋण को लौटाने के लिए बाध्य नहीं है, इसे वणिक्-न्याय कहा गया है। जीर्ण, खंडित अथवा अल्प वस्त्र धारण करनेवाले निर्ग्रंथ भी अचेलक कहे जाते हैं। आठ प्रकार के राजपिंड का उल्लेख है।

जीतकल्पभाष्य

जीतकल्पभाष्य के ऊपर जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण का स्वोपज्ञ भाष्य है। यह भाष्य वस्तुतः बृहत्कल्पभाष्य, व्यवहार-भाष्य और पिंडनिर्युक्ति आदि ग्रन्थों की गाथाओं का संग्रह है। इसमें पाँच ज्ञान, प्रायश्चित्तस्थान, भक्तपरिज्ञा की विधि,

इंगिनीमरण और पादोपगमन का लक्षण, गुप्ति-समिति का स्वरूप, ज्ञान-दर्शन-चारित्र के अतिचार, उत्पादना का स्वरूप, ग्रहणैषणा का लक्षण, दान का स्वरूप आदि विषयों का प्रतिपादन किया है।

उत्तराध्ययनभाष्य

शान्तिसूरि की पाइयटीका में भाष्य की कुछ ही गाथायें उपलब्ध होती हैं। जान पड़ता है कि अन्य भाष्यों की गाथाओं की भाँति इस भाष्य की गाथायें भी निर्युक्ति के साथ मिश्रित हो गई हैं। इनमें बोटिक की उत्पत्ति तथा पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक नाम के जैन निर्ग्रन्थ साधुओं के स्वरूप का प्रतिपादन है।

आवश्यकभाष्य

आवश्यकसूत्र के ऊपर लघुभाष्य, महाभाष्य और विशेषावश्यक महाभाष्य लिखे गये हैं। इस सूत्र की निर्युक्ति में १६२३ गाथायें हैं जब कि भाष्य में कुल २५३ गाथायें उपलब्ध होती हैं। यहाँ भी भाष्य और निर्युक्ति की गाथाओं में गड़बड़ी हुई है। विशेषावश्यकभाष्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने लिखा है। कालिकश्रुत में चरण-करणानुयोग, ऋषिभाषित में धर्मकथानुयोग और दृष्टिवाद में द्रव्यानुयोग के कथन हैं। महाकल्पश्रुत आदि का इसी दृष्टिवाद से उद्धार हुआ बताया गया है। कौंडिन्य के शिष्य अश्वमित्र को अनुप्रवादपूर्व के अन्तर्गत नैपुणिक वस्तु में पारङ्गत बताया है। निह्नवों और करकण्डू आदि प्रत्येकबुद्धों के जीवन का यहाँ विस्तार से वर्णन है। यदि साधु की वसति में अण्डा फूटकर गिर पड़ा हो तो स्वाध्याय का निषेध किया है।

दशवैकालिकभाष्य

दशवैकालिकभाष्य की कुल ६३ गाथायें हरिभद्र की टीका के साथ दी हुई हैं। इनमें हेतुविशुद्धि, प्रत्यक्ष-परोक्ष तथा मूलगुण

और उत्तरगुणों का प्रतिपादन है। अनेक प्रमाणों से जीव की सिद्धि की गई है। लौकिक, वैदिक तथा सामयिक (बौद्ध) लोग जीव को किस रूप में स्वीकार करते हैं—

लोगे अच्छेज्जभेज्जो वेए सपुरीसदद्धगसियालो।
समएज्जहमासि गओ तिविहो दिव्वाइसंसारो॥

—लौकिक लोग आत्मा को अच्छेद्य और अभेद्य मानते हैं। वेद में कहा है—जो विष्ठा सहित जलाया जाता है, वह शृगाल की योनि में जन्म लेता है, जो विष्ठा सहित जलाया जाता है उसकी संतति अक्षत होती है। (शृगालो वै एप जायते यः सपुरीषो दह्यते, अथापुरीपो दह्यते आक्षोधुका अस्य प्रजाः प्रादुर्भवन्ति)। तथा बुद्ध का वचन है कि मैं पहले जन्म में हाथी था—

(अहं मासं भिक्षवो हस्ती, षड्दन्तः शंखसंनिभः।
शुकः पंजरवासी च शकुन्तो जीवजीवकः॥)

इस प्रकार, देव, मनुष्य, और तिर्यंच के भेद से संसार को तीन प्रकार का कहा है।

पिंडनिर्युक्तिभाष्य

पिंडनिर्युक्ति पर ४६ गाथाओं का भाष्य है। यहाँ पाटलिपुत्र के राजा चन्द्रगुप्त और उसके मंत्री चाणक्य का उल्लेख है। एक बार की बात है कि जब पाटलिपुत्र में दुर्भिक्ष पड़ा तो सुस्थित नाम के सूरि ने सोचा कि अपने समृद्ध नामक शिष्य को सूरि पद पर स्थापित कर किसी निरापद स्थान में भेज देना ठीक होगा। उन्होंने उसे एकान्त में योनिप्राभृत का उपदेश दिया जिसे दो क्षुल्लकों ने किसी तरह छिपकर सुन लिया। इसमें आँखों में अंजन आँज कर अदृश्य होने की विधि बताई गई थी। समृद्ध सूरिपद पर स्थापित हो गये, लेकिन जो भिक्षा मिलती वह पर्याप्त न होती। नतीजा यह हुआ कि समृद्ध दिन पर दिन दुर्बल होने लगे। क्षुल्लकों को जब इस बात का

पता चला तो उन्होंने अपनी आँखों में अंजन आँज कर राजा चन्द्रगुप्त के साथ भोजन करने का निश्चय किया। दोनों प्रतिदिन अंजन लगा कर अदृश्य हो जाते और चन्द्रगुप्त के साथ भोजन करते। लेकिन इससे पर्याप्त भोजन न मिलने के कारण चन्द्रगुप्त कृश होने लगे। चाणक्य ने इसका कारण जानने का प्रयत्न किया। उसने भोजनमण्डप में ईंटों का चूरा बिखेर दिया। कुछ समय बाद उसे मनुष्य के पगचिह्न दिखाई दिये। वह समझ गया कि दो आदमी आँख में अंजन लगा कर आते हैं। एक दिन उसने दरवाज़ा बन्द करके धूँआ कर दिया। धूँआ लगने से क्षुल्लकों की आँखों से पानी बहने लगा जिससे अंजन धुल गया। देखा तो सामने दो क्षुल्लक खड़े थे। चन्द्रगुप्त को बड़ी आत्मग्लानि हुई। खैर, चाणक्य ने बात संभाल ली। बाद में उसने वसति में जाकर आचार्य से निवेदन किया कि आपके शिष्य ऐसा काम करते हैं। दोनों शिष्यों को प्रायश्चित्त का भागी होना पड़ा।

ओघनिर्युक्तिभाष्य

ओघनिर्युक्ति के भाष्य में ३२२ गाथायें हैं। धर्मरुचि आदि के कथानकों और बदरी आदि के दृष्टांतों द्वारा तत्वज्ञान को समझाया गया है। कुछ कथानक अस्पष्ट भी हैं जिसका उल्लेख वृत्तिकार द्रोणाचार्य ने किया है (देखिये ८ भाष्य की टीका)। बहुत से लोग प्रातःकाल साधुओं का दर्शन अपशकुन मानते थे। उनके लिंग (अहिट्ठाण) को देखकर वे मज़ाक करते थे कि लो सुबह ही सुबह शीशे (उद्दाग) में मुँह देख लो! लोग कहते थे कि इन साधुओं ने केवल उदरपूर्त्ति के लिए प्रव्रज्या ग्रहण की है। कभी कोई विधवा स्त्री उन्हें एकांत में पा कर द्वार आदि बन्द कर परेशान करती थी। ज्योतिष आदि का प्रयोग भी साधु किया करते थे। लेपपिण्ड में बताया है कि जब वे अपने पात्र में लेप लगाते तो कभी उसे कुत्ता आकर चाट जाता था (जक्खुल्लिहण, यहाँ यक्ष का अर्थ टीकाकार ने

कुत्ता किया है)। शुभ और अशुभ तिथि, करण और नक्षत्र पर विचार करते हुए चक्रधर, पांडुरंग, तच्चन्निय (बौद्ध) और बोटिक साधुओं का दर्शन अशुभ बताया है। कालधर्म को प्राप्त साधु के परिष्ठापन की विधि का प्रतिपादन करते हुए उनके शव को स्थंडिल (प्रासुक जीव-जन्तुरहित भूमि), देवकुल अथवा शून्यगृह आदि स्थानों में रखने का विधान है। नदी में यदि घुटनों तक (जंघार्ध) जल हो तो एक पैर जल में और दूसरा पैर ऊपर उठाकर नदी पार करे। यहाँ संघट्ट (जहाँ जंघार्ध-प्रमाण जल हो), लेप (नाभिप्रमाण जल) और लेपोपरि (जहाँ नाभि के ऊपर तक जल हो) शब्दों की परिभाषा दी है। आठ वर्ष के बालक, नौकर-चाकर, वृद्ध, नपुंसक, सुरापान से मत्त और लूले-लंगड़े पुरुष से, तथा कूटती, पीसती, कातती और रुई पींजती हुई तथा गर्भवती स्त्री से भिक्षा स्वीकार करने का निषेध है। प्रकाश रहते हुए साधु को भोजन कर लेना चाहिये, अंधेरे में भोजन करने की मनाई है। मालवा के चोर लोगों का अपहरण करके ले जाते थे। साधुओं को उनसे सतर्क रहने के लिये कहा है। कलिंग देश के कांचनपुर नगर में भयङ्कर बाढ़ आने का उल्लेख यहाँ मिलता है।



चूर्णी-साहित्य

आचारांगचूर्णी

परंपरा से आचारांग चूर्णी[1] के कर्त्ता जिनदासगणि महत्तर माने जाते हैं। यहाँ अनेक स्थलों पर नागार्जुनीय वाचना की साक्षीपूर्वक पाठभेद प्रस्तुत करते हुए उनकी व्याख्या की गई है। बीच-बीच में संस्कृत और प्राकृत के अनेक लौकिक पद्य उद्धृत हैं। प्रत्येक शब्द को स्पष्ट करने के लिए एक विशिष्ट शैली अपनाई गई है। मूअ, खुज्ज और वडभ आदि शब्दों के अर्थ को प्राकृत में ही समझाया है—

बहिरंतं ण सुणेति, मूतो तिविहो—जलमूतओ, एलमूतओ मम्मणो त्ति। खुज्जो वामणो। वडभे त्ति जस्स वडभं पिट्ठीए णिग्गतं। सामो कुट्ठी। सबलत्तं सिति। सह पमादेणं ति कारणे कज्जुवयारा भणितं सकम्मेहि।

थुल्लसार का अर्थ—

थुल्लसारं भेंडं एरंडकट्ठं वा, जस्स वा जं सरीरं थुल्लं ण किंचि विण्णाणं अत्थि सो थुल्लसार एव। केवलं भारसारो पत्थरो वइरा ति। मज्झसारो खइरो। देससारो अंबो।

ग्राम आदि की परिभाषायें—

अट्ठारसण्हं करभराणं गंमो गमणिज्जो वा गामो, गसति बुद्धिमादिगुणे वा गामो। ण एत्थ करो विज्जतीति नगरं। खेडं पंसुपागारवेढं। कब्बडं णाम थुल्लओ जस्स पागारो। मडंबं जस्स अड्ढाइज्जेहिं गाउएहिं णत्थि गामो। पट्टणं जलपट्टणं थलपट्टणं च। जलपट्टणं जहा काणणदीवो, थलपट्टणं जहा महुरा। आगरो

---

1. रतलाम की ऋषभदेव केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था द्वारा सन् १९४१ में प्रकाशित।

हिरण्णगारादी। गामो विज्जसण्णिविट्ठो दोहिं गम्मति जलेणावि थलेणावि दोणमुहं जहा भरुयच्छं तामलित्ती।

आगे चल कर विविध वस्त्रों और शाला आदि के लक्षण समझाये गये हैं।

निम्नलिखित कथा से चूर्णियों की लेखन-शैली का पता चलता है—

एक्कम्मि गामे सुइवादी। तस्स गामस्स एगस्स गिहे केणइ च्छिप्पति। तो चउसट्ठीए मट्टियाहि स ण्हाति। अण्णदा यस्स गिहे बलद्दो मतो। कम्मारएहिं णिवेइयं। तेण भणियं—सड्ढि नीणेध, तं च ठाणं पाणिएणं धोवह। निप्फेडिए चंडाला उवट्ठिता विगिंचियं कुज्ज। तेहिं कम्मयरेहिं सुइवादी पुच्छिओ—'चंडालाण दिज्जउ?' तेण वुत्तं—'मा, किंखु किंखु किंखुत्ति भणति। विकिंचतु सयं। एवमेव मंसं दमयगाणं देह। चम्मेण वइयाउ वलेह, सिंगाणि उच्छुवाडमज्झे कीरहि त्ति उज्झं पि खत्तं भविस्सइ, अट्ठिहि वि धूमो कज्जिहिति तउसीण, ण्हारुणा सत्थकंडाणं भविस्सइ।

—किसी गाँव में एक शुचिवादी रहता था। वह किसी एक घर से भिक्षा मांगकर खाता, और चौंसठ बार मिट्टी से स्नान करता था। एक बार की बात है कि नौकरों ने आकर निवेदन किया कि बैल मर गया है। घर के मालिक ने उन्हें आदेश दिया कि बैल को शीघ्र ही बाहर ले जाओ, और उस स्थान को पानी से धो डालो। बैल की खाल लेने के लिए चाण्डाल आ गये। नौकरों ने शुचिवादी से पूछा कि क्या बैल चांडालों को दे दें? शुचिवादी ने कहा—"तुम लोग स्वयं ही उसकी खाल निकाल लो, मांस भिखारियों को दे दो, चमड़े की बाड़ बना लो, सींगों को ईख में जलाकर उनसे खाद बना लो, हड्डियों का धूंआ करके उसे बाड़े की ककड़ियों में दो और उसके स्नायुओं से बाण बना लो।"

एक लौकिक कथा पढ़िये—

एगंमि गामे एक्को कोडुंबिओ धणमंतो बहुपुत्तो य। सो बुड्ढीभूतो पुत्तेसु भरं संणसति। तेहि य पजायपुत्तभंडेहिं पुत्तेहिं भज्जाओ भणियाओ—एयं उव्वलणण्हाणोदग—भत्तसेज्जमादीहि पडियारिज्जइ। ताओ यं कंचि कालं पडियरिऊण पच्छा पुत्त-भंडेहिं वड्ढमाणेहिं पच्छा सणियं सणियं उवयारं परिहावेउ-मारद्धाओ। कदायि देंति, कदायि ण देंति। सो सूरदि। पुत्ता य णं पुच्छंति। सो भणइ—पुव्वपुव्वुत्तं अंगसुस्सूसं परिहायंति। ताहे ते ताओ बहुगामो खिज्जंति। पुणो पुणो निब्भत्थमाणीओ, पुणो अम्हे णिक्कज्जोवगस्स थेरस्स एयस्स तणएणं खलिया-रिज्जामो ताहे ताओ रुट्ठाओ सुट्ठयरं न करेंति। पच्छा ताहिं संपहारेऊणं अपरोप्परं भणंति पतिणो—अम्हे एयस्स करेमो विणयवत्तिं, एसो निण्हवति। कतिवि दिवसे पडियरिओ, पुच्छिओ किंचि—ते इदाणीं करेंति ? ताहे तेण पुव्विल्लगरोसेणं भण्णइ—हा ण मे किंचिवि करेंति। कइतवेण वा ताहे तेहिं उच्चइ—विवरीतो भूतो एस थेरो। जइ वि कुव्वति तहवि परिवदति। एस कयग्घो। कीरमाणेवि णिण्हवति। अन्नेसिं पि णीयल्लगाणं साहेंति।

—किसी गाँव में कोई धनवान कौटुंबिक रहता था। उसके बहुत से पुत्र थे। जब वह वृद्ध हुआ तो उसने अपने पुत्रों को सब भार सौंप दिया। उसके पुत्रों ने अपनी भार्याओं को आदेश दिया कि तुम लोग उबटन, स्नान, भोजन, शय्या आदि के द्वारा अपने श्वसुर की परिचर्या करना। कुछ समय तक तो वे परिचर्या करती रहीं, लेकिन जैसे-जैसे उनके बाल-बच्चे बढ़ने लगे, उनकी परिचर्या कम होती गई। कभी वे उसे भोजन देतीं, कभी न देतीं। बूढ़ा यह देखकर बहुत चिंतित हुआ। अपने पुत्रों के पूछने पर उसने बताया कि अब वे पहले जैसी सेवा उसकी नहीं करतीं। यह सुनकर बहुओं को बहुत खीझ हुई। उन्हें अब बार-बार डाट-फटकार पड़ने लगी। उन्होंने सोचा कि अस्थिर चित्तवाले इस बूढ़े के पुत्रों द्वारा हमें बार-बार अपमानित होना पड़ता है।

इसलिए रुष्ट होकर अब उन्होंने अपने श्वसुर की परिचर्या करना बिलकुल ही बन्द कर दिया। तत्पश्चात् आपस में सलाह कर के उन्होंने अपने पतियों से कहा—देखिये, हमलोग बराबर श्वसुरजी की सेवा-शुश्रूषा करती हैं, लेकिन वे इस बात को आप लोगों से कभी नहीं कहते। इसके बाद वे कुछ दिन तक अपने श्वसुर की सेवा करती रहीं। एक दिन बूढ़े के पुत्रों ने अपने पिता जी से फिर पूछा। बूढ़े ने पहले जैसे ही बड़े रोष के साथ कहा कि अरे भाई! वे तो कुछ भी नहीं करतीं यह सुनकर बहुएँ कहने लगीं, "यह बूढ़ा हमसे द्वेष रखता है। हमलोग इसकी इतनी सेवा करती हैं, फिर भी यह झूठ बोलता है। सचमुच यह बड़ा कृतघ्न है।

गोल्लदेश (गोदावरी के आसपास का प्रदेश) के रीति-रिवाजों का अनेक जगह उल्लेख किया गया है। गोल्ल में चैत्र महीने में शीत पड़ता है; यहाँ आम की फांक करके उन्हें धूप में सुखाते हैं जिसे आम्रपान कहते हैं। कुंभीचक्र को इस देश में असवत्तअ कहा जाता है। कोंकण देश का भी यहाँ उल्लेख है जहाँ निरन्तर वर्षा होती रहती है। मनुस्मृति (४.८५) और महाभारत (१३-१४१-१६) के श्लोक यहाँ उद्धृत हैं।

सूत्रकृतांगचूर्णी

इस चूर्णि[1] में नागार्जुनीय वाचना के जगह-जगह पाठांतर दिये हैं। यहाँ अनेक देशों के रीति-रिवाज आदि का उल्लेख है। उदाहरण के लिये, सिन्धु देश में पण्णत्ती का स्वाध्याय करने की मनाई है। गोल्ल देश में यदि कोई किसी पुरुष की हत्या कर दे तो वह किसी ब्राह्मणघातक के समान ही निन्दनीय समझा जाता है। ताम्रलिप्ति आदि देशों में डांसों की अधिकता

---

१. रतलाम से सन् १९४१ में प्रकाशित। मुनि पुण्यविजयजी इसे संशोधित करके पुनः प्रकाशित कर रहे हैं। इसके कुछ मुद्रित फर्मे उनकी कृपा से मुझे देखने को मिले।

रहती है। मल्लों में रिवाज था कि यदि कोई अनाथ मल्ल मर जाये तो सब मल्ल मिलकर उसका देह-संस्कार करते थे। आर्द्रककुमार के वृत्तान्त में आर्द्रक को म्लेच्छ विषय का रहनेवाला बताया है। आर्यदेशवासी श्रेणिक के पुत्र अभयकुमार से मित्रता करने के लिये आर्द्रक ने उसके लिये भेंट भेजी थी। बौद्धों के जातकों का यहाँ उल्लेख है। वैशिकतन्त्र का निम्नलिखित श्लोक उद्धृत है—

एता हसन्ति च रुदन्ति च अर्थहेतोः
विश्वासयंति च परं न च विश्वसंति।
स्त्रियः कृतार्थाः पुरुषं निरर्थकं
निष्पीडितालक्तकवत् त्यजंति॥

वीररस की एक गाथा देखिये—

तरितव्वा च पइण्णिया मरियव्वं वा समरे समत्थएणं।
असरिसजणउल्लावया ण हु सहितव्वा कुले पसूएणं॥

गणपालक अथवा गणभुक्ति से राज्यभ्रष्ट होनेवाले को क्षत्रिय कहा गया है। मलूम होता है वैशाली नगरी चूर्णीकार के समय में भुलाई जा चुकी थी, अतएव वैशालिक (वैशाली के रहनेवाले महावीर) का अर्थ ही बदल गया था—

विशाला जननी यस्य विशालं कुलमेव वा।
विशालं वचनं वास्य, तेन वैशालिको जिनः॥

यहाँ पर दूष्यगणि क्षमाश्रमण के शिष्य भट्टियाचार्य के नामोल्लेखपूर्वक उनके वचन को उद्धृत किया है।

व्याख्याप्रज्ञप्तिचूर्णी

इस पर अतिलघु चूर्णी है जो शीघ्र ही प्रकाशित हो रही है।

जम्बुद्वीपप्रज्ञप्तिचूर्णी

इस ग्रन्थ की चूर्णी देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धार ग्रन्थमाला में प्रकाशित हो रही है।

निशीथविशेषचूर्णी

निशीथ के ऊपर लिखी हुई चूर्णी को विसेसचुणि (विशेप-चूर्णी)[1] कहा गया है। इसके कर्ता जिनदासगणि महत्तर हैं। निशीथचूर्णि अभी तक अनुपलब्ध है। इसमें पिंडनिर्युक्ति और ओघनिर्युक्ति का उल्लेख मिलता है जिससे पता लगता है कि यह चूर्णी इन दोनों निर्युक्तियों के बाद लिखी गई है। साधुओं के आचार-विचार से संबंध रखनेवाले अपवादसंबंधी अनेक नियमों का यहाँ वर्णन है। सुकुमालिया की कथा पढ़िये—

इहेव अड्ढभरहे वाराणसीणगरीए वासुदेवस्स जेट्ठभाओ जरकुमारस्स पुत्तो जियसत्तु राया। तस्स दुवे पुत्ता ससओ भसओ य, धूया य सुकुमालिया। असिवेण सव्वंमि कुलवंसे पहीणे तिण्णिवि कुमारगा पव्वतिता। सा य सुकुमालिया जोव्वणं पत्ता। अतीव सुकुमाला रूपवती य। जतो भिक्खादिवियारे वच्चइ ततो तरुण-जुआणा पिट्ठओ वच्चंति। एवं सा रूवदोसेण सपच्चवाया जाया।

तं णिमित्तं तरुणेहिं आइण्णे उवस्सगे सेसिगाण रक्खणट्ठा गणिणी गुरूणं कहेति। ताहे गुरुणा ते सस—भसगा भणिया-संरक्खह एवं भगिणिं। ते घेत्तुं वीसुं उवस्सए ठिया। ते य बलवं सहस्सजोहिणो। ताणेगो भिक्खं हिंडति एगो तं पयत्तेण रक्खति। जे तरुणा अहिवडंति ते हयविहए काउं घाडेति। एवं तेहिं बहुलोगो विराधितो।

भायणुकंपाए सुकुमालिया अणसणं पव्वज्जति। बहुदिण-खीणा सा मोहं गता। तेहिं णायं कालगय त्ति। ताहे तं एगो गेण्हति, बितिओ उपकरणं गेण्हति। ततो सा पुरिसफासेण रातो य सीयलवातेण णिज्जंती अप्पातिता सचेयणा जाया। तहावि तुण्हिक्का ठिता, तेहिं परिट्ठविया, ते गया गुरुसगासं। सा वि

---

१. विजय प्रेम सूरीश्वर जी ने वि० सं० १९९५ में इसकी कई भागों में साइक्लोस्टाइल प्रति तैयार की थी। अभी हाल में उपाध्याय अमरमुनि और मुनि श्री कन्हैयालाल 'कमल' ने इसे चार भागों में सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा से प्रकाशित किया है।

आसत्था। इओ य अदूरेण सत्थो वच्चति। दिट्ठा या सत्थवाहेणं, गहिया, संभोतिया रूववती महिला कया। कालेण भातियागमो, दिट्ठा, अब्भुट्ठिया य दिण्णा भिक्खा। तहावि साधवो णिरक्खंता अच्छं, तीए भणियं—किं णिरक्खह ?

ते भणंति—अम्ह भगिणीए सारिक्खा हि, किंतु सा मता, अम्हेहिं चेव परिट्ठविया, अण्णहा ण पत्तियंता। तीए भणियं—पत्तियह, अहं चिय सा। सव्वं कहेति। वयपरिणया य तेहिं दिक्खिया।

—अर्धभरत में वाराणसी नगरी में वासुदेव का बड़ा भाई जराकुमार का पुत्र जितशत्रु राज्य करता था। उसके ससअ और भसअ नामके दो पुत्र और सुकुमालिया नामकी एक कन्या थी। महामारी आदि के कारण समस्त कुल के नष्ट हो जाने पर तीनों ने प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। सुकुमालिया बड़ी होकर युवती हो गई। वह अत्यन्त सुकुमार और रूपवती थी। जब वह भिक्षा के लिये जाती तो बहुत से तरुण उसका पीछा करते। इस प्रकार अपने रूप के कारण वह अपने ही लिये बाधा हो गई।

तरुण उपाश्रय में घुस आते। ऐसी दशा में सुकुमालिया की रक्षा के लिये गणिनी ने गुरु से निवेदन किया। गुरु ने ससअ और भसअ को आदेश दिया कि वे अपनी बहन की रक्षा करें। वे उसे लेकर एक अलग उपाश्रय में रहने लगे, दोनों भाई बड़े बलवान् और सहस्रयोधी थे। उनमें से एक भिक्षा के लिए जाता तो दूसरा सुकुमालिया की रक्षा करता। जो तरुण छेड़खानी करने के लिए वहाँ आते उन्हें वह मार-पीटकर भगा देता। इस प्रकार उन दोनों ने बहुत सों को ठीक किया।

उधर अपने भाइयों पर अनुकंपा कर सुकुमालिया ने अनशन स्वीकार किया, और कुछ ही दिनों में क्षीण हो जाने के कारण वह अचेतन हो गई। भाइयों ने समझा कि वह मर गई है। एक ने उसे उठाया और दूसरे ने उसके उपकरण लिए। इस समय पुरुष के स्पर्श से और रात्रि में शीतल वायु के लगने से उसकी मूर्च्छा टूटी लेकिन फिर भी वह चुपचाप रही। दोनों भाई उसे एक स्थान में रख कर गुरु के पास चले गये। इस

बीच में वह भी आश्वस्त हो गई। उस समय एक सार्थ वहाँ से गुजर रहा था। सार्थवाह ने सुकुमालिया को देखा और उसे अपनी स्त्री बना ली। कालक्रम से दोनों भाई उसके घर भिक्षा के लिये आये। सुकुमालिया ने उन्हें भिक्षा दी। भिक्षा लेने के बाद दोनों उसकी ओर देखते रहे। उसने पूछा—"आप लोग क्या देख रहे हैं?" उन्होंने उत्तर दिया—"तुम हमारी भगिनी जैसी मालूम होती हो, लेकिन वह तो बेचारी मर गई है। हम लोगों ने स्वयं उसका अंत्यकर्म किया है।" सुकुमालिया ने कहा—"आप विश्वास करें, मैं वही हूँ!" तत्पश्चात् उसने सारी कथा सुनाई। ससअ भसअ ने उसे फिर से दीक्षित कर लिया।

एक लौकिक कथा देखिये—

अरण्णमज्झे अगाहजलं सरं जलयोवसाहियं वणसंडमंडियं। तत्थ य बहूणि जलचरखहचरथलचराणि य सत्ताणि आसिताणि। तत्थ य एगं महल्लं हत्थिजूहं परिवसति। अण्णता गिम्हकाले तं हत्थिजूहं पाणियं पाउं ण्हाउत्तिण्ण मज्झण्हदेसकाले सीयलरुक्ख-छायासु सुहंसुहेण पासुत्तं चिट्ठति। तत्थ य अदूरे दो सरडा भंडिउ-मारद्धा। वणदेवयाए उ ते दट्ठुं सव्वेसिं सभाए आघोलियं—

णागा जलवासीया, सुणेह तसथावरा।
सरडा जत्थ भंडंति, अभावो परियत्तई॥

देवयाए भणियं, मा एते सरडे भंडंते उवेक्खह, वारेह। तेहिं जलचरथलचरेहिं चिंतियं—किण्हं एते सरडा भंडंतं काहिंति? तत्थ य एगो सरडो भंडंतो भग्गो पेल्लितो सो धाडिज्जंतो सुहसुत्तस्स हत्थिस्स बिलं ति काउं णासापुडं पविट्ठो। बितिओ वि पविट्ठो। ते सिरकवाले जुद्धं लग्गा। हत्थी विउलीभूतो महतीए असमाहीए देयणट्टो य तं वणसंडं चूरियं, बहवे तत्थ वासिणो सत्ता घातिता। जलं च आडोहंतेण जलचरा घातिता। तलागपाली भेदिता। तलागं विणट्ठं। जलचरा सव्वे विणट्ठा।

—किसी जंगल में मेघ के समान सुशोभित वनखंड से मंडित अगाध जलवाला एक तालाब था। वहाँ बहुत से जलचर,

नभचर और थलचर जीव रहा करते थे। हाथियों का एक बड़ा झुंड भी वहां रहता था। एक बार की बात है, ग्रीष्म-काल में हाथियों का वह झुंड तालाब में पानी पीकर और स्नान करके मध्याह्न के समय शीतल वृक्ष की छाया में आराम से सो गया। वहाँ पास ही में दो गिरगिट लड़ रहे थे। यह देखकर वनदेवता ने सभा में घोषणा की—

हे जल में रहनेवाले नाग और त्रस-स्थावरो! सुनो। जहाँ दो गिरगिट लड़ते हैं वहाँ अवश्य हानि होती है।

देवता ने कहा, इन लड़ते हुओं की उपेक्षा मत करो, लड़ने से इन्हें रोको। लेकिन जलचर और थलचरों ने सोचा, इनकी लड़ाई से हमारा क्या बिगड़ सकता है। इतने में एक गिरगिट लड़ते-लड़ते भाग कर आराम से सोए हुए एक हाथी की सूंड में जा घुसा। दूसरा भी उसके पीछे-पीछे वहीं पहुँचा। बस हाथी के कपाल में युद्ध मच गया। इससे हाथी बड़ा व्याकुल हुआ और असमाधि के कारण वेदना के वशीभूत हो उसने उस वनखंड को चूर-चूर कर दिया। इससे वहाँ रहनेवाले बहुत से प्राणियों का घात हुआ। पानी में संघर्ष होने से जलचर जीव नष्ट हो गये। तालाब की पाल टूट गई। तालाब नष्ट हो गया और पानी में रहनेवाले सब जीव मर गये।

कहीं सरस संवाद भी निशीथचूर्णी में दिखाई पड़ जाते हैं। साधु-साध्वी का संवाद पढ़िये—

तेण पुच्छिता—किं ण गतासि भिक्खाए?
सा भणति—अज्ज! खमणं मे।
सो भणति—किं निमित्तं?
सा भणति—मोहतिगिच्छं करेमि।
ताए वि सो पुच्छिओ भणति—अहं पि मोहतिगिच्छं करेमि।
कहं बोधि त्ति लद्धा? परोप्परं पुच्छंति।
तेण पुच्छिता—कहं सि पव्वइया?
सा भणति—भत्तारमरणेण तस्स वा अचियत्त—

त्ति तेण पव्वतिता ।

ताए सो पुच्छितो भणति—अहं पि एमेव त्ति ।

—साधु (किसी साध्वी से पूछता है)—आज तुम भिक्षा के लिये नहीं गई ?

साध्वी—आर्य ! मेरा उपवास है ।

"क्यों ?"

"मोह का इलाज कर रही हूं, लेकिन तुम्हारा क्या हाल है ?"

"मैं भी उसी का इलाज कर रहा हूँ ।"

फिर वे परस्पर बोधि की प्राप्ति के संबंध में एक दूसरे से प्रश्न करने लगे ।

साधु—"तुमने क्यों प्रव्रज्या ग्रहण की ?"

"पति के मर जाने से ।"

"मेरा भी यही हाल है (मैंने पत्नी के मर जाने पर प्रव्रज्या ली है) ।"

आगे देखिये—

सो तं णिद्धाए दिट्ठीए जोएति । ताए भण्णति—किं पेच्छसि ? सो भणाति—सारिच्छं, तुमं मम भारियाते हसियजंपिएण लडहत्तणेण य सव्वहा सारिच्छा । तुज्झ दंसणं मोहं मे णेति, मोहं करेति ।

सा भणति—जहाऽहं तुज्झे मोहं करेमि, तहा मज्झवि तहेव तुमं करेसि ।

"केवलं सा मम उच्छंगे मया । जति सा परोक्खातो मरति देवाण वि ण पत्तियन्तो । जहा तुमं सा ण भवसि त्ति ।"

—साधु उसे स्नेहभरी दृष्टि से देखता है । यह देखकर साध्वी ने प्रश्न किया—"क्या देख रहे हो ?"

"दोनों की तुलना कर रहा हूँ । हँसने, बोलने और सुन्दरता में तुम मेरी भार्या से बिलकुल मिलती-जुलती हो । तुम्हारा दर्शन मेरे मन में मोह उत्पन्न करता है ।"

"जैसे तुम्हारे मन में मेरा दर्शन मोह उत्पन्न करता है, वैसे ही तुम्हारा मेरे मन में करता है।"

"वह मेरी गोदी में सिर रख कर मर गई। यदि वह मेरी अनुपस्थिति में मरती तो कदाचित् देवताओं को भी उसके मरने का विश्वास न होता। तुम वह कैसे हो सकती हो?"

कठिन परिस्थितियों में जैन श्रमण अपने संघ की किस प्रकार रक्षा करते थे, इसे समझाने के लिये कोंकण देश के एक साधु का आख्यान दिया है। एक बार, कोई आचार्य अपने शिष्य-समुदाय के साथ विहार करते हुए संध्या समय कोंकण की अटवी के पास पहुँचे। उस अटवी में सिंह आदि अनेक जंगली जानवर रहते थे। आचार्य ने अपने संघ की रक्षा के लिए कोंकण के एक साधु को रात्रि के समय पहरा देने के लिये नियुक्त कर दिया, बाकी सब साधु आराम से सो गये। प्रातःकाल पता लगा कि पहरा देनेवाले साधु ने तीन सिंहों को मार डाला है। आचार्य ने प्रायश्चित्त देकर साधु की शुद्धि कर ली। दूसरी जगह राजभय से आचार्य द्वारा अपने राजपुत्र साधु-शिष्य को इमली के बीज उसके मुँह पर मल कर संयतियों के उपाश्रय में छिपा देने का उल्लेख है।

यहाँ राजा सम्प्रति के राज्यशासन को चन्द्रगुप्त, बिन्दुसार (२९८-२७३ ई० पू०) और अशोक (२७२-२३२ ई० पू०) तीनों की अपेक्षा श्रेष्ठ कहा है। इसलिये मौर्य वंश को यव के आकार का बताया है। जैसे यव दोनों ओर नीचा और मध्य में उठा हुआ होता है, उसी प्रकार सम्प्रति को मौर्यवंश का मध्य-भाग कहा गया है। राजा सम्प्रति ने अनेक देशों में अपने राजकर्मचारी भेजकर २५॥ देशों तथा आंध्र, द्रविड, महाराष्ट्र और कुडुक (कुर्ग) आदि प्रत्यंत देशों को जैन साधुओं के विहार योग्य बनवाया था। कालकाचार्य की कथा विशेष निशीथ-चूर्णी में विस्तार से कही गई है। उज्जयिनी के राजा गर्दभिल्ल

ने जब कालकाचार्य की भगिनी को जबर्दस्ती उठाकर अपने अन्तःपुर में रख लिया तो कालकाचार्य बहुत क्षुब्ध हुए। उन्होंने राजा से बदला लेने की प्रतिज्ञा की। प्रतिज्ञा पूरी करने के लिये वे पारसकूल (ईरान) गये[1] और वहाँ के शाहों को हिन्दुस्तान (हिंदुगदेस) लिवा लाये। आगे चल कर शक वंश की उत्पत्ति हुई। कालक के अनुरोध पर शाहों ने राजा गर्दभिल्ल पर चढ़ाई कर उसके वंश का समूल नाश कर डाला। तत्पश्चात् कालक ने अपनी भगिनी को पुनः संयम में दीक्षित किया। उज्जयिनी के राजा प्रद्योत की कथा यहाँ विस्तार से दी है। इस प्रसङ्ग पर पुष्कर तीर्थ (आधुनिक पुष्कर, अजमेर के पास) की उत्पत्ति बताई गई है।

साधुओं के आचार-विचार के वर्णन-प्रसंग में यहाँ अनेक देशों में प्रचलित रीति-रिवाजों का उल्लेख है। उदाहरण के लिये, लाटदेश में मामा की लड़की[2] से विवाह किया जा सकता था। मालव और सिंधु देश के लोग कठोरभाषी तथा महाराष्ट्र के लोग वाचाल माने जाते थे। महाराष्ट्र के जैन भिक्षु आवश्यकता पड़ने पर अपने लिंग में अंगूठी (वेंटक) पहनते थे। लाट देश में जिसे कच्छ कहते थे, महाराष्ट्र में उसे भोयड़ा कहा जाता था। महाराष्ट्र की कन्यायें विवाह होने के पश्चात् गर्भवती होने तक इसे पहनती थीं। महाराष्ट्र में स्त्री को माउग्गाम कहा जाता था।

यहाँ हंसतेल बनाने और फलों को पकाने की विधियाँ बताई गई हैं। गंगा, प्रभास[3], प्रयाग, सिरिमाल आदि को कुतीर्थ; शाक्यमत, ईश्वरमत आदि को कुशास्त्र; मल्लगण, सारस्वतगण

---

१. इस सम्बन्ध में देखिये डॉक्टर उमाकान्त शाह का 'सुवर्णभूमि में कालकाचार्य' (जैन संस्कृतिसंशोधन मण्डल, बनारस, सन् १९५६)।

२. जमालि का विवाह उसके मामा महावीर की कन्या प्रियदर्शना से हुआ था।

३. स्थानांग (सूत्र १४२) में मगध, वरदाम और प्रभास को

आदि को कुधर्म ; गोव्रत, दिशाप्रोक्षित, पंचाग्नि तप, पञ्चगव्याशन आदि को कुव्रत ; तथा भूमिदान, गोदान, अश्वदान, हस्तिदान, सुवर्णदान आदि को कुदान कहा गया है। चर्मकार, नाई (ण्हावित)[1], और रजक आदि को शिल्पजुंगित (शल्प में हीन) की कोटि में गिनाया है। तत्पश्चात् विविध प्रकार के वस्त्रों, मालाओं, आभूषणों, वाद्यों, शालाओं, आगारों, उत्सवों, साधु-संन्यासियों, सिद्धपुत्र, मुंडी आदि की परिभाषायें यहाँ दी हैं। (सिद्धपुत्र भार्या सहित भी रहते हैं और भार्यारहित भी। वे शुक्ल वस्त्र पहनते हैं। उस्तरे से सिर मुंडाये रहते हैं, शिखा रखते हैं, कभी नहीं भी रखते, दण्ड और पात्र वे धारण नहीं करते।) निर्ग्रंथ, शाक्य, तापस, गैरिक और आजीवक इन पाँचों की श्रमणों में गणना की गई है। श्वानों के सम्बन्ध में बताया है कि कैलाश पर्वत (मेरु) पर रहनेवाले देव यक्षरूप में (श्वान रूप में) इस मर्त्यलोक में रहते हैं। शक, यवन, मालव, तथा आंध्र-दमिल का यहाँ उल्लेख है।

चूर्णीकार ने भाष्य की अनेक गाथाओं को भद्रबाहुकृत और अनेक को सिद्धसेनकृत बताया है। छेदसूत्रों की भांति दृष्टिवाद को उत्तमश्रुत बताते हुए कहा है कि द्रव्यानुयोग, चरणानुयोग, धर्मानुयोग और गणितानुसयोग का वर्णन होने से यह सूत्र सर्वोत्तम है। भाष्यकार द्वारा उल्लिखित कप्प और पकप्प पर चूर्णी लिखते हुए चूर्णीकार कप्प में दसा, कप्प और व्यवहार ; पकप्प में णिसीह और तु शब्द से महाकप्प और महानिसीह को लेते हैं। विधिसूत्र में आवश्यक के अन्तर्गत सामायिक निर्युक्ति, तथा जोणिपाहुड का उल्लेख है। परंपरागत अनुश्रुति के अनुसार मंत्रविद्या के इस ग्रन्थ की सहायता से सिद्धसेन ने अश्व बनाकर दिखाये थे। पादलिप्त के कालण्णाण

गणना तीन तीर्थों में की गई है। आवश्यकचूर्णि (२, पृ० १९७) में भी इन्हें सुतीर्थों में ही गिनाया गया है।

1. मराठी में न्हावी।

नामक ग्रंथ[1] का उल्लेख यहाँ मिलता है। आख्यायिकाओं में णरवाहणदंतकथा, तरंगवती, मलयवती, मगधसेना और आख्यानों में धूर्ताख्यान, छलित काव्यों में सेतु, तथा वसुदेवचरिय और चेटककथा आदि का उल्लेख है।

दशाश्रुतस्कंधचूर्णी

दशाश्रुतस्कंध की निर्युक्ति की भांति इसकी चूर्णि भी लघु है। यहाँ भी अनेक श्लोक उद्धृत किये गये हैं। दशा, कल्प और व्यवहार को प्रत्याख्यान नामक पूर्व में से उद्धृत बताया है। दृष्टिवाद का असमाधिस्थान नामक प्राभृत से भद्रबाहु ने उद्धार किया। आठवें कर्मप्रवादपूर्व में आठ महानिमित्तों का विवेचन है। प्रतिष्ठान के राजा सातवाहन और आचार्य कालक की कथा यहाँ भी उल्लिखित है। सिद्धसेन का उल्लेख यहाँ मिलता है। गोशाल को भारियगोसाल कहा है, अर्थात् जो गुरु की अवहेलना करता है और उसके कथन को नहीं मानता। अंगुष्ठ और प्रदेशिनी (तर्जनी) उंगली में जितने चावल एक बार आ सकें उतने ही चावलों को भक्षण करने वाले आदि अनेक तापसों का उल्लेख किया है।

उत्तराध्ययनचूर्णी

उत्तराध्ययन चूर्णी[2] के कर्त्ता जिनदासगणि महत्तर हैं। नागार्जुनीय पाठ का यहाँ भी अनेक स्थलों पर उल्लेख है। बहुत से शब्दों की बड़ी विचित्र व्युत्पत्तियाँ दी हुई हैं जिससे ध्वनित होता है कि नई व्युत्पत्तियाँ गढ़ी जा रही थीं। कासव (काश्यप गोत्र) की व्युत्पत्ति—काशं—उच्छुं तस्य विकार कास्यः रसः स यस्य पानं काश्यपः—उसभसामी तस्स जोगा जे जाता ते कासवा वद्धमाणो सामी कासवो।

---

१. मुनि पुण्यविजयजी के अनुसार ज्योतिष्करंड का ही दूसरा नाम कालण्णाण है।

२. सन् १९२३ में रतलाम से प्रकाशित।

माता, पिता आदि शब्दों की व्युत्पत्तियाँ देखिये—

मातयति मन्यते वाऽसौ माता, मिमीते मिनोति वा पुत्र-धर्मानिति माता। पाति बिभर्ति वा पुत्रमिति पिता। स्नेहाधिक-त्वान् माता पूर्वं, स्नेहेति श्रवन्ति वा तामिति स्नुषा। बिभर्ति भयते वासौ भार्या। पुनातीति पुत्रः। गच्छतीति गौः। अश्नुते अश्नाति वा अध्वानमित्यश्वः। मन्यते मन्यते वा तमलंकारमिति मणिः। पश्यतीति पशुः।

प्राकृत के साथ संस्कृत का भी सम्मिश्रण हुआ है—

एगो पसुवालो प्रतिदिनं-प्रतिदिनं मध्याह्नगते रवौ अजासु महान्यग्रोधतरुसमाश्रितासु तत्थुत्ताणओ निवन्नो वे णुविदलेण अजोद्गीर्णकोलास्थिभिः तस्य वटस्य छिद्रीकुर्वन् तिष्ठति। एवं स वटपादपः प्रायसः छिद्रपत्रीकृतः। अण्णदा य तत्थेगो राइयपुत्तो दाइयधाडितो तं छायं समस्सितो। पेच्छते य तस्स वडपा-दवस्स सव्वाणि पत्ताणि छिदिताणि। तेण सो पसुपालतो पुच्छितो—केणेताणि पत्ताणि छिद्दीकताणि? तेण भण्णति—मया एतानि क्रीड़ापूर्वं छिद्रितानि, तेण सो बहुणा दव्वजातेण विलो-भेउं भण्णति—सक्केसि जस्स अहं भणामि तस्स अच्छीणि छिद्देउं? तेण भण्णति—वुड्ढब्भासत्थो होउ तो सक्केमि। तेण णगरं णीतो। रायमग्गसंनिकिट्ठे घरे ठवितो। तस्स य रायपु-त्तस्स राया स तेण मग्गेण अस्सवाहणियाए णिज्जति। तेण भण्णति—एयस्स अच्छीणि फोडेहि। तेण गोलियधणुएण तस्सऽ-भिगच्छमाणस्स दोवि अच्छीणि फोडिताणि। पच्छा सो रायपुत्तो (राया) जातो।

—प्रतिदिन मध्याह्न के समय, जब बकरियाँ एक महान् वट के वृक्ष के पत्ते खाने लगतीं, तो बांस की लकड़ी हाथ में लेकर ऊपर मुँह किये बैठा हुआ कोई ग्वाला बकरियों द्वारा उगली हुई बेरों की गुठलियों से उस वृक्ष के पत्तों में छेद करता रहता। इस तरह गुठलियाँ मार-मार कर उसने सारे वृक्ष के पत्तों को छलनी कर दिया। एक दिन राजा द्वारा निष्कासित कोई राज-

पुत्र वहाँ आया और वृक्ष की छाया में बैठ गया। वृक्ष के पत्तों को छिदे हुए देखकर उसने पूछा कि इन पत्तों में किसने छेद किये हैं? ग्वाले ने उत्तर दिया—"मैंने।" राजपुत्र ने उसे बहुत से धन का लोभ दिलाकर पूछा—"क्या तुम जिसकी मैं कहूँ उसकी आँखें फोड़ सकते हो?" ग्वाले ने उत्तर दिया कि अभ्यास से सब सम्भव है। तत्पश्चात् राजपुत्र ने उसे राजमार्ग के पास एक घर में बैठा दिया। राजा उस मार्ग से रोज अश्वक्रीड़ा के लिये जाता था। ग्वाले ने कमान में गोलियाँ लगाकर राजा की आँखों का निशाना लगाया जिससे उसकी आँखें फूट गईं। राजपुत्र को राजा का पद मिल गया।

आवश्यकचूर्णी

आवश्यकचूर्णी के कर्त्ता जिनदासगणि महत्तर माने जाते हैं।[1] सूत्रकृतांग आदि चूर्णियों की भाँति इस चूर्णी में केवल शब्दार्थ का ही प्रतिपादन नहीं है, बल्कि भाषा और विषय की दृष्टि से निशीथचूर्णी की तरह यह एक स्वतन्त्र रचना मालूम होती है। यहाँ ऋषभदेव के जन्ममहोत्सव से लेकर उनकी निर्वाण-प्राप्ति तक की घटनाओं का विस्तार से वर्णन है। जैन परम्परा के अनुसार उन्होंने ही सर्वप्रथम अग्नि का उत्पादन करना सिखाया और शिल्पों (कुंभकार, चित्रकार, वस्त्रकार, कर्मकार और काश्यप ये पाँच मुख्य शिल्पी बताये गये हैं) की शिक्षा दी। उन्होंने अपनी कन्या ब्राह्मी को दाहिने हाथ से लिखना और सुंदरी को बायें हाथ से गणित करना सिखाया, भरत को चित्रविद्या की शिक्षा दी तथा दण्डनीति प्रचलित की। कौटिल्य अर्थशास्त्र की उत्पत्ति भी इसी समय से बताई गई है। ऋषभ के निर्वाण के पश्चात् अष्टापद (कैलाश) पर्वत पर स्तूपों का

१. रतलाम से सन् १९२८ में दो भागों में प्रकाशित। प्रोफेसर अर्नेस्ट लॉयमन ने आवश्यकचूर्णी का समय ईसवी सन् ६००–६५० स्वीकार किया है।

निर्माण हुआ। भरत की दिग्विजय और उनके राज्याभिषेक का यहाँ विस्तार से वर्णन है। उन्होंने आर्यवेदों की रचना की जिनमें तीर्थंकरों की स्तुति, यति-श्रावक धर्म और शांतिकर्म आदि का उपदेश था (सुलसा और याज्ञवल्क्य आदि द्वारा रचित वेदों को यहाँ अनार्य कहा है)। ब्राह्मणों (माहण) की उत्पत्ति बताई गई है।

ऋषभदेव की भांति महावीर के जन्म, विवाह, दीक्षा और उपसर्गों का तथा दीक्षा के पश्चात् महावीर के देश-देशान्तर में विहार का यहाँ ब्योरेवार विस्तृत वर्णन है[1], जो अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। महावीर के भ्रमणकाल में उनकी अनेक पार्श्वापत्यों से भेंट हुई। पार्श्वापत्य अष्टांगमहानिमित्त के पंडित होते थे। मुनिचन्द्र नामक पार्श्वापत्य सारंभ और सापरिग्रह थे; वे किसी कुम्हार की दूकान पर रहा करते थे। नंदिषेण स्थविर पार्श्वनाथ के दूसरे अनुयायी थे। पार्श्वनाथ की शिष्याओं का उल्लेख भी यहाँ मिलता है। चित्रफलक दिखाकर अपनी आजीविका चलानेवाला मंखलिपुत्र गोशाल नालंदा में आकर महावीर से मिला। उसके बाद दोनों साथ-साथ विहार करने लगे। लाढ़ देश में स्थित वज्जभूमि और सुब्भभूमि में उन्होंने बहुत उपसर्ग सहे। वासुदेव-आयतन, बलदेव प्रतिमा, स्कंदप्रतिभा, मल्लि की प्रतिमा तथा ढोंढ सिवा आदि का उल्लेख यहाँ किया गया है। वैशाली से गंडक पार कर महावीर वाणियग्राम गये थे।

आगे चलकर वज्रस्वामी का वृत्तांत, दशपुर की उत्पत्ति, आर्यरक्षित, गोष्ठामहिल, जमालि, तिष्यगुप्त, आषाढ़ाचार्य, कौंडिन्य, त्रैराशिक और बोटिक आदि के कथा-वृत्तांत का वर्णन है। वज्रस्वामी बाल्यावस्था में ही मुनिधर्म में दीक्षित हो गये थे। वे एक बड़े समर्थ और शक्तिशाली आचार्य थे। पाटलिपुत्र से उन्होंने उत्तरापथ में विहार किया और वहाँ दुर्भिक्ष होने के कारण वहाँ से पुरिम नगरी चले गये। आकाशगता विद्या

---

१. देखिये, जगदीशचन्द्र जैन; भारत के प्राचीन जैन तीर्थ।

में वे पारंगत थे। एक बार जब वे दक्षिणापथ में विचरण कर रहे थे, तो वहाँ दुर्भिक्ष पड़ा और अपनी विद्या के बल से पिंड लाकर वे भिक्षुओं को खिलाने लगे। आर्यरक्षित को उन्होंने दृष्टिवाद का अध्ययन कराया। उनके एक शिष्य का नाम वज्रसेन था जो विहार करते हुए सोपारय नगर (सोपारा, जिला ठाणा; बम्बई) में आये। आर्यरक्षित ने मथुरा में विहार किया था। दशार्णभद्र नगर का वर्णन यहाँ किया गया है।

तत्पश्चात् चेलना का हरण, कूणिक की उत्पत्ति, सेचनक हाथी की उत्पत्ति, और कूणिक का युद्ध, महेश्वर की उत्पत्ति आदि प्रसंगों का वर्णन है। वैशाली को पराजित करने के लिए कूणिक को मागधिया नाम की गणिका की सहायता लेनी पड़ी। चेटक पुष्करिणी में प्रवेश करके बैठ गया। उसने कूणिक से कहा, जब तक मैं पुष्करिणी से न निकलूं, नगरी का ध्वंस न करना। बाद में महेश्वर ने वैशालीवासियों को नेपाल ले जाकर उनकी रक्षा की। यहाँ श्रेणिक के पुत्र अभयकुमार की बुद्धिमत्ता की अनेक कथायें वर्णित हैं जो पालि साहित्य के महोसध पंडित की कथाओं से मिलती हैं, और आगे चल कर मुगलकाल में इन्हीं कथाओं में से अनेक कथायें बीरबल के नाम से प्रचलित हुईं। कूणिक के पुत्र उदायी ने पाटलिपुत्र बसाया।[1] उसके कोई पुत्र नहीं था, इसलिए उसका राज्य एक नापितदास को मिला। वह नन्द नाम का राजा कहलाया। शकटाल और वररुचि का वृत्तांत तथा स्थूलभद्र की दीक्षा आदि का यहाँ विस्तार से वर्णन किया गया है।

संयत की परिष्ठापना-विधि का विस्तार से प्रतिपादन है। इस सम्बन्ध की गाथायें बृहत्कल्पभाष्य और शिवकोटि आचार्य की भगवतीआराधना की गाथाओं से मिलती-जुलती हैं। लाट

---

१. पाटलिपुत्र की उत्पत्ति के लिए देखिए पेञ्जर द्वारा संपादित सोमदेव का कथासरित्सागर, जिल्द १, अध्याय ३, पृष्ठ १८ इत्यादि; महावग्ग पृष्ठ २२६–३०; उदान की अट्ठकथा, पृष्ठ ४०७ इत्यादि।

देश में मामा की लड़की से, गोल्ल देश में भगिनी से तथा विप्र लोगों में विमाता (माता की सौत) से विवाह करने का रिवाज प्रचलित था।

आवश्यकचूर्णी की कुछ लौकिक कथायें यहाँ दी जाती हैं—

(१) किसी ब्राह्मणी के तीन कन्यायें थीं। वह सोचा करती कि विवाह करके ये कैसे सुखी बनेंगी। अपनी कन्याओं को उसने सिखा दिया कि विवाह के पश्चात् प्रथम दर्शन में तुम पादप्रहार से पति का स्वागत करना। पहले सबसे जेठी कन्या ने अपनी माँ के आदेश का पालन किया। लात खाकर उसका पति अपनी प्रिया का पैर दबाते हुए कहने लगा—"प्रिये! कहीं तुम्हारे पैर में चोट तो नहीं लग गई"। उसने अपनी माँ से यह बात कही। माता ने कहा—"जा, तू अपनी इच्छापूर्वक जीवन व्यतीत कर, तेरा पति तेरा कुछ नहीं कर सकता।" मंझली लड़की ने भी ऐसा ही किया। उसके पति ने लात खाकर पहले तो अपनी पत्नी को भला-बुरा कहा, लेकिन वह शीघ्र ही शांत हो गया। लड़की की माँ ने कहा कि बेटी! तुम भी आराम से रहोगी। अब तीसरी लड़की की बारी आई। उसके पति ने लात खाकर उसे पीटना शुरू कर दिया और कहा कि क्या तुम नीच कुल में पैदा हुई हो जो अपने पति पर प्रहार करती हो। यह कहकर पति को शांत किया गया कि अपने कुलधर्म के अनुसार ही लड़की ने ऐसा किया है, इसलिए इसमें बुरा मानने की बात नहीं। यह सुनकर लड़की की माता ने कहा कि तुम देवता के समान अपने पति की पूजा करना और उसका साथ कभी मत छोड़ना।

(२) एक बार एक पर्वत और महामेघ में झगड़ा हो गया। मेघ ने पर्वत से कहा—"मैं तुझे केवल एक धार में बहा सकता हूँ।"

पर्वत—यदि तू मुझे तिलभर भी हिला दे तो मेरा नाम पर्वत नहीं।

यह सुनकर मेघ को बहुत क्रोध आया। वह सात रात तक मूसलाधार पानी बरसाता रहा। उसके बाद उसने सोचा कि अब तो पर्वत के होश जरूर ठिकाने आ गये होंगे। लेकिन उधर पहाड़ उज्ज्वल होकर और चमक उठा। यह देखकर महामेघ लज्जित होकर वहाँ से चला गया।

(३) किसी नगर में कोई वणिक् रहता था। उसने एक बार शर्त लगाई कि जो माघ महीने की रात में पानी के अन्दर बैठा रहे उसे मैं एक हजार दीनारें दूंगा। एक दरिद्र बनिया इसके लिये तैयार हो गया और वह रात भर पानी में बैठा रहा। वणिक् ने पूछा—"तुम रात भर इतनी ठंढ में कैसे बैठे रहे, मरे नहीं ?" उसने उत्तर दिया—"नगर में एक दीपक जल रहा था, उसे देखते हुए मैं पानी में बैठा रहा।" वणिक् ने कहा—"यदि ऐसी बात है तो हजार दीनारें मैं न दूंगा, क्योंकि तुम दीपक के प्रभाव से पानी में बैठे रहे।" बनिया निराश होकर अपने घर चला आया। उसने घर पहुँच कर सब हाल अपनी लड़की को सुनाया। लड़की ने कहा—"पिता जी ! आप चिन्ता न करें। आप उस वणिक् को उसकी जाति-बिरादरी के लोगों के साथ भोजन के लिये निमन्त्रित करें। भोजन के समय पानी के लोटे को ज़रा दूर रख कर छोड़ दें, और भोजन करने के पश्चात् जब वह पानी मांगे तो उससे कहें कि देखो यह रहा पानी, इसे देखकर अपनी प्यास बुझा लो। बनिये ने ऐसा ही किया। इस पर वणिक् बहुत झेंपा और उसे एक हजार दीनारें देनी पड़ीं।

(४) किसी सिद्धपुत्र के दो शिष्य थे। एक बार वे नदी के तट पर गये। वहाँ उन्हें एक बुढ़िया मिली। वह पानी का घड़ा लिये जा रही थी। बुढ़िया का लड़का परदेश गया हुआ था। उसने इन लोगों को पण्डित समझ कर अपने लड़के के वापिस लौटने के बारे में प्रश्न किया। इतने में बुढ़िया का

घड़ा नीचे गिर कर फूट गया। यह देखकर उनमें से एक ने निम्नलिखित गाथा पढ़ी—

> तज्जातेण य तज्जातं, तण्णिभेण य तण्णिभं।
> तारूवेण य तारूवं सरिसं सरिसेण णिद्दिसे॥

—जो जिससे उत्पन्न हुआ था, उसी में मिल गया, वह जिसके समान था उसी के समान हो गया और वह जिसके रूप का था उसी के रूप में पहुँच गया; सदृश सदृश के साथ मिल गया।

गाथा पढ़कर उसने उत्तर दिया—मां, तुम्हारा पुत्र मर गया है।

दूसरे शिष्य ने कहा—नहीं मां, तुम्हारा पुत्र वापिस आ गया है।

बुढ़िया ने घर आकर देखा तो सचमुच उसका पुत्र घर आया हुआ था। वह झट से एक जोड़ा और रुपये लेकर आई और सगुन विचारनेवाले शिष्य को उसने भेंट दी।

दोनों शिष्य जब लौटकर आये तो पहले ने गुरु जी से कहा—गुरु जी, आप मुझे ठीक नहीं पढ़ाते। गुरु के पूछने पर उसने सारी बात कह सुनाई। गुरु ने दूसरे शिष्य से प्रश्न किया कि तुम्हें कैसे मालूम हो गया कि बुढ़िया का लड़का घर आ गया है। शिष्य ने उत्तर दिया—"गुरुजी! फूटते हुए घड़े को देखकर मैंने सोचा कि जैसे मिट्टी का घड़ा फूटकर मिट्टी में मिल गया है, वैसे ही बुढ़िया का अपने पुत्र के साथ मिलाप होना चाहिये।"

यहाँ महावीर के केवलज्ञान होने के १३ वर्ष पश्चात् श्रावस्ती में भयङ्कर बाढ़ आने का उल्लेख मिलता है।[1] भास के प्रतिज्ञा-

---

१. पृ० ६०१; आवश्यक-हरिभद्रटीका, पृ० ४६५, यहाँ आवश्यकचूर्णी की 'वरिस देव' आदि गाथा को मिलाइये मच्छजातक (७५) की निम्न गाथा के साथ—

यौगंधरायण के एक श्लोक (३.६) का उद्धरण भी यहाँ दिया गया है।[1]

दशवैकालिकचूर्णी

दशवैकालिकचूर्णी के कर्त्ता जिनदासगणि महत्तर माने जाते हैं।[2] लेकिन अभी हाल में वज्रस्वामी की शाखा में होनेवाले स्थविर अगस्त्यसिंह-विरचित दशवैकालिकचूर्णी का पता लगा है जो जैसलमेर के भंडार में मिली है। अगस्त्यसिंह का समय विक्रम की तीसरी शताब्दी माना गया है, और सबसे महत्त्व की बात यह है कि यह चूर्णी वल्लभी वाचना के लगभग २००–३०० वर्ष पूर्व लिखी जा चुकी थी।[3] दशवैकालिक पर जिनदासगणि-विरचित कही जानेवाली चूर्णी को हरिभद्रसूरि ने वृद्धविवरण कहकर उल्लिखित किया है। अन्य भी किसी प्राचीन वृत्ति का उल्लेख यहाँ मिलता है। दशवैकालिक की कितनी ही गाथायें मूलसूत्र की गाथायें न मानी जाकर इस प्राचीन वृत्ति की गाथायें मानी जाती रही हैं, इस बात का उल्लेख चूर्णीकार अगस्त्यसिंह ने जगह-जगह किया है।[4]

अभित्थनय पज्जुन्न ! विधिं काकस्स नासय ।
काकं सोकाय रन्धेहि मञ्च सोका पमोचय ॥

दोनों में एक ही परम्परा सुरक्षित है।

१. यहाँ महावीर की विहार-चर्या में जो कंवल-शवल का उल्लेख है उसकी तुलना ब्राह्मणों की हरिवंशपुराण के कंवल और अश्वतर नागों के साथ की जा सकती है।

२. रतलाम से सन् १९३३ में प्रकाशित।

३. देखिये मुनि पुण्यविजयजी द्वारा बृहत्कल्पसूत्र, भाग ६ का आमुख।

४. यह चूर्णी मुनि पुण्यविजयजी प्रकाशित कर रहे हैं। इसके कुछ मुद्रित फर्मे उनकी कृपा से मुझे देखने को मिले।

जिनदासगणि की प्रस्तुत चूर्णी में आवश्यकचूर्णी का उल्लेख मिलता है इससे पता लगता है कि आवश्यकचूर्णी के पश्चात् इसकी रचना हुई। यहाँ भी शब्दों की बड़ी विचित्र व्युत्पत्तियां दी गई हैं। द्रुम आदि शब्दों की व्युत्पत्ति देखिये—

दुमा नाम भूमीय आगासे य दोसु माया दुमा। पादेहिं पिबंतीति पादपाः, पाएसु वा पालीज्जंतीति पादपा, पादा मूलं भण्णति। रु त्ति पुहवी ख त्ति आगासं तेसु दोसु वि जहा ठिया तेण रुक्खा, अहवा रुः पुढवी तं खायंतीति रुक्खा।

प्रवचन का उड्डाह होने पर किस प्रकार प्रवचन की रक्षा करे, इसे समझाने के लिये हिंगुसिव नामक वानमन्तर की कथा दी है—

एगम्मि नगरे एगो मालागारो सण्णाइओ पुप्फे घेत्तूण वीहीए एइ। सो अतीव वच्चइओ। ताहे सो सिग्घं वोसिरिऊण सा पुप्फचितिया तस्सेव उवरि पल्लत्थिया। ताहे लोगो पुच्छइ—किमेयं जेणेत्थं पुप्फाणि छड्डेसि? ताहे सो भणइ—अहं ओलोडिओ। एत्थं हिंगुसिवो णाम।

—किसी नगर में कोई माली पुष्प तोड़ कर रास्ते में जा रहा था। इतने में उसे टट्टी की हाजत हुई। उसने जल्दी-जल्दी टट्टी फिर कर उसे पुष्पों से ढक दिया। लोगों ने पूछा—यहाँ ये पुष्प क्यों डाल रक्खे हैं? माली ने उत्तर दिया—मुझे प्रेतबाधा हो गई है, यह हिंगुसिव नामका व्यन्तर है।

इसी प्रकार यदि कभी प्रमादवश प्रवचन की हँसी हो जाय तो उसकी रक्षा करे।

एक तच्चन्निक (बौद्ध) साधु का चित्रण देखिये—

तच्चण्णियो मच्छे मारेंतो रण्णा दिट्ठो। ताहे रण्णा भणिओ—किं मच्छे मारेसि? तच्चण्णिओ भणइ—अवीलक्कं[1] न सिक्केमि पातुं।

---

१. विलंक = व्यञ्जन।

"अरे, तुमं मज्जं पियसि ?"
भणइ—महिलाए अत्थिओ न लहामि ठाउं।
"महिलावि ते ?"
भणइ—जायपुत्तभंडं कहं छड्डेमि ?
"पुत्तावि ते ?"
भणइ—किं खु खत्ताइं खणामि ?"
"खत्तखाणओवि ते ?"
"अण्णं किं खोडिपुत्ताणं कम्मं ?"
"खोडिपुत्ताऽवि ते ?"
"किहइं कुलपुत्तओ बुद्धसासणे पव्वयइ[1] ?"

—किसी राजा ने एक तच्चन्निक (तत्क्षणिकवादी बौद्ध साधु) को मछली मारते हुए देखा। उसने प्रश्न किया—

"क्या तुम मछली मारते हो ?"
"बिना उसके पी नहीं सकता।"
"अरे ! क्या तुम मद्यपान भी करते हो ?"
"क्या करूं, अपनी महिला के कहने पर करना पड़ता है।"

---

१. तुलना कीजिये—

कन्थाऽचार्यघना ते ? ननु शफरवधे जालमश्नासि मत्स्यान् ?
ते मे मद्योपदंशान् पिबसि ? ननु युतो वेश्यया, यासि वेश्याम् ?
कृत्वाऽरीणं गलेऽङ्घ्रिं, क्व नु तव रिपवो ? येषु संधिं छिनद्मि।
चौरस्त्वं ? द्यूतहेतोः कितव इति कथं ? येन दासीसुतोऽस्मि॥

दशवैकालिक, हरिभद्रवृत्ति, पृ० १०८।

तथा—

भिक्षो ! मांसनिषेवणं प्रकुरुषे ? किं तेन मद्यं विना
किं ते मद्यमपि प्रियं ? प्रियमहो वारांगनाभिः सह।
वेश्या द्रव्यरुचिः कुतस्तव धनम् ? द्यूतेन चौर्येण वा
चौर्यद्यूतपरिग्रहोऽपि भवतो ? नष्टस्य काऽन्या गतिः॥

—धनंजय, दशरूपक, ४, पृ० २७८, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।

"क्या तुम महिला भी रखते हो ?"

"अपने पुत्रों को कैसे अकेला छोड़ दूँ।"

"तो तुम्हारे पुत्र भी हैं ?"

"मैं तो सेंध भी लगाता हूँ।"

"अरे, सेंध भी लगाते हो ?"

"दासीपुत्र फिर क्या करेंगे ?"

"अरे तुम दासीपुत्र हो ?"

"नहीं तो कुलपुत्र बुद्ध-शासन में कहाँ से प्रव्रज्या ग्रहण करने चले ?"

एक लौकिक कथा पढ़िये—

एगो मणूसो तउसाणं भरिएण सगडेण नगरं पविसइ। सो पविसंतो धुत्तेण भण्णइ—जो य तउसाणं सगडं खाएज्जा तस्स तुमं किं देसि ? ताहे सागडिएण सो धुत्तो भणिओ—तस्साहं तं मोदगं देमि जो नगरद्दारेणं न निप्फिडइ। धुत्तेण भण्णइ-ताहे एयं तउससगडं खायामि। तुमं पुण मोदगं देज्जासि जो नगरदारेण न निस्सरइ। पच्छा सागडिएण अब्भुवगए धुत्तेण सक्खिणो कया। सगडं अधिट्ठितो, तेसिं तउसाणं एक्केक्काउ खंडं खंडं अवणेत्ता पच्छा तं सागडियं मोदगं मग्गइ। ताहे सागडिओ भणइ—इमे तउसा न खइता तुमे। धुत्तेण भणइ—जइ न खइया तउसे अग्घवेहि तुमं। अग्घविएसु कइया आगया। पासन्ति खंडिया तउसा। ताहे कइया भणंति—को एते खतिए किणत्ति ? ततो कारणे ववहारे जाओ। खत्तिय त्ति जितो सागडितो। ताहे धुत्तेण मोदगं मग्गिज्जइ। अद्धइओ सागडिओ। जुत्तिकए ओलग्गिता। ते तुट्ठा पुच्छंति। तेसिं जहावत्तं सव्वं कहइ। एवं कहिए तेहिं उत्तरं सिक्खाविओ जहा तुमं खड्डुलगं मोयगं नगरदारे ठावेत्ता भण—एस मोदगो न नीति णगरदारेण गिण्हति। जितो धुत्तो।

—एक आदमी ककड़ियों से अपनी गाड़ी भर कर उन्हें किसी नगर में बेचने के लिए चला। किसी धूर्त ने उसे देख

लिया। उसने कहा—यदि मैं तुम्हारी ये गाड़ीभर ककड़ियाँ खा लूं तो क्या दोगे? ककड़ीवाले ने उत्तर दिया—मैं एक इतना बड़ा लड्डू दूंगा जो इस नगर के द्वार से न निकल सके। धूर्त्त ने कहा—बहुत अच्छी बात है, मैं इन सब ककड़ियों को अभी खा लेता हूँ। इसके बाद धूर्त्त ने कुछ गवाह बुला लिये। धूर्त्त ने ककड़ियों को थोड़ी-थोड़ी सी चखकर वहीं वापिस रख दी, और वह लड्डू मांगने लगा। ककड़ीवाले ने कहा—तुमने ककड़ियाँ खाई ही कहाँ हैं जो तुम्हें लड्डू दूं। धूर्त्त ने जबाब दिया कि ऐसी बात है तो तुम इन्हें बेचकर देखो। इतने में बहुत से ककड़ी खरीदनेवाले आ गये। कुतरी हुई ककड़ियाँ देखकर वे कहने लगे—ये तो खाई हुई ककड़ियाँ हैं, इन्हें क्यों बेचते हो? इसके बाद दोनों न्यायालय में फैसले के लिए गये। धूर्त्त जीत गया। उसने लड्डू मांगा। ककड़ीवाले ने उसको बहुत मनाया, लेकिन वह न माना। धूर्त्त ने जानकार लोगों से पूछा कि क्या करना चाहिए। उन्होंने ककड़ीवाले से कहा कि तुम एक छोटे से लड्डू को नगर के द्वार पर रख कर कहो कि यह लड्डू कहने से भी नहीं चलता है, फिर तुम इस लड्डू को धूर्त्त को दे देना।

सुबंधु के आख्यान में यहाँ चाणक्य के इंगिनिमरण का वर्णन है। विद्या-मंत्रसंबंधी जोणीपाहुड नामक ग्रन्थ का उल्लेख है।

नन्दीचूर्णी

नन्दीचूर्णी में माथुरी वाचना का उल्लेख आता है। बारह वर्ष का अकाल पड़ने पर आहार आदि न मिलने के कारण जैन भिक्षु मथुरा छोड़ कर अन्यत्र विहार करने गये थे। सुभिक्ष होने पर समस्त साधु-समुदाय आचार्य स्कंदिल के नेतृत्व में मथुरा में एकत्रित हुआ और जो जिसे स्मरण था उसे कालिकश्रुत के रूप में संघटित कर दिया गया। कुछ लोगों का कथन है

कि दुर्भिक्ष के समय श्रुत नष्ट नहीं हुआ था, मुख्य-मुख्य अनुयोग-धारी आचार्य मृत्यु को प्राप्त हो गए थे, अतएव स्कंदिल आचार्य ने मथुरा में आकर साधुओं को अनुयोग की शिक्षा दी।

अनुयोगद्वारचूर्णी

यहाँ तलवर, कौटुंबिक, इभ्य, श्रेष्ठी, सेनापति, सार्थवाह, वापी, पुष्करिणी, सारणी, गुंजालिया, आराम, उद्यान, कानन, वन, गोपुर, सभा, प्रपा, रथ, यान, शिबिका आदि के अर्थ समझाये हैं। यहाँ संगीत संबंधी तीन पद्य प्राकृत में उद्धृत हैं जिससे पता लगता है कि संगीतशास्त्र पर भी कोई ग्रंथ प्राकृत में रहा होगा।



टीका-साहित्य

टीका-ग्रंथों में आवश्यक पर हरिभद्रसूरि और मलयगिरि की, उत्तराध्ययन पर शांतिचन्द्रसूरि और नेमिचन्द्रसूरि की तथा दशवैकालिक सूत्र पर हरिभद्र की टीकायें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। आवश्यकटीका में[1] से कुछ लौकिक लघु कथायें यहाँ दी जाती हैं—

(१) कोई बन्दर किसी वृक्ष पर रहता था वर्षाकाल में ठंढी हवा से वह काँप रहा था। उसे कांपते देख सुंदर घोंसलेवाली एक चिड़िया (बया) ने कहा—

> वानर ! पुरिसो सि तुमं निरत्थयं वहसि बाहुदंडाइं।
> जो पायवस्स सिहरे न करेसि कुडिं पडालिं वा ॥

—हे बन्दर ! तुम पुरुष होकर भी व्यर्थ ही अपनी भुजाओं को धारण करते हो तुम क्यों वृक्ष के ऊपर कोई कुटिया या चटाई आदि की टट्टी नहीं बना लेते ?

यह सुनकर बन्दर चुप रहा,लेकिन बया ने वही बात दो-तीन बार दुहराई। इस पर बन्दर को बड़ा गुस्सा आया और जहाँ वह बया रहती थी, उस वृक्ष पर चढ़ गया। बया वहाँ से उड़ गई

---

१. 'आवश्यक कथाएँ' नामक ग्रन्थ का पहला भाग एर्नेस्ट लॉयमान ने सन् १८९७ में लाइप्त्सिख से प्रकाशित कराया था। इसके बाद हरमन जैकोबी ने औसगेवैल्ते एर्त्सेलुंगन इन महाराष्ट्री-त्सुर आइन-फ्युरुंग इन डास स्टूडिउम डेस प्राकृत ग्रामाटिक टैक्स्ट वोएरतरबुख (महाराष्ट्री से चुनी हुई कहानियाँ-प्राकृत के अध्ययन में प्रवेश कराने के लिए) सन् १८८६ में प्रकाशित कराया। इसमें जैन आगमों की उत्तरकालीन कथाओं का समावेश है। जैनागमों और टीकाओं से चुनी हुई कथाओं के लिए देखिए जगदीशचन्द्र जैन, दो हजार बरस पुरानी कहानियाँ।

और बन्दर ने उसके घोंसले के तिनके कर-कर के हवा में उड़ा दिये। फिर वह कहने लगा—

नवि सि ममं मयहरिया, नवि सि ममं सोहिया व णिद्धावा।
सुघरे! अच्छसु विघरा जा वट्टसि लोगतत्तीसु॥

—तू न तो मेरी बड़ी है, न मुझे अच्छी लगती है और न मैं तुझसे स्नेह ही करता हूँ। हे सुघरे! तू अब बिना घर के रह; दूसरों की तुझे बहुत चिन्ता है!

(२) किसी सीमाप्रान्त के ग्राम में कुछ आभीर लोग रहते थे। साधुओं के पास जाकर वे धर्म श्रवण किया करते थे। अपने उपदेश में साधुओं ने देवलोक का वर्णन किया। एक बार की बात है, इन्द्रमह के उत्सव पर वे लोग द्वारका गये। वहाँ उन्होंने लोगों को वस्त्र और सुगंधित पदार्थों आदि से सुसज्जित देखा। उन्होंने सोचा कि साधुओं के द्वारा वर्णित देवलोक यही है; अब यहाँ से वापिस जाना ठीक नहीं। कुछ समय बाद साधुओं के पास जाकर उन्होंने निवेदन किया—महाराज! जिस देवलोक का वर्णन आपने किया था उसका हमने साक्षात् दर्शन कर लिया है।

(३) मथुरा में जितशत्रु राजा राज्य करता था। उसकी रानी धारिणी बड़ी श्रद्धालु थी। मथुरा में भंडीरवन[1] की यात्रा के लिए लोग जा रहे थे। राजा और रानी भी बड़ी सजधज के साथ यात्रा के लिए चले। इस समय किसी इभ्यपुत्र को यवनिका के बाहर निकला हुआ और महावर से रंगा यान में बैठी हुई रानी का सुन्दर पैर दिखाई दिया। उसने सोचा कि जब इसका पैर इतना सुंदर है तो फिर वह कितनी सुंदर होगी! घर पहुँच कर उसने रानी का पता लगाया। इभ्यपुत्र उसके घर के पास एक दूकान लेकर रहने लगा। उसकी दासियाँ जब कुछ खरीदने आतीं तो वह उन्हें दुगुनी चीज़ देता; उनका आदर-सत्कार भी

---

१. वृन्दावन का प्रसिद्ध न्यग्रोध वृक्ष भंडीर कहा जाता था (महाभारत ११-५३-८)।

बहुत करता। दासियों ने यह बात रानी से जाकर कही। रानी उसी की दुकान से सामान मंगवाने लगी। एक दिन इभ्यपुत्र ने दासियों के सामने कुछ पुड़िया में रखते हुए कहा—"ऐसा कौन है जो इन बहुमूल्य सुगंधित पदार्थों की पुड़ियाओं को खोल सके ?" दासियों ने उत्तर दिया—"हमारी रानी इन्हें खोल सकती है।" इभ्यपुत्र ने एक पुड़िया में भोजपत्र पर निम्नलिखित श्लोक लिख दिया—

काले प्रसुप्तस्य जनार्दनस्य, मेघांधकारासु च शर्वरीषु।
मिथ्या न भाषामि विशालनेत्रे ! ते प्रत्यया ये प्रथमाक्षरेषु ॥

—कामेमि ते (प्रत्येक चरण के प्रथम अक्षर मिलाकर) अर्थात् मैं तुझे चाहता हूँ। दासियाँ पुड़ियाओं को रानी के पास ले गईं। रानी ने श्लोक पढ़ कर विषयभोगों को धिक्कारा। प्रत्युत्तर में उसने लिखा—

नेह लोके सुखं किंचिच्छादितस्यांहसा भृशम्।
मितं च जीवितं नृणां तेन धर्मे मतिं कुरु ॥

—नेच्छामि ते (प्रत्येक चरण का प्रथम अक्षर मिला कर) अर्थात् मैं तुझे नहीं चाहती।

(४) कोई वणिक् अपनी दो भार्याओं (यहाँ दूसरी कथा में दो भाइयों के एक ही भार्या होने का भी उल्लेख है, पृ० ४२०) के साथ किसी दूसरे राज्य में रहने के लिये चला गया। वहाँ जाकर उसकी मृत्यु हो गई। उसकी एक भार्या के पुत्र था लेकिन वह बहुत छोटा था। पुत्र को लेकर दोनों सौतों में झगड़ा होने लगा। जब कोई निर्णय न हो सका तो मन्त्री ने कहा, रुपये-पैसे की तरह लड़के को भी आधा-आधा करके दो भागों में बाँट दो। यह सुनकर लड़के की असली मां कहने लगी—मेरा पुत्र इसी के पास रहे, उसे मारने से क्या लाभ ? अन्त में वह पुत्र उसी को मिल गया।

(५) दो मित्रों को एक खज़ाना मिला। उन्होंने सोचा, कल किसी अच्छे नक्षत्र में आकर इसे ले आयेंगे। लेकिन उनमें से एक पहले ही वहाँ पहुँच कर खज़ाने को निकाल लाया और उसकी जगह उसने कोयले रख दिये। अगले दिन जब दोनों वहाँ आये तो देखा कोयले पड़े हुए हैं। यह देखकर धूर्त मित्र ने कहा—क्या किया जाये, हमलोग इतने अभागे हैं कि खज़ाने के कोयले हो गये! दूसरा मित्र ताड़ गया, लेकिन उसने उस समय कुछ नहीं कहा। उसने उस धूर्त्त की एक मूर्त्ति बनाई और कहीं से वह दो बन्दर पकड़ लाया। वह उस मूर्त्ति के ऊपर खाना रख देता और बन्दर खाने के लिये मूर्त्ति के ऊपर चढ़ जाते। एक दिन भोजन तैयार करा कर वह अपने मित्र के दो पुत्रों को किसी बहाने से घर ले आया। उसने उन दोनों को छिपा दिया, और मित्र के पूछने पर कह दिया कि वे बन्दर बन गये हैं। जब धूर्त के लड़के वापिस नहीं मिले तो वह स्वयं अपने मित्र के घर आया। उसके मित्र ने उसे एक दिवाल के पास बैठाकर उसके ऊपर बन्दर छोड़ दिये। किलकारी मारते हुए बन्दर उसके सिर पर चढ़कर कूदने-फांदने लगे। इन बन्दरों की ओर इशारा कर के धूर्त्त के मित्र ने कहा—ये ही तुम्हारे पुत्र हैं। धूर्त्त ने पूछा—लड़के बन्दर कैसे बन गये? उसने उत्तर दिया—जैसे खज़ाने का रुपया कोयला बन गया। यह सुनकर धूर्त्त ने खज़ाने का हिस्सा उसे दे दिया।

(६) किसी साधु के पास एक बहुत मूल्यवान कचोलक (एक पात्र) था। उसने कहा—जो कोई मुझे अनसुनी बात सुनायेगा, उसे मैं यह कचोलक दे दूंगा। यह सुनकर एक सिद्ध-पुत्र ने गाथा पढ़ी—

> तुज्झ पिया मज्झ पिउणो धारेइ अणूणयं सयसहस्सं।
> जइ सुयपुव्वं दिज्जउ अह ण सुयं खोरगं देहि॥

—तेरे पिता को मेरे पिता का शतसहस्र से अधिक (कर्ज़)

देना है। यदि तुमने यह बात पहले सुनी है तो शतशहस्र वापिस करो, अन्यथा अपना पात्र मुझे दो।

(७) किसी सिद्धपुत्र के दो शिष्य थे। उन्होंने निमित्तशास्त्र की शिक्षा प्राप्त की थी। एक बार वे घास-लकड़ी लेने के लिये जंगल में गये। वहाँ उन्होंने हाथी के पांव देखे। एक शिष्य ने कहा—ये तो हथिनी के पांव हैं ?

"तुमने कैसे जाना।"

"उसकी लघुशंका से। और वह हथिनी एक आँख से कानी है।"

"कैसे पता लगा ?"

"उसने एक तरफ की ही घास खायी है ?"

शिष्य ने लघुशंका देखकर यह भी पता लगा लिया कि उस हथिनी पर एक स्त्री और एक पुरुष बैठे हुए थे। उसने कहा—

"और वह स्त्री गर्भवती थी।"

"कैसे जाना ?"

"वह हाथों के बल उठी थी। और उसके पुत्र पैदा होगा।"

"कैसे पता लगा ?"

"उसका दाहिना पांव भारी था। और वह लाल रंग के वस्त्र पहने थी।"

"यह तुम्हें कैसे पता लगा ?"

"लाल धागे आस-पास के वृक्षों पर लगे हुए थे।"

(८) किसी नगर में कोई जुलाहा रहता था। उसकी शाला में कुछ धूर्त्त कपड़ा बुना करते थे। उनमें से एक धूर्त्त बड़े मधुर स्वर से गाया करता था। जुलाहे की लड़की उसका गाना सुनकर उस पर मोहित हो गई। धूर्त्त ने कहा, चलो कहीं भाग चलें, नहीं तो किसी को पता लग जायेगा। जुलाहे की लड़की ने कहा—"मेरी सखी एक राजकुमारी है। हम दोनों ने तय कर रक्खा है कि हम किसी एक ही पुरुष से शादी करेंगी। उसके

बिना मैं कैसे जा सकती हूँ।" धूर्त ने कहा—"तो उसे भी बुला लो। जुलाहे की लड़की ने अपनी सखी के पास खबर भिजवाई। वह भी आ गई। तीनों बहुत सबेरे उठकर भाग गये। इतने में किसी ने निम्न गाथा पढ़ी—

जइ फुल्ला कणियारया चूयय ! अहिमासयंमि पुट्ठंमि।
तुह न खमं फुल्लेउं जइ पच्चंता करिंति डमराइं॥

—हे आम्र ! यदि कणेर के वृक्ष फूल गये हैं तो वसंत के आगमन होने पर तू फूलने के योग्य नहीं है। यदि नीच लोग कोई अशोभन कार्य करें तो क्या तू भी वही करेगा ?

यह सुनकर राजकुमारी अपने मन में सोचने लगी—"आम के वृक्ष को वसंत उलाहना दे रही है कि सब वृक्षों में कुत्सित समझा जानेवाला कणेर भी यदि फूलता है, तो फिर तुम्हारे जैसे उत्तम वृक्ष के फूलने से क्या लाभ ? क्या वसंत की यह घोषणा मैंने नहीं सुनी? अरे ठीक तो है, यदि यह जुलाहे की लड़की ऐसा काम करती है तो क्या मुझे भी उसका अनुकरण करना चाहिए ?" यह सोचकर वह अपनी रत्नों की पिटारी लेने के बहाने राजमहल में लौट गई। उसके बाद किसी राजकुमार के साथ उसका विवाह हो गया और वह महारानी बन गई।

(६) किसी कन्या की एक साथ तीन स्थानों से मंगनी आ गई। किसी को भी मना नहीं किया जा सकता था, इसलिये माता-पिता ने तीनों की मंगनी स्वीकार कर ली। तीनों वर बारात लेकर चढ़ आये। संयोग से उस रात को साँप के काटने से कन्या मर गई। उसका एक वर उसके साथ चिता में जल गया। दूसरे ने अनशन करना आरंभ कर दिया। तीसरे ने किसी देव की आराधना कर संजीवन मन्त्र प्राप्त किया और कन्या को जीवित कर दिया। कन्या के जीवित हो जाने पर तीनों वर उपस्थित होकर कन्या को माँगने लगे। बताइये कन्या किसे दी जाये ? एक को, दो को अथवा तीनों को ?

उत्तर—जिसने कन्या को जिलाया वह उसका पिता है, जिसके साथ वह जीवित हुई वह उसका भाई है, इसलिए जिसने अनशन किया था कन्या उसे ही दी जानी चाहिए।

दशवैकालिकसूत्र की वृत्ति में भी हरिभद्र ने अनेक सरस लोककथायें, उदाहरण और दृष्टांत आदि उद्धृत किये हैं। अभयदेवसूरि ने स्थानांगसूत्र की टीका में देश-देश की स्त्रियों के स्वभाव का सुंदर चित्रण किया है। यहाँ पर उन्होंने चौलुक्य की कन्याओं के साहस की और लाट देश की स्त्रियों की रमणीयता की प्रशंसा की है, तथा उत्तरदेश की नारियों को धिक्कारा है—

> अहो चौलुक्यपुत्रीणां साहसं जगतोऽधिकम्।
> पत्युर्मृत्यौ विशन्त्यग्नौ या प्रेमरहिता अपि॥
> चन्द्रवक्त्रा सरोजाक्षी सद्गीः पीनघनस्तनी।
> किं लाटी नो मता साऽस्य देवानामपि दुर्लभा॥
> धिङ्नारीरौदीच्या बहुवसनाच्छादितांगलतिकत्वात्।
> यद्यौवनं न यूनां चक्षुर्मोदाय भवति सदा॥

शीलांक ने सूत्रकृतांग की टीका में अपभ्रंश की निम्न गाथा उद्धृत की है—

> वरि विस खइयं न विसयसुहु, इक्कसि विसिण मरंति।
> विसयामिस पुण घारिया, णर णरएहि पडंति॥

—विष खाकर मरना अच्छा है, विषय-सुख का सेवन करना अच्छा नहीं। पहले प्रकार के लोग विष खाकर मर जाते हैं, लेकिन दूसरे प्रकार के विषयासक्ति से पीड़ित हो मर कर नरक में दुख भोगते हैं।

गच्छाचार की वृत्ति में भद्रबाहु और वराहमिहिर नाम के दो सगे भाइयों के वृत्तांत का विस्तार से कथन है। वराहमिहिर चन्द्रप्रज्ञप्ति और सूर्यप्रज्ञप्ति के ज्ञाता तथा अंगोपांग और द्रव्यानुयोग में पारंगत थे। चन्द्रसूर्यप्रज्ञप्ति के आधार से उन्होंने वाराहीसंहिता नामक ज्योतिष के ग्रन्थ की रचना की थी।

इस प्रकार आगम और उनकी व्याख्याओं के रूप में लिखे गये इस विशाल साहित्य का अध्ययन करने से हमें कई बातों का पता चलता है। सबसे पहले तो यही कि लोक-प्रचलित भारत की प्राचीन कथा-कहानियों को जैन विद्वानों ने प्राकृत कथाओं के रूप में सुरक्षित रक्खा। इन कथाओं में से बहुत सी कथाएँ जातककथा, सरित्सागर, पंचतंत्र, हितोपदेश, शुकसप्तति आदि में पाई जाती हैं, और ईसप की कहानियाँ, अरेबियन नाइट्स, कलेला दमना की कहानी आदि के रूप में सुदूर देशों में भी पहुँची हैं। जैन मुनियों ने अपने उपदेशों के दृष्टांत रूप में इन कहानियों का यथेष्ट उपयोग किया है। दूसरे प्रकार की कथायें पौराणिक कथायें हैं जिन्हें रामायण, महाभारत आदि ब्राह्मणों के ग्रंथों से लेकर जैनरूप में ढाला गया है। राम, कृष्ण, द्रौपदी, द्वीपायन ऋषि द्वारकादहन, गंगा की उत्पत्ति आदि की कथाओं का इसी प्रकार की कथाओं में अन्तर्भाव होता है। करकंडू आदि प्रत्येकबुद्धों की कथाएँ बौद्ध जातकों की कथाओं से मिलती-जुलती हैं। द्वीपायन ऋषि की कथा कण्हदीपायन-जातक, वल्कलचीरी की कथा बौद्धों की उदान-अट्ठकथा और कुणाल की कथा दिव्यावदान में आती है। अनेक कथायें मूल सर्वास्तिवाद के विनयवस्तु में कही गई हैं। रोहक और कनक-मंजरी की कथाएँ अत्यन्त मनोरंजक और कल्पनाशक्ति की परिचायक हैं जिनकी तुलना क्रम से बौद्ध जातकों के महोसध पंडित और अरेबियन नाइट्स की शहरजादे से की जा सकती है। इसी प्रकार शकटाल, चन्द्रगुप्त, चाणक्य, स्तेयशास्त्र के प्रवर्त्तक मूलदेव, मंडित चोर, देवदत्ता गणिका और अगडदत्त आदि की कथायें विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। डाक्टर विन्टर-नीज़ के शब्दों में कहा जाय तो "जैन-टीका-साहित्य में भारतीय प्राचीन कथा-साहित्य के अनेक उज्ज्वल रत्न विद्यमान हैं जो अन्यत्र उपलब्ध नहीं होते।"

चौथा अध्याय

दिगम्बर सम्प्रदाय के प्राचीन शास्त्र

(ईसवी सन् की प्रथम शताब्दी से लेकर १६वीं शताब्दी तक)

दिगम्बर-श्वेताम्बर सम्प्रदाय

पूर्वकाल में श्वेताम्बर और दिगम्बरों में कोई मतभेद नहीं था, दोनों ही ज्ञातृपुत्र श्रमण भगवान् महावीर के द्वारा उपदिष्ट निर्ग्रन्थ प्रवचन के अनुयायी थे। महावीर के पश्चात् गौतम, सुधर्मा और जम्बूस्वामी को दोनों ही सम्प्रदाय स्वीकार करते हैं, आचार्य भद्रबाहु को भी मानते हैं।[1] ईसवी सन् की प्रथम शताब्दी में मथुरा में जो जैन शिलालेख मिले हैं उनसे भी यही ज्ञात होता है कि उस समय तक श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदाय का आविर्भाव नहीं हुआ था।[2] इसके सिवाय दोनों सम्प्रदायों के उपलब्ध साहित्य में

---

१. दिगम्बर परम्परा में जम्बूस्वामी के पश्चात् विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्द्धन और भद्रबाहु का नाम लिया जाता है, जब कि श्वेताम्बर परम्परा में प्रभवस्वामी, शय्यंभवसूरि, यशोभद्रसूरि संभूतविजयसूरि और भद्रबाहुस्वामी का नाम है।

२. श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार महावीर निर्वाण के ६०९ वर्ष पश्चात् शिवभूति ने रथवीरपुर नगर में बोटिक (दिगम्बर) मत की स्थापना की (देखिये, आवश्यकभाष्य १४५ आदि ; आवश्यकचूर्णी, पृष्ठ ४२७ आदि)। दिगम्बरों की मान्यता जुदी है। दिगम्बर आचार्य देवसेन के मतानुसार राजा विक्रमादित्य की मृत्यु के १३६ वर्ष बाद

प्राचीन परम्परागत विषय और गाथाओं आदि की समानता पाई जाती है। उदाहरण के लिये, भगवती-आराधना और मूलाचार का प्रतिपाद्य विषय और गाथायें संथारग, भत्तपरिण्णा, मरणसमाही, पिंडनिर्युक्ति, आवश्यकनिर्युक्ति और बृहत्कल्पभाष्य आदि के विषय और गाथाओं के साथ अक्षरशः मिलते हैं। इससे भी यही सिद्ध होता है कि दोनों सम्प्रदायों का सामान्य स्रोत एक ही था। लेकिन आगे चलकर ईसवी सन् की प्रथम शताब्दी के आस-पास, विशेष करके अचेलत्व के प्रश्न को लेकर[1], दोनों में मतभेद हो गया। आगे चलकर आगमों को स्वीकार करने के सम्बन्ध में भी दोनों की मान्यतायें जुदी पड़ गईं।[2]

वलभी नगर में श्वेताम्बर संघ की उत्पत्ति हुई। इस संबंध में एक दूसरी भी मान्यता है। उज्जैनी में चन्द्रगुप्त के राज्यकाल में भद्रबाहु के शिष्य विशाखाचार्य अपने संघ को लेकर पुन्नाट चले गये, तथा रामिल्ल, स्थूलभद्र और भद्राचार्य सिन्धुदेश में विहार कर गये। जब सब लोग उज्जैनी लौटकर आये तो वहाँ दुष्काल पड़ा हुआ था। इस संघ के आचार्य ने नग्नत्व ढांकने के लिये अर्धफालक धारण करने का आदेश दिया। लेकिन दुष्काल समाप्त होने के पश्चात् इस की कोई आवश्यकता न समझी गई। फिर भी कुछ लोगों ने अर्धफालक का त्याग नहीं किया। इसी समय से श्वेताम्बर मत की उत्पत्ति हुई मानी जाती है। देखिये हरिषेण, बृहत्कथाकोष १३१; देवसेन, दर्शनसार; भट्टारक रत्ननन्दि, भद्रबाहुचरित। मथुरा शिलालेखों के लिये देखिये आर्कियोलोजिकल सर्वे रिपोर्ट्स, जिल्द ३, प्लेट्स १३-१४; बुहलर, द इण्डियन सैक्ट ऑव द जैन्स, पृ० ४२-६०; वियना ओरिंटिएल जरनल, जिल्द ३ और ४ में बुहलर का लेख

१. श्वेताम्बरों आगमों में सचेलत्व और अचेलत्व दोनों मान्यतायें पाई जाती हैं।

२. मेघविजयगणि के युक्तिप्रबोध (रतलाम, वि० सं० १९८४) में दिगम्बर और श्वेताम्बर के ८४ मतभेदों का वर्णन है।

दिगम्बर सम्प्रदाय में श्वेताम्बर परम्परा द्वारा स्वीकृत ४५ आगमों को मान्य नहीं किया गया। दिगम्बरों के मतानुसार आगम-साहित्य विच्छिन्न हो गया है। लेकिन दिगम्बर ग्रन्थों में प्राचीन आगमों का नामोल्लेख मिलता है। जैसे श्वेताम्बरीय नन्दिसूत्र में आगमों की गणना में १२ उपांगों का उल्लेख नहीं है वैसे ही दिगम्बर परम्परा में भी उपांगों को आगमों में नहीं गिना गया है। श्वेताम्बरों की भाँति दिगम्बरों के द्वादशांग आगम की रचना भी गणधरों द्वारा अर्धमागधी में की गई है। दोनों ही सम्प्रदाय बारहवें अंग दृष्टिवाद के पाँच भेद स्वीकार करते हैं जिनमें १४ पूर्वों का अन्तर्भाव होता है। श्वेताम्बरों का आगम-साहित्य अर्धमागधी में लिखा गया है, जब कि दिगम्बरों के प्राचीन साहित्य की भाषा शौरसेनी मानी जाती है। आगमों की संख्या का विभाजन और उनके ह्रास आदि के संबंध में श्वेताम्बर सम्प्रदाय की मान्यता पहले दी जा चुकी है। दिगम्बर मान्यता यहाँ दी जाती है।

दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुसार आगमों के दो भेद हैं—अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट। अंगबाह्य के चौदह भेद हैं—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्पाकल्प, महाकल्प, पुंडरीक, महापुंडरीक और निषिद्धिका (णिसिहिय)।[1] अंगप्रविष्ट के बारह भेद हैं—आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, व्याख्या-

---

१. षट्खंडागम, भाग १, पृष्ठ ९६ ; तथा देखिये पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि (१.२०) ; अकलंक, राजवार्तिक (१.२०) ; नेमिचन्द्र, गोम्मटसार, जीवकांड (पृष्ठ १३४ आदि)। इस विभाग में श्वेताम्बर सम्प्रदाय द्वारा मान्य दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्प, व्यवहार और निसीह जैसे प्राचीन सूत्रों का समावेश हो जाता है। सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना और प्रतिक्रमण का अन्तर्भाव आवश्यक में होता है।

प्रज्ञप्ति, नाथधर्मकथा, उपासकाध्ययन, अंतःकृद्दशा, अनुत्तरोपपातिक दशा, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र और दृष्टिवाद। दृष्टिवाद के पाँच अधिकार हैं—परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत, और चूलिका। परिकर्म के पाँच भेद हैं—चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, द्वीपसागरप्रज्ञप्ति और व्याख्याप्रज्ञप्ति।[1] सूत्र अधिकार में जीव तथा त्रैराशिकवाद, नियतिवाद, विज्ञानवाद, शब्दवाद, प्रधानवाद, द्रव्यवाद और पुरुषवाद का वर्णन है। प्रथमानुयोग में पुराणों का उपदेश है। पूर्वगत अधिकार में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का कथन है; इनकी संख्या १४ है।[2] चूलिका के पाँच भेद हैं[3]—जलगता, स्थलगता, मायागता, रूपगता और आकाशगता।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार द्वादशांग आगम का उच्छेद हो गया है, केवल दृष्टिवाद का कुछ अंश बाकी बचा है, जो षट्खंडागम[4] के रूप में मौजूद है। दिगम्बर सम्प्रदाय में प्रकारान्तर से जैन आगम को चार भागों में विभक्त किया गया है। १ प्रथमानुयोग में रविषेण की पद्मपुराण, जिनसेन की

---

१. चन्द्रप्रज्ञप्ति आदि प्रथम चार आगमों का श्वेताम्बर सम्प्रदाय के उपांगों में अन्तर्भाव होता है। व्याख्याप्रज्ञप्ति को पाँचवां अंग स्वीकार किया गया है।

२. ग्यारहवें पूर्व को श्वेताम्बर परम्परा में अवंझ (अवंध्य) और दिगम्बर परम्परा में कल्लाणवाद कहा है। कहीं पूर्वों के अन्तर्गत वस्तुओं की संख्या में भी दोनों में मतभेद है।

३. श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार चूलिकाओं का पूर्वों में समावेश हो जाता है। दिगम्बरों के अनुसार उनका पूर्वों से कोई सम्बन्ध नहीं।

४. दिगम्बर परम्परा में षट्खंडागम और कषायप्राभृत ही ऐसे ग्रंथ हैं जिनका सम्बन्ध सीधा महावीर की द्वादशांग वाणी से है, शेष समस्त श्रुतज्ञान क्रमशः विलुप्त और छिन्न हुआ माना जाता है। विशेष के लिये देखिये, डाक्टर हीरालाल जैन, षट्खंडागम की प्रस्तावना, भाग १।

हरिवंशपुराण, और आदिपुराण तथा जिनसेन के शिष्य गुणभद्र की उत्तरपुराण का अन्तर्भाव होता है; २ करणानुयोग में सूर्यप्रज्ञप्ति, चंद्रप्रज्ञप्ति और जयधवला का अन्तर्भाव होता है; ३ द्रव्यानुयोग में कुन्दकुन्द की रचनायें (प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय, समयसार आदि), उमास्वामि का तत्वार्थसूत्र और उसकी टीकायें, समन्तभद्र की आप्तमीमांसा और उसकी टीकाओं का समावेश होता है; ४ चरणानुयोग में वट्टकेर का मूलाचार और त्रिवर्णाचार तथा समन्तभद्र के रत्नकरण्डश्रावकाचार का अन्तर्भाव होता है।[1]



१. श्वेताम्बर सम्प्रदाय में चरणकरणानुयोग में कालिकश्रुत, धर्मानुयोग में ऋषिभाषित, गणितानुयोग में सूर्यप्रज्ञप्ति और द्रव्यानुयोग में दृष्टिवाद आदि के उदाहरण दिये हैं; उत्तराध्ययन-चूर्णी, पृ० १।

षट्खंडागम का महत्त्व

षट्खंडागम को सत्कर्मप्राभृत, खंडसिद्धान्त अथवा षट्-खंडसिद्धान्त भी कहा गया है। भगवान् महावीर का उपदेश उनके गणधर गौतम इन्द्रभूति ने द्वादशांग के रूप में निबद्ध किया। महावीर-निर्वाण के ६८३ वर्ष बाद तक अंगज्ञान की प्रवृत्ति जारी रही, तत्पश्चात् गुरु-शिष्य-परंपरा से मौखिक रूप से दिया जाता हुआ यह उपदेश क्रमशः विलुप्त हो गया। इस द्वादशांग का कुछ अंश गिरिनगर (गिरनार, काठियावाड़) की चन्द्रगुफा में ध्यानमग्न आचारांग के पूर्ण ज्ञाता धरसेन आचार्य को स्मरण था। यह सोचकर कि कहीं श्रुतज्ञान का लोप न हो जाये धरसेन ने महिमा नगरी के मुनि-सम्मेलन को पत्र लिखा जिसके फलस्वरूप आंध्रदेश से पुष्पदन्त और भूतबलि नामक दो मुनि उनके पास पहुँच गये। धरसेन आचार्य ने अपने इन मेधावी शिष्यों को दृष्टिवाद के अन्तर्गत पूर्वों और विआह-पन्नत्ति के कुछ अंशों की शिक्षा दी। धरसेन मंत्रशास्त्र के भी बड़े पण्डित थे। उन्होंने जोणिपाहुड[1] नामक ग्रन्थ कूष्मांडिनी देवी से प्राप्त कर उसे पुष्पदंत और भूतबलि के लिए लिखा था। धरसेन का समय ईसवी सन् की पहली और दूसरी शताब्दी के बीच माना जाता है। आगे चलकर इन्हीं पुष्पदंत और भूतबलि ने षट्खंडागम की रचना की; पुष्पदंत ने १७७ सूत्रों में सत्प्ररूपणा और भूतबलि ने ६००० सूत्रों में शेष ग्रंथ लिखा। इस प्रकार चौदह पूर्वों के अंतर्गत द्वितीय अग्रायणी पूर्व के कर्म-प्रकृति नामक अधिकार के आधार से षट्खंडागम के बहुभाग का उद्धार किया गया।

---

१. इसका परिचय आगे चलकर 'शास्त्रीय प्राकृत साहित्य' नाम के ग्यारहवें अध्याय में दिया गया है।

षट्खंडागम की टीकाएँ

षट्खंडागम जैसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ पर समय-समय पर अनेक टीकाएँ लिखी गई। इनमें कुंदकुंदाचार्यकृत परिकर्म, शामकुंडकृत पद्धति, तुम्बुलूराचार्यकृत चूडामणि, समंतभद्रस्वामीकृत टीका और बप्पदेवगुरुकृत व्याख्याप्रज्ञप्ति नामक टीकाएँ मुख्य हैं; इन टीकाकारों का समय क्रमशः ईसवी सन् की लगभग दूसरी, तीसरी, चौथी, पाँचवीं और छठी शताब्दी माना जाता है। दुर्भाग्य से ये सभी टीकाएँ अनुपलब्ध हैं। षट्खंडागम पर सबसे महत्त्वपूर्ण टीका धवला है जिसके रचयिता वीरसेन हैं। इनके गुरु का नाम आर्यनन्दि है; आदिपुराण के कर्ता सुप्रसिद्ध जिनसेन आचार्य इनके शिष्य थे। जिनसेन ने अपने गुरु की सर्वार्थगामिनी नैसर्गिक प्रज्ञा को बहुत सराहा है। वीरसेन ने बप्पदेवगुरु की व्याख्याप्रज्ञप्ति टीका के आधार से चूर्णियों के ढंग की प्राकृत और संस्कृतमिश्रित ७२ हजार श्लोकप्रमाण धवला नाम की टीका लिखी। टीकाकार की लिखी हुई प्रशस्ति के अनुसार सन् ८१६ में यह टीका वाटग्रामपुर में लिखकर समाप्त हुई। धवला टीका के कर्ता वीरसेन बहुश्रुत विद्वान् थे और उन्होंने दिगम्बर और श्वेताम्बर आचार्यों के विशाल साहित्य का आलोडन किया था। सत्कर्मप्राभृत, कषायप्राभृत, सन्मतिसूत्र, त्रिलोकप्रज्ञप्तिसूत्र, पंचत्थिपाहुड, गृद्धपिच्छ आचार्य का तत्वार्थसूत्र, आचारांग (मूलाचार), पूज्यपादकृत सारसंग्रह, अकलंककृत तत्वार्थभाष्य, जीवसमास, छेदसूत्र, कर्मप्रवाद और दशकर्णीसंग्रह आदि कितने ही महत्वपूर्ण सिद्धांत-ग्रन्थों का उल्लेख वीरसेन की टीका में उपलब्ध होता है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय द्वारा मान्य आचारांग, बृहत्कल्पसूत्र, दशवैकालिक-सूत्र, अनुयोगद्वार और आवश्यकनिर्युक्ति आदि की गाथायें भी इसमें उद्धृत हैं; बृहत्कल्पसूत्रगत (१-१) 'तालपलंब' सूत्र का यहाँ उल्लेख है। इसके अतिरिक्त टीकाकार ने जगह-जगह उत्तर-प्रतिपत्ति और दक्षिण-प्रतिपत्ति नाम की मान्यताओं का

उल्लेख करते हुए दक्षिण-प्रतिपत्ति को ऋजु और आचार्य-परम्परागत, तथा उत्तर-प्रतिपत्ति को अनृजु और आचार्य-परम्परा के बाह्य बताया है। सूत्र-पुस्तकों के भिन्न-भिन्न पाठों और मतभेदों का उल्लेख करते हुए यथाशक्ति उनका समाधान किया गया है। नागहस्ति के उपदेश को यहाँ पवाइज्जंत अर्थात् आचार्य परम्परागत तथा आर्यमंक्षु के उपदेश को अपवाइज्जमाण कहा है। इससे इन दोनों महान् आचार्यों के मतभेद का सूचन होता है।

षट्खंडागम के छः खंड

षट्खंडागम के छः खंड हैं। पहले खंड का नाम जीवट्ठाण है। इसमें सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व ये आठ अनुयोगद्वार और नौ चूलिकायें हैं। इस खंड का परिमाण १८ हजार है। पूर्वोक्त आठ अनुयोगद्वार और नौ चूलिकाओं में गुणस्थानों और मार्गणाओं का वर्णन है। दूसरा खंड खुद्दाबंध (क्षुल्लकबंध) है। इसके ग्यारह अधिकार हैं। यहाँ ग्यारह प्ररूपणाओं द्वारा कर्मबंध करनेवाले जीव का कर्मबंध के भेदों सहित वर्णन है। तीसरा खंड बंधस्वामित्वविचय है। यहाँ कर्मसम्बन्धी विषयों का कर्मबंध करनेवाले जीव की अपेक्षा से वर्णन है। चौथा खंड वेदना है। इसमें कृत और वेदना नाम के दो अनुयोगद्वार हैं; वेदना के कथन की यहाँ प्रधानता है। पाँचवें खंड का नाम वर्गणा है। इस खंड का प्रधान अधिकार बंधनीय है जिसमें २३ प्रकार की वर्गणाओं का वर्णन है। छठे खंड का नाम महाबंध है। भूतबलि ने पुष्पदंतरचित सूत्रों को मिलाकर, पाँच खंडों के ६००० सूत्र रचने के पश्चात् महाबंध की तीस हजार श्लोकप्रमाण रचना की। इसी ग्रन्थराज को महाधवल के नाम से कहा जाता है। यहाँ प्रकृति, स्थिति अनुभाग और प्रदेश बंधों का बहुत विस्तार से वर्णन किया गया है।

वीरसेन आचार्य ने इन छहों खण्डों पर ७२ हज़ार श्लोक-प्रमाण धवला टीका की रचना की। आगे चलकर नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने षट्खंडागम के उक्त खण्डों के आधार से गोम्मटसार लिखा जिसे जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड नाम के दो विभागों में विभक्त किया गया।

रचना की दृष्टि से प्रस्तुत ग्रन्थ तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है। पहले पुष्पदन्ताचार्य के सूत्र, फिर वीरसेन आचार्य की धवला टीका, और फिर इस टीका में उद्धृत गद्य और पद्यमय प्राचीन उद्धरण। पुष्पदन्त के सूत्रों की संख्या १७७ है जिनकी भाषा प्राकृत है। धवला टीका का लगभग तीन चौथाई भाग प्राकृत में और शेष भाग संस्कृत में है। टीका की भाषा मुख्यतया शौरसेनी है। शैली इसकी परिमार्जित और प्रौढ़ है।

कसायपाहुड (कषायप्राभृत)

आचार्य धरसेन के समय के आसपास गुणधर नाम के एक और आचार्य हुए, उन्हें भी द्वादशांग श्रुत का कुछ ज्ञान था। इन्होंने कषायप्रभृत नामके द्वितीय सिद्धांत-ग्रन्थ की रचना की। आर्यमंक्षु और नागहस्ति[1] ने इस ग्रन्थ का व्याख्यान किया, तथा आचार्य यतिवृषभ ने इस पर चूर्णिसूत्र लिखे। कषायप्राभृत के ऊपर भी वीरसेन ने टीका लिखी, किन्तु वे उसे २० हज़ार श्लोकप्रमाण लिखकर ही बीच में स्वर्गवासी हो गये। इस महान् कार्य को उनके सुयोग्य शिष्य आचार्य जिनसेन ने ईसवी सन् ८३७ में पूर्ण किया। यही टीका जयधवला के नाम से कही जाती है; सब मिलाकर यह ६० हज़ार श्लोकप्रमाण है। जान पड़ता है कषायप्राभृत के टीकाकार वीरसेन और जिनसेन के समक्ष आर्यमंक्षु और नागहस्ति नामक दोनों

1. श्वेताम्बरों की नन्दिसूत्र की स्थविरावलि में पहले आर्यमंक्षु, फिर आर्यनन्दि और उसके बाद आर्य नागहस्ति का नाम आता है।

आचार्यों के अलग-अलग व्याख्यान मौजूद थे; उन्होंने अनेक स्थलों पर उन दोनों के मतभेदों का उल्लेख किया है। आगे चलकर इस ग्रन्थ का विशेष परिचय दिया जायेगा।

षट्खंडागम का परिचय

षट्खंडागम की प्रथम पुस्तक[1] के जीवस्थान के अन्तर्गत सत्प्ररूपण में १७७ सूत्र हैं जिसमें चौदह गुणस्थानों और मार्गणाओं का प्ररूपण किया है। प्रथम सूत्र में पंच परमेष्ठियों को नमस्कार किया है, फिर मार्गणाओं का प्रयोजन बताया है। तत्पश्चात् आठ अनुयोगद्वारों से प्रथम सत्प्ररूपण का विवेचन आरम्भ होता है। चौदह गुणस्थानों के स्वरूप का प्रतिपादन है। फिर मार्गणाओं का विवेचन किया गया है।

टीकाकार वीरसेन ने दक्षिणापथवासी आचार्यों के पास पत्र भेजकर वहाँ से मुनियों को बुलवाने का वर्णन यहाँ किया है—

तेण वि सोरट्ठ-विसयगिरिणयरपट्टणचंदगुहाठिएण अट्ठंगमहा-णिमित्तपारएण गन्थवोच्छेदो होहदित्ति जादभएण-पवयण-वच्छलेण दक्खिणावहाइरियाणं महिमाए मिलियाणं लेहो पेसिदो। लेहट्ठियधरसेणवयणमवधारिय तेहि वि आइरिएहि बे साहू गहणधारणसमत्था धवलामलबहुविहविणयविहूसियंगा सीलमा-लाहरा गुरुपेसणासणतित्ता देसकुलजाइसुद्धा सयलकलापारया तिक्खुत्ता बुच्छियाइरिया अन्धविसयवेण्णायणादो पेसिदा।

—सौराष्ट्र देश के गिरिनगर नामक नगर की चन्द्रगुफा में रहनेवाले अष्टांग महानिमित्त के पारगामी, और प्रवचनवत्सल धरसेनाचार्य ने अङ्गश्रुत के विच्छेद हो जाने के भय से महिमा नगरी में सम्मिलित दक्षिणापथ के आचार्यों के पास एक लेख

1. यह ग्रंथ सेठ शिताबराय लक्ष्मीचन्द्र जैन साहित्योद्धारक फंड, अमरावती से डाक्टर हीरालाल जैन द्वारा सम्पादित सोलह भागों में सन् १९३९–१९५८ में प्रकाशित हुआ है।

भेजा। लेख में लिखे गये धरसेन के वचनों को धारण कर उन आचार्यों ने शास्त्र के अर्थ को ग्रहण और धारण करने में समर्थ, विविध प्रकार से उज्ज्वल और निर्मल विनय से विभूषित, शील-रूपी माला के धारक, गुरुओं द्वारा प्रेषणरूपी भोजन से तृप्त, देश, कुल और जाति से शुद्ध, समस्त कलाओं के पारगामी और आचार्यों से तीन बार पूछकर आज्ञा लेनेवाले दो साधुओं को आंध्रदेश में वेन्या नदी के तट से रवाना किया।

दूसरे सूत्र के व्याख्यान में टीकाकार ने द्वादशांग श्रुत का परिचय कराते हुए द्वादशांग श्रुत से जीवस्थान के भिन्न-भिन्न अधिकारों की उत्पत्ति बताई है। टीकाकार की शैली शंका-समाधान के रूप में प्रस्तुत है जिसमें उदाहरणों, दृष्टांतों, युक्तियों और तर्कों द्वारा विषय का स्पष्टीकरण किया गया है। आगम, केवलज्ञान, भूतबलि और पुष्पदन्त के वचनों में विरोध, साधारण जीव, निगोद जीव आदि के विषय में शंकायें उपस्थित कर उनका आगमोक्त समाधान किया गया है। टीकाकार वीरसेन आगम को तर्क-बाह्य स्वीकार करते हुए प्रत्यक्ष प्रमाण की भाँति आर्ष को भी स्वभावतः प्रमाण स्वीकार करते हैं। स्त्रीमुक्ति के सम्बन्ध में प्रश्नोत्तर की शैली देखिये—

अस्मादेवार्षाद् द्रव्यस्त्रीणां निर्वृतिः सिद्ध्येत् इति चेन्, न। सवाससस्त्वादप्रत्याख्यानगुणस्थितानां संयमानुपपत्तेः। भावसंयमस्तासां सवाससामप्यविरुद्ध इति चेन्, न। तासां भावसंयमोऽस्ति भावसंयमाविनाभाविवस्त्राद्युपादानान्यथानुपपत्तेः। कथं पुनस्तासु चतुर्दशगुणस्थानानीति चेन्, न। भावस्त्रीविशिष्टमनुष्यगतौ तत्सत्त्वाविरोधात्।

—शङ्का—तो फिर क्या इसी आर्ष प्रमाण से द्रव्य-स्त्रियों की मुक्ति सिद्ध हो जायगी?

समाधान—नहीं। क्योंकि वस्त्रसहित होने से उनके संयतासंयत होता है, इसलिये उनके संयम की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

शङ्का—लेकिन वस्त्रसहित होते हुए भी द्रव्य-स्त्रियों के भाव-संयम होने में तो कोई विरोध नहीं आना चाहिये ?

समाधान—ऐसी बात नहीं है। उनके भाव-संयम नहीं है, क्योंकि भाव-संयम के मानने पर, उनके भाव-संयम का अविनाभावी वस्त्रादिक का ग्रहण नहीं बन सकता।

शङ्का—तो फिर स्त्रियों के चौदह गुणस्थान होते हैं, यह कथन कैसे ठीक हो सकता है ?

समाधान—भाव-स्त्रीयुक्त मनुष्यगति में चौदह गुणस्थान मान लेने से इसमें कोई विरोध नहीं आता।[1]

षट्खंडागम की दूसरी पुस्तक भी जीवस्थान-सत्प्ररूपण है। सत्प्ररूपणा के प्रथम भाग में गुणस्थानों और मार्गणाओं की चर्चा है। द्वितीय भाग में पूर्वोक्त विवरण के आधार से ही वीरसेन आचार्य ने विषय का विशेष प्ररूपण किया है। इस प्ररूपण में उन्होंने गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति आदि बीस प्ररूपणाओं द्वारा जीवों की परीक्षा की है। यहाँ विविध आलापों की अपेक्षा से गुणस्थानों व मार्गणाओं के अनेक भेद-प्रभेदों का विशिष्ट जीवों की अपेक्षा सामान्य, पर्याप्त व अपर्याप्त रूप का विवेचन है। प्रस्तुत भाग में सूत्र नहीं लिखे गये हैं। सत्प्ररूपणा का जो ओघ और आदेश अर्थात् गुणस्थान और मार्गणाओं द्वारा १७७ सूत्रों में प्रतिपादन किया जा चुका है, उसी का यहाँ बीस प्ररूपणाओं द्वारा विवेचन है। इस विभाग में संस्कृत को बहुत कम स्थान मिला है, प्राकृत में ही समस्त रचना लिखी गई है। साहित्यिक वाक्यशैली जैसी प्रथम भाग में दिखाई पड़ती है, वैसी यहाँ नहीं है। शङ्का-समाधान यत्र-तत्र दिखाई दे जाते हैं।

---

१. इससे टीकाकार द्वारा स्त्रीमुक्ति का ही समर्थन होता है।

षट्खंडागम की तीसरी पुस्तक जीवस्थान-द्रव्य-प्रमाणानुगम है; जीवस्थान नामक प्रथम खंड का यह दूसरा भाग है। इस भाग में जीव द्रव्य के प्रमाण का ज्ञान कराया गया है। समस्त जीवराशि कितनी है और उसमें भिन्न-भिन्न गुणस्थानों व मार्गणास्थानों में जीव का क्या प्रमाण है, इस विषय का द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा भूतबलि आचार्य ने १६२ सूत्रों में विवेचन किया है। इन सूत्रों पर लिखी हुई धवला टीका में आचार्य वीरसेन ने अनेक शङ्का-समाधान उपस्थित किये हैं। मिथ्यादृष्टियों की अनंतानंतप्रमाण राशि के सम्बन्ध में प्रश्न किया है कि यह वचन असत्यता को क्यों प्राप्त नहीं होता? उत्तर में कहा है कि ऐसी शङ्का करना ठीक नहीं, क्योंकि ये वचन असत्य बोलने के कारणों से रहित जिनेन्द्र के मुखकमल से विनिर्गत हुए हैं (असच्चकारणुम्मुक्कजिणवयणकमलविणिग्ग-यत्तादो)। दूसरे स्थान पर प्रमत्तसंयत जीवों का प्रमाण पाँच करोड़ तिरानवे लाख अठानवे हजार दो सौ छह बताया है। शङ्काकार को उत्तर देते हुए यहाँ भी आचार्यपरम्परागत जिनोप-देश को ही प्रमाण मान लिया गया है। कतिपय मतांतरों का खंडन कर किसी विशेष मत का मण्डन भी अनेक स्थलों पर धवलाकार ने किया है। तिर्यक्‌लोक के विस्तार और रज्जू के प्रमाण में दो विभिन्न मतों का विवेचन करते हुए टीकाकार ने अपने मत के समर्थन में कहा है कि यद्यपि यह मत पूर्वाचार्य-सम्प्रदाय के विरुद्ध है, फिर भी तन्त्रयुक्ति के बल से हमने उसका प्ररूपण किया है (पृष्ठ ३८)। एक मुहूर्त्त में कितने उच्छ्वास होते हैं, इस प्रश्न को लेकर जैन आचार्यों में मतभेद है। एक मत के अनुसार एक मुहूर्त्त में ७२० श्वासोच्छ्वास होते हैं, किन्तु धवलाकार ने इनकी संख्या ३७७३ बताई है। और भी अनेक मतभेदों की चर्चा टीका में जहाँ-तहाँ की गई है। टीकाकार आचार्य वीरसेन ने द्रव्यप्रमाणानुयोग का गणितशास्त्र से संबंध बताया है और ग्रन्थ के प्रस्तुत भाग में अपने गणित-

शास्त्र के अध्ययन का खूब उपयोग किया है।[1] (चौथी पुस्तक की प्रस्तावना में इस संबंध में प्रोफेसर डाक्टर अवधेशनारायण सिंह का एक महत्त्वपूर्ण लेख भी छपा है)।

षट्खंडागम की चौथी पुस्तक जीवस्थान के अन्तर्गत क्षेत्र-स्पर्शन-कालानुगम नाम से कही गई है जिसमें क्रम से ९२, १८५ और ३४२ सूत्र हैं; जीवस्थान के नाम के प्रथम खंड का यह तीसरा, चौथा और पाँचवाँ भाग है। यहाँ जीवस्थानों की क्षेत्रानुगम, स्पर्शानुगम और कालानुगम नाम की तीन प्ररूपणाओं का विवेचन है। क्षेत्रानुगम में लोकाकाश का स्वरूप और प्रमाण बताया है। एक मत के अनुसार यह अपने तलभाग में सात राजू व्यासवाला गोलाकार है। इस मत के अनुसार लोक का आकार ठीक अधोभाग में वेत्रासन, मध्य में झल्लरी और ऊर्ध्वभाग में मृदंग के समान हो जाता है। लेकिन वीरसेन आचार्य इस मत को प्रमाण नहीं मानते। उन्होंने लोक का आकार पूर्व-पश्चिम दिशाओं में ऊपर की ओर घटता-बढ़ता हुआ, किन्तु उत्तर-दक्षिण दिशाओं में सर्वत्र सात राजू ही स्वीकार किया है। इस प्रकार उनके मतानुसार यह लोक गोलाकार न होकर समचतुरस्राकार हो जाता है, और दो दिशाओं में उसका आकार वेत्रासन, झल्लरी और मृदंग के समान दिखाई देता है। इसी प्रकार स्वयंभूरमण समुद्र के बाह्य पृथ्वी के अस्तित्व को सिद्ध करने की भी धवलाकार की अपनी निजी कल्पना है।

षट्खंडागम की पाँचवीं पुस्तक में जीवस्थान के अन्तर्गत

---

१. धवलाकार ने परियम्मसुत्त (परिकर्मसूत्र) नाम के प्राकृत गद्यात्मक गणितसम्बन्धी ग्रंथ के अनेक अवतरण अपनी टीका में दिये हैं। जैन करणानुयोग का यह कोई प्राचीन ग्रंथ था जो आजकल उपलब्ध नहीं है। देखिये डॉक्टर हीरालाल जैन का जैन सिद्धान्त भास्कर (भाग ८, किरण २) में 'आठवीं शताब्दी से पूर्ववर्ती गणितसम्बन्धी संस्कृत व प्राकृत ग्रंथों की खोज' नामक लेख।

अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व का विवेचन किया है। इनमें क्रमशः ३९७,९३ और ३८२ सूत्र हैं। पहले भागों की भाँति यहाँ भी शंका-समाधान द्वारा विषय का स्पष्टीकरण किया है। पूर्व प्ररूपणाओं की भाँति अन्तर प्ररूपणा में भी ओघ (गुणस्थान) और आदेश (मार्गणास्थान) की अपेक्षा बताया है कि जीव किस गुणस्थान या मार्गणास्थान के कम से कम और अधिक से अधिक कितने काल तक के लिये अन्तर को प्राप्त होता है। इसी प्रकार भाव प्ररूपणा में ओघ और आदेश की अपेक्षा औद-यिक आदि भावों का विवेचन है। गुणस्थानों और मार्गणास्थानों में संभव पारस्परिक संख्याकृत हीनता और अधिकता का निर्णय अल्पबहुत्वानुगम नामक अनुयोगद्वार से होता है। यहाँ भी ओघनिर्देश और आदेशनिर्देश की अपेक्षा अल्पबहुत्व का निर्णय किया गया है।

इस प्रकार जीवस्थान के प्रथम खण्ड की आठों प्ररूपणाओं का विवेचन समाप्त हो जाता है।

षट्खंडागम की छठी पुस्तक जीवस्थान-चूलिका है। इसमें नौ चूलिकायें हैं—प्रकृतिसमुत्कीर्तन, स्थानसमुत्कीर्तन, तीन महा-दण्डक, उत्कृष्ट स्थिति, जघन्य स्थिति, सम्यक्त्वोत्पत्ति और गति-आगति। इनमें क्रमशः ४६, ११७, २, २, २, ४४, ४३, १६ और २४३ सूत्र हैं। क्षेत्र, काल और अन्तर प्ररूपणाओं में जो जीव के क्षेत्र व कालसंबंधी अनेक परिवर्तन बताये हैं वे विशेष कर्म-बंध के द्वारा ही उत्पन्न हो सकते हैं, इन्हीं कर्मबंधों का व्यवस्थित निर्देश प्रकृतिसमुत्कीर्तन नामक चूलिका में किया है। प्रत्येक मूलकर्म की कितनी उत्तरप्रकृतियाँ एक साथ बाँधी जा सकती हैं और उनका बंध कौन से गुणस्थानों में संभव है, इस विषय का प्रतिपादन स्थानसमुत्कीर्तन चूलिका में किया है। प्रथम महा-दंडक चूलिका में दो सूत्र हैं। यहाँ प्रथम सम्यक्त्व को ग्रहण करने वाला जीव जिन प्रकृतियों को बाँधता है वे प्रकृतियाँ गिनाई गई हैं, मनुष्य या तिर्यंच को इन प्रकृतियों का स्वामी बताया

है। द्वितीय महादंडक चूलिका में प्रथम सम्यक्त्व के अभिमुख देव और प्रथमादि छः पृथिवियों के नारकी जीवों के योग्य प्रकृतियाँ गिनाई गई हैं। तृतीय महादंडक चूलिका में सातवीं पृथिवी के नारकी जीवों के सम्यक्त्वाभिमुख होने पर बंध योग्य प्रकृतियों का निर्देश है। उत्कृष्टस्थितिचूलिका में कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति और जघन्यस्थितिचूलिका में कर्मों की जघन्य स्थिति का विवेचन है। सम्यक्त्वोत्पत्तिचूलिका बहुत महत्वपूर्ण है। सूत्रकार ने यह विषय दृष्टिवाद के पाँच अंगों में से द्वितीय अंग सूत्र पर से संग्रह किया है। धवलाकार ने कषायप्राभृत के चूर्णी-सूत्रों के आधार से विषय का विवेचन किया है। गति-आगति-चूलिका का विषय सूत्रकार ने दृष्टिवाद के पाँच अंगों में प्रथम अंग परिकर्म के चन्द्रप्रज्ञप्ति आदि पाँच भेदों के अन्तिम भेद विआहपण्णत्ति से लिया है।

इस प्रकार छह खण्डों में से प्रथम खण्ड जीवस्थान की समाप्ति हो जाती है।

इसके पश्चात् आठवीं पुस्तक में षट्खण्डागम का द्वितीय खण्ड आरम्भ होता है जिसका नाम खुद्दाबन्ध (क्षुद्रकबन्ध) है। इस खण्ड में ग्यारह मुख्य तथा प्रास्ताविक व चूलिका इस तरह सब मिलाकर तेरह अधिकार हैं जिनमें कुल मिलाकर १५८६ सूत्र हैं। इन अनुयोगों का विषय प्रायः वही है जो जीवस्थान खण्ड में आ चुका है। अन्तर यही है कि यहाँ मार्गणास्थानों के भीतर गुणस्थानों की अपेक्षा रखकर प्ररूपण किया गया है। यहाँ जीवों की प्ररूपणा स्वामित्व आदि ग्यारह अनुयोगों द्वारा गुणस्थान विशेषण को छोड़कर मार्गणास्थानों में की गई है। इन ग्यारह अनुयोगों के नाम हैं—(१) एक जीव की अपेक्षा स्वामित्व, (२) एक जीव की अपेक्षा काल, (३) एक जीव की अपेक्षा अन्तर, (४) नाना जीवों की अपेक्षा भंगविचय, (५) द्रव्यप्रमाणानुगम, (६) क्षेत्रानुगम, (७) स्पर्शनानुगम, (८) नाना जीवों की अपेक्षा काल, (९) नाना

जीवों की अपेक्षा अन्तर, (१०) भागाभागानुगम, और (११) अल्पबहुत्वानुगम। इन ग्यारह अनुयोगों के पूर्व प्रास्ताविकरूप से बन्धकों के सत्व की प्ररूपणा की गई है, और अन्त में चूलिका रूप में 'महादण्डक' दिया है। दृष्टिवाद के चतुर्थ भेद पूर्व के अन्तर्गत अग्रायणी पूर्व की पञ्चम वस्तु चयनलब्धि के छठे पाहुडबन्धन के बन्धक नामक अधिकार से इस खण्ड का उद्धार किया गया है।

नौवीं पुस्तक में तीसरा खण्ड आता है जिसका नाम बंध-स्वामित्व-विचय है। इसका अर्थ है बन्ध के स्वामित्व का विचार। यहाँ इस बात का विवेचन है कि कौन सा कर्मबन्ध किस गुणस्थान व मार्गणा में सम्भव है। इस खण्ड में ३२४ सूत्र हैं; प्रथम ४२ सूत्रों में केवल गुणस्थान के अनुसार प्ररूपण किया गया है, शेष सूत्रों में मार्गणा के अनुसार गुणस्थानों का प्ररूपण है।

नौवीं पुस्तक में षट्खण्डागम का चतुर्थ खण्ड आता है जिसका नाम वेदनाखण्ड है; इसमें कृतिअनुयोगद्वार का स्पष्टी-करण किया है। इस खण्ड में अग्रायणीय पूर्व की पाँचवीं वस्तु चयनलब्धि के चतुर्थ प्राभृत कर्मप्रकृति के चौबीस अनुयोगद्वारों में से प्रथम दो—कृति और वेदना—अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा है, जिसमें वेदना अधिकार अधिक विस्तार से प्रतिपादित किया गया है, इसलिये इस सम्पूर्ण खण्ड का नाम वेदना है। इस खण्ड के प्रारम्भ में फिर से मंगलाचरण किया है जो ४४ सूत्रों में है। यही मंगल धरसेनाचार्य के जोणिपाहुड में गणधरवलय-मंत्र के रूप में पाया जाता है। इन सूत्रों में जिन, अवधिजिन, परमावधिजिन, सर्वावधिजिन, अनंतावधिजिन, कोष्ठबुद्धिजिन, बीजबुद्धिजिन, पदानुसारीजिन, संभिन्नश्रोताजिन, ऋजुमतिजिन, विपुलमतिजिन, दशपूर्वीजिन, चतुर्दशपूर्वीजिन, अष्टांगमहानिमित्त-कुशलजिन, विक्रियाप्राप्तजिन, विद्याधर, चारण, प्रज्ञाश्रमण, आकाश-गामी, आशीविष, दृष्टिविष, उग्रतप, दीप्ततप, तप्ततप, महातप,

घोरतप, घोरपराक्रम, घोरगुण, घोरगुणब्रह्मचारी, आमर्षौषधिप्राप्त, खेलौषधिप्राप्त, जल्लौषधिप्राप्त, विप्रौषधिप्राप्त, सर्वौषधिप्राप्त, मनोबली, वचनबली, कायबली, क्षीरस्रवी, सर्पिस्रवी, मधुस्रवी, अमृतस्रवी, अक्षीणमहानस, सर्वसिद्धायतन और वर्धमान बुद्ध ऋषि को नमस्कार किया है। टीकाकार ने अंग, स्वर, व्यंजन, लक्षण, छिन्न, भौम, स्वप्न और अन्तरिक्ष इन आठ महानिमित्तों के लक्षण समझाए हैं। यहाँ सूत्रकर्ता ने नाम, स्थापना, द्रव्य, गणन, ग्रंथ, करण और भाव नामक सात कृतियों की संक्षिप्त प्ररूपणा की है।

वेदना महाधिकार में १६ अनुयोगद्वार हैं, जिनमें से (१) वेदनानिक्षेप, (२) वेदनानयविभाषणता, (३) वेदनानामविधान और (४) वेदनाद्रव्यविधान नाम के चार अनुयोगद्वारों का प्रतिपादन षट्खंडागम की दसवीं पुस्तक में किया गया है।

षट्खंडागम की ग्यारहवीं पुस्तक का नाम वेदना-क्षेत्रविधान-वेदनाकाल विधान है। वेदना महाधिकार के अन्तर्गत वेदनानिक्षेप आदि १६ अनुयोगद्वारों में से ४ अनुयोगद्वारों का प्रतिपादन १० वीं पुस्तक में किया जा चुका है। प्रस्तुत पुस्तक में वेदनाक्षेत्रविधान और वेदनाकालविधान नामक दो अनुयोगद्वारों का निरूपण है। वेदनाक्षेत्रविधान में पदमीमांसा, स्वामित्व और अल्पबहुत्व का प्रतिपादन है। वेदनाद्रव्यविधान और क्षेत्रविधान के समान वेदनाकालविधान में भी पदमीमांसा, स्वामित्व और अल्पबहुत्व नाम के तीन अनुयोगद्वार हैं। इसके अन्त में दो चूलिकायें हैं। वेदनाक्षेत्रविधान में ९९ और वेदनाकालविधान में २७९ सूत्र हैं।

षट्खंडागम की बारहवीं पुस्तक में वेदनाखंड नाम का चौथा खंड समाप्त हो जाता है। वेदना अनुयोगद्वार के १६ अधिकारों में से निम्नलिखित दस अधिकारों का प्ररूपण प्रस्तुत भाग में किया गया है—वेदनाभावविधान, वेदनाप्रत्ययविधान, वेदना-

स्वामित्वविधान, वेदनावेदनाविधान, वेदनागतिविधान, वेदना-अनन्तरविधान, वेदनासन्निकर्षविधान, वेदनापरिमाणविधान वेदनाभागाभागविधान और वेदनाअल्पबहुत्वविधान। इनमें क्रमशः ३१४, १६, १५, ५८, १२, ११, ३२०, ५३, २० और २६ सूत्र हैं।

तेरहवीं पुस्तक में वर्गणा नामका पाँचवाँ खंड आरम्भ होता है; इसमें स्पर्श, कर्म और प्रकृति नामक तीन अनुयोगद्वारों का प्रतिपादन है। स्पर्श अनुयोगद्वार में स्पर्शनिक्षेप, स्पर्शनयविभाषणता, स्पर्शनामविधान, स्पर्शद्रव्यविधान आदि १६ अधिकारों द्वारा स्पर्श का विचार किया गया है। कर्म अनुयोगद्वार में नामकर्म, स्थापनाकर्म, द्रव्यकर्म, प्रयोगकर्म, समवदानकर्म, अधःकर्म, ईर्यापथकर्म, तपःकर्म, क्रियाकर्म और भावकर्म का प्ररूपण किया है। प्रकृतिअनुयोगद्वार में प्रकृतिनिक्षेप आदि सोलह अनुयोगद्वारों का विवेचन है। इन तीनों अनुयोगद्वारों में क्रमशः ३३, ३१ और १४२ सूत्र हैं। प्रकृतिअनुयोगद्वार में भाषाविषयक ऊहापोह करते हुए कीर, पारसीक, सिंघल और बर्बरीक आदि देशवासियों की भाषा को कुभाषा कहा है। फिर तीन कुरु, तीन लाढ़, तीन महाराष्ट्र, तीन मालव, तीन गौड़ और तीन मगध देश की भाषाओं के भेद से अठारह प्रकार की भाषाएँ बताई गई हैं। श्रुतज्ञान का स्वरूप बताते हुए द्वादशांग वाणी की मुख्यता से उसके संख्यात भेद किये हैं। फिर अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान का स्वरूप प्रतिपादित है।

षट्खंडागम की चौदहवीं पुस्तक में वर्गणा नाम के पाँचवें खंड में ७६८ सूत्रों में बंधन अनुयोगद्वार का वर्णन है। इसकी टीका में धवलाकार ने कर्मबंध का अत्यंत सूक्ष्म विवेचन किया है। बंधन के चार भेद हैं—बन्ध, बन्धक, बन्धनीय और बंधविधान। इस अनुयोगद्वार में बंध और बंधनीय का विशेष विचार किया गया है। जीव से पृथग्भूत कर्म और नोकर्म स्कंधों को बंधनीय कहते हैं।

षट्खंडागम की पन्द्रहवीं पुस्तक में निबंधन, प्रक्रम, उपक्रम और उदय नाम के चार अनुयोगद्वारों का प्ररूपण है। अग्रायणी पूर्व के १४ अधिकारों में पाँचवाँ चयनलब्धि नाम का अधिकार है। इसमें २० प्राभृत हैं, चतुर्थ प्राभृत का नाम कर्मप्रकृति-प्राभृत है। इस प्राभृत में कृति, वेदना, स्पर्श, कर्म, प्रकृति, बंधन, निबंधन, प्रक्रम, उपक्रम, उदय आदि २४ अधिकार हैं। इनमें से वेदना नामक चतुर्थ खंड में कृति (नौवीं पुस्तक), और वेदना (दसवीं-ग्यारहवीं और बारहवीं पुस्तक) तथा वर्गणा नाम के पाँचवें खंड में स्पर्श, कर्म और प्रकृति (तेरहवीं पुस्तक) अधिकारों का प्ररूपण किया है। बन्धन नाम का अनुयोगद्वार बन्ध, बन्धनीय, बन्धक और बन्धविधान नामक चार अवान्तर अनुयोगद्वारों में विभक्त है। इनमें से बन्ध और बन्धनीय अधिकारों की प्ररूपणा १४ वीं पुस्तक में की गई है। इस प्रकार पुष्पदन्त और भूतबलिकृत मूल षट्खंडागम में २४ अनुयोगद्वारों में से प्रथम छह अनुयोगद्वारों के विषय का विवरण है। शेष निबंधन आदि १८ अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा मूल षट्खंडागम में नहीं है। इनकी प्ररूपणा वीरसेन ने अपनी धवला टीका में की है। इन १८ अनुयोगद्वारों में से निबंधन, प्रक्रम, उपक्रम और उदय नाम के प्रथम चार अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा पन्द्रहवीं पुस्तक में की गई है।

षट्खंडागम की सोलहवीं पुस्तक में मोक्ष, संक्रम, लेश्या, लेश्याकर्म, लेश्यापरिणाम, सातासात, दीर्घ-ह्रस्व, भवधारणीय, पुद्गलात्त, निधत्त-अनिधत्त, निकाचित-अनिकाचित, कर्मस्थिति, पश्चिमस्कंध और अल्पबहुत्व नामक शेष १४ अनुयोगद्वारों का परिचय कराया गया है।

इस प्रकार सोलह पुस्तकों में षट्खण्डागम और उसकी धवला टीका समाप्त होती है।

महाबन्ध

महाबन्ध को महाधवल के नाम से भी कहा गया है। पहले कहा जा चुका है, यह ग्रन्थ षट्खण्डागम का ही छठा खण्ड है, जिसकी रचना आचार्य भूतबलि ने की है। इसका मंगलाचरण भी पृथक् न होकर षट्खण्डागम के चतुर्थ खण्ड वेदना आदि में उपलब्ध मंगलाचरण से ही सम्बद्ध है। फिर भी यह महान् कृति स्वतन्त्र कृति के रूप में उपलब्ध होती है। इसका एक तो कारण यह है कि यह पूर्वोक्त पाँच खण्डों से बहुत विशाल है, दूसरे इस ग्रंथराज पर टीका लिखने की आवश्यकता नहीं समझी गई, इसलिये धवलाकार आचार्य वीरसेन ने इस पर टीका नहीं लिखी। इसकी रचना ४० हज़ार श्लोकप्रमाण है।

महाबन्ध सात भागों में है।[1] प्रथम पुस्तक में प्रकृतिबन्ध नाम के प्रथम अधिकार का सर्वबन्ध, नोसर्वबंध, उत्कृष्टबंध, अनुत्कृष्टबंध आदि अधिकारों में प्ररूपण किया गया है। दूसरी पुस्तक में स्थितिबंध अधिकार का प्ररूपण है। इसके दो मुख्य अधिकार हैं—मूलप्रकृतिस्थितिबंध और उत्तरप्रकृतिस्थितिबंध। मूलप्रकृतिस्थितिबंध के मुख्य अधिकार चार हैं—स्थितिबंधस्थानप्ररूपणा, निषेकप्ररूपणा, आबाधकांडकप्ररूपणा और अल्पबहुत्व। आगे चलकर अद्धाच्छेद, सर्वबंध, नोसर्वबंध, उत्कृष्टबंध, अनुत्कृष्टबंध आदि अधिकारों के द्वारा मूलप्रकृतिस्थितिबंध का विचार किया गया है। उत्तरप्रकृतिस्थितिबंध का विचार भी इसी प्रक्रिया से किया है। तीसरी पुस्तक में स्थितिबंध के शेष भाग का प्ररूपण चालू है। बन्धसन्निकर्ष, नाना जीवों की अपेक्षा भंगविचय, भागाभागप्ररूपणा, परिमाणप्ररूपणा, क्षेत्रप्ररूपणा, स्पर्शनप्ररूपणा, कालप्ररूपणा, अन्तरप्ररूपणा, भावप्ररूपणा और अल्पबहुत्व नामक अधिकारों के द्वारा विषय का विवेचन किया गया है। चौथी पुस्तक में अनुभागबंध अधिकार का प्ररूपण

---

१. भारतीय ज्ञानपीठ, काशी से सन् १९४७-१९५८ में प्रकाशित।

किया है। मूलप्रकृतिअनुभागबंध और उत्तरप्रकृतिअनुभाग-बंध की अपेक्षा यह दो प्रकार का है। इनका निषेकप्ररूपणा, स्पर्धकप्ररूपणा आदि अधिकारों द्वारा विवेचन किया है। पाँचवीं पुस्तक में अनुभागबंध अधिकार के शेष भाग का प्ररूपण है। सन्निकर्ष, भंगविचय, भागाभाग, परिमाण, क्षेत्र, स्पर्शन आदि प्ररूपणाओं द्वारा इसका विवेचन किया है। छठी पुस्तक में प्रदेशबंध नामके अधिकार का विवेचन है। इसमें प्रत्येक समय में बंध को प्राप्त होनेवाले मूल और उत्तर कर्मों के प्रदेशों के आश्रय से मूलप्रकृतिप्रदेशबंध और उत्तरप्रकृतिप्रदेशबंध का विचार किया गया है। अनेक अनुयोगद्वारों के द्वारा इनका प्ररूपण किया है। महाबंध की सातवीं पुस्तक में प्रदेशबंध अधिकार के शेषभाग का निरूपण है। इसमें क्षेत्रप्ररूपणा, स्पर्शनप्ररूपणा, कालप्ररूपणा, अन्तरप्ररूपणा, भावप्ररूपणा, अल्पबहुत्वप्ररूपणा, भुजगारबन्ध, पदनिक्षेप, समुत्कीर्तना, स्वामित्व, अल्पबहुत्व, वृद्धिबंध, अध्यवसान समुदाहार और जीवसमुदाहार नामक अधिकारों के द्वारा विषय का प्रतिपादन किया है।

इस प्रकार सात पुस्तकों में महाबंध समाप्त होता है। महाबंध के समाप्त होने से षट्खण्डागम के छहों खण्डों की समाप्ति हो जाती है।

कसायपाहुड (कषायप्राभृत)

षट्खंडागम की भाँति कषायप्राभृत भी द्वादशांग का ही एक महत्त्वपूर्ण अंग है। इस ग्रन्थ का उद्धार पाँचवें ज्ञानप्रवादपूर्व की दसवीं वस्तु के तीसरे पेज्जदोसपाहुड से किया गया है। अतएव कषायप्राभृत को पेज्जदोसपाहुड भी कहा जाता है। पेज्ज का अर्थ राग और दोस का अर्थ द्वेष होता है। प्रस्तुत ग्रन्थ में क्रोध आदि कषायों की राग-द्वेष-परिणति और उनके प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशगत वैशिष्ट्य आदि का निरूपण किया गया है। कषायप्राभृत की रचना २३३ गाथा-सूत्रों में की गई है—ये सूत्र अत्यन्त संक्षिप्त और गूढ़ार्थ लिये हुए हैं। इनके

कर्ता आचार्य गुणधर हैं, जिनका समय ईसवी सन की दूसरी-तीसरी शताब्दी माना जाता है। गुणधर आचार्य ने कषायप्राभृत की रचना करके आचार्य नागहस्ती और आर्यमंक्षु को उसका व्याख्यान किया। उनके समीप इस ग्रन्थ का अध्ययन कर आचार्य यतिवृषभ ने ईसवी सन् की लगभग छठी शताब्दी में इस पर छह हजार श्लोकप्रमाण चूर्णी-सूत्रों की प्राकृत में रचना की। तत्पश्चात् आचार्य यतिवृषभ से चूर्णी-सूत्रों का अध्ययन कर उच्चारणाचार्य ने उन पर बारह हजार श्लोकप्रमाण उच्चारणसूत्रों की रचना की। उच्चारणाचार्य की यह टीका आजकल उपलब्ध नहीं है। मूल गाथा-सूत्रों और यतिवृषभ के चूर्णीसूत्रों को लेकर आचार्य वीरसेन ने सन् ८७४ में अपनी जयधवला टीका लिखी जिसे राष्ट्रकूट के राजा अमोघवर्ष के गुरु जिनसेन आचार्य ने समाप्त किया।

कषायप्राभृत १५ अधिकारों में विभाजित है।[1] पहला अधिकार पेज्जदोषविभक्ति है। अगले चौदह अधिकारों के नाम हैं—स्थितिविभक्ति, अनुभागविभक्ति, प्रदेशविभक्ति-क्षीणाक्षीण-स्थित्यन्तिक, बंधक, वेदक, उपयोग, चतुःस्थान, व्यञ्जन, दर्शन-मोहोपशामना, दर्शनमोहक्षपणा, संयमासंयमलब्धि, संयमलब्धि, चारित्रमोहोपशामना, चारित्रमोहक्षपणा। इनमें प्रारम्भ के आठ अधिकारों में संसार के कारणभूत मोहनीयकर्म की, और अन्तिम सात अधिकारों में आत्मपरिणामों के विकास से शिथिल होते हुए मोहनीय कर्म की विविध दशाओं का वर्णन है।

कसायपाहुड़ की पहली पुस्तक में पेज्जदोषविभक्ति नाम के

---

१. यह ग्रंथ भारत दिगम्बर जैनसंघग्रंथमाला से सन् १९४४ से १९५६ तक अभी तक पाँच पुस्तकों में प्रकाशित हुआ है। इसमें गुणधराचार्य के गाथा-सूत्र, यतिवृषभ के चूर्णीसूत्र और वीरसेन की टीका गर्भित है। कसायपाहुडसुत्त यतिवृषभ के चूर्णीसूत्रों सहित वीरशासनसंघ, कलकत्ता से सन् १९५५ में पण्डित हीरालाल जैन सिद्धान्तशास्त्री द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हुआ है।

अधिकार का वर्णन है। यहाँ श्रुतज्ञान के भेद, अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट के भेद, केवलियों के कवलाहार का विचार, विपुलाचल पर भगवान् महावीर द्वारा धर्मतीर्थ का प्ररूपण, आचारांग आदि ११ अङ्गों के विषय का कथन, दिव्यध्वनि का स्वरूप, तीन सौ तरेसठ मतों का उल्लेख, १४ पूर्वों के विषय का कथन, नय का विवेचन, कषाय के सम्बन्ध में विचार आदि का वर्णन किया गया है। दूसरी पुस्तक में प्रकृतिविभक्ति का विवेचन है। प्रकृतिविभक्ति के दो भेद हैं—मूलप्रकृतिविभक्ति और उत्तरप्रकृतिविभक्ति। यहाँ मोहनीय कर्म और उसकी उत्तरप्रकृतियों का वर्णन है। मूलप्रकृति से यहाँ मोहनीयकर्म और उत्तरप्रकृति से मोहनीय कर्म की उत्तरप्रकृतियाँ ली गई हैं। मूलप्रकृतिविभक्ति के वर्णन के लिये यतिवृषभ ने ८ और जयधवलाकार ने १७ अनुयोगद्वार रक्खे हैं। उत्तरप्रकृतिविभक्ति के दो भेद हैं—एकैकउत्तरप्रकृतिविभक्ति और प्रकृतिस्थानउत्तरप्रकृतिविभक्ति। पहले भाग में मोहनीय कर्म की २८ प्रकृतियों का पृथक्-पृथक् निरूपण है, दूसरे भाग में मोहनीय कर्म के १५ प्रकृतिक स्थानों का कथन है। इनका अनेक अनुयोगद्वारों की अपेक्षा कथन किया गया है। कसायपाहुड की तीसरी पुस्तक में स्थितिविभक्ति का विवेचन है। स्थितिविभक्ति के भी दो भेद हैं—मूलप्रकृतिस्थितिविभक्ति और उत्तरप्रकृतिस्थितिविभक्ति। इनका अद्धाच्छेद, सर्वविभक्ति, नोसर्वविभक्ति, उत्कृष्टविभक्ति, अनुत्कृष्टविभक्ति आदि २४ अनुयोगद्वारों की अपेक्षा विवेचन किया गया है। चौथी पुस्तक में स्थितिविभक्तिअधिकार नाम के शेषभाग का विवेचन है। यहाँ भुजगार, पदनिक्षेप, वृद्धि और स्थितिसत्कर्मस्थान के अधिकारों को लेकर विषय का विवेचन किया है। कषायप्राभृत की पाँचवीं पुस्तक में अनुभागविभक्ति का प्ररूपण है। इस अधिकार के भी दो भेद हैं—मूलप्रकृतिअनुभागविभक्ति और उत्तरप्रकृतिअनुभागविभक्ति। आचार्य वीरसेन ने मूलप्रकृतिअनुभागप्रकृति का विशेष व्याख्यान संज्ञा, सर्वानुभागविभक्ति, नोसर्वानुभागविभक्ति, उत्कृष्टानुभागविभक्ति, अनुत्कृष्टानुभाग-

विभक्ति आदि २३ अनुयोगद्वारों का अवलम्बन लेकर किया है। इसी प्रकार उत्तरप्रकृतिअनुभागविभक्ति में सर्वानुभागविभक्ति, नोसर्वानुभागविभक्ति, उत्कृष्टअनुभागविभक्ति, अनुत्कृष्टअनुभाग-विभक्ति आदि अनुयोगद्वारों का अवलम्बन लेकर विषय का विवेचन है।

तिलोयपण्णत्ति (त्रिलोकप्रज्ञप्ति)

कषायप्राभृत पर चूर्णीसूत्रों के रचयिता यतिवृषभ आचार्य की दूसरी रचना त्रिलोकप्रज्ञप्ति[1] है। करणानुयोग का यह प्राचीन ग्रंथ प्राकृतभाषा में लिखा गया है जो आठ हज़ार श्लोकप्रमाण है। इसमें त्रिलोकसंबंधी विषय का वर्णन है। यह ग्रंथ दिगंबर साहित्य के प्राचीनतम श्रुतांग से संबंध रखता है। धवलाटीका में इस ग्रंथ के अनेक उद्धरणों का उल्लेख है। ग्रंथकर्ता को त्रिलोकप्रज्ञप्ति के विषय का ज्ञान आचार्यपरंपरा से प्राप्त हुआ है। ग्रंथ में अग्रायणी, परिकर्म, लोकविभाग और लोकविनिश्चय नामक प्राचीन ग्रंथों और उनके पाठांतरों का उल्लेख मिलता है। अनेक मतभेदों का निर्देश यहाँ किया गया है। इस ग्रंथ का विषय श्वेतांबर आगमों के अन्तर्गत सूर्य-प्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति और जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[2] तथा दिगम्बरीय धवला-जयधवला टीका और त्रिलोकसार आदि प्राकृत के ग्रंथों से मिलता-जुलता है। लोकविभाग, मूलाचार, भगवतीआराधना, पंचास्तिकाय, प्रवचनसार और समयसार आदि प्राचीन ग्रंथों और तिलोयपण्णत्ति की बहुत सी गाथायें समान हैं।[3]

---

१. डॉक्टर ए० एन० उपाध्ये और डॉक्टर हीरालाल जैन द्वारा संपादित; जीवराज जैन ग्रन्थमाला शोलापुर में सन् १९४३ और १९५१ में दो भागों में प्रकाशित।

२. देखिये तिलोयपण्णत्ति, भाग २ की भूमिका, पृ० ३८–६२। इस प्रकार की गाथाओं को परंपरागत ही मानना चाहिये।

३. तिलोयपण्णत्ति की प्रस्तावना (पृष्ठ ७४ आदि) में डॉक्टर

प्रस्तुत ग्रन्थ सामान्यलोक, नारकलोक, भवनवासीलोक, मनुष्यलोक, तिर्यक्लोक, व्यन्तरलोक, ज्योतिर्लोक, देवलोक और सिद्धलोक नामक नौ महाधिकारों में विभाजित है। मुख्यरूप से इन अधिकारों में भूगोल और खगोल का वर्णन है; प्रसंगवश जैन-सिद्धांत, पुराण और इतिहास आदि पर भी प्रकाश डाला गया है। प्रथम महाधिकार में २८३ गाथायें और ३ गद्यभाग हैं। क्षेत्रमंगल के उदाहरण में पावा, ऊर्जयन्त और चंपा आदि तीर्थों का उल्लेख है। अठारह श्रेणियों में हस्ति, तुरग, रथ और इनके अधिपति, सेनापति, पदाति, श्रेष्ठी, दंडपति, शूद्र, क्षत्रिय, वैश्य, महत्तर, प्रवर, गणराज, मन्त्री, तलवर (कोतवाल), पुरोहित, अमात्य और महामात्य के नाम गिनाये हैं। अर्थागम के कर्त्ता महावीर भगवान् के शरीर आदि का वर्णन करते हुए १८ प्रकार की महाभाषा और ७०० क्षुद्र भाषाओं का उल्लेख है। राजगृह में विपुल, ऋषिशैल, वैभार, छिन्न और पांडु नाम के पाँच[1] शैलों का उल्लेख है। त्रिलोक की मोटाई, चौड़ाई और ऊँचाई का वर्णन यहाँ दृष्टिवाद नामक सूत्र के आधार से किया है। दूसरे महाधिकार में ३६७ गाथायें हैं जिनमें नरकलोक के स्वरूप का वर्णन है। तीसरे महाधिकार में २४३ गाथायें हैं जिनमें भवनवासियों के लोक का स्वरूप बताया है। भवनवासी देवों के प्रासादों में जन्मशाला, अभिषेकशाला, भूषणशाला, मैथुनशाला, परिचर्यागृह (ओलग्गशाला) और मंत्रशाला आदि शालाओं, तथा सामान्यगृह, गर्भगृह, कदलीगृह, चित्रगृह, आसनगृह,

---

हीरालाल जैन ने तिलोयपण्णत्ति के विषय आदि की श्वेताम्बर आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के बृहत्क्षेत्रसमास और बृहत्संग्रहणी तथा नेमिचन्द्र के प्रवचनसारोद्धार के विषय आदि के साथ तुलना की है।

१. बौद्धों के सुत्तनिपात की अट्ठकथा (२, पृष्ठ ३८२) में पण्डव, गिज्झकूट, वेभार, इसिगिलि और वेपुल्ल नाम के पाँच पर्वतों का उल्लेख है। महाभारत (२, २१, २) में वैहार वाराह, ऋषभ ऋषिगिरि और चैत्यक का उल्लेख है।

नादगृह और लतागृह आदि का वर्णन है। अश्वत्थ (पीपल), सप्तवर्ण, शाल्मलि, जंबू, वेतस, कदंब, प्रियंगु, शिरीष, पलाश, और राजद्रुम नाम के दस चैत्यवृक्षों का उल्लेख है। चौथा महाधिकार सब से बड़ा है, उसमें २९६१ गाथाओं में मनुष्यलोक का स्वरूप प्रतिपादित है। यहाँ विजयार्ध दक्षिण और उत्तर श्रेणियों में अवस्थित नगरियों का उल्लेख है। आठ मंगल-द्रव्यों में भृंगार (झारी), कलश, दर्पण, व्यंजन, ध्वजा, छत्र, चमर और सुप्रतिष्ठ (एक पात्र) के नाम गिनाये गये हैं। भोगभूमि में स्थित दश कल्पवृक्षों का वर्णन है। स्त्री और पुरुषों के आभूषणों का उल्लेख है। भोगभूमि में उत्पन्न होनेवाले युगल नर-नारियों का वर्णन है। चौबीस तीर्थंकरों की जन्मभूमि, नक्षत्र, और उनकी आयु आदि का उल्लेख है। नेमि, मल्लि, महावीर, वासुपूज्य और पार्श्वनाथ द्वारा कुमार अवस्था में, तथा शेष तीर्थंकरों द्वारा राज्य के अन्त में तप स्वीकार करने का उल्लेख है।[1] महावीर भगवान् के निर्वाण प्राप्त करने पर गौतमस्वामी को, गौतम के निर्वाण प्राप्त करने पर सुधर्मस्वामी को, और सुधर्मस्वामी के निर्वाण प्राप्त करने पर जम्बूस्वामी को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। मुक्तिगामियों में अन्तिम श्रीधर, चारण ऋषियों में अन्तिम सुपार्श्वचन्द्र, प्रज्ञाश्रमणों में अन्तिम वज्रयश, अवधिज्ञानियों में अन्तिम श्रीनामक और मुकुटधरों में जिनदीक्षाधारकों में अन्तिम चन्द्रगुप्त का उल्लेख है। सामान्य भूमि का प्रमाण, सोपानों का प्रमाण, विन्यास, वीथि, धूलिशाल, चैत्य-प्रासादभूमियाँ, नृत्यशाला, मानस्तंभ, वेदी आदि ३१ अधिकारों में समवसरण का वर्णन किया है। तीर्थंकरों के अतिशयों का प्रतिपादन है। यक्षों में गोवदन, महायक्ष, त्रिमुख, यक्षेश्वर, तुंबुरव, मातंग, विजय, अजित, ब्रह्म, आदि तथा यक्षिणियों में चक्रेश्वरी, रोहिणी, प्रज्ञप्ति, वज्रश्रृंखला, वज्रांकुशा,

---

१. णेमी मल्ली वीरो कुमारकालम्मि वासुपुज्जो य।
पासो वि य गहिदतवा सेसजिणा रज्जचरमम्मि ॥

अप्रतिचक्रेश्वरी, पुरुषदत्ता, ज्वालामालिनी, कूष्मांडी आदि के नाम गिनाये हैं। आठ प्रकार की ऋद्धियाँ बताई हैं। चतुर्दशपूर्वधारी, दशपूर्वधारी, एकादश अंगधारी और आचारांगधारियों का वर्णन है। क्वचित् सूक्तियाँ भी दिखाई दे जाती हैं—

अंधो णिवडइ कूवे बहिरो ण सुणेदि साधु उवदेसं।
पेच्छंतो णिसुणंतो णिरए जं पडइ तं चोज्जं॥

—अंधा कूप में गिर जाता है और बहरा साधु का उपदेश नहीं सुनता, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं। आश्चर्य यही है कि यह जीव देखता और सुनता हुआ भी नरक में जा पड़ता है।

पाँचवें महाधिकार में ३२१ गाथायें हैं, इसमें गद्यभाग ही अधिक है। तिर्यग्लोक में असंख्यात द्वीप-समुद्र हैं। यहाँ जम्बूद्वीप, लवणसमुद्र, धातकीखंड, कालोदसमुद्र, पुष्करवरद्वीप, नन्दीश्वरद्वीप, कुण्डलवरद्वीप, स्वयंभूरमणद्वीप आदि के विस्तार, क्षेत्रफल आदि का वर्णन है। छठे महाधिकार में १०३ गाथायें हैं जिनमें १७ अन्तराधिकारों के द्वारा व्यन्तर देवों के निवासक्षेत्र, उनके भेद, चिह्न, कुलभेद, नाम, इन्द्र, आयु, आहार आदि का प्ररूपण है। सातवें महाधिकार में ६१९ गाथायें हैं। इसमें ज्योतिष देवों के निवासक्षेत्र, उनके भेद, संख्या, विन्यास, परिमाण, उत्सेध, अवधिज्ञान, शक्ति आदि का विस्तार से प्रतिपादन है। आठवें महाधिकार में ७०३ गाथायें हैं जिनमें वैमानिक देवों के निवासक्षेत्र, विन्यास, भेद, नाम, सीमा, विमानसंख्या, इन्द्रविभूति, गुणस्थान आदि, सम्यक्त्वग्रहण के कारण आदि का वर्णन किया गया है। नौवें महाधिकार में सिद्धों के क्षेत्र, उनकी संख्या, अवगाहना और सुख का प्ररूपण है।

लोकविभाग

तिलोयपण्णत्ति के कर्त्ता यतिवृषभ ने लोकविभाग का अनेक जगह उल्लेख किया है, लेकिन यह ग्रंथ कब और किसके द्वारा रचा गया इसका कुछ पता नहीं लगता। सिंहसूरि के संस्कृत

लोकविभाग के अन्त में दी हुई प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि सर्वनन्दि के प्राकृत ग्रन्थ की भाषा का परिवर्तन करके सिंहसूरि ने अपने संस्कृत लोकविभाग की रचना की। इस ग्रंथ का ईसवी सन् की छठी शताब्दी से पूर्व होने का अनुमान किया जाता है।[1]

पंचास्तिकाय-प्रवचनसार-समयसार

दिगंबर संप्रदाय में भगवान् महावीर और गौतम गणधर के बाद आचार्य कुन्दकुन्द का नाम लिया जाता है। इन्हें पद्मनंदि, वक्रग्रीव, एलाचार्य और गृद्धपिच्छ के नाम से भी कहा है। लेकिन इनका वास्तविक नाम था पद्मनन्दि, और कोण्डकुण्ड के निवासी होने के कारण ये कुन्दकुन्द नाम से कहे जाते थे। इनका समय ईसवी सन् की प्रथम शताब्दी के आसपास माना गया है; ये तीसरी-चौथी शताब्दी के जान पड़ते हैं।[2] कुन्दकुन्द के पंचास्तिकाय, प्रवचनसार और समयसार को नाटकत्रय अथवा प्राभृतत्रय के नाम से भी कहा गया है। ये द्रव्यार्थिक नयप्रधान आध्यात्मिक ग्रन्थ हैं, इनमें शुद्ध निश्चयनय से वस्तु का प्रतिपादन किया गया है। इसके अतिरिक्त कुन्दकुन्द ने नियमसार, रयणसार, अष्टपाहुड और दशभक्ति की रचना की है।

पंचास्तिकाय[3] में पाँच अस्तिकायों का वर्णन है। इस पर अमृतचन्द्रसूरि और जयसेन आचार्य ने संस्कृत में टीकायें लिखी हैं। पंचास्तिकाय में १७३ गाथायें हैं जो दो श्रुतस्कंधों में विभाजित हैं। पहले श्रुतस्कंध में षड्द्रव्य और पाँच अस्तिकायों

---

१. तिलोयपण्णत्ति की प्रस्तावना, पृ० ४६।

२. देखिये डॉ० उपाध्ये, प्रवचनसार की भूमिका, पृष्ठ १०-२२।

३. रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला में अमृतचन्द्र और जयसेन की संस्कृत टीकाओं सहित सन् १९०४ में बम्बई से प्रकाशित; सेक्रेड बुक्स ऑव द जैन्स, जिल्द ३ में प्रोफेसर ए० चक्रवर्ती के अंग्रेजी अनुवाद और भूमिका सहित सन् १९२० में आरा से प्रकाशित।

का व्याख्यान है। यहाँ द्रव्य का लक्षण, द्रव्य के भेद, सप्तभंगी, गुण और पर्याय, काल द्रव्य का स्वरूप, जीव का लक्षण, सिद्धों का स्वरूप, जीव और पुद्गल का बंध, पद्गल, धर्म, अधर्म आकाश और काल के लक्षण का प्रतिपादन किया है। दूसरे श्रुतस्कंध में नौ पदार्थों के प्ररूपण के साथ मोक्षमार्ग का वर्णन है। पुण्य, पाप, जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष का यहाँ कथन है।

प्रवचनसार[1] आचार्य कुन्दकुन्द की दूसरी महत्वपूर्ण रचना है। इस पर भी अमृतचन्द्रसूरि और जयसेन आचार्य की संस्कृत में टीकायें हैं। इस ग्रन्थ में तीन श्रुतस्कंध हैं। प्रथम श्रुतस्कंध में ज्ञान, द्वितीय श्रुतस्कंध में ज्ञेय और तृतीय श्रुतस्कंध में चारित्र का प्रतिपादन है। इसमें कुल मिलाकर २७५ गाथायें हैं। ज्ञान अधिकार में आत्मा और ज्ञान का एकत्व और अन्यत्व, सर्वज्ञत्व की सिद्धि, इन्द्रिय और अतीन्द्रिय सुख, शुभ, अशुभ, और शुद्ध उपयोग तथा मोहक्षय आदि का प्ररूपण है। ज्ञेय अधिकार में द्रव्य, गुण, पर्याय का स्वरूप, सप्तभंगी, ज्ञान, कर्म और कर्मफल का स्वरूप, मूर्त और अमूर्त द्रव्यों के गुण, काल के द्रव्य और पर्याय, प्राण, शुभ और अशुभ उपयोग, जीव का लक्षण, जीव और पुद्गल का संबंध, निश्चय और व्यवहार नय का अविरोध और शुद्धात्मा आदि का प्रतिपादन है। चारित्र अधिकार में श्रामण्य के चिह्न छेदोपस्थापक श्रमण, छेद का स्वरूप, युक्त आहार, उत्सर्ग और अपवादमार्ग, आगमज्ञान का महत्व, श्रमण का लक्षण, मोक्ष तत्व आदि का प्ररूपण है। 'व्यवहारसूत्र'[2] में कुशल श्रमण के पास जाकर आलोचना करने का विधान है (२१२)। हिंसा का लक्षण बताते हुए कहा है—

---

१. डॉक्टर ए० एन० उपाध्ये द्वारा संपादित; रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला में सन् १९३५ में प्रकाशित।

२. यह सूत्र श्वेताम्बरों के यहाँ मिलता है, इसका परिचय पहले दिया जा चुका है।

मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स॥

—जीव मरे या जीये, अयत्नपूर्वक आचरण करनेवाले को हिंसा का दोष निश्चित लगता है। प्रयत्नशील समितियुक्त जीव को केवल बहिरंग हिंसा कर देने मात्र से कर्म का बंध नहीं होता।

समयसार[1] में ४३७ गाथायें हैं। अमृतचन्द्र और जयसेन की इस पर टीकायें हैं। इसमें १० अधिकार हैं। पहले अधिकार में स्वसमय, परसमय, शुद्धनय, आत्मभावना और सम्यक्त्व का प्ररूपण है। दूसरे में जीव-अजीव, तीसरे में कर्म-कर्ता, चौथे में पुण्य-पाप, पाँचवें में आस्रव, छठे में संवर, सातवें में निर्जरा, आठवें में बंध, नौवें में मोक्ष और दसवें में शुद्ध पूर्ण ज्ञान का प्रतिपादन है। समयसार का स्वरूप प्रतिपादन करते हुए कहा है—

कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण णयपक्खं।
पक्खादिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो॥

—जीव कर्म से बद्ध है या नहीं, यह नयों की अपेक्षा से ही जानना चाहिये। जो नयों की अपेक्षा से रहित है उसे समय का सार समझना चाहिये।

शुद्ध नय की अपेक्षा जीव को कर्मों से अस्पृष्ट माना गया है—

जीवे कम्मं बद्धं पुट्ठं चेदि ववहारणयभणिदं।
सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धपुट्ठं हवइ कम्मं॥

—व्यवहार नय की अपेक्षा जीव कर्मों से स्पृष्ट है, शुद्ध नय की अपेक्षा तो उसे अबद्ध और अस्पृष्ट समझना चाहिये।

कर्मभाव के नष्ट हो जाने पर कर्म का फिर से उदय नहीं होता—

---

१. रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला में अमृतचन्द्र और जयसेन की संस्कृत टीकाओं के साथ सन् १९१९ में बम्बई से प्रकाशित; सेक्रेड बुक्स आव द जैन्स, जिल्द ८ में जे० एल० जैनी के अंग्रेजी अनुवाद-सहित सन् १९३० में लखनऊ से प्रकाशित।

पक्के फलम्मि पडिदे जह ण फलं वज्झदे पुणो विंटे।
जीवस्स कम्मभावे पडिदे ण पुणोदयमुवेइ॥

—जैसे पके फल के गिर जाने पर वह फिर अपने डंठल से युक्त नहीं होता, वैसे ही कर्मभाव के नष्ट हो जाने पर फिर से उसका उदय नहीं होता।

नियमसार

नियमसार[1] में १८६ गाथायें हैं, जिन पर पद्मप्रभमलधारिदेव ने ईसवी सन् १००० के लगभग टीका लिखी है। पद्मप्रभ ने प्राभृतत्रय के टीकाकार अमृतचन्द्रसूरि की टीका के श्लोक नियमसार की टीका में उद्धृत किये हैं। इसमें सम्यक्त्व, आप्त, आगम, सात तत्व, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र के अन्तर्गत १२ व्रत, १२ प्रतिमा, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना, प्रायश्चित्त, परमसमाधि, परमभक्ति, निश्चय आवश्यक, शुद्ध उपयोग आदि का विवेचन है।

रयणसार

रयणसार में १६७ गाथायें हैं। यहाँ सम्यक्त्व को रत्नसार कहा गया है। इस ग्रंथ के पढ़ने और श्रवण से मोक्ष की प्राप्ति बताई है। एक उक्ति देखिये—

विणओ भत्तिविहीणो महिलाणं रोयणं विणा णेहं।
चागो वेरग्गविणा एदे दोवारिया भणिया॥

—भक्ति के बिना विनय, स्नेह के बिना महिलाओं का रोदन और वैराग्य के बिना त्याग ये तीनों विडंबनायें हैं।

एक उपमा देखिये—

मक्खि सिलिम्मे पडिओ मुवइ जहा तह परिग्गहे पडिउं।
लोही मूढो खवणो कायकिलेसेसु अण्णाणी॥

---

१. जैन ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, बम्बई से सन् १९१६ में प्रकाशित। इस पर पद्मप्रभमलधारिदेव ने संस्कृत में टीका लिखी है जिसका हिन्दी अनुवाद ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद जी ने किया है।

—जैसे श्लेष्म में लिपटी हुई मक्खी तत्काल ही मर जाती है, इसी प्रकार परिग्रह से युक्त लोभी, मूढ और अज्ञानी मुनि कायक्लेश का ही भाजन होता है।

अष्टपाहुड

कुन्दकुन्द के षट्पाहुड[1] में दंसणपाहुड, चरित्तपाहुड, सुत्त-पाहुड, बोधपाहुड, भावपाहुड और मोक्खपाहुड नामके छह प्राभृतों का अन्तर्भाव होता है। इन पर आचार्य श्रुतसागर ने टीका लिखी है। श्रुतसागर विद्यानन्दि भट्टारक के शिष्य थे और वे कलिकालसर्वज्ञ, उभयभाषाचक्रवर्ती आदि पदवियों से विभूषित थे। दंसणपाहुड की टीका में श्रुतसागर आचार्य ने गोपुच्छिक, श्वेतवास, द्राविड, यापनीयक और निष्पिच्छ नामके पाँच जैनाभासों का उल्लेख किया है। सुत्तपाहुड में आचार्य कुन्दकुन्द ने नग्नत्व को ही मोक्ष का मार्ग बताया है। भावपाहुड में बाहुबलि, मधुपिङ्ग, वशिष्ठ मुनि, द्वीपायन, शिवकुमार, भव्यसेन और शिवभूति के उदाहरण दिये हैं। आत्महित को यहाँ मुख्य बताया है—

उत्थरइ जाण जरओ रोयग्गी जाण डहइ देहउडिं।
इंदियबलं न वियलइ ताव तुमं कुणहि अप्पहियं॥

—जब तक जरावस्था आक्रान्त नहीं करती, रोग रूपी अग्नि देह रूपी कुटिया को नहीं जला देती, और इन्द्रियों की शक्ति क्षीण नहीं हो जाती, तब तक आत्महित करते रहना चाहिये।

योगी के सम्बन्ध में मोक्खपाहुड में कहा है—

जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणो कज्जे॥

---

१. षट्प्राभृतादिसंग्रह पण्डित पन्नालाल सोनी द्वारा सम्पादित होकर माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला में विक्रम संवत् १९७७ में प्रकाशित हुआ है। इसमें षट्प्राभृत के साथ लिंगप्राभृत, शीलप्राभृत, रयणसार और बारह अणुवेक्खा का भी संग्रह है।

—जो योगी व्यवहार में सोता है वह स्वकार्य में जागृत रहता है, जो व्यवहार में जागृत रहता है वह स्वकार्य में सोता रहता है।

लिंगपाहुड में २२ और सीलपाहुड में ४० गाथायें हैं। सीलपाहुड में दशपूर्वी सात्यकिपुत्र का दृष्टान्त दिया है।

बारस अणुवेक्खा

कुन्दकुन्द की बारस अणुवेक्खा (द्वादश अनुप्रेक्षा) में ९१ गाथायें हैं; यहाँ अध्रुव, अशरण आदि १२ भावनाओं का विवेचन है।[1]

दसभत्ति (दशभक्ति)

दशभक्ति में तीर्थंकर, सिद्ध, श्रुत, चारित्र आदि की भक्ति की गई है। इसका अधिकांश भाग पद्य में है, कुछ गद्य में भी है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के प्रतिक्रमणसूत्र, आवश्यकसूत्र और पंचसुत्त के साथ इसकी तुलना की जा सकती है। तित्थयरभत्ति तो दोनों सम्प्रदायों में समान है। दुर्भाग्य से दशभक्ति का कोई सुसंपादित संस्करण अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ।[2] प्रभाचन्द्र के दशभक्तियों पर टीका लिखी है। उन्होंने पूज्यपाद

---

१. इसकी कुछ गाथायें मूलाचार के ८वें अध्याय की गाथाओं से मिलती-जुलती हैं, देखिये डॉक्टर ए० एन० उपाध्ये की प्रवचनसार की भूमिका, पृष्ठ ३९ का फुटनोट। कार्तिकेय ने भी कत्तिगेयाणुवेक्खा की रचना की है। इसी प्रकार भगवतीआराधना में १५० गाथाओं में और मरणसमाहीपइन्ना में ७० गाथाओं में बारह अनुप्रेक्षाओं का विवेचन किया गया है।

२. दोशी सखाराम नेमचन्द, शोलापुर द्वारा सन् १९२१ में प्रकाशित। पण्डित जिनदास पार्श्वनाथ न्यायतीर्थ ने इसका मराठी अनुवाद किया। महावीर प्रेस, आगरा से वि० सं० १९९२ में प्रकाशित क्रियाकलाप में भी यह संगृहीत है।

को संस्कृत दशभक्ति और कुन्दकुन्द को प्राकृत दशभक्ति का रचयिता माना है। दशभक्ति का आरम्भ पंचणमोयार, मंगलसुत्त, लोगुत्तमासुत्त, सरणसुत्त, और सामाइयसुत्त से होता है। तीर्थंकरभक्ति में ८ गाथाओं में २४ तीर्थंकारों को नमस्कार किया है। इसके बाद प्रतिक्रमण और आलोचना के सूत्र हैं। सिद्धभक्ति में सिद्धों और श्रुतभक्ति में द्वादशांग श्रुत को नमस्कार किया गया है। चारित्रभक्ति में सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय और यथाख्यातचारित्र नाम के पाँच चारित्रों, तथा मुनियों के मूलगुणों और उत्तरगुणों का उल्लेख है। योगिभक्ति में अनगारों का स्तवन है; उनकी ऋद्धियों का वर्णन है। आचार्यभक्ति में आचार्यों की स्तुति है। निर्वाणभक्ति में अष्टापद, चंपा, ऊर्जयन्त, पावा, सम्मेदशिखर, गजपंथ, शत्रुंजय, तुंगीगिरि, सुवर्णगिरि, रेवातट, सिद्धिवरकूट, चूलगिरि, द्रोणगिरि, अष्टापद, मेढ़गिरि, कुंथलगिरि, कोटिशिला, रेसिंदगिरि, पोदनपुर, हस्तिनापुर, वाराणसी, मथुरा, अहिछत्र, श्रीपुर, चन्द्रगुहा[1] आदि तीर्थस्थानों का उल्लेख है; इन स्थानों से अनेक ऋषि-मुनियों ने निर्वाण प्राप्त किया। पंचगुरुभक्ति में पञ्च परमेष्ठियों की स्तुति है। शेष भक्तियों में नन्दीश्वरभक्ति और शान्तिभक्ति के नाम आते हैं।[2]

भगवतीआराधना

भगवतीआराधना[3] अथवा आराधना दिगम्बर जैन सम्प्रदाय

---

१. इन तीर्थों में बहुत से तीर्थस्थान अर्वाचीन हैं।

२. नवीन महावीरकीर्तन ('सेठीबन्धु' द्वारा वीर पुस्तकमन्दिर, महावीर जी, हिण्डौल, राजस्थान से सन् १९५७ में प्रकाशित) में पृष्ठ १८८-९ पर निव्वुइकंड (निर्वाणकाण्ड) और अइसइखित्तकंड (अतिशयक्षेत्रकांड) छपे हैं। इनमें उन मुनियों की महिमा का बखान है जिन्होंने अष्टापद आदि पुनीत क्षेत्रों से निर्वाण प्राप्त किया।

३. आराधनासम्बन्धी प्राकृत में और भी ग्रन्थ लिखे गये हैं, जैसे सोमसूरि का आराधनापर्यन्त, आराधनापंचक, अभयदेवसूरि का आरा-

का एक प्राचीन ग्रंथ माना जाता है।[1] इसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप इन चार आराधनाओं का विवेचन है। प्रधानतया मुनिधर्म का ही यहाँ वर्णन है। ध्यान रखने की बात है कि भगवतीआराधना की अनेक मान्यताएँ दिगम्बर मुनियों के आचार-विचार से मेल नहीं खातीं। उदाहरण के लिए, रुग्ण मुनियों के वास्ते अन्य मुनियों द्वारा भोजन-पान लाने का यहाँ निर्देश है। इसी प्रकार विजहना अधिकार में मुनि के मृत शरीर को जंगल में छोड़ आने की विधि बताई है। श्वेताम्बरों के कल्प, व्यवहार, आचारांग और जीतकल्प का भी उल्लेख यहाँ मिलता है। इसमें सब मिलाकर २१६६ (अथवा २१७०) गाथायें हैं जो ४० अधिकारों में विभक्त हैं। भाषा इसकी प्राकृत अथवा जैन-शौरसेनी है। पूर्वाचार्यों द्वारा निबद्ध की हुई रचना के आधार पर पाणितलभोजी शिवार्य अथवा शिवकोटि ने इस आचार-प्रधान ग्रन्थ की रचना की है। भगवतीआराधना के रचनाकाल का ठीक पता नहीं लगा, लेकिन इसके विषय-वर्णन से यह ग्रंथ उतना ही प्राचीन लगता है जितने श्वेताम्बरों के आगम-ग्रंथ हैं। आवश्यकनिर्युक्ति, बृहत्कल्पभाष्य आदि श्वेताम्बरों के प्राचीन ग्रंथों से भगवतीआराधना की अनेक गाथायें मिलती हैं, इससे भी इस ग्रंथ की प्राचीनता सिद्ध होती है।[2] इस पर

धनाकुलक, वीरभद्रसूरि की आराधनापताका, आराधनामाला आदि; डॉक्टर ए० एन० उपाध्ये की बृहत्कथाकोश की भूमिका, पृष्ठ ४८–९।

१. मुनि अनन्तकीर्ति दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला में वि० सं० १९८९ में बम्बई से प्रकाशित। दूसरा संस्करण मूलाराधना के नाम से अपराजित और आशाधर की टीकाओं के शाथ शोलापुर से सन् १९३५ में प्रकाशित हुआ है।

२. डॉक्टर ए० एन० उपाध्ये ने भगवतीआराधना की गाथाओं का संथारग, भत्तपरिन्ना और मरणसमाहीपइण्णा तथा मूलाचार की गाथाओं से मिलान किया है, देखिये बृहत्कथाकोश की भूमिका, पृष्ठ ५४ फुटनोट; प्रवचनसार की भूमिका, पृष्ठ ३३, फुटनोट।

समय-समय पर अनेक प्राकृत और संस्कृत टीकायें लिखी गई हैं। अपराजित सूरि—जो श्रीविजयाचार्य भी कहे जाते थे—ने भगवतीआराधना पर विजयोदया अथवा आराधना टीका लिखी है। दशवैकालिक सूत्र पर भी इनकी विजयोदया नाम की टीका थी। अपराजितसूरि का समय ईसवी सन् की सातवीं शताब्दी के बाद माना गया है। दूसरी टीका सुप्रसिद्ध पंडित आशाधर जी ने लिखी है जिसका नाम मूलाराधनादर्पण है।[1] आशाधरजी का समय विक्रम की तेरहवीं शताब्दी है। तीसरी टीका का नाम आराधनापंजिका है। इसकी हस्तलिखित प्रति भांडारकर इंस्टिट्यूट, पूना में है; इसके लेखक का नाम अज्ञात है। चौथी टीका भावार्थदीपिका है; यह भी अप्रकाशित है। माथुरसंघीय अमितगति ने भगवतीआराधना का संस्कृत पद्यों में अनुवाद किया है। पंडित सदासुख जी काशलीवाल ने इस पर भाषावचनिका लिखी है।[2]

ग्रंथ के आरम्भ में १७ प्रकार के मरण बताये हैं, इनमें पंडित-पंडितमरण, पंडितमरण और बालपंडितमरण को श्रेष्ठ कहा है। पंडितमरण में भक्तप्रतिज्ञामरण को प्रशस्त बताया है। लिंग अधिकार में आचेलक्य, लोच, देह के ममत्व का त्याग और प्रतिलेखन (मयूरपिच्छीका धारण करना) ये चार निर्ग्रंथलिंग के चिह्न हैं। केश रखने के दोषों का प्रतिपादन करते हुए लोच को ही श्रेष्ठ बताया है। अनियतविहार अधिकार में नाना देशों में विहार करने के गुण प्रतिपादन करते हुए नाना देशों के रीति-रिवाज, भाषा और शास्त्र आदि में कुशलता प्राप्त करने का विधान है। भावना अधिकार में तपःभावना, श्रुतभावना, सत्यभावना, एकत्वभावना और धृतिबलभावना का प्ररूपण है। सल्लेखना

१. पण्डित आशाधर ने अपनी टीका (पृष्ठ ६४३) में भगवती-आराधना की एक प्राकृत टीका का उल्लेख किया है।

२. भगवतीआराधना की अन्य टीकाओं के लिये देखिये नाथूराम-प्रेमी, जैन साहित्य और इतिहास, पृष्ठ ८३ आदि।

अधिकार में सल्लेखना का निरूपण करते हुए बाह्य और अन्तर तपों का प्रतिपादन है। साधुओं के रहने योग्य वसति के लक्षण बताये हैं। भोजन की शुद्धता का विस्तार से वर्णन है; यहाँ उद्‌गम, उत्पादन आदि आठ दोषों के निवारण का विधान है। कषायों के त्याग का उपदेश है। अनुविशिष्ट शिक्षा अधिकार में वैयावृत्य का उपदेश दिया है। आर्यिका की संगति से दूर रहने का उपदेश है—

जदि वि सयं थिरबुद्धी, तहावि संसग्गलद्धपसरो य।
अग्गिसमीवेव घदं, विलेज्ज चित्तं खु अज्जाए॥

—यदि (मुनि की) बुद्धि स्थिर हो तो भी जैसे घी को अग्नि के पास रखने से वह पिघल जाता है, वैसे ही मुनि और आर्या का मन चंचल हो उठता है।

ऐसी दशा में क्या होता है—

खेलपडिदमप्पणं ण तरदि जह मच्छिया विमोचेदुं।
अज्जाणुचरो ण तरदि, तह अप्पणं विमोचेदुं॥

—जैसे श्लेष्म में पड़ी हुई मक्खी अपने आपको छुड़ाने में असमर्थ है, वैसे ही आर्याओं का अनुचर बना हुआ साधु अपने आपको छुड़ाने में असमर्थ हो जाता है।

पार्श्वस्थ साधुओं की सङ्गति को वर्ज्य कहा है—

दुज्जणसंगीए संकिज्जदि संजदो वि दोसेण।
पाणागारे दुद्धं, पियंतओ बंभणो चेव॥

—दुर्जन की संगति के कारण संयमी में भी दोष की शंका की जाने लगती है। जैसे मदिरालय में दूध का पान करते हुए ब्राह्मण को शंका की दृष्टि से देखा जाता है।

मार्गणा अधिकार में आयार, जीत और कल्प का उल्लेख है। सुस्थित अधिकार में आचेलक्य, अनौद्देशिक आदि दस प्रकार का श्रमणकल्प (श्रमणों का आचार) कहा है। आचेलक्य का समर्थन करते हुए यहाँ टीकाकार अपराजितसूरि ने आचार-

प्रणिधि (दशवैकालिक का आठवाँ अध्ययन) आचारांग, सूत्रकृतांग, निशीथ, बृहत्कल्पसूत्र और उत्तराध्ययन नामक प्राचीन आगमों के उद्धरण दिये हैं। आगम, आज्ञा, श्रुत, धारणा और जित यह पाँच प्रकार का व्यवहार बताया है, इसका विस्तार सूत्रों में निर्दिष्ट है। व्यवहारसूत्र की मुख्यता बताई गई है। चौदह पूर्व और द्वादशांग के पदों की संख्या का प्ररूपण है। आलोचना अधिकार में आलोचना के गुण-दोषों का विवेचन है। अनुशिष्टि अधिकार में पञ्चनमस्कार मन्त्र का माहात्म्य है। अहिंसा आदि पाँच महाव्रतों का प्ररूपण है।

आभ्यंतर शुद्धि पर जोर देते हुए कहा है—

घोडयलद्दिसमाणस्स तस्स अब्भंतरंमि कुधिदस्स।
बाहिरकरणं किं से काहिदि वगणिहुदकरणस्स॥

—जैसे घोड़े की लीद बाहर से चिकनी दिखाई देती है लेकिन अन्दर से दुर्गन्ध के कारण वह महा मलिन है, उसी प्रकार मुनि यदि ऊपर-ऊपर से नम्रता आदि केवल बाह्य शुद्धि ही धारण करता है तो उसका आचरण बगुले की भाँति समझना चाहिये।

अशिव और दुर्भिक्ष उपस्थित होने पर, भयानक वन में पहुँच जाने पर, गाढ़ भय उपस्थित होने पर और रोग से अभिभूत होने पर भी कुलीन मान को नहीं छोड़ते; वे सुरा का पान नहीं करते, मांस का भक्षण नहीं करते, प्याज नहीं खाते, तथा कुकर्म और निर्लज्ज कर्म से दूर रहते हैं। ध्यान अधिकार में चार प्रकार के ध्यान, लेश्या अधिकार में छः लेश्याएँ और भावना अधिकार में १२ भावनाओं का प्ररूपण है। यहाँ सुकोसल, गजसुकुमार, अग्निकापुत्र, भद्रबाहु, धर्मघोष, अभयघोष, विद्युच्चर, चिलातपुत्र आदि अनेक अनेक मुनियों और साधुओं की परंपरागत कथायें वर्णित हैं जिन्होंने उपसर्ग सहन कर सिद्धि प्राप्त की। विजहन नाम के चालीसवें अधिकार में मुनि के मृतक-संस्कार का वर्णन है। यहाँ किसी क्षपक की मृत्यु हो जाने पर उसके शव को

निकालने की विधि का विस्तारपूर्वक वर्णन है। जागरण, बंधन और छेदन की विधियाँ बताई गई हैं। मृतक के पास बैठकर रात्रिभर जागरण करने तथा उसके हाथ और पैर के अँगूठे को बाँध कर छेदने का विधान है जिससे कोई व्यन्तर उसके शरीर में प्रवेश न कर जाये। फिर अच्छा स्थान देख कर उसे डाभ, अथवा ईंटों के चूर्ण अथवा वृक्ष की केसर से समतल करके, उस पर क्षपक के मृत शरीर को स्थापित कर जंगल से लौट आये।[1]

मूलाचार

मूलाचार[2] को आचारांग भी कहा जाता है, इसके कर्त्ता वट्टकेर आचार्य हैं। वसुदेवनन्दि ने इस पर टीका लिखी है। मूलाचार में मुनियों के आचार का प्रतिपादन है। आवश्यक-निर्युक्ति पिण्डनिर्युक्ति, भत्तपरिण्णा और मरणसमाही आदि श्वेताम्बर ग्रन्थों से मूलाचार की बहुत सी गाथायें मिलती हैं।[3] इसका रचनाकाल निश्चित नहीं है, फिर भी ग्रन्थ की रचना शैली देखते हुए यह भगवती आराधना जितना ही प्राचीन प्रतीत होता है। इसमें बारह अधिकार हैं जो १२५२ गाथाओं में विभाजित हैं। मूल गुणाधिकार में पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रियों का निरोध, छह आवश्यक, लोच, अचेलकत्व, अस्नान, क्षितिशयन, अदन्त-धावन, स्थितिभोजन और एकभक्त—इस प्रकार २८ मूलगुणों

---

१. बृहत्कल्पसूत्र के विष्वग्भवनप्रकरण (४.२९) और उसके भाष्य (५४९७-५५६५) में इस विषय का विस्तार से वर्णन है। बृहत्कल्पभाष्य और भगवतीआराधना की इस विषयक गाथायें हूबहू मिलती हैं।

२. माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमाला बम्बई में विक्रम संवत् १९७७ और १९८० में दो भागों में प्रकाशित हुआ है।

३. पण्डित सुखलाल जी ने पञ्चप्रतिक्रमणसूत्र में मूलाचार की उन गाथाओं की सूची दी है जो आवश्यकनिर्युक्ति में मिलती हैं।

का वर्णन है। वस्त्र, अजिन, वल्कल, और पत्र आदि द्वारा शरीर के असंवृत करने को अचेलत्व कहा है। बृहत्प्रत्याख्यान-संस्तव अधिकार में क्षपक को सर्व पापों का त्याग करके मरण समय में दर्शनाराधना आदि चार आराधनाओं में स्थिर रहने और क्षुधादि परीषहों को जीतकर निष्कषाय होने का उपदेश है। यहाँ महेन्द्रदत्त द्वारा एक ही दिन में मिथिला नगरी में कनकलता, नागलता, विद्युल्लता और कुन्दलता नामकी स्त्रियों, तथा सागरक, वल्लभक, कुलदत्त और वर्धमान नामक पुरुषों के वध करने का उल्लेख है।[1] संक्षेपप्रत्याख्यानाधिकार में सिंह, व्याघ्र आदि द्वारा आकस्मिक मरण उपस्थित होने पर सर्व पापों, कषाय और आहार आदि का त्याग कर समता भाव से प्राण त्याग करने का उपदेश है। समाचाराधिकार में दस प्रकार के आचारों का वर्णन है। तरुण मुनि को तरुण संयती के साथ संभाषण आदि करने का निषेध है। तीन, पाँच अथवा सात की संख्या में परस्पर संरक्षण का भाव मन में धारण करती हुई आर्यिकाओं को भिक्षागमन का उपदेश दिया गया है।[2] आर्यिकाओं को आचार्य से पाँच हाथ दूर बैठकर और उपाध्याय से छह हाथ दूर बैठकर उनकी वंदना करनी चाहिये। पंचाचाराधिकार में दर्शनाचार, ज्ञानाचार आदि पाँच आचार और उसके भेदों का विस्तार से वर्णन है। यहाँ लौकिक मूढ़ता में कौटिल्य, आसुरक्ष,[3] महाभारत और रामायण

---

१. टीकाकार ने इन कथानकों को आगम से अवगत करने के लिये कहा है।

२. इस विषय के विस्तार के लिए देखिये बृहत्कल्पभाष्य ३. ४१०६ आदि।

३. व्यवहारभाष्य (१, पृष्ठ १३२) में माठर और कौडिन्य की दण्डनीति के साथ आसुरुक्ख का उल्लेख है। गोम्मटसार (जीवकांड, पृ० ११७) में भी इसका नाम आया है। ललितविस्तर (पृष्ठ १५६) में इसे आसुर्य नाम से कहा गया है।

का उदाहरण दिया है। स्वाध्यायसम्बन्धी नियमों का प्रतिपादन किया है। गणधर, प्रत्येकबुद्ध, श्रुतकेवली अथवा अभिन्नदशपूर्वी द्वारा कथित ग्रंथ को सूत्र कहा है। आराधनानिर्युक्ति, मरण-विभक्ति, संग्रह (पंचसंग्रह आदि), स्तुति (देवागम आदि), प्रत्याख्यान, आवश्यक और धर्मकथा नाम के सूत्रों का यहाँ उल्लेख है। रात्रिभोजन के दोष बताये हैं। पिण्डशुद्धि अधिकार में मुनियों के आहार आदि ४६ दोषों का वर्णन है। आरम्भ में उद्गम, उत्पादन, एषण, संयोजन, प्रमाण, इंगाल, धूम और कारण दोषों का प्रतिपादन है। षडावश्यक अधिकार में सामयिक आदि छह आवश्यकों का नाम आदि निक्षेपों द्वारा प्ररूपण है। यहाँ कृतिकर्म और कायोत्सर्ग के दोषों का वर्णन है। अर्हत्, आचार्य आदि शब्दों की निरुक्ति बताई है। ऋषभदेव के शिष्य ऋजुस्वभावी और जड़ थे, तथा महावीर के शिष्य वक्र और जड़ थे, अतएव इन दोनों तीर्थंकरों ने छेदोपस्थापना का उपदेश दिया है[1], जबकि शेष तीर्थंकरों ने सामायिक का प्रतिपादन किया है। पार्श्वस्थ, कुशील, संसक्त मुनि, अपसंज्ञ और मृगचरित्र नामक मुनियों को वंदन के अयोग्य बताया है। आलोचना के प्रकार बताये गये हैं। ऋषभदेव और महावीर के शिष्य सर्व नियमों के प्रतिक्रमण दण्डकों को बोलते थे, अन्य तीर्थंकरों के शिष्य नहीं। अनगार भावनाधिकार में लिंग, व्रत, वसति, विहार, भिक्षा, ज्ञान, शरीर संस्कारत्याग, वाक्य, तप और ध्यान-सम्बन्धी दस शुद्धियों का पालन करनेवाले मुनि को मोक्ष की प्राप्ति बताई है। वाक्यशुद्धिनिरूपण में स्त्री, अर्थ, भक्त, खेट, कर्वट, राज, चोर, जनपद, नगर और आकर नामक कथाओं का उल्लेख है। प्राणिसंयम और इन्द्रियसंयमरूपी आरक्षकों द्वारा

---

१. मिलाइये उत्तराध्ययन (२३. २६) की निम्नलिखित गाथा के साथ—

पुरिमा उज्जुजडा उ बंकजडा य पच्छिमा।
मज्झिमा उज्जुपन्नाउ तेण धम्मे दुहाकए॥

तपरूपी नगर का रक्षण किये जाने का उल्लेख है। द्वादशानुप्रेक्षा अधिकार में अनित्य, अशरण आदि बारह अनुप्रेक्षाओं का स्वरूप बताया है। समयसाराधिकार में शास्त्र के सार का प्रतिपादन करते हुए चारित्र को सर्वश्रेष्ठ कहा है। साधु के लिये पिच्छी को आवश्यक बताया है। जीवों की रक्षा के लिये यतना को सर्वश्रेष्ठ कहा है—

प्रश्नः—कधं चरे कधं चिट्ठे कधमासे कधं सये।
कधं भुंजेज्ज भासेज्ज कधं पावं ण बज्झदि ॥[1]

—किस प्रकार आचरण करे, कैसे उठे, कैसे बैठे, कैसे सोये, कैसे खाये, कैसे बोले जिससे पापकर्म का बन्ध न हो।

उत्तर—जदं चरे जदं चिट्ठे जदमासे जदं सये।
जदं भुंजेज्ज भासेज्ज एवं पावं ण बज्झइ ॥

—यत्नपूर्वक आचारण करे, यत्नपूर्वक उठे, यत्नपूर्वक बैठे, यत्नपूर्वक सोये, यत्नपूर्वक भोजन करे, यत्नपूर्वक बोले—इससे पापकर्म का बंध नहीं होता।

पर्याप्ति अधिकार में छह पर्याप्तियों का वर्णन है। पर्याप्ति के संज्ञा, लक्षण, स्वामित्व, संख्यापरिमाण, निर्वृति और स्थितिकाल ये छह भेद बताये हैं। यहाँ गुणस्थानों और मार्गणाओं आदि का प्ररूपण है। शीलगुण नामक अधिकार में १८ हज़ार शील के भेदों का निरूपण है।

---

१. दशवैकालिकसूत्र (४. ६-७) में ये गाथायें निम्नरूप में मिली हैं—

कहं चरे कहं चिट्ठे, कहमासे कहं सये।
कहं भुंजंतो भासंतो, पावं कम्मं न बंधइ ॥
जयं चरे जयं चिट्ठे जयमासे जयं सए।
जयं भुंजंतो भासंतो पावं कम्मं न बंधइ ॥

डॉक्टर ए० एम० घाटगे ने इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, १९३५ में अपने 'दशवैकालिकनिर्युक्ति' नामक लेख में मूलाचार और दशवैकालिकनिर्युक्ति की गाथाओं का मिलान किया है।

कत्तिगेयाणुवेक्खा (कार्तिकेयानुप्रेक्षा)

कार्तिकेयानुप्रेक्षा[1] के कर्ता स्वामी कार्तिकेय अथवा कुमार हैं। ये ईसवी सन् की आठवीं शताब्दी के विद्वान् माने जाते हैं। कुन्दकुन्दकृत बारस अणुवेक्खा और प्रस्तुत ग्रंथ में विषय और भाषा-शैली की दृष्टि से बहुत कुछ समानता देखने में आती है। इस ग्रंथ में ४८९ गाथायें हैं जिनमें अध्रुव, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म नाम की १२ अनुप्रेक्षाओं का विस्तार से वर्णन है। अन्त में १२ तपों का प्रतिपादन है।

गोम्मटसार

गोम्मटसार के कर्ता देशीयगण के नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती हैं जो गंगवंशीय राजा राचमल्ल के प्रधानमन्त्री और सेनापति चामुण्डराय के समकालीन थे। चामुण्डराय ने श्रवणबेलगुल की सुप्रसिद्ध बाहुबलि या गोम्मट (बाहुबलि) स्वामी की प्रतिमा प्रतिष्ठित की थी, इसलिये ये गोम्मटराय भी कहे जाते थे। नेमिचन्द्र विक्रम की ११वी शताब्दी के विद्वान् थे, और सिद्धांतशास्त्र के अद्वितीय पण्डित होने के कारण सिद्धांतचक्रवर्ती कहे जाते थे। नेमिचन्द्र ने लिखा है कि जैसे कोई चक्रवर्ती अपने चक्र द्वारा पृथ्वी के छह खण्डों को निर्विघ्नरूप से अपने वश में कर लेता है, वैसे ही मैंने अपने मतिरूपी चक्रद्वारा छह खण्ड के सिद्धांत का सम्यक् रूप से साधन किया है। नेमिचन्द्र ने अपने ग्रंथ की प्रशस्ति में वीरनन्दि आचार्य का स्मरण किया है। धवल आदि महासिद्धांत ग्रंथों के आधार से उन्होंने गोम्मटसार की रचना की है। गोम्मटसार का

---

१. स्वर्गीय पंडित जयचन्द जी की भाषाटीका सहित गांधी नाथारंग जी द्वारा ईसवी सन् १९०४ में बंबई से प्रकाशित। यह ग्रन्थ पाटनी दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला में भी पं० महेंद्रकुमार जी जैन पाटनी के हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित हुआ है।

दूसरा नाम पंचसंग्रह, गोम्मटसंग्रह या गोम्मटसंग्रहसूत्र भी है। इसे प्रथम सिद्धांतग्रंथ या प्रथम श्रुतस्कंध भी कहा गया है। गोम्मटसार के अतिरिक्त नेमिचन्द्र ने त्रिलोकसार, लब्धिसार और क्षपणासार की भी रचना की है। प्रायः धवल, महाधवल और जयधवल आदि टीकाग्रन्थों के आधार से ही ये ग्रन्थ लिखे गये हैं। गोम्मटसार पर नेमिचन्द्र के शिष्य चामुण्डराय ने कर्णाटक में वृत्ति लिखी थी, इसका नेमिचन्द्र ने अवलोकन किया था। बाद में इस वृत्ति के आधार से केशववर्णी ने संस्कृत में टीका लिखी। फिर अभयचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती ने मन्दप्रबोधिनी नामकी संस्कृत टीका की रचना की। उपर्युक्त दोनों संस्कृत टीकाओं के आधार से पण्डित टोडरमल जी ने सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका नामकी हिन्दी टीका लिखी।

गोम्मटसार दो भागों में विभक्त है—एक जीवकांड[1], दूसरा कर्मकांड।[2] जीवकांड में महाकर्मप्राभृत के सिद्धांतसम्बन्धी जीवस्थान, क्षुद्रबंध, बंधस्वामी, वेदनाखंड, और वर्गणाखंड इन पाँच विषयों का वर्णन है। यहाँ गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, १४ मार्गणा और उपयोग इन २० अधिकारों में जीव की अनेक अवस्थाओं का प्रतिपादन किया गया है। कर्मकांड में प्रकृतिसमुत्कीर्तन, बंधोदयसत्व, सत्वस्थानभंग, त्रिचूलिका, स्थानसमुत्कीर्तन, प्रत्यय, भावचूलिका, त्रिकरणचूलिका और कर्मस्थितिरचना नामक नौ अधिकारों में कर्मों की अवस्थाओं का वर्णन किया गया है।

---

१. रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला बंबई से सन् १९२७ में प्रकाशित।

२. उपर्युक्त शास्त्रमाला में संवत् १९८५ में प्रकाशित। कर्मकांड पर दिलाराम द्वारा फारसी भाषा में कोई टीका लिखे जाने का उल्लेख मिलता है (कैटलाग ऑक्सफोर्ड, १८६४)। यह सूचना मुझे शांति-निकेतन (बंगाल) के फारसी के प्रोफेसर स्वर्गीय जियाउद्दीन द्वारा प्राप्त हुई थी।

त्रिलोकसार

त्रिलोकसार करणानुयोग का एक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है।[1] गोम्मटसार की भाँति यह भी एक संग्रह-ग्रंथ है। इसमें बहुत सी परम्परागत प्राचीन गाथायें ग्रंथ के अंग के रूप में सम्मिलित कर ली गई हैं। चामुंडराय के प्रतिबोध के लिए यह लिखा गया था। माधवचन्द्र त्रैविद्य ने इस पर संस्कृत में टीका लिखी है। मूल ग्रन्थ में भी इनकी बनाई हुई कई गाथायें शामिल हो गई हैं। इसमें कुल मिलाकर १०१८ गाथायें हैं जिनमें लोकसामान्य, भवन, व्यंतरलोक, ज्योतिर्लोक, वैमानिकलोक, और नरकतिर्यग्लोक नामक अधिकारों में तीन लोकों का वर्णन किया गया है।

लब्धिसार

इस ग्रन्थ में विस्तारसहित कर्मों से मुक्त होने का उपाय बताया है। क्षपणासार भी इसी में गर्भित है।[2] राजा चामुंडराय के निमित्त से इस ग्रंथ की रचना की गई है। कषायप्राभृत नामक जयधवल सिद्धांत के १५ अधिकारों में से पश्चिमस्कंध नाम के १५वें अधिकार के आधार से यह लिखा गया है। कर्मों में मोहनीय कर्म सबसे अधिक बलवान है जिसे मिथ्यात्व कर्म भी कहा है। लब्धिसार में इस कर्म से मुक्त होने के लिए पाँच लब्धियों का वर्णन है। इनमें करणलब्धि मुख्य है जिससे मिथ्यात्व कर्म छूट जाने से सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। लब्धिसार में दर्शनलब्धि, चारित्रलब्धि, और क्षायिकचारित्र नाम के तीन अधिकार हैं। उपशमचारित्र अधिकार तक ही केशववर्णी ने टीका लिखी है। इसके आधार से पंडित टोडरमलजी ने भाषाटीका की रचना की है। क्षपणाधिकार की गाथाओं का

---

१. गांधी नाथारंग जी द्वारा सन् १९११ में बंबई से प्रकाशित।

२. रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला में ईसवी सन् १९१६ में बंबई से प्रकाशित।

व्याख्यान माधवचन्द्र त्रैविद्य ने संस्कृत गद्य में किया है, इसी से इसे लब्धिसार क्षपणसार कहा जाता है।

द्रव्यसंग्रह

द्रव्यसंग्रह को भी कोई नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती की रचना मानते हैं। इसमें कुल ५८ गाथायें हैं जिनमें जीव, अजीव, धर्म, अधर्म, आकाश, काल तथा कर्म, तत्व, ध्यान आदि की चर्चा है। इस पर ब्रह्मदेव की संस्कृत में बृहत् टीका है।[1] पंडित द्यानतराय ने द्रव्यसंग्रह का छन्दोनुबद्ध हिन्दी अनुवाद किया है।

जंबुद्दीवपण्णत्तिसंगह

यह करणानुयोग का ग्रन्थ है जिसके कर्ता पद्मनन्दिमुनि हैं।[2] पद्मनन्दि ने अपने आपको गुणगणकलित, त्रिदंडरहित, त्रिशल्यपरिशुद्ध आदि बताते हुए अपने को बलनन्दि का शिष्य कहा है। बलनन्दि पञ्चाचारपरिपालक आचार्य वीरनन्दि के शिष्य थे। वारा नगर में इस ग्रन्थ की रचना हुई; यह नगर पारियत्त (पारियात्र) देश के अन्तर्गत था।[3] सिंहसूरि के लोकविभाग में जम्बुद्दीवपण्णत्ति का उल्लेख मिलता है, इससे इस ग्रंथ का रचना-काल ११वीं शताब्दी के आसपास होने का अनुमान किया जाता है। जम्बुद्दीपपण्णत्ति का बहुत सा विषय

---

१. यह सेक्रेड बुक्स ऑव द जैन्स सीरीज़ में सन् १९१७ में आरा से प्रकाशित हुई है। शरच्चन्द्र घोषाल ने मूल ग्रन्थ का अंग्रेजी में अनुवाद किया है।

२. डॉक्टर ए० एन० उपाध्ये और डॉक्टर हीरालाल जैन द्वारा संपादित; जीवराज जैन ग्रन्थमाला, शोलापुर से सन् १९५८ में प्रकाशित। इस ग्रन्थ की प्रस्तावना में 'तिलोयपण्णत्ति का गणित' नाम का एक महत्त्वपूर्ण निबन्ध दिया है।

३. इसकी पहचान कोटा के बारा कस्बे से की जाती है; देखिए पण्डित नाथूराम प्रेमी, जैन साहित्य और इतिहास, पृष्ठ २५९।

तिलोयपण्णत्ति में मिलता है, दोनों की बहुत सी गाथायें भी समान हैं। वट्टकेर के मूलाचार और नेमिचन्द्र के त्रिलोकसार की गाथायें भी जम्बुद्दीवपण्णत्ति में पाई जाती हैं। इस ग्रंथ में २३८९ गाथायें हैं जो उपोद्घात, भरत-ऐरावत वर्ष, शैल-नदी भोगभूमि, सुदर्शन (मेरु), मन्दरजिनभवन, देवोत्तरकुरु, कक्षाविजय, पूर्वविदेह, अपरविदेह, लवणसमुद्र, द्वीपसागर, अधःऊर्ध्वसिद्धलोक, ज्योतिर्लोक और प्रमाणपरिच्छेद नामक तेरह उद्देशों में विभाजित हैं। यहाँ महावीर के बाद की आचार्य-परम्परा दी है। पहले गौतम, लोहार्य (जिन्हें सुधर्मा भी कहा गया है), और जम्बूस्वामी नाम के तीन गणधर हुए; फिर नन्दि, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु नाम के चौदह पूर्व और बारह अंग के धारक मुनि हुए। इसके बाद विशाखाचार्य, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जय, नाग, सिद्धार्थ, धृतिषेण, विजय, बुद्धिल्ल, गंगदेव और धर्मसेन—ये दस पूर्वधारी हुए। फिर नक्षत्र, यशःपाल, पाण्डु, ध्रुवसेन और कंस ये पाँच ग्यारह अंगों के धारी हुए। इनके पश्चात् सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु और लोह (लोहाचार्य) आचारांगसूत्र के धारक हुए।

धम्मरसायण

धम्मरसायण[1] नाम का पद्मनन्दि का एक और ग्रंथ है। इसमें १९३ गाथाओं में धर्म का प्रतिपादन किया है।

नयचक्र

नयचक्र को लघु नयचक्र नाम से भी कहा जाता है। इसके कर्ता देवसेनसूरि हैं जो ईसवी सन् की दसवीं शताब्दी के विद्वान् हैं। नयचक्र में ८७ गाथाओं में नयों का स्वरूप बताय

१. यह सिद्धांतसार, कल्लाणालोयणा आदि के साथ सिद्धांतसारादि-संग्रह में माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बंबई से वि० सं० १९७९ में प्रकाशित हुआ है।

है।[1] श्वेताम्बर आचार्य यशोविजय उपाध्याय ने देवसेन के नयचक्र का उल्लेख किया है। देवसेन के दर्शनसार से पता लगता है कि वे मूलसंघ के आचार्य थे। उन्होंने आराधनासार, तत्वसार, दर्शनसार और भावसंग्रह नामक ग्रंथों की रचना की है।

नयों के सम्बन्ध में देवसेन ने लिखा है—

धम्मविहीणो सोक्खं तण्हाछेयं जलेण जह रहिदो।
तह तह बंधइ मूढो णयरहिओ दव्वणिच्छित्ती॥

—जैसे धर्म के बिना कोई सुख प्राप्त करना चाहे और जल के बिना तृष्णा शान्त करना चाहे, वैसे ही मूढ़ पुरुष नयों के बिना द्रव्य का निश्चय नहीं कर सकता है।

तथा—

जह रससिद्धो वाई हेमं काऊण भुंजये भोगं।
तह णयसिद्धो जोई अप्पा अणुहवउ अणवरयं॥

—जैसे रससिद्ध वैद्य सोना बनाकर भोगों को भोगता है, वैसे ही नयसिद्ध योगी सतत आत्मा का अनुभव करता है।

आराधनासार

इसमें ११५ गाथायें हैं जिन पर रत्नकीर्तिदेव ने टीका लिखी है।[2] सम्यक्त्व हो जाने पर सूत्रोक्त युक्तियों द्वारा जीवादि पदार्थों के श्रद्धान को आराधना कहा है। यहाँ शिवभूति, सुकुमाल, कोशल, गुरुदत्त, पांडव, श्रीदत्त, सुवर्णभद्र आदि दृष्टान्तों द्वारा विषय का प्रतिपादन किया है। मन को राजा की उपमा दी है जिसकी मृत्यु होने पर इन्द्रिय आदि सेना की भी मृत्यु हो जाती है। जो लोग भागते हुए मन रूपी ऊंट को ज्ञानरूपी रस्सी से पकड़ कर नहीं रखते, वे संसार में भ्रमण

१. माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बंबई द्वारा सन् १९२० में प्रकाशित नयचक्रसंग्रह में संगृहीत।

२. माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बंबई द्वारा वि० सं० १९७४ में प्रकाशित।

करते हुए दुख के भागी होते हैं। मन रूपी वृक्ष को निर्मूल करने के लिए उसकी राग-द्वेष रूपी शाखाओं को काट उन्हें निष्फल बनाकर मोहरूपी जल से वृक्ष को न सींचने का उपदेश दिया है। जैसे जल का संयोग पाकर लवण उसमें विलीन हो जाता है वैसे ही चित्त ध्यान में विलीन हो जाता है।[1] इससे शुभ और अशुभ कर्मों के दग्ध हो जाने से आत्मारूपी अग्नि प्रकट होती है। परीषहों के सम्बन्ध में कहा है—

जहं जहं पीडा जायइ भुक्खाइपरीसहेहिं देहस्स।
तहं तहं गलंति णूणं चिरभवबद्धाइं कम्माइं॥

—जैसे जैसे बुभुक्षा आदि परीषह सहन करने से इस देह को पीड़ा होती है, वैसे-वैसे चिरकाल से बँधे हुए कर्मों का नाश होता है।

तत्वसार

धर्मप्रवर्तन और भव्यजनों के बोध के लिए इस ग्रंथ की रचना की गई है।[2] सकलकीर्ति की इस पर टीका है। इसमें ७४ गाथायें हैं जिनमें तत्व के सार का प्ररूपण है। ध्यान से मोक्ष की सिद्धि बताई है—

चलणरहिओ मणुस्सो जह बंधइ मेरुसिहरमारुहिउं।
तह झाणेण विहीणो इच्छइ कम्मक्खयं साहू॥

—जैसे बिना पाँव का कोई मनुष्य मेरु के शिखर पर चढ़ना चाहे, उसी प्रकार ध्यानविहीन साधु कर्मों के क्षय की इच्छा करता है।

---

१. मिलाइये—कण्हपा के दोहाकोष (३२) के साथ—
जिम लोण विलिज्जइ पाणिएहि तिमि घरिणि लइ चित्त।
समरस जाई तक्खणे जइ पुणु ते समणित्त॥

२. माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला से वि० सं० १९७७ में प्रकाशित तत्वानुशासनादिसंग्रह में संगृहीत।

आत्मध्यान की मुख्यता का प्रतिपादन करते हुए कहा है—

लहइ ण भव्वो मोक्खं जावइ परदव्ववावडो चित्तो।
उग्गतवं पि कुणंतो सुद्धे भावे लहुं लहइ।।

—जब तक पर-द्रव्य में चित्त लगा हुआ है तब तक भव्य पुरुष मोक्ष प्राप्त नहीं करता; उग्र तप करता हुआ वह शीघ्र ही शुद्ध भाव को प्राप्त होता है।

दर्शनसार

दर्शनसार[1] में पूर्वाचार्यकृत ५१ गाथाओं का संग्रह है। देवसेनसूरि ने धारानगरी के पार्श्वनाथ के मन्दिर में विक्रम संवत् ६६० (ईसवी सन् ९३३) में इसकी रचना की। यह रचना बहुत अधिक प्रामाणिक नहीं मानी जाती। इसमें बौद्ध, श्वेताम्बर आदि मतों की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। ऋषभदेव के मिथ्यात्वी पौत्र मरीचि को समस्त मत-प्रवर्तकों का अग्रणी बताया है। पार्श्वनाथ के तीर्थ में पिहिताश्रव के शिष्य बुद्धकीर्ति मुनि को बौद्धधर्म का प्रवर्तक कहा है।[2] उसके मत में मांस और मद्य के भक्षण में दोष नहीं है। राजा विक्रमादित्य की मृत्यु के १३६ वर्ष बाद सौराष्ट्र के अन्तर्गत वलभी नगर में श्वतांबर संघ की उत्पत्ति बताई गई है।[3] भद्रबाहुगणि के शिष्य

---

१. पंडित नाथूराम प्रेमी द्वारा संपादित और जैन ग्रंथ रत्नाकर-कार्यालय, बंबई द्वारा वि० सं० १९७४ में प्रकाशित।

२. माथुरसंघ के सुप्रसिद्ध आचार्य अमितगति ने अपनी धर्म-परीक्षा (६) में बौद्धदर्शन की उत्पत्ति के सम्बन्ध में लिखा है—

रुष्टः श्रीवीरनाथस्य तपस्वी मौडिलायनः।
शिष्यः श्रीपार्श्वनाथस्य विदधे बुद्धदर्शनम्॥

—पार्श्वनाथ की शिष्य परम्परा में मौडिलायन (मौद्‌गल्यायन) नामक तपस्वी ने महावीर से रुष्ट होकर बौद्धदर्शन चलाया।

३. श्वेताम्बरों के अनुसार बोडिय (दिगम्बर) मत की उत्पत्ति का समय भी लगभग यही है, देखिये नाथूराम प्रेमी, दर्शनसार-विवेचना, पृष्ठ २८।

शान्ति आचार्य थे, उनके शिथिलाचारी शिष्य जिनचन्द्र ने इस धर्म को प्रवर्तित किया। इस मत में स्त्रीमुक्ति और केवलीभुक्ति का समर्थन है। इसके पश्चात् विपरीतमत (ब्राह्मणमत) और वैनायिकमत की उत्पत्ति बताई है। महावीर भगवान् के तीर्थ में पार्श्वनाथ तीर्थंकर के संघ के किसी गणी के शिष्य का नाम मस्करी पूरन[1] था, उसने अज्ञानमत का उपदेश दिया। इसके बाद द्राविड़, यापनीय, काष्ठा, माथुर और भिल्लक संघों की उत्पत्ति का कथन है।[2] देवसेन ने उन्हें जैनाभास कहा है।

पूज्यपाद (देवनन्दि) के शिष्य वज्रनन्दि ने विक्रम राजा की मृत्यु के ५२६ वर्ष पश्चात् मथुरा में द्राविड़ संघ चलाया। वज्रनन्दि प्राभृत-ग्रंथों के वेत्ता थे, उन्हें अप्राशुक (सचित्त) चनों के भक्षण करने से रोका गया, पर वे न माने; उन्होंने प्रायश्चित्त-ग्रन्थों की रचना की। कल्याण नामक नगर में विक्रम

---

१. बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार मंखलि गोशाल और पूरणकस्सप ये दोनों अलग व्यक्ति थे।

२. इस ग्रन्थ में उल्लिखित द्राविड़ संघ की उत्पत्ति के समय को छोड़कर शेष संघों का उत्पत्तिकाल ठीक नहीं बैठता। इन संघों में आजकल केवल काष्ठासंघ ही बाकी बचा है, शेष संघों का लोप हो गया है। कई जगह माथुरसंघ को काष्ठासंघ की ही शाखा स्वीकार किया है। कुछ आचार्यों ने काष्ठासंघ (गोपुच्छक) की श्वेताम्बर, द्राविड़ संघ, यापनीय संघ और निःपिच्छिक (माथुर संघ) के साथ गणना कर इन पाँचों को जैनाभास कहा है (देखिये, भट्टारक इन्द्रनन्दिकृत नीतिसार)। यापनीय संघ को गोप्यसंघ भी कहा गया है। आचार्य शाकटायन इसी संघ के एक आचार्य थे। यापनीय संघ के अनुयायी स्त्रीमुक्ति और केवलीभुक्ति को स्वीकार करते थे। हरिभद्रसूरिकृत षड्दर्शनसमुच्चय पर गुणरत्न की टीका के चौथे अध्याय में दिगम्बर सम्प्रदाय के काष्ठा, मूल, माथुर और गोप्य संघों का परिचय दिया है। देखिये नाथूराम प्रेमी, दर्शनसार-विवेचना; तथा 'जैन साहित्य और इतिहास' में यापनीयों का साहित्य नामक लेख।

राजा की मृत्यु के ७०५ वर्ष बाद कलश नामक किसी श्वेतांबर साधु ने यापनीय संघ की स्थापना की। वीरसेन के शिष्य आचार्य जिनसेन हुए, उनके पश्चात् विनयसेन और फिर उनके बाद आचार्य गुणभद्र हुए। विनयसेन ने कुमारसेन मुनि को दीक्षा दी। दीक्षा से भ्रष्ट होकर कुमारसेन ने मयूरपिच्छ का त्याग कर दिया और चमर (चमरी गाय के बालों की पिच्छी) ग्रहण कर वे बागड़ देश में उन्मार्ग का प्रचार करने लगे। उन्होंने स्त्रियों को दीक्षित करने का, क्षुल्लकों को वीरचर्या का, मुनियों को बड़े बालों की पिच्छी रखने का और रात्रिभोजन त्याग का उपदेश दिया। अपने आगम, शास्त्र, पुराण और प्रायश्चित्त ग्रंथों की उन्होंने रचना की। विक्रम राजा की मृत्यु के ७५३ वर्ष पश्चात् उन्होंने नन्दीतट ग्राम में काष्ठासंघ की स्थापना की। इसके २०० वर्ष बाद (विक्रम राजा की मृत्यु के ९५३ वर्ष पश्चात्) रामसेन ने मथुरा में माथुरसंघ चलाया। उसने पिच्छी धारण करने का सर्वथा निषेध किया। तत्पश्चात् वीरचन्द्र मुनि के सम्बन्ध में भविष्यवाणी की कि वह विक्रम राजा की मृत्यु के १८०० वर्ष पश्चात् दक्षिण देश में भिल्लक-संघ की स्थापना करेगा। वह अपना एक अलग गच्छ बनायेगा, अलग प्रतिक्रमण विधि चलायेगा और अलग-अलग क्रियाओं का उपदेश देगा।

भावसंग्रह

भावसंग्रह[1] में दर्शनसार की अनेक गाथायें उद्धृत हैं। इसमें ७०१ गाथायें हैं। सबसे पहले स्नान के दोष बताते हुए स्नान की जगह तप और इन्द्रियनिग्रह से जीव की शुद्धि बताई है। फिर मांस के दूषण और मिथ्यात्व के भेद बताये गये हैं। चौदह गुणस्थानों के स्वरूप का यहाँ प्रतिपादन है।

---

१. माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला द्वारा वि० सं० १९७८ में प्रकाशित भावसंग्रहादि में संगृहीत।

बृहत्‌नयचक्र

इसका वास्तविक नाम दव्वसहावपयास (द्रव्यस्वभावप्रकाश) है[1] जिसमें द्रव्य, गुण, पर्याय, दर्शन, ज्ञान और चरित्र आदि विषयों का वर्णन है। यह एक संग्रह-ग्रंथ है जो ४२३ गाथाओं में पूर्ण हुआ है। ग्रंथ के अन्त में दी हुई गाथाओं से पता लगता है कि दव्वसहायपयास नाम का कोई ग्रंथ दोहा छन्दों में बनाया हुआ था, उसी को माइल्लधवल ने गाथाओं में लिखा। देवसेन योगी के चरणों के प्रसाद से इस ग्रंथ की रचना की गई है। गाथाओं के संग्रहकर्ता माइल्लधवल ने नयचक्र के कर्ता गुरु देवसेन को नमस्कार किया है। माइल्लधवल ने नयचक्र को अपने प्रस्तुत ग्रंथ में गर्भित कर लिया है। इस ग्रंथ में पीठिका, गुण, पर्याय, द्रव्यसामान्य, पंचास्तिकाय, पदार्थ, प्रमाण, नय, निक्षेप, दर्शन, ज्ञान, सरागचारित्र, वीतरागचारित्र और निश्चय-चारित्र नाम के अधिकारों में विषय का प्रतिपादन किया गया है।

ज्ञानसार

ज्ञानसार के[2] कर्ता पद्मसिंह मुनि हैं, वि० सं० १०८६ (ईसवी सन् १०२६) में उन्होंने इस लघु ग्रन्थ की रचना की है। इसमें ६३ गाथायें हैं जिनमें योगी, गुरु, ध्यान आदि का स्वरूप बताया गया है।

वसुनन्दिश्रावकाचार

वसुनन्दिश्रावकाचार[3] के कर्ता आचार्य वसुनन्दि हैं जिनका समय ईसवी सन् की १२वीं शताब्दी का पूर्वार्ध माना जाता

---

१. माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला में सन् १९२० में प्रकाशित नयचक्रसंग्रह में संगृहीत।

२. माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला में तत्वानुशासनादि-संग्रह के अन्तर्गत वि० सं० १९७७ में बम्बई से प्रकाशित।

३. पंडित हीरालाल जैन द्वारा संपादित; भारतीय ज्ञानपीठ, काशी द्वारा सन् १९५२ में प्रकाशित।

है। पण्डित आशाधर जी ने सागारधर्मामृत की टीका में वसुनन्दि का उल्लेख बड़े आदरपूर्वक करते हुए उनके श्रावकाचार की गाथाओं को उद्धृत किया है। इसमें कुल मिलाकर ५४६ गाथायें हैं जिनमें श्रावकों के आचार का वर्णन है। आरम्भ में सम्यग्दर्शन का स्वरूप प्रतिपादन करते हुए जीवों के भेद-प्रभेद बताये गये हैं। अजीव के वर्णन में स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणुओं के स्वरूप का प्रतिपादन है। द्यूत, मद्य, मांस, वेश्या, शिकार, चोरी और परदारसेवन नाम के सात व्यसनों का प्ररूपण है। व्रतप्रतिमा के अन्तर्गत १२ व्रतों का निर्देश है। दान के फल का विस्तृत वर्णन है। पञ्चमी, रोहिणी, अश्विनी, सौख्य-सम्पत्ति, नन्दीश्वरपंक्ति और विमानपंक्ति नामक व्रतों का विधान है। पूजा का स्वरूप बताया गया है। श्रुतदेवी की स्थापना का विधान और प्रतिष्ठाविधि का विस्तृत वर्णन है। पूजन के फल का वर्णन किया गया है।

श्रुतस्कन्ध

श्रुतस्कन्ध[1] के कर्ता ब्रह्मचारी हेमचन्द्र हैं। उन्होंने तैलङ्ग के कुण्डनगर के उद्यान के किसी जिनालय में बैठकर इस ग्रंथ की रचना की थी। हेमचन्द्र रामनन्दि सैद्धांतिक के शिष्य थे। इससे अधिक ग्रंथकर्ता के विषय में और कुछ पता नहीं चलता। श्रुतस्कन्ध में ९४ गाथायें हैं। यहाँ द्वादशांग श्रुत का परिचय कराते हुए द्वादशांग के सकलश्रुत के अक्षरों की संख्या बताई है। सामायिक, स्तुति, वंदन, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्प कल्पाकल्प, महाकल्प, पुंडरीक, महापुंडरीक और निशीथिका आदि की गणना अंगबाह्य श्रुत में की है। चतुर्थकाल में चार वर्षों में साढ़े तीन मास अवशेष रहने पर कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी के दिन वीर भगवान् ने सिद्धि

---

१. माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला में तत्वानुशासनादि-संग्रह के अन्तर्गत वि० सं० १९७७ में बम्बई से प्रकाशित।

प्राप्त की। महावीर निर्वाण के १०० वर्ष पश्चात् कोई श्रुतकेवली उत्पन्न नहीं हुआ। आचार्य भद्रबाहु अष्टांगनिमित्त के वेत्ता थे। धरसेन मुनि चौदह पूर्वों के अन्तर्गत अग्रायणीपूर्व के कर्मप्रकृति नामक अधिकार के वेत्ता थे। उन्होंने भूतबलि और पुष्पदन्त नाम के मुनियों को आगमों के कुछ अंश की शिक्षा दी। तत्पश्चात् उन्होंने छह अधिकारों में षट्खण्डागम की रचना की।

निजात्माष्टक

इसमें केवल आठ गाथायें हैं। इसके कर्ता योगीन्द्रदेव हैं। योगीन्द्रदेव ने परमात्मप्रकाश और योगसार की अपभ्रंश में तथा अमृताशीति की संस्कृत में रचना की है। इनका समय विक्रम की १२वीं शताब्दी के पूर्व माना गया है।

छेदपिण्ड[2]

छेद का अर्थ प्रायश्चित्त होता है, इसे मलहरण, पापनाशन, शुद्धि, पुण्य, पवित्र और पावन नाम से भी कहा गया है। छेदपिण्ड में ३६२ गाथायें हैं जिनमें प्रमाद अथवा दर्प के कारण व्रत, समिति, मूलगुण, उत्तरगुण, तप, गण आदि सम्बन्धी पाप लगने पर साधु-साध्वियों को प्रायश्चित्त का विधान है। इस ग्रंथ के कर्ता इन्द्रनन्दि योगीन्द्र हैं जिनका समय विक्रम की लगभग चौदहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध माना जाता है।

भावत्रिभंगी

भावत्रिभंगी को भावसंग्रह नाम से भी कहा गया है। इसके कर्ता श्रुतमुनि हैं। बालचन्द्र मुनि इनके दीक्षागुरु थे। श्रुतमुनि का

---

१. सिद्धांतसार, कल्लाणालोयणा, निजात्माष्टक, धम्मरसायण, और अंगपण्णत्ति सिद्धांतसारादिसंग्रह में माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रंथ-माला, बम्बई से विक्रम संवत् १९७९ में प्रकाशित हुए हैं।

२. छेदपिण्ड और छेदशास्त्र माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रंथमाला द्वारा वि० सं० १९७८ में प्रकाशित प्रायश्चित्तसंग्रह में संगृहीत हैं।

समय विक्रम संवत् की १५वीं शताब्दी माना गया है। भाव-त्रिभंगी में ११६ गाथायें हैं जिनमें औपशमिक, क्षायिक, मिश्र, औदयिक और पारिणामिक भावों का विवेचन है। इस ग्रंथ की संदृष्टि रचना अलग से दी हुई है।

आस्रवत्रिभंगी

आस्रवत्रिभंगी[1] श्रुतमुनि की दूसरी रचना है। इसमें ६२ गाथायें हैं, इनमें मिथ्यात्व, अविरमण, कषाय और योग नाम के आस्रवों के भेद-प्रभेदों का विवेचन है। इसकी भी संदृष्टि अलग दी हुई है।

सिद्धान्तसार

सिद्धान्तसार के कर्ता जिनचन्द्र आचार्य हैं। इनका समय विक्रम संवत् १५१६ (ईसवी सन् १४६२) के आसपास माना जाता है। इस ग्रन्थ में ७८ गाथाओं में सिद्धांत का सार प्रतिपादन किया है। सिद्धांतसार के ऊपर भट्टारक ज्ञानभूषण ने संस्कृत में भाष्य लिखा है। ज्ञानभूषण का समय वि० सं० १५३४ से १५६१ (ईसवी सन् १४७७ से १५०४) तक माना गया है। ये मूलसंघ, सरस्वतीगच्छ और बलात्कारगण के प्रतिष्ठित विद्वान् थे।

अंगपण्णत्ति

अङ्गप्रज्ञप्ति में १२ अङ्ग और १४ पूर्वों की प्रज्ञप्ति का वर्णन है। चूलिकाप्रकीर्णप्रज्ञप्ति में सामायिक, स्तव, प्रतिक्रमण, विनय, कृतिकर्म, तथा दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्प-व्यवहार, कल्पाकल्प, महाकल्प, महापुंडरीक, णिसेहिय (निशीथिका) और चतुर्दश प्रकीर्णक (पइण्णा) का उल्लेख है। अङ्गप्रज्ञप्ति के कर्ता शुभचन्द्र हैं जो उपर्युक्त सिद्धान्तसार के भाष्यकर्ता ज्ञानभूषण

---

1. भावत्रिभंगी और आस्रवत्रिभंगी माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रंथमाला से वि० सं० १९७८ में प्रकाशित भावसंग्रहादि में संगृहीत हैं।

के प्रशिष्य थे। भट्टारक ज्ञानभूषण की भाँति भट्टारक शुभचन्द्र भी बहुत बड़े विद्वान् थे। वे त्रिविधविद्याधर (शब्द, युक्ति और परमागम के ज्ञाता) और षट्भाषाकविचक्रवर्ती के नाम से प्रख्यात थे। गौड, कलिंग, कर्णाटक, गुर्जर, मालव आदि देशों के वादियों को शास्त्रार्थ में पराजित कर उन्होंने जैनधर्म का प्रचार किया था।

कल्लाणालोयणा

कल्याणालोचना के कर्ता अजितब्रह्म या अजितब्रह्मचारी हैं। इनका समय विक्रम की १६वीं शताब्दी माना जाता है। इनके गुरु का नाम देवेन्द्रकीर्ति था, और भट्टारक विद्यानन्दि के आदेश से भृगुकच्छ में इन्होंने हनुमच्चरित्र की रचना की थी। यह ग्रन्थ ५४ गाथाओं में समाप्त होता है।

ढाढसीगाथा

इसके[1] कर्ता कोई काष्ठसंघी आचार्य हैं। १६वीं शताब्दी के श्रुतसागर सूरि ने षट्पाहुड की टीका में इस ग्रन्थ की एक गाथा उद्धृत की है। ग्रंथकर्ता के सम्बन्ध में और कुछ विशेष पता नहीं चलता। ढाढसीगाथा में ३८ गाथायें हैं। हिंसा के सम्बन्ध में कहा है—

रक्खंतो वि ण रक्खइ सकसाओ जइवि जइवरो होइ।
मारंतो पि अहिंसो कसायरहिओ ण संदेहो॥

—यदि कोई यतिवर कषाययुक्त है तो जीवों की रक्षा करता हुआ भी वह जीवरक्षा नहीं करता। तथा कषायरहित जीव जीवों का हनन करता हुआ भी अहिंसक कहा जाता है, इसमें सन्देह नहीं।

---

1. माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रंथमाला द्वारा वि० सं० १९७७ में प्रकाशित तत्वानुशासनादिसंग्रह में संगृहीत हैं।

छेदशास्त्र

इसे छेदनवति भी कहा गया है[1], इसमें ६० गाथायें (६४) हैं। इस पर एक लघुवृत्ति है। दुर्भाग्य से न तो मूल ग्रन्थकर्ता का और न वृत्तिकार का ही कोई पता चलता है। इसमें व्रत, समिति आदि सम्बन्धी दोषों के प्रायश्चित्त का विधान है।



१. छेदपिण्ड और छेदशास्त्र माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रंथमाला द्वारा वि० सं० १९७८ में प्रकाशित प्रायश्चित्तसंग्रह में संगृहीत हैं।

पाँचवाँ अध्याय

आगमोत्तरकालीन जैनधर्मसंबंधी साहित्य

(ईसवी सन् की ५वीं शताब्दी से लेकर १०वीं शताब्दी तक)

आगम-साहित्य के अतिरिक्त जैन विद्वानों ने जैन-तत्वज्ञान, आचार-विचार, क्रियाकांड, तीर्थ, पट्टावलि, ऐतिहासिक-प्रबन्ध आदि पर भी प्राकृत में साहित्य की रचना की है। यह उत्तर-कालीन साहित्य किसी ग्रंथ की टीका आदि के रूप में न लिखा जाकर प्रायः स्वतंत्र रूप से ही लिखा गया। यद्यपि आगमों की परम्परा के आधार से ही इस साहित्य का सर्जन हुआ, फिर भी आगम-साहित्य की अपेक्षा यह अधिक व्यवस्थित और तार्किकता लिए हुए था। प्रायः किसी एक विषय को लेकर ही इस साहित्य की रचना की गई। प्रकरण-ग्रन्थ तो उपयोगिता की दृष्टि से बहुत ही संक्षेप में लिखे गये। पिछले अध्याय में दिगम्बर सम्प्रदाय के आचार्यों की कृतियों का परिचय दिया गया है, यहाँ श्वेताम्बर सम्प्रदाय के आचार्यों की धार्मिक कृतियों का परिचय दिया जाता है।

(क) सामान्य-ग्रन्थ

विशेषावश्यकभाष्य

विशेषावश्यक को ८४ आगमों में गिना गया है, इससे इस ग्रंथ के महत्व का सहज ही अनुमान किया जा सकता है।[1]

---

1. इस ग्रन्थ की अति प्राचीन ताडपत्रीय प्रति जैसलमेर के भंडार से उपलब्ध हुई है। यह प्रति वि० सं० की दसवीं शताब्दी में लिखी गई थी। मुनि पुण्यविजय जी की कृपा से यह मुझे देखने को मिली है। यह ग्रंथ मलधारि हेमचन्द्रसूरि की टीका सहित यशोविजय जैन

यह छह आवश्यकों में से केवल सामायिक आवश्यक के ऊपर लिखा हुआ भाष्य है जिसके कर्ता जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण (स्वर्गवास वीरनिर्वाण संवत् १०१०=सन् ५४०) हैं। जैन आचार्यों ने इन्हें दुषमाकाल में अंधकार में निमग्न जिनप्रवचन को प्रकाशित करने के लिये प्रदीप-समान बताया है। इनकी यह विशेषता है कि तार्किक होते हुए भी इन्होंने आगमिक परम्परा को सुरक्षित रक्खा है। इसलिये इन्हें आगमवादी अथवा सिद्धांतवादी कहा गया है। इस भाष्य पर इनकी स्वोपज्ञ टीका है, जिसे कोट्टार्यवादी गणि ने समाप्त किया है।[1] जिनभद्रगणि ने जीतकल्पसूत्र, जीतकल्पसूत्रभाष्य, बृहत्संग्रहणी, बृहत्क्षेत्रसमास, विशेषणवती, और अंगुलपदचूर्णी आदि महत्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की है। विशेषावश्यकभाष्य को यदि जैन-ज्ञानमहोदधि कहा जाये तो कोई अत्युक्ति न होगी। जैनधर्म-सम्बन्धी ऐसी कोई भी विषय नहीं जो इसमें न आ गया हो। इस भाष्य में ३६०३ गाथायें हैं। सर्वप्रथम मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान का विस्तार के साथ प्रतिपादन किया है। तत्पश्चात् निक्षेप, नय और प्रमाण का विशद विवेचन है। गणधरवाद का यहाँ सविशेष वर्णन है। फिर आठ निह्नवों का अधिकार है, उसके बाद पंच परमेष्ठियों की व्याख्या की गई है। सिद्धनमस्कारव्याख्या में समुद्घात, शैलेशी, अनन्त सुख, अवगाहना आदि का निरूपण है। अन्त में नय का विवेचन किया गया है।

ग्रंथमाला, बनारस से वीर संवत् २४३७ में प्रकाशित हुआ है। इसका गुजराती अनुवाद आगमोदय समिति की ओर से छपा है। कोट्याचार्य की टीका सहित यह ग्रंथ ऋषभदेवजीकेशरीमल संस्था, रतलाम की ओर से ईसवी सन् १९३६ में प्रकाशित हुआ है।

१. इस टीका को मुनि पुण्यविजय जी शीघ्र ही प्रकाशित कर रहे हैं।

प्रवचनसारोद्धार

इसके कर्ता नेमिचन्द्रसूरि हैं जो विक्रम संवत् की लगभग १३वीं शताब्दी में हुए हैं।[1] इस पर सिद्धसेनसूरि ने टीका लिखी है। इस ग्रंथ में २७६ द्वारों में १५९९ गाथाओं द्वारा जैनधर्मसम्बन्धी अनेक विषयों की चर्चा की गई है। इसे एक प्रकार से जैन विश्वकोष ही कहा जा सकता है। चैत्यवंदन, गुरुवंदन, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग, विंशतिस्थान, जिनभगवान् के यक्ष-यक्षिणी-लांछन-वर्ण-आयु-निर्वाण-प्रातिहार्य-अतिशय आदि, जिनकल्पी, स्थविरकल्पी, महाव्रतसंख्या, चैत्यपंचक, पुस्तकपंचक, दंडकपंचक, तृणपंचक, चर्मपंचक, दूष्यपंचक, अवग्रहपंचक, परीषह, स्थंडिलभेद, आदि अनेक-अनेक विषयों का प्रतिपादन यहाँ किया गया है।

विचारसारप्रकरण

इस ग्रंथ के रचयिता देवसूरि के शिष्य प्रद्युम्नसूरि हैं[2] जो लगभग विक्रम संवत् १३२५ (ईसवी सन् १२६८) में विद्यमान थे। माणिक्यसागर ने इसकी संस्कृत छाया लिखी है। इस ग्रन्थ में ९०० गाथायें हैं जिनमें कर्मभूमि, अकर्मभूमि, अनार्य-देश, आर्यदेश की राजधानियाँ, तीर्थंकरों के पूर्वभव, उनके माता-पिता, स्वप्न, जन्म, अभिषेक, नक्षत्र, लांछन, वर्ण, समवशरण, गणधर आदि तथा बाईस परीषह, वसति की शुद्धि, पात्रलक्षण, दण्डलक्षण, विनय के भेद, संस्तारकविधि, रात्रि-जागरण, अष्टमहाप्रतिहार्य, वीरतप, दस आश्चर्य, कल्कि, नन्द और शकों का काल, विक्रमकाल, दस निह्नव, दिगम्बरोत्पत्तिकाल, चैत्य के प्रकार, ८४ लाख योनि, सिद्धों के भेद आदि विविध विषयों का विस्तार से वर्णन है।

---

१. देवचंद लालभाई जैन पुस्तकोद्धार द्वारा बंबई से सन् १९२२ और १९२६ में दो भागों में प्रकाशित।

२. आगमोदयसमिति, भावनगर की ओर से सन् १९२३ में प्रकाशित।

(ख) दर्शन-खंडन-मंडन

सम्मइपयरण (सन्मतिप्रकरण)

सिद्धसेन दिवाकर विक्रम संवत् की ५वीं शताब्दी के विद्वान् हैं, इन्होंने सन्मतितर्कप्रकरण की रचना है।[1] जैनदर्शन और न्याय का यह एक प्राचीन और महत्वपूर्ण ग्रन्थ है जिसमें नयवाद का विवेचन कर अनेकांतवाद की स्थापना की गई है। इस पर मल्लवादी ने टीका लिखी है जो आजकल अनुपलब्ध है। दिगम्बर विद्वान् सन्मति ने इस पर विवरण लिखा है। प्रद्युम्नसूरि के शिष्य अभयदेवसूरि ने इस महान् ग्रंथ पर वाद-महार्णव या तत्वबोधविधायिनी नाम की एक विस्तृत टीका की रचना की है। सन्मतितर्क में तीन काण्ड हैं। प्रथम काण्ड में ५४ गाथायें हैं जिनमें नय के भेदों ओर अनेकांत की मर्यादा का वर्णन है। द्वितीय काण्ड में ४३ गाथाओं में दर्शन-ज्ञान की मीमांसा की गई है। तृतीय खण्ड में ६९ गाथायें हैं जिनमें उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य तथा अनेकांत की दृष्टि से ज्ञेयतत्व का विवेचन है। यहाँ जिनवचन को मिथ्यादर्शनों का समूह कहा गया है।[2]

---

१. अभयदेवसूरि की टीकासहित पंडित सुखलाल और पंडित बेचरदास द्वारा संपादित; पुरातत्वमंदिर, अहमदाबाद से वि० सं० १९८०, १९८२, १९८४, १९८५, और १९८७ में प्रकाशित। गुजराती अनुवाद, विवेचन और प्रस्तावना के साथ पूंजाभाई जैन ग्रंथमाला की ओर से सन् १९३२ में, तथा अंग्रेजी अनुवाद और प्रस्तावना के साथ श्वेतांबर एज्युकेशन बोर्ड की ओर से सन् १९३९ में प्रकाशित।

२. भद्दं मिच्छादंसणसमूहमइअस्स अमयसारस्स।
जिणवयणस्स भगवओ संविग्गसुहाइमग्गस्स ॥ ३–६९

विशेषावश्यकभाष्य (गाथा ९५४) में मिथ्यात्वमयसमूह को सम्यक्त्व मान कर पर-सिद्धान्त को ही स्वसिद्धान्त बताया गया है।

धम्मसंगहणी (धर्मसंग्रहणी)

हरिभद्रसूरि का यह दार्शनिक ग्रंथ है।[1] इसके पूर्वार्ध में पुरुषवादिमतपरीक्षा, अनादिनिधनत्व, अमूर्तत्व, परिणामित्व और ज्ञायकत्व, तथा उत्तरार्ध भाग में कर्तृत्व, भोक्तृत्व और सर्वज्ञसिद्धि का प्ररूपण है।

प्रवचनपरीक्षा

प्रवचनपरीक्षा एक खंडनात्मक ग्रंथ है, इसका दूसरा नाम है कुपक्षकौशिकसहस्रकिरण।[2] इसे कुमतिमतकुद्दाल भी कहा गया है। तपागच्छ के धर्मसागर उपाध्याय ने विक्रम संवत् १६२६ (ईसवी सन् १५७२) में अपने ही गच्छ को सत्य और बाकी को असत्य सिद्ध करने के लिये इस ग्रंथ की सवृत्तिक रचना की थी। विक्रम संवत् १६१७ (ईसवी सन् १५६०) में पाटण में खरतरगच्छ और तपागच्छ के अनुयायियों में इस विषय पर विवाद हुआ कि 'अभयदेवसूरि खरतरगच्छ के नहीं थे'। आगे चलकर तपागच्छ के नायक विजयदानसूरि ने प्रवचनपरीक्षा को जल की शरण में पहुँचा कर इस वाद-विवाद को रोक दिया। धर्मसागरसूरि ने चतुर्विध संघ के समक्ष क्षमा याचना की।[3] प्रवचनसारपरीक्षा के पूर्व और उत्तर नाम के दो भाग हैं। इनमें तीर्थस्वरूप, दिगम्बरनिराकरण, पौर्णिमीयकमत-निराकरण, खरतर, आंचलिक, सार्धपौर्णिमीयकनिराकरण, आगमिकमतनिराकरण, लुम्पाकमतनिराकरण, कटुकमतनिरा-

---

१. देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार ग्रंथमाला की ओर से सन् १९१६ और १९१८ में दो भागों में प्रकाशित।

२. ऋषभदेवजीकेशरीमल संस्था, रतलाम की ओर से सन् १९३७ में प्रकाशित।

३. धर्मसागर उपाध्याय के अन्य ग्रंथों के लिए देखिये मोहनलाल दलीचंद देसाई, जैन साहित्य नो संक्षिप्त इतिहास, पृष्ठ ५८२, ३।

करण, बीजायतनिराकरण और पाशचन्द्रमतनिराकरण नाम के विश्रामों द्वारा अन्य मतों का खंडन किया गया है।

उत्सूत्रखंडन

धर्मसागर उपाध्याय की यह दूसरी रचना है[1] जिसे उन्होंने जिनदत्तसूरि गुरु के उपदेश से लिखा था। इसमें स्त्री को पूजा का निषेध, जिनभवन में नर्तकी नचाने का निषेध, मासकल्पविहार, मालारोपणअधिकार, पटलाधिकार, चामुंडा आदि की आराधना तथा पंचनदी की साधना में अदोष आदि विषयों का वर्णन है।

युक्तिप्रबोधनाटक

यह खंडन-मंडन का ग्रंथ है।[2] मेघविजय महोपाध्याय ने विक्रम संवत् की १८वीं शताब्दी में इसकी रचना की है। इसमें २५ गाथाएँ हैं, जिन पर मेघविजय की स्वोपज्ञ टीका है। इसमें विक्रम संवत् १६८० में आविर्भूत वाणारसीय (बनारसीदास) दिगम्बर मत का खंडन किया है। बनारसीदास के साथी रूपचन्द, चतुर्भुज, भगवतीदास, कुमारपाल और धर्मदास का यहाँ उल्लेख है। दिगम्बर और श्वेताम्बरों के ८४ मतभेदों का यहाँ विवेचन है।

(ग) सिद्धान्त

जीवसमास

इसकी रचना पूर्वधारियों द्वारा की गई है।[3] ज्योतिष्करंडक की भाँति जैन आगमों की वलभी वाचना का अनुसरण करके

---

१. जिनदत्तसूरि ज्ञानभांडागार, गोपीपुरा, सूरत की ओर से सन् १९३३ में प्रकाशित।

२. ऋषभदास केशरीमल श्वेताम्बर संस्था, रतलाम की ओर से ईसवी सन् १९२८ में प्रकाशित।

३. आगमोदय समिति, भावनगर की ओर से सन् १९२७ में प्रकाशित।

इसकी भी रचना हुई है। इसमें २८६ गाथाओं में सत्, प्रमाण, क्षेत्र, स्पर्श, काल, अन्तर और भाव की अपेक्षा जीवाजीव का विचार किया गया है। इस पर मलधारि हेमचन्द्रसूरि ने विक्रम संवत् ११६४ (ईसवी सन् ११०७) में ७०० श्लोकप्रमाण बृहद्-वृत्ति की रचना की है। शीलांक आचार्य ने भी इस पर वृत्ति लिखी है।

विशेषणवती

इसके रचयिता जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण हैं।[1] इसमें ४०० गाथाओं में वनस्पतिअवगाह, जलावगाह, केवलज्ञान-दर्शन, बीजसजीवत्व आदि विषयों का वर्णन है।

विंशतिविंशिका

इसके कर्ता याकिनीसूनु हरिभद्रसूरि हैं।[2] इसके प्रत्येक अधिकार में बीस-बीस गाथायें हैं जिनमें लोक, अनादित्व, कुलनीतिलोकधर्म, चरमावर्त, बीज, सद्धर्म, दान, पूजा, श्रावक-धर्म, यतिधर्म, आलोचना, प्रायश्चित्त, योग, केवलज्ञान, सिद्धभेद, सिद्धसुख आदि का वर्णन है।

सार्धशतक

इसका दूसरा नाम सूक्ष्मार्थसिद्धांतविचारसार है।[3] इसके कर्ता जिनवल्लभसूरि हैं। इस पर ११० गाथाओं का एक अज्ञात-कर्तृक भाष्य है; मुनिचन्द्र ने चूर्णी, तथा हरिभद्र, धनेश्वर और चक्रेश्वर ने वृत्तियाँ लिखी हैं।

---

१. ऋषभदेव केशरीमल संस्था, रतलाम की ओर से सन् १९२७ में प्रकाशित।

२. वही; प्रोफेसर के० वी० अभ्यंकर ने इसका अंग्रेजी अनुवाद किया है जो मूल और संस्कृत छाया सहित अहमदाबाद से सन् १९३२ में प्रकाशित हुआ है।

३. आत्मानंद जैन सभा, भावनगर की ओर से प्रकाशित।

भाषारहस्यप्रकरण

इसके कर्ता उपाध्याय यशोविजय हैं, इस पर उन्होंने स्वोपज्ञ विवरण लिखा है।[1] इसमें १०१ गाथाएँ हैं जिनमें द्रव्यभाषा और भावभाषा की चर्चा करते हुए जनपद, सम्मत, स्थापना, नाम, रूप, प्रतीत्य, व्यवहार, भाव, योग और औपम्य नाम के दस सत्यों का विवेचन है।

(घ) कर्मसिद्धांत

जैनधर्म में कर्मग्रन्थों का बहुत महत्व है। श्वेतांबर और दिगम्बर दोनों ही आचार्यों ने कर्मसिद्धांत का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। कर्मसिद्धांतसम्बन्धी साहित्य का यहाँ कुछ परिचय दिया जाता है।

कम्मपयडि (कर्मप्रकृति)

कर्मप्रकृति[2] के लेखक आचार्य शिवशर्म हैं। इसमें ४१५ गाथाओं में बंधन, संक्रमण, उद्वर्तन, अपवर्तन, उदीरणा, उपशमना, उदय और सत्ता नामक आठ करणों का विवेचन है। इस पर चूर्णी भी लिखी गई है। मलयगिरि और उपाध्याय यशोविजय ने इस पर टीकायें लिखी हैं।

सयग (शतक)

शतक शिवशर्म की दूसरी रचना है। इस पर मलयगिरि ने टीका लिखी है।[3]

---

१. राजनगर (अहमदाबाद) की जैनग्रंथ प्रकाशक सभा की ओर से विक्रम संवत् १९९७ में प्रकाशित।

२. मुक्ताबाई ज्ञानमंदिर, डभोई द्वारा सन् १९३७ में प्रकाशित। मूल, संस्कृत छाया और गुजराती अनुवाद के साथ माणेकलाल चुन्नीलाल की ओर से सन् १९३८ में प्रकाशित।

३. जैन आत्मानंद सभा भावनगर की ओर से सन् १९४० में प्रकाशित। इसके साथ देवेन्द्रसूरिकृत शतक नाम का पाँचवाँ नव्य कर्मग्रंथ और उसकी स्वोपज्ञ टीका भी प्रकाशित हुई है।

पंचसंगह (पंचसंग्रह)

पार्श्वऋषि के शिष्य चन्द्रर्षि महत्तर ने पंचसंग्रह[1] की रचना की है। इस पर उन्होंने स्वोपज्ञ वृत्ति लिखी है। मलयगिरि की इस पर भी टीका है। इसमें ९६३ गाथायें हैं जो सयग, सत्तरि, कसायपाहुड, छकम्म और कम्मपयडि नाम के पाँच द्वारों में विभक्त हैं। गुणस्थान, मार्गणा, समुद्घात, कर्मप्रकृति, तथा बंधन, संक्रमण आदि का यहाँ विस्तृत वर्णन है।

प्राचीन कर्मग्रन्थ

कम्मविवाग, कम्मत्थव, बंधसामित्त, सडसीइ, सयग और सित्तरि ये छह कर्मग्रंथ गिने जाते हैं। इनमें कम्मविवाग के कर्त्ता गर्गर्षि हैं; कम्मत्थव और बंधसामित्त के कर्त्ता अज्ञात हैं। जिनवल्लभगणि ने सडसीइ नाम के चौथे कर्मग्रन्थ की रचना की है।[2] सयग नाम के पाँचवें कर्मग्रन्थ के रचयिता आचार्य शिवशर्म हैं, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। छठे कर्मग्रंथ के कर्त्ता अज्ञात हैं।

इन कर्मग्रंथों का विषय गहन होने के कारण उन पर भाष्य, चूर्णियाँ और अनेक वृत्तियाँ लिखी गई हैं। उदाहरण के लिये, दूसरे कर्मग्रंथ के ऊपर एक और चौथे कर्मग्रंथ के ऊपर दो भाष्य हैं; इन तीनों भाष्यों के कर्त्ताओं के नाम अज्ञात हैं।

---

१. स्वोपज्ञवृत्ति सहित जैन आत्मानंद सभा की ओर से सन् १९२७ में प्रकाशित। मलयगिरि की टीका के साथ हीरालाल हंसराज की ओर से सन् १९१० आदि में चार भागों में प्रकाशित। मूल संस्कृत छाया तथा मूल और मलयगिरि टीका के अनुवाद सहित दो खंडों में सन् १९३५ और सन् १९४१ में प्रकाशित।

२. ये चार कर्मग्रंथ संस्कृत टीका सहित जैन आत्मानंद सभा की ओर से वि० सं० १९७२ में प्रकाशित हुए हैं। इनकी भूमिका में विद्वान् संपादक चतुरविजय जी महाराज ने कर्मसिद्धान्त का विवेचन करते हुए इस विषय के साहित्य की सूची दी है।

चौथे कर्मग्रंथ के ऊपर रामदेव ने चूर्णी लिखी है। पाँचवें कर्म-ग्रन्थ पर तीन भाष्य हैं; इनमें दो अज्ञातकर्तृक हैं और अप्रकाशित हैं। पाँचवें कर्मग्रन्थ शतक-बृहद्भाष्य के कर्ता चक्रेश्वर हैं।[1] इनके ऊपर दो चूर्णियाँ हैं। एक के कर्ता चन्द्रर्षि-महत्तर और दूसरी के अज्ञात हैं। छठे कर्मग्रन्थ पर अभयदेव सूरि ने भाष्य लिखा है। विक्रम संवत् १४४९ (ईसवी सन् १३९२) में मेरुतुंग ने इस पर वृत्ति लिखी है।[2] इस कर्मग्रन्थ पर एक और अज्ञातकर्तृक भाष्य तथा चूर्णी उपलब्ध है।[3]

नव्य कर्मग्रन्थ

तपागच्छीय जगच्चन्द्रसूरि के शिष्य तथा सुदंसणाचरिय, भाष्यत्रय, सिद्धपंचाशिका, श्राद्धदिनकृत्यवृत्ति आदि के कर्ता देवेन्द्रसूरि (स्वर्गवास विक्रम संवत् १३२७=ईसवी सन् १२७०) ने कर्मविपाक, कर्मस्तव, बन्धस्वामित्व, षडशीति[4] और शतक नाम के पाँच कर्मग्रन्थों की रचना की है। इन पर उनका स्वोपज्ञ विवरण भी है। प्राचीन कर्मग्रंथों को आधार मानकर इनकी रचना की गई है, इसलिये इन्हें नव्य कर्मग्रंथ कहा जाता है। पहले कर्मग्रंथ में ६० गाथायें हैं जिनमें ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्म, उनके भेद-प्रभेद, और उनके विपाक का दृष्टांतपूर्वक प्रतिपादन किया गया है। दूसरे कर्मग्रन्थ में ३४ गाथायें हैं; यहाँ १४ गुणस्थानों का स्वरूप और इन गुणस्थानों में कर्मप्रकृतियों के बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता का प्ररूपण है। तीसरे कर्मग्रंथ में २४ गाथायें हैं, इनमें मार्गणा के आश्रय से जीवों के कर्मप्रकृतिविषयक बंध-स्वामित्व का वर्णन है। चौथे

---

१. वीर समाज ग्रंथरत्न द्वारा वि० सं० १९८० में प्रकाशित।

२. जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर से प्रकाशित।

३. वि० सं० १९९९ में प्रकाशित।

४. आत्मानन्द जैनग्रंथ रत्नमाला में ईसवी सन् १९३४ में प्रकाशित।

कर्मग्रन्थ में ८६ गाथायें हैं, इनमें जीवस्थान, मार्गणास्थान, गुणस्थान, भाव और संख्या इन पाँच विषयों का विस्तृत विवेचन है।

पाँचवें कर्मग्रन्थ[1] में १०० गाथाएँ हैं। इनमें पहले कर्मग्रन्थ में वर्णित कर्मप्रकृतियों में से कौन सी प्रकृतियाँ ध्रुवबंधिनी, अध्रुवबंधिनी, ध्रुवोदया, अध्रुवोदया, ध्रुवसत्ताका, अध्रुवसत्ताका, सर्वदेशघाती, अघाती, पुण्यप्रकृति, पापप्रकृति, परावर्तमानप्रकृति, और अपरावर्तमानप्रकृति होती हैं, इसका निरूपण है।

छठे कर्मग्रन्थ में ७० (या ७२) गाथायें हैं। इसके प्रणेता का नाम अज्ञात है। आचार्य मलयगिरि ने इस पर टीका लिखी है। इसमें कर्मों के बन्ध, उदय, सत्ता, और प्रकृतिस्थान के स्वरूप का प्रतिपादन है।

योगविंशिका

इसके रचयिता हरिभद्रसूरि हैं। इस पर यशोविजयगणि ने विवरण प्रस्तुत किया है।[2] यहाँ २० गाथाओं में योगशुद्धि का विवेचन करते हुए स्थान, ऊर्ण (शब्द), अर्थ, आलंबन, रहित (निर्विकल्प चिन्मात्रसमाधि) के भेद से पाँच प्रकार का योग बताया गया है।

---

१. आत्मानन्द जैनग्रंथ रत्नमाला में ईसवी सन् १९४० में प्रकाशित। इसी जिल्द में चन्द्रर्षि महत्तरकृत सित्तरी (सप्ततिका-प्रकरण) भी है। श्वेताम्बरों के छह कर्मग्रन्थों और दिगम्बरों के कर्मसिद्धांतविषयक ग्रन्थों की तुलनात्मक सूची भी यहाँ प्रस्तुत की गई है। पाँच कर्मग्रन्थों का अंग्रेजी में संक्षिप्त परिचय 'द डॉक्ट्रीन ऑव कर्मन इन जैन फिलासफी' (डॉक्टर हेल्मुथ फॉन ग्लाज़नेप की जर्मन पुस्तक का अनुवाद) की भूमिका में दिया है।

२. राजनगर (अहमदाबाद) की श्री जैनग्रंथ प्रकाशक सभा की ओर से भाषारहस्यप्रकरण के साथ विक्रम संवत् १९९७ में प्रकाशित।

(ङ) श्रावकाचार

मुनियों के आचार की भाँति श्रावकों के आचार-विषयक भी अनेक ग्रंथों की रचना प्राकृत में हुई। इनमें मूल आवश्यक-सूत्र पर लिखे हुए व्याख्या-ग्रन्थों का स्थान बहुत महत्व का है।

सावयपण्णत्ति (श्रावकप्रज्ञप्ति)

यह रचना उमास्वाति की कही जाती है।[1] कोई इसे हरिभद्रकृत मानते हैं। इसमें ४०१ गाथाओं में श्रावकधर्म का विवेचन है।

सावयधम्मविहि (श्रावकधर्मविधि)

यह रचना हरिभद्रसूरि की है।[2] मानदेवसूरि ने इस पर विवृति लिखी है। १२० गाथाओं में सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का वर्णन करते हुए यहाँ श्रावकों की विधि का प्रतिपादन किया है।

सम्यक्त्वसप्तति

यह भी हरिभद्रसूरि की कृति है। संघतिलकाचार्य ने इस पर वृत्ति लिखी[3] है। इसमें १२ अधिकारों द्वारा ७० गाथाओं में सम्यक्त्व का स्वरूप बताया है। अष्ट प्रभावकों में वज्रस्वामी, मल्लवादि, भद्रबाहु, विष्णुकुमार, आर्यखपुट, पादलिप्त, और सिद्धसेन का चरित प्रतिपादित किया है।

जीवानुशासन

इसके कर्ता वीरचन्द्रसूरि के शिष्य देवसूरि हैं जिन्होंने विक्रम संवत् ११६२ (ईसवी सन ११०५) में इस ग्रन्थ की रचना

---

१. ज्ञानप्रसारकमंडल द्वारा वि० सं० १९६१ में बम्बई से प्रकाशित।

२. आत्मानन्द जैनसभा, भावनगर द्वारा सन् १९२४ में प्रकाशित।

३. देवचन्दलाल भाई जैन पुस्तकोद्धार ग्रंथमाला की ओर से सन् १९१६ में प्रकाशित।

की थी ।[1] इस पर स्वोपज्ञवृत्ति भी इन्होंने लिखी है । यहाँ ३२३ गाथाओं में बिम्बप्रतिष्ठा, वन्दनकत्रय, संघ, मासकल्प, आचार और चारित्रसत्ता के ऊपर विचार किया गया है ।

द्वादशकुलक

इसके कर्ता अभयदेवसूरि के शिष्य जिनवल्लभसूरि (स्वर्गवास विक्रम संवत् ११६७=ईसवी सन् १११०) हैं ।[2] जिनपालगणि ने इस पर विवरण लिखा है । यहाँ सम्यग्ज्ञान का महत्व, गुणस्थानप्राप्ति, धर्मसामग्री की दुर्लभता, मिथ्यात्व आदि का स्वरूप और क्रोध आदि अंतरंग शत्रुओं के परिहार का उपदेश दिया है ।

पच्चक्खाणसरूव (प्रत्याख्यानस्वरूप)

इसके कर्ता यशोदेवसूरि हैं जिन्होंने विक्रम संवत् ११८२ (ईसवी सन् ११२५) में इसकी रचना की है ।[3] स्वोपज्ञवृत्ति भी उन्होंने लिखी है । इसमें ४०० गाथाओं में प्रत्याख्यान का स्वरूप बताया है ।

चेइयवंदणभास

इस भाष्य के कर्ता शान्तिसूरि हैं[4] जिन्होंने लगभग ९००

---

१. हेमचन्द्राचार्य ग्रंथावलि में वि० सं० १९८४ में प्रकाशित ।

२. जिनदत्तसूरि प्राचीनपुस्तकोद्धार फंड ग्रंथमाला की ओर से सन् १९३४ में बम्बई से प्रकाशित ।

३. ऋषभदेव केशरीमल जी संस्था की ओर से सन् १९२७ में प्रकाशित ।

४. शांतिसूरि नाम के कई आचार्य हो गये हैं । एक तो उत्तराध्ययनसूत्र की वृत्ति के कर्ता थारापद्गच्छ के वादिवेताल शांतिसूरि हैं जो वेबर के अनुसार वि० सं० १०९६ में परलोक सिधारे । दूसरे पृथ्वीचन्द्रचरित्र के कर्ता शांतिसूरि हैं जिन्होंने वि० सं० ११६१ में इस चरित्र की रचना की । ये पीपलियागच्छ के संस्थापक माने गये

गाथाओं में यह भाष्य लिखा है।[1] इस पर वृत्ति भी लिखी गई है।

धम्मरयणपगरण (धर्मरत्नप्रकरण)

धर्मरत्नप्रकरण के कर्ता शांतिसूरि हैं[2], इन्होंने इस पर स्वोपज्ञ-वृत्ति की भी रचना की है। शांतिसूरि विक्रम की १२ वीं शताब्दी के विद्वान् हैं। यहाँ बताया है कि योग्यता प्राप्त करने के लिये श्रावक को प्रकृतिसौम्य, लोकप्रिय, भीरु, अशठ, लज्जालु, सुदीर्घदर्शी आदि गुणों से युक्त होना चाहिये। छह प्रकार का शील तथा भावसाधु के सात लक्षण यहाँ बताये हैं।

धम्मविहिपयरण (धर्मविधिप्रकरण)

इसके कर्ता श्रीप्रभ हैं जिनका समय ईसवी सन् ११९६ (अथवा १२२९) माना जाता है।[3] इस पर उदयसिंहसूरि ने विवृति लिखी है। धर्मविधि के द्वार, धर्मपरीक्षा, धर्म के दोष, धर्म के भेद, गृहस्थधर्म आदि विषयों का यहाँ विवेचन है। धर्म का स्वरूप प्रतिपादन करते हुए इलापुत्र, उदायन राजा, कामदेव, श्रावक, जंबूस्वामी, प्रदेशी राजा, मूलदेव, विष्णुकुमार, सम्प्रति आदि की कथाएँ वर्णित हैं।

हैं। इनमें से कौन से शांतिचन्द्र ने चेइयवंदणभाष्य की रचना की और कौन से ने धर्मरत्नप्रकरण लिखा, इसका निर्णय नहीं हुआ है। देखिये जैनग्रंथावलि, पृ० २४, १८१ के फुटनोट।

१. आत्मानन्द जैनसभा, भावनगर की ओर से वि० सं० १९७७ में प्रकाशित।

२. जैनग्रंथ प्रकाशक सभा, अहमदाबाद की ओर से वि० सं० १९५३ में प्रकाशित।

३. हंसविजय जी फ्री लाइब्रेरी, अहमदाबाद से सन् १९२४ में प्रकाशित। नन्नसूरि ने भी धर्मविधिप्रकरण की रचना की है जिसमें दस दृष्टान्तों द्वारा ज्ञान और दर्शन की सिद्धि की गई है।

पर्यूषणादशशतक

इसके कर्ता प्रवचनपरीक्षा के रचयिता धर्मसागर उपाध्याय हैं।[1] इसमें ११० गाथायें हैं जिन पर ग्रंथकर्ता ने वृत्ति लिखी है।

ईर्यापथिकीषट्त्रिंशिका

धर्मसागर उपाध्याय की यह दूसरी रचना है।[2] इसमें ३६ गाथायें हैं जिन पर ग्रन्थकर्ता की स्वोपज्ञवृत्ति है।

देववंदनादिभाष्यत्रय

देवेन्द्रसूरि (स्वर्गवास वि० सं० १३२६=ईसवी सन् १२६६) ने देववन्दन, गुरुवन्दन, और प्रत्याख्यानवन्दन के ऊपर भाष्य लिखे हैं।[3] इसमें भगवान् के समक्ष चैत्यवन्दन, गुरुओं का वन्दन और प्रत्याख्यान का वर्णन है। सोमसुन्दरसूरि ने इस पर अवचूरि लिखी है।

संबोधसप्ततिका

इसके कर्ता सिरिवालकहा के रचयिता रत्नशेखरसूरि (ईसवी सन् की १४वीं शताब्दी) हैं। पूर्वाचार्यकृत निशीथचूर्णी आदि ग्रन्थों के आधार से उन्होंने इस ग्रन्थ की रचना की है।[4] अमरकीर्त्तिसूरि की इस पर वृत्ति है। इस ग्रंथ में समताभाव,

---

१. ऋषभदेव केशरीमल संस्था की ओर से सन् १९३६ में सूरत से प्रकाशित।

२. देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार ग्रंथमाला की ओर से सन् १९१२ में प्रकाशित।

३. आत्मानन्द जैन सभा, भावनगर द्वारा वि० सं० १९६९ में प्रकाशित।

४. बिठलजी हीरालाल हंसराज द्वारा सन् १९३९ में प्रकाशित।

सम्यक्त्व, जीवदया, सुगुरु, सामायिक, साधु के गुण, जिनागम का उत्कर्ष, संघ, पूजा, गच्छ, ग्यारह प्रतिमा आदि का प्रतिपादन है। समताभाव के सम्बन्ध में कहा है—

सेयंबरो य आसंबरो य, बुद्धो य अहव अन्नो वा।
समभावभावियप्पा, लहेय मुक्खं न संदेहो॥

—श्वेताम्बर हो या दिगम्बर, बौद्ध हो या कोई अन्य, जब तक आत्मा में समता भाव नहीं आता, मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती।

धम्मपरिक्खा (धर्मपरीक्षा)

इसके कर्ता उपाध्याय यशोविजय (ईसवी सन् १६८६ में स्वर्गवास) हैं।[1] इसमें धर्म का लक्षण, संप्रदाय-बाह्यमतखंडन, सूत्रभाषक के गुण, केवलीविषयक प्रश्न, सद्गुरु, अध्यात्मध्यान की स्तुति आदि विषयों का विवेचन है।

पौषधप्रकरण

इसे पौषधषट्त्रिंशिका भी कहा जाता है। इसके कर्ता जयसोमगणि (ईसवी सन् १५८८) हैं।[2] बादशाह अकबर की सभा में इन्होंने वादियों को परास्त किया था। इसमें ३६ गाथायें हैं जिन पर ग्रन्थकर्ता ने स्वोपज्ञ वृत्ति लिखी है।

वैराग्यशतक

इसके कर्ता कोई पूर्वाचार्य हैं।[3] गुणविनयगणि ने ईसवी सन् की १७वीं शताब्दी में इस पर वृत्ति लिखी है। इसमें १०५ गाथाओं में वैराग्य का सरस वर्णन किया है।

---

१. हेमचन्द्राचार्य सभा के जगजीवनदास उत्तमचन्द की ओर से सन् १९२२ में अहमदाबाद से प्रकाशित।

२. जिनदत्तसूरि प्राचीन पुस्तकोद्धार फंड, सूरत की ओर से सन् १९३३ में प्रकाशित।

३. देवचन्दलाल भाई जैन पुस्तकोद्धार ग्रंथमाला में ईसवी सन् १९४१ में प्रकाशित।

वैराग्यरसायनप्रकरण

इसके कर्ता लक्ष्मीलाभ गणि[1] हैं। १०२ गाथाओं में यहाँ वैराग्य का वर्णन है।

व्यवहारशुद्धिप्रकाश

इसके कर्ता रत्नशेखरसूरि हैं।[2] इन्होंने इस ग्रन्थ में आजीविका के सात उपाय, पुत्रशिक्षा, ऋणसम्बन्धी दृष्टान्त, परदेशगमनसम्बन्धी नीति, व्यवहारशुद्धि, मूर्खशतक, परोपकारी का लक्षण, इन्द्रियस्वरूप आदि व्यावहारिक जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली बातों का विवेचन किया है।

परिपाटीचतुर्दशकम्

इसके कर्ता उपाध्याय विनयविजय हैं।[3] इन्होंने अष्टापद-तीर्थवन्दन, सम्मेतशिखर-तीर्थवन्दन, शत्रुंजय-तीर्थवंदन, नन्दीश्वरद्वीप-चैत्यवन्दन, विहरमान-जिनवन्दन, विंशति जाततीर्थ-वन्दन, भरत-ऐरावत-तीर्थवन्दन, १६० जिनवन्दन, १७० जिनवन्दन, चतुर्विंशति त्रितयवन्दन आदि चौदह परिपाटियों का विवेचन किया है।

इसके अतिरिक्त अभयदेवसूरि के वंदणयभास (बृहद्वंदन भाष्य), जीवदयापयरण, नाणाचित्तपयरण, मिच्छत्तमहणकुलय और दंसणकुलय आदि कितने ही जैन आचार के ग्रंथ हैं जिनमें आचारविधि का वर्णन किया गया है[4]।

---

१. देवचन्दलाल भाई जैन पुस्तकोद्धार ग्रंथमाला में ईसवी सन् १९४१ में प्रकाशित।

२. हर्षसूरि जैन ग्रंथमाला, भावनगर की ओर से वि० सं० २००६ में प्रकाशित।

३. जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर की ओर से वि० सं० १९८४ में प्रकाशित।

४. ये लघुग्रंथ ऋषभदेव केशरीमल संस्था, रतलाम की ओर से सन् १९२९ में प्रकाशित सिरिपयरणसंदोह में संग्रहीत हैं। क्रिया-संबंधी अन्य ग्रंथों के लिए देखिये जैन ग्रन्थावलि, पृ० १४८-५४।

(च) प्रकरण-ग्रन्थ

लघुग्रन्थ को प्रकरण कहते हैं। धर्मोपदेश देते समय साधुओं के लिये प्रकरण-ग्रन्थ बहुत उपयोगी होते हैं। संक्षिप्त होने से इन्हें कंठस्थ करने में भी बड़ी सुविधा रहती है। इसके अतिरिक्त जो साधु इन ग्रन्थों को पढ़े रहते थे, उनका आगम-सिद्धांत में शीघ्र ही प्रवेश हो सकता था। जैनधर्मसंबंधी विविध विषयों का प्रतिपादन करने के लिये प्राकृत-साहित्य में अनेक प्रकरण-ग्रन्थ लिखे गये हैं। आत्मानन्द ग्रन्थरत्नमाला के संचालक मुनि चतुरविजय जी महाराज ने अनेक प्रकरण-ग्रन्थों का प्रकाशन किया है।

जीवविचारप्रकरण

इसके[1] कर्ता शांतिसूरि हैं। इसमें ५१ गाथाओं में जीव के स्वरूप का विचार है। रत्नाकरसूरि, ईश्वराचार्य और मेघनन्द आदि ने इस पर टीकायें लिखी हैं।

नवतत्त्वगाथाप्रकरण

इसमें ५३ गाथाओं में नवतत्त्वों का विवेचन है। इसके कर्ता देवगुप्त हैं। नवांगीकार अभयदेवसूरि ने इस पर भाष्य[2] और यशोदेव ने वृत्ति लिखी है। धर्मविजय ने सुमंगला नाम की टीका लिखी है।[3]

---

१. जीवविचार, नवतत्त्वदंडक, लघुसंघयणी, बृहत्संघयणी, त्रैलोक्यदीपिका, लघुक्षेत्रसमास और षट्कर्मग्रंथ ये प्रकरण-ग्रंथ श्रावक भीमसिंह माणेक की ओर से लघुप्रकरणसंग्रह नाम से संवत् १९५९ में प्रकाशित हुए हैं।

२. आत्मानन्द जैनसभा द्वारा वि० सं० १९६९ में प्रकाशित।

३. मुक्तिकमल जैन मोहनमाला, भावनगर की ओर से सन् १९३४ में प्रकाशित।

दंडकप्रकरण

इसे विचारषट्त्रिंशिका भी कहा गया है। इसके कर्ता गजसार मुनि हैं।

लघुसंघयणी

इसे जंबूद्वीपसंग्रहणी भी कहते हैं। इसके कर्ता बृहद्गच्छीय हरिभद्रसूरि हैं जिन्होंने ३० गाथाओं में जंबूद्वीप का वर्णन किया है।

बृहत्संग्रहणी

इसके कर्ता जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण[1] हैं। मलयगिरि, शालिभद्र, जिनवल्लभ आदि ने इस पर टीकायें लिखी हैं। जैन आचार्यों ने और भी संग्रहणियों की रचना की है, लेकिन औरों की अपेक्षा बड़ी होने से इसे बृहत्संग्रहणी कहा गया है। चार गति के जीवों की स्थिति आदि का संग्रह होने से इसे संग्रहणी कहते हैं।[2]

बृहत्क्षेत्रसमास

यह जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण की कृति है। इसे समयक्षेत्र-समास अथवा क्षेत्रसमासप्रकरण भी कहा गया है।[3] आचार्य मलयगिरि ने इस पर वृत्ति लिखी है। अन्य आचार्यों ने भी इस पर टीकायें लिखी हैं। इस ग्रंथ में जम्बूद्वीप, लवणसमुद्र,

---

१. आत्मानंद जैन सभा, भावनगर की ओर से वि० सं० १९७३ में प्रकाशित।

२. बृहत्संग्रहणी और तिलोयपण्णत्ति की समान मान्यताओं के लिए देखिए तिलोयपण्णत्ति की प्रस्तावना, पृ० ७४।

३. जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर की ओर से वि० सं० १९७७ में प्रकाशित।

धातकीखंड, कालोदधि और पुष्करार्ध इन पाँच प्रकरणों में द्वीप और समुद्रों का वर्णन है।[1]

नव्य बृहत्क्षेत्रसमास

इसके कर्ता सोमतिलक सूरि हैं। इसमें ४८६ गाथायें हैं। इस पर गुणरत्न आदि विद्वानों ने वृत्तियाँ लिखी हैं।

लघुक्षेत्रसमास

इसके कर्ता रत्नशेखरसूरि हैं। विक्रम संवत १४६६ (सन् १४३६) में इन्होंने षडावश्यकवृत्ति की रचना की थी। इसमें २६२ गाथायें हैं जिन पर लेखक की स्वोपज्ञ वृत्ति है। आजकल लघुक्षेत्रसमास का ही अधिक प्रचार है। अढ़ाई द्वीप का इसमें वर्णन है।

श्रीचंद्रीयसंग्रहणी

इसके कर्ता मलधारि हेमचन्द्र के शिष्य श्रीचन्द्रसूरि हैं। इसमें ३१३ गाथायें हैं जिन पर मलधारि देवभद्र ने वृत्ति लिखी है।

समयसारप्रकरण

इसके[2] कर्ता देवानन्द आचार्य हैं, स्वोपज्ञ टीका भी उन्होंने लिखी है। इस प्रकरण में दस अध्यायों में जीव, अजीव, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान आदि का प्ररूपण किया गया है।

षोडशकप्रकरण

यह रचना[3] हरिभद्रसूरि की है जिस पर यशोभद्रसूरि और

---

१. गणित के नियमों आदि में बृहत्क्षेत्रसमास और यतिवृषभ की तिलोयपण्णत्ति में समानता के लिये देखिये तिलोयपण्णत्ति की प्रस्तावना, पृ० ७५–७।

२. आत्मानन्द जैनसभा, भावनगर द्वारा वि० सं० १९७१ में प्रकाशित।

३. देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार द्वारा सन् १९११ में प्रकाशित।

यशोविजय जी की टीकायें हैं। इसमें १६ प्रकरणों में धर्मपरीक्षा, देशना, धर्मलक्षण, लोकोत्तरतत्वप्रज्ञप्ति, प्रतिष्ठाविधि, पूजाफल, दीक्षाधिकार, समरस आदि का विवेचन है।

पंचाशकप्रकरण

पंचाशक[1] हरिभद्र की कृति है, इस पर अभयदेवसूरि की वृत्ति है। इसमें श्रावकधर्म, दीक्षा, चैत्यवन्दना, पूजाविधि, यात्राविधि, साधुधर्म, सामाचारी, पिंडविशुद्धि, आलोचनाविधि, साधुप्रतिमा, तपोविधि आदि का ५०-५० गाथाओं में वर्णन है। आद्यपंचाशक पर यशोदेवसूरि ने चूर्णी लिखी है।

नवपदप्रकरण

नवपदप्रकरण के[2] कर्ता देवगुप्तसूरि हैं, ये जिनचन्द्र के नाम से प्रख्यात थे। इस पर इनकी श्रावकानंदी नाम की स्वोपज्ञ लघु वृत्ति है जो विक्रम संवत् १०७३ (सन् १०१६) में लिखी गई थी। यशोदेव उपाध्याय, देवेन्द्र, और कुलचन्द्र आदि विद्वानों ने भी इस प्रकरण पर वृत्ति लिखी है। इसमें मिथ्यात्व, सम्यक्त्व और बारह व्रतों के संबंध में विवेचन किया गया है।

सप्ततिशतस्थानप्रकरण

इसके कर्ता सोमतिलक हैं।[3] देवविजय जी ने इस पर टीका लिखी है। यहाँ १७० स्थानों में २४ तीर्थंकरों का वर्णन है।

अन्य प्रकरण-ग्रन्थ

इसके अतिरिक्त अन्य अनेकानेक प्रकरण-ग्रन्थों की रचना की गई। इनमें धर्मघोषसूरि का समवसरणप्रकरण, विजयविमल

---

१. जैनधर्म प्रसारक सभा द्वारा सन् १९१२ में प्रकाशित।

२. देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार ग्रंथमाला द्वारा सन् १९२७ में प्रकाशित।

३. जैन आत्मानन्दसभा द्वारा वि० सं० १९७५ में प्रकाशित।

का विचारपंचाशिका, महेन्द्रसूरि का विचारसत्तरि, देवेन्द्रसूरि का सिद्धपंचाशिका, अभयदेव का पंचनिर्ग्रंथीप्रकरण, धर्मघोष का बंधषट्त्रिंशिकाप्रकरण, रत्नशेखर का गुणस्थानक्रमारोहप्रकरण, शान्तिसूरि का धर्मरत्नप्रकरण,[1] लोकनालिकाप्रकरण, देहस्थिति-प्रकरण, श्रावकव्रतभंगप्रकरण, प्रज्ञापनातृतीयपदसंग्रहणीप्रकरण, अन्नायउंछप्रकरण, निगोदषट्त्रिंशिकाप्रकरण, परमाणुविचारषट्-त्रिंशिकाप्रकरण, पुद्गलषट्त्रिंशिकाप्रकरण, सिद्धदंडिकाप्रकरण (देवेन्द्रसूरिकृत), सम्यक्त्वपंचविंशतिकाप्रकरण, कर्मसंवेद्यभंग-प्रकरण, क्षुल्लकभवावलि प्रकरण (धर्मशेखरगणिकृत), मंडलप्रकरण (विनयकुशलकृत), गांगेयप्रकरण अंगुलसप्ततिकाप्रकरण, वनस्पति-सत्तरिप्रकरण (मुनिचन्द्रकृत), देवेन्द्रनरकेन्द्रप्रकरण[2] (हरिभद्रकृत), कूपदृष्टांतविशदीकरणप्रकरण[3] (यशोविजयकृत), पुद्गलभंगप्रकरण, पुद्गलपरावर्तस्वरूपप्रकरण, षट्स्थानकप्रकरण, भूयस्कारादिविचार-प्रकरण, बंधहेतूदयत्रिभंगीप्रकरण (हर्षकुलकृत), बंधोदयप्रकरण, कालचक्रविचारप्रकरण, जीवाभिगमसंग्रहणीप्रकरण, गुरुगुणषट्-त्रिंशिकाप्रकरण (वज्रसेनकृत), त्रिषष्टिशलाकापंचाशिकाप्रकरण, कालसत्तरिप्रकरण (धर्मघोषकृत), सूक्ष्मार्थसत्तरिप्रकरण (चक्रेश्वर-सूरिकृत), योनिस्तवप्रकरण, लब्धिस्तवप्रकरण, लोकांतिकस्तव प्रकरण,[4] आदि मुख्य हैं। कर्मग्रन्थों का भी प्रकरणों में अन्तर्भाव होता है।

---

१. जैनग्रंथ प्रकाशक सभा द्वारा अहमदाबाद से वि० सं० २०१० में प्रकाशित।

२. इस पर मुनिचन्द्रसूरि की वृत्ति है। जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर की ओर से सन् १९२२ में प्रकाशित।

३. जैन ग्रन्थ प्रकाशक सभा, राजनगर (अहमदाबाद) की ओर से वि० सं० १९९७ में प्रकाशित।

४. देखिये जैन ग्रंथावलि, श्री जैन श्वेताम्बर कन्फ्रेस, मुंबई, वि० सं० १९६५, पृ० १३२-४५।

(छ) सामाचारी

सामाचारी अर्थात् साधुओं का आचार-विचार; इस पर भी अनेक ग्रन्थ प्राकृत में लिखे गये हैं[1]। किसी पूर्वाचार्य विरचित आयारविहि अथवा सामाचारीप्रकरण में सम्यक्त्व, व्रत, प्रतिमा, तप, प्रव्रज्या, योगविधि, आदि का विवेचन है।[2] तिलकाचार्य की सामाचारी[3] में साधुओं के आचार-विचार से संबंध रखनेवाले योग, तपस्या, लोच, उपस्थापना, वसति, कालग्रहणविधि आदि विषयों का प्रतिपादन है। धनेश्वरसूरि के शिष्य श्रीचन्द्रसूरि ने भी सुबोधसामाचारी की रचना की है।[4] भावदेवसूरि ने श्रीयतिदिनचर्या[5] का संकलन किया है। किसी चिरंतन आचार्य ने पंचसूत्र[6] की रचना की है, इस पर हरिभद्र ने टीका लिखी है। हरिभद्रसूरि के पंचवस्तुकसंग्रह[7] में प्रव्रज्या, प्रतिदिनक्रिया, उपस्थापना, अनुज्ञा और सल्लेखना के विवेचन-पूर्वक साधुओं के आचार का वर्णन है। हरिभद्रसूरि की दूसरी

---

१. विशेष के लिये देखिये जैन ग्रंथावलि, श्रीजैन श्वेताम्बर कान्फरेन्स, मुंबई द्वारा प्रकाशित, पृ० १५५–५७।

२. जैन आत्मानन्द सभा की ओर से सन् १९१९ में प्रकाशित।

३. डाह्याभाई मोकमचन्द, अहमदाबाद द्वारा वि० सं० १९९० में प्रकाशित।

४. देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार ग्रंथमाला की ओर से सन् १९२४ में प्रकाशित।

५. ऋषभदेव केशरीमल संस्था, रतलाम की ओर से सन् १९३६ में में प्रकाशित।

६. लब्धिसूरीश्वर जैनग्रंथमाला द्वारा सन् १९३९ में प्रकाशित।

७. देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार ग्रंथमाला की ओर से सन् १९२७ में प्रकाशित।

रचना है संबोधप्रकरण; इसका दूसरा नाम तत्वप्रकाशक भी है। इसमें देवस्वरूप तथा गुरुअधिकार में कुगुरु, गुर्वाभास, पार्श्वस्थ आदि के स्वरूप का प्रतिपादन है। गुरुतत्वविनिश्चय के रचयिता उपाध्याय यशोविजय हैं, इस पर उनकी स्वोपज्ञ वृत्ति भी है।[1] इसमें चार उल्लास हैं जिनमें गुरु का माहात्म्य, आगम आदि पाँच व्यवहारों का निरूपण, पार्श्वस्थ आदि कुगुरुओं का विस्तृत वर्णन, दूसरे गच्छ में जाने की परिपाटी का विवेचन, साधुसंघ के नियम, सुगुरु का स्वरूप तथा पुलक आदि पाँच निर्ग्रन्थों का निरूपण किया गया है। यतिलक्षणसमुच्चय उपाध्याय यशोविजय जी की दूसरी रचना है।[2] इसमें २२७ गाथाओं में मुनियों के लक्षण बताये गये हैं।

(ज) विधिविधान (क्रियाकाण्ड)

विधिमार्गप्रपा

विधिमार्गप्रपा के रचयिता जिनप्रभसूरि एक असाधारण प्रभावशाली जैन आचार्य थे जिन्होंने विक्रम संवत् १३६३ (ईसवी सन् १३०६) में अयोध्या में इस ग्रन्थ को लिखकर समाप्त किया था।[3] इस ग्रन्थ में साधु और श्रावकों की नित्य और नैमित्तिक क्रियाओं की विधि का वर्णन है। क्रियाकांडप्रधान इस ग्रन्थ में ४१ द्वार हैं। इनमें सम्यक्त्व-व्रत आरोपणविधि, परिग्रहपरिमाणविधि, सामायिक आरोपणविधि और मालारोपण-विधि, आदि का वर्णन है। मालारोपणविधि में मानदेवसूरि-रचित ५४ गाथाओं का उवहाणविहि नामक प्राकृत का प्रकरण उद्धृत किया है जो महानिशीथ के आधार से रचा गया है।

---

१. आत्मानन्द जैन सभा, भावनगर की ओर से सन् १९२५ में प्रकाशित।

२. जैनधर्मप्रसारक सभा, भावनगर से वि० सं० १९६५ में प्रकाशित।

३. मुनि जिनविजय जी द्वारा सम्पादित निर्णयसागर प्रेस, बम्बई से सन् १९४१ में प्रकाशित।

कुछ लोग महानिशीथ सूत्र की प्रामाणिकता में सन्देह करते हैं, इसलिये आठवें द्वार में किसी पूर्व आचार्य द्वारा रचित उवहाणपइट्ठापंचासय नाम का प्रकरण उद्धृत है। यहाँ महानिशीथ की प्रामाणिकता का समर्थन किया गया है। तत्पश्चात् प्रौषधविधि, प्रतिक्रमणविधि, तपोविधि, नंदिरचनाविधि, लोचकरणविधि, उपयोगविधि, आदिमअटनविधि, उपस्थापनाविधि, अनध्यायविधि, स्वाध्यायप्रस्थापनविधि, योगनिक्षेपणविधि आदि का वर्णन है। योगनिक्षेपणविधि में कालिक और उत्कालिक के भेदों का प्रतिपादन है। योगविधि में दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, दशा-कल्प-व्यवहार, भगवती, नायाधम्मकहा, उवासग, अंतगड, अणुत्तरोववाइय, विपाक, दृष्टिवाद (व्युच्छिन्न) आदि आगमों के विषय का वर्णन है। वाचनाविधि में आगमों की वाचना करने का उल्लेख है। आगम आदि का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् साधु उपाध्याय और आचार्य की तथा साध्वी प्रवर्तिनी और महत्तरा की पदवी को प्राप्त होती है। तत्पश्चात् अनशनविधि, महापारिष्ठापनिकाविधि (शरीर का अन्त्य संस्कार करने की विधि), प्रायश्चित्तविधि, प्रतिष्ठाविधि, आदि का वर्णन है। प्रतिष्ठाविधि संस्कृत में है, यहाँ जिनबिंबप्रतिष्ठा, ध्वजारोप, कूर्मप्रतिष्ठा, यंत्रप्रतिष्ठा, और स्थापनाचार्यप्रतिष्ठा का वर्णन है। मुद्राविधि भी संस्कृत में है; इसमें भिन्न-भिन्न मुद्राओं का उल्लेख है। इसके पश्चात् ६४ योगनियों के नामों का उल्लेख है। फिर तीर्थयात्राविधि तिथिविधि और अंगविज्जासिद्धिविही बताई गई है। अंगविज्जा की यहाँ साधनाविधि प्रतिपादित की गई है।

इसके अलावा जिनवल्लभसूरि की पोसहविहिपयरण, दाणविहि, प्रत्याख्यानविचारणा, नंदिविधि आदि कितने ही लघुग्रंथ इस विषय पर लिखे गये।[1]

---

१. देखिये जैन ग्रंथावलि, पृ० १४८–१५४।

(झ) तीर्थ-संबंधी विविधतीर्थकल्प

विविधतीर्थ अथवा कल्पप्रदीप[1] जिनप्रभसूरि की दूसरी रचना है। जैसे हीरविजयसूरि ने मुगल सम्राट् अकबर बादशाह के दरबार में सम्मान प्राप्त किया था, वैसे ही जिनप्रभसूरि ने तुगलक मुहम्मदशाह के दरबार में आदर पाया था। जिनप्रभसूरि ने गुजरात, राजपूताना, मालवा, मध्यप्रदेश, बराड, दक्षिण, कर्णाटक, तेलंग, बिहार, कोशल, अवध, उत्तरप्रदेश और पंजाब आदि के तीर्थस्थानों की यात्रा की थी। इसी यात्रा के फलस्वरूप विविध-तीर्थकल्प नामक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक ग्रंथ की रचना की गई है। यह ग्रंथ विक्रम संवत् १३८९ (ईसवी सन् १३३२) में समाप्त हुआ। इसमें गद्य और पद्यमय संस्कृत और प्राकृत भाषा में विविध कल्पों की रचना हुई है, जिनमें लगभग ३७-३८ तीर्थों का परिचय दिया है। इसमें कुल मिलाकर ६२ कल्प हैं। रैवतकगिरिकल्प में राजमतीगुहा, छत्रशिला, घंटशिला और कोटिशिला नाम की तीन शिलाओं का उल्लेख है। अणहिल्ल-वाडय नगर के वस्तुपाल और तेजपाल नाम के मंत्रियों का नामोल्लेख है जिन्होंने आबू के सुप्रसिद्ध जिनमंदिरों का निर्माण कराया। पार्श्वनाथकल्प में पावा, चंपा, अष्टापद, रेवत, संमेद, काशी, नासिक, मिहिला और राजगृह आदि प्रमुख तीर्थों का उल्लेख किया गया है। अहिच्छत्रानगरीकल्प में जयंती, नागद-मणी, सहदेवी, अपराजिता, लक्षणा आदि अनेक महा औषधियों के नाम गिनाये हैं। मथुरापुरीकल्प में अनेक तोरण, ध्वजा, और मालाओं से सुशोभित स्तूप का उल्लेख है। इस स्तूप को कोई स्वयंभूदेव का और कोई नारायण का स्तूप कहता था, बौद्ध इसे बुद्धांड मानते थे। लेकिन यह स्तूप जैन स्तूप बताया गया है। मथुरा के मंगलचैत्य का प्ररूपण बृहत्कल्पसूत्र-भाष्य में

---

१. मुनि जिनविजय जी द्वारा संपादित, सिंघी जैन ज्ञानपीठ में १९३४ में प्रकाशित।

किया गया है। मथुरा के कुसत्थल, महाथल आदि पाँच स्थलों और वृन्दावन, भंडीरवन, मधुवन आदि बारह वनों के नाम यहाँ गिनाये हैं। विक्रम संवत् ८२६ में श्री बप्पभट्टिसूरि ने मथुरा में श्री वीरबिंब की स्थापना की। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने यहाँ के देवनिर्मित स्तूप में देवता की आराधना कर दीमकों से खाये हुए त्रुटित महानिशीथसूत्र को ठीक किया (संधिअं)। अश्वावबोधतीर्थकल्प में सउलिआविहार (शकुनिकाविहार) नामक प्रसिद्ध तीर्थ का उल्लेख है। सत्यपुरकल्प में विक्रम संवत् १३५६ में अलाउद्दीन सुलतान के छोटे भाई उल्लुखाँ का माधव मन्त्री से प्रेरित हो दिल्ली से गुजरात के लिए प्रस्थान करने का उल्लेख है। अपापाबृहत्कल्प में बताया है कि महावीर ने साधु-जीवन में ४२ चातुर्मास निम्नप्रकार से व्यतीत किये—१ अस्थिग्राम में, ३ चंपा और पृष्ठचंपा में, १२ वैशाली और वाणिय-ग्राम में, १४ नालंदा और राजगृह में, ६ मिथिला में, २ भद्दिया में, १ आलभिया में, १ पणियभूमि में, और १ श्रावस्ती में, अंतिम चातुर्मास उन्होंने मध्यमपावा में हत्थिसाल राजा की शुल्क-शाला में व्यतीत किया। यहाँ पालग, नंद, मौर्यवंश, पुष्यमित्र, बलमित्र-भानुमित्र, नरवाहन, गर्दभिल्ल, शक और विक्रमादित्य राजाओं का काल बताया गया है। अणहिलपुरस्थित अरिष्ट-नेमिकल्प में चाउक्कड, चालुक्य आदि वंशों के राजाओं के नाम गिनाये हैं। तत्पश्चात् गुजरात में अलाउद्दीन सुलतान का राज्य स्थापित हुआ। कपर्दियक्षकल्प में कवडियक्ष की उत्पत्ति बताई है। श्रावस्ती नगरी महेठि के नाम से कही जाती थी। वाराणसीनगरीकल्प में मणिकर्णिका घाट का उल्लेख है जहाँ ऋषि लोग पंचाग्नि तप किया करते थे। यहाँ धातुवाद, रसवाद, खन्यवाद, मंत्र और विद्या में पंडित तथा शब्दानुशासन, तर्क, नाटक, अलंकार, ज्योतिष, चूडामणि, निमित्तशास्त्र, साहित्य आदि में निपुण लोग रसिकों के मन आनन्दित किया करते थे। देववाराणसी में विश्वनाथ का मंदिर था। राजधानीवाराणसी

में यवन रहते थे, तीसरी वाराणसी का नाम मदनवाराणसी (मदनपुरा) और चौथी का विजयवाराणसी था। कन्यानयम-महावीरकल्प परिशेष में पालित्तय (पादलिप्त), मल्लवादी, सिद्धसेन दिवाकर, हरिभद्रसूरि और हेमचन्द्रसूरि का उल्लेख है। स्तंभनककल्पशिलोंछ में नागार्जुन सूरि का उल्लेख है, उन्हें रसविद्या सिद्ध थी। अभयदेवसूरि ने नौ अंगों पर वृत्ति लिखी।

(ञ) पट्टावलियाँ

अनेक जैन पट्टावलियाँ भी प्राकृत में लिखी गई हैं। इनमें जैन आचार्य और गुरुओं की परम्परायें दी हुई हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से ये बहुत महत्वपूर्ण हैं। इनमें मुनिसुंदर की गुर्वावलि (यशोविजय जैन ग्रंथमाला, वाराणसी से वीर संवत् २४३७ में प्रकाशित), अंचलगच्छीय बृहत्पट्टावलि (जामनगर से वीर संवत् २४५५ में प्रकाशित), पट्टावलिसमुच्चय (दो भागों में; मुनि दर्शनविजय चारित्रस्मारक ग्रंथमाला में सन् १६३३ और सन् १६५० में प्रकाशित), तथा धर्मसागरगणिविरचित और स्वोपज्ञवृत्ति सहित तपागच्छ पट्टावलि (पंन्यास कल्याणविजय जी, भावनगर से सन् १६४० में प्रकाशित) मुख्य हैं। इसी प्रकार खरतर गच्छपट्टावलि, पडिवालगच्छीय पट्टावलि (अप्रकाशित) आदि और भी कितनी ही गुर्वावलियाँ लिखी गई हैं जिनका अध्ययन प्राकृत साहित्य के इतिहास की दृष्टि से आवश्यक है।

(ट) प्रबन्ध

प्राकृत में ऐतिहासिक प्रबंधों की भी रचना हुई। इनमें बप्पभट्टिप्रबंध, मल्लवादिप्रबंध, सिद्धसेनप्रबंध आदि मुख्य हैं; ये अप्रकाशित हैं। संस्कृत में जैन आचार्यों ने चतुर्विंशति-प्रबंध (राजशेखर), प्रबंधचिंतामणि (मेरुतुंग), प्रभावकचरित (प्रभाचन्द्र), वस्तुपालप्रबंध (राजशेखर) आदि प्रबंधों की रचना की। ये पुरातनप्रबंध भारतवर्ष के इतिहास और प्राकृत भाषाओं के अध्ययन की दृष्टि से अत्यंत उपयोगी हैं।



छठा अध्याय

प्राकृत कथा-साहित्य

(ईसवी सन् की ४थी शताब्दी से १७वीं शताब्दी तक)

कथाओं का महत्व

कहानी की कला अत्यंत प्राचीन काल से चली आती है। हर देश की अपनी-अपनी लोककथायें होती हैं और जो देश लोककथाओं से जितना ही समृद्ध है, उतना ही वह सभ्य और सुसंस्कृत माना जाता है। हमारे देश का कथा-साहित्य काफी संपन्न है। इस साहित्य में अनेकानेक कथायें, वार्तायें, आख्यान, दृष्टांत, उपमा, उदाहरण आदि मिलते हैं जो शिक्षाप्रद होने के साथ-साथ प्रेरणादायक और मनोरंजक भी हैं। ऋग्वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, महाभारत, रामायण आदि में कितने ही बोधप्रद और मनोरंजक कथानक हैं। बौद्धों की जातककथायें कथा-साहित्य का अनुपम भंडार है। पैशाची भाषा में लिखी हुई गुणाढ्य की बड्डकहा (बृहत्कथा) कहानियों का अक्षय कोष ही था। जैन विद्वान् पूर्णभद्रसूरि का संस्कृत में लिखा हुआ पंचतंत्र तो इतना लोकप्रिय हुआ कि आगे चलकर पाठक यही भूल गये कि वह किसी जैन विद्वान् की रचना हो सकती है। वस्तुतः बिना पढ़े-लिखे अथवा कम पढ़े-लिखे तथा बालक और अज्ञ लोगों को बोध देने के लिये कहानी सर्वोत्कृष्ट साधन है और वह भी यदि उन्ही की भाषा में सुनाई जाये।

आगम-साहित्य में कथायें

प्राचीन जैन आगमों में कथा-साहित्य की दृष्टि से नायाधम्मकहाओ का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। यहाँ उदाहरण, दृष्टांत, उपमा, रूपक, संवाद और लोकप्रचलित कथा-कहानियों द्वारा

संयम, तप और त्याग के उपदेशपूर्वक धर्मकथा का विवेचन किया गया है। धन्य सार्थवाह और उसकी चार पतोहुओं की कहानी एक सुंदर लोककथा है जिसके द्वारा कल्याणमार्ग का उपदेश दिया गया है। इसी प्रकार मयूरी के अंडे, दो कछुए, तुंबी, नंदीफल वृक्ष, कालियद्वीप के अश्व आदि दृष्टांतों द्वारा धार्मिक उपदेश दिया है। जिनपालित और जिनरक्षित का आख्यान संसार के प्रलोभनों से बचने के लिये एक सुंदर आख्यान है। तालाब के मेढक और समुद्र के मेढक का संवाद उल्लेखनीय है। सूत्रकृतांग में कमलों से आच्छादित सुन्दर पुष्करिणी के दृष्टांत द्वारा धर्म का उपदेश दिया है। इस पुष्करिणी के बीचोंबीच एक अत्यंत सुन्दर कमल लगा हुआ है। चार आदमी चारों दिशाओं से इसे तोड़ने के लिये आते हैं, लेकिन सफल नहीं होते। इतने में किनारे पर खड़ा हुआ कोई मुनि इस कमल को तोड़ लेता है। आख्यानसंबंधी दूसरी महत्वपूर्ण रचना है उत्तराध्ययनसूत्र। यह एक धार्मिक काव्य है जिसमें उपमा, दृष्टांत तथा विविध आख्यानों और संवादों द्वारा बड़ी मार्मिक भाषा में त्याग और वैराग्य का उपदेश दिया है। नमिप्रव्रज्या, हरिकेश-आख्यान, चित्तसंभूति की कथा, मृगापुत्र का आख्यान, रथनेमी और राजीमती का संवाद, केशी-गौतम का संवाद, अनाथी मुनि का वृत्तान्त, जयघोष मुनि और विजयघोष ब्राह्मण का संवाद आदि कितने ही आख्यान और संवाद इस सूत्र में उल्लिखित हैं जिनके द्वारा निर्ग्रन्थ प्रवचन का विवेचन किया गया है। मरियल घोड़े के दृष्टांत द्वारा बताया है कि जैसे किसी मरियल घोड़े को बार-बार चाबुक मार कर चलाना पड़ता है, वैसे ही शिष्य को बार-बार गुरु के उपदेश की उपेक्षा न करनी चाहिये। एडक (मेंढा) के दृष्टांत द्वारा कहा है कि जैसे किसी मेंढे को खिला-पिलाकर पुष्ट किया जाता है, और किसी अतिथि का स्वागत करने के लिये उसे मारकर अतिथि को खिला दिया जाता है, यही दशा अधर्मिष्ठ जीव की होती है। विपाकश्रुत में पाप-पुण्य-संबंधी कथाओं का

वर्णन है जो अशुभ कर्म से हटाकर शुभ कर्म की ओर प्रवृत्त करती हैं।

आगमों की व्याख्याओं में कथायें

आगमों पर लिखी हुई व्याख्याओं में कथा-साहित्य काफी पल्लवित हुआ। निर्युक्ति-साहित्य में कथानक, आख्यान, उदाहरण और दृष्टांत आदि का गाथाओं के रूप में संग्रह है। सुभाषित, सूक्ति और कहीं-कहीं समस्यापूर्त्ति भी यहाँ दिखाई दे जाती है। गांधार श्रावक, तोसलिपुत्र, स्थूलभद्र, कालक, करकंडु, मृगापुत्र, मेतार्य, चिलातीपुत्र, मृगावती, सुभद्रा आदि कितने ही धार्मिक और पौराणिक आख्यान यहाँ संग्रहीत हैं, जिनके ऊपर आगे चलकर स्वतंत्र कथाग्रन्थ लिखे गये। योग्य-अयोग्य शिष्य का लक्षण समझाने के लिये गाय, चंदन की भेरी, चेटी, श्रावक, बधिर, गोह और टंकण देश के म्लेच्छ आदि के दृष्टांत उपस्थित किये गए हैं। सर्वप्रथम हमें इस साहित्य में औत्पत्तिकी, वैनयिकी, कामिकी और पारिणामिकी नाम की बुद्धियों के विशद उदाहरण मिलते हैं जिनमें लोक-प्रचलित कथाओं का समावेश है। इस सम्बन्ध में रोहक का कौशल दिखाने के लिये शिला, मेंढा, कुक्कुट, तिल, बालू की रस्सी, हाथी, कूप, वनखंड और पायस आदि के मनोरंजक कथानक दिये हैं जिनमें बुद्धि को परखनेवाली अनेक प्रहेलिकायें उल्लिखित हैं। निर्युक्ति की भाँति संक्षिप्त शैली में लिखे गये भाष्य-साहित्य में भी अनेक कथानक और दृष्टांतों द्वारा विषय का प्रतिपादन किया गया है। धूर्तों के मनोरंजक आख्यान इस साहित्य में उपलब्ध होते हैं; ब्राह्मणों के अतिरंजित पौराणिक आख्यानों पर यहाँ तीव्र व्यंग्य लक्षित होता है। साधुओं को धर्म में स्थिर रखने के लिए लोक में प्रचलित अनेक कथाओं का प्ररूपण किया गया है। चतुर्वेदी ब्राह्मणों की कथा के माध्यम से शिष्यों को आचार्य की सेवा-सुश्रूषा में रत रहने का उपदेश है। अनेक राजाओं, राज-

मंत्रियों, व्यापारियों तथा चोरों आदि के सरस आख्यान इस साहित्य में उल्लिखित हैं। चूर्णी-साहित्य के गद्यप्रधान होने से इस काल में कथा-साहित्य को एक नया मोड़ मिला। जिनदास-गणि की विशेषनिशीथचूर्णी में लौकिक आख्यायिकाओं में णरवाहणदत्तकथा, लोकोत्तर आख्यायिकाओं में तरंगवती, मलयवती और मगधसेना, आख्यानों में धूर्ताख्यान, शृंगारकाव्यों में सेतु तथा कथाओं में वसुदेवचरित और चेटककथा का उल्लेख है, जिससे इस काल में कथा-साहित्य की संपन्नता का सहज ही अनुमान किया जा सकता है। दुर्भाग्य से एकाध ग्रन्थ को छोड़कर प्राकृत कथाओं का यह विपुल भंडार आजकल उपलब्ध नहीं है। अनेक ऐतिहासिक, अर्ध-ऐतिहासिक, धार्मिक और लौकिक कथायें तथा अनुश्रुतियाँ इस साहित्य में देखने में आती हैं। परंपरागत कथा-कहानियों के साथ-साथ नूतन अभिनव कहानियों की रचना भी इस काल में हुई। अतएव वज्रस्वामी, दशपुर की उत्पत्ति, चेलना का हरण, कूणिक का वृत्तांत, कूणिक और चेटक का युद्ध आदि वृत्तांतों के साथ-साथ ब्राह्मण और उसकी तीन कन्याएँ, धनवान और दरिद्र वणिक्, हाथी और दो गिरगिट, पर्वत और महामेघ की लड़ाई, ककड़ी बेचनेवाला और धूर्त्त, सिद्धपुत्र के दो शिष्य, और हिंगुशिव व्यंतर आदि सैकड़ों मनोरंजक और बोधप्रद लौकिक आख्यान इस समय रचे गये। साधुओं के आचार-विचारों को सुस्पष्ट करने के लिये यहाँ अनेक उदाहरण दिये गये हैं। साधु-साध्वियों के प्रेम-संवाद भी जहाँ-तहाँ दृष्टिगोचर हो जाते हैं।

टीका-साहित्य तो कथा-कहानियों का अक्षय भंडार है। इन टीकाओं के संस्कृत में होने पर भी इनका कथाभाग प्राकृत में ही लिखा गया है। आवश्यक और दशवैकालिक आदि सूत्रों पर टीका लिखनेवाले याकिनीसूनु हरिभद्र (ईसवी सन् ७०५–७७५) ने आगे चलकर समराइचकहा, और धूर्ताख्यान जैसे कथा-ग्रन्थों की रचना कर जैन कथा-साहित्य को समृद्ध

बनाया। ११वीं सदी के सुप्रसिद्ध टीकाकार वादिवेताल शांतिसूरि की उत्तराध्ययन सूत्र पर लिखी हुई टीका पाइय (प्राकृत) के नाम से ही कही जाती है। इसी टीका को आधार मान कर नेमिचन्द्रसूरि ने उत्तराध्ययन सूत्र पर सुखबोधा टीका की रचना की। आगे चलकर इन आचार्य ने और आम्रदेव सूरि ने आख्यानमणिकोष जैसा महत्वपूर्ण कथा-ग्रन्थ लिखा जिसमें जैनधर्मसंबंधी चुनी हुई उत्कृष्ट कथा-कहानियों का समावेश किया गया। अनुयोगद्वार सूत्र के वृत्तिकार मलधारी हेमचन्द्र ने भवभावना और उपदेशमालाप्रकरण जैसे कथा-ग्रन्थ लिखकर कथा-साहित्य के सर्जन में अभिवृद्धि की। अन्य भी अनेक आख्यान और कथानक इस काल में लिखे गये। इस प्रकार आगम-साहित्य में वर्णित धार्मिक और लौकिक कथाओं के आधार पर उत्तरकालीन प्राकृत कथा-साहित्य उत्तरोत्तर विकसित होकर वृद्धि को प्राप्त हो गया।

कथाओं के रूप

प्राकृत कथा-साहित्य का काल ईसवी सन् की लगभग चौथी शताब्दी से लेकर साधारणतया १६वीं-१७वीं शताब्दी तक चलता है। इसमें कथा, उपकथा, अंतर्कथा, आख्यान, आख्यायिका, उदाहरण, दृष्टान्त, वृत्तांत और चरित आदि के भेद से कथाओं के अनेक रूप दृष्टिगोचर होते हैं। कथाओं को मनोरंजक बनाने के लिये उनमें विविध संवाद, बुद्धि की परीक्षा, वाक्कौशल्य, प्रश्नोत्तर, उत्तर-प्रत्युत्तर, हेलिका, प्रहेलिका, समस्यापूर्त्ति, सुभाषित, सूक्ति, कहावत, तथा गीत, प्रगीत, विष्णुगीतिका, चर्चरी, गाथा, छंद आदि का उपयोग किया गया है। वसुदेवहिण्डी में आख्यायिका-पुस्तक, कथाविज्ञान और व्याख्यान का उल्लेख मिलता है। हरिभद्रसूरि ने समराइच्चकहा (पृ० २) में सामान्यरूप से अर्थकथा, कामकथा, धर्मकथा और संकीर्णकथा[1]

1. उद्योतनसूरि ने कुवलयमाला में कथाओं के तीन भेद बताये हैं—धर्मकथा, अर्थकथा और कामकथा; फिर धर्मकथा को चार भागों

के भेद से कथाओं को चार भागों में विभक्त किया है। अर्थोपार्जन की ओर अभिमुख करनेवाली कथा को अर्थकथा, काम की ओर प्रवृत्त करनेवाली कथा को कामकथा, क्षमा-मार्दव-आर्जव आदि सद्धर्म की ओर ले जानेवाली कथा को धर्मकथा; तथा धर्म, अर्थ और काम का प्रतिपादन करनेवाली, काव्य, कथा और ग्रन्थ के अर्थ का विस्तार करनेवाली, लौकिक और धार्मिकरूप में प्रसिद्ध तथा उदाहरण, हेतु और कारण से युक्त कथा को संकीर्णकथा कहा है। अधम, मध्यम और उत्तम के भेद से श्रोताओं के तीन भेद किये हैं। इस कृति में कुएँ में लटकते हुए पुरुष, तथा सर्प और मेढ़क के दृष्टांत द्वारा लेखक ने जीवन की क्षणभंगुरता का प्रतिपादन किया है, और निर्वृतिपुर (मोक्ष) में पहुँचने का मार्ग बताया

में विभक्त किया है—आक्षेपणी, विक्षेपिणी, संवेदिनी और निर्वेदिनी। सुदंसणाचरिय के कर्त्ता देवेन्द्रसूरि को यही विभाजन मान्य है। मनोनुकूल विचित्र और अपूर्व अर्थवाली कथा को आक्षेपणी, कुशास्त्रों की ओर से उदासीन करनेवाली मन के प्रतिकूल कथा को विक्षेपिणी, ज्ञान की उत्पत्ति में कारण मन को मोक्ष की ओर ले जानेवाली कथ को संवेदिनी, तथा वैराग्य उत्पन्न करनेवाली कथा को निर्वेदिनी कथाा कहा गया है। सिद्धर्षि की उपमितिभवप्रपंचकथा (प्रस्ताव १) भी देखिये। हेमचन्द्र आचार्य ने काव्यानुशासन (८. ७-८) में आख्यायिका और कथा में अन्तर बताया है। आख्यायिका में उच्छ्वास होते हैं और वह संस्कृत गद्य में लिखी जाती है, जैसे हर्षचरित, जब कि कथा कभी गद्य में (जैसे कादम्बरी), कभी पद्य में (जैसे लीलावती) और कभी संस्कृत, प्राकृत, मागधी, शौरसेनी, पैशाची और अपभ्रंश भाषाओं में लिखी जाती है। उपाख्यान, आख्यान, निदर्शन, प्रवह्लिका, मंथल्लिका, मणिकुल्या, परिकथा, खंडकथा, सफलकथा और बृहत्कथा-ये कथा के भेद बताये गये हैं। साहित्यदर्पण (६. ३३४- ५) भी देखिये।

है। हरिभद्र का धूर्ताख्यान तो हास्य, व्यंग्य और विनोद का एकमात्र कथा-ग्रंथ है। हरिभद्रसूरि का उपदेशपद धर्मकथानुयोग की एक दूसरी रचना है। कुशल कथाकार हरिभद्रसूरि ने अपनी इस महत्वपूर्ण रचना को दृष्टांतों, उदाहरणों, रूपकों, विविध मनोरंजक संवादों, प्रतिवादी को परास्त कर देनेवाले मुँहतोड़ उत्तरों, धूर्तों के आख्यानों, सुभाषितों और उक्तियों द्वारा सुसज्जित किया है। कुवलयमाला के रचयिता उद्योतनसूरि (ईसवी सन् ७७६) भी एक उच्चकोटि के समर्थ कलाकार हो गये हैं। उन्होंने अपनी रचना में अनेक लोक-प्रचलित देशी भाषाओं का उपयोग किया है। कथासुंदरी को नववधू के समान अलंकारसहित, सुंदर, ललित पदावलि से विभूषित, मृदु और मंजु संलापों से युक्त और सहृदय जनों को आनन्ददायक घोषित कर कथा-साहित्य को उन्होंने लोकप्रिय बनाया है। लेखक की यह अनुपम कृति अनेक हृदयग्राही वर्णनों, काव्य-कथाओं, प्रेमाख्यानों, संवादों, और समस्या-पूर्त्ति आदि से सजीव हो उठी है। सुदंसणाचरिय के कर्त्ता देवेन्द्रसूरि ने राजकथा, स्त्रीकथा, भक्तकथा और जनपदकथा नाम की चार विकथाओं का त्याग करके धर्मकथा के श्रवण को हितकारी बताया है। सोमप्रभसूरि ने कुमारपालप्रतिबोध का कुछ अंश धार्मिक कथाबद्ध रूपक काव्य में प्रस्तुत किया है जिसमें जीव, मन और इन्द्रियों का पारस्परिक वार्तालाप बहुत ही सुंदर बन पड़ा है। इसके अतिरिक्त जिनेश्वर-सूरि का कथाकोषप्रकरण, नेमिचन्द्रसूरि और वृत्तिकार आम्रदेव सूरि का आख्यानमणिकोष, गुणचन्द्रगणि का कथारत्नकोष तथा प्राकृतकथासंग्रह आदि रचनायें कथा-साहित्य की निधि हैं। इसी प्रकार हरिभद्रसूरि का उपदेशपद, धर्मदासगणि का उपदेशमाला, जयसिंहसूरि का उपदेशरत्नमाला और मलधारी हेमचन्द्र का उपदेशमालाप्रकरण आदि ग्रंथ उपदेशप्रधान कथाओं के अनुपम संग्रह हैं, जिनमें जैनधर्म की सैकड़ों-हजारों धार्मिक और लौकिक कथायें सन्निविष्ट हैं।

जैन लेखकों का नूतन दृष्टिकोण

मालूम होता है कि इस समय वेद और ब्राह्मणों को प्रमुखता देनेवाली अतिरंजित कल्पनाओं से पूर्ण ब्राह्मणों की पौराणिक कथा-कहानियों से लोगों का मन ऊब रहा था।[१] अतएव कथा-साहित्य में एक नये मोड़ की आवश्यकता का अनुभव किया जा रहा था। विमलसूरि वाल्मीकिरामायण के अनेक अंशों को कल्पित और अविश्वसनीय मानते थे और इसलिये जैन रामायण का व्याख्यान करने के लिये पउमचरिय की रचना करने में वे प्रेरित हुए। धूर्ताख्यान में तो ब्राह्मणों की पौराणिक कथाओं पर एक अभिनव शैली में तीव्र व्यंग्य किया गया है। लेकिन प्रश्न था कि त्याग और वैराग्यप्रधान जैनधर्म के उपदेशों को कौन-सी प्रभावोत्पादक शैली में प्रस्तुत किया जाय जिससे पाठकगण जैन कथाकारों की ललित वाणी सुनकर उनके आख्यानों की ओर आकर्षित हो सकें। जैन मुनियों को शृंगार आदि कथाओं के सुनने और सुनाने का निषेध था, और इधर पाठकों को साधारणतया इसी प्रकार की कथाओं में रस की उपलब्धि होती थी। वसुदेवहिण्डीकार ने इस संबंध में अपने विचार व्यक्त किये हैं—

सोऊण लोइयाणं णरवाहनदत्तादीणं कहाओ कामियाओ लोगो एगंतेण कामकहासु रज्जंति। सोग्गइपहदेसियं पुण धम्मं सोउं पि नेच्छति य जरपित्तवसकडुयमुहो इव गुलसक्करखंडमच्छंडियाइसु विपरीतपरिणामो। धम्मत्थकामकलियाणि य सुहाणि धम्मत्थकामाण य मूलं धम्मो, तम्मि य मंदतरो जणो, तं जह

---

१. प्रबंधचिंतामणिकार ने इस ओर इंगित किया है—

भृशं श्रुतत्वान्न कथाः पुराणाः
प्रीणंति चेतांसि तथा बुधानाम्॥

—पौराणिक कथाओं के बार-बार श्रवण करने से पंडित जनों का चित्त प्रसन्न नहीं होता।

णाम कोई वेज्जो आउरं अमयउसहपाणपरंमुहं ओसढमिति उव्विलयं मणोभिलसियपाणववएसेण उसहं तं पज्जेति। कामकहा-रतहितयस्स जणस्स सिंगारकहावसेण धम्मं चेव परिकहेमि।[1]

—नरवाहनदत्त आदि लौकिक काम-कथायें सुनकर लोग एकांत में कामकथाओं का आनन्द लेते हैं। ज्वरपित्त से यदि किसी रोगी का मुँह कडुआ हो जाये तो जैसे उसे गुड़, शक्कर, खाँड और मत्स्यंडिका (बूरा) आदि भी कडुवी लगती है, वैसे ही सुगति को ले जानेवाले धर्म को सुनने की लोग इच्छा नहीं करते। धर्म, अर्थ और काम से ही सुख की प्राप्ति होती है, तथा धर्म, अर्थ और काम का मूल है धर्म, और इसमें लोग मंदतर रहते हैं। अमृत-औषध को पीने की इच्छा न करनेवाले किसी रोगी को जैसे कोई वैद्य मनोभिलाषित वस्तु देने के बहाने उसे अपनी औषध भी दे देता है, उसी प्रकार जिन लोगों का हृदय कामकथा के श्रवण करने में संलग्न है, उन्हें शृंगारकथा के बहाने मैं अपनी इस धर्मकथा का श्रवण कराता हूँ।

प्रेमाख्यान

कहने की आवश्यकता नहीं कि इन सब बातों को सोचकर जैन आचार्यों ने अपनी धर्मकथाओं में शृंगाररस से पूर्ण प्रेमाख्यानों का समावेश कर उन्हें लोकोपयोगी बनाया। फल यह हुआ कि उनकी रचनाओं में मदन महोत्सवों के वर्णन जोड़े गये और वसंत क्रीड़ाओं आदि के प्रेमपूर्ण चित्र उपस्थित किये जाने लगे। ऐसे रोमांचकारी अवसरों पर कोई युवक किसी षोडशी को देखकर अपना भान खो बैठता, और कामज्वर से पीड़ित रहने लगता; युवती की भी यही दशा होती। कर्पूर, चन्दन और जलसिंचित तालवृन्त आदि से उसका शीतोपचार किया जाता। गुप्तरूप से प्रेम-पत्रिकाओं का आदान-प्रदान आरंभ

१. वसुदेवहिण्डी, भाग २, मुनि जिनविजय जी के वसंत महोत्सव, संवत् १९८४ में 'कुवलयमाला' लेख से उद्धृत।

हो जाता। फिर माता-पिता को इस प्रेमानुराग का समाचार मिलते ही प्रीतिदान आदि के साथ दोनों का विवाह हो जाता, और इस प्रकार विप्रलंभ संयोग में बदल जाता। कभी किसी युवती की सर्पदंश से रक्षा करने या उसे उन्मत्त हाथी के आक्रमण से बचाने के उपलक्ष्य में कन्या के माता-पिता किसी युवक के बल व पौरुष से मुग्ध हो उसे अपनी कन्या दे देते। किसी सुंदर और गुणसम्पन्न राजा या राजकुमार को प्राप्त करने के लिये भी कन्यायें लालायित रहतीं और इसके लिए स्वयंवर का आयोजन किया जाता। कितनी ही बार प्रेम हो जाने पर, माता-पिता की अनुमति न मिलने से युवक और युवती अन्यत्र जाकर गांधर्व विवाह कर लेते। शृङ्गारकथा-प्रधान वसुदेवहिण्डी का धम्मिल्लकुमार रतिक्रीड़ा में कुशलता प्राप्त करने के लिये वसंतसेना नाम की गणिका के घर रहने लगता है। कुवलयमाला में प्रेम और शृङ्गाररसपूर्ण अनेक विस्मयकारक चित्र प्रस्तुत किये गये हैं। वासभवन में प्रवेश करते समय कुवलयमाला और उसकी सखियों के बीच प्रश्नोत्तर होते हैं। तत्पश्चात् वर-वधू प्रेमालाप, हास्य-विनोद और कामकेलिपूर्वक मिलन की प्रथम रात्रि व्यतीत करते हैं। कथाकोषप्रकरण में भी प्रेमालाप के उत्कट प्रसंग उपस्थित किये हैं। ज्ञानपंचमीकहा, सुरसुंदरीचरित और कुमारपालचरित में जहाँ-तहाँ प्रेम और शृंगाररस-प्रधान उक्तियाँ दिखाई दे जाती हैं। प्राकृतकथासंग्रह में सुंदरी देवी का आख्यान एक सुंदर प्रेमाख्यान कहा जा सकता है। सुंदरी देवी विक्रम राजा के गुणों का श्रवण कर उससे प्रेम करने लगती है। उसके पास वह एक तोता भेजती है। तोते के पेट में से एक सुंदर हार और कस्तूरी से लिखा हुआ एक पत्र निकलता है। पत्र पढ़कर विक्रमराजा सुंदरी देवी से मिलने के लिये व्याकुल हो उठता है, और तुरत ही रत्नपुर के लिये प्रस्थान करता है। अन्त में दोनों का विवाह हो जाता है। रयणसेहरीकहा विप्रलंभ और संयोग का एक सरस आख्यान है। रत्नपुर का रत्नशेखर

नाम का राजा सिंहलद्वीप की कन्या रत्नवती के रूप की प्रशंसा सुनकर उस पर मुग्ध हो जाता है। राजा का मंत्री एक जोगिनी का रूप बनाकर सिंहलद्वीप पहुँचता है और राजकुमारी से मिलता है। तत्पश्चात् राजा वहाँ द्यूतक्रीड़ा करने के लिये कामदेव के मंदिर में जाता है। दोनों की दृष्टि एक होती है, परस्पर प्रश्नोत्तर होते हैं और अन्त में वियोग संयोग में परिणत हो जाता है।[1] तरंगवती, मलयवती और मगधसेना के साथ, बन्धुमती और सुलोचना नामक कथाग्रंथों का भी उल्लेख जैन विद्वानों ने किया है। ये प्रेमाख्यान शृंगाररस-प्रधान रहे होंगे, दुर्भाग्य से अभी तक ये अनुपलब्ध हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि जैन आचार्यों द्वारा लिखे गये कथा-ग्रंथ यद्यपि धर्मकथा को मुख्य मानकर ही लिखे गये, लेकिन अपनी रचनाओं को लोकप्रिय बनाने के लिये प्रेम और शृंगार को भी उन्होंने इन रचनाओं में यथेष्ट स्थान दिया।

विविध वर्णन

किसी लौकिक महाकाव्य या उपन्यास की भाँति प्राकृत कथा-ग्रंथों में भी ऋतुओं, वन, अटवी, उद्यान, जलक्रीडा, सूर्योदय, चन्द्रोदय, सूर्यास्त, नगर, राजा, सैनिकों का युद्ध, भीलों का आक्रमण, मदन महोत्सव, सुतजन्म, विवाह, स्वयंवर, स्त्रीहरण, जैन मुनियों का नगरी में आगमन, दीक्षाविधि आदि विषयों का सरस वर्णन उपलब्ध होता है। उद्योतनसूरि ने कुवलयमाला में विजया नगरी के किसी छात्रों के मठ का अत्यंत स्वाभाविक चित्रण किया है। इस मठ में लाट, कर्णाटक, महाराष्ट्र, श्रीकंठ, सिंधु, मालव, सौराष्ट्र आदि दूर-दूर देशों से आये हुए छात्र लकुटियुद्ध, बाहुयुद्ध, आलेख्य, गीत, नृत्य, वादित्र और भांड आदि विद्याओं की शिक्षा प्राप्त किया करते थे। ये बड़े दुर्विनीत

---

१. मलिकमुहम्मद जायसी का पद्मावत इस प्रेमाख्यान काव्य से प्रभावित जान पड़ता है।

और गर्विष्ठ थे, तथा सुंदर युवतियों पर दृष्टिपात करने के लिये लालायित रहा करते थे। समस्यापूर्ति द्वारा कुवलयमाला को प्राप्त करने के संबंध में उनमें जो पारस्परिक वार्तालाप होता है वह छात्रों की मनोवृत्ति का सुंदर चित्र उपस्थित करता है। व्यापारी लोग अपने प्रवहणों में विविध प्रकार का माल भर कर चीन, सुवर्णभूमि, और टंकण आदि सुदूर देशों की यात्रा करते थे। बेडिय (बेडा), बेगड, सिल्ल (सित = पाल), आवत्त (गोल नाव), खुरप्प (होड़ी), बोहित्थ, खरकुल्लिय आदि अनेक प्रकार के प्रवहणों का उल्लेख यहाँ मिलता है। कुवलयमाला में गोल्ल, मगध, अंतर्वेदी, कीर, ढक्क, सिंधु, मरु, गुर्जर, लाट, मालवा आदि देशों के रहनेवाले वणिकों का उल्लेख है जो अपने-अपने देशों की भाषाओं में बातचीत करते थे। गुणचन्द्र-गणि ने वाराणसी नगरी का सुंदर वर्णन किया है; यहाँ के ठग उस समय भी प्रसिद्ध थे।

सामान्य जीवन का चित्रण

जैन प्राकृत-कथा-साहित्य में राजा, मंत्री, श्रेष्ठी, सार्थवाह, और सेनापति आदि केवल नायकों का ही नहीं, बल्कि भारतीय जनता के विभिन्न वर्गों के सामान्य जीवन का बड़ी कुशलता के साथ चित्रण किया गया है जिससे भारतीय सभ्यता के इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। हरिभद्रसूरि ने उपदेशपद में किसी सज्जन पुरुष के परिवार का बड़ा दयनीय चित्र खींचा है। उस बेचारे के घर में थोड़ा सा सत्तु, थोड़ा सा घी-शक्कर और थोड़ा सा दूध रक्खा हुआ था; लेकिन दुर्भाग्य से सभी चीजें जमीन पर बिखर गईं, और उसे फाके करने की नौबत आ पहुँची। ऐसी हालत में मित्रता करके, राजा की सेवा-टहल करके, देवता की आराधना करके, मंत्र की सिद्धि करके, समुद्र-यात्रा करके तथा बनिज-व्यापार आदि द्वारा अपर्थोार्जन करने को प्रधान बताया गया है (कुवलयमाला)। रत्नचूडचरित्र के कर्ता ने ईश्वरी नाम की सेठानी के कटु स्वभाव का बड़ा जीता-

जागता चित्र उपस्थित किया है। यह सेठानी बड़ी कृपण थी, घर आये हुए किसी साधु-संत को कभी कुछ नहीं देती थी। जब कुछ साधु उसके पीछे ही पड़ गये तो जलती हुई लकड़ी लेकर वह खुले केशों से इस बुरी तरह उन्हें मारने झपटी कि फिर कभी उन्होंने सेठानी को मुँह नहीं दिखाया। मलधारी हेमचन्द्र ने भवभावना में भूई नाम की एक कलिहारी सास का चित्रण किया है। वह कभी घर से बाहर नहीं निकलती थी; अपनी बहू के साथ लड़ाई-झगड़ा करती रहती, साधु-संतों को देखकर मुँह बिचकाती और किसी न किसी के साथ उसका झगड़ा-टंटा लगा ही रहता था। कौशांबी के एक अत्यंत दरिद्र ब्राह्मण परिवार का भी यहाँ एक करुणाजनक चित्र उपस्थित किया गया है। बच्चे उसके भूख से बिलबिला रहे हैं, स्त्री उदास बैठी है, घर में घी, तेल, नून और ईंधन का नाम नहीं, लड़की सयानी हो गई है, उसके विवाह की चिन्ता है, लड़का अभी छोटा है इसलिये धन कमाने के लायक नहीं है। जीवन की विविध अवस्थाओं पर प्रकाश डालने वाले अन्य भी अनेक सजीव चित्रण यहाँ पर भरे पड़े हैं। हाथी पकड़ने की विधि और घोड़ों के लक्षण आदि का यहाँ उल्लेख है।

मंत्रशास्त्र

जान पड़ता है कि प्राकृत कथा-साहित्य के इस युग में, विशेषकर ईसवी सन् की ११ वीं–१२ वीं शताब्दी में मंत्र-तंत्र, विद्या-साधना तथा कापालिक और वाममार्गियों का बहुत ज़ोर था, और वे श्रीपर्वत से जालंधर तक घूमा करते थे। उद्योतनसूरि ने कुवलयमाला में सिद्ध पुरुषों का उल्लेख किया है जिन्हें अंजन, मंत्र, तंत्र, यक्षिणी, जोगिनी, राक्षसी और पिशाची आदि देवियाँ सिद्ध थीं। धातुवादी धातु को ज़मीन से निकालकर खार के साथ उसका धमन करते थे, क्रियावादी जोग-जुगति का आश्रय लेते थे, और नरेन्द्र रस को बाँधते थे। नरेन्द्रों की नागिनी, भ्रमरी आदि भाषाओं का उल्लेख है।

मंत्रों की जाप करने के लिये मंडप बनाये जाते, तथा उनमें घी, तिल और काष्ठ का हवन किया जाता था। सुरसुन्दरीचरिय में भूत भगाने के लिये नमक उतारना, सरसों मारना और रक्षा-पोटली बाँधने का उल्लेख है। आख्यानमणिकोष में भैरवानंद का वर्णन है। इस विषय का सबसे विशद वर्णन गुणचन्द्र गणि (देवेन्द्रसूरि) की रचनाओं में उपलब्ध होता है, जिससे पता लगता है कि उनके युग में मंत्रविद्या का बहुत प्रचार था। महावीरचरित में घोरशिव तपस्वी का वर्णन है जो वशीकरण आदि विधाओं में कुशल था। श्रीपर्वत से वह आया था और जालंधर के लिये प्रस्थान कर रहा था। राजा ने अपने मंत्र के बल से घोरशिव से कोई चमत्कार प्रदर्शित करने का अनुरोध किया। घोरशिव ने कृष्ण चतुर्दशी को रात्रि के समय श्मशान में पहुँच वेदिका आदि रच कर मंत्र जपना प्रारंभ कर दिया। महाकाल नामक योगाचार्य मंत्रसिद्धि के लिये प्रधान क्षत्रियों के वध द्वारा अग्नि का तर्पण करना मुख्य समझता था। पार्श्वनाथचरित में बंगाधिपति कुलदेवता कात्यायनी की पूजा करता है। उस समय वहाँ मंत्रविद्या में कुशल और वाममार्ग में निपुण भागुरायण नाम का गुरु निवास करता था। उसने राजा को मंत्र की जाप द्वारा बेताल सिद्ध करने की विधि बताई। हाथ में कैंची लिये हुए बेताल उपस्थित हुआ और उसने राजा से अपने मांस और रक्त द्वारा उसका कपाल भर देने को कहा। शाकिनियों का यहाँ वर्णन है; वट वृक्ष के नीचे एकत्रित होकर एक मुर्दे को लिये वे बैठी हुई थीं। कोई कापालिक विद्या सिद्ध कर रहा था। भैरवों को कात्यायनी का मंत्र सिद्ध रहता है। ये लोग रवि और शशि के पवन संचार को देखकर फलाफल का निर्देशन करते हैं। किसी कुमारी कन्या को स्नान कराकर, उसे श्वेत दुकूल के वस्त्र पहना, उसके शरीर को चंदन से चर्चित कर मंडल के ऊपर बैठाते हैं, फिर वह प्रश्नकर्ता के प्रश्नों का उत्तर देने लगती है। कथारत्नकोष में सर्पविष का नाश करने के लिये नागकुलों की उपासना का उल्लेख है।

यह विद्या भी कृष्ण चतुर्दशी की रात्रि में श्मशान में बैठकर सिद्ध की जाती थी। जोगानंद नाम का कोई निमित्तशास्त्र का वेत्ता बसंतपुर से कांचीपुर के लिये प्रस्थान कर रहा था। कलिंगदेश के कालसेन नामक परिव्राजक को पैशाचिक विद्या सिद्ध थी। जोगंधर नाम के किसी सिद्ध को कोई अदृश्य अंजन सिद्ध था जिसे आँखों में आंजकर वह स्वेच्छापूर्वक विहार कर सकता था। आकृष्टि, दृष्टिमोहन, वशीकरण और उच्चाटन में प्रवीण तथा योगशास्त्र में कुशल बल नाम का एक सिद्धपुरुष कामरूप (आसाम) में निवास करता था। इसके अतिरिक्त पुष्पयोनिशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, जोणीपाहुड, अंगविद्या, चूड़ामणिशास्त्र, गरुडशास्त्र, राजलक्षण, सामुद्रिक, रत्नपरीक्षा, खन्यविद्या, मणिशास्त्र आदि का उल्लेख इस साहित्य में उपलब्ध होता है। तरंगलीला और वसुदेवहिण्डी में अर्थशास्त्र की प्राकृत गाथायें उद्धृत की गई हैं। हरिभद्रसूरि ने समराइच्चकहा में अशोक, कामांकुर और ललितांग को कामशास्त्र में कुशल बताते हुए कामशास्त्र के अध्ययन से धर्म और अर्थ की सिद्धि बताई है। कुवलयमालाकार के कथनानुसार जोणीपाहुड में उल्लिखित कोई भी बात कभी मिथ्या नहीं हो सकती।

जैन मान्यतायें

ऊपर कहा जा चुका है कि अपनी रचनाओं को लोकरंजक बनाने के लिये जैन विद्वानों ने समन्वयवादी वृत्ति से काम लिया, लेकिन धर्मदेशना का पुट उसमें सदा प्रधान रहा। सत्कर्म में प्रवृत्ति और असत्कर्म से निवृत्ति यही उनका लक्ष्य रहा। लोकप्रचलित कथाओं तथा ब्राह्मण और बौद्धों की कहानियों को जैन ढाँचे में ढालकर इस लक्ष्य की पूर्ति की गई। जगह-जगह दान, शील, तप और सद्भाव का प्रतिपादन कर संयम, तप, त्याग और वैराग्य की मुख्यता पर ज़ोर दिया

गया', और इस सबका प्रतिपादन नगर के उद्यान में ठहरे हुए किसी मुनि या केवली के मुख से कराया गया। उपदेश के प्रसंग में मुनि महाराज अपने या श्रोता के पूर्वभवों का वर्णन करने लगते हैं, और अवान्तर कथाओं के कारण मूलकथा पीछे छूट जाती है। हरिभद्र की समराइच्चकहा में एक ही व्यक्ति के दस भवों का विस्तृत वर्णन है। यहाँ कर्मपरिणति मुख्य स्थान ग्रहण करती है जो जीवमात्र के भूत, भविष्य और वर्तमान का निश्चय करती है।[2] आखिर पूर्व जन्मकृत कर्म के ही कारण मनुष्य ऊँची या नीची गति को प्राप्त होता है, और इसीलिये प्राणिमात्र पर दया करना आवश्यक बताया है। त्याग और वैराग्य की मुख्यता होने से यहाँ स्त्री-निन्दा के प्रकरणों का आ जाना भी स्वाभाविक है। पउमचरिय में स्त्रियों को दुश्चरित्र का मूल बताकर सीता के चरित्र के संबंध में सन्देह प्रकट किया गया है, और यह बात रामचन्द्र के मुख से कहलाई गई है। यद्यपि ध्यान रखने की बात है कि राजीमती, चंदनबाला, सुभद्रा, मृगावती, जयंती, दमयंती आदि कितनी ही सती-साध्वी महिलायें अपने शील, त्याग और संयम के लिये जैन परंपरा में प्रसिद्ध हो गई हैं। इस दिशा में कुमारपालप्रतिबोध में शीलमती का मनोरंजक और बोधप्रद आख्यान उल्लेखनीय है।

---

१. जिनेश्वरसूरि ने कथाकोष में कहा है—

सम्मत्ताई गुणाणं लाभो जइ होज्ज कित्तियाणं पि।
ता होज्ज णे पयासो सकयत्थो जयउ सुयदेवी॥

—यदि थोड़े भी श्रोताओं को इस कृति के सुनने से सम्यक्त्व आदि गुणों की प्राप्ति हो सके तो मैं अपने प्रयास को सफल समझूँगा।

२. उपदेशपद-टीका (पृ० ३५४) में कहा है—

सव्वो पुव्वकयाणं कम्माणं पावए फलविवागं।
अवराहेसु गुणेसु य निमित्तमेत्तं परो होई॥

कथा-ग्रंथों की भाषा

महेश्वरसूरि ने ज्ञानपंचमीकथा में कहा है कि अल्प बुद्धि-वाले लोग संस्कृत नहीं समझते, इसलिये सुखबोध प्राकृत-काव्य की रचना की जाती है, तथा गूढ़ और देशी शब्दों से रहित, सुललित पदों से गुंफित और रम्य ऐसा प्राकृत-काव्य किसके हृदय को आनन्द नहीं देता? प्राकृत भाषा की इन रचनाओं को हर्मन जैकोबी आदि विद्वानों ने महाराष्ट्री प्राकृत नाम दिया है। धर्मोपदेशमालाविवरण में महाराष्ट्री भाषा की कामिनी और अटवी के साथ तुलना करते हुए उसे सुललित पदों से संपन्न, कामोत्पादक तथा सुन्दर वर्णों से शोभित बताया है। प्राकृत के इन कथाग्रन्थों में संस्कृत और अपभ्रंश भाषाओं का भी यथेष्ट उपयोग किया गया है। अनेक स्थलों पर बीच-बीच में सूक्तियों अथवा सुभाषितों का काम संस्कृत अथवा अपभ्रंश से लिया है। कई जगह तो सारा प्रकरण ही संस्कृत अथवा अपभ्रंश में लिखा गया है। देशी भाषा के अनेक महत्त्वपूर्ण शब्द इस साहित्य में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं जो भाषाविज्ञान की दृष्टि से अत्यंत उपयोगी हैं।[1] प्राकृत कथाओं के रचयिता प्रायः प्राकृत और संस्कृत दोनों ही भाषाओं पर समान पांडित्य रखते थे, इसलिये भी प्राकृत रचनाओं में संस्कृत का उपयोग होना अनिवार्य था।

---

१. उदाहरण के लिये सूयरपिल्लअ (सूअर का पिल्ला; वसुदेवहिण्डी), छोयर (छोकरा; उपदेशपद), जोहार (जुहार; धर्मोपदेशमाला), चिडम (चिड़िया; ज्ञानपंचमीकहा), रोल (शोर; सुरसुंदरीचरिय), बुंबाओ (गुजराती में बूम मारना-चिल्लाना; भवभावना,), गालिदाण (गाली देना; पासनाहचरिय, नाहर (सिंह; सुदंसणचरिय), उंडा (गहरा; सुपासनाहचरिय) आदि। परिशिष्ट नंबर १ में इस प्रकार के महत्त्वपूर्ण शब्दों की सूची दी गई है।

प्राकृत कथा-साहित्य का उत्कर्षकाल

प्राकृत कथा-साहित्य का अध्ययन करने से पता चलता है कि ईसवी सन् की नौवीं-दसवीं शताब्दी के पूर्व जैन आचार्यों के लिखे हुए प्राकृत कथा-ग्रन्थों की संख्या बहुत कम थी। उदाहरण के लिये, इस काल में चरितात्मक ग्रंथों में पउमचरिय, हरिवंसचरिय, तरंगवती, तरंगलीला, वसुदेवहिण्डी, समराइच्चकहा, कुवलयमाला और शीलाचार्य का चउप्पन्नमहापुरिसचरिय आदि, तथा उपदेश-ग्रन्थों में उपदेशपद, उपदेशमाला, और धर्मोपदेश-माला आदि ही मौजूद थे। लेकिन ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में श्वेताम्बर सम्प्रदाय के विद्वानों में एक अभूतपूर्व जागृति उत्पन्न हुई जिसके फलस्वरूप दोसौ-तीनसौ वर्षों के भीतर सैकड़ों अभिनव कथा-ग्रन्थों का निर्माण हुआ। इसका प्रमुख कारण था कि उस समय गुजरात में चालुक्य, मालवा में परमार तथा राजस्थान में गुहिलोत और चाहमान राजाओं के राज थे और ये लोग जैनधर्म के प्रति विशेष अभिरुचि रखते थे। फल यह हुआ कि गुजरात, मालवा और राजस्थान के राजदरबारों में जैन महामात्यों, दंडनायकों, सेनापतियों और श्रेष्ठियों का प्रभाव काफी बढ़ गया जिससे गुजरात में अणहिल्लपुर, खंभात और भड़ौंच, राजस्थान में भिन्नमाल, जाबालिपुर, अजयमेरु, और चित्तौड़, तथा मालवा में उज्जैन, ग्वालियर और धारा आदि नगर जैन आचार्यों की प्रवृत्तियों के मुख्य केन्द्र बन गये। इन स्थानों में लिखित प्राकृत-साहित्य की रचनाओं के अध्ययन से कई बातों का पता लगता है। इन ग्रंथकारों ने अर्धमागधी के जैन आगमों को अपनी कृतियों का आधार बनाया, आगमोत्तरकालीन प्राकृत के कथाकार हरिभद्रसूरि आदि का अनुकरण किया, हेमचन्द्र सूरि के प्राकृतव्याकरण का गंभीर अध्ययन किया और जैनधर्म के पारिभाषिक शब्दों का उचित उपयोग किया। इसके अतिरिक्त ये लेखक संस्कृत और अपभ्रंश भाषाओं के पंडित थे तथा देशी

भाषाओं की कहावतों और शब्दों का वे यथेच्छ प्रयोग कर सकते थे। इन विद्वानों ने प्राकृत कथा-साहित्य के साथ-साथ व्याकरण, अलंकार, छंद और ज्योतिषशास्त्र आदि की भी रचना कर साहित्य के भंडार को संपन्न बनाया। पहले चौबीस तीर्थंकरों, चक्रवर्ती, राम, कृष्ण, और नल आदि के ही चरित्र मुख्यतया लिखे जाते थे, लेकिन अब साधु-साध्वी, राजा-रानी, श्रमण, ब्राह्मण, श्रावक-श्राविका, निर्धन, चोर, जुआरी, धूर्त, ठग अपराधी, दण्डित, चांडाल, वेश्या, दूती, चेटी आदि साधारण-जनों का जीवन भी चित्रित किया जाने लगा। जैन आचार्य जहाँ भी जाते वहाँ के लोकजीवन, लोकभाषा, और रीति-रिवाजों का सूक्ष्म अध्ययन कर इसे अपने कथा-ग्रंथों में गुंफित करते। इस प्रकार प्रत्येक गच्छ के विद्वान् साधुओं ने अपने-अपने कथा-ग्रन्थों की रचना आरंभ की। फल यह हुआ कि चन्द्रगच्छ, नागेन्द्रगच्छ, चैत्रगच्छ, वृद्धगच्छ, धर्मघोषगच्छ, हर्षपुरीयगच्छ आदि अनेक गच्छों के विद्वानों ने सैकड़ों-हजारों कथा-ग्रंथों की रचना कर डाली। कथाकोषप्रकरण, आख्यानमणिकोष, कहा-रयणकोस आदि कथाओं के अनेक संक्षिप्त संग्रह-ग्रंथ इस समय लिखे गये। उत्तर के विद्वानों की भाँति दक्षिण के विद्वान् भी अपने पीछे न रहे। इस समय प्राकृत भाषायें न तो बोलचाल की भाषायें रह गई थीं और न अब इन भाषाओं में धार्मिक ग्रंथ ही लिखे जाते थे। ऐसी हालत में संस्कृत के बल पर वररुचि आदि के प्राकृत व्याकरणों का अध्ययन कर, लीलाशुक, श्रीकण्ठ, रुद्रदास, और रामपाणिवाद आदि विद्वानों ने प्राकृत भाषा में अपनी रचनाएँ प्रस्तुत कीं।

संस्कृत में कथा साहित्य

गुप्त साम्राज्य-काल में जब संस्कृत का प्रभाव बढ़ा तो प्राकृत का अध्ययन-अध्यापन कम होने लगा। इस काल में धर्मशास्त्र, पुराण, दर्शन, व्याकरण, काव्य, नाटक, ज्योतिष, वैद्यक, आदि

विषयों पर एक-से-एक बढ़कर संस्कृत ग्रंथों का निर्माण हुआ। जैन आचार्यों ने संस्कृत में भी अपनी लेखनी चलानी शुरू की। प्राकृत का स्थान अब संस्कृत को मिला। सिद्धर्षि (ईसवी सन् ९०५) ने उपमितिभवप्रपंचा कथा, धनपाल ने तिलकमंजरी, हेमचन्द्र ने त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, और हरिषेण ने बृहत्कथाकोष जैसे मौलिक ग्रंथों की संस्कृत में रचना की, लक्ष्मीवल्लभ ने उत्तराध्ययन की टीकाओं में उल्लिखित प्राकृत कथाओं का संस्कृत रूपान्तर प्रस्तुत किया। प्राकृत की अपेक्षा संस्कृत रचनाओं को मुख्य बताते हुए सिद्धर्षि ने लिखा है—

संस्कृता प्राकृता चेति भाषे प्राधान्यमर्हतः
तत्रापि संस्कृता तावद् दुर्विदग्धहृदि स्थिता।
बालानमपि सद्बोधकारिणी कर्णपेशला।
तथापि प्राकृता भाषा न तेषामभिभाषते॥
उपाये सति कर्तव्यं सर्वेषां चित्तरंजनम्।
अतस्तदनुरोधेन संस्कृतेयं करिष्यते॥ १.५१–५२

—संस्कृत और प्राकृत ये दो ही भाषायें मुख्य हैं। इनमें संस्कृत दुर्विदग्धों के मन में बसी हुई है। उन्हें अज्ञजनों को सद्बोध प्रदान करनेवाली और कर्णमधुर प्राकृत भाषा अच्छी नहीं लगती। तथा उपायान्तर रहने पर सबके मन का रंजन करना चाहिये, अतएव ऐसे लोगों के अनुरोध से यह रचना संस्कृत में लिखी जाती है।

अपभ्रंशकाल

श्वेताम्बरों की भाँति दिगम्बर विद्वानों ने प्राकृत कथा-साहित्य के सर्जन में योगदान नहीं दिया। इसका एक यह भी कारण था कि श्वेतांबरों की भाँति आगम और उन पर लिखी हुई व्याख्याओं का विपुल साहित्य उनके समक्ष नहीं था। किन्तु ईसवी सन् की लगभग दसवीं शताब्दी के आसपास से अपभ्रंश-साहित्य में अपनी रचनायें प्रस्तुत कर इन विद्वानों ने अपनी

लोकानुरंजक उदार वृत्ति का परिचय दिया। आगे चलकर हिन्दी, गुजराती, राजस्थानी आदि लोकभाषाओं में जैन आचार्यों ने अपनी रचनायें प्रस्तुत कीं। इन रचनाओं में विभिन्न देश और काल में प्रचलित देशी भाषा के शब्दों का अनुपम संग्रह होता रहा। मतलब यह कि अपने जनकल्याणकारी उपदेशों को जनता तक पहुँचाने में उन्होंने मुँह नहीं मोड़ा। 'कूपजल' को छोड़कर वे 'बहते हुए नीर' को ग्रहण करते रहे। जैन कथा-साहित्य के अध्येता डाक्टर जॉन हर्टल के शब्दों में 'जैन कथा-साहित्य केवल संस्कृत और अन्य भारतीय भाषाओं के अध्ययन के लिये ही उपयोगी नहीं, बल्कि भारतीय सभ्यता के इतिहास पर इससे महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है।'[1] इसमें सन्देह नहीं कि प्राकृत संस्कृत, अपभ्रंश तथा देशी भाषाओं में लिखे गये कथा-साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन से भारतीय सभ्यता और संस्कृति का अधिक स्पष्टरूप हमारे सामने आयेगा तथा भाषाविज्ञानसंबंधी अनेक गुत्थियाँ सुलझ सकेंगी।

तरंगवइकहा (तरंगवतीकथा)

आगम और उनकी टीकाओं में आई हुई प्राकृत कथाओं की चर्चा पहले की जा चुकी है। सुप्रसिद्ध पादलिप्तसूरि सब से पहले जैन विद्वान् हैं जिन्होंने तरंगवती नामका स्वतंत्र कथा-ग्रंथ लिखकर प्राकृत कथा-साहित्य में एक नई परंपरा को जन्म दिया। यह कथा प्राकृत कथा-साहित्य की सब से प्राचीन कथा है जो कई दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। तरंगवइकार के रूप में इसके कर्ता का उल्लेख अनुयोगद्वारसूत्र (१३०) में मिलता है। निशीथविशेषचूर्णी में लोकोत्तर धर्मकथाओं में तरंगवती के साथ मलयवती और मगधसेना के नाम उल्लिखित हैं। दश-

---

१. देखिये आन द लिटरेचर आव द श्वेताम्बर जैन्स, लीपज़िग, १९२२

वैकालिक चूर्णी (३, पृष्ठ १०६) और जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के विशेषावश्यकभाष्य (गाथा १५०८) में भी तरंगवती का उल्लेख मिलता है। पादलिप्त सातवाहनवंशी राजा हाल की विद्वत्सभा के एक सुप्रतिष्ठित कवि माने जाते थे। स्वयं हाल एक प्रसिद्ध कवि थे, उन्होंने गाथासप्तशती में गुणाढ्य और पादलिप्त आदि प्राकृत के अनेक कवियों की रचनाओं का संग्रह किया है। सुप्रसिद्ध गुणाढ्य भी हाल की सभा में मौजूद थे। जैसे गुणाढ्य ने पैशाची में बृहत्कथा की रचना की, वैसे ही पादलिप्त ने प्राकृत में तरंगवतीकथा लिखी। उद्योतनसूरि की कुवलयमाला में सातवाहन के साथ पादलिप्त का उल्लेख है; पादलिप्त की तरंगवतीकथा का भी यहाँ नाम मिलता है। प्रभावकचरित में पादलिप्तसूरि के ऊपर एक प्रबंध है जिसके अनुसार ये कवि कोशल के निवासी थे, इनके पिता का नाम फुल्ल और माता का प्रतिमा था। बाल्य अवस्था में जैन दीक्षा ग्रहण कर इन्होंने मथुरा, पाटलिपुत्र, लाट, सौराष्ट्र, शत्रुंजय आदि स्थानों में भ्रमण किया था। कवि धनपाल ने अपनी तिलकमंजरी में तरंगवती की उपमा प्रसन्न और गंभीर पथवाली पुनीत गंगा से दी है। लक्ष्मणगणि (ईसवी सन् ११४५) ने अपने सुपासनाहचरिय में भी इस कथा की प्रशंसा की है। दुर्भाग्य से बहुत प्राचीन काल से ही यह अद्भुत और सुंदर कृति नष्ट हो गई है। प्रोफेसर लॉयमन ने इस का समय ईसवी सन् की दूसरी-तीसरी शताब्दी स्वीकार किया है।

तरंगलोला

तरंवती का संक्षिप्तरूप तरंगलोला के रूप में प्रसिद्ध है जो तरंगवतीकथा के लगभग १००० वर्ष पश्चात् तैयार किया गया। इसके कर्ता वीरभद्र आचार्य के शिष्य नेमिचन्द्रगणि हैं जिन्होंने यश नामक अपने शिष्य के लिये १६४२ गाथाओं में इस ग्रंथ

की[1] रचना की। ग्रन्थकार के अनुसार पादलिप्तसूरि ने तरंगवइकहा की रचना देशी वचनों में की थी। यह कथा विचित्र और विस्तृत थी, कहीं पर इसमें सुन्दर कुलक थे, कहीं गहन युगल और कहीं दुर्गम षट्कल। इस कथा को न कोई कहता था, न सुनता था और न पूछता ही था। यह विद्वानों के ही योग्य थी, साधारण जन इससे लाभ नहीं उठा सकते थे। पादलिप्त ने देशीपदों में जो गाथायें लिखीं उन्हें यहाँ संक्षिप्त करके लिखा गया जिससे कि इस कृति का सर्वथा उच्छेद न हो जाये।

धनपाल नामक सेठ अपनी सेठानी सोमा के साथ राजगृह नगर में रहता था। उसके घर के पास की एक वसति में कुमार-ब्रह्मचारिणी सुव्रता नाम की गणिनी अपने शिष्य-परिवार के साथ ठहरी हुई थी। एक बार सुव्रता की शिष्या तरंगवती एक अन्य साध्वी को साथ लेकर भिक्षा के लिये सेठानी के घर आई। सेठानी तरंगवती के सौन्दर्य को देखकर बड़ी मुग्ध हुई। उसने तरंगवती से धर्मकथा सुनाने का अनुरोध किया। धर्मकथा श्रवण करने के पश्चात् उसका जीवन-वृत्तांत सुनने की इच्छा प्रकट की। तरंगवती ने कहना आरंभ किया—

"वत्स देश में कौशांबी नाम का नगर है। यह मध्यदेश की शोभा माना जाता है और जमुना के किनारे बसा हुआ है। वहाँ उदयन नाम का राजा अपनी रानी वासवदत्ता के साथ

---

१. नेमिविज्ञानग्रंथमाला में विक्रम संवत् २००० में प्रकाशित। प्रोफेसर लॉयमन ने इसका जर्मन अनुवाद प्रकाशित किया है जिसका गुजराती भाषांतर नरसिंह भाई पटेल ने किया है, जो जैनसाहित्य-संशोधक में छपा है। पृथक् पुस्तक के रूप में यह अनुवाद बबलचंद केशवलाल मोदी की ओर से सन् १९२४ में अहमदाबाद से प्रकाशित हुआ है।

राज्य करता था। इस नगर में ऋषभसेन नाम का एक नगरसेठ रहता था। उसके घर आठ पुत्रों के पश्चात् मैंने जन्म लिया, तरंगवती मेरा नाम रक्खा गया। आठ वर्ष की अवस्था में मैंने लेख, गणित, रूप, आलेख्य, गीत, वादित्र, नाट्य आदि कलाओं की शिक्षा प्राप्त की। युवावस्था प्राप्त करने पर एक बार वसंत ऋतु में अपने परिवार सहित मैं उपवन में क्रीड़ा करने गई। वहाँ एक चक्रवाक पक्षी को देखकर मुझे जातिस्मरण हो आया, और अपनी सखी सारसिका को मैंने अपने पूर्वभव का वृत्तान्त सुनाया—

'चंपा नगरी में चकवी बन कर गंगा के किनारे मैं अपने चकवे के साथ क्रीड़ा किया करती थी। एक दिन वहाँ एक हाथी जल पीने के लिये आया। किसी व्याध ने हाथी का शिकार करने के लिये उस पर बाण छोड़ा। इस समय मेरा चकवा बीच में आ गया और बाण से आहत होकर वहीं गिर पड़ा। व्याध को बहुत पश्चात्ताप हुआ, उसने चकवे का अग्नि-संस्कार किया। प्रियतम के वियोग-दुख से पीड़ित हो, मैंने भी अग्नि में जलकर प्राणों को त्याग दिया। अब मैंने तरंगवती का जन्म धारण किया है।'

"उपवन से लौटकर अपने पूर्वजन्म के स्वामी को प्राप्त करने के लिये मैंने आयंबिल किया, तथा काशी के एक सुन्दर वस्त्र पर पूर्वजन्म की घटना का चित्र आलिखित कर कौमुदी महोत्सव के अवसर पर उसे राजमार्ग पर रखवा दिया। इसे देखकर नगर के धनदेव सेठ के पुत्र पद्मदेव को अपने पूर्वजन्म का स्मरण हो आया। अपनी सखी से अपने पूर्वजन्म के स्वामी के संबंध में समाचार ज्ञात कर मुझे अत्यंत आनंद हुआ। तत्पश्चात् धनदेव के पिता ने अपने पुत्र के लिये मेरी मगनी की, लेकिन मेरे पिता ने यह संबंध स्वीकार नहीं किया। उन्होंने कहा कि किसी धनिक के घर ही मैं अपनी कन्या दूँगा। यह सुनकर मैं बड़ी निराश हुई। मैंने भोजपत्र पर एक पत्र लिखकर

अपनी सखी के हाथ पद्मदेव के पास भिजवाया। फिर अपनी सखी को साथ लेकर मैं अपने प्रिय के घर पहुँची। वहाँ से हम दोनों नाव में बैठकर जमुना नदी के उस पार चले गये और गांधर्व-विवाह के अनुसार हमने विवाह कर लिया। कुछ समय बाद वहाँ चोरों का आक्रमण हुआ, उन्होंने हम दोनों को पकड़ लिया। वहाँ अनेक ध्वजाओं से चिह्नित कात्यायनी का एक मंदिर था। वे लोग कात्यायनी को प्रसन्न करने के लिये उसे हमारी बलि देना चाहते थे। मैंने बहुत विलाप किया, जिससे चोरों के सुभट ने दया करके हमें बंधन से मुक्त कर दिया। वहाँ से छूटकर हमलोग खयग (?) आदि नगरों में होते हुए कौशांबी आकर अपने माता, पिता से मिले। हमारी कहानी सुनकर उन्हें बड़ा दुख हुआ। उन्होंने बहुत धूमधाम से हम दोनों का विवाह कर दिया। कुछ समय पश्चात् मैंने दीक्षा ग्रहण की और चंदनबाला की शिष्या बनकर मैं तप और व्रत-उपवास करने लगी। अब मैं उन्हीं के साथ विहार करती हुई इस नगर में आई हूँ।"

तरंगवती का जीवनचरित सुनकर सेठानी ने श्राविका के बारह व्रत स्वीकार किये। तरंगवती भिक्षा ग्रहण कर अपने उपाश्रय में लौट गई। तरंगवती ने केवलज्ञान प्राप्त कर सिद्धि पाई, पद्मदेव भी सिद्ध हो गये।

यहाँ अत्थसत्थ (अर्थशास्त्र) की प्राकृत गाथाओं को उद्धृत किया है जिनमें बताया है कि दूती से सब भेद खुल जाता है, और उससे कार्य की सिद्धि नहीं होती—

तो भणइ अत्थसत्थंमि वण्णियं सुयणु ! सत्थयारेहिं।
दूती परिभवदूती न होइ कज्जस्स सिद्धिकरी॥
एतो हु मंतभेओ दूतीओ होज्ज कामनेमुक्का।
महिला मुंचरहस्सा रहस्सकाले न संठाइ॥
आमरणमवेलायां नीणति अवि य घेघति चिंता।
होज्ज मंतभेओ गमणविघाओ अनिव्वाणी।

पुष्पयोनिशास्त्र (पुप्फजोणिसत्थ) का भी यहाँ उल्लेख है।

वसुदेवहिण्डी

वसुदेवहिण्डी में कृष्ण के पिता वसुदेव के भ्रमण (हिंडी) का वृत्तान्त है इसलिये इसे वसुदेवचरित नाम से भी कहा गया है। आगमबाह्य ग्रन्थों में यह कृति कथा-साहित्य में प्राचीनतम गिनी जाती है। आवश्यकचूर्णी के कर्त्ता जिनदासगणि ने इसका उपयोग किया है। इसमें हरिवंश की प्रशंसा की गई है और कौरव-पांडवों को गौण स्थान दिया गया है। निशीथ-विशेषचूर्णी में सेतु और चेटककथा के साथ वसुदेवचरित का उल्लेख है। इस ग्रंथ के दो खंड हैं। पहले खंड में २६ लंभक ११,००० श्लोकप्रमाण हैं और दूसरे खंड में ७१ लंभक १७,००० श्लोकप्रमाण हैं। प्रथम खंड के कर्ता संघदासगणि वाचक, और दूसरे के धर्मसेनगणि हैं। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने विशेषण-वती में इस ग्रंथ का उल्लेख किया है, इससे संघदासगणि का समय ईसवी सन् की लगभग पांचवीं-शताब्दी माना जाता है। प्रथम खंड[1] के बीच का और अन्त का भाग खंडित है, दूसरा खंड अप्रकाशित है। कथा का विभाजन छह अधिकारों में किया गया है—कहुप्पत्ति (कथा की उत्पत्ति), पीढिया (पीठिका) मुह (मुख), पडिमुह (प्रतिमुख), सरीर (शरीर), और उवसंहार (उपसंहार)। कथोत्पत्ति समाप्त होने पर धम्मिल्ल-हिण्डी (धम्मिल्लचरित) प्रारंभ होता है और इसके समाप्त होने पर क्रमशः पीठिका, मुख और प्रतिमुख आरंभ होते हैं। तत्पश्चात् प्रथम खंड के प्रथम अंश में सात लंभक हैं। यहाँ से

---

१. मुनि पुण्यविजय जी द्वारा संपादित आत्मानन्द जैन ग्रंथमाला, भावनगर की ओर से सन् १९३० और सन् १९३१ में प्रकाशित। इसका गुजराती भाषांतर प्रोफेसर सांडेसरा ने किया है जो उक्त ग्रंथमाला की ओर से वि० सं० २००३ में प्रकाशित हुआ है।

शरीरविभाग आरंभ होता है, और दूसरे अंश के २६ वें लंभक तक चलता है। वसुदेव-भ्रमण के वृत्तान्त की आत्मकथा का विस्तार इसी विभाग से शुरू होता है। उक्त लंभकों में १९ और २०वें लंभक उपलब्ध नहीं, तथा २८वां लंभक अपूर्ण है।

वसुदेवहिण्डी के दूसरे खंड के कर्ता धर्मसेनगणि हैं। इस खंड में नरवाहनदत्त की कथा का उल्लेख है। गुणाढ्य की बृहत्कथा की भांति इसमें शृंगारकथा की मुख्यता होने पर भी बीच-बीच में धर्म का उपदेश दिया गया है। कुल मिलाकर दोनों खंडों में १०० लंभक हैं[1]। दूसरे खंड के अनुसार वसुदेव सौ वर्ष तक परिभ्रमण करते रहे और सौ कन्याओं के साथ उन्होंने विवाह किया।

वसुदेवहिण्डी मुख्यतया गद्यात्मक समासांत पदावलि में लिखी गई एक विशिष्ट रचना है; बीच में पद्य भी आ जाते हैं। भाषा सरल, स्वाभाविक और प्रसादगुणयुक्त है, संवाद चुस्त हैं। भाषा प्राचीन महाराष्ट्री प्राकृत है जिसकी तुलना चूर्णी-ग्रन्थों से की जा सकती है, दिस्सहे, गच्छीय, वहाए, पिव, गेण्हेप्पि आदि रूप यहाँ मिलते हैं, देशी शब्दों के प्रयोग भी हुए हैं।[2] वसुदेव के भ्रमण की कथा के साथ इसमें अनेक अंतर्कथायें हैं जिनमें तीर्थंकरों तथा अन्य शलाकापुरुषों के जीवनचरित हैं। बीच

---

१. सोमदेव के कथासरित्सागर में भी लावाणक लंबक, सूर्यप्रभलंबक, महाभिषेक लंबक इत्यादि नाम दिये गये हैं। वसुदेव के परिभ्रमण की भाँति नरवाहनदत्त के परिभ्रमण, पराक्रम आदि की कथा यहाँ वर्णित है। नरवाहनदत्त का विवाह जिस कन्या से होता है उसी के नाम से लंबक कहा जाता है, जैसे रत्नप्रभा लंबक, अलंकारवती लंबक आदि।

२. वसुदेवहिण्डी की भाषा के संबंध में देखिये डॉक्टर आल्सडोर्फ का 'बुलेटिन ऑव द स्कूल ऑव ओरिण्टिएल स्टडीज़' जिल्द ८ में प्रकाशित लेख, तथा वसुदेवहिण्डी के गुजराती अनुवाद का उपोद्घात।

बीच में अणुव्रत के गुण-दोष, परलोक की सिद्धि, महाव्रतों का स्वरूप, मांसभक्षण में दोष, वनस्पति में जीव की सिद्धि आदि जैनधर्मसंबंधी तत्त्वों का विवेचन है। जर्मन विद्वान् आल्सडोर्फ ने वसुदेवहिण्डी की गुणाढ्य की बृहत्कथा से तुलना की है, संघदासगणि की इस कृति को वे बृहत्कथा का रूपांतर स्वीकार करते हैं।

कहुप्पत्ति में जंबूस्वामिचरित, जंबू और प्रभव का संवाद, कुबेरदत्तचरित, महेश्वरदत्त का आख्यान, वल्कलचीरि प्रसन्नचंद्र का आख्यान, ब्राह्मण दारक की कथा, अणाढियदेव की उत्पत्ति आदि का वर्णन है। अन्त में वसुदेवचरित की उत्पत्ति बताई गई है।

तत्पश्चात् धम्मिल्ल के चरित का वर्णन है। विवाह होने के बाद भी धम्मिल्ल रात्रि के समय पढ़ने-लिखने में बहुत व्यस्त रहता था। उसकी मां को जब इस बात का पता लगा तो उसने पढ़ना-लिखना बंद कर अपने पुत्र का ध्यान अपनी नवविवाहिता वधू की ओर आकर्षित करना चाहा। परिणाम यह हुआ कि वह वेश्यागामी हो गया—

'ततो अन्नया कयाइ सस्सू से धूयदंसणत्थं सुयाघरमागया। सम्माणिया य घरसामिणा विहवाणुरूवेणं संबंधसरिसेणं उवयारेण। अइगया य धूयं दट्ठूण, पुच्छिया य णाए सरीरादिकुसलं। तीए वि पगतविणीयलज्जोणयमुहीए लोगधम्मउवभोगवज्जं सव्वं जहाभूयं कहियं। तं जहा—

पासि कप्पि चउरंसिय रेवापयपुण्णियं,
सेडियं च गेण्हेप्पि ससिप्पभवण्णियं।
मइं सुयं णि एक्कल्लियं सयणि निवण्णियं,
सव्वरत्ति घोसेइ समाणसवण्णियं॥

तो सा एयं सोऊण आसुरुत्ता रुट्ठा कुविया चंडिक्किया मिसिमिसेमाणी इत्थीसहावच्छल्लयाए पुत्तिसिणेहेण य माऊए

से सगासं गंतूण सव्वं साहिउं पयत्ता। जहाभूयत्थं तं सोऊण से माया आकंपियसरीसहियया बाहंसुपप्पुयच्छी णिरुत्तरा तुण्हिका ठिया। पच्छा य णाए ससवहं पत्तियाविया। ततो सा तं धूयं आसासिऊण अप्पणा णियघरं गया।

माया य से पइणो मूलं गंतूण सव्वं जहाभूयं परिकहेइ। तेण य भणिया अजाणाए! जाव बालो विज्जासु य अणुरत्तबुद्धी णणु ताव ते हरिसाइयव्वं, किं विसायं वच्चसि? अहिणवसिक्खिया विज्जा अगुणिज्जंती णेहरहिओ विव पईवो विणासं वच्चइ, तं मा अयाणुगा होही। जाव बालो ताव विज्जाउ गुणेउ। तीए पुत्तवच्छलाए भणियं–किं वा अइबहुएणं पढिएणं? माणुस्सयवसुहं अणुभवउ। 'उवभोगरइवियक्खणो होउ' त्ति चिंतेऊण पइणा वारिज्जंतीए वि ललियगोट्ठीए पवेसिओ। सो य अम्मापिउसंलावो धाईते से सव्वो कहिओ। तओ सो गोट्ठियजणसहिओ उज्जाण-काणणसभावणंतरेसु विन्नाणनाणाइसएसु अण्णोण्णमतिसयंतो बहुकालं गमेइ।

—एक बार की बात है, धम्मिल्ल की सास अपनी लड़की से मिलने उसके घर आई। गृहस्वामी ने अपने वैभव के अनुसार और रिश्तेदारी को ध्यान में रखते हुए उसका आदर-सत्कार किया। वह अपनी लड़की से मिलने अन्दर गई, कुशल-समाचार पूछे। लड़की ने लज्जा से नीचे मुँह करके अपने पतिद्वारा लौकिक धर्म-उपभोग का परित्याग करने की बात अपनी माँ को सुना दी—

"वह पास में चौकोण पट्टी रखकर, रेवा नदी के जल से पवित्र सफेद रंग की खड़िया मिट्टी से, मुझे अकेली को सोती छोड़, उदासीन भाव से, सारी रात 'समान सवर्ण' 'समान सवर्ण' घोखता रहता है।"

यह सुनकर लड़की की माँ बहुत क्रुद्ध हुई, और स्त्री-स्वभाव के कारण अपनी पुत्री के स्नेहवश उसने अपनी समधिन से सब बात कही। यह सुनकर उसकी समधिन काँपने

लगीं, उसकी आँखें डबडबा आईं, और निरुत्तर होकर वह चुपचाप बैठ गई। उसने सौगन्ध खाकर विश्वास दिलाया कि वह इस संबंध में जरूर कुछ करेगी। इसके बाद माँ अपनी लड़की को आश्वासन देकर घर लौट गई।

धम्मिल्ल की माँ ने अपने पति से पूछताछ की। पति ने उत्तर दिया—"तुम अनजान हो, जबतक बालक का पढ़ने में मन लगे तबतक प्रसन्न ही होना चाहिये, फिर तुम क्यों विषाद करती हो? नई-नई विद्या को यदि याद न किया जाये तो तेल के बिना दीपक की भाँति वह नष्ट हो जाती है। अतएव तुम अनजान मत बनो। जबतक बाल्यावस्था है तबतक विद्या का अभ्यास करते रहना चाहिये।" पुत्रस्नेह के कारण माँ ने कहा—"अधिक पढ़ने से क्या लाभ? मनुष्यजीवन के सुख का आनन्द भी तो उठाना चाहिये।" पति के मना करने पर भी पहले उपभोग-क्रीडा में कुशलता प्राप्त करने के लिये उसकी माँ ने अपने बेटे को ललित-गोष्ठी में शामिल करा दिया। अपने माता-पिता के साथ उसकी जो बातचीत हुई थी, उसने सब धाय को सुना दी। और वह गोष्ठी के सदस्यों के साथ उद्यान, कानन, सभा और वनों में आनन्दपूर्वक समय बिताने लगा।

धम्मिल्ल अपनी स्त्री को छोड़कर वसन्ततिलका नामक गणिका के घर में रहने लगा जिससे उसकी माँ और स्त्री को बहुत दुःख हुआ। एक दिन धम्मिल्ल जब शराब के नशे में धुत्त पड़ा हुआ था, वसन्ततिलका की माँ ने उसे घर से निकाल बाहर किया। धम्मिल्ल को अगडदत्त मुनि के दर्शन हुए और इस अवसर पर अगडदत्त ने अपने पूर्वभव का वृत्तान्त सुनाया। धम्मिल्ल ने अनेक कुलकन्याओं के साथ विवाह किया। वसन्तसेना को जब इसका पता लगा तो उसने सब आभरणों का त्याग कर दिया, मलिन जीर्ण वस्त्र धारण किये, तांबूल का भक्षण करना छोड़ दिया और केवल एक वेणी बांधकर भुजंग के समान दिखाई

पड़नेवाले अपने केशों को अपने हाथ में धारण किया। अपने प्रिय के विरह से वह दुर्बल होने लगी; उसके कपोल क्षीण हो गये और मुख पीला पड़ गया।

इस प्रसङ्ग पर पञ्चतन्त्र की भाँति यहाँ भी कृतघ्न वायस, शाकटिक आदि के लौकिक आख्यान कहे गये हैं। यवनदेश के राजा का भेजा हुआ कोई दूत कौशांबी नगरी में आया। राजा के पुत्र को कुष्ठरोग से पीड़ित देखकर वह कहने लगा कि क्या आप लोगों के देश में कोई औषधि नहीं, अथवा वैद्यों का अभाव है जो यह राजकुमार स्वस्थ नहीं हो सकता। अर्थशास्त्र का एक श्लोक यहाँ उद्धृत है—

"विसेसेण मायाए सत्थेण य हंतव्वो अप्पणो विवड्ढमाणो सत्तु त्ति।"

—बढ़ते हुए अपने शत्रु को खास तौर से माया अथवा शक्ति द्वारा मार देना चाहिये।

भगवद्गीता का यहाँ उल्लेख है। आख्यायिका-पुस्तक, कथा-विज्ञान और व्याख्यान की जानकार स्त्रियों के नामोल्लेख हैं। शौकरिक और केवटों के मोहल्ले (वाडय) अलग थे, और वहाँ से मत्स्य-मांस खरीदा जा सकता था। दूसरे को दुख देने को अधर्म और सुख देने को धर्म कहा है (अहम्मो परदुक्खस्स करणेण, धम्मो य परस्स सुहप्पयाणेणं); यही जैनधर्म की विशेषता बताई है। जिसने सब प्रकार के आरंभ का त्याग कर दिया है और जो धर्म में स्थित है वह श्रमण है।

पीठिका में प्रद्युम्न और शंबकुमार की कथा का सम्बन्ध, राम-कृष्ण की अग्रमहिषियों का परिचय, प्रद्युम्नकुमार का जन्म और उसका अपहरण, प्रद्युम्न के पूर्वभव, प्रद्युम्न का अपने माता-पिता से समागम, और पाणिग्रहण आदि का वर्णन है। हरिणगमेषी से स्त्रियाँ पुत्र की याचना किया करती थीं। बत्तीस नाट्यभेदों का उल्लेख है। गणिकाओं की उत्पत्ति बताई गई है। एक बार राजा भरत के सामंत राजाओं ने अपनी स्वामी

के लिये बहुत सी कन्यायें भेजीं। रानी को यह देखकर बहुत बुरा लगा। उसने महल से गिर कर मर जाने की धमकी दी। यह देखकर भरत ने उन्हें गणों को प्रदान कर दी, तभी से वे गणिका कही जाने लगीं।

मुख नामक अधिकार में शंब और भानु की क्रीड़ाओं का वर्णन है। भानु के पास शुक था और शंब के पास सारिका। दोनों सुभाषित कहते हैं। एक सुभाषित सुनिये—

उक्कामिव जोइमालिणिं, सुभुयंगामिव पुप्फियं लतं।
विबुधो जो कामवत्तिणिं, मुयई सो सुहिओ भविस्सइ॥

—अग्नि से प्रज्वलित उल्का की भाँति और भुजंगी से युक्त पुष्पित लता की भाँति जो पण्डित कामवर्त्तिनी (काममार्ग) का त्याग करता है, वह सुखी होता है।

दोनों में द्यूतक्रीड़ायें होती हैं।

प्रतिमुख में अन्धकवृष्णि का परिचय देते हुए उसके पूर्वभव का सम्बन्ध बताया गया है।

शरीरअध्ययन प्रथम लंभक से आरम्भ होकर २६ वें लंभक में समाप्त होता है। सामा-विजया नामके प्रथम लंभक में समुद्रविजय आदि नौ वसुदेवों के पूर्वभवों का वर्णन है। यहाँ परलोक और धर्म के फल में विश्वास पैदा करने के लिये सुमित्रा की कथा दी हुई है। वसुदेव घर का त्याग करके चल देते हैं। सामलीलंभक में सामली का परिचय है। गन्धर्वदत्तालंभक में विष्णुकुमार का चरित, विष्णुगीतिका की उत्पत्ति, चारुदत्त की आत्मकथा और गन्धर्वदत्ता से परिचय, अमितगति विद्याधर का परिचय तथा अथर्ववेद की उत्पत्ति दी हुई है। एक गीत सुनिये—

अट्ठ णियंठा सुरट्ठं पविट्ठा,
कविट्ठस्स हेट्ठा अह सन्निविट्ठा।
पडियं कविट्ठं भिण्णं च सीसं,
अव्वो अव्वो ति वाहरंति हसंति सीसा॥

—आठ निर्ग्रन्थों ने सौराष्ट्र में प्रवेश किया, वे कैथ के नीचे बैठे, ऊपर से कैथ टूट कर गिरा जिससे उनका सिर फट गया। (यह देख कर) शिष्य आहा! आहा! करते हुए हँसने लगे।

एक विष्णुगीतिका देखिए—

उवसम साहुवरिट्ठया ! न हु कोवो वण्णिओ जिणिंदेहिं।
हुंति हु कोवणसीलया, पावंति बहूणि जाइयव्वाइं॥

—हे साधुश्रेष्ठ ! उपशान्त हो, जिनेन्द्र भगवान् ने कोप करना नहीं बताया है। जो क्रोधी स्वभाव के होते हैं उन्हें अनेक गतियों में भ्रमण करना पड़ता है।

देव, राक्षस आदि के सम्बन्ध में कहा है—देव चार अंगुल भूमि को स्पर्श नहीं करते, राक्षस महान् शरीरवाले होते हैं, उनके पैर बहुत बड़े-बड़े होते हैं, पिशाच बहुत जलवाले प्रदेश में नहीं विचरण करते, ऋषियों का शरीर तप से शोषित रहता है और चारण जल के किनारे जलचर जीवों के कष्ट को दूर करते हुए नहीं संचरण करते। बनिज-व्यापार के लिए व्यापारी चीनस्थान, सुवर्णभूमि, कमलपुर, यवनद्वीप, सिंहल, बर्बर, सौराष्ट्र और उंबरावती के तट पर जाया करते थे। चीणभूमि के साथ हूण और खसभूमि का भी उल्लेख है। टंकण देश में पहुँचकर व्यापारी लोग नदी के किनारे अपने माल के अलग-अलग ढेर लगा, लकड़ी की आग जला एक ओर बैठ जाते। टंकण (म्लेच्छ) इस धूंए को देखकर वहाँ आ जाते, और फिर (इशारों आदि से) लेन-देन शुरू हो जाता। रत्नद्वीप और सुवर्णभूमि का यहाँ उल्लेख है।

पिप्पलाद को अथर्ववेद का प्रणेता कहा गया है। वाराणसी में सुलसा नाम की एक परिव्राजिका रहती थी। त्रिदंडी याज्ञवल्क्य से वाद में हार जाने के कारण वह उसकी सेवा-सुश्रूषा करने लगी। इन दोनों से पिप्पलाद[1] का जन्म हुआ। पिप्पलाद

[1] ब्राह्मण धर्म में पिप्पलाद अथर्ववेद के प्रणेता माने जाते हैं। अथर्व-

को उसके माता-पिता ने, पैदा होते ही छोड़ दिया था, इसलिए उसने प्रद्विष्ट होकर अथर्ववेद की रचना की जिसमें मातृमेध और पितृमेध का उपदेश दिया।

नीलजलसालंभक में ऋषभस्वामी का चरित है। इस प्रसंग पर ऋषभ का जन्ममहोत्सव, राज्याभिषेक और उनकी प्रव्रज्या आदि का वर्णन है। उग्र, भोग, राजन्य, और नाग ये चार गण बताये हैं जो कोशल जनपद में राज्य करते थे। वृक्षों के संघर्षण से उत्पन्न अग्नि को देखकर ऋषभ ने अपनी प्रजा को बताया कि उसे भोजन पकाने, प्रकाश करने और जलाने के काम में ले सकते हैं। उन्होंने पाँच शिल्पों आदि का उपदेश दिया। गंधारा, मायंगा, रुक्खमूलिया और कालकेसा आदि विद्याओं का यहाँ उल्लेख है। विषयभोगों को दुखदायी प्रतिपादन करते हुए कौवे, गीदड़ आदि की लौकिक कथायें दी हैं। यदि कोई साधु अपने शरीर से ममत्व छोड़ देने के कारण औषध नहीं ग्रहण करना चाहे तो अभ्यंगन आदि से उसकी परिचर्या करने का विधान है।

सोमसिरिलंभन में आर्य-अनार्य वेदों की उत्पत्ति, ऋषभ का निर्वाण, बाहुबलि और भरत का युद्ध, नारद, पर्वत, और वसु का संबंध तथा वसुदेव के वेदाध्ययन का प्ररूपण है। भरत के समय से ब्राह्मण (माहण) और आर्य वेदों की उत्पत्ति हुई। ब्राह्मणों ने अग्निकुंड बनाये, भरत ने स्तूप स्थापित किये और आदित्ययश आदि ने ब्राह्मणों को सूत्र (यज्ञोपवीत) दिया। वेद 'सावयपण्णत्ति वेद' (श्रावकप्रज्ञप्ति वेद) नाम से कहे जाते थे, आगे चल कर ये संक्षिप्त हो गये। पूर्व में मगध, दक्षिण में वरदाम और पश्चिम में प्रभास नामक तीर्थों का उल्लेख है।

वेदीय प्रश्नउपनिषद् (१-१) में भारद्वाज, सत्यकाम, गार्ग्य, आश्वलायन, भार्गव आदि ब्रह्मपरायण ऋषि पिप्पलाद के समीप उपस्थित होकर प्रश्न करते हैं, पिप्पलाद उन्हें उपदेश देते हैं।

दितिप्रयाग तीर्थ की उत्पत्ति बताई है, यही प्रयाग नाम से कहा जाने लगा।[1] यहाँ परंपरा से आगत महाकाल देव का चरित वर्णित है। सगर से प्रद्विष्ट होकर उसने पशुवध का उपदेश दिया, इस उपदेश के आधार पर पिप्पलाद ने अथर्ववेद की रचना की। अनार्यवेद की रचना संडिल्ल के मतानुसार की गई। यहाँ वेद की परीक्षा के सम्बन्ध में एक संवाद दिया है।

सातवें लंभन के पश्चात् प्रथम खंड का द्वितीय अंश आरंभ होता है। पउमालंभन में धनुर्वेद की उत्पत्ति बताई है। पुंडालंभन में पोरागम (पाकशास्त्र) में विशारद नंद और सुनंद का नामोल्लेख है। पुंड्रा की उत्पत्ति बताई गई है। नमि जिनेन्द्र ने चातुर्याम धर्म का उपदेश दिया। सोमसिरलंभन में इन्द्रमह का उल्लेख है। मयणवेगालंभन में सनत्कुमार चक्रवर्ती की कथा है। वह व्यायामशाला में जाकर तेल का मर्दन कराता था। जमदग्नि और परशुराम का सम्बन्ध बताया है। कान्यकुब्ज की उत्पत्ति का वृत्तान्त है। रामायण की कथा पउमचरिय की रामकथा से कई बातों में भिन्न है। दशरथ के कौशल्या, केकयी और सुमित्रा नाम की तीन स्त्रियाँ थीं। कौशल्या से राम, सुमित्रा से लक्ष्मण और केकयी से भरत और शत्रुघ्न का जन्म हुआ। मन्दोदरी रावण की अग्रमहिषी थी। सीता मन्दोदरी की पुत्री थी। उसे एक संदूक में रख कर राजा जनक की उद्यान-भूमि के नीचे गाड़ दिया गया था। हल चलाते समय उसकी प्राप्ति हुई। जनक ने सीता का स्वयंवर रचा और राम के साथ उसका

---

१. यहाँ अन्निकापुत्र जल में डूब गये थे, उन्हें यहाँ मोक्ष की प्राप्ति हुई थी, इसलिये इस स्थान को पवित्र तीर्थ माना गया है (आवश्यकचूर्णि, २, पृ० १७९)। लेकिन विशेषनिशीथचूर्णी (२, पृ० ६७२ साइक्लोस्टाइल प्रति) में प्रभास, प्रयाग, श्रीमाल और केदार को कुतीर्थ बातया गया है।

विवाह हो गया। केकयी स्वजनों का आदर-सत्कार करने में[1] कुशल थी। इस पर प्रसन्न होकर राजा दशरथ ने केकयी से वर माँगने को कहा। प्रत्यंत राजाओं के साथ युद्ध होने के समय भी केकयी ने सहायता की थी। राम के परिणतवय होने पर दशरथ ने राम के अभिषेक का आदेश दिया। इस अवसर पर केकयी ने भरत के राज्याभिषेक और रामचन्द्र के निर्वाण के लिए वर माँगा। राम सीता और लक्ष्मण के साथ वन को चले गये। भरत रामचन्द्र की पादुकायें रख कर अयोध्या का राज करने लगे। वनवास के समय एक बार रावण की बहन सूर्पणखा रामचन्द्र के पास उपस्थित होकर उनसे विषयभोग के लिए प्रार्थना करने लगी। रामचन्द्र ने उसके नाक-कान काटकर उसे भगा दिया। वह रोती हुई अपने पुत्र खरदूषण के पास पहुँची। राम-लक्ष्मण और खरदूषण में युद्ध ठन गया। उसके बाद खरदूषण के कहने पर सूर्पणखा रावण के पास पहुँची। रावण ने सीता के रूप की प्रशंसा सुन रक्खी थी। उसने अपने मंत्री मारीच को मृग का रूप धारण कर वन में भेजा, जहाँ राम, लक्ष्मण और सीता निवास करते थे। सुन्दर मृग को देखकर सीता ने राम से उसे लाने को कहा। राम धनुष-बाण लेकर मृग के पीछे भागने लगे। अपना नाम सुनकर सीता के अनुरोध पर लक्ष्मण ने भी राम की रक्षार्थ प्रस्थान किया। इस बीच में रावण तपस्वी का रूप धारण करके आया, और सीता को उठा ले गया। राम ने अपनी सेना लेकर लंका पर चढ़ाई कर दी। विभीषण ने सीता को लौटाने के लिए रावण को बहुत समझाया, लेकिन रावण न माना। दोनों सेनाओं में युद्ध होने लगा। लक्ष्मण ने रावण का वध किया। लक्ष्मण आठवें वासुदेव के

---

१. सयणोवयार वियक्खणाए। फादर कामिल बुल्के इसका अर्थ करते हैं—शयनोपचारविचक्षण, अर्थात् काम क्रीडा में कुशल। यही अर्थ ठीक मालूम होता है। कामशास्त्र में शयनोपचार सम्बन्धी १६ कलाओं का उल्लेख है।

नाम से प्रसिद्ध हुए। राम सीता, विभीषण और सुग्रीव आदि के साथ अयोध्या लौट आये। भरत और शत्रुघ्न ने राम का राज्याभिषेक किया।[1]

बालचंदालंभन में मांसभक्षण के सम्बन्ध में विचार है। दूसरे के द्वारा खरीद कर लाये हुए मांस के भक्षण में, अथवा कुशलचित्त से मध्यस्थभावपूर्वक मांस भक्षण करने में क्या दोष है? इन शंकाओं का समाधान किया गया है। बंधुमतीलंभन में वसुदेव ने तापसों को उपदेश दिया। इस प्रसंग पर महाव्रतों का व्याख्यान और वनस्पति में जीवसिद्धि का प्रतिपादन है। मृगध्वजकुमार और भद्रकमहिष के चरित का वर्णन है। नरक के स्वरूप का प्रतिपादन है। नास्तिकवादियों के सिद्धांत का प्ररूपण है। नास्तिकवादी जीव को देह से भिन्न पदार्थ स्वीकार नहीं करते थे।

पियंगुसुन्दरीलंभन में विमलाभा और सुप्रभा की आत्मकथा है। यहाँ 'ण दुल्लहं दुल्लहं तेसिं' की समस्यापूर्ति देखिए—

विमलाभा—

मोक्खसुहं च विसालं, सव्वट्ठसुहं अणुत्तरं जं च।
जे सुचरियसामण्णा, ण दुल्लहं दुल्लहं तेसिं॥

—विशाल, सर्वार्थसुखरूप और अनुत्तर मोक्षसुख सुचरित पुरुषों के लिए दुर्लभ नहीं है, दुर्लभ नहीं है।

सुप्रभा—

सल्ले समुद्धरित्ता अभयं दाऊण सव्वजीवाणं।
जे सुट्ठिया दमपहे, ण दुल्लहं दुल्लहं तेसिं॥

---

१. रामायण की कथा के लिये देखिये आगे हरिभद्र का उपदेश-पद और विमलसूरि का पउमचरिय। प्रोफेसर वी० एम० कुलकर्णी ने वसुदेवहिण्डी की रामकथा पर जरनल ऑव ओरिंटिएल इंस्टिट्यूट, बड़ौदा, जिल्द २, भाग २, पृ० १२८ पर एक लेख प्रकाशित किया है। जैन रामायण पर सन् १९५२ में एक महानिबंध (थीसिस) भी इन्होंने लिखा है।

—शल्य का उद्धार करके और सब जीवों को अभयदान देकर जो दम के मार्ग में सुस्थित हैं, उन्हें कुछ भी दुर्लभ नहीं है, दुर्लभ नहीं है।

इक्ष्वाकुवंश में कन्यायें प्रव्रज्या ग्रहण करती थीं। कुक्कुट-युद्ध का यहाँ वर्णन है। परदारदोष में वासव का उदाहरण दिया है। कामपताका नामक वेश्या श्राविका के व्रत ग्रहण कर जैनधर्म की उपासना करती थी। प्राणातिपातविरमण आदि पांचों व्रतों के गुण-दोष के उदाहरण दिये गये हैं। गोमंडलों का वर्णन है जहाँ सुंदर और असुंदर गायों पर चिह्न बनाये जाते थे। सगरपुत्रों ने अष्टापद के चारों ओर खाई खोदना चाहा जिससे वे भस्म हो गये। अष्टापद तीर्थ की उत्पत्ति का वर्णन है।

उन्नीस और बीसवाँ लंभन नष्ट हो गया है। केउमतीलंभन में शांतिजिन का चरित, त्रिविष्टु और वासुदेव का संबंध, अमिततेज, सिरिविजय, असणिघोस और सतारा के पूर्वभवों का वर्णन है। मेघरथ के आख्यान में जीवन की प्रियता को मुख्य बताया है—

हंतूण परप्पाणे अप्पाणं जो करेइ सप्पाणं।
अप्पाणं दिवसाणं, कएण नासेइ अप्पाणं॥
दुक्खस्स उव्वियंतो, हंतूण परं करेइ पडियारं।
पाविहिति पुणो दुक्खं, बहुययरं तन्निमित्तेण॥

—जो दूसरे के प्राणों की हत्या करके अपने को सप्राण करना चाहता है, वह आत्मा का नाश करता है। जो दुख से खिन्न हुआ दूसरे की हत्या करके प्रतिकार करता है, वह उसके निमित्त से और अधिक दुख पाता है।

कुंथु और अरहनाथ के चरित का वर्णन है। अन्त में वसुदेव का केतुमती के साथ विवाह हो जाता है। पउमावंतीलंभन में हरिवंश कुल की उत्पत्ति का आख्यान है। देवकीलंभन में कंस के पूर्वभव का वर्णन है।

समराइच्चकहा

समराइच्चकहा[1] अथवा समरादित्यकथा में उज्जैन के राजा समरादित्य और प्रतिनायक अग्निशर्मा के नौ भवों का वर्णन है। समराइच्चकहा के कर्त्ता याकिनीमहत्तरा के पुत्र हरिभद्रसूरि हैं जिनका नाम पादलिप्त और बप्पभट्टि आचार्यों के साथ आदरपूर्वक लिया गया है। सिद्धर्षि और उद्योतनसूरि ने हरिभद्रसूरि के प्रभाव को स्वीकार किया है। हरिभद्रसूरि चित्तौड़ के रहनेवाले थे। संस्कृत और प्राकृत के ये बड़े विद्वान थे; आगम-ग्रन्थों की टीकायें इन्होंने लिखी है। इनका समय ईसवी सन् की आठवीं शताब्दी है। समराइच्चकहा को हरिभद्रसूरि ने धर्मकथा नाम से उल्लिखित किया है। अपनी इस कृति के कारण उन्होंने कविरूप में प्रसिद्धि प्राप्त की थी। इस कथा में नायक-नायिकाओं की प्रेम-कथाओं और उनके चरित्रों का वर्णन है जो संसार का त्याग करके जैन दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं। बीच-बीच में अनेक धार्मिक आख्यान गुंफित हैं जिससे कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्तों का समर्थन होता है। समराइच्चकहा जैन महाराष्ट्री प्राकृत में लिखी गई है, यद्यपि अनेक जगह शौरसेनी का प्रभाव भी पाया जाता है। इसका पद्यभाग आर्याछन्द में लिखा गया है, द्विपदी, विपुला आदि छंदों के भी प्रयोग मिलते हैं। भाषा प्रायः सरल और प्रवाहबद्ध है। कहीं पर वर्णन करते समय लंबे समासों और उपमा आदि अलंकारों का भी प्रयोग हुआ है, जिससे लेखक के काव्य-कौशल का पता चलता है। इसके वर्णनों को पढ़ते हुए कितनी बार

---

१. डा० हर्मन जैकोबी ने भूमिका के साथ इसे एशियाटिक सोसायटी ऑव बंगाल, कलकत्ता से सन् १९२६ में प्रकाशित किया था। उसके बाद पंडित भगवानदास ने संस्कृत छाया के साथ दो भागों में क्रमशः सन् १९३८ और १९४२ में इसे अहमदाबाद से प्रकाशित किया।

बाणभट्ट की कादंबरी की याद आ जाती है; श्रीहर्ष की रत्नावलि से यह प्रभावित है।

पूर्वजन्म में समरादित्य का नाम राजकुमार गुणसेन था। अग्निशर्मा उसके पुरोहित का पुत्र था। वह अत्यन्त कुरूप था। राजकुमार मज़ाक में उसे नगर भर में नचाता और गधे पर चढ़ाकर सब जगह घुमाता था। अग्निशर्मा को यह बहुत बुरा लगा और तंग आकर उसने तापसों की दीक्षा ग्रहण कर ली। इधर गुणसेन राजपद पर अभिषिक्त हो गया। उसने तपोवन में पहुँचकर अग्निशर्मा को भोजन के लिये निमंत्रित किया। अग्निशर्मा राजदरबार में तीन बार उपस्थित हुआ, लेकिन तीनों बार राजा को कामकाज में व्यस्त देख, बिना भोजन किये निराश होकर वापिस लौट गया। उसने सोचा कि अवश्य ही राजा ने बैर लेने के लिये मुझे इतनी बार निमंत्रित करके भी भोजन से वंचित रक्खा है। यह सोचकर वह बहुत क्रुद्ध हुआ और उसने निदान बांधा कि यदि मेरे व्रत में कोई शक्ति है तो मैं जन्म-जन्मांतर में गुणसेन का शत्रु बन कर उसका वध करूँ। इसी निदान के परिणामस्वरूप अग्निशर्मा नौ जन्मों में गुणसेन से अपने बैर का बदला लेता है, और अन्त में शुभ कर्मों का बंध करता है।

दूसरे भव में अग्निशर्मा राजा सिंहकुमार का पुत्र बन कर गुणसेन से बदला लेता है। सिंहकुमार का कुसुमावलि से विवाह होता है। इस प्रसंग पर वसन्त का वर्णन, विवाह-मण्डप, कन्या का प्रसाधन और तत्कालीन विवाह के रीति-रिवाजों का लेखक ने सरस का वर्णन किया है। मूल कथा के साथ अन्तर्कथायें जुड़ी हुई हैं जिनके अन्त में निर्वेद, वैराग्य, संसार की असारता, कर्मों की विचित्रता और मन की विचित्र परिणति आदि का उपदेश लक्षित होता है। इन कथाओं में धन के लोभ का परिणाम, निरपराधी को दण्ड, भोजन में विष का मिश्रण, शबरसेना का आक्रमण, कारागृह आदि का प्रभावोत्पादक शैली

में चित्रण किया गया है। नगर के सार्थवाह चन्दन के घर चोरी हो जाने पर उसने राजा को रिपोर्ट दी और फिर राजा ने डिंडिमनाद से नगर भर में घोषणा कराई—

एत्थंतरम्मि य जाणाविियं चन्दणसत्थवाहेण राइणो, जहा देव ! गेहं मे मुट्ठं ति।

'किमवहरियं' ति पुच्छियं राइणा।

निवेइयं चन्दणेण, लिहावियं च राइणा, भणियं च णेण—'अरे ! आघोसेह डिण्डिमेणं, जहा—मुट्ठं चंदणसत्थवाहगेहं, अवहरियमेयं रित्थजायं। ता जस्स गेहे केणइ ववहारजोएण तं रित्थं रित्थदेसो वा समागओ, सो निवेएउ राइणो चण्डसासणस्स। अणिवेइओवलंभे य राया सव्वधणावहारेण सरीरदण्डेण य नो खमिस्सइ।'

—इस बीच में चन्दन सार्थवाह ने राजा को खबर दी—"हे देव ! मेरे घर चोरी हो गई है।"

राजा ने पूछा—"क्या चोरी गया है ?"

चन्दन ने बता दिया। राजा ने उसे लिखवा लिया। उसने (अपने कर्मचारियों से) कहा—"अरे, डिंडिमनाद से घोषणा करो—चन्दन सार्थवाह के घर चोरी हो गई है, उसका धन चोरी चला गया है। जिस किसी के घर वह धन अथवा उस धन का कोई अंश किसी प्रकार से आया हो, वह चण्डशासन राजा को खबर कर दे। ऐसा न करने पर राजा उसका सब धन छीन लेगा और उसे दण्ड देगा।"

एक दूसरा प्रसंग देखिये जब कोई मित्र धन के लोभ से अपने साथी को कुएँ में ढकेल देता है—

एत्थंतरम्मि य अत्थमिओ सहस्सरस्सी, लुलिया संझा।

तओ चिन्तियमणहगेणं—हत्थगयं मे दविणजायं, विजणं च कन्तारं, समासन्नो य पायालगम्भीरो कूवो, पवत्तो य अवराहविवरसमच्छायगो अन्धयारो। ता एयम्मि एयं पक्खिविउण नियत्तामो इमस्स थाणस्स ति चिन्तिऊण भणियं च तेण—सत्थवाहपुत्त !

धणियं पिवासाभिभूओ म्हि। ता निहालेहि एयं जिण्णकूवं किमेत्थ उदगं अत्थि, नत्थि त्ति ? तओ मए गहियपाहेयपोट्टलेणं चेव निहालिओ कूवो। एत्थंतरम्मि य सुविसत्थहिययस्स लोयस्स विय मच्चू मम समीवमणहगो। सहसा पक्खित्तो तम्मि अहमणहगेण, पडिओ य उदगमज्झे। नियत्तो य सो तओ विभागाओ।

—इस बीच में सूर्य अस्ताचल में छिप गया, और संध्या हो गई। अणहग ने सोचा—"मेरे हाथ में धन है, जंगल में कोई है नहीं, पाताल के समान गंभीर कुँए के पास पहुँच गये हैं, और अपराधरूपी छिद्रों को ढक देनेवाला अंधकार फैल गया है। ऐसी हालत में अपने साथी को इस कुँए में ढकेल कर, मैं यहाँ से लौट जाऊँगा।" यह सोचकर उसने मुझ से कहा, "हे सार्थवाह के पुत्र! मुझे बहुत प्यास लगी है। ज़रा इस पुराने कुँए में झाँककर तो देखो इसमें जल है या नहीं ?" तब खाने की पोटली हाथ में लिये-लिये ही मैंने कुँए में झाँका। इस बीच में जैसे विश्वस्त हृदय वाले लोगों के पास मृत्यु आ पहुँचती है, वैसे ही अणहग मेरे पास आ पहुँचा, और उसने एकदम मुझे कुँए में ढकेल दिया। मैं कुँए में गिर पड़ा। वह वहाँ से लौट गया।

यहाँ धार्मिक आख्यानों के प्रसंग में कुँए में लटकते हुए पुरुष का दृष्टांत दिया गया है। कोई दरिद्र पुरुष परदेश जाते हुए किसी भयानक अटवी में पहुँचा। इतने में उसने देखा कि एक जंगली हाथी उसका पीछा कर रहा है। उसके पीछे हाथी भागा हुआ आ रहा था, और सामने एक दुष्ट राक्षसी हाथ में तलवार लिये खड़ी थी। उसकी समझ में न आया कि वह क्या करे। इतने में उसे वट का एक विशाल वृक्ष दिखाई पड़ा। वह दौड़कर वृक्ष के पास पहुँचा, लेकिन उसके ऊपर चढ़ न सका। इस वृक्ष के पास तृणों से आच्छादित एक कुँआ था। अपनी जान बचाने के लिये वह कुँए में कूद पड़ा। वह कुँए की दिवाल पर उगे हुए एक सरकंडे के ऊपर गिरा। उसने देखा, दिवाल के

चारों ओर चार भयंकर सर्प फुंकार मार रहे हैं और सरकंडे की जड़ में एक भयानक अजगर लिपटा हुआ है। क्षण भर के लिये उसके मन में विचार आया कि जब तक यह सरकंडा है तबतक मेरा जीवन है। इतने में उसने देखा कि दो बड़े-बड़े चूहे—एक सफेद और दूसरा काला—उस सरकंडे की जड़ को काटने में लगे हैं। हाथी इस पुरुष तक नहीं पहुँच सका, इसलिये वह गुस्से में जोर-जोर से वट वृक्ष को हिलाने लगा। इस वृक्ष पर मधुमक्खियों का एक छत्ता लगा हुआ था। इस छत्ते की मक्खियाँ उस पुरुष के शरीर में लिपट कर उसे काटने लगीं। साथ ही छत्ते में से मधु का एक बिन्दु इस पुरुष के माथे पर टपक कर उसके मुँह में प्रवेश कर रहा था और वह पुरुष इसके रस का आस्वादन करने में मग्न था। इस बिन्दु के लोभ से ग्रस्त हुआ वह पुरुष अपनी भयंकर संकटापन्न परिस्थिति को भूल गया था। इस उदाहरण के द्वारा यह बताया गया है कि संसार रूपी अटवी में भ्रमण करते हुए जीव को राक्षसी रूपी वृद्धावस्था और हाथीरूपी मृत्यु का भय बना रहता है। वट का वृक्ष मोक्ष है, जहाँ मरणरूपी हाथी का भय नहीं है; मनुष्य-जन्म कुँआ है, चार सर्प चार कषाय हैं, सरकंडा जीवन है, सफेद और काले चूहे शुक्ल और कृष्ण पक्ष हैं, मधुमक्खियाँ अनेक प्रकार की व्याधियाँ हैं, अजगर नरक है और मधु की बूंदें संसार के विषयभोग हैं। तात्पर्य यह कि ऐसी हालत में संकटग्रस्त मनुष्य को विषयभोगों की इच्छा नहीं करनी चाहिये।[1]

आगे चलकर वैराग्योत्पादक एक दूसरे दृश्य का वर्णन है। एक साँप ने किसी मेंढक को पकड़ रक्खा था, एक कुरल पक्षी इस साँप को पकड़ कर खींच रहा था और इस कुरल पक्षी को

---

१. भारत के बाहर भी यह कथा पाई जाती है। ई० कुह ने महाभारत, स्त्रीपर्व (अध्याय ५-६) तथा ब्राह्मण, जैन, बौद्ध, मुसलमान और यहूदी कथाओं के साथ इसकी तुलना की है। देखिये जैकोबी, परिशिष्टपर्व, पृष्ठ २२ फुटनोट, कलकत्ता, १८९१।

एक अजगर ने पकड़ रक्खा था। जैसे जैसे अजगर कुरल पक्षी को खींचता, वैसे-वैसे कुरल साँप को और सांप मेंढक को पकड़ कर खींचता था। यह देखकर राजा जीव के स्वभाव की गर्हणा करने लगा और उसे संसार से वैराग्य हो आया।

अन्त में राजा सिंहकुमार का पुत्र आनन्द राजपद पर अभिषिक्त होकर अपने पिता की हत्या कर देता है। उस समय सिंहकुमार यही विचार करता है—जैसे अनाज पक जाने पर किसान अपनी खेती काटता है, वैसे ही जीव अपने किये हुए कर्मों का फल भोगता है, इसलिये जीव को विषाद नहीं करना चाहिये।

तीसरे भव में अग्निशर्मा का जीव जालिनी बनकर अपने पुत्र के रूप में उत्पन्न हुए गुणसेन के जीव सिरिकुमार को विष देकर अपने बैर का बदला लेता है। इस अध्याय की एक अंतर्कथा में नास्तिकवादी पिंगक और विजयसिंह आचार्य का मनोरंजक संवाद[1] आता है।

पिंगक—पाँच भूतों के अतिरिक्त जीव कोई अलग वस्तु नहीं है। यदि ऐसा होता तो अनेक जीवों की हिंसा करने में रत मेरे पितामह (जो आपके सिद्धांत के अनुसार मर कर नरक में गये होंगे) नरक में से आकर मुझे दुष्कर्मों से बचने का उपदेश देते। लेकिन आजतक उन्होंने ऐसा नहीं किया, अतएव जीव शरीर से भिन्न नहीं है।

विजयसिंह—जैसे लोहे की शृङ्खला में बद्ध जेल में पड़ा हुआ कोई चोर बहुत चाहने पर भी अपने इष्टमित्रों से नहीं मिल सकता, इसी तरह नरक में पड़ा हुआ जीव नरक के बाहर नहीं आ सकता।

पिंगक—मेरे पिता बड़े धर्मात्मा पुरुष थे। उन्होंने श्रमणों की दीक्षा ग्रहण की थी, इसलिये आपके मतानुसार वे मर कर

---

१ .लगभग यही संवाद रायपसेणियसुत्तमें है।

स्वर्ग में गये होंगे। वे मुझसे बहुत प्रेम करते थे। लेकिन अभी तक भी उन्होंने स्वर्ग में से आकर मुझे उपदेश नहीं दिया।

विजयसिंह—देखो, जैसे किसी दरिद्र पुरुष को विदेश में जाकर राज्य मिल जाये तो वह अपने स्वजन-संबंधियों को भूल जाता है, इसी प्रकार स्वर्ग का देव ऋद्धि प्राप्त कर अपने मनुष्य-जन्म को भूल जाता है।

पिंगक—मान लो, राजा ने किसी चोर को पकड़ कर उसे लोहे के मटके में बन्द कर दिया, और उस घड़े के मुँह पर गर्म शीशे की मोहर लगा दी। कुछ देर बाद वह चोर मटके के अन्दर ही मर गया। लेकिन यह देखने में नहीं आया कि उसका जीव कहाँ से निकल कर बाहर चला गया। इससे पता लगता है कि जीव और शरीर भिन्न-भिन्न नहीं।

विजयसिंह—यह कहना ठीक नहीं है। मान लो, किसी शंख बजानेवाले पुरुष को किसी लोहे के बड़े बर्तन में बैठाकर शंख बजाने के लिये कहा जाये, तो बर्तन में कोई छेद न होने पर भी शंख की ध्वनि दूर तक सुनाई देगी। इसी तरह यहाँ भी समझना चाहिये।

पिंगक—किसी चोर को प्राणदंड देने के पहले और प्राण-दण्ड देने के बाद तौला जाय तो उसके वजन में कोई अन्तर नहीं पड़ेगा, इससे मालूम होता है कि जीव और शरीर भिन्न-भिन्न नहीं हैं।

विजयसिंह—यह बात ठीक नहीं है। किसी धौंकनी को यदि उसमें हवा भरने से पहले तौला जाय और फिर हवा भरने के बाद तौला जाय तो दोनों वजन में कोई अन्तर नहीं पड़ेगा,[1] लेकिन फिर भी धौंकनी से अलग हवा का अस्तित्व स्वीकार किया जाता है।

---

1. विज्ञान की दृष्टि से यह कथन सत्य नहीं मालूम होता।

पिंगक—यदि किसी चोर के शरीर को खंड-खंड करके देखा जाय तो भी कहीं जीव दिखाई नहीं देगा, इससे जीव और शरीर की अभिन्नता का ही समर्थन होता है।

विजयसिंह—यह उदाहरण ठीक नहीं। किसी अरणि के खंड-खंड करने पर भी उसमें अग्नि दिखाई नहीं देती, लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि अरणि में अग्नि है ही नहीं। इससे जीव और शरीर की भिन्नता ही सिद्ध होती है।

चौथे भव में गुणसेन और अग्निशर्मा धन और धनश्री के रूप में जन्म लेते हैं। दोनों पति-पत्नी बनते हैं, और पत्नी अपने पति की हत्या करके पूर्वजन्म का बदला लेती है। यहाँ समुद्रयात्रा का वर्णन है। व्यापारी लोग अपने सार्थ को लेकर धन अर्जन करने के लिये समुद्र की यात्रा करते थे। वे अपने जहाज़ में माल भरते, दीन-अनाथों को दान देते, समुद्र की पूजा करते, यानपात्र को अर्घ चढ़ाते, और फिर अपने परिजनों के साथ जहाज में सवार होते। उसके बाद पालें उठाते, श्वेत ध्वजायें फहराते, और पवन के वेग से जहाज समुद्र को चीरता हुआ आगे बढ़ने लगता। नगर में पहुँच कर व्यापारी लोग भेंट लेकर राजा से मुलाकात करते और राजा उन्हें ठहरने के लिये आवास देता। व्यापारी अपना माल बेचते और दूसरा माल भर कर आगे बढ़ते।

चोरी करने के अपराध में अपराधी के शरीर में कालिख पोतकर, डिंडमनाद के साथ उसे वधस्थान को ले जाया जाता था। राजकर्मचारी वध-करनेवाले चांडाल को आदेश देकर लौट जाते। उसके बाद उसे यमगंडिका (यम की गाड़ी) पर बैठाकर चांडाल उसका वध करने के पहले उसकी अंतिम इच्छा के बारे में प्रश्न करता। फिर वह अपराधी के अपराध का उल्लेख कर घोषणा करता कि जो कोई राजा के विरुद्ध इस तरह का अपराध करेगा उसे इसी प्रकार का दण्ड मिलेगा। यह कहकर चांडाल अपनी तलवार से अपराधी के टुकड़े कर डालता।

एक बार किसी राजकोष में चोरी हो गई। राजकर्मचारियों में क्षोभ मच गया। आखिर चोर का पता लग ही गया—

तत्थ वि य तंमि चेय दियहे चण्डसेणस्स मुट्ठं सव्वसारं नाम भंडागारभवणं। तओ आउलीहूया नायरया नगरारक्खिया य। गवेसिज्जंति चोरा, मुद्दिज्जन्ति भवणवीहिओ, परिक्खिज्जंति आगन्तुगा। एत्थंतरंमि य संपत्तमेत्ता चेव गहिया इमे रायपुरिसेहिं, भणिया य तेहिं। भद्दा, न तुब्भेहिं कुप्पियव्वं। साहिओ वुत्तन्तो। तेहिं भणियं—को एस अवसरो कोवस्स? तहिं वच्चामो जत्थ तुब्भे नेह त्ति। नीया पंचउलसमीवं, पुच्छिया पंचउलिएहिं, 'कओ तुब्भे' त्ति। तेहिं भणियं—'सावत्थीओ'। कारणिएहिं भणियं—'कहिं गमिस्सह' त्ति? तेहिं भणियं—'सुसम्मनयरं'। कारणिएहिं भणियं—'किंनिमित्तं' त्ति? तेहिं भणियं—'नरवइसमाएसाओ एयं सत्थवाहपुत्तं गेण्हिउं' त्ति। कारणिएहिं भणियं—'अत्थि तुम्हाणं किंचि दविणजायं?' तेहिं भणियं 'अत्थि'। कारणएहिं भणियं—'किं तयं' त्ति? तेहिं भणियं—'इमस्स सत्थवाहपुत्तस्स नरवइविइण्णं रायालंकरणयं' त्ति। कारणिएहिं भणियं—'पेच्छामो ताव केरिसं'? तओ विसुद्धचित्तयाए दंसियं। पच्चभिन्नाए भंडारिएण।

—उस समय उसी दिन चंडसेन राजा के सर्वसार नाम के खजाने में चोरी हो गई। नागरिक और नगर के रक्षकों में बड़ा क्षोभ हुआ। चोरों की खोज होने लगी, मकानों की गलियां छेंक दी गईं। आगन्तुकों की तलाशी ली जाने लगी। इस बीच में वहाँ आते ही इन लोगों को (व्यापारियों को) राजा के कर्मचारियों ने गिरफ्तार कर लिया। उन्होंने कहा—"आप लोग गुस्सा न हो"। उन्होंने सब हाल कह दिया। व्यापारियों ने कहा—"इसमें गुस्से की क्या बात? जहाँ तुम ले चलो, हम चलने को तैयार हैं।" उन्हें पंचों के पास ले गये। पंचों ने पूछा—तुम लोग कहाँ से आये?

"श्रावस्ती से।"

"कहाँ जाओगे ?"

"सुशर्मनगर को।"

"वहाँ क्या काम है ?"

"राजा की आज्ञापूर्वक इस सार्थवाहपुत्र को वहाँ ले जाना है।"

"तुम्हारे पास कुछ धन है ?"

"हाँ, है।"

"कौन-सा ?"

"इस सार्थवाहपुत्र को राजा ने अलंकार दिये हैं।"

"देखें, कौन से हैं ?"

व्यापारियों ने सीधे स्वभाव से दिखा दिये। कोषाध्यक्ष ने उन्हें पहचान लिया।

यहाँ कुलदेवता (चण्डी) की पूजा के लिये आटे के बने हुए मुर्गे (पिट्ठमयकुक्कुड) की बलि देकर मांस के स्थान पर आटे को भक्षण करने का उल्लेख है।[1]

पांचवें भव में गुणसेन का जीव जय और अग्निशर्मा का जीव विजय बनता है। जय और विजय दोनों सगे भाई हैं। जय राजपद को त्याग कर श्रमणदीक्षा ग्रहण करता है, और विजय उसकी हत्या कर उससे बदला लेता है। मूल कथा यहाँ बहुत छोटी है, अन्तर्कथायें ही भरी हुई हैं जिससे मूलकथा का महत्त्व कम हो गया है। दो प्रकार के मार्गों का प्रतिपादन करते हुए सुन्दर रूपकों द्वारा धर्मोपदेश दिया है। एक सरल मार्ग है, दूसरा वक्र। वक्र मार्ग द्वारा आसानी से जा सकते हैं, लेकिन इसमें समय बहुत लगता है।

---

१. पुप्फदन्त के जसहरचरिय (२,१७-२०) में भी इस प्रकार का उल्लेख है। उत्तर बिहार में आजकल भी यह रिवाज है। कहीं हलवे का बकरा बनाकर उसे काटा जाता है, कहीं श्वेत कूष्माण्ड (कुम्हडा) काटने का रिवाज है।

सरल मार्ग से पहुँचने में कष्ट होता है, लेकिन इससे जल्दी पहुँच जाते हैं। सरल मार्ग बहुत विषम और संकटापन्न है। इस मार्ग में दो व्याघ्र और सिंह रहते हैं। इन्हें एक बार भगा देने पर भी फिर से आकर ये रास्ता रोक लेते हैं। यदि कोई रास्ता छोड़कर चले तो उसे मार डालते हैं। इस मार्ग में अनेक शीतल छायावाले सुंदर वृक्ष लगे हैं; कुछ वृक्ष ऐसे हैं जिनके फल, फूल और पत्ते झड़ गये हैं। मनोहर वृक्षों के नीचे विश्राम करना ख़तरे से खाली नहीं है। इसलिये इन वृक्षों के नीचे विश्राम न करके फल, फूल और पत्तेरहित वृक्षों के नीचे विश्राम करना चाहिये। रास्ते में मधुरभाषी सुंदर रूपधारी पुरुष पुकार पुकार कर कहते हैं—हे राहगीरो। इस रास्ते से जाओ। लेकिन उनकी बात कभी नहीं माननी चाहिये। मार्ग में जाते हुए जंगल का कुछ भाग आग से जलता हुआ दिखाई देगा, उस आग को सावधानी से बुझा देना चाहिये ; नहीं तो जल जाने की आशंका है। रास्ते में एक ऊँचा पहाड़ भी मिलेगा, उसे लांघ कर चले जाना चाहिये। फिर बांसों का एक झुरमुट दिखाई देगा, इसे जल्दी ही पार कर जाना चाहिये, वहां ठहरने से उपद्रव की आशंका है। इसके बाद एक गड्ढा पड़ेगा। वहाँ मनोरथ नामका एक ब्राह्मण रहता है। वह पुकार कर कहता है—हे रास्ता चलनेवालो! इस गड्ढे को थोड़ा सा भर कर आगे बढ़ना। लेकिन इस ब्राह्मण की बात पर भी ध्यान नहीं देना चाहिये। इस गड्ढे को नहीं भरना चाहिये, क्योंकि भरने से वह और बड़ा हो जाता है। मार्ग में पाँच प्रकार के फल दिखाई देंगे। इनकी तरफ दृष्टि न डालना चाहिये और न इन्हें भक्षण करना चाहिये। यहाँ बाईस प्रकार के महाकाय पिशाच प्रत्येक क्षण उपद्रव करते रहते हैं, उनकी परवा नहीं करनी चाहिये। यहाँ भोजन-पान बहुत थोड़ा मिलेगा, और जो मिलेगा वह नीरस होगा ; इससे दुखी नहीं होना चाहिये। हमेशा आगे बढ़ते जाना चाहिये। रात में भी दो याम नियम से गमन करना

चाहिये। इस प्रकार गमन करने से शीघ्र ही जंगल को लांघ कर निर्वृतिपुर (मोक्ष) में पहुँचा जा सकता है। यहाँ किसी प्रकार का कोई क्लेश और उपद्रव नहीं है।

छठे भव में गुणसेन और अग्निशर्मा धरण और लक्ष्मी का जन्म धारण कर पति-पत्नी बनते हैं। लक्ष्मी धरण से बैर लेने का अनेक बार प्रयत्न करती है लेकिन सफलता नहीं मिलती। एक बार धरण और लक्ष्मी किसी जंगल में से जा रहे थे। शबरों ने उन्हें लताओं से बांध लिया और वध के लिये चण्डी के मंदिर में ले चले। इस मंदिर में दुर्गिलक नामके किसी पत्रवाहक को भी मारने के लिये पकड़ कर लाया गया था। दुर्गिलक के केश पकड़ कर उसे एक ओर खड़ा किया गया और उसके शरीर पर रक्त चन्दन का लेप कर दिया गया। एक शबर उससे कहने लगा—"देखो, अब तुम्हें स्वर्ग में जाना है, इसलिये अपने जीवन के सिवाय तुम चाहे जो माँग सकते हो।" दुर्गिलक इतना डर गया था कि बार-बार पूछे जाने पर भी वह न बोल सका। लेकिन नियम के अनुसार जबतक बलि दिये जानेवाले पुरुष का मनोरथ पूरा न हो जाय उसका वध नहीं किया जा सकता। धरण भी वहीं खड़ा था। उसने सोचा, मुझे भी मरना तो है ही, मैं क्यों न दुर्गिलक को बचा लूँ। शबरों ने धरण का वध करने से पहले जब उसकी अन्तिम इच्छा के बारे में प्रश्न किया तो उसने कहा कि दुर्गिलक की जगह मेरा वध कर दिया जाये।

यहाँ समुद्रयात्रा के प्रसंग में चीनद्वीप और सुवर्णद्वीप का उल्लेख आता है जिससे पता लगता है कि भारत के व्यापारी बहुत सा माल लेकर चीन और बरमा आदि देशों में जाया करते थे और इन द्वीपों से माल लाकर अपने देश में बेचते थे। चीन से लौटने पर अपनी पत्नी के व्यवहार को देखकर धरण को उसके चरित्र पर संदेह हो गया, लेकिन इस नाजुक बात को दूसरों से कैसे कहे? समराइच्चकहा के विद्वान् लेखक ने चित्रण में बड़ी कुशलता से काम लिया है—

सेट्ठिणा भणियं—'वच्छ, सुयं मए, जहा आगयं जाणवत्तं चीणाओ, ता तं तुमए उवलद्धं न व' त्ति। तओ सगग्गयक्खरं जंपियं धरणेणं—'अज्ज उवलद्धं' ति। सोगाइरेगेण य पवत्तं बाहसलिलं। तओ 'नूणं विवन्ना से भारिया, अन्नहा कहं ईइसो सोगपसरो' त्ति चिंतिऊण भणियं टोप्पसेट्ठिणा—'वच्छ, अवि तं चेव तं जाणवत्तं ति। धरणेणं भणियं—'आमं'। सेट्ठिणा भणियं—'अवि कुसलं ते भारियाए ?' धरणेण भणियं—'अज्ज कुसलं'। सेट्ठिणा भणियं—'ता किमन्नं ते उव्वेयकारणं ?' धरणेण भणियं—'अज्ज, न किंचि आचिक्खियव्वं' ति। सेट्ठिणा भणियं—'ता किं विमणो सि' ? धरणेण भणियं—'आमं'। सेट्ठिणा भणियं—'किमामं' ? धरणेण भणियं—'एयं'। सेट्ठिणा भणियं किमेयं ?' धरणेण भणियं—'न किंचि'। सेट्ठिणा भणियं 'वच्छ, किमेएहिं सुन्नभासिएहिं ? आचिक्ख सब्भावं। न य अहं अजोग्गो आचिक्खियव्वस्स, पडिवन्नो य तए गुरू'। तओ 'न जुत्तं गुरू आणाखंडणं' ति चिन्तिऊण जंपियं धरणेण—"अज्ज, 'अज्जस्स आण' त्ति करिय ईइसं पि भासियइ" त्ति। सेट्ठणा भणियं-'वच्छ, नत्थि अविसओ गुरुयणाणुवत्तीए।' धरणेणं भणियं-'अज्ज जइ एवं ता कुसलं मे भारियाए जीविएणं, न उण सीलेणं।' सेट्ठिणा भणियं-'कहं वियाणसि ?' धरणेण भणियं-'कज्जाओ।' सेट्ठिणा भणियं-'कहं विय ?' तओ आचिक्खिओ से भोयणाइओ जलनिहितड-पज्जवसाणो सयलवुत्तन्तो।

—सेठ ने पूछा—"वत्स, सुना है कि चीन से जहाज़ लौट आया है, तुम्हें मालूम है या नहीं ?" धरण ने अवरुद्ध स्वर में उत्तर दिया—"आर्य, मालूम है।" यह कह कर शोकातिरेक से उसकी आँखों से अश्रु बहने लगे। टोप्पसेठ ने सोचा कि अवश्य ही इसकी पत्नी मर गई होगी, अन्यथा यह क्यों शोक से व्याकुल होता ? उसने पूछा—

"वत्स, क्या वह वही जहाज़ है ?"

"हाँ।"

"तुम्हारी पत्नी कुशल से तो है ?"

"हाँ, कुशल है।"

"फिर तुम्हारे शोक का क्या कारण ?"

"आर्य, कोई खास बात नहीं है।"

"फिर उदास क्यों हो ?"

"हाँ।"

"हाँ क्या ?"

"ऐसे ही"

"ऐसे ही क्या ?"

"कुछ नहीं"

"वत्स, इस प्रकार क्या सूनी-सूनी बात कर रहे हो ? ठीक ठीक बोलो, मुझ से छिपाने की आवश्यकता नहीं। तुमने मुझे बड़ा मान लिया है।"

"बड़ों की आज्ञा का उल्लंघन करना ठीक नहीं," यह सोचकर धरण ने कहा—"जैसी आपकी आज्ञा', इसलिये ऐसी बात भी कहनी पड़ती है।"

"गुरुजनों से कोई बात छिपाने की ज़रूरत नहीं।"

"यदि यह बात है, तो लीजिये मेरी पत्नी जीवित तो है, लेकिन शील से नहीं।"

"कैसे जानते हो ?"

"उसके कार्य से।"

"कैसे ?"

तत्पश्चात् आदि से अंत तक सारा वृत्तान्त धरण ने कह सुनाया।

यहाँ अन्तर्कथा में शबर वैद्य और अरहदत्त का आख्यान है। शबर वैद्य अरहदत्त को उपदेश देने के लिये अपने साथ लेकर चला। मार्ग में उसने देखा कि किसी गाँव में आग लग गई है। वैद्य घास का गट्ठर लेकर आग बुझाने के लिये

दौड़ा। अरहदत्त ने पूछा—क्या कहीं घास से भी आग बुझ सकती है? वैद्य ने उत्तर दिया—तो फिर क्रोध आदि से प्रदीप्त अपने शरीर रूपी ईंधन से, मुनिधर्म को त्यागकर गृहस्थ धर्म में प्रवेश करने से क्या संसार की आग बुझ सकती है? वैद्य ने सूअर और बैल आदि के दृष्टान्त देकर अरहदत्त को प्रबुद्ध किया।

सातवें भव में गुणसेन और अग्निशर्मा का जीव सेन और विषेण का जन्म धारण करता है। दोनों चचेरे भाई हैं। विषेण सेन से अनेक बार बदला लेने का यत्न करता है, लेकिन सफल नहीं होता। स्त्री आदि विषयभोगों के संबंध में यहाँ कहा गया है—

वारियं खु समये इत्थियादंसणं। भणियं च तत्थ–अवि य अंजियव्वाइं तत्तलोहसलायाए अच्छीणि, न दट्ठव्वा य अंगपच्चंग-संठाणेणं इत्थिया, अवि य भक्खियव्वं विसं, न सेवियव्वा विसया, छिन्दियव्वा जीहा, न जंपियव्वमलियं ति।

—शास्त्रों में स्त्रीदर्शन का निषेध है। कहा है—गर्म-गर्म लोहे की सली से आँखें आंज लेना अच्छा है, लेकिन स्त्रियों के अंग-प्रत्यंगों का देखना अच्छा नहीं। विष का भक्षण करना अच्छा है, लेकिन विषयों का सेवन करना अच्छा नहीं। जीभ काट लेना अच्छा है लेकिन मिथ्याभाषण करना अच्छा नहीं।

यहाँ नागदेव नामके पंडरभिक्खू[1] का उल्लेख है जिसने गोरस का त्याग कर दिया था। पियमेलय (प्रियमेलक) नाम के तीर्थ का यहाँ वर्णन किया गया है। आगे चलकर प्रमाद के दोष बताये हैं।

आठवें भव में गुणसेन का जीव गुणचन्द्र का जन्म धारण करता है और अग्निशर्मा वानमंतर बनकर उससे बदला लेना चाहता है, लेकिन सफलता नहीं मिलती। यहाँ ७२ कलाओं का

---

१. विशेषनिशीथचूर्णी (साइक्लोस्टाइल्ड कापी), पृ० १२ में मक्खलिगोशाल के शिष्यों को पंडरभिक्खू कहा गया है।

उल्लेख है। प्रश्नोत्तर की पद्धति पर कुछ प्रश्न किये गये हैं, जिनका उत्तर गुणचन्द्र देता है—

प्रश्न—किं देन्ति कामिणीओ ? के हरपणया ? कुणंति किं भुयगा ?
कं च मऊहेहि ससी धवलेइ ?

उत्तर—नहंगणाभोयं (१ नख, २–गण, ३–भोग (सर्प का फण) ४–नभ के आँगन का विस्तार।
—कामिनियाँ क्या देती हैं ? नख।
शिव को कौन प्रणाम करते हैं ? उनके गण।
सर्प क्या उठाते हैं ? अपना फण।
अपनी किरणों द्वारा चन्द्रमा किसे धवल करता है ? नभ के आँगन को।

प्रश्न—किं होइ रहस्स वरं ? बुद्धिपसाएण को जणो जियइ ?
किं च कुणन्ती बाला नेउरसद्दं पयासेइ ?

उत्तर—चक्कमन्ती (१–चक्र, २ मंत्री, ३ चंक्रममाणा)।
रथ का श्रेष्ठ हिस्सा कौन सा है ? चक्र।
अपनी बुद्धि के प्रसाद से कौन विजयी होता है ? मंत्री।
क्या करती हुई बाला नुपूर की ध्वनि करती है ? चलती हुई।

प्रश्न—किं पियइ ? किच गेण्हइ पढमं कमलस्स ? देइ किं रिवुणो ?
नववहुरमियं भण किं ? उवहसरं केरिसं वक्कं ?

उत्तर—कण्णालंकारमणहरं सविसेसं (१ कं, २ नालं, ३ कार, ४ मनोहर, ५–सविशेष)।
—क्या पिया जाता है ? जल।
कमल का पहले कौन सा हिस्सा पकड़ा जाता है ? नाल।
शत्रु को क्या दिया जाता है ? तिरस्कार।
नव वधू में रत पुरुष को क्या कहते हैं ? मनोहर।
उपधा[1] का स्वर कैसा वक्र होता है ? सविशेष।

---

१. व्याकरण में अन्त्यवर्ण से पूर्व वर्ण को उपधा कहा गया है। अलोऽन्त्यात्पूर्व उपधा (सिद्धान्तकौमुदी १.१.६५)।

गूढचतुर्थगोष्ठी में श्लोक के चतुर्थ पद की पूर्त्ति की जाती थी। उसका उदाहरण देखिये—

> सुरयमणस्स रइहरे नियंबभमिरं बहू धुयकरग्गा।
> तक्खणवुत्तविवाहा
>
> गुणचन्द्र ने समस्यापूर्त्ति करते हुए चौथा पद कहा—
> वरयस्स करं निवारेइ॥

रतिघर में, अभिनवपरिणीता, सुरत मनवाली वधू अपने नितंबों को घुमाती हुई, उँगलियों को चंचल करती हुई अपने वर के हाथ को रोकती है।

आगे चलकर विवाह-उत्सव का वर्णन है जिससे आठवीं सदी की तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति का पता चलता है। वर्षाकाल में घनघोर वर्षा होने के कारण उद्यान आदि को नष्ट करती हुई नदी अपनी मर्यादा को लांघ गई थी। लेकिन शरद ऋतु में वही नदी अपनी पूर्व अवस्था को प्राप्त हो गई। इस घटना को देखकर गुणचन्द्र को वैराग्य हो आया और उसने संसार का त्याग कर श्रमणदीक्षा ग्रहण की।

अन्तिम नौवें भव में गुणसेन का जीव उज्जयिनी में समरादित्य का और अग्निशर्मा गिरिसेन चांडाल का जन्म धारण करता है। गिरिसेन समरादित्य का वध करके उससे बदला लेना चाहता है, लेकिन असफल रहता है।

समरादित्य अशोक, कामांकुर और ललितांग आदि मित्रों के साथ समय यापन करता है। ये लोग कामशास्त्र की चर्चा करते हैं। कामशास्त्र की आवश्यकता बताते हुए कहा है कि जो लोग कामशास्त्र में उल्लिखित प्रयोगों के ज्ञान से वंचित हैं वे अपनी स्त्री के चित्त का आराधन नहीं कर सकते। कामशास्त्र को धर्म, अर्थ और काम का साधक माना गया है, काम के अभाव में धर्म और अर्थ की सिद्धि नहीं होती।

अधम, मध्यम और उत्तम मित्रों का लक्षण बताते हुए शरीर को अधम, स्वजनों को मध्यम और धर्म को उत्तम मित्र कहा है।

एक बार बसन्त ऋतु का आगमन होने पर नगरी के सब लोग उत्सव मनाने के लिये नगर के बाहर गये। राजकुमार समरादित्य ने भी बड़े ठाठ-बाठ से अपने रथ में सवार होकर प्रस्थान किया। नर्तक (पायमूल) उज्वल वस्त्र धारण कर नृत्य कर रहे थे, भुजंग (विट) उल्लास में मस्त थे, दर्शकगण में चहल-पहल मची हुई थी और कुंकुम की धूलि सब जगह फैल गई थी। जगह-जगह नृत्य हो रहे थे, नाटक दिखाये जा रहे थे और वाद्यों की ध्वनि सुनाई पड़ रही थी। इतने में राजकुमार को मंदिर के चौंतरे पर व्याधि से ग्रस्त एक वीभत्स पुरुष दिखाई दिया। राजकुमार ने सारथि से प्रश्न किया, "सारथि, क्या यह भी कोई नाटक है ?" सारथि ने उत्तर दिया, "महाराज, यह पुरुष व्याधि से पीड़ित है।" यह सुनकर राजकुमार अपनी तलवार निकाल कर व्याधि को मारने के लिये उद्यत हो गया। यह देखकर लोगों के नाच-गान बन्द हो गये और सब लोग इकट्ठे हो गये। इस पर सारथी ने राजकुमार को समझाया कि व्याधि कोई दुष्ट पुरुष नहीं है जिसका वध करके उसे वश में किया जा सके; जो पुरुष धर्मरूपी पथ्य का सेवन करता है वही इस व्याधि से मुक्त हो सकता है। आगे चलकर कुमार ने जरावस्था से पीड़ित एक श्रेष्ठि-दम्पति को देखा। सारथी ने बताया कि धर्मरूपी रसायन का सेवन किये बिना जरावस्था से छुटकारा नहीं मिल सकता। फिर उसने एक मृतक दरिद्र पुरुष को देखा। कुमार ने सारथी से प्रश्न किया, "बन्धु-बांधव मृतक को क्यों छोड़कर चले जाते हैं ?" सारथी ने उत्तर दिया, "इस कलेवर के रखने से क्या लाभ ? इसका जीव निकल गया है।"

कुमार—यदि ऐसी बात है तो मृतक के संबंधी क्यों विलाप करते हैं ?

सारथी—विलाप करने के सिवाय और कोई चारा नहीं।

कुमार—वे लोग इसके साथ क्यों नहीं जाते ?

सारथी—यह संभव नहीं। उसके संबंधियों को पता नहीं कि मृतक कहाँ जानेवाला है।

कुमार—ये उससे प्रीति क्यों करते हैं ?

सारथी—महाराज, आप ठीक कहते हैं, प्रीति करना वृथा है।

अन्त में कुमार मृत्यु से बचने का उपाय पूछता है। सारथी उत्तर देता है कि धर्म धारण करने से ही मृत्यु से छुटकारा मिल सकता है।

विवाह-विधि का यहाँ विस्तार से वर्णन है। अन्त में कर्मगति आदि संबंधी प्रश्नों के उत्तर दिये गये हैं।

धुत्तक्खाण (धूर्ताख्यान)

धूर्ताख्यान हरिभद्र की दूसरी उल्लेखनीय रचना है।[1] लेखक ने बड़े विनोदात्मक ढंग से रामायण, महाभारत और पुराणों की अतिरंजित कथाओं पर व्यंग्य करते हुए उनकी असार्थकता सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। हरिभद्र एक कुशल कथाकार थे। हास्य और व्यंग्य की इस अनुपम कृति से उनकी मौलिक कल्पनाशक्ति का पता लगता है। यह महाराष्ट्री प्राकृत में सरल और प्रवाहबद्ध शैली में लिखी गई है।

इसमें पाँच आख्यान हैं। एक बार उज्जैनी के किसी उद्यान

---

१. इसका सम्पादन डाक्टर ए० एन० उपाध्ये ने सिंघी जैन ग्रन्थमाला, बंबई में सन् १९४४ में किया है। निशीथविशेषचूर्णी (पीठिका, पृ० १०५) में धुत्तक्खाणग का उल्लेख मिलता है, इससे मालूम होता है कि हरिभद्र से पहले भी इस नाम का कोई ग्रंथ था। संघतिलकाचार्य ने संस्कृत धूर्ताख्यान की रचना की है जो राजनगर की जैनग्रन्थप्रकाशक सभा द्वारा सन् १९४५ में प्रकाशित हुआ है।

में पाँच धूर्त-शिरोमणि–मूलश्री,[1] कंडरीक, एलाषाढ़, शश[2] और खंडपाणा एकत्रित हुए। उन्होंने निश्चय किया कि सब लोग अपने-अपने अनुभव सुनायें और जो इन अनुभवों पर विश्वास न करे वह सबको भोजन खिलाये, और जो अपने कथन को रामायण, महाभारत और पुराणों से प्रमाणित कर दे, वह धूर्तों का गुरु माना जाये। सबसे पहले मूलश्री ने अपना अनुभव सुनाया—

"एक बार की बात है, युवावस्था में अपने सिर पर गंगा धारण करने के लिये मैं अपने स्वामी के घर गया। अपने हाथ में मैं छत्र और कमंडल लिये जा रहा था कि एक मदोन्मत्त हाथी मेरे पीछे लग गया। हाथी को देखकर मैं डर के मारे कमंडल में जा छिपा। हाथी भी मेरे पीछे-पीछे कमंडल में घुस आया। वह हाथी छह महीने तक कमंडल में मेरे पीछे भागता फिरा। अन्त में मैं कमंडल की टोंटी से बाहर निकल आया। हाथी ने भी उसमें से निकलने का प्रयत्न किया, लेकिन हाथी की पूँछ उसमें फँसी रह गई। रास्ते में गंगा नदी पड़ी। उसे मैं अपनी भुजाओं से पार कर के स्वामी के घर पहुँचा। वहाँ मैं छह महीने तक गंगा को अपने सिर पर धारण किये रहा। उसके बाद उज्जैनी आया, और अब आप लोगों के साथ बैठा हुआ हूँ।

---

१. मूलश्री को मूलदेव, मूलभद्र, कर्णीसुत और कलांकुर नामों से भी उल्लिखित किया गया है। मूलदेव को स्तेयशास्त्रप्रवर्तक माना है। देखिये, जगदीचशन्द्र जैन, कल्पना, जून, १९५६ में 'प्राचीन जैन साहित्य में चौरकर्म' नाम का लेख।

२. शश का उल्लेख मूलदेव के मित्र के रूप में चतुर्भाणी (डॉ० मोतीचन्द और वासुदेवशरण अग्रवाल द्वारा अनूदित तथा संपादित, हिन्दी ग्रन्थरत्नकारकार्यालय, बंबई, १९६०) में अनेक जगह मिलता है।

"यदि मेरा यह आख्यान सत्य है तो इसे प्रमाणित करो, और यदि असत्य है तो सबके लिये भोजन का प्रबंध करो।"

कंडरीक ने उत्तर दिया कि रामायण, महाभारत और पुराणों का ज्ञाता ऐसा कौन व्यक्ति है जो तुम्हारे इस आख्यान को असत्य सिद्ध कर सके।

दूसरे आख्यान में कंडरीक ने अपना अनुभव सुनाया—

"एक बार की बात है, बाल्यावस्था में मेरे माता-पिता ने मुझे घर से बाहर निकाल दिया। घूमते-घामते मैं एक गाँव में पहुँचा। उस गाँव में एक वट का वृक्ष था, जिसके नीचे कमलदल नाम का एक यक्ष रहा करता था। यह यक्ष लोगों को इच्छित वर दिया करता था। यक्ष की यात्रा के लिये लोग फल-फूल आदि लेकर वहाँ आते। मैं भी यक्ष की वंदना के लिये गया। उस समय वहाँ घोड़ों का खेल हो रहा था कि इतने में चोरों का आक्रमण हुआ। यह देखकर गाँव के सब लोग और समस्त पशु भागकर एक फूट (चिब्भड[1]) में छिप गये और अन्दर पहुँच कर क्रीड़ा करने लगे। चोर वहाँ किसी को न देखकर वापिस लौट गये। इतने में एक बकरी आई और वह फूट को खा गई। उस बकरी को एक अजगर निगल गया और अजगर को एक पक्षी खा गया। जब यह पक्षी वट वृक्ष के ऊपर बैठा हुआ था तो वहाँ राजा की सेना ने पड़ाव डाला। इस पक्षी का एक पैर नीचे की तरफ लटक रहा था। हाथी के महावत ने उसे वृक्ष की शाखा समझकर उससे अपने हाथी को बाँध दिया। पक्षी ने अपना पैर ऊपर खींचा तो उसके साथ हाथी भी खिंचा चला गया। यह देखकर सेना में कोलाहल मच गया। इतने में किसी तीरन्दाज ने पक्षी पर तीर चलाया जिससे पक्षी नीचे गिर पड़ा। राजा ने उसका पेट चिरवाया तो पहले उसमें से अजगर निकला, अजगर में से बकरी निकली, बकरी में से फूट निकली और फूट में से

---

१. गुजराती में चीभडुं।

सारे गाँव के लोग और पशु-पक्षी निकल पड़े। सब लोग राजा को प्रणाम कर के अपने-अपने घर चले गये और मैं यहाँ आपके सामने उपस्थित हूं।"

रामायण, महाभारत और पुराणों के पंडित एलाषाढ़ ने इस आख्यान को रामायण आदि से प्रमाणित कर दिया।

उसके बाद एलाषाढ़ ने अपना अनुभव सुनाना शुरू किया—

"युवावस्था में मुझे धन की बड़ी अभिलाषा थी। धन प्राप्त करने की आशा से मैं एक पर्वत पर पहुँचा और वहाँ से रस लेकर आया। इस रस की सहायता से मैंने बहुत-सा धन बनाया। एक बार की बात है, मेरे घर में चोर घुस आये। मैंने धनुष-बाण लेकर उनसे युद्ध किया और बहुत-सों को मार डाला। जो बाकी बचे, उन्होंने मेरा सिर धड़ से अलग कर दिया, और मेरे टुकड़े-टुकड़े कर मुझे बेर की झाड़ी पर डाल, मेरा घर लूट-पाट कर वे वापिस लौट गये। अगले दिन सूर्योदय के समय लोगों ने देखा कि मैं बेर खा रहा हूँ। उन्होंने मुझे जीवित समझ कर मेरे शरीर के टुकड़ों को जोड़ दिया, और मैं आप लोगों के सामने हाजिर हूँ।"

शश ने रामायण, महाभारत और पुराणों की कथायें सुनाकर एलाषाढ़ के आख्यान का समर्थन किया।

चौथे आख्यान में शश ने अपना अनुभव सुनाया—

"गाँव से दूर तक पर्वत के पास मेरा तिल का खेत था। एक बार शरद् ऋतु में मैं वहाँ गया कि इतने में एक हाथी मेरे पीछे लग गया। डर के मारे मैं एक बड़े तिल के झाड़ पर चढ़ गया। हाथी इस झाड़ के चारों तरफ चक्कर मारने लगा। इससे बहुत से तिल नीचे गिर पड़े और हाथी के पैरों के नीचे दबने के कारण वहाँ तेल की एक नदी बह निकली। भूख और प्यास से पीड़ित हो वह हाथी इस नदी में फँस कर मर गया। मैंने सुख की साँस ली। मैं झाड़ से नीचे उतरा, दस घड़े तेल मैं पी गया और बहुत-सी खल मैंने खा डाली। फिर

मैंने हाथी की खाल का एक थैला बनाया। उसे तेल से भर कर गाँव के बाहर एक पेड़ पर टाँग दिया। गाँव में पहुँच कर मैंने अपने लड़के को यह थैला लाने को भेजा। लड़के को थैला दिखाई न दिया, इसलिये वह समूचे पेड़ को ही उखाड़ लाया।"

खंडपाणा ने रामायण, महाभारत और पुराणों के प्रमाण देकर शश के आख्यान का समर्थन किया।

पाँचवें आख्यान में अर्थशास्त्र की रचना करनेवाली खंडपाणा ने अपना अनुभव सुनाया—

"तरुण अवस्था में मैं अत्यंत रूपवती थी। एक बार मैं ऋतु-स्नान करके मंडप में सो रही थी कि मेरे रूपलावण्य से विस्मित होकर पवन ने मेरा उपभोग किया। तुरंत ही मुझे एक पुत्र हुआ, और मुझसे पूछकर वह कहीं चला गया।

"यदि मेरा उक्त कथन असत्य है तो आप लोग भोजन का प्रबन्ध करें, और यदि सत्य है तो इस संसार में कोई भी स्त्री अपुत्रवती न होनी चाहिये।"

मूलश्री ने महाभारत आदि के प्रमाण उद्धृत करके खंडपाणा के कथन का समर्थन किया।[१]

कुवलयमाला

कुवलयमाला के कर्त्ता दाक्षिण्यचिह्न उद्योतनसूरि हैं। इन्होंने ईसवी सन् ७७९ में जावालिपुर (जालोर) में इस ग्रन्थ को लिखकर समाप्त किया था।[२] यह स्थान जोधपुर के दक्षिण में

---

१. निशीथसूत्र के भाष्य में इन पाँचों धूर्तों की कथा पहले आ चुकी है।

२. सिंघी सिरीज़ में यह ग्रन्थ डाक्टर ए० एन० उपाध्ये के सम्पादकत्व में दो भागों में प्रकाशित हो रहा है। इसके मुद्रित फर्मे उनकी कृपा से मुझे देखने को मिले हैं। १४वीं सदी के रत्नप्रभसूरि आचार्य ने इस ग्रन्थ के सार रूप संक्षिप्त संस्कृत कुवलयमाला की रचना की है।

है, उस समय नरहस्ति श्रीवत्सराज यहाँ राज्य करता था। इस ग्रन्थ के अन्त में दी हुई प्रशस्ति से ग्रन्थकार के सम्बन्ध में अनेक महत्वपूर्ण बातों का पता लगता है। उत्तरापथ में चन्द्रभागा नदी के तट पर पव्वइया नामक नगरी थी जहाँ तोरमाण अथवा तोरराय नामका राजा राज्य करता था। इस राजा के गुरु गुप्तवंशीय आचार्य हरिगुप्त के शिष्य महाकवि देवगुप्त थे। देवगुप्त के शिष्य शिवचन्द्रगणि महत्तर भिल्लमाल के निवासी थे। उनके शिष्य यक्षदत्त थे। इनके णाग, बिंद, (वृन्द) मम्मड, दुग्ग, अग्निशर्मा, बडेसर (बटेश्वर) आदि अनेक शिष्य थे जिन्होंने देवमन्दिर का निर्माण कराकर गुर्जर देश को रमणीय बनाया था। इन शिष्यों में एक का नाम तत्त्वाचार्य था, ये ही तत्त्वाचार्य कुवलयमाला के कर्ता उद्योतनसूरि के गुरु थे। उद्योतनसूरि को वीरभद्रसूरि ने सिद्धान्त और हरिभद्रसूरि ने युक्तिशास्त्र की शिक्षा दी थी। कुवलयमाला काव्यशैली में लिखा हुआ प्राकृत कथा-साहित्य का एक अनुपम ग्रन्थ है। गद्य-पद्यमिश्रित महाराष्ट्री प्राकृत की यह प्रसादपूर्ण रचना चंपू की शैली में लिखी गई है। महाराष्ट्री के साथ इसमें पैशाची, अपभ्रंश और कहीं संस्कृत का भी प्रयोग हुआ है जिससे प्रतीत होता है कि उद्योतनसूरि ने दूर-दूर तक भ्रमण कर अनेक देशी भाषाओं की जानकारी प्राप्त की थी। मठों में रहनेवाले विद्यार्थियों और बनिज-व्यापार के लिये दूर-दूर तक भ्रमण करनेवाले वणिकों की बोलियों का इसमें संग्रह है। प्रेम और शृंगार आदि के वर्णनों से युक्त इस कृति में अलंकारों का सुंदर प्रयोग हुआ है। बीच-बीच में सुभाषित और मार्मिक प्रश्नोत्तर, प्रहेलिका आदि दिखाई दे जाते हैं। ग्रन्थ के आद्योपान्त पढ़ने से लेखक के विशाल अध्ययन और सूक्ष्म अन्वीक्षण का पता लगता है। ग्रन्थ की रचना-शैली पर बाण की कादंबरी, त्रिविक्रम की दमयंतीकथा और हरिभद्रसूरि की समराइच्चकहा आदि का प्रभाव परिलक्षित होता है। लेखक ने पादलिप्त (और उनकी तरंगवती), सातवाहन, पट्पर्णक, गुणाढ्य (और उनकी

बृहत्कथा), व्यास, वाल्मीकि, बाण (और उनकी कादंबरी), विमल,[1] रविषेण,[2] जडिल,[3] देवगुप्त, प्रभंजन और हरिभद्र, तथा सुलोचना नामक धर्मकथा का उल्लेख किया है। क्रोध, मान, माया, लोभ और मोह आदि का परिणाम दिखाने के लिये यहाँ अनेक सरस कथाओं का संग्रह किया गया है।

कथासुंदरी की नववधू के साथ तुलना करते हुए उद्योतनसूरि ने लिखा है—

सालंकारा सुहया ललियपया मउय-मंजु-संलावा।
सहियाण देइ हरिसं उव्वूढा णववहू व्वेव॥

—अलंकार सहित, सुभग, ललितपदवाली, मृदु, और मंजु संलाप से युक्त कथासुंदरी सहृदय जनों को आनन्द प्रदान करनेवाली परिणीत नववधू के समान शोभित होती है।

धर्मकथा, अर्थकथा और कामकथा के भेद से यहाँ तीन प्रकार की कथायें बताई गयी हैं। धर्मकथा चार प्रकार की होती है—अक्खेवणी, विक्खेवणी, संवेगजणणी और निव्वेयजणणी। पहली मन के अनुकूल, दूसरी मन के प्रतिकूल, तीसरी ज्ञान की उत्पत्ति में कारण और चौथी वैराग्य की उत्पत्ति में सहायक होती है।

आरंभ में मध्यदेश में विनीता नाम की नगरी का वर्णन है। यहाँ की दूकानों पर कुंकुम, कपूर, एला, लवंग, सोना, चाँदी, शंख, चामर, घंटा तथा विविध प्रकार की औषधि और चंदन आदि वस्तुएँ बिकती थीं।

बनारस का बहुत महत्त्व था। जब कहीं सफलता न मिलती तो लोग वाराणसी जाते तथा जूआ खेलकर, चोरी करके, गाँठ काटकर, कूट रचकर और ठगई करके अर्थ का उपार्जन करते। धन प्राप्ति के निर्दोष उपाय देखिये—

---

१. पउमचरिय के कर्ता विमलसूरि।

२. संस्कृत पद्मचरित के कर्ता दिगम्बर विद्वान् रविषेण।

३. जटिल मुनि ने वरांगचरित की रचना की है।

अत्थस्स पुण उवाया दिसिगमणं होइ मित्तकरणं च ।
णरवरसेवा कुसलत्तणं च माणप्पमाणेसुं ।।
धातुव्वाओ मंतं च देवयाराहणं च केसिं च ।
सायरतरणं तह रोहणम्मि खणणं वणिज्जं च ।
णाणाविहं च कम्मं विज्जासिप्पाइं णेयरूवाइं ।
अत्थस्स साहयाइं अणिंदियाइं च एयाइं ।।

—दिशागमन, दूसरों से मित्रता करना, राजा की सेवा, मान-प्रमाणों में कुशलता, धातुवाद, मंत्र, देवता की आराधना, समुद्र-यात्रा, पहाड़ (रोहण) खोदना, वाणिज्य तथा अनेक प्रकार के कर्म, विद्या और शिल्प—ये अर्थोत्पत्ति के निर्दोष साधन हैं।

दक्षिणापथ में प्रतिष्ठान (पैठन, महाराष्ट्र में) नामक नगर का वर्णन है जहाँ धन-धान्य और रत्न आदि का बनिज-व्यापार होता था।

मायादित्य मित्रद्रोह का प्रायश्चित्त करने के लिये अग्नि-प्रवेश करना चाहता है, लेकिन ग्राममहत्तर अग्निप्रवेश करने की अपेक्षा गंगा में स्नान कर अनशनपूर्वक मरने को अधिक उत्तम समझते हैं। उनका कहना है कि अग्नि में तपाने से सोना ही शुद्ध हो सकता है, मित्रद्रोह करनेवाला नहीं; मित्रद्रोह की वंचना कापालिकों का व्रत धारण करने से नहीं होती, उसकी शुद्धि तो गंगा में प्रवेश कर शिवजी के जटाजूट से गिरनेवाली गंगा का धवल और उज्वल जल सिर पर चढ़ाने से ही हो सकती है। निम्नलिखित पद्य में यही भाव प्रकट किया गया है—

एत्थ सुज्झति किर सुवण्णं पि। वइसाणर-मुह-गतउं।
कउं प्रावु मित्तस्स वंचण। कावालिय-व्रत-धरणे।
एउ एउ सुज्झेज्जणहि ।।

तथा—

धवल-वाहण-धवल-देहस्स सिरे भ्रमिति जा विमल-जल।
धवलुज्जल सा भडारी। यति गंग प्रावेसि तुहुं'
मित्र-द्रोज्झु तो णाम सुज्झति।

उत्तरापथ में तक्षशिला नाम की नगरी का वर्णन है; धर्मचक्र[1] से यह शोभित थी।

सूर्यास्त के पश्चात् सन्ध्या का अभिनव वर्णन देखिये—

डज्झिर-तिल-धय - समिहा - तडतडा-सद्दइं मंत-जाय-मंडवेसु, गंभीरवेय-पढण-रवइं बंभण-सालिसु,मणहर-अक्खित्तया-गेयइं रुद्द-भवणेसु, गल्ल-फोडण-रवइं धम्मिय-मढेसु, घंटा-डमरुय-सद्दइं कावालियघरेसु, तोडहिया-पुकरियइं चच्चर-सिवेसु, भगवयगीया-गुणणधणीओ आवसहासु, सब्भूयगुण-रइयइं थुइ-थोत्तइं जिणहरेसु, एयंत-करुणा-णिबद्धत्थइं वयणइं बुद्ध-विहारेसुं, चलिय-महल्लघंटा-खडहडओ कोट्टज्जा-घरेसु, सिहि-कुक्कुड-चडय-रवइं छम्मुहालएसु, मणहर-कामिणी-गीय-मुरय-रवइं तुंग-देवघरेसुं ति।

—मंत्र-जाप के मंडपों में जलते हुए तिल, घी और काठ के जलने का तड़तड़ शब्द, ब्राह्मणों की शालाओं में ज़ोर-ज़ोर से वेदपाठ का स्वर, रुद्रभवनों में मनोहर और आकर्षक गीतों का स्वर, धार्मिक मठों में गला फाड़कर पढ़ने का शब्द, कापालिक-घरों में घंटा और डमरू का शब्द, चौराहों के शिवस्थानों में तोडहिआ नामक वाद्य का शब्द, संन्यासियों के मठों (आवसह) में भगवद्गीता को गुनने का शब्द, जिनमंदिरों में सर्वभूतगुण-रचित स्तुति और स्तोत्रों का शब्द, बुद्ध-विहारों में करुणापूर्ण वचनों का शब्द, कोट्टकिरिया (कोट्टज्जा—दुर्गा) के मंदिरों में बड़े-बड़े घंटों का शब्द, कार्तिकेय-मंदिरों में मयूर, कुक्कुट और चटक पक्षियों का शब्द, तथा ऊँचे-ऊँचे देवालयों में सुन्दर कामिनियों के गीतों और मृदंगों का शब्द सुनाई दे रहा था।

इस प्रसंग पर रात्रि के समय एक ओर विदग्ध कामिनीजन का और दूसरी ओर संसार से वैराग्य भाव को प्राप्त साधुजनों की प्रवृत्तियों का एक ही श्लोक में साथ-साथ सुन्दर चित्रण किया गया है।

कोई नायिका रात्रि के समय अपने पति से मिलने के लिए

---

१. आवश्यकचूर्णी, पृ० १८० इत्यादि में इसकी कथा आती है।

आतुर हो निकल पड़ी है, उस समय कोई राजा वेष-परिवर्त्तन कर रात में घूम रहा है। नायिका को देखकर वह पूछता है—

सुंदरि घोरा राई हत्थे गहियं पि दीसए णेय।
साहसु मज्झ फुडं चिय सुयणु तुमं कत्थ चलिया सि॥

—हे सुंदरि ! इस घोर रात्रि में जब कि हाथ की वस्तु भी दिखाई नहीं देती, तू कहाँ जा रही है, मुझे साफ़-साफ़ बता।

नायिका उत्तर देती है—

चलिया मि तत्थ सुंदर जत्थ जणो हियय-वल्लहो वसइ।
भणसु य जं भणियव्वं अहवा मग्गं ममं देसु॥

—हे सुंदर ! मैं वहाँ जा रही हूं जहाँ मेरा प्रियतम रहता है। जो कहना हो कहो, नहीं तो मुझे जाने का मार्ग दो।

राजा—सुंदरी घोरा चोरा सूरा य भमंति रक्खसा रोद्दा।
एयं मह खुडइ मणे कह ताण तुमं ण बीहेसि॥

—हे सुंदरि ! बड़े भयंकर शूरवीर चोर तथा रौद्र राक्षस रात को पर्यटन करते हैं। मेरे मन में यही हो रहा है कि आखिर तुम्हें भय क्यों नहीं लगता ?

नायिका—णयणेसु दंसण-सुहं अंगे हरिसं गुणा य हिययम्मि।
दइयाणुराय-भरिए सुहय ! भयं कत्थ अल्लियउ॥

—मेरे नयनों में दर्शन का सुख, मेरे अंग में हर्ष और प्रियतम के अनुराग से पुलकित मेरे हृदय में गुण विद्यमान हैं, फिर हे सुभग ! भय किस बात का ?

इस पर राजा ने कहा, सुन्दरि ! तुम डरो मत, मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा। इतने में उधर से उसका पति आता हुआ दीख पड़ा। उसने अपनी प्रियतमा की रक्षा करने के उपलक्ष में राजा के प्रति कृतज्ञता प्रकट की।

पाटलिपुत्र में धण नाम का एक वणिकपुत्र रहता था। वह धनार्जन करने के लिए यानपात्र से रत्नद्वीप के लिए रवाना हुआ। मार्ग में जहाज़ फट जाने के कारण वह कुडंग नामक द्वीप में

जाकर लगा। इस प्रसंग पर कथाकार ने जलधि की संसार से उपमा देते हुए मुनि के मुख से धर्म का उपदेश दिलाया है। आगे चलकर मज्जन-वापी में क्रीडा का सुन्दर वर्णन है। वर्षा ऋतु का चित्रण देखिये—

गज्जंति घणा णच्चंति बरहिणो विज्जुला वलवलेइ।
रुक्खग्गे य बलाया पहिया य घरेसु वच्चंति॥
जुप्पंति णंगलाइं भज्जंति पवाओ वियसए कुडओ।
वासारत्तो पत्तो गामेसु धराइं छज्जंति॥

—बादल गड़गड़ा रहे हैं, मोर नाच रहे हैं, बिजली चमक रही है, बगुलों की पंक्ति वृक्ष पर बैठी है, पथिक घर लौट रहे हैं, हल जोत दिए गये हैं, पानी की प्याऊ तोड़ दी गई है, कुटज वृक्ष विकसित हो रहे हैं, वर्षाकाल आ जाने पर गाँवों के घर सुन्दर दिखाई दे रहे हैं।

प्रशस्त तिथि, करण, नक्षत्र, लग्न और योग में सितचंदन और वस्त्र धारण करके व्यापारी लोग समुद्र-यात्रा के लिए यान-पात्र में सवार होते थे। उस समय पटहों की घोषणा होती, ब्राह्मण पाठ पढ़ते, जय-जयकार शब्द होता, समुद्र-देवता की पूजा की जाती और अनुकूल पवन होने पर जहाज प्रस्थान करता।

ग्रीष्म ऋतु के सम्बन्ध में एक उक्ति है—

सो णत्थि कोइ जीवो जयम्मि सयलम्मि जो ण गिम्हेण।
संताविओ जहिच्छं एक्कं चिय रासहं मोत्तुं॥

—समस्त संसार में ऐसा कौन है जो ग्रीष्म से व्याकुल न होता हो ? एक गधा ही ऐसा है जो अपनी इच्छा से संताप को सहन करता है।

यक्ष के मस्तक पर जिनेन्द्र भगवान् की प्रतिमा होने का उल्लेख है। नर्मदा के दक्षिण तट पर देयाडई नाम की महा अटवी, तथा उज्जयिनी नगरी का वर्णन है। इन्द्रमह, दिवाली, देवकुलयात्रा और बलदेव आदि उत्सवों और पुण्ड्रेक्षुवन का उल्लेख है।

यहाँ से कुवलयमाला का आख्यान आरंभ होता है। नगर की महिलायें अपने घड़ों में पानी भर कर ले जाती हुई कुवलयमाला के सौंदर्य की चर्चा करती चलती हैं। अयोध्यावासी कार्पटिक वेषधारी राजकुमार कुवलयचंद कुवलयमाला की खोज में विजया नाम की नगरी में आया हुआ है। कुवलयमाला का समाचार जानने के लिए वह चट्टों (छात्रों) के किसी मठ में प्रवेश करता है। इस मठ में लाड, कन्नड, मालव, कन्नौज, गोल्ल, मरहट्ठ, सोरट्ठ, ढक्क, श्रीकंठ और सिंधुदेश के छात्र रहते है। यहाँ धनुर्वेद, ढाल, असि, शर, लकड़ी, डंडा, कुंत आदि चलाने, तथा लकुटियुद्ध, बाहुयुद्ध, नियुद्ध (मल्लयुद्ध), आलेख्य, गीत, वादित्र, भाण, डोंबिल्लिय (डोंबिका) और सिग्गड (शिंगटक)[1] आदि विद्याओं की शिक्षा दी जाती थी। व्याख्यान-मंडलियों में व्याकरण, बुद्धदर्शन, सांख्यदर्शन, वैशेषिकदर्शन, मीमांसा, न्यायदर्शन, अनेकांतवाद तथा लौकायतिकों के दर्शन पर व्याख्यान होते थे। यहाँ के उपाध्याय अत्यंत कुशल थे और वे निमित्त, मंत्र, योग, अंजन, धातुवाद, यक्षिणी-सिद्धि, गारुड, ज्योतिष, स्वप्न, रस, बंध, रसायन, छंद, निरुक्त, पत्रच्छेद्य (पत्ररचना)[2], इन्द्रजाल, दंतकर्म, लेपकर्म, चित्रकर्म, कनककर्म, भूत, तंत्रकर्म आदि शास्त्र पढ़ाते थे।

---

१. हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन (८.४) में डोंबिका, भाण, प्रस्थान, शिंगक, भाणिका, प्रेरण, रामाक्रीड, हल्लीसक, रासक, गोष्ठी, श्रीगदित और काव्य ये गेय के भेद बताये हैं। अभिनवभारती (१, पृष्ठ १८३) में डोंबिका का निम्नलिखित लक्षण किया है—

छन्नानुरागगर्भाभिरुक्तिभिर्यत्र भूपतेः।
आवर्ज्यते मनः सा तु मसृणा डोंबिका मता॥

षिद्गक का लक्षण देखिये—

सख्याः समक्षं भर्त्तुर्यदुद्धतं वृत्तमुच्यते।
मसृणं च क्वचिद्धूर्त-चरितं षिद्गस्तु यः॥

२. कुट्टिनीमत (श्लोक २३६) और कादंबरी (पृ० १२६, काले

छात्रों का वर्णन देखिये—

करघायकुडिलकेसा णिद्दयचलणप्पहारपिहुलंगा।
उण्णयभुयसिहराला परपिंडपरूढबहुमंसा॥
धम्मत्थकामरहिया बंधवधणमित्तवज्जिया दूरं।
केइत्थ जोव्वणत्था बालच्चिय पवसिया के वि॥
परजुवइदंसणमणा सुहयत्तणरूवगव्विया दूरं।
उत्ताणवयणणयणा इट्ठाणुग्घट्ठ-मट्ठोरू॥

—अपने उलझे हुए केशों को हाथ से फटकारने वाले, पैरों के निर्दय प्रहार पूर्वक चलने वाले, पृथु शरीर वाले, उन्नत भुज-शिखर वाले, दूसरे का भोजन करके पुष्ट मांसवाले, धर्म, अर्थ और काम से रहित, बांधव, धन और मित्रों द्वारा दूर से ही वर्जित; कोई युवा थे और कोई बाल्यावस्था में ही यहाँ चले आये थे; पर-युवतियों को देखने के लिये उत्सुक, सुभग होने के कारण रूप से गर्विष्ठ, मुख और नयनों को ऊपर उठाकर ताकने वाले तथा सुन्दर, चिकनी और मसृण जंघावाले (छात्र वहाँ रहते थे)।

विद्या, विज्ञान और विनय से रहित इन छात्रों का आपस में असंबद्ध अक्षर-प्रलाप[२] सुनकर कुमार को बहुत बुरा लगा।

का संस्करण) में पत्रच्छेद्य का उल्लेख है। काले महोदय के अनुसार भित्ति अथवा भूमि को चित्रित करने की कला को पत्रच्छेद्य कहते हैं। कॉवेल के अनुसार इस कला के द्वारा पत्तों को काटकर उनके सुन्दर डिजाइन बनाये जाते थे; देखिये ई० जी० थॉमस का बुलेटिन स्कूल ऑव ओरिंटिएल स्टडीज़ (जिल्द ६, पृ० ५१५-७) में लेख।

२. इस वार्तालाप से तत्कालीन भाषा पर प्रकाश पड़ता है—

अल्लीणो कुमारो। जंपिओ पयत्तो। 'रे रे, आरोट्ट (= उल्लंठ) भण रे जाव ण पम्हुसइ। जनार्दन, प्रच्छहुं कत्थ तुम्भे कल्ल जिमियल्लया'। तेण भणियं 'साहिउं जे ते तओ तस्स वलक्खएल्लयहं किराडहं (किराड = बनिया) तणए जिमियल्लया।' तेण भणियं

इसके बाद छात्रों में आपस में कुवलयमाला के सम्बन्ध में चर्चा होने लगी—

एक छात्र ने कहा—क्या तुम्हें राजकुल का वृत्तांत मालूम है ? सब छात्र व्याघ्रस्वामी से पूछने लगे—"हे व्याघ्रस्वामि ! बोलो, राजकुल का क्या समाचार है ?"

व्याघ्रस्वामी—पुरुषद्वेषिणी कुवलयमाला ने (समस्यापूर्ति के लिए) गाथा का एक चरण लटकाया है ।

यह सुनकर एक छात्र जल्दी से उठकर कहने लगा—यदि इसमें पांडित्य का प्रश्न है तो कुवलयमाला का मेरे साथ विवाह होना चाहिये ।

दूसरे ने पूछा—अरे ! तेरा वह कौन सा पांडित्य है ? (अरे कत्रणु तउ पाण्डित्यउ) ।

उसने उत्तर दिया—मैं षडांग वेद का अध्ययन करता हूँ, त्रिगुण मंत्र पढ़ता हूँ ।

दूसरे छात्र ने कहा—अरे ! त्रिगुण मंत्रों से विवाह नहीं होता । जो ठीक तरह से चरण की पूर्ति कर दे उसके साथ विवाह होगा ।

'किं सा विसेस-महिला वलक्खइएल्लिय' । तेण भणियं 'अह हा, सा य भडारिय संपूर्णस्वलक्खण गायत्रि (= सावित्री) यद्दसिय' । अण्णेण भणियं 'वर्ण्णि कीदृशं तत्र भोजनं ।' अण्णेण भणियं 'चाइ भट्टो, मम भोजन स्पृष्टं, तत्तको हं, न वासुकि' । अण्णेण भणियं 'कत्तु घडति तउ, हद्धय उल्लाव, भोजन स्पृष्ट स्वनाम सिंघसि' । अण्णेण भणियं 'अरे रे बड्डो महामूर्खं, ये पाटलिपुत्रमहानगरवास्तव्यं ते कुत्था समासोक्ति वुज्झंति' । अण्णेण भणियं 'अस्मादपि इयं 'मूर्क्खतरी' । अण्णेण भणियं 'काइं कज्जु (= कार्यं) ।' तेण भणियं 'अनिपुण-निपुणा-थोक्ति-प्रचुर (= अर्थोक्तिप्रचुर) ।' तेण भणियं 'मर काइं मां मुक्क, अम्ब्रोपि विदिग्धः संति ।' अण्णेण भणियं 'भट्टो, सत्यं त्वं विदग्धः, किं पुणु भोजने स्पृष्ट माम कथित ।' तेण भणियं 'अरे महामूर्खं, वासुकेर्वदन-सहस्रं कथयति ।'

दूसरा छात्र—मैं ठीक तरह से गाथा पढूँगा।

अन्य छात्र (व्याघ्रस्वामी से)—अरे व्याघ्रस्वामि ! क्या तू गाथा पढ़ता है ?

व्याघ्रस्वामी—हाँ, यह है गाथा—

सा तु भवतु सुप्रीता अबुधस्य कुतो बलं।
यस्य यस्य यदा भूमि सर्वत्र मधुसूदन॥

यह सुनकर एक दूसरा छात्र गुस्से से कहने लगा—

अरे मूर्ख ! स्कन्ध[1] को भी गाथा कहता है ? क्या हमसे गाथा नहीं सुनना चाहते हो ?

छात्रों ने कहा—भट्टयजुस्वामि ! तुम अपनी गाथा सुनाओ।

भट्टयजुस्वामी—लो, पढ़ता हूँ—

आइं कज्जि मत्त गय गोदावरि ण मुयंति।
को तहु देसहु आवतइ को व पराणइ वत्त॥

यह सुनकर छात्रों ने कहा—अरे ! हम श्लोक नहीं पूछते, हमें गाथा पढ़कर सुनाओ।

भट्टयजुस्वामी ने निम्न गाथा सुनाई—

तंबोल-रइय-राओ अहरो दृष्ट्वा कामिनि-जनस्स।
अम्हं चिय खुभइ मणो दारिद्र-गुरू णिवारेइ॥

यह सुनकर सब छात्र कहने लगे—

अहा ! भट्टयजुस्वामी का विदग्ध पाण्डित्य है, उसने बड़ी विद्वत्तापूर्ण गाथा पढ़ी है, इसके साथ अवश्य ही कुवलयमाला का विवाह होगा।

---

१. यह गाथाछंद का ही एक प्रकार है और इसमें ३२ मात्रायें होती हैं। देखिये हेमचन्द्र का छन्दोनुशासन, पृष्ठ २८ ब, पंक्ति १४। साहित्यदर्पणकार ने इसका लक्षण किया है—

स्कंधकमिति तत्कथितं यत्र चतुष्कलगणाष्टकेनार्धं स्यात्।
तत्तुल्यमग्रिमदलं भवति चतुष्षष्टिमात्रकशरीरमिदं॥

(३, पृष्ठ १६४ टीका)

यहाँ १८ देशी भाषाओं का उल्लेख है। ये भाषायें गोल्ल, आदि देशों में बोली जाती थीं। गोल्लदेश (गोदावरी के आस-पास का प्रदेश) के लोग कृष्णवर्ण, निष्ठुर वचनवाले, बहुत काम-भोगी (बहुक-समरभुंजए) और निर्लज्ज होते थे; वे लोग 'अड्डे' का प्रयोग करते थे। मगध के वासी पेट निकले हुए (णीहरियपोट्ट), दुर्वर्ण, कद में छोटे (मडहए) तथा सुरतक्रीडा में तल्लीन रहते थे; वे 'एगे ले' का प्रयोग करते थे। अंतर्वेदि (गङ्गा और यमुना के बीच का प्रदेश) प्रदेश के रहनेवाले कपिल रंग के, पिंगल नेत्रवाले तथा खान-पान और और गपशप में लगे रहनेवाले होते थे; वे 'कित्तो किम्मो' शब्द का प्रयोग करते थे। कीरदेशवासी ऊँची और मोटी नाकवाले, कनक वर्णवाले, और भारवाही होते थे; वे 'सरि पारि' का प्रयोग करते थे। ढक्कदेश के वासी दाक्षिण्य, दान, पौरुष, विज्ञान और दयारहित होते थे, वे 'एहं तेहं' का प्रयोग करते थे। सिंधुदेश के लोग ललित, और मृदुभाषी, संगीतप्रिय और अपने देश को प्रिय समझते थे; वे 'चउडय' शब्द का प्रयोग करते थे। मरुदेशवासी वक्र, जड, उजड्ड, बहुभोजी, तथा कठिन, पीन और फूले हुए शरीरवाले होते थे; वे 'अप्पां तुप्पां' शब्दों का प्रयोग करते थे। गुर्जरदेशवासी घी और मक्खन खा-खा कर पुष्ट हुए, धर्मपरायण, सन्धि और विग्रह में निपुण होते थे; वे 'णउ रे भल्लउं'[1] शब्दों का प्रयोग करते थे। लाट-देश के वासी स्नान करने के पश्चात् सुगन्धित द्रव्यों का लेप करते, अपने बाल अच्छी तरह काढ़ते, और उनका शरीर सुशोभित रहता था; वे 'अम्हं काउं तुम्हं' शब्दों का प्रयोग करते थे। मालवा के लोग तनु, श्याम और छोटे शरीरवाले, क्रोधी, मानी और रौद्र होते थे; वे 'भाउय भइणी तुम्हे' शब्दों का प्रयोग करते थे। कर्णाटक के लोग उत्कट दर्पवाले मैथुन-प्रिय, रौद्र और पतङ्गवृत्ति वाले होते थे; वे 'अडि पाडि मरे'

---

१. ना रे, भलु आदि का गुजराती में प्रयोग होता है।

शब्दों का प्रयोग करते थे। ताइय (ताजिक) देश के वासी कंचुक (कुप्पास) से आवृत शरीरवाले, मांस में रुचि रखनेवाले, तथा मदिरा और मदन में तल्लीन रहते थे; वे 'इसि किसि मिसि' शब्दों का प्रयोग करते थे। कोशल के वासी सर्वकला-सम्पन्न, मानी, जल्दी क्रोध करनेवाले और कठिन शरीरवाले होते थे; वे 'जल तल ले'[1] शब्दों का प्रयोग करते थे। मरहट्ठ देश के वासी मज़बूत, छोटे, और श्यामल अङ्गवाले, सहनशील तथा अभिमान और कलह करनेवाले होते थे; ये 'दिण्णल्ले गहियल्ले'[2] शब्दों का प्रयोग करते थे। आंध्रदेशवासी महिला-प्रिय, संग्राम-प्रिय, सुन्दर शरीरवाले तथा रौद्र भोजन करनेवाले होते थे; वे 'अटि पुटि रटिं' शब्दों का प्रयोग करते थे।

कुमार कुवलयचंद द्वारा कुवलयमाला द्वारा घोषित पाद की पूर्त्ति कर दिये जाने पर कुवलयमाला कुमार के गले में कुसुमों की माला डाल देती है। तत्पश्चात् शुभ नक्षत्र और शुभ मुहूर्त्त में बड़ी धूमधाम के साथ दोनों का विवाह हो जाता है। वासगृह में शय्या सजाई जाती है। कुवलयमाला की सखियाँ उसे छोड़कर जाने लगती हैं। कुवलयमाला उन्हें सम्बोधित करके कहती है—

मा मा मुंचसु एत्थं पियसहि एक्कल्लियं वणमइ व्व।

—हे प्रिय सखियों! मुझे वन-मृगी के समान यहाँ अकेली छोड़कर मत जाओ।

सखियाँ उत्तर देती हैं—

इय एक्कियाओ सुइरं अम्हे वि होज्जसु।

—हे सखि! हमें भी यह एकान्त प्राप्त करने का सौभाग्य मिले।

कुवलयमाला—रोमंचकंपियं सिण्णं जरियं मा मुंचह पियसहीओ।

---

१. गइतल आदि पूर्वी भाषाओं में।

२. दिला, घेतला आदि मराठी में।

—हे प्रिय सखियों ! रोमांच से कम्पित, स्वेदयुक्त और ज्वरपीड़ित मुझे यहाँ छोड़कर मत भागो।

सखियाँ—तुज्झ पइ चिय वेज्जो जरयं अवणेही एसो।

—तुम्हारा पति ही वैद्य है, वह तुम्हारी ज्वर की पीड़ा दूर करेगा।

तत्पश्चात् कुवलयचन्द और कुवलयमाला के प्रेमपूर्ण विनोद और उक्ति-प्रत्युक्ति आदि का सरस वर्णन है। दोनों पहेलियाँ बूझते हैं। बिंदूमति (जिसमें आदि और अन्तिम अक्षरों को छोड़कर बाकी अक्षरों के स्थान पर केवल बिंदु दिये जाते हैं, और इन बिन्दुओं को अक्षरों से भर कर गाथा पूरी की जाती है), अट्ठविडअ (यह बत्तीस कोठों में व्यस्त-समस्त रूप से लिखा जाता है), प्रश्नोत्तर, आततत, गूढोत्तर आदि के द्वारा वे मनोरञ्जन करते रहे। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, पैशाची, मागधी, राक्षसी और मिश्र भाषाओं का उल्लेख भी कवि ने यहाँ किया है। प्रथमाक्षर रचित गाथा का उदाहरण—

दाणदयादक्खिण्णा सोम्मा पयईए सव्वसत्ताणं।
हंसि व्व सुद्धपक्खा तेण तुमं दंसणिज्जासि॥

इस गाथा के तीनों चरणों के प्रथम अक्षर लेने से 'दासोहं' रूप बनता है। एक पत्र का नमूना देखिये—

'सत्थि। अउज्झापुरवरीओ महारायाहिराय-परमेसर-दढवम्मे विजयपुरीए दीहाउयं कुमार-कुवलयचन्दं महिन्दं च ससिणेहं अवगूहिऊण लिहइ। जहा तुम विरह-जलिय-जालावली-कलाव-करालिय-सरीरस्स णत्थि मे सुहं, तेण सिग्घ-सिग्घयरं अव्वस्सं आगंतव्वं'।

—स्वस्ति। अयोध्यानगरी से महाराजाधिराज परमेश्वर दृढ़वर्मा विजयपुरी के दीर्घायु कुमार कुवलयचन्द और महेन्द्र को सस्नेह आलिंगन पूर्वक लिखता है कि तुम्हारी विरहाग्नि में प्रज्वलित इस शरीर को सुख नहीं, अतएव तुम फौरन ही जरूर-जरूर यहाँ चले आओ।

तत्पश्चात् कुवलयचन्द शुभ वेला में अयोध्या नगरी को प्रस्थान करता है। शकुनशास्त्र के साथ शिवारुत, काकरुत, श्वानरुत और गिरोलिया (छिपकली) रुत आदि का उल्लेख है। देशों में लाट देश को सर्वश्रेष्ठ बताकर इस देश के वासियों की वस्त्रभूषा और भाषा को उत्तम बताया है। सिद्धपुरुष का लक्षण देखिए—

जो सव्वलक्खणधरो गंभीरो सत्ततेयसंपण्णो।
भुंजइ देइ जहिच्छं सो सिद्धी-भायणं पुरिसो॥

—जो सर्वलक्षणों का धारक हो, गम्भीर हो, सत्त्व और तेज से सम्पन्न हो, और जो उसे दे दिया जाये उसे भक्षण कर लेता हो, वह पुरुष सिद्धि का भाजन है।

सिद्धपुरुष को अंजन, मन्त्र, तन्त्र, यक्षिणी, जोगिनी, राक्षसी, पिशाची आदि सिद्ध रहते थे। मंत्रवादी 'णमो सिद्धाणं णमो जोणीपाहुड-सिद्धाणं इमाणं' विद्या का पाठ करते थे। जोणीपाहुड के सम्बन्ध में कहा है—

अविचलइ मेरु-चूला सुर-सरिया अवि वहेज्ज विवरीया।
ण य होज्ज किंचि अलियं जं जोणीपाहुडे रइयं॥

—भले ही मेरु का शिखर कंपायमान हो जाये और गंगा उल्टी बहने लगे, लेकिन जोणीपाहुड़ में लिखी हुई बात कभी मिथ्या नहीं हो सकती।

धातुवादी धातु को जमीन से निकाल कर खार के साथ उसका धमन करते थे। यहाँ अनेक प्रकार की क्रियायें बताई गई हैं। नरेन्द्र[1] रस (पारा) को बाँधते थे। नरेन्द्रों की नागिनी, भ्रमरी आदि भाषाओं का उल्लेख है।

---

१. रामनारायण रुइया कालेज बंबई के संस्कृत के प्रोफेसर घोंड ने मुझे बताया कि माघ कवि (७३३ ई०) के शिशुपालवध (२.८८) में नरेन्द्र शब्द चिकित्सक अथवा विषवैद्य के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

मूलशुद्धिप्रकरण

मूलशुद्धिप्रकरण का दूसरा नाम स्थानकप्रकरण है[1] जिसके कर्ता प्रद्युम्नसूरि हैं, ये ईसवी सन् की १०वीं शताब्दी में हुए हैं। यह ग्रंथ पद्यात्मक है; इस पर हेमचन्द्र आचार्य के गुरु देवचन्द्रसूरि ने ११वीं शताब्दी में टीका रची है। आरंभ की गाथाओं में गुरु के उपदेश और सम्यक्त्वशुद्धि का वर्णन है। टीकाकार ने आर्द्रककुमार, आर्यखपुटाचार्य, आर्य महागिरि, एलकाक्ष, गजाग्रपद पर्वत की उत्पत्ति, भीम-महाभीम, आरामशोभा, शिखरसेन, सुलसा (अपभ्रंश भाषा में), श्रीधर, इन्द्रदत्त, पृथ्वीसार कीर्त्तिदेव, जिनदास, कार्तिकश्रेष्ठि, रंगायणमल्ल, जिनदेव, कुलपुत्रक, देवानन्दा, और धन्य आदि कथानकों का वर्णन किया है। प्रथम स्थानक में ग्रन्थकर्ता ने जिनबिम्ब का प्रतिपादन किया है। पुष्प, धूप, दीप, अक्षत, फल, घृत आदि द्वारा जिनप्रतिमा के पूजन का विधान है।

कथाकोषप्रकरण (कहाणयकोस)

कथाकोषप्रकरण सुप्रसिद्ध श्वेतांबर आचार्य जिनेश्वरसूरि की रचना है जिसे उन्होंने वि० सं० ११०८ (सन् १०५२) में लिखकर समाप्त किया था। सुरसुन्दरीचरिय के कर्त्ता धनेश्वर, नवांगी टीकाकार अभयदेवसूरि और महावीरचरिय के कर्त्ता गुणचंद्र गणि आदि अनेक धुरंधर जैन विद्वानों ने युगप्रधान जिनेश्वरसूरि का बड़े आदर के साथ स्मरण किया है। जिनेश्वरसूरि ने दूर-दूर तक भ्रमण किया था और विशेषकर गुजरात, मालवा और राजस्थान इनकी प्रवृत्तियों के केन्द्र थे। इन्होंने और भी अनेक प्राकृत और संस्कृत के ग्रंथों की रचना की है जिनमें हरिभद्रकृत अष्टक पर वृत्ति, पंचलिंगीप्रकरण, वीरचरित्र और

---

१. सिंघी जैन ग्रन्थमाला में पंडित अमृतलाल भोजक द्वारा संपादित होकर यह प्रकाशित हो रहा है। इसके कुछ पृष्ठ मुनि जिनविजय जी की कृपा से देखने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है।

निर्वाणलीलावतीकथा आदि मुख्य हैं। कहाणयकोस में ३० गाथायें हैं और इनके ऊपर प्राकृत में टीका है जिसमें ३६ मुख्य और ४–५ अवांतर कथायें हैं। ये कथायें प्रायः प्राचीन जैन ग्रन्थों से ली गई हैं जिन्हें लेखक ने अपनी भाषा में निबद्ध किया है। कुछ कथायें स्वयं जिनेश्वरसूरि की लिखी हुई मालूम होती हैं। जिनपूजा, साधुदान, जैनधर्म में उत्साह आदि का प्रतिपादन करने के लिये ही इन कथाओं की रचना की गई है। इन कथाओं में तत्कालीन समाज, आचार-विचार, राजनीति आदि का सरस वर्णन मिलता है। कथाओं की भाषा सरल और बोधगम्य है, समासपदावली, अनावश्यक शब्दाडंबर और अलंकारों का प्रयोग यहाँ नहीं है। कहीं अपभ्रंश के भी पद्य हैं जिनमें चउप्पदिका (चौपाई) का उल्लेख है। शुकमिथुन, नागदत्त, जिनदत्त, सूरसेन, श्रीमाली और रोरनारी के कथानकों में जिनपूजा का महत्त्व बताया है। नागदत्त के कथानक में गारुडशास्त्र के श्लोकों का उद्धरण देकर सर्प से डसे हुए आदमी को जीवित करने का उल्लेख है। सर्प का विष उतारने के लिये मस्तक को ताड़ित करना, बाईं ओर के नथुने में चार अंगुल की डोरी फिराना और नाभि में राख लगाकर उसे उँगली से रगड़ना आदि प्रयोग किये जाते थे। स्त्रियाँ पति के मरने पर अग्नि में जलकर सती हो जाती थीं। जिनदत्त के कथानक में धनुर्वेद का उल्लेख है। यहाँ आलीढ, प्रत्यालीढ, सिंहासन, मंडलावर्त आदि प्रयोगों का निर्देश है। सूरसेन के कथानक में आधी रात के समय श्मशान में अपने मांस को काटकर अथवा कात्यायनी देवी के समक्ष अपने मांस की आहुति देकर देव की आराधना से पुत्रोत्पत्ति होने का उल्लेख है। आयुर्वेद के अनुसार पुत्रलाभ की विधि का निर्देश किया गया है। सिंहकुमार का कथानक कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। यहाँ गंधर्वकला का प्रतिपादन करते हुए तंत्रीसमुत्थ, वेणुसमुत्थ और मनुजसमुत्थ नामक नादों का वर्णन है। नाद

का उत्थान कैसे होता है ? स्वर भेद कैसे होते हैं ? और ग्राम, मूर्च्छना आदि रागभेद कितने प्रकार के होते हैं ? आदि विषयों का प्रतिपादन है। फिर भरतशास्त्र में उल्लिखित ६४ हस्तक और ४ भ्रूभङ्गों के साथ तारा, कपोल, नासा, अधर, पयोधर, चलन आदि भङ्गों के अभिनय का निर्देश है। इस कथानक की एक अवांतर कथा देखिये—

किसी स्त्री का पति परदेश गया हुआ था। वह अपने पीहर में रहने लगी थी। एक दिन अपने भवन के ऊपर की मंजिल में बैठी हुई वह अपने केश सँवार रही थी कि इतने में एक राजकुमार उस रास्ते से होकर गुजरा। दोनों की दृष्टि एक हुई। सुंदरी को देखकर राजकुमार ने एक सुभाषित पढ़ा—

अणुरूवगुणं अणुरूवजोव्वणं माणुसं न जस्सत्थि।
किं तेण जियंतेण पि मानि नवरं मओ एसो॥

—जिस स्त्री के अनुरूप गुण और अनुरूप यौवनवाला पुरुष नहीं है, उसके जीने से क्या लाभ ? उसे तो मृतक ही समझना चाहिये।

स्त्री ने उत्तर दिया—

परिभुंजिउं न याणइ लच्छिं पत्तं पि पुण्णपरिहीणो।
विक्कमरसा हु पुरिसा भुंजंति परेसु लच्छीओ॥

—पुण्यहीन पुरुष लक्ष्मी का उपभोग करना नहीं जानता। साहसी पुरुष ही पराई लक्ष्मी का उपभोग कर सकते हैं।

राजकुमार सुन्दरी का अभिप्राय समझ गया। एक बार वह रात्रि के समय गवाक्ष में से चढ़कर उसके भवन में पहुँचा, और पीछे से आकर उसने उस सुन्दरी की आँखें मीच लीं। सुन्दरी ने कहा—

मम हियय हरिऊणं गओसि रे किं न जाणिओ तं सि।
सच्चं अच्छिनिमीलणमिसेण अंधारयं कुणसि॥
ता बाहुलयापासं दलामि कंठम्मि अज्ज निब्भंतं।
सुमरसु य इट्ठदेवं पयडसु पुरिसत्तणं अहवा॥

—तू क्या नहीं जानता कि तू मेरे हृदय को चुराकर ले गया था, और अब मेरी आँखें मीचने के बहाने तू सचमुच अँधेरा कर रहा है ? आज मैं अपने बाहुपाश को तेरे कण्ठ में डाल रही हूँ। तू अपने इष्टदेव का स्मरण कर, या फिर अपने पुरुषार्थ का प्रदर्शन कर।

इस प्रकार दोनों में प्रेमपूर्ण वार्तालाप होता रहा। कुमार रात भर वहाँ रहा और सुबह होने के पहले ही अपने स्थान को लौट गया। सुबह होने पर दासी दातौन-पानी लेकर अपनी मालकिन के कमरे में आई, लेकिन मालकिन गहरी नींद में सोई पड़ी थी। दासी ने सोचा कि जिस स्त्री का पति परदेश गया है, उसका इतनी देर तक सोना अच्छा नहीं। वह चुपचाप उसके पास बैठ गई। कुछ समय बाद उसके जागने पर दासी ने पूछा—

"स्वामिनि ! आज इतनी देर तक आप क्यों सोती रहीं।"

"पति के वियोग में सारी रात नींद नहीं आई। सबेरा होने पर अभी-अभी आँख लगी थी।"

"स्वामिनि ! आपके ओठों में यह क्या हो गया है ?"

"ठंढ से फट गये हैं।"

"स्वामिनि ! आपकी आँखों का काजल क्यों फैल गया है ?"

"पति के वियोग में मैं रात भर रोती रही, मैंने आँखें मल ली हैं।"

"तुम्हारे शरीर पर ये नखक्षत कैसे हैं ?"

"पति के वियोग में मैंने अपने आपका गाढ़ आलिंगन किया है।"

"तो फिर कल से मैं तेरे पास ही सोऊँगी और हम एक दूसरे का आलिंगन करके सोयेंगे।"

"छिः छिः ! पतिव्रता स्त्री के लिये यह अनुचित है।"

"स्वामिनि ! आज तुम्हारा केशों का जूड़ा क्यों शिथिल दिखाई दे रहा है ?"

"बहन ! तू बड़ी चालाक मालूम होती है, तू कैसे-कैसे प्रश्न पूछ रही है ? पगली ! पति के अभाव में शय्या तप्त बालू के समान प्रतीत हो रही थी, इसलिये सारी रात इधर-उधर करवट लेते हुए बीती, जिससे मेरे केशों का जूड़ा शिथिल हो गया है। क्या इस प्रकार के प्रश्न पूछ कर तू मेरे श्वशुरकुल के नाश की इच्छा करती है ?"

"छिः छिः स्वामिनि ! ऐसा मत समझो कि इससे तुम्हारे श्वसुरकुल का नाश होगा, इससे तो उसका उत्कर्ष ही होगा।"

शालिभद्र की कथा जैन साहित्य में सुप्रसिद्ध है। एक बार की बात है, किसी दूर देश से बहुमूल्य कंबलों (रयणकंबल) के व्यापारी राजगृह में आये। व्यापारियों ने अपने कंबल राजा श्रेणिक को दिखाये। लेकिन कंबलों का मूल्य बहुत अधिक था, इसलिये राजा ने उन्हें नहीं खरीदा। रानी चेलना ने कहा, कम से कम एक कंबल तो मेरे लिए ले दो, लेकिन श्रेणिक ने मना कर दिया। उसी नगर में शालिभद्र की विधवा माता भद्रा रहती थी। व्यापारियों ने उसे अपने कंबल दिखाये और भद्रा ने उनके सब कंबल खरीद लिये। इधर कंबल न मिलने के कारण रानी चेलना रूठ गई। यह देखकर राजा ने उन व्यापारियों को फिर बुलाया। लेकिन उन्होंने कहा कि उन सब कंबलों को भद्रा ने खरीद लिया है। इस पर राजा ने अपने एक कर्मचारी को भद्रा के घर भेजकर अपनी रानी के लिये एक कंबल मंगवाया। भद्रा ने उत्तर में कहलवाया कि कंबल देने में तो कोई बात नहीं, लेकिन मैंने उन्हें फाड़कर अपनी बहुओं के पाँव पोंछने के लिये पायदान बनवा लिये हैं। राजा यह जानकर बड़ा प्रसन्न हुआ कि उसके राज्य में इतने बड़े-बड़े सेठ-साहुकार रहते हैं। एक दिन भद्रा ने राजा श्रेणिक और उसकी रानी चेलना को अपने घर आने का निमंत्रण दिया। राजा के स्वागत के लिये उसने राजमहल के

सिंहद्वार से अपने घर तक के राजमार्ग को सजाने की व्यवस्था की। पहले उसने बल्लियाँ खड़ी कीं, उन पर बाँस बिछाये, बाँसों पर खपचें डालीं और उन्हें सुतलियों से कसकर बाँध दिया। उन पर खस की टट्टियाँ बिछाई गईं, दोनों ओर द्रविड-देश के वस्त्रों के चन्दोवे बाँधे गये। हारावलियाँ लटका कर कंचुलियाँ बनाई गईं, जालियों में वैडूर्य लटकाये गये, सोने के झूमके बाँधे गये, पुष्पगृह बनाया गया, और बीच-बीच में तोरण लटकाये गये। ज़मीन पर सुगंधित जल का छिड़काव किया गया, जगह-जगह धूपदान रक्खे गये, और सर्वत्र पहरेदार नियुक्त कर दिये गये। विलासिनियां मंगलाचार गाने लगीं, गीत-वादित्रों की ध्वनि सुनाई पड़ने लगी और नाटक दिखाये जाने लगे।

भद्रा की कोठी में प्रवेश करते हुए राजा ने दोनों तरफ बनी हुई घुड़साल और हस्तिशाला देखी। भवन में प्रवेश करने पर पहली मंजिल में बहुमूल्य वस्तुओं का भंडार देखा। दूसरी मंजिल पर दास-दासी भोजन-पान की सामग्री जुटाने में लगे थे। तीसरी मंजिल पर रसोइये रसोई की तैयारी कर रहे थे— कोई सुपारी काट रहा था और कोई पान का बीड़ा बना कर उसमें केसर, कस्तूरी आदि रख रहा था। चौथी मंजिल पर सोने-बैठने और भोजन करने की शालायें थीं, और पास के कोठों में अनेक प्रकार का सामान भरा पड़ा था। पांचवीं मंजिल पर एक अत्यन्त सुन्दर बगीचा था, जहाँ स्नान करने के लिये एक पुष्करिणी बनी थी। श्रेणिक और चेलना ने इस पुष्करिणी में जलक्रीडा की। फिर चैत्यपूजा के पश्चात् नाना प्रकार के स्वादिष्ट व्यञ्जनों से उनका सत्कार किया गया। उसके बाद चिलमची (पडिग्गह—पतद्ग्रह) में उनके हाथ धुलवाये गये, दांत साफ करने के लिये दांत-कुरेदनी दी गई और हाथ पोंछने के लिये सुगन्धित तौलिये उपस्थित किये गये। इस समय शालिभद्र भी वहाँ आ पहुँचा था। उसे देखते ही राजा ने उसे अपने भुजा-

पाश में भर कर अपनी गोद में बैठा लिया। फिर भद्रा ने राजा को बहुमूल्य हाथी, घोड़े आदि की भेंट देकर बिदा किया। अन्त में शालिभद्र ने अपनी बधुओं के साथ महावीर के पास पहुँच कर श्रमण-दीक्षा ग्रहण कर ली।

साधुदान का फल प्राप्त करनेवालों में शालिभद्र के सिवाय, कृतपुण्य, आर्या चन्दना, मूलदेव आदि की भी कथाएँ कही गई हैं। कृतपुण्य और मूलदेव की कथाओं के प्रसंग में वेश्याओं का वर्णन है। वेश्याओं की मातायें वाइया (हिन्दी में बाई) कही जाती थीं। मूलदेव के कथानक से मालूम होता है कि धनिक लोग गंडेरियों को कांटे (सूला) से खाते थे। सुन्दरीकथानक से पता चलता है कि मछुए, शिकारी आदि निम्न जाति के लोग जैनधर्म के अनुयायी अब नहीं रह गये थे; श्रेष्ठी, सार्थवाह, आदि मध्यम और उच्च श्रेणी के लोग ही प्रायः जैनधर्म का पालन करते थे। मनोरथकथानक में श्रमणोपासकों में परस्पर दानसंबन्धी चर्चा का उल्लेख है। हरिणकथानक में द्वारका नगरी के विनाश की कथा है। सुभद्राकथानक में बताया है कि सागरदत्त द्वारा जैनधर्म स्वीकार कर लेने के बाद ही सुभद्रा के माता-पिता ने अपनी कन्या का विवाह उसके साथ किया। यहाँ सासू-बहू तथा जैन और बौद्ध भिक्षुओं की पारस्परिक कलह का आभास मिलता है। मनोरमाकथानक में श्रावस्ती का राजा किसी नगर के व्यापारी की पत्नी को अपनी रानी बनाना चाहता है। वह सफल हो जाता है, लेकिन अन्त में देवताओं द्वारा मनोरमा के शील की रक्षा की जाती है। श्रेणिककथानक में राजा श्रेणिक को जैन-शासन का परम उद्धारक बताया गया है। दत्तकथानक से पता लगता है कि श्वेताम्बर और दिगम्बर साधुओं में काफी मनो-मालिन्य पैदा हो गया था।[1] दिगम्बर मतानुयायी किसी श्वेतांबर

---

१. वादिदेवसूरि आदि के प्रबंधों में भी इस प्रकार के आख्यान मिलते हैं। सिद्धराज जयसिंह की सभा में इस बात को लेकर वादिदेव-सूरि और भट्टारक कुमुदचन्द्र में शास्त्रार्थ हुआ था।

भिक्षु को लोक में लज्जित करने की चेष्टा करते हैं, लेकिन भिक्षु के बुद्धिकौशल से उल्टे उन्हें ही हास्यास्पद होना पड़ता है। जयदेवकथानक में जैन और बौद्ध साधुओं के वाद-विवाद की कथा आती है। जयगुप्त नाम के बौद्ध भिक्षु ने एक पत्र लिखकर राजा के सिंहद्वार पर लगा दिया। श्वेताम्बर साधु सुचन्द्रसूरि ने उसे उठाकर फाड़ दिया। तत्पश्चात् राजसभा में दोनों में शास्त्रार्थ हुआ। राजा बौद्ध धर्म का अनुयायी था। उसने जैन साधुओं को कारागृह में डाल दिया और जैन उपासकों की सब सम्पत्ति छीन ली। कौशिक वणिक्कथानक में सोमड़ नामक ब्राह्मण (जिसे मज़ाक में डोड्ड कहा गया है) जैन साधुओं का अवर्ण-वाद करता है जिससे वह देवता-जनित कष्ट का भागी होता है। कमलकथानक में त्रिदंडी साधुओं के भक्त कमल नामक वणिक् की भी यही दशा होती है। धनदेवकथानक में विष्णुदत्त ब्राह्मण द्वारा अपने छात्रों से जैन साधुओं को धूप में खड़े कर के कष्ट देने का उल्लेख है। डोड्ड की भाँति यहाँ वणिकों के लिये किराट शब्द का निर्देश है। धवलकथानक से पता चलता है कि जब जैन साधु विहार-चर्या से थक गये और वर्ष समाप्त होने पर भी अन्यत्र विहार करना उन्हें रुचिकर न हुआ तो उन्हें वसति देनेवाले श्रावकों का मन भी खट्टा हो गया। ऐसी हालत में साधु यदि कभी इधर-उधर विहार करके फिर से उसी वसति में ठहने की इच्छा करते तो श्रावक उन्हें वास-स्थान देने में संकोच करते थे। ऐसे समय साधुओं ने गृहस्थों को चैत्यालय निर्माण करने के लिये प्रेरित किया और इस प्रकार चैत्यों के निर्माण का कार्य शुरू हो गया। साधु लोग प्रायः कंठस्थ सूत्रपाठ द्वारा ही उपदेश देते थे, अभीतक सूत्र पुस्तकबद्ध नहीं हुए थे (न अज्जवि पुत्थगाणि होंति त्ति)। प्रद्युम्नराजकथानक में भैरवाचार्य और उसकी तपस्या का उल्लेख है। मुनिचन्द्रसाधुकथानक में गुरु-विरोधी साधु मुनिचन्द्र की कथा है जो अपने गुरु के उपदेश को शास्त्रविरोधी बताकर भक्तजनों को श्रद्धा से विमुख करता है। सुन्दरीदत्तकथानक में जोणीपाहुड़ का निर्देश है। यहाँ

गान्धर्व, नाट्य, अश्वशिक्षा आदि कलाओं के साथ धातुवाद और रसवाद की शिक्षा का भी उल्लेख किया गया है। इन दोनों को अर्थोपार्जन का साधन बताया है।[1]

---

१. जिनेश्वरसूरि के कथाकोषप्रकरण के सिवाय और भी कथाकोष प्राकृत में लिखे गये हैं। उत्तराध्ययन की टीका (सन् १०७३ में समाप्त) के कर्ता नेमिचन्द्रसूरि और वृत्तिकार आम्रदेवसूरि के आख्यानमणिकोश और गुणचन्द्र गणि के कहारयणकोस (सन् ११०१ में समाप्त) का विवेचन आगे चलकर किया गया है। इसके अतिरिक्त प्राकृत और संस्कृत के अनेक कथारत्नकोशों की रचना हुई—

१—धम्मकहाणयकोस प्राकृत कथाओं का कोश है। प्राकृत में ही इस पर वृत्ति है। मूल लेखक और वृत्तिकार का नाम अज्ञात है (जैन ग्रंथावलि, पृ० २६७)।

२—कथानककोश को धम्मकहाणयकोस भी कहा गया है। इसमें १४० गाथायें हैं। इसके कर्ता का नाम विनयचन्द्र है, इनका समय संवत् ११६६ (ईसवी सन् ११०९) है। इस ग्रंथ पर संस्कृत व्याख्या भी है। इसकी हस्तलिखित प्रति पाटन के भंडार में है।

३—कथावलि प्राकृत-कथाओं का एक विशाल ग्रंथ है जिसे भद्रेश्वर ने लिखा है। भद्रेश्वर का समय ईसवी सन् की ११वीं शताब्दी माना जाता है। इस ग्रन्थ में त्रिषष्टिशलाकापुरुषों का जीवनचरित संग्रहीत है। इसके सिवाय कालकाचार्य से लगाकर हरिभद्रसूरि तक के प्रमुख आचार्यों का जीवनचरित यहाँ वर्णित है। इसकी हस्तलिखित प्रति पाटण के भंडार में है।

४—जिनेश्वर ने भी २३९ गाथाओं में कथाकोश की रचना की। इसकी वृत्ति प्राकृत में है।

इसके अतिरिक्त शुभशील का कथाकोश (भद्रेश्वरबाहुबलिवृत्ति), श्रुतसागर का कथाकोश (व्रतकथाकोश), सोमचन्द्र का कथामहोदधि, उत्तमर्षि का कथारत्नाकरोद्धार, हेमविजयगणि का कथारत्नाकर, राजशेखर-मलधारि का कथासंग्रह (अथवा कथाकोश) आदि कितने ही कथाकोश संस्कृत में भी लिखे गये।

निर्वाणलीलावतीकथा

निर्वाणलीलावतीकथा जिनेश्वरसूरि की दूसरी कृति है। यह कथाग्रंथ आशापल्ली में संवत् १०८२ और १०९५ (सन् १०२५ और १०३८) के मध्य में प्राकृत पद्य में लिखा गया था। पदलालित्य, श्लेष और अलंकारों से यह विभूषित है। यह अनुपलब्ध है। इस ग्रंथ का संस्कृत श्लोकबद्ध भाषांतर जैसलमेर के भंडार में मिला है। इसमें अनेक संक्षिप्त कथाओं का संग्रह है। ये कथायें जीवों के जन्म-जन्मान्तरों से सम्बन्ध रखती हैं। अन्त में सिंहाराज और रानी लीलावती किसी आचार्य के उपदेश से प्रभावित होकर जैन दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं।

णाणपंचमीकहा (ज्ञानपंचमीकथा)

ज्ञानपंचमीकथा जैन महाराष्ट्री प्राकृत का एक सुन्दर कथाग्रंथ है जिसके कर्ता महेश्वरसूरि हैं।[1] इनका समय ईसवी सन् १०५२ से पूर्व ही माना जाता है। महेश्वरसूरि एक प्रतिभाशाली कवि थे जो संस्कृत और प्राकृत के पण्डित थे। इनकी कथा की वर्णनशैली सरल और भावयुक्त है। उनका कथन है कि अल्प बुद्धिवाले लोग संस्कृत कविता को नहीं समझते, इसलिए सर्वसुलभ प्राकृत-काव्य की रचना की जाती है। गूढार्थ और देशी शब्दों से रहित तथा सुललित पदों से ग्रथित और रम्य प्राकृत काव्य किसके मन को आनन्द प्रदान नहीं करता ?[2] ग्रन्थ की भाषा पर अर्धमागधी और कहीं अपभ्रंश का प्रभाव है; गाथाछंद का

---

१. डाक्टर अमृतलाल गोपाणी द्वारा सिंघी जैन ग्रंथमाला में सन् १९४९ में प्रकाशित।

२. सक्कयकव्वस्सत्थं जेण न जाणंति मंदबुद्धीया।
सव्वाण वि सुहबोहं तेण इमं पाइयं रइयं॥
गूढत्थदेसिरहियं सुललियवन्नेहिं गंथियं रम्मं।
पाइयकव्वं लोए कस्स न हिययं सुहावेइ॥

प्रयोग किया गया गया है। द्वीप, नगरी आदि का वर्णन आलंकारिक और श्लेषात्मक भाषा में है। जहाँ-तहाँ विविध सुभाषित और सदुक्तियों के प्रयोग दिखाई देते हैं।

इस कृति में दस कथायें हैं जो लगभग २,००० गाथाओं में गुंफित हैं। पहली कथा जयसेणकहा और अन्तिम कथा भविस्सयत्त कहा है; ये दोनों अन्य कथाओं की अपेक्षा लंबी हैं।[1] प्रत्येक कथा में ज्ञानपंचमी व्रत का माहात्म्य बताया गया है। ज्ञानप्राप्ति के एकमात्र साधन पुस्तकों की रक्षा को प्राचीन काल में अत्यन्त महत्त्व दिया जाता था। पुस्तक के पन्नों को शत्रु की भाँति खूब मजबूती से बाँधने का विधान है। हस्तलिखित प्रतियों में पाये जानेवाला निम्नलिखित श्लोक इस कथन का साक्षी है—

> अग्ने रक्षेज्जलाद्रक्षेन्मूषकेभ्यो विशेषतः।
> कष्टेन लिखितं शास्त्रं यत्नेन परिपालयेत्॥
> उदकानलचौरेभ्यो मूषकेभ्यो हुताशनात्।
> कष्टेन लिखितं शास्त्रं यत्नेन परिपालयेत्॥

—कष्टपूर्वक लिखे हुए शास्त्रों की बड़े यत्न से रक्षा करनी चाहिए, विशेषकर अग्नि, जल, चूहे और चोरों से उसे बचाना चाहिये।

इसलिए जैन आचार्यों ने कार्तिक शुक्ल पंचमी को ज्ञानपंचमी घोषित कर इस शुभ दिवस पर शास्त्रों के पूजन, अर्चन, संमार्जन, लेखन और लिखापन आदि का विधान किया है। सिद्धराज, कुमारपाल आदि राजा तथा वस्तुपाल और तेजपाल आदि मंत्रियों ने इस प्रकार के ज्ञानभंडारों की स्थापना कर पुण्यार्जन किया

---

१. इस आख्यान के आधार पर धनपाल ने अपभ्रंश में भविसत्तकहा नाम के एक सुन्दर प्रबंधकाव्य की रचना की है। इस कथानक का संस्कृत रूपान्तर मेघविजयगणि ने 'भविष्यदत्तचरित्र' नाम से किया है।

था। पाटण, जैसलमेर, खंभात, लिंबडी, जयपुर, ईडर आदि स्थानों में ये जैन भंडार स्थापित किए गये थे।

जयसेणकहा में स्त्रियों के प्रति सहानुभूतिसूचक सुभाषित कहे गये हैं—

वरि हलिओ वि हु भत्ता अनन्नभज्जो गुणेहि रहिओ वि।
मा सगुणो बहुभज्जो जइराया चक्कवट्टी वि॥

—अनेक पत्नीवाले सर्वगुणसम्पन्न चक्रवर्ती राजा की अपेक्षा गुणविहीन एक पत्नीवाला किसान कहीं श्रेष्ठ है।

वरि गब्भम्मि विलीणा वरि जाया कंत-पुत्त परिहीणा।
मा ससवत्ता महिला हविज्ज जम्मे वि जम्मे वि॥

—पति और पुत्ररहित स्त्री का गर्भ में नष्ट हो जाना अच्छा है, लेकिन जन्म-जन्म में सौतों का होना अच्छा नहीं।

संकरहरिबंभाणं गउरी-लच्छी जहेव बंभाणी।
तह जइ पइणो इट्ठा तो महिला इयरहा छेली॥

—जैसे गौरी शंकर को, लक्ष्मी विष्णु को, ब्राह्मणी ब्रह्मा को इष्ट है, वैसे ही यदि कोई पत्नी अपने पति को इष्ट है तो ही वह महिला है, नहीं तो उसे बकरी समझना चाहिए।

धन्ना ता महिलाओ जाणं पुरिसेसु कित्तिमो नेहो।
पाएण जओ पुरिसा महुयरसरिसा सहावेणं॥

—जिन स्त्रियों का पुरुषों के प्रति कृत्रिम स्नेह है उन्हें भी अपने को धन्य समझना चाहिये, क्योंकि पुरुषों का स्वभाव प्रायः भौंरों जैसा होता है।

उप्पण्णाए सोगो वड्ढंतीए य वड्ढए चिंता।
परिणीयाए उदन्तो जुवइपिया दुक्खिओ निच्चं॥

—उसके पैदा होने पर शोक होता है, बड़ी होने पर चिंता बढ़ती है, विवाह कर देने पर उसे कुछ न कुछ देते रहना पड़ता है, इस प्रकार युवती का पिता सदा दुखी रहता है।

अनेक कहावतें भी यहाँ कही गई हैं—

मरइ गुडेणं चिय तस्स विसं दिज्जए किं व।

—जो गुड़ देने से मर सकता है उसे विष देने की क्या आवश्यकता है ?

न हु पहि पक्का बोरी छुट्टइ लोयाण जा खज्जा।

—यदि रास्ते में पके हुए बेर दिखाई दें तो उन्हें कौन छोड़ देगा ?

हत्थठियं कंकणयं को भण जोएह आरिसए ?

—हाथ कंगन को आरसी क्या ?

जिसे सम्पत्ति का गर्व नहीं छूता, उसके सम्बन्ध में कहा है—

विहवेण जो न भुल्लइ जो न वियारं करेइ तारुन्ने।
सो देवाण वि पुज्जो किमंग पुण मणुयलोयस्स ॥

—जो संपत्ति पाकर भी अपने आपको नहीं भूलता और जिसे जवानी में विकार नहीं होता, वह मनुष्यों द्वारा ही नहीं, देवताओं द्वारा भी पूजनीय है।

कामक्रीड़ा के संबंध में एक उक्ति है—

केली हासुम्मीसो पंचपयारेहि संजुओ रम्मो।
सो खलु कामी भणिओ अन्नहो पुण रासहो कामो ॥

—केलि, हास्य आदि पाँच प्रकार से जो सुरत-क्रीडा की जाती है उसे कामक्रीडा कहते हैं, बाकी तो गर्दभ-क्रीडा समझनी चाहिये।

दरिद्रता की विडंबना देखिये—

गोट्ठी वि सुट्ठ मिट्ठा दालिद्दविडंबियाण लोएहिं।
वज्जिज्जइ दूरेणं सुसलिलचंडालकूवं व ॥

—जिसकी बात बहुत मधुर हो लेकिन जो दरिद्रता की विडंबना से ग्रस्त है, ऐसे पुरुष का लोग दूर से ही त्याग करते हैं; जैसे मिष्ट जलवाला चांडाल का कुआँ भी दूर से ही वर्जनीय होता है।

दुःखावस्था का प्रतिपादन करते हुए कहा है—

दुकलत्तं दालिद्दं वाही तह कन्नयाण बाहुल्लं।
पच्चक्खं नरयमिणं सत्थुवइट्ठं च वि परोक्खं ॥

—खोटी स्त्री, दारिद्रय, व्याधि और कन्याओं की बहुलता—इन्हें प्रत्यक्ष नरक ही समझना चाहिये, शास्त्रों का नरक तो केवल परोक्ष नरक है।

आशा के संबंध में कहा गया है—

आसा रक्खइ जीयं सुट्ठु वि दुहियाण एत्थ संसारे।
होइ निरासाण जओ तक्खणमित्तेण मरणं पि॥

—इस संसार में एक आशा ही दुखी जीवों के जीवन का साधन है। निराश हुए जीव तत्क्षण मरण को प्राप्त होते हैं।

कायर पुरुषों के संबंध में उक्ति है—

कागा कापुरिसा वि य इत्थीओ तह य गामकुक्कडया।
एगट्ठाणे वि ठिया मरणं पावेंति अइबहुहा॥[1]

—कौए, कापुरुष, स्त्रियाँ और गाँव के मुर्गे ये एक स्थान पर रहते हुए ही मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

आख्यानमणिकोश (अक्खाणमणिकोस)

आख्यानमणिकोश उत्तराध्ययनसूत्र पर सुखबोधा नाम की टीका (रचनाकाल विक्रम संवत् ११२९) के रचयिता नेमिचन्दसूरि की महत्वपूर्ण रचना है। प्राकृत कथाओं का यह कोष है। आम्रदेवसूरि (ईसवी सन् ११३४) ने इस पर टीका लिखी है।[2] इसमें ४१ अधिकार हैं, मूल और टीका दोनों प्राकृत पद्य में हैं; टीकाकार ने कहीं गद्य का भी उपयोग किया है। कुछ आख्यान अपभ्रंश में हैं, बीच-बीच में संस्कृत के पद्य मिलते हैं। टीकाकार ने प्राकृत और संस्कृत के अनेक श्लोक प्रमाणरूप में उद्धृत किये हैं जिससे लेखक के पांडित्य

---

१. मिलाइये—स्थानभ्रष्टाः न शोभन्ते काकाः कापुरुषाः नराः (हितोपदेश)।

२. यह ग्रन्थ मुनि पुण्यविजयजी द्वारा संपादित होकर प्राकृत जैन सोसायटी द्वारा प्रकाशित हो रहा है। प्रोफेसर दलसुख मालवणिया की कृपा से मुझे इसके कुछ मुद्रित फर्मे देखने को मिले हैं।

का पता लगता है। श्लेष आदि अलंकारों का यथेष्ट प्रयोग हुआ है।

चतुर्विधबुद्धिवर्णन नामक अधिकार में भरत, नैमित्तिक और अभय के आख्यानों का वर्णन है। दानस्वरूपवर्णन-अधिकार में धन, कृतपुण्य, द्रोण आदि तथा शालिभद्र, चक्रचर, चन्दना, मूलदेव और नागश्री ब्राह्मणी के आख्यान हैं। चन्दना का आख्यान महावीरचरिय से टीकाकार ने उद्धृत किया है। शीलमाहात्म्यवर्णन-अधिकार में दवदन्ती (दमयन्ती), सीता, रोहिणी और सुभद्रा; तपोमाहात्म्यवर्णन-अधिकार में वीरचरित, विसल्ला, शौर्य और रुक्मिणीमधु; तथा भावनास्वरूपवर्णन-अधिकार में द्रमक, भरत और इलापुत्र के आख्यान हैं। भरत का आख्यान अपभ्रंश में है। सम्यक्त्ववर्णनाधिकार में सुलसा तथा जिनबिंबदर्शनफलाधिकार में सेज्जंभव और आर्द्रककुमार के आख्यान हैं। जिनपूजाफलवर्णनअधिकार में दीपकशिखा, नवपुष्पक और पद्मोत्तर, तथा जिनवंदनफलाधिकार में बकुल और सेदुबक, तथा साधुवन्दनफलवर्णनअधिकार में हरि की कथायें हैं। सामायिकफलवर्णनअधिकार में जैनधर्म के प्रभावक सम्प्रति राजा तथा जिनागमश्रवणफलाधिकार में चिलातीपुत्र और रोहिणेय नामक चोरों के आख्यान हैं। नमस्कारपरावर्त्तनफल-अधिकार में गो, पड्डुक (भैंसा), फणी (सर्प), सोमप्रभ और सुदर्शना के आख्यान हैं। सोमप्रभ का आख्यान अपभ्रंश में है। सुदर्शना-आख्यान में स्त्रियों को अयश का निवास आदि विशेषणों से उल्लिखित किया है। इन्द्रमहोत्सव का उल्लेख है। स्वाध्याय-अधिकार में यव, तथा नियमविधानफलाधिकार में दामन्नक, ब्राह्मणी, चंडचूडा, गिरिडुम्ब और राजहंस के आख्यान हैं। ब्राह्मणी-आख्यान में रात्रिभोजन-त्याग का उपदेश देते हुए रात्रि की परिभाषा दी है—

दिवसस्याष्टमे भागे मन्दीभूते दिवाकरे।
नक्तं तद् विजानीहि न भक्तं निशि भोजने ॥

—दिन के आठवें भाग में जब सूर्य मन्द पड़ जाये तो उसे रात्रि समझना चाहिये। रात्रि में भोजन करना वर्जित है।

चण्डचूडाख्यान गद्य में है। राजहंस-आख्यान में कवडिजक्ख का उल्लेख है। राजहंस-आख्यान में उज्जैनी नगरी के महाकाल मंदिर का उल्लेख है। मिथ्यादुष्कृतदानफलाधिकार में क्षपक, चंडरुद्र, प्रसन्नचन्द्र, तथा विनयफलवर्णनअधिकार में चित्रप्रिय और वनवासि यक्ष के आख्यान हैं। प्रवचनोन्नति-अधिकार में विष्णुकुमार, वैरस्वामी, सिद्धसेन, मल्लवादी समित और आर्यखपुट नामक आख्यान दिये हैं। सिद्धसेन-आख्यान में अवन्ती के कुडंगेसरदेव के मठ का उल्लेख है। आर्यखपुट-आख्यान में वडडकर यक्ष और चामुण्डा का नाम आता है। जिनधर्माराधनोपदेश-अधिकार में योत्कारमित्र, नरजन्मरक्षाधिकार में वणिक्पुत्रत्रय, तथा उत्तमजनसंसर्गिगुणवर्णन-अधिकार में प्रभाकर, वरशुक और कंबल-सबल के अख्यान हैं। प्रभाकर अख्यान में धन-अर्जन को मुख्य बताया है—

बुभुक्षितैर्व्याकरणं न भुज्यते पिपासितैः काव्यरसो न पीयते।
न च्छन्दसा केनचिदुद्धृतं कुलं हिरण्यमेवार्जय निष्फलाः कलाः॥[1]

—भूखे लोगों के द्वारा व्याकरण का भक्षण नहीं किया जाता, प्यासों के द्वारा काव्यरस का पान नहीं किया जाता, छन्द से कुल का उद्धार नहीं किया जाता, अतएव हिरण्य का ही उपार्जन करो, क्योंकि उसके बिना समस्त कलायें निष्फल हैं।

इन्द्रियवशवर्तिप्राणिदुखवर्णन के अधिकार में उपकोशा के घर आये हुये तपस्वी, भद्र, नृपसुत, नारद और सुकुमालिका के आख्यान हैं। व्यसनशतजनकयुवतीअविश्वासवर्णन-अधिकार

१. यह श्लोक क्षेमेन्द्र की औचित्यविचारचर्चा (काव्यमाला प्रथम गुच्छक (पृ० १५०) में माघ के नाम से दिया है लेकिन माघ के शिशुपालवध में यह नहीं मिलता।

में नूपुर पंडित, दत्तकदुहिता और भावट्टिका के आख्यान हैं। भावट्टिका-आख्यान परियों की कथा की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व का है। इसके कुछ भाग की तुलना अरेबियन नाइट्स से की जा सकती है। इस आख्यान के अन्तर्गत विक्रमादित्य के आख्यान में भैरवानन्द का वर्णन है। उसने प्रेतवन में पहुँचकर मन्त्रमण्डल लिखा। यहाँ पर डाकिनियों का वर्णन किया गया है। रागादिअनर्थपरंपरावर्णन के अधिकार में वणिक्पत्नी, नाविकनन्दा, चण्डभद्र, चित्रसम्भूत, मायादित्य, लोभनन्दी और नकुलवाणिज्य नाम के आख्यान हैं। जीवदयागुणवर्णन के अधिकार में श्राद्धसुत, गुणमती और मेघकुमार, तथा धर्मप्रियत्वादिगुणवर्णन-अधिकार में कामदेव और सागरचन्द्र के आख्यान हैं। धर्ममर्मज्ञजन-प्रबोधगुणवर्णन-अधिकार में पादावलंब, रत्नत्रिकोटी और मांसक्रय के आख्यान हैं। भावशल्यअनालोचनदोष-अधिकार में मातृसुत, मरुक ऋषिदत्त और मत्स्यमल्ल की कथायें वर्णित हैं।

कुछ सुभाषित देखिये—

थेवं थेवं धम्मं करेह जइ ता बहुं न सक्केह।
पेच्छह महानईओ बिंदूहि समुद्दभूयाओ॥

—यदि बहुत धर्म नहीं कर सकते हो तो थोड़ा-थोड़ा करो। महानदियों को देखो, बूँद-बूँद से समुद्र बन जाता है।

उप्पयउ गयणमग्गे रुंजउ कसिणत्तणं पयासेउ।
तह वि हु गोब्बरईडो न पायए भमरचरियाइं॥

—गोबर का कीड़ा चाहे आकाश में उड़े, चाहे गुंजार करे, चाहे वह अपने कृष्णत्व को प्रकाशित करे, लेकिन वह कभी भी भ्रमर के चरित्र को प्राप्त नहीं कर सकता।

चीनांशुक और पट्टांशुक की भाँति जद्दर[1] भी एक प्रकार का वस्त्र था। दद्दर (झीना, दादर—गुजराती में), तेल्लटिल्ल (?),

---

1. जरी के बेल-बूटों वाला वस्त्र। शालिभद्रसूरि (१२वीं शताब्दी) ने बाहुबलिरास में जादर का प्रयोग किया है। वैसे चादर शब्द फारसी का कहा जाता है।

भरवस (भरोसा), ढयर (पिशाच) आदि अनेक देशी शब्दों का यहाँ प्रयोग हुआ है। बीच-बीच में कहावतें भी मिल जाती हैं। जैसे हत्थत्थकंकणाणं किं कज्जं दप्पणेणऽहवा (हाथ कंगन को आरसी क्या ?), किं छालीए मुहे कुंभंडं माइ ? (क्या बकरी के मुंह में कुम्हडा समा सकता है ?) आदि।

कहारयणकोस (कथारत्नकोश)

कथारत्नकोश के कर्ता गुणचन्द्रगणि देवभद्रसूरि के नाम से भी प्रख्यात हैं। ये नवांगवृत्तिकार अभयदेवसूरि के शिष्य प्रसन्नचन्द्रसूरि के सेवक और सुमतिवाचक के शिष्य थे। कथा-रत्नकोश (सन् ११०१ में लिखित) गुणचन्द्रगणि की महत्त्वपूर्ण रचना है जिसमें अनेक लौकिक कथाओं का संग्रह है।[1] इसके अतिरिक्त इन्होंने पासनाहचरिय, महावीरचरिय, अनंतनाथ स्तोत्र, वीतरागस्तव, प्रमाणप्रकाश आदि ग्रंथों की रचना की है। कथारत्नकोश में ५० कथानक हैं जो गद्य और पद्य में अलंकारप्रधान प्राकृत भाषा में लिखे गये हैं। संस्कृत और अपभ्रंश का भी उपयोग किया है। ये कथानक अपूर्व हैं जो अन्यत्र प्रायः कम ही देखने में आते हैं। यहाँ उपवन, ऋतु, रात्रि, युद्ध, श्मशान आदि के काव्यमय भाषा में सुन्दर चित्रण हैं। प्रसंगवश अतिथिसत्कार, छींक का विचार, राजलक्षण, सामुद्रिक, रत्नपरीक्षा आदि का विवेचन किया गया है। गरुडो-पपात नामक जैन सूत्र का यहाँ उल्लेख है जो आजकल विलुप्त हो गया है। सिद्धांत के रहस्य को गोपनीय कहा है। कच्चे घड़े में रक्खे हुए जल से इसकी उपमा दी है और बताया गया है कि योग्यायोग्य का विचार करके ही धर्म का रहस्य प्रकाशित करना चाहिये—

आमे घड़े निहित्तं जहा जलं तं घडं विणासेइ।
इय सिद्धंतरहस्सं अप्पाहारं विणासेइ॥

---

१. आत्मानंद जैन ग्रंथमाला में मुनि पुण्यविजय जी द्वारा सम्पादित, सन् १९४४ में प्रकाशित।

जोग्गाजोग्गमबुज्झिय धम्मरहस्सं कहेइ जो मूढो।
संघस्स पवयणस्स य धम्मस्स य पच्चणीओ सो॥

नागदत्त के कथानक में कलिंजर पर्वत के शिखर पर स्थित कुलदेवता की पूजा का उल्लेख है। देवता की मूर्त्ति काष्ठनिर्मित थी। कुल परंपरा से इसकी पूजा चली आती थी। नागदत्त ने कुश के आसन पर बैठकर पाँच दिन तक निराहार रह कर इसकी उपासना आरंभ की। कुबेरयक्ष नामक कुलदेव की भी लोग उपासना किया करते थे। गंगवसुमति की कथा में उड्डियायण देश (स्वात) का उल्लेख है। सर्प के विष का नाश करने के लिये आठ नागकुलों की उपासना की जाती थी। कृष्ण चतुर्दशी के दिन श्मशान में अकेले बैठ मंत्र का १००८ बार जाप करने से यह विद्या सिद्ध होती थी। चूडामणिशास्त्र का उल्लेख है। इसकी सामर्थ्य से तीनों कालों का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता था। शंखकथानक में जोगानंद नाम के नैमित्तिक का उल्लेख है जो वसंतपुर से कांचीपुर के लिये प्रस्थान कर रहा था। राजा को उसने बताया कि आगामी अष्टमी के दिन सूर्य का सर्वग्रास ग्रहण होगा जिसका अर्थ था कि राजा की मृत्यु हो जायेगी। आगे चलकर पर्वत-यात्रा का उल्लेख है। लोग चर्चरी, प्रगीत आदि क्रीडा करते हुए पर्वत-यात्रा के लिये प्रस्थान करते थे। कलिंगदेश में कालसेन नाम का परिव्राजक रहता था। लिंगलक्ष नाम के यक्ष को उसने अपने वश में कर रक्खा था और त्रिलोक पैशाचिक विद्या का साधन किया था। रुद्रसूरिकथा में पाटलिपुत्र के श्रमणसंघ द्वारा राजगृह में स्थित रुद्रसूरि नामक आचार्य को एक आदेश-पत्र भेजे जाने का उल्लेख है। इस पत्र में षड्दर्शन का खंडन करनेवाले विदुर नामक विद्वान् के साथ शास्त्रार्थ करने के लिये रुद्रसूरि को पाटलिपुत्र में बुलाया गया था। पत्र पढ़कर रुद्रसूरि ने उसे शिरोधार्य किया और तत्काल ही वे पाटलिपुत्र के लिये रवाना हो गये। भवदेवकथानक में

पताका, कमल आदि राज-लक्षणों का प्रतिपादन है। ब्राह्मण लोग सामुद्रिक शास्त्र के पंडित होते थे। धनसाधु के कथानक में वइरागर (वज्राकर) नाम के देश का उल्लेख है। दिवाकर नाम का कोई जोगी खन्यविद्या में विचक्षण था। अपनी विद्या के बल से वह ज़मीन में गड़े हुए धन का पता लगा लेता था। इसके लिये मंडल बना कर, देवता की पूजा कर मंत्र का स्मरण किया जाता था। श्रीपर्वत पर ध्यान में लीन रहनेवाले एक महामुनि से उसने इस विद्या का उपदेश ग्रहण किया था। कात्यायनी देवी को सर्वसंपत्तिदायिनी माना गया है। मणिशास्त्र के अनुसार रत्नों के लक्षण प्रतिपादित किये गयेहैं। सामुद्रशास्त्र से भी श्लोक उद्धृत किये हैं। अचलकथा में हाथियों में फैलनेवाली महाव्याधि का उल्लेख है। ऐसे प्रसंगों पर विशेष देवताओं की पूजा-अर्चना की जाती, लक्ष होम किये जाते, नवग्रहों की पूजा की जाती और पुरोहित लोग शान्तिकर्म में लीन रहते। देवनृपकथानक में पंचमंगलश्रुतस्कंध का उल्लेख मिलता है। विजयकथानक में चैत्य पर ध्वजारोपण-विधि बताई गई है। कीड़ों से नहीं खाये हुए सुन्दर पर्व वाले बांस को मंगवाकर, प्रतिमा को स्नान कराकर, चारों दिशाओं में भूशुद्धि कर, दिशा के देवताओं का आह्वान कर बांस का विलेपन किया जाता, फिर कुसुम आदि का आरोपण किया जाता, धूप की गंध दी जाती और उस पर श्वेत ध्वजा आरोपित की जाती। जोगंधर नाम के सिद्ध के पास अदृश्य अंजन था जिसे लगाकर वह स्वेच्छापूर्वक विहार किया करता था। कामरूप (आसाम) में आकृष्टि, दृष्टिमोहन, वशीकरण, और उच्चाटन में प्रवीण तथा योगशास्त्र में कुशल बल नाम का सिद्ध रहता था। वह गहन गिरि, श्मशान, आश्रम आदि में परिभ्रमण करता फिरता था। चक्रधर नाम के धातुसिद्ध का उल्लेख है। यहाँ वेद के अपौरुषेयत्ववाद का निरसन किया गया है। पद्मश्रेष्ठिकथानक में आवश्यकचूर्णि का उल्लेख है। वैदिक लोग यज्ञ में बकरों

का वध करने से, सौगत करुणावृत्ति से, शैवमतानुयायी दीक्षा से, स्नातक स्नान से और कपिल मतानुयायी तत्वज्ञान से मुक्ति स्वीकार करते थे, जैन शासन में रत्नत्रय से मुक्ति स्वीकार की गई है। शिव, ब्रह्मा, कृष्ण, बौद्ध और जैनमत के अनुयायी अपने-अपने देवों का वर्णन करते हैं। जिनबिंबप्रतिष्ठा की विधि बताई गई है। इस विधि में अनेक फल और पकवान वगैरह जिनेन्द्र की प्रतिमा के सामने रक्खे जाते और घृत-गुड़ का दीपक जलाया जाता। अर्थहीन पुरुष की दशा का मार्मिक चित्रण देखिये—

परिगलइ मई मइलिज्जई जसो नाऽदरंति सयणा वि।
आलस्सं च पयट्टइ विप्फुरइ मणम्मि रणरणओ॥
उच्छरइ अणुच्छाहो पसरइ सव्वंगिओ महादाहो।
किं किं व न होइ दुहं अत्थविहीणस्स पुरिसस्स॥[1]

—धन के अभाव में मति भ्रष्ट हो जाती है, यश मलिन हो जाता है, स्वजन भी आदर नहीं करते, आलस्य आने लगता है, मन उद्विग्न हो जाता है, काम में उत्साह नहीं रहता, समस्त अंग में महा दाह उत्पन्न हो जाता है। अर्थविहीन पुरुष को कौन-सा दुख नहीं होता ?

वाममार्ग में निपुण जोगंधर का वर्णन है। मृतकसाधन मंत्र उसे सिद्ध था। लोग वटवासिनी भगवती की पूजा-उपासना किया करते थे। अनशन आदि से उसे प्रसन्न किया जाता था। उसे कटपूतना, मृतक को चाहनेवाली और डाइन

---

१. तुलना कीजिये मृच्छकटिक (१-३७) के निम्न श्लोक से जिसमें निर्धनता को छठा महापातक बताया है—

संगं नैव हि कश्चिदस्य कुरुते संभाषते नादरा-।
त्संप्राप्तो गृहमुत्सवेषु धनिनां सावज्ञमालोक्यते॥
दूरादेव महाजनस्य विहरत्यल्पच्छदो लज्जया।
मन्ये निर्धनता प्रकाममपरं षष्ठं महापातकम्॥

आदि नामों से भी उल्लिखित किया जाता था। आगे चलकर जिनपूजा की विधि बताई गयी है। आदर सत्कार करने के लिये तांबूल देने का रिवाज था। श्रीगुप्तकथानक में कुशलसिद्धि नामक मंत्रवादी का उल्लेख है। राजा के समक्ष उपस्थित होकर उसने परविद्या का छेदकारी मंत्र पढ़कर चारों दिशाओं में चावल फेंके। सुजयराजर्षिकथानक में नाना देशों में भ्रमण करनेवाले, विविध भाषाओं के पंडित, तथा मंत्र-तंत्र में निपुण-ज्ञानकरंड नाम के कापालिक मुनि का उल्लेख है। राजसभा में उपस्थित होकर उसने राजपुत्र को आशीर्वाद दिया कि पातालकन्या के तुम नाथ बनो। विंध्यगिरि के पास यक्षभवन में पहुँच कर उसने पास के गोकुल में से चार बकरे मँगवाये, उन्हें स्नान कराया, उन पर चंदन के छींटे दिये, तत्पश्चात् मंत्र-सिद्धि के लिये उनका वध किया। चंडिका को प्रसन्न करने के लिये पुरुषों को स्नान करा और उन्हें श्वेत वस्त्र पहना उनकी बलि दी जाती थी। नावों द्वारा परदेश की यात्रा करते समय जब जलवासी तिंमिंगल आदि दुष्ट जन्तु जल में से ऊपर उछल-कर आते तो उन्हें भगाने के लिये वाद्य वगैरह बजाये जाते और अग्नि को प्रज्वलित किया जाता था, फिर भी मगर-मच्छ नाव को उलट ही दिया करते थे।[1] समुद्र तट पर इलायची, लौंग, नारियल, केला, कटहल आदि फलों के पाये जाने का उल्लेख है। पन्नतिनामक महाविद्या देवता का उल्लेख है। विमल-उपाख्यान में आवश्यकनिर्युक्ति से प्रमाण उद्धृत किया है। नारायणकथानक में यज्ञ में पशुमेध का उल्लेख है। हस्ति-तापसों का वर्णन है। अमरदत्त कथानक में सुगतशास्त्र का उल्लेख है। यहाँ सुश्रूषा का माहात्म्य बताया गया है। दशबल-

---

१. ईसवी सन् के पूर्व दूसरी शताब्दी में भरहुत कला में एक नाव का चित्रण मिलता है जिस पर तिंमिंगल ने धावा बोल दिया है। चित्र में नाव से नीचे गिरते हुए यात्रियों को वह निगल रहा है। देखिये डॉक्टर मोतीचन्द, सार्थवाह, आकृति ९।

मार्ग (बौद्धमार्ग) का उल्लेख है। धर्मदेवकथानक में सिंहलदेश और केरल देश का उल्लेख है। विजयदेव कथानक में रत्न के व्यापारियों का वर्णन है। सुदत्तकथानक में गृहकलह का बड़ा स्वाभाविक चित्रण किया गया है—

कोई बहू कुँए से जल भर कर ला रही थी, उसका घड़ा फूट गया। यह देखकर उसकी सास ने गुस्से में उसे एक तमाचा जड़ दिया। बहू की लड़की ने जब यह देखा तो उसने अपनी दादी के गले में से नौ लड़ियों का हार तोड़कर गिरा दिया। बहू की ननद अपनी मां का यह अपमान देखकर मूसल हाथ में उठाकर अपनी भतीजी को मारने दौड़ी जिससे उसका सिर फट गया और उसमें से लहू बहने लगा। यह देखकर बहू भी अपनी ननद को मूसल से मारने लगी। इस प्रकार प्रतिदिन किसी न किसी बात पर सारे घर में कलह मचा रहता और घर का मालिक लज्जावश किसी से कुछ नहीं कह सकता था।

एक दूसरी कथा सुनिये—

किसी ब्राह्मण के चार पुत्र थे। जब ब्राह्मण की जीविका का कोई उपाय न रहा तो उसने अपने पुत्रों को बुलाकर सब बात कही। यह सुनकर चारों पुत्र धन कमाने चल दिये। पहला पुत्र अपने चाचा के यहाँ गया। पूछने पर उसने कहा कि पिता जी ने अपना हिस्सा माँगने के लिये मुझे आपके पास भेजा है। यह सुनकर चाचा अपने भतीजे को भला-बुरा कहने लगा, और गुस्से में आकर चाचा ने उसका सिर फोड़ दिया। मुकदमा राजकुल में पहुँचा। चाचा ने किसी तरह ५०० द्रम्म देकर अपना पिंड छुड़ाया। लड़के ने यह रुपया अपने पिता को ले जाकर दे दिया। दूसरा पुत्र त्रिपुंड आदि लगाकर किसी योगाचार्य के पास गया और रौब में आकर उसे डाटने-फटकारने लगा। योगाचार्य डर कर उसके पैरों में गिर पड़ा और उसने उसे बहुत सा सोना दान में दिया। तीसरे पुत्र ने धातुविद्या सीख ली और अपनी विद्या से वह लोगों को ठगने लगा। उसने किसी

बनिये से दोस्ती कर ली। अपनी विद्या के बल से वह एक माशा सोने का दो माशा सोना बना देता था। एक बार बनिये ने लोभ में आकर उसे बहुत सा सोना दे दिया, और वह लेकर चंपत हो गया। चौथा पुत्र प्रचुर रिद्धिधारी किसी लिंगी का शिष्य बन गया और उसकी सेवा करने लगा। एक दिन आधी रात के समय वह उसका सब धन लेकर चंपत हुआ।

राजपुत्रकथानक में महामल्लों के युद्ध का वर्णन है। भवदेव-कथानक में भवदेव नाम के वणिक्पुत्र की कथा है। एक बार कुछ महाजन राजा के दर्शन करने गये। राजा ने कुशलपूर्वक प्रश्न किया—नगरी में चोरों का उपद्रव तो नहीं है? उच्छृङ्खल दुष्ट लोग तो परेशान नहीं करते? लाँच लेनेवाले तो आप लोगों को कष्ट नहीं देते? एक महाजन ने उत्तर दिया—देव! आपके प्रताप से सब कुशल है, केवल चोरों का उपद्रव बढ़ रहा है। सुजस श्रेष्ठि और उसके पुत्रों के कथानक में सुजस श्रेष्ठि के पाँच पुत्रों की कथा दी है। कोई खराब काम करने पर पिता यदि पुत्रों को डाटता-डपटता तो उनकी माँ को बहुत बुरा लगता। यह देखकर पिता ने पुत्रों को बिलकुल कुछ कहना ही बंद कर दिया। परिणाम यह हुआ कि वे पाँचों बुरी संगत में पड़कर बिगड़ गये और अपनी माँ की भी अवहेलना करने लगे। धनपाल और बालचन्द्र के कथानक में मुकुंदमंदिर का उल्लेख है। वृद्ध विलासिनियाँ अनाथ बालिकाओं को फँसा कर उनसे वेश्यावृत्ति कराने के लिये उन्हें गीत, नृत्य आदि की शिक्षा देती थीं। भरतनृपकथानक में श्रीपर्वत का उल्लेख है, यहाँ एक गुटिकासिद्ध पुरुष रहा करता था। यहाँ पाराशर की कथा दी है। प्रयाग और पुष्कर तीर्थों का उल्लेख है।

दूसरे अधिकार में श्रावकों के १२ व्रतों की कथायें हैं। व्यापारी ऊँटों पर माल लाद कर ले जाया करते थे। प्रश्नोत्तर गोष्ठी देखिये—

प्रश्न—(१) पापं पृच्छति? विरतौ को धातुः? कीदृशः कृतकपक्षी? उत्कंठयन्ति के वा विलसन्तो विरहिणीहृदयम्?

उत्तर—मलयमरुतः (मल, यम्, अरुतः, मलयमरुतः)

पाप को कौन पूछता है ? (मल), विरति में कौन सी धातु है ? (यम्), कृतक पक्षी कैसा होता है ? (अरुतः अर्थात् शब्द रहित), विरहिणी के हृदय को कौन उत्कंठित करता है ? (मलय का वायु)।

प्रश्न—(२) के मणहरं पि पुरिसं लहुइंति ? विणासई य को जीवं ? उल्लसियपहाजालो को वा नंदेइ घूयकुलं ?

उत्तर—दोषाकरः (दोषाः, गरं दोषाकरः)

—सुन्दर पुरुष को भी कौन छोटा बना देता है ? (दोष), जीव का नाश कौन करता है (गर=विष), उल्लुओं को कौन आनन्द देता है ? (दोषाकर=चन्द्रमा)।

प्रश्न—(३) किं संखा पंडुसुया ? नमणे सद्देण य को ? कहं बंभो। संबोहिज्जइ ? को भूसुओ य ? को पवयणपहाणो ?

उत्तर—पंचनमोकारो (पंच, नमो, हे क !, आरो, पंचनमोकारो)

—पांडुपुत्रों की कितनी संख्या है ? (पंच=पाँच), नमन में कौन सा शब्द है (नमो अव्यय), ब्रह्म को कैसे संबोधन किया जाता है ? (हे क !=हे ब्रह्मन्) भू का पुत्र कौन है ? (आर=मंगलग्रह), प्रवचन में सब से मुख्य क्या है ? (पंचनमोकार नामक मंत्र)।

मेघश्रेष्ठिकथानक में १५ कर्मादानों का वर्णन है। प्रभाचन्द्रकथानक में अपभ्रंश में युद्ध का वर्णन है।

कालिकायरियकहाणय (कालिकाचार्यकथानक)

कालिकाचार्य के संबंध में प्राकृत और संस्कृत में अनेक कथानक लिखे गये हैं। प्राकृतकथानक-लेखकों में देवचन्द्रसूरि, मलधारी हेमचन्द्र, भद्रेश्वरसूरि, धर्मघोषसूरि, भावदेवसूरि,

धर्मप्रभसूरि आदि आचार्यों के नाम मुख्य हैं।[1] कालिकाचार्य की कथा निशीथचूर्णि, बृहत्कल्पभाष्य और आवश्यकचूर्णि आदि प्राचीन ग्रन्थों में मिलती है। देवेन्द्रसूरि ने स्थानकप्रकरण-वृत्ति अथवा मूलशुद्धिटीका के अन्तर्गत कालिकाचार्य की कथा विक्रम संवत् ११४६ (सन् १०८९) में लिखी है। यह कथा कालिकाचार्य पर लिखी गई अन्य कथाओं की अपेक्षा बड़ी और प्राचीन है तथा अन्य ग्रंथकारों ने इसे आदर्शरूप में स्वीकार किया है। देवचन्द्र कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य के गुरु थे। राजा सिद्धराज जयसिंह के राज्यकाल में उन्होंने प्राकृत गद्य-पद्य में शांतिनाथचरित की रचना की थी।

देवचन्द्रसूरि की कालिकाचार्य कथा गद्य और पद्य दोनों में लिखी गई है, कहीं अपभ्रंश के पद्य भी हैं। धरावास नगर में वइरसिंह नामक राजा राज्य करता था, उसकी रानी सुरसुंदरी से कालक उत्पन्न हुए। बड़े होने पर एक बार वे अश्वक्रीडा के लिये गये हुए थे। उन्होंने गुणाकरसूरि मुनि का उपदेश सुना और माता-पिता की अनुज्ञा से श्रमणधर्म में दीक्षा ले ली। कालक्रम से गीतार्थ हो जाने पर उन्हें आचार्य पद पर स्थापित किया गया, और वे साधुसंघ के साथ विहार करते हुए उज्जैनी आये। उस समय वहाँ कुछ साध्वियाँ भी आई हुई थीं, उनमें कालक की छोटी भगिनी सरस्वती भी थी। उज्जैनी के राजा गर्दभिल्ल

---

१. यह जेड० डी० एम० जी० (जर्मन प्राच्य विद्यसमिति की पत्रिका) के ३४वें खण्ड में २४७वें पृष्ठ, ३५वें खंड में ६७५ तथा ३७वें खंड में ४९३ पृष्ठ से छपा है। कालिकाचार्य-कथासंग्रह अंबालाल प्रेमचन्द शाह द्वारा संपादित सन् १९४९ में अहमदाबाद से प्रकाशित हुआ है। इसमें प्राकृत और संस्कृत की कालिकाचार्य के ऊपर भिन्न-भिन्न लेखकों द्वारा लिखी हुई ३० कथाओं का संग्रह है। तथा देखिये उमाकान्त शाह, सुवर्णभूमि में कालकाचार्य; डब्ल्यू. नॉर्मन ब्राउन, स्टोरी ऑव कालक; मुनि कल्याणविजय, प्रभावकचरित की प्रस्तावना; द्विवेदी अभिनन्दनग्रंथ, नागरीप्रचारिणी सभा काशी, वि० सं० १९९०।

की उस पर दृष्टि पड़ गई और उसने सरस्वती को अपने अंतःपुर में मँगवा लिया। कालकाचार्य ने राजा गर्दभिल्ल को बहुत समझाया कि इस तरह का दुष्कृत्य उसके लिये शोभनीय नहीं है, लेकिन उसने एक न सुनी। उसके बाद कालकाचार्य ने चतुर्विध संघ को राजा को समझाने के लिये भेजा, लेकिन उसका भी कोई असर न हुआ। यह देखकर कालकाचार्य को बहुत क्रोध आया, और उन्होंने प्रतिज्ञा की—

जे संघपच्चणीया पवयणउवघायगा नरा जे य।
संजमउवघायपरा, तदुविक्खाकारिणो जे य॥
तेसिं वच्चामि गइं, जइ एयं गद्दभिल्लरायाणं।
उम्मूलेमि ण सहसा, रज्जाओ भट्ठमज्जायं॥

कायव्वं च एयं, जओ भणियमागमे—

तम्हा सइ सामत्थे, आणाभट्ठम्मि नो खलु उवेहा।
अणुकूले अरएहिं य, अणुसट्ठी होइ दायव्वा॥
साहूण चेइयाण य, पडिणीयं तह अवण्णवाइं च।
जिणपवयणस्स अहियं, सव्वत्थामेण वारेइ॥

—मैं भ्रष्ट मर्यादावाले इस गर्दभिल्ल राजा को इसके राज्य से भ्रष्ट न कर दूँ तो मैं संघ के शत्रु, प्रवचन के घातक, संयम के विनाशक और उसकी उपेक्षा करनेवालों की गति को प्राप्त होऊँ।

और ऐसा करना भी चाहिये, जैसा कि आगम में कहा है—

सामर्थ्य होने पर आज्ञाभ्रष्ट लोगों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये, प्रतिकूलगामी लोगों को शिक्षा अवश्य देनी चाहिये। साधुओं और चैत्यों और खास करके जिनप्रवचन के शत्रुओं तथा अवर्णवादियों को पूरी शक्ति लगाकर रोकना चाहिये।

कालिकाचार्य शककूल (पारस की खाड़ी=पर्शिया) पहुँचे और वहाँ से ७५ शाहों को लेकर जहाज द्वारा सौराष्ट्रदेश में उतरे। वर्षाऋतु बीतने पर लाटदेश के राजाओं को साथ लेकर उन्होंने उज्जैनी पर चढ़ाई कर दी। उधर से गर्दभिल्ल भी अपनी सेना लेकर लड़ाई के मैदान में आ गया। राजा गर्दभिल्ल ने

गर्दभी विद्या सिद्ध की थी। इस गर्दभी का शब्द सुन कर शत्रुसेना के सैनिकों के मुँह से रक्त बहने लगता और वे तुरत ही भूमि पर गिर पड़ते। कालकाचार्य के कहने पर शाहों की सेना ने गर्दभी का मुँह खुलने से पहले ही उसे अपने बाणों की बौछार से भर दिया जिससे वह गर्दभी आहत होकर वहाँ से भाग गई। राजा गर्दभिल्ल गिरफ्तार कर लिया गया। आचार्य कालक ने उसे बहुत धिक्कारा और उसे देश से निर्वासित कर दिया। शककूल से आने के कारण ये शाह लोग शक कहलाये और इनसे शकवंश की उत्पत्ति हुई। आगे चलकर मालव के राजा विक्रमादित्य ने शकों का उन्मूलन कर अपना राज्य स्थापित किया। विक्रम संवत् इसी समय से आरंभ हुआ। उधर आलोचना और प्रतिक्रमणपूर्वक कालिकाचार्य ने अपनी भगिनी को पुनः संयम में दीक्षित किया।

कथा के दूसरे भाग में कालिकाचार्य बलमित्र और भानुमित्र नाम के अपने भानजों के आग्रह पर भरुयकच्छ (भड़ौंच) की ओर प्रस्थान करते हैं। वहाँ उन्होंने बलभानु को दीक्षित किया। राजा का पुरोहित यह देखकर उनसे अप्रसन्न हुआ और उसके कपटजाल के कारण कालिकाचार्य को विना पर्यूषण किये ही भड़ौंच से चले आना पड़ा।

तीसरे भाग में आचार्य प्रतिष्ठान (आधुनिक पैठन, महाराष्ट्र में) की ओर गमन करते हैं। वहाँ सातवाहन नाम का परम श्रावक राजा राज्य करता था। कालिकाचार्य का आगमन सुनकर उसने आचार्य की वंदना की, आचार्य ने उसे धर्मलाभ दिया। महाराष्ट्र में भाद्रपद सुदी पंचमी के दिन इन्द्र महोत्सव मनाया जाता था, इसलिये राजा सातवाहन ने भाद्रपद सुदी पंचमी की बजाय भाद्रपद सुदी छठ को पर्यूषण मनाये जाने के लिये कालिकाचार्य से अनुरोध किया। लेकिन आचार्य ने उत्तर में कहा—"मेरु का शिखर भले ही चलायमान हो जाये, सूर्य भले ही किसी और दिशा से उगने लगे, लेकिन पंचमी की रात्रि को

उल्लङ्घन करके पर्यूषण कभी नहीं मनाया जा सकता।" इस पर राजा ने भाद्रपद सुदी चतुर्थी का सुझाव दिया, जिसे कालिकाचार्य ने स्वीकार कर लिया। इस समय से महाराष्ट्र में श्रमणपूजालय नाम का उत्सव मनाया जाने लगा।

चौथी कथा में कालिकाचार्य द्वारा दुर्विनीत शिष्यों को प्रबोध दिये जाने का वर्णन है। बहुत समझाने पर भी जब आचार्य के शिष्यों ने दुर्विनीत भाव का त्याग नहीं किया तो वे उन्हें सोते हुए छोड़कर अपने प्रशिष्य सागरचन्द के पास चले गये। कुछ समय पश्चात् उनके दुर्विनीत शिष्य भी वहाँ आये और उन्होंने अपने कृत्यों के लिये पश्चात्ताप किया।

पाँचवें भाग में इन्द्र के अनुरोध पर कालिकचार्य ने निगोद में रहनेवाले जीवों का विस्तार से व्याख्यान किया। अन्त में कालिकाचार्य संलेखना धारण कर स्वर्ग में गये।

नम्मयासुंदरीकहा (नर्मदासुंदरीकथा)

नर्मदासुंदरीकथा एक धर्मप्रधान कथा है जिसकी महेन्द्रसूरि ने संवत् ११८७ (ईसवी सन् ११३०) में अपने शिष्यों के अनुरोध पर रचना की।[1] यह कथा गद्य-पद्यमय है जिसमें पद्य की प्रधानता है। इसमें महासती नर्मदासुंदरी के चरित का वर्णन किया गया है, जो अनेक कष्ट आने पर भी शीलव्रत के पालन में दृढ़ रही। नर्मदासुन्दरी सहदेव की भार्या सुन्दरी की कन्या थी। महेश्वरदत्त के जैनधर्म स्वीकार कर लेने पर महेश्वरदत्त का विवाह नर्मदासुन्दरी के साथ हो गया। विवाह का उत्सव बड़ी

---

१. यह ग्रंथ सिंघी जैन ग्रंथमाला में शीघ्र ही प्रकाशित हो रहा है। इसके साथ देवचन्द्रसूरि की नम्मयासुंदरीकहा, जिनप्रभसूरि की नम्मयासुंदरिसंधि (अपभ्रंश में) तथा प्राचीन गुजराती गद्यमय नर्मदासुंदरी कथा भी संग्रहीत है। ये कथा-ग्रंथ मुनि जिनविजय जी की कृपा से मुझे देखने को मिले।

धूमधाम से मनाया गया। महेश्वरदत्त नर्मदासुन्दरी को साथ लेकर धन कमाने के लिये यवनद्वीप गया। मार्ग में अपनी पत्नी के चरित्र पर संदेह हो जाने के कारण उसने उसे वहीं छोड़ दिया। निद्रा से उठकर नर्मदासुन्दरी ने अपने आपको एक शून्य द्वीप में पाया और वह प्रलाप करने लगी। कुछ समय पश्चात् उसे उसका चाचा वीरदास मिला और वह नर्मदासुंदरी को बब्बरकूल (एडन के आसपास का प्रदेश) ले गया। यहीं से नर्मदासुंदरी का जीवन-संघर्ष आरम्भ होता है। यहाँ पर वेश्याओं का एक मुहल्ला था, जिसमें सात सौ गणिकाओं की स्वामिनी हरिणी नाम की एक सुप्रसिद्ध गणिका निवास करती थी। सब गणिकायें उसके लिये धन कमाकर लातीं और वह उस धन का तीसरा या चौथा भाग राजा को दे देती। हरिणी को जब पता लगा कि जंबूद्वीप (भारतवर्ष) से वीरदास नाम का कोई व्यापारी वहाँ उतरा है, तो उसने अपनी दासी को भेजकर वीरदास को आमंत्रित किया लेकिन वीरदास ने दासी के जरिये हरिणी को आठ सौ द्रम्म भेज दिये, वह स्वयं उसके घर नहीं गया। हरिणी को बहुत बुरा लगा। इस प्रसंग पर हरिणी की दासियों ने नर्मदासुंदरी को देखा, और किसी युक्ति से वे उसे भगाकर अपनी स्वामिनी के पास ले गईं। वीरदास ने नर्मदासुंदरी की बहुत खोज की और जब उसका पता न लगा तो वह अपने देश लौट गया। नर्मदासुंदरी ने भोजन का त्याग कर दिया। हरिणी वेश्या ने कपटसंभाषण द्वारा उसे फुसलाने की कोशिश की और उसे गणिका बनकर रहने का उपदेश दिया—

सुंदरि ? दुल्लहो माणुसो भावो, खणभंगुरं तारुन्नं, एयस्स विसिट्ठसुहाणुभवणमेव फलं। तं च संपुन्नं वेसाणामेव संपडइ, न कुलंगणाणं। जओ महाणमवि भोयणं पइदियहं भुंजमाणं न जीहाए तहा सुहमुप्पाएइ, जहा नवनवं दिणे दिणे। एवं पुरिसो नवनवो नवनवं भोगसुहं जणइ य। अन्नं च—

वियरिज्जइ सच्छंदं पेज्जइ मज्जं च अमयसारिच्छं।
पच्चक्खो विव सग्गो वेसाभावो किमिह बहुणा ?
तुज्झ वि रइरूवाए पुरिसा होहिंति किंकरागारा।
वसियरणभाविया इव दाहिंति मणिच्छियं दव्वं।
एयाओ सव्वाओ अद्धं में दिंति नियविढत्तस्स।
तं पुण मह इट्ठयरी देज्जाहि चउत्थयं भायं॥

—हे सुंदरि ! मानुषी का जन्म दुर्लभ है, तारुण्य क्षणभंगुर है, विशिष्ट सुख का अनुभव करना ही इसका फल है। वह समस्त वेश्याओं को ही प्राप्त होता है, कुलवधुओं[1] को नहीं। विशिष्ट प्रकार का भोजन प्रतिदिन खाने से वह जिह्वा को सुख नहीं देता, प्रतिदिन नया-नया भोजन चाहिये। इसी प्रकार नये-नये पुरुष नये-नये भोगसुख को प्रदान करते हैं। तथा—

वेश्याएँ स्वच्छंद विचरण करती हैं, अमृत के समान मद्य का

---

१. चतुर्भाणी (पृ० ७४) में वेश्या को महापथ और कुलवधू को कुमार्ग बताया गया है—

जात्यन्धां सुरतेषु दीनवदनामन्तर्मुखीभाषिणीं
हृष्टस्यापि जनस्य शोकजननीं लज्जापटेनावृताम्।
निर्व्याजं स्वयमप्यदृष्टजघनां स्त्रीरूपबद्धां पशुं
कर्तव्यं खलु नैव भो कुलवधूकारां प्रवेष्टुं मनः॥

—सूरत में निपट अंधी बन जाने वाली, दीनमुख, मुँह के भीतर ही भीतर बात रखने वाली, प्रसन्न आदमी को भी दुखी करने वाली, लज्जा के घूँघट से ढकी, भोलेपन से स्वयं भी अपनी जाँघ न देखने वाली, ऐसी स्त्रीरूप में बँधे हुए पशु की भाँति कुलवधू में कभी मन नहीं लगाना चाहिए।

मैरो ने वधू और वेश्या में केवल मूल्य और ठेके की अवधि का ही अन्तर बताया है, और विवाह को एक अधिक फैशन का प्रकार माना है। देखिए हैवलॉक एलिस सैक्स इन रिलेशन टू सोसायटी, पृ० २२२।

पान करती हैं, वेश्यावस्था साक्षात् स्वर्ग की भांति प्रतीत होती है, फिर और क्या चाहिये ?

रति के समान तुम्हारे रूप के कारण पुरुष तुम्हारे किंकर बन जायेंगे, तुम्हारे वश में होकर वे तुम्हें मनोभिलषित द्रव्य प्रदान करेंगे। ये सब वेश्यायें मुझे अपने उपार्जित धन का आधा भाग देती हैं, लेकिन तू मुझे सबसे प्रिय है, इसलिये तू मुझे अपनी कमाई का केवल चौथा ही भाग देना।

लेकिन नर्मदासुंदरी ने हरिणी वेश्या की एक न सुनी। उसने दुष्ट कामुक पुरुषों को बुलाकर नर्मदासुंदरी के शीलव्रत का भंग करने की भरसक चेष्टा की, फिर अपने दासों से लंबे डंडे से उसे खूब पिटवाया। लेकिन नर्मदासुंदरी अपने व्रत से विचलित न हुई। वहाँ करिणी नाम की एक दूसरी वेश्या रहती थी। उसने नर्मदासुंदरी की सहायता करने के लिये अपने घर में उसे रसोइयन रख ली। कुछ समय पश्चात् हरिणी की मृत्यु हो गई और नर्मदासुंदरी को टीका करके सजधज के साथ उसे प्रधान गणिका के पद पर बैठाया गया। बब्बर राजा को जब नर्मदासुंदरी के अनुपम सौंदर्य का पता लगा तो उसने अपने दंडधारियों को भेजकर उसे बुलाया। वह स्नान कर और वस्त्राभूषणों से अलंकृत हो शिबिका में बैठ उनके साथ चल दी। रास्ते में वह एक बावड़ी में पानी पीने के लिये उतरी और जानबूझ कर गड्ढे में गिर पड़ी। उसने अपने शरीर पर कीचड़ लपेट लिया और अंडबंड बकने लगी। दंडधारियों ने राजा से निवेदन किया कि महाराज वह तो किसी ग्रह से पीड़ित मालूम होती है। राजा ने भूतवादी को बुलाया लेकिन वह भी उसे स्वस्थ नहीं कर सका। नर्मदासुंदरी अपने शरीर पर कीचड़ मल कर एक खप्पर लिये हुए घर-घर भिक्षा माँगती हुई फिरने लगी। अपनी उन्माद अवस्था को लोगों के सामने दिखाने के लिये कभी वह नाचती, कभी फूत्कार करती, कभी गाती और कभी हँसती। अन्त में वह जिनदेव नाम के श्रावक से मिली। नर्मदासुंदरी ने अपना

धर्मबंधु समझ कर जिनदेव से सारी बातें कहीं। जिनदेव वीरदास का मित्र था, वह नर्मदासुंदरी को उसके पास ले गया, और इस प्रकार कथा की नायिका को दुखों से छुटकारा मिला। उसने सुहस्तिसूरि के चरणों में बैठकर श्रमणी दीक्षा ग्रहण की।

कुमारवालपडिबोह (कुमारपालप्रतिबोध)

सोमप्रभसूरि ने वि० सं० १२४१ (ई० स० ११८४) में कुमारपालप्रतिबोध, जिसे जिनधर्मप्रतिबोध भी कहा जाता है, की रचना की थी।[1] सोमप्रभ का जन्म प्राग्वाट कुल के वैश्य परिवार में हुआ था। संस्कृत और प्राकृत के ये प्रकांड पंडित थे। आचार्य हेमचन्द्र के उपदेशों से प्रभावित हो गुजरात के चालुक्य राजा कुमारपाल ने जैनधर्म को अंगीकार किया था, यही इस कृति का मुख्य विषय है। राजा कुमारपाल की मृत्यु के ग्यारह वर्ष पश्चात् इस ग्रंथ की रचना हुई थी। यह ग्रंथ जैन महाराष्ट्री प्राकृत में लिखा गया है, बीच-बीच में अपभ्रंश और संस्कृत का भी उपयोग किया गया है। इसमें पाँच प्रस्ताव हैं; पाँचवाँ प्रस्ताव अपभ्रंश में है। सब मिलकर इसमें ५४ कहानियाँ हैं, अधिकांश कहानियाँ प्राचीन जैन शास्त्रों से ली गई हैं। पहले प्रस्ताव में मूलदेव की कथा है। अहिंसाव्रत के समर्थन में अमरसिंह, दामन्नक, अभयसिंह और कुंद की कथायें आती हैं। नल-दमयन्ती की कथा सुप्रसिद्ध है। नल की भर्त्सना करते हुए एक जगह कहा है—

> निट्ठुरु निक्किवु काउरिसु एकुजि नलु न हु भंति।
> मुक्क महासई जेण विणि निसिसुत्ती दमयंती॥

—नल के समान कोई भी निष्ठुर, निर्दय और कापुरुष

---

१. यह ग्रंथ गायकवाड ओरियंटल सीरीज़, बड़ौदा में मुनि जिनविजय द्वारा सन् १९२० में सम्पादित होकर प्रकाशित हुआ है। इसका गुजराती अनुवाद जैन आत्मानंद सभा की ओर से संवत् १९८३ में प्रकाशित किया गया है।

नहीं होगा जो महासती दमयंती को रात्रि के समय सोती हुई छोड़कर चलता बना।

उज्जयिनी के राजा प्रद्योत की कथा जैन ग्रन्थों में प्रसिद्ध है। उसके लोहजंघ, लेखाचार्य, अग्निभीरु रथ और नलगिरि हाथी नामके चार रत्न थे। अशोक की कथा से मालूम होता है कि धनिक लोग अपने पुत्रों के चरित्र को सुरक्षित रखने के लिये उन्हें वेश्याओं के स्वभाव से भलीभाँति परिचित करा दिया करते थे। द्वारिकादहन की कथा पहले आ चुकी है। अपभ्रंश का एक दोहा देखिये—

हियडा संकुडि मिरिय जिम्व इंदिय-पसरु निवारि।
जित्तिउ पुज्जइ पंगुरणु तित्तिउ पाउ पसारि॥

—हृदय को मिर्च (?) के समान संकुचित करो जिससे इन्द्रियों के विस्तार को रोका जा सके। जितनी बड़ी चादर हो उतने ही पैर फैलाने चाहिये।

दूसरे प्रस्ताव में देवपूजा के समर्थन में देवपाल, सोम-भीम, पद्मोत्तर और दीपशिख की कथायें हैं। दीपशिख की कथा से पता लगता है कि विद्या सिद्ध करने के लिये साधक लोग श्मशान में जाकर किसी कन्या का वध करते थे। गुरुसेवा के समर्थन में राजा प्रदेशी और लक्ष्मी की कथायें है। कूलवाल की कथा जैन आगमों में प्रसिद्ध है। राजा सम्प्रति की कथा बृहत्कल्पभाष्य में आती है। सम्प्रति ने आंध्र, द्रविड़, आदि अनार्य समझे जानेवाले देशों में अपने योद्धा भेजकर जैनधर्म का प्रचार किया था। राजा कुमारपाल का अपने गुरु आचार्य हेमचन्द्र के साथ शत्रुंजय, पालिताना गिरनार आदि तीर्थों की यात्रा करने का उल्लेख है।

तीसरे प्रस्ताव में चंदनबाला, धन्य, कुरुचन्द्र, कृतपुण्य और भरत चक्रवर्ती की कथायें हैं। शीलवती की कथा बड़ी मनोरंजक है। शीलवती अजितसेन की पत्नी थी। एक दिन आधी रात के समय वह घड़ा लेकर अपने घर के बाहर गई और बहुत

देर बाद लौटी। उसके श्वसुर को जब इस बात का पता लगा तो उसे शीलवती के चरित्र पर शंका हुई और उसने सोचा कि अब इसे घर में रखना उचित नहीं। यह सोचकर शीलवती को रथ में बैठाकर वह उसके पीहर के लिये रवाना हो गया। रास्ते में एक नदी आई। शीलवती के श्वसुर ने अपनी पतोहू से कहा, "बहू, तुम जूते उतार कर नदी पार करो।" लेकिन उसने जूते नहीं उतारे। श्वसुर ने सोचा, यह बहू बड़ी अविनीता है। आगे चलकर मूंग का एक खेत मिला। श्वसुर ने कहा, "देखो यह खेत कितना अच्छा फल रहा है! खेत का मालिक इस धन का उपभोग करेगा।" शीलवती ने उत्तर दिया, "बात ठीक है, लेकिन यदि यह खाया न जाये तो।" श्वसुर ने सोचा कि बहू बड़ी ऊटपटांग बात करती है जो इस तरह बोल रही है। आगे चलकर दोनों एक नगर में पहुँचे। वहाँ के लोगों को आनन्द-मग्न देखकर श्वसुर ने कहा, "यह नगर कितना सुन्दर है!" शीलवती ने उत्तर दिया—"ठीक है, लेकिन यदि कोई इसे उजाड़ न दे तो।" कुछ दूरी पर उन्हें एक कुलपुत्र मिला। श्वसुर ने कहा, "यह कितना शूरवीर है!" शीलवती ने उत्तर दिया, "यदि पीट न दिया जाये तो।" श्वसुर ने सोचा, ठीक है वह शूरवीर ही क्या जो पीटा न गया हो। आगे चलकर शीलवती का श्वसुर एक वट वृक्ष के नीचे विश्राम करने बैठ गया। शीलवती दूर ही बैठी रही। उसके श्वसुर ने सोचा, यह सदा उलटा ही काम करती है। थोड़ी दूर चलने पर दोनों एक गाँव में पहुँचे। इस गाँव में शीलवती के मामा ने उसके श्वसुर को भी बुलाया। भोजन करने के पश्चात् उसका श्वसुर रथ के अन्दर लेट गया। शीलवती रथ की छाया में बैठी हुई थी। इतने में बबूल के पेड़ पर बैठे हुए कौवे को वार-बार काँव-काँव करते देखकर शीलवती ने कहा, "अरे, तू काँव-काँव करता हुआ थकता नहीं?" फिर उसने एक गाथा पढ़ी—

> एके दुन्नय जे कया तेहिं नीहरिय घरस्स।
> बीजा दुन्नय जइ करउं तो न मिलउं पियरस्स॥

—एक दुर्नीति करने से मुझे घर से बाहर निकलना पड़ा। और यदि अब मैं दूसरी दुर्नीति करूंगी तो प्रियतम से मिलना न होगा।

श्वसुर के पूछने पर शीलवती ने कहा—

"सोरब्भगुणेणं छेय-घरिसणाइणि चंदणं लहइ।
राग-गुणेणं पावइ खंडण-कढणाइं मंजिट्ठा ॥

—देखिये, सुगंधि के कारण लोग चंदन को काट कर घिसते हैं और रंग के कारण मजीठ के टुकड़े कर पानी में उबालते हैं।

इसी तरह मेरे गुण भी मेरे शत्रु बन गये, क्योंकि मैं पक्षियों की बोली समझती हूँ। आधी रात के समय गीदड़ी का शब्द सुनकर मुझे पता चला कि एक मुर्दा पानी में बहा जा रहा है और उसके शरीर पर बहुमूल्य आभूषण हैं। यह जानकर मैं फौरन ही घड़ा लेकर नदी पर पहुँची। मुर्दे को मैंने नदी में से निकाल लिया। उसके आभूषण उतार कर अपने पास रख लिये और उस मुर्दे को गीदड़ के खाने के लिये उसके सामने फेंक दिया। आभूषणों को घड़े में रख कर मैं अपने घर चली आई। इस प्रकार एक दुर्नीति के कारण मैं इस अवस्था को प्राप्त हुई हूँ। अब यह कौआ कह रहा है कि इस बबूल के पेड़ के नीचे बहुत सा सुवर्ण गड़ा हुआ है।"

यह सुनकर शीलवती का श्वसुर बड़ा प्रसन्न हुआ, और उसने बबूल के पेड़ के नीचे से गड़ा हुआ धन निकाल लिया। वह अपनी पुत्रवधू की बहुत प्रशंसा करने लगा, और उसे रथ में बैठाकर घर वापिस ले आया। रास्ते में उसने पूछा, "शीलवती, तुम वट वृक्ष की छाया में क्यों नहीं बैठी?" शीलवती ने उत्तर दिया, "वृक्ष की जड़ में सर्प आदि का भय रहता है, और ऊपर से पक्षी बींट करते हैं, इसलिये दूर बैठना ही अच्छा है।" फिर उसने शूरवीर कुलपुत्र के बारे में प्रश्न किया। शीलवती ने उत्तर दिया, "ठीक है कि शूरवीर मार खाता है और पीटा जाता है

लेकिन असली शूरवीर वह है जो पहले प्रहार नहीं करता।" नगर के संबंध में उसने उत्तर दिया, "जिस नगर के लोग आगन्तुकों का स्वागत नहीं करते, उसे नगर नहीं कहा जाता।" खेत के संबंध में शीलवती ने कहा, "व्यापार में द्रव्य की वृद्धि होने से यदि खेत का मालिक द्रव्य का उपभोग करे तो ही उसे उपभोग किया हुआ समझना चाहिये।" नदी के बारे में उसने उत्तर दिया, "नदी में जीव-जन्तु और काँटों का डर रहता है, इसलिये नदी पार करते समय मैंने जूते नहीं उतारे।"

शीलवती का श्वसुर अपनी पतोहू से बहुत प्रसन्न हुआ और उसने शीलवती को सारे घर की मालकिन बना दिया।[1]

कुछ समय बाद राजा ने अजितसेन की बुद्धिमत्ता से प्रसन्न हो उसे अपना प्रधान मंत्री बना लिया। एक बार अजितसेन को राजा के साथ कहीं परदेश में जाना पड़ा। चलते समय शीलवती ने अपने पति को एक पुष्पमाला भेंट करते हुए कहा कि मेरे शील के प्रभाव से यह माला कभी भी नहीं कुम्हलायेगी। राजा को जब इस बात का पता लगा तो उसने शीलवती की परीक्षा के लिए अपने मित्र अशोक को उसके पास भेजा। अशोक शीलवती के मकान के पास एक घर किराये पर लेकर रहने लगा। शीलवती ने उससे आधा लाख रुपया मांगा और रात्रि के समय आने को कहा। इधर शीलवती ने एक गड्ढा खुदवा कर उसके ऊपर एक सुंदर पलंग बिछवा दिया। नियत समय पर अशोक रुपया लेकर आया और पलंग पर बैठते ही गड्ढे में गिर पड़ा। शीलवती ने एक मिट्टी के बर्त्तन में डोरी बाँध उसे गड्ढे में लटका दिया और उसके ज़रिये गड्ढे में भोजन पहुँचाने लगी। उसके बाद राजा ने रतिकेलि, ललितांग और कामांकुर[2] नाम

---

१. बौद्धों की धम्मपद अट्ठकथा में मृगारमाता विशाखा की कथा के साथ तुलना कीजिये; इस कथा के हिन्दी अनुवाद के लिये देखिये जगदीशचन्द्र जैन, प्राचीन भारत की कहानियाँ।

२. हरिभद्रसूरि की समराइच्चकहा में भी इन नामों का उल्लेख है।

के अन्य मित्रों को शीलवती की परीक्षा के लिए भेजा, और शीलवती ने पहले की तरह इन्हें भी उस गड्ढे में अशोक के पास पहुँचा दिया।

कुछ दिनों बाद राजा और उसके मंत्री अपनी यात्रा से लौट आये। एक दिन अजितसेन ने राजा को अपने घर भोजन के लिए आमंत्रित किया। उस गड्ढे की पूजा करने के बाद शीलवती ने हुकुम दिया, "हे यक्षो, रसोई तैयार हो जाये।" फौरन ही उत्तर मिला, "ऐसा ही हो।" रसोई तैयार हो गई और राजा ने आनन्दपूर्वक भोजन किया। इसी प्रकार तांबूल, पुष्प, विलेपन, वस्त्र आदि वस्तुएँ भी शीलवती के कहते ही क्षणभर में तैयार हो गईं। यह देख कर राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ। शीलवती ने कहा, "महाराज, मेरे पास चार यक्ष हैं, जो कुछ मैं उनसे माँगती हूँ, वे मुझे दे देते हैं।" राजा के अनुरोध करने पर शीलवती ने उन 'यक्षों' को राजा के हवाले कर दिया। उन चारों को अपनी गाड़ी में डालकर गाजे-बाजे के साथ राजा ने अपने महल में प्रवेश किया। सुबह होने पर राजा ने उनसे भोजन माँगा। भोजन न मिलने पर राजा को पता लगा कि उसके भेजे हुए चारों मित्र ही यक्ष बने हुए हैं और वे दयनीय दशा को प्राप्त हो गये हैं।[1]

तारा के कथानक में किसी ब्राह्मण द्वारा अपनी कन्या को

---

१. कथासरित्सागर (१–४) में भी एक इसी तरह की कथा आती है। उपकोशा वररुचि की पत्नी थी। उसके पति को एक बार किसी काम से हिमालय चले जाना पड़ा। वह गंगास्नान के लिए गई। उस समय राजमंत्री, पुरोहित और राजा के न्यायाधीश उसे देखकर मोहित हो गये। इन तीनों को उपकोशा ने अपने घर रात्रि के समय बुलाया। बाद में एक-एक को बक्से में बन्द करके राजा के पास भेज दिया। ब्रजभाषा की लोककथाओं में भी इसका प्रवेश हुआ है। देखिये डॉक्टर सत्येन्द्र, ब्रजलोक साहित्य का अध्ययन, पृ० ४०७–४०८।

सिर पर रखकर बाज़ार में बेचे जाने का उल्लेख है।[1] तारा अपने पुत्र के साथ घर छोड़कर चली जाती है। अपने शील को सुरक्षित रखने के लिये उसे अनेक कष्ट झेलने पड़ते हैं। एक सुभाषित देखिये—

सीहह केसर सइहि उरु सरणागओ सुहडस्स।
मणि मत्थइ आसीविसह किं घिप्पइ अमुयस्स॥[2]

—सिंह की जटाओं, सती स्त्री की जंघाओं, शरण में आये हुए सुभट और आशीविष सर्प के मस्तक की मणि को कभी नहीं स्पर्श करना चाहिए।

जयसुंदरी की कथा में जोगियों का निर्देश है। उन्हें खाद्य-अखाद्य, कार्य-अकार्य और गम्य-अगम्य का विवेक नहीं होता। एक जोगी दूसरे जोगी को मद्य-पान कराके उसकी स्त्री को भगाकर ले जाता है। जयसुंदरी नगर के श्रेष्ठी, मंत्री, पुरोहित और राजा की चरित्र-भ्रष्टता देखकर निराश होती है। वह इन

---

१. दूसरे देशों पर धाड़ी मारकर राणा प्रतापसिंह द्वारा लाई हुई गौरवर्ण, सोलह वर्ष की पनुती नाम की दासी के बेचे जाने का उल्लेख एक दासीविक्रयपत्र में मिला है। इस दासी के सिर पर तृण रक्खे हुए थे और इसे खोटने, कूटने, लीपने, बुहारने, पानी भरने, मल-मूत्र साफ करने, गाय-भैंस दुहने, और दही बिलोने आदि के काम के लिए ५०० द्रम्म में खरीदा गया था। देखिये ऐंशियेण्ट विज्ञप्तिपत्रक, डॉ० हीरानन्द द्वारा १९४२ में बड़ौदा से प्रकाशित। इस पत्र की नकल डॉ० हीरालाल जैन के पास से मुझे मिली है।

२. मिलाइये : किवणाणं धणं णाआणं फणामणी केसराई सीहाणं।
कुलवालिआणं थणआ कुत्तो छिप्पंति अमुआणं॥
काव्यप्रकाश, १०, ४५७

तथा—

केहरकेस भुजंगमण सरणाई सुहडांह।
सती पयोहर कृपणधन, पडसी हाथ मुवांह॥

कन्हैयालाल सहल, राजस्थानी कहावतें, पृ० २९६।

चारों को एक सन्दूक में बन्द कर पंचों के पास ले जाती है। तत्पश्चात् रुक्मिणी, प्रद्युम्न-शंब, धर्मयश-धर्मघोष विष्णुकुमार, प्रसन्नचन्द्र, शाल-महाशाल, इलापुत्र तथा जयवर्म-विजयवर्म की कथायें हैं।

चौथे प्रस्ताव में अहिंसा, सत्य आदि बारह व्रतों की बारह कथायें लिखी गई हैं। मकरध्वज, पुरंदर और जयद्रथ की कथायें संस्कृत में हैं। जयद्रथकथा में कुष्माण्डी देवी का उल्लेख है।

पाँचवाँ प्रस्ताव अपभ्रंश में है। इसका अध्ययन डॉक्टर एल्सडोर्फ ने किया है जो हैम्बर्ग से सन् १९२८ में प्रकाशित हुआ है। जीवमनःकरणसंलापकथा धार्मिक कथाबद्ध रूपक काव्य है जिसमें जीव, मन और इन्द्रियों में वार्तालाप होता है। देह नामक नगरी लावण्य-लक्ष्मी का निवास-स्थान है। नगरी के चारों ओर आयुकर्म का प्राकार है, जिसमें सुख, दुख, क्षुधा, तृषा, हर्ष, शोक आदि अनेक प्रकार की नालियाँ अनेक मार्ग हैं। इस नगरी में आत्मा नामका राजा अपनी बुद्धि नामकी महादेवी के साथ राज्य करता है। मन उसका प्रधान मंत्री है, पाँच इन्द्रियाँ पाँच प्रधान पुरुष हैं। आत्मा, मन और इन्द्रियों में वाद-विवाद छिड़ जाने पर मन ने अज्ञान को दुःख का मूल कारण बताया, आत्मा ने मन को दोषी ठहराया और मन ने इन्द्रियों पर दोषारोपण किया। पाँचों इन्द्रियों के कुलशील के संबंध में चर्चा होने पर कहा गया—"हे प्रभु, चित्तवृत्ति नामकी महा अटवी में महामोह नामका राजा अपनी महामूढ़ा देवी के साथ राज्य करता है। उसके दो पुत्र हैं, एक राग-केसरी, दूसरा द्वेष-गजेन्द्र। राजा के महामंत्री का नाम मिथ्यादर्शन है। मद, क्रोध, लोभ, मत्सर और कामदेव आदि उसके योद्धा हैं। एक बार महामंत्री ने उपस्थित होकर राजा से निवेदन किया कि महाराज, चारित्रधर्म नामका गुप्तचर संतोष प्रजा को जैनपुर में ले जाता है। यह सुनकर राजा ने अपने मंत्री की सहायता के लिये इन्द्रियों को नियुक्त किया।" इस

प्रकार कभी इन्द्रियों को, कभी कर्मों को और कभी कामवासना को दुःख का कारण बताया गया। अन्त में आत्मा ने प्रशम का उपदेश देते हुए जीवदया और व्रतपालन द्वारा मनुष्य जीवन को सार्थक बनाने का आदेश दिया। अपभ्रंश पद्यों में रड्डा, पद्धडिया, और घत्ता छन्दों का ही प्रधानता से प्रयोग हुआ है।

इसके बाद विक्रमादित्य और खपुटाचार्य की कथायें हैं। स्थूलभद्रकथा में ब्रह्मचर्य व्रत का माहात्म्य बताया है। पाटलिपुत्र नगर में नवम नन्द नामका राजा राज्य करता था। शकटार उसका मंत्री था। उसके स्थूलभद्र और श्रियक नामके दो पुत्र थे। एक बार वसंत ऋतु के दिनों में स्थूलभद्र कोशा नामक गणिका के प्रासाद में गया और उसके सौन्दर्य पर मुग्ध होकर वहीं रहने लगा। उसी नगर में वररुचि नामका एक विद्वान् ब्राह्मण रहता था। उसकी चालाकी से जब शकटार को प्राणदंड दे दिया गया तो राजा को चिन्ता हुई कि मंत्री के पद पर किसे नियुक्त किया जाये। स्थूलभद्र का आचरण ठीक न था, इसलिये उसके छोटे भाई श्रियक को ही मंत्री बनाया गया। स्थूलभद्र ने सांसारिक भोग-विलास का त्याग कर जैन दीक्षा ग्रहण कर ली और वे कठोर तपस्या में लीन हो गये। एक बार उनके गुरु ने अपने शिष्यों को चातुर्मास के समय किसी कठिन व्रत को स्वीकार करने का आदेश दिया। एक शिष्य ने कहा कि वह चार महीने तक सिंह की गुफा में रहेगा, दूसरे ने दृष्टिविष सर्प के बिल के पास, और तीसरे ने कुंए के अरहट के पास बैठकर ध्यान में लीन होने की प्रतिज्ञा की। लेकिन स्थूलभद्र ने प्रतिज्ञा की कि वह ब्रह्मचर्य व्रत का भंग किये बिना चार महीने तक कोशा के घर में रहेंगे। अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार मुनि स्थूलभद्र चातुर्मास में कोशा के घर आये। कोशा ने समझा कि स्थूलभद्र कठोर तप से घबरा कर आये हैं, लेकिन कोशा का सौन्दर्य और उसके हावभाव मुनि स्थूलभद्र को अपने व्रत से विचलित न कर सके।

नंदन राजकुमार की कथा संस्कृत में है। दशार्णभद्र की कथा प्राचीन जैन ग्रन्थों में मिलती है।

पाइअकहासंगह (प्राकृतकथासंग्रह)

पउमचंदसूरि के किसी अज्ञातनामा शिष्य ने विक्कमसेण-चरिय नामक प्राकृत कथाग्रंथ की रचना की थी। इस कथाग्रंथ में आई हुई चौदह कथाओं में से बारह कथायें प्राकृतकथासंग्रह में दी गई हैं।[1] इससे अधिक ग्रन्थकर्त्ता और उसके समय आदि के संबंध में और कुछ जानकारी नहीं मिलती। प्राकृतकथासंग्रह की एक प्रति संवत् १३९८ में लिखी गई थी, इससे पता लगता है कि मूल ग्रंथकार का समय इससे पहले ही होना चाहिये। इस संग्रह में दान, शील, तप, भावना, सम्यक्त्व, नवकार तथा अनित्यता आदि से संबंध रखनेवाली चुनी हुई सरस कथायें हैं। जिनमें अनेक लौकिक और धार्मिक आख्यान कहे गये हैं।

दान में धनदेव और धनदत्त की कथा तथा सम्यक्त्व के प्रभाव में धनश्रेष्ठी की कथा दी गई है। कंथक नाम के सेठ के धर्मवती नामकी भार्या थी। उसके पुत्र नहीं होता था, इसलिये उसने अपने पति से दूसरा विवाह करने का अनुरोध किया। कंथक ने दूसरा विवाह कर लिया। कुछ समय बाद कालीदेवी की उपासना से कंथक की दोनों पत्नियों के पुत्र उत्पन्न हुए। कृपण श्रेष्ठी की कथा में लक्ष्मीनिलय नामके एक कृपण सेठ का वर्णन है जो एक कौड़ी भी दान-धर्म में खर्च नहीं करता था। दान के डर से वह किसी साधु-संत के पास भी न जाता और लोगों से मिलना-जुलना भी उसने छोड़ दिया था। उसके घर में पहनने के नये वस्त्र तक नहीं थे। जब उसकी पत्नी के पुत्र हुआ तो वह उसे ठीक से खाना भी नहीं देता था। अपने पुत्र को पान खाते हुए देखकर वह लाल-पीला हो जाता।

---

१. विजयानन्द सूरीश्वर जी जैन ग्रंथमाला में सन् १९५२ में भावनगर से प्रकाशित।

खाने-पीने के ऊपर बाप बेटों में लड़ाई हुआ करती। अन्त में उसके पुत्र ने तंग आकर मुनिदीक्षा ले ली। जयलक्ष्मी देवी के कथानक में अघोर नामके योगीन्द्र का उल्लेख आता है जो मंत्र-तंत्र का वेत्ता था। रात्रि के समय पूजा की सामग्री लेकर निश्चल ध्यान में आसीन होकर वह नभोगामिनी विद्या सिद्ध करने लगा। सुंदरी देवी के कथानक में सुंदरी की कथा है। वह धणसार नामके श्रेष्ठी की कन्या थी, तथा शब्द, तर्क, छंद, अलंकार, उपनिबंध, काव्य, नाट्य, गीत और चित्रकर्म में कुशल थी। विक्रमराजा का चरित्र सुनने के पश्चात् वह उससे मन ही मन प्रेम करने लगी। इधर उसके माता-पिता ने सिंहलद्वीप के किसी श्रेष्ठी के पुत्र के साथ उसकी सगाई कर दी। उज्जैनी में सुंदरी का वचनसार नामका एक भाई रहता था। सुंदरी ने रत्नों का एक थाल भर कर और उसके ऊपर एक सुंदर तोता बैठाकर उसे विक्रमराजा को देने को कहा। राजा ने तोते का पेट फाड़कर देखा तो उसमें से एक सुंदर हार और कस्तूरी से लिखा हुआ एक प्रेमपत्र मिला। पत्र में लिखा था—"मैं तुम्हारे गुणों का सदा ध्यान करती रहती हूँ, ऐसा वह कौन सा क्षण होगा जब ये नयन तुम्हारा दर्शन करेंगे। वैशाख वदी द्वादशी को सिंहलद्वीप के निवणाग नामक श्रेष्ठीपुत्र के साथ मेरा विवाह होने वाला है। हे नाथ! मेरे शरीर को तुम्हारे सिवाय और कोई स्पर्श नहीं कर सकता। अब जैसा ठीक समझो शीघ्र ही करो।" राजा ने पत्र पढ़कर शीघ्र ही अग्निवेताल भृत्य का स्मरण किया, और तुरत ही समुद्रमार्ग से उज्जैनी होता हुआ रत्नपुर को रवाना हो गया। नवकारमंत्र का प्रभाव बताने के लिये सौभाग्यसुन्दर की कथा वर्णित है। किसी आदमी को नदी में बहता हुआ घड़े के आकार का एक बिजौरा (बीजउर) दिखाई देता है। वह उसे ले जाकर राजा को दे देता है; राजा अपनी रानी को देता है। रानी उस स्वादिष्ट फल को खाकर वैसे ही दूसरे फल की मांग करती है, और उसके न मिलने पर भोजन का त्याग कर देती है।

अनेक कलाओं में कुशल कोई योगीन्द्र श्मशान में आसन मार कर नभोगामिनी बहुरूपिणी विद्या सिद्ध करता है। तप का प्रभाव बताने के लिये मृगांकरेखा और अघटक की कथायें वर्णित हैं। धर्मदत्त कथानक में धर्मदत्तकुमार की कथा है। यशधवल नामका कोई सेठ गजपुर नगर में रहता था। शासनदेवी की उपासना से उसके धर्मदत्त नामका पुत्र हुआ। बड़े होने पर तिहुणदेवी के साथ उसका विवाह हो गया। कुछ समय बाद उसकी धनार्जन की इच्छा हुई और वह अपनी पत्नी के साथ परदेश के लिये रवाना हो गया। रास्ते में उसे कूट नामका एक ब्राह्मण मिला; तीनों आगे बढ़े। रात हो जाने पर धर्मदत्त ने ब्राह्मण से कोई कहानी सुनाने के लिये कहा। ब्राह्मण ने उत्तर दिया कि यदि मुझे ५०० द्रम्म पेशगी दो तो मैं कोई अनुभवपूर्ण कहानी सुना सकता हूँ। धर्मदत्त ने उसे मुँहमांगा रुपया दे दिया। ब्राह्मण ने एक श्लोक पढ़ा—

नीयजणेणं मित्ती कायव्वा नेव पुरिसेण।

—पुरुष को नीच आदमी के साथ मित्रता नहीं करनी चाहिये।

धर्मदत्त ने कहा, क्या बस इतनी सी बात के लिये तुमने मुझ से इतना रुपया ऐंठ लिया। ब्राह्मण ने उत्तर दिया—"यदि एक हजार द्रम्म दो तो और भी बढ़िया कहानी सुनाऊँ।" धर्मदत्त ने फिर उसे मुँहमांगा रुपया दे दिया। अबकी बार ब्राह्मण ने पढ़कर सुनाया—

महिलाए विस्सासो कायव्वो नेव कइया वि।

—महिलाओं का विश्वास कभी नहीं करना चाहिये।

कहानी सुनाकर ब्राह्मण ने धर्मदत्त से कहा कि यदि तुम इन दोनों कथानकों को हृदय में धारण करोगे तो कभी हार नहीं मान सकते। चलते समय ब्राह्मण ने मंत्राभिषिक्त जौ की मुट्ठी भर कर धर्मदत्त को देते हुए कहा कि ये जौ बोने के साथ ही उग आयेंगे। जौ लेकर धर्मदत्त आगे बढ़ा। नगर के राजा

को रत्नों की भेंट देकर उसने प्रसन्न किया। राजा ने भी उसे शुल्क से मुक्त कर दिया। उस नगरी में गंगदत्त नामका कोई धूर्त्त रहता था। मौका पाकर उसने धर्मदत्त से मित्रता कर ली। शनैः शनैः तिहुणदेवी के पास भी वह निस्संकोच भाव से आने-जाने लगा। एक दिन राजा ने धर्मदत्त से पूछा कि यदि तुमने कोई आश्चर्य देखा हो तो कहो। धर्मदत्त ने कहा—"महाराज! मेरे पास ऐसे जौ हैं जो बोते के साथ ही उग सकते हैं।" लेकिन इस बीच में गंगदत्त ने तिहुणदेवी से गांठ-सांठ कर ब्राह्मण के दिये हुए मंत्राभिषिक्त जौ इधर-उधर करवा दिये, जिससे राजा के समक्ष अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण न करने के कारण धर्मदत्त बड़ा शर्मिन्दा हुआ। अन्त में कूट नामक ब्राह्मण को बुलाया गया। उसने कहा—"मेरे सुनाये हुए दोनों आख्यान तुम भूल गये हो, तथा नीच पुरुष की मित्रता के कारण और महिलाओं का विश्वास करने के कारण तुम्हारी यह दशा हुई है।" भावना का प्रभाव प्रतिपादित करने के लिये बहुबुद्धि की कथा वर्णित है। बहुबुद्धि चंपा के रहनेवाले बुद्धिसागर मंत्री का पुत्र था। वह साहित्य, तर्क, लक्षण, अलंकार, निघंटु, शब्द, काव्य, ज्योतिष, निमित्त, संगीत और शकुनशास्त्र का पंडित था। एक दिन मंत्री ने उसे एक हार रखने के लिये दिया, लेकिन बहुबुद्धि पढ़ने में इतना व्यस्त रहता था कि वह हार रखकर कहीं भूल गया। गंगड नामके नौकर ने वह हार चुरा लिया। मंत्री ने बहुबुद्धि से हार मांगा और वह उसे न दे सका। इस पर बुद्धिसागर को बहुत क्रोध आया और उसने अपने पुत्र को घर से निकाल दिया। बहुबुद्धि घूमता-फिरता जयन्ती नगरी में आया और वहाँ किसी सुवर्णश्रेष्ठी के घर आकर रहने लगा। एक दिन उसकी दूकान पर गंगड चोरी का हार बेचने आया। सुबुद्धि ने अपना हार पहचान लिया, लेकिन गंगड ने कहा वह हार उसी का है। दोनों लड़ते-झगड़ते राजा के पास गये। सुबुद्धि जीत गया, लेकिन चालाकी से राजा ने हार अपने पास

रख लिया और उसे बहुबुद्धि को लौटाने से इन्कार कर दिया। अन्त में अपने बुद्धिकौशल से बहुबुद्धि ने उस हार को प्राप्त कर लिया। अनित्यता को समझाने के लिये समुद्रदत्त की कथा वर्णित है। यहाँ धनार्जन की मुख्यता बताई गई है—

किं पढिएणं ? बुद्धीए किं ? व किं तस्स गुणसमूहेण ?
जो पियरविढत्तधणं भुंजइ अज्जणसमत्थो वि ॥

—पढ़ने से क्या लाभ ? बुद्धि से क्या प्रयोजन ? गुणों से क्या तात्पर्य ? यदि कोई धनोपार्जन में समर्थ होते हुए भी अपने पिता के द्वारा अर्जित धन का उपभोग करता है।

समुद्रयात्रा के वर्णन में मार्ग में कालिका वायु चलती है जिससे जहाज़ टूट जाता है। बहुत से यात्रियों को अपने प्राणों से वंचित होना पड़ता है। श्रेष्ठीपुत्र के हाथ में लड़की का एक तख्ता पड़ जाता है, और उसके सहारे वह किसी पर्वत के किनारे जा लगता है। वहाँ से सुवर्णभूमि पहुँचकर वह सोने की ईंटें प्राप्त करता है। कर्म की प्रधानता देखिये—

अहवा न दायव्वो दोसो कस्स वि केण कइया वि।
पुव्वज्जियकम्माओ हवंति जं सुक्खदुक्खाइं ॥

—अथवा किसी को कभी भी दोष नहीं देना चाहिये, पूर्वोपार्जित कर्म से ही सुख-दुख होते हैं।

मलयसुंदरीकहा

इसमें महाबल और मलयसुंदरी की प्रणयकथा का वर्णन है। दुर्भाग्य से इस कथा के कर्त्ता का नाम अज्ञात है। लेकिन धर्मचन्द्र ने इसके ऊपर से संस्कृत में संक्षिप्त कथा की रचना की, इससे इस कथा का समय १४वीं शताब्दी के पूर्व ही माना जाता है।

जिनदत्ताख्यान

जिनदत्ताख्यान के कर्त्ता सुमतिसूरि हैं जो पाडिच्छयगच्छीय

आचार्य सर्वदेवसूरि के शिष्य थे।[1] इसके सिवाय ग्रंथकर्त्ता का कोई विशेष परिचय नहीं मिलता। रचना साधारण कोटि की है। यहाँ बहुत सी पहेलियाँ दी हुई हैं। कथा का नायक जिनदत्त चंपानगरी के विमलसेठ की कन्या विमलमति के साथ विवाह करता है। उसे जूआ खेलने का शौक है। जूए में वह अपना सब धन खो देता है, और परदेश-यात्रा के लिये निकल पड़ता है। दधिपुर नगर में पहुँचकर वह अपने कौशल से महाव्याधि से पीड़ित राजकन्या श्रीमती को नीरोग करता है और अन्त में उसके साथ जिनदत्त का विवाह हो जाता है। जिनदत्त श्रीमती के साथ समुद्र-यात्रा करता है। मार्ग में कोई व्यापारी किसी बहाने से जिनदत्त को समुद्र में ढकेल देता है। किसी टूटे हुए जहाज़ का कोई तख्ता उसके हाथ लग जाता है और उसके सहारे तैरकर वह समुद्र के किनारे लग जाता है। रथनूपुर-चक्रवाल नगर में राजकन्या अंगारवती से उसका विवाह होता है। एक दिन उसे अपनी पत्नी श्रीमती की याद आती है और वह अंगारवती के साथ विमान में बैठकर दधिपुर की ओर प्रस्थान करता है। मार्ग में चंपा के एक उद्यान में किसी साध्वी के पास बैठकर अभ्यास करती हुई विमलमति और श्रीमती पर उसकी नज़र पड़ती है। अपने विमान को वह नीचे उतारता है, और अंगारवती को छोड़कर विद्या के बल से अपना वामन रूप बनाकर वहीं रहने लगता है। यहाँ पर रहते हुए जिनदत्त गीत, वाद्य, विनोद आदि द्वारा चंपा नगरी के निवासियों का मनोरञ्जन करता है। इसी अवसर पर गुप्त रीति से वह विमलमति, श्रीमती और अंगारवती नामक तीनों पत्नियों का मनोरंजन करता है। यहाँ चंपा की राजकन्या रतिसुंदरी से जिनदत्त का विवाह होता है। अंत में जिनदत्त अपनी पत्नियों के समक्ष अपने वास्तविक

---

१. यह ग्रंथ सिंघी जैन ग्रंथमाला में सन् १९५३ में जिनदत्ताख्यानद्वय के नाम से प्रकाशित हुआ है। इसमें जिनदत्त के दो आख्यान दिये गये हैं, एक के कर्त्ता सुमतिसूरि हैं, और दूसरे के अज्ञात हैं।

रूप को प्रकट कर देता है और अपनी चारों पत्नियों के साथ आनन्दपूर्वक रहने लगता है। कालांतर में माता-पिता की अनुमतिपूर्वक अपनी पत्नियों और मित्रों के साथ वह दीक्षा ग्रहण कर लेता है।

पहेलियाँ देखिये—

(१) किं मरुथलीसु दुलहं ? का वा भवणस्स भूसणीभणिया ?
कं कामइ सेलसुया ? कं पियइ जुवाणओ तुट्ठो ?

उत्तर—कंताहरं।

—मरुस्थल में कौनसी वस्तु दुर्लभ है ? कं (जल)। घर का भूषण कौन कहा जाता है ? कंता (कांता)। पार्वती किसकी इच्छा करती है ? हरं (शिवजी की)। किसका पान कर युवा संतुष्ट होता है ? कांताधरम् (कांता के अधर का)।

(२) किं कारेइ अहंगं, पुरसामी ? का पुरी दहमुहस्स ?
का दुन्नएण लब्भइ ? विरायए केरिसा तरूणी ?

उत्तर—सालंकारा।

—नगर का स्वामी अभंगरूप (अहंग) से किसे बनाता है ? सालं (प्राकार को)। रावण की नगरी का क्या नाम है ? लंका। दुर्नीति से क्या प्राप्त होता है ? कारा (कारागृह)। कैसी युवती शोभा को पाती है ? अलंकारों से भूषित (सालंकारा)।

सुभाषित देखिये—

(१) दो तिन्नि वासराइं सासुरयं होइ सग्गसारिच्छं।
पच्छा परिभवदावानलेण सव्वत्थ पज्जलइ॥

—दो-तीन दिन तक ही श्वसुर का घर स्वर्ग के समान मालूम होता है, बाद में पराभव की अग्नि से वह चारों ओर से जलने लगता है।

(२) रन्ने जलम्मि जलणे, दुज्जणजणसंकडे व्व विसमम्मि।
जीह व्व दंतमज्झे नंदइ अपमत्तया जुत्तो॥

—अप्रमाद से युक्त सावधान व्यक्ति जंगल, जल, अग्नि और दुर्जन जनों से संकीर्ण होने पर भी दाँतों के बीच में रहनेवाली जीभ की भाँति आनन्द को प्राप्त होता है।

(३) ते कह न वंदणिज्जा, जे ते ददट्ठूण परकलत्ताइं।
धाराहय व्व वसहा, वच्चंति महिं पलोयंता॥

—ऐसे लोग क्यों वंदनीय न हों जो पर-स्त्री को देखकर वर्षा से आहत वृषभों की भाँति नीचे ज़मीन की ओर मुँह किये चुपचाप चले जाते हैं?

(४) उच्छूगामे वासो सेयं वत्थं सगोरसा साली।
इट्ठाय जस्स भज्जा पिययम ! किं तस्स रज्जेण ?

—हे प्रियतम ! ईखवाले गाँव में वास, सफेद वस्त्रों का धारण, गोरस और शालि का भक्षण तथा इष्ट भार्या जिसके मौजूद है उसे राज्य से क्या प्रयोजन ?

यहाँ अंघिय और नल्लच (?) आदि जूओं के उल्लेख हैं। आडतिग (यानवाहक, आडतीया-गुजराती), सिम्बलिगा (सांप की पिटारी), कोसल्लिअ (भेंट) आदि शब्दों का प्रयोग यहाँ देखने में आता है। बौद्ध धर्म के उपासकों को उपासक और जैनधर्म के उपासकों को श्रावक कहा गया है। पूर्वकाल की उक्ति को कथानक और थोड़े दिनों की उक्ति को वृत्तान्त कहा है। केशोत्पाटन और अस्नान आदि क्रियाओं के कारण श्रमण-धर्म को अति दुष्कर माना जाता था। 'अन्धे के हाथ की लकड़ी' (अंधलयजट्ठि) का प्रयोग मिलता है।

सिरिवालकहा (श्रीपालकथा)

श्रीपालकथा के कर्त्ता सुलतान फीरोज़शाह तुग़लक के समकालीन रत्नशेखरसूरि हैं।[1] उनके शिष्य हेमचन्द्र ने इस कथा को वि० सं० १४२८ (सन् १३७१) में लिपिबद्ध किया। इसकी भाषाशैली सरल है, और विविध अलंकारों का

१. वाडीलाल जीवाभाई चौकसी द्वारा सन् १९३२ में अहमदाबाद से प्रकाशित।

इसमें प्रयोग है। मुख्य छंद आर्या है। कुछ पद्य अपभ्रंश में भी हैं। सब मिलाकर इसमें १३४२ पद्य हैं जिनमें श्रीपाल की कथा के बहाने सिद्धचक्र का माहात्म्य बताया गया है। श्रीपालचरित्र का प्रतिपादन करनेवाले और भी आख्यान संस्कृत[1] और गुजराती में लिखे गये हैं।

उज्जैनी नगरी में प्रजापाल नाम का एक राजा था। उसके दो रानियाँ थीं, एक सौभाग्यसुंदरी और दूसरी रूपसुंदरी। पहली माहेश्वर कुल से आई थी, और दूसरी श्रावक के घर पैदा हुई थी। पहली की पुत्री का नाम सुरसुंदरी, दूसरी की पुत्री का नाम मदनसुंदरी था। दोनों ने अध्यापक के पास लेख, गणित, लक्षण, छंद, काव्य, तर्क, पुराण, भरतशास्त्र, गीत, नृत्य, ज्योतिष, चिकित्सा, विद्या, मंत्र, तंत्र और चित्रकर्म आदि की शिक्षा प्राप्त की। जब दोनों राजकुमारियाँ विद्याध्ययन समाप्त करके लौटीं तो राजा ने उन्हें एक समस्यापद 'पुन्निहिं लब्भइ एहु' पूर्ण करने को दिया। सुरसुन्दरी ने पढ़ा—

धणजुव्वणसुवियड्ढपण, रोगरहिअ निअ देहु।
मणवल्लह मेलावडउ, पुन्निहिं लब्भइ एहु॥

—धन, यौवन, सुविचक्षणता, रोगरहित देह का होना, और मन के वल्लभ की प्राप्ति, यह सब पुण्य से मिलता है।

मदनसुन्दरी ने निम्नलिखित गाथा पढ़ी—

विणयविवेयपसण्णमणु सीलसुनिम्मलदेहु।
परमप्पह मेलावडउ, पुन्निहिं लब्भइ एहु॥

—विनय, विवेक, मन की प्रसन्नता, शील, सुनिर्मल देह और परमपद की प्राप्ति, यह सब पुण्य से मिलता है।

एक दिन राजा ने अपनी पुत्रियों से पूछा कि तुम लोग कैसा वर चाहती हो। सुरसुंदरी ने उत्तर दिया—

ता सव्वकलाकुसलो, तरुणो वररूवपुण्णलायन्नो।
एरिसउ होइ वरो, अहवा ताओ चिअ पमाणं॥

---

१. देखिये जैन ग्रंथावलि, पृष्ठ २३४, १६१।

—जो सब कलाओं में कुशल हो, तरुण हो और रूप-लावण्य से संपन्न हो, वही श्रेष्ठ वर है, नहीं तो फिर जैसा आप उचित समझें।

मदनसुंदरी ने उत्तर दिया—

जेण कुलबालियाओ न कहंति हवेउ एस मज्झ वरो।
जो किर पिऊहिं दिन्नो, सो चेव पमाणियव्वुत्ति ॥

—कुलीन बालिकायें अपने वर के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहतीं। जो वर माता-पिता उनके लिये खोज देते हैं, वही उन्हें मान्य होता है।

तत्पश्चात् मदनसुन्दरी ने कहा—पिता जी, अपने कर्मों से सब कुछ होता है, पुण्यशील कन्या को खोटे कुल में देने से भी वह सुखी होती है, और पुण्यहीन कन्या को अच्छे कुल में देने से भी वह दुख भोगती है। राजा को यह सुनकर बहुत क्रोध आया। उसने सोचा कि यह लड़की तो मेरा कुछ भी उपकार नहीं मानती, अपने कर्म को ही मुख्य बताती है। राजा ने गुस्से में आकर एक कोढ़ी से मदनसुंदरी का विवाह कर दिया। मदनसुन्दरी ने उस कोढ़ी को अपना पति स्वीकार किया और वह उसकी सेवा-शुश्रूषा करती हुई समय यापन करने लगी। कालांतर में सिद्धचक्र के माहात्म्य से कोढ़ी का कोढ़ नष्ट हो गया और दोनों आनन्दपूर्वक रहने लगे। यही कोढ़ी इस कथा का नायक श्रीपाल है।

श्रीपाल को अनेक मंत्र-तंत्र, रसायनों और जड़ी-बूटियों की प्राप्ति हुई। समुद्रयात्रा के प्रसंग पर वडसफर, पवहण, बेडिय (बेड़ा), वेगड, सिल्ल (सित=पाल), आवत्त (गोल नाव), खुरप्प और बोहित्थ[1] नाम के जलयानों का उल्लेख है। जब जलयान चलाने पर भी नहीं चले तो वणिक् लोगों को

---

१. अंगविज्जा के ३३वें अध्याय में भी जलयानों का उल्लेख मिलता है।

बड़ी चिन्ता हुई और बत्तीस लक्षणों से युक्त किसी परदेशी की बलि देने का निश्चय किया गया। बब्बरदेश में पहुँचकर वहाँ के अधिपति से श्रीपाल का युद्ध होता है, और अन्त में बब्बर राजकुमारी मदनसेना के साथ श्रीपाल का विवाह हो जाता है। आगे चलकर विद्याधरी कन्या मदनमंजूषा से उसका विवाह होता है। सार्थवाह धवलसेठ श्रीपाल की हत्या कर उसकी पत्नियों को हथियाना चाहता है। श्रीपाल को वह समुद्र में गिरा देता है। श्रीपाल किसी मगर की पीठ पर बैठकर कोंकण के तट पर ठाणा (आजकल भी इसी नाम से प्रसिद्ध) नाम के नगर में पहुँचता है। यहाँ क्षेत्रपाल, मणिभद्र, पूर्णभद्र, कपिल और पिंगल, प्रतिहारदेव और चक्रेश्वरी देवी का उल्लेख है जो धवलसेठ को मारने के लिये उद्यत हो जाते हैं। और भी कन्याओं से श्रीपाल का विवाह होता है। मरहट्ट, सोरठ, लाड, मेवाड़ आदि होता हुआ वह अपनी आठों पत्नियों के साथ मालवा पहुँचता है। उज्जैनी में वह अपनी माता के दर्शन करता है। मदनसुन्दरी को वह पट्टरानी बनाता है और धवलश्रेष्ठी के पुत्र विमल को कनकपट्टपूर्वक श्रेष्ठी पद पर स्थापित करता है। सिद्धचक्र की वह पूजा करता है और अमारि की घोषणा करता है। इस प्रकार राजा श्रीपाल अपने राज्य का संचालन करता हुआ अपने कुटुंब-परिवार के साथ धर्मध्यानपूर्वक समय बिताता है।

रयणसेहरीकहा (रत्नशेखरीकथा)

जयचन्द्रसूरि के शिष्य जिनहर्षगणि प्राकृत गद्य-पद्यमय इस प्राकृत ग्रंथ के लेखक हैं जो पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त में हुए हैं।[1] इस ग्रन्थ की रचना चित्तौड़ में हुई है। जिनहर्षगणि ने वस्तुपालचरित्र, सम्यक्त्वकौमुदी तथा विंशतिस्थानक-

१. आत्मानंद जैन ग्रन्थमाला में वि० सं० १९७४ में निर्णयसागर बंबई से प्रकाशित।

चरित्र आदि की भी रचना की है। ये संस्कृत और प्राकृत के बड़े पंडित और अनुभवी विद्वान जान पड़ते हैं। उन्होंने बड़ी सरस और प्रौढ़ शैली में इस कथा की रचना की है। रत्नशेखरी-कथा में पर्व और तिथियों का माहात्म्य बताया है। गौतम गणधर भगवान महावीर से पर्वों के फल के संबंध में प्रश्न करते हैं और उसके उत्तर में महावीर राजा रत्नशेखर और रत्नवती की कथा सुनाते हैं। रत्नशेखर रत्नपुर का रहनेवाला था; उसके महामंत्री का नाम था मतिसागर। रत्नशेखर राजकुमारी रत्नवती के रूप की प्रशंसा सुनकर व्याकुल हो उठता है। मतिसागर जोगिनी का रूप धारण कर सिंहलद्वीप[1] की राजकुमारी रत्नवती से मिलने जाता है। कुशलवार्ता के पश्चात् राजकुमारी जोगिनी से उसके निवास-स्थान के संबंध में प्रश्न करती है। जोगिनी उत्तर देती है—

> कायापाटणि हंस राजा फुरइ पवनतलार।
> तीणइ पाटणि वसइ जोगी जाणइ जोगविचार॥
> एकइं मढली पांचजणाहो छट्ठहो वसइ चण्डालो।
> नीकालता न निकलइ रे तीण किओ विटालो॥

—कायारूपी नगरी में हंसरूपी राजा रहता है, वहाँ पवनरूपी नगर-रक्षक प्रकट होता है। उस नगरी में जोगी बसता है, वह जोग का विचार करना जानता है। एक मंडली में पाँच आदमी हैं, छठा चाण्डाल रहता है। उसे निकालने से भी वह नहीं निकलता, उसने सब कुछ बिगाड़ दिया है।

योग-विचार के संबंध में प्रश्न करने पर जोगिनी ने 'वज्रांग-योनिगुदमध्य' को प्रभिन्न करने पर मोक्ष की प्राप्ति बताई।

तत्पश्चात् रत्नवती ने अपने वर की प्राप्ति के संबंध में

---

१. डॉक्टर गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने इसकी पहचान चित्तौड़ से करीब ४० मील पूर्व में सिंगोली नामक स्थान से की है; ओझा निबन्ध-संग्रह, द्वितीय भाग, पृ० २८१।

जोगिनी से पूछा। उसने उत्तर दिया कि जो कोई कामदेव के मंदिर में द्यूतक्रीड़ा करता हुआ वहाँ पर तुम्हारे प्रवेश को रोकेगा, वही तुम्हारा वर होगा।

मतिसागर मंत्री ने लौटकर सब समाचार राजा रत्नशेखर को सुनाया। राजा अत्यंत प्रसन्न हुआ। राजा ने अपने मंत्री के साथ सिंहलद्वीप की ओर प्रयाण किया और वहाँ कामदेव के मंदिर में पहुँचकर वह अपने मंत्री के साथ द्यूतक्रीडा करने लगा। रत्नवती भी अपनी सखियों को लेकर वहाँ कामदेव की पूजा करने आई। मंदिर में कुछ पुरुषों को देखकर रत्नवती की सखी ने उन लोगों से कहा कि हमारी स्वामिनी राजकुमारी किसी पुरुष का मुँह नहीं देखती, वह यहाँ कामदेव की पूजा करने आई है, इसलिये आप लोग मंदिर से बाहर चले जायें। मंत्री ने उत्तर दिया कि हमारा राजा रत्नशेखर बहुत दूर से आया है, अपने परिवार के साथ मिलकर वह द्यूतक्रीडा कर रहा है, वह किसी नारी का मुँह नहीं देखता, इसलिये तुम अपनी स्वामिनी को कहो कि अभी मंदिर में प्रवेश न करे। सखी ने राजा के रूप की प्रशंसा करते हुए राजकुमारी से जाकर कहा कि कोई अपूर्व रूपधारी राजा मंदिर में बैठा हुआ द्यूतक्रीडा कर रहा है। राजकुमारी को तुरत ही जोगिनी के वचनों का स्मरण हो आया। हर्ष से पुलकित होकर उसने मंदिर में प्रवेश किया। इतने में राजकुमारी को देखकर राजा ने वस्त्र से अपना मुँह ढँक लिया। रत्नवती ने मुँह ढँकने का कारण पूछा तो मंत्री ने उत्तर दिया कि हमारे राजा नारियों का मुँह नहीं देखते। रत्नवती ने प्रश्न किया कि नारियों ने ऐसा कौन सा पाप किया है। मंत्री ने उत्तर दिया—

केता कहुउं नारितणा विचार कुडां करइं कोडिगमे अपार।
बोलइं सविहुनुं विरूउँ तिनीटु जाणइं नही बोरतणउं जे बीट ॥१॥
कथा न पोथे न पुराणि कीधी जे बात देवातनि न प्रसिद्धी।
किमइ न सुभइं किहिरहिं जि बोल नारी पिसाची ति भणइ निटोल॥२॥
कुडातणी कोडि करइं करावइं नारी सदा साचपुणुं जणावइं।

रूडातणी रहाडि सदैव मांडइं नीचातणि संगि स्वधर्मछांडइं ॥३॥[1]

—नारी के विचारों के संबंध में मैं कितना कहूँ, वे कितना अपार कूट-कपट करती हैं, सौगन्ध खा-खाकर झूठ बोलती हैं, बेर की गुठली जितना भी उनको बात का ज्ञान नहीं। जो बात न कथा में है, न पोथी-पुराण में है, देवताओं में भी जो बात प्रसिद्ध नहीं, और जो बात किसी को नहीं सूझती, वह निष्ठुर बोल पिशाची नारी बोलती है। वह करोड़ों कूट-कपट स्वयं करती है, और दूसरों से कराती है, इसमें वह अपना सच्चापन जता देती है। रूढ़ियों से वह सदैव चिपटी रहती है, लकीर की फकीर होती है, और नीच के संग से अपने धर्म को छोड़ देती है।

लेकिन रत्नवती ने कहा कि ये सब बातें कुलीन स्त्रियों के संबंध में नहीं कही जा सकतीं, जो ऐसा कहता है उसका मनुष्य जन्म ही निरर्थक है।

अस्तु, अन्त में रत्नशेखर और रत्नवती का बड़ी धूमधाम से विवाह होता है। दोनों रत्नपुर लौट आते हैं और बड़े सजधज के साथ नगरी में प्रवेश करते हैं।[2] दोनों जैनधर्म का पालन करते हैं तथा व्रत, उपवास, और प्रौषध आदि में अपना समय यापन करते हैं।

एक बार कलिंगदेश के राजा ने जनपद पर चढ़ाई कर दी। सामन्तों ने क्षुब्ध होकर जब राजा रत्नशेखर को यह संवाद सुनाया तो उत्तर में उन्होंने कहा कि आज मेरा प्रौषध है, और इस प्रकार की पापानुबंधी कथा तुम लोगों को नहीं करनी चाहिये। किसी माननीय व्यक्ति ने राजा से निवेदन किया—महाराज! ऐसे समय क्षत्रिय कुल को कलंकित करनेवाले तथा कायर जनों द्वारा सेवित इस धर्म का आपको पालन नहीं करना चाहिये।

---

१. यहाँ तणा, तणउं, तणी, कीधी, मांडइं आदि रूप गुजराती के हैं।

२. मिलाइये—मलिक मुहम्मद जायसी की 'पद्मावत' और जटमल के 'गोरा बादल की बात' की कथा के साथ।

लेकिन राजा ने किसी की बात न मानी और वह आत्मधर्म की मुख्यता का ही प्रतिपादन करता रहा। यहाँ बताया गया है कि जैनधर्म के प्रभाव से विजयलक्ष्मी राजा रत्नशेखर को ही प्राप्त हुई।

एक बार जब राजा ने प्रौषध उपवास कर रक्खा था तो ऋतुस्नाता रत्नवती पुत्र की इच्छा से उसके पास गई लेकिन राजा ने कहा कि किसी भी हालत में वह अपने व्रत को भंग नहीं कर सकता। रत्नवती को बड़ी निराशा हुई। वह कुपित होकर किसी दास के साथ हाथी पर बैठकर भाग गई। राजा ने घोड़े पर बैठकर उसका पीछा किया, लेकिन उसे न पा सका। यहाँ भी यही दिखाया गया है कि यह केवल इन्द्रजाल था और वास्तव में राजा और रानी दोनों ही धार्मिक प्रवृत्तियों में अपना समय यापन कर रहे थे।

प्राकृत और संस्कृत की यहाँ अनेक सूक्तियाँ दी हुई हैं—

जा दव्वे होइ मई, अहवा तरुणीसु रूववन्तीसु।
ता जइ जिणवरधम्मे, करयलमज्झट्ठिआ सिद्धी॥

—जितनी बुद्धि धन में अथवा रूपवती तरुणियों में होती है, उतनी यदि जिनधर्म के पालन में लगाई जाये तो सिद्धि हाथ में आई हुई समझिये।

जिनप्रतिमा और जिनभवन का निर्माण कराना तथा जिन-पूजा करना परम पवित्र कार्य समझा जाने लगा था।

देखिये—

पुत्रं प्रसूते कमलां करोति राज्यं विधत्ते तनुते च रूपम्।
प्रमार्ष्टि दुक्खं दुरितं च हन्ति जिनेन्द्रपूजा कुलकामधेनुः॥

—जिनेन्द्र पूजा से पुत्र की उत्पत्ति होती है, लक्ष्मी की प्राप्ति होती है, राज्य मिलता है, मनुष्य रूपवान होता है, इससे दुख और पाप का नाश होता है, जिनेन्द्रपूजा कुल की कामधेनु है।

व्रत, उपवास और पर्वों का महत्व भी बहुत बढ़ता जा रहा था—

न्हाणं चीवरधोअण मत्थय-गुंथण अबंभचेरं च।
खंडण पीसण पीलण वज्जेयव्वाइं पव्वदिणे॥

—स्नान करना, वस्त्र धोना, सिर गूंथना, अब्रह्मचर्य, खोटना, पीसना और पेलना यह सब पर्व के दिनों में वर्जित है।

वर-कन्या के संयोग के संबंध में उक्ति है—

कत्थवि वरो न कन्ना कत्थवि कन्ना न सुंदरो भत्ता।
वरकन्ना संजोगो अणुसरिसो दुल्लहो लोए॥

—कभी वर अच्छा मिल जाता है लेकिन कन्या अच्छी नहीं होती, कभी कन्या सुन्दर होती है, लेकिन वर सुन्दर नहीं मिलता। वर और कन्या का एक दूसरे के अनुरूप मिलना इस लोक में दुर्लभ है।

वियोग दुख का वर्णन देखिये—

दिण जायइ जणवत्तडी पुण रत्तडी न जाइ।
अणुरागी अणुरागीआं सहज सरिषउं माइ॥

—दिन तो गपशप में बीत जाता है, लेकिन रात नहीं बीतती। हे मां! अनुरागी अनुरागी से मिलकर एक समान हो जाता है।

स्त्री को कौन सी वस्तुएँ प्रिय होती हैं—

थीअह तिन्नि पियारडा कलि कज्जल सिन्दूर।
अनइ विसेणि पियारडां दूध जमाई तूर॥

—स्त्रियों को तीन वस्तुएँ प्रिय होती हैं—कलह, काजल और सिन्दूर। और इन से भी अधिक उनकी प्रिय वस्तुएँ हैं—दूध, जमाई और बाजा।

महिवालकहा (महीपालकथा)

महिवालकहा प्राकृत पद्य में लिखी हुई वीरदेवगणि[1] की रचना है। इस ग्रन्थ की प्रशस्ति से इतना ही पता चलता है

---

१. श्रीहीरालाल द्वारा संशोधित यह ग्रंथ विक्रम संवत् १९९८ में अहमदाबाद से प्रकाशित हुआ है।

कि देवभद्रसूरि चन्द्रगच्छ में हुए थे। उनके शिष्य सिद्धसेनसूरि और सिद्धसेनसूरि के शिष्य मुनिचन्द्रसूरि थे। वीरदेवगणि मुनिचन्द्र के शिष्य थे। विषयवस्तु के विवेचन को देखते हुए यह रचना अर्वाचीन मालूम होती है।

महीपाल उज्जैनी नगरी के राजा के पास रहता था। वह अनेक कलाओं में निष्णात था। एक बार राजा ने गुस्से में आकर इसे अपने राज्य से निकाल दिया। अपनी पत्नी के साथ घूमता-फिरता महीपाल भडौंच में आया और वहाँ से जहाज में बैठकर कटाहद्वीप की ओर चला गया। रास्ते में जहाज भग्न हो गया और बड़ी कठिनाई से किसी तरह वह किनारे पर लगा। कटाहद्वीप के रत्नपुर नगर में पहुँच कर उसने राजकुमारी चन्द्रलेखा के साथ विवाह किया। इसके बाद वह चन्द्रलेखा के साथ जहाज में बैठकर अपनी पूर्व पत्नी सोमश्री की खोज में निकला। देखभाल के लिए राजा का अथर्वण नामका मंत्री उनके साथ चला। रास्ते में राजपुत्री को प्राप्त करने और धन के लोभ से उसने महीपाल को समुद्र में धक्का दे दिया। राजपुत्री चन्द्रलेखा बड़ी दुखी हुई, और वह चक्रेश्वरी देवी की उपासना में लीन हो गई। उधर महीपाल समुद्र को तैरकर किसी नगर में आया और उसने शशिप्रभा के साथ विवाह किया। शशिप्रभा से उसने खट्वा, लकुट और सर्वकामित विद्यायें सीखीं। उसके बाद महीपाल रत्नसंचयपुर नगर में आया, और यहाँ चक्रेश्वरी के मन्दिर में उसे अपनी तीनों स्त्रियाँ मिल गई। नगर के राजा ने महीपाल को सर्वगुणसम्पन्न जानकर मंत्री पद पर बैठाया और अपनी पुत्री चन्द्रश्री का उससे विवाह कर दिया। महीपाल अपनी चारों स्त्रियों को लेकर उज्जैनी वापिस लौटा। अन्त में जैनधर्म की दीक्षा ग्रहण कर महीपाल ने मोक्ष प्राप्त किया।

इस कथा में नवकारमंत्र का प्रभाव, चण्डीपूजा, शासनदेवता की भक्ति, यक्ष और कुलदेवी की पूजा, भूतों की बलि, जिनभवन का निर्माण, केवलज्ञान की प्राप्ति होने पर देवों द्वारा कुसुम-वर्षा,

आचार्यों का कनक के कमल पर आसीन होना आदि विषयों का वर्णन किया है। वेश्यासेवन को वर्जित बताया है। सोने-चाँदी (सोवन्नियहट्ट) और कपड़े की दूकानों (दोसियहट्ट) का उल्लेख है। उड़ते हुए चिड्डे की (उड्डिय चिड्डु व्व) उपमा दी गई है। डिड्डिरिया शब्द का मेढ़की के अर्थ में प्रयोग हुआ है।

इसके सिवाय आरामसोहाकथा (सम्यक्त्वसप्तति में से उद्धृत), अंजनासुन्दरीकथा, अंतरंगकथा, अनन्तकीर्तिकथा, आर्द्रकुमारकथा, जयसुन्दरीकथा, भव्यसुन्दरी कथा, नरदेवकथा, पद्मश्रीकथा, पूजाष्टककथा, पृथ्वीचन्द्रकथा, प्रत्येकबुद्धकथा, ब्रह्मदत्ताकथा, वत्सराजकथा, विश्वसेनकुमारकथा, शंखकलावतीकथा, शीलवतीकथा, सर्वांगसुन्दरीकथा, सहस्रमल्लचौरकथा, सिद्धसेनादिदिवाकरकथा, सुरसुन्दरनृपकथा, सुव्रतकथा, सुसमाकथा, सोमश्रीकथा, हरिश्चन्द्रकथानक आदि कितने ही कथाग्रन्थों की प्राकृत में रचना की गई। इसी प्रकार मौन एकादशीकथा आदि कथायें तिथियों को लेकर तथा गंडयस्सकथा, धर्माख्यानककोश, मंगलमालाकथा आदि संग्रह-कथायें लिखी गईं।[1]



1. देखिये जैन ग्रंथावलि, श्री जैन श्वेताम्बर कान्फरेन्स, मुंबई, वि० सं० १९६५, पृष्ठ २४७—२६८।

औपदेशिक कथा-साहित्य

धर्मदेशना जैनकथा-साहित्य का मुख्य अंग रहा है। इसलिये इस साहित्य में कथा का अंश प्रायः कम रहता है, संयम, शील, दान, तप, त्याग और वैराग्य की भावनाओं की ही इसमें प्रधानता रहती है। जैनधर्म के उपदेशों का प्रचार करने के लिये ही जैन आचार्यों ने इस साहित्य की रचना की थी। इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिये उपदेशमाला नाम के अनेक ग्रन्थों की रचना हुई। उदाहरण के लिये धर्मदास, पद्मसागर, मलधारि हेमचन्द्र आदि ने उपदेशमाला, तथा जयसिंह और यशोदेव आदि विद्वानों ने धर्मोपदेशमाला नाम के पृथक्-पृथक् कथा-ग्रन्थों की रचना की; जयकीर्ति ने सीलोवएसमाला लिखी। हरिभद्र ने उपदेशपद, मुनिसुंदर ने उपदेशरत्नाकर, शांतिसूरि ने धर्मरत्न, आसड ने उपदेशकंदलि आदि उपदेशात्मक ग्रंथ लिखे। इसी प्रकार उपदेशचिंतामणि, उपदेशरत्नकोश, संवेगरंग-शाला, विवेकमंजरी आदि कितने ही कथाग्रन्थों की रचना हुई जिनमें त्याग-वैराग्य को मुख्य बताया गया।

उवएसमाला (उपदेशमाला)

विविध पुष्पों से गूँथी हुई माला की भाँति धर्मदासगणि ने पूर्व ऋषियों के दृष्टांतपूर्वक जिनवचन के उपदेशों को इस उपदेश-माला में गुंफित किया है।[1] इस कथा को वैराग्यप्रधान कहा

---

१. यह ग्रंथ जैनधर्मप्रसारकसभा की ओर से सन् १९१५ में प्रकाशित हुआ है; रत्नप्रभसूरि (सन् ११८२) की दोघट्टी टीका सहित आनंदहेमजैनग्रंथमाला में सन् १९५८ में प्रकाशित। यहाँ प्राकृत पद्यों को संस्कृत में समझाया गया है और कथाएँ प्राकृत में दी हुई हैं।

गया है जो संयम और तप में प्रयत्न न करनेवाले व्यक्तियों को सुखकर नहीं होती। उपदेशमाला में कुल मिलाकर ५५४ गाथायें हैं। ग्रन्थकार ने अपनी इस कृति को शांति देनेवाली, कल्याणकारी, मंगलकारी आदि विशेषणों द्वारा उल्लिखित किया है। जैन परम्परा के अनुसार धर्मदासगणि महावीर के समकालीन बताये गये हैं, लेकिन वे ईसवी सन् की चौथी-पाँचवीं शताब्दी के विद्वान जान पड़ते हैं। इस ग्रन्थ पर जयसिंह, सिद्धर्षि, रामविजय और रत्नप्रभसूरि ने टीकायें लिखी हैं। सिद्धर्षि की हेयोपादेय नामक टीका पर अज्ञातकर्तृक बृहद्-वृत्ति की रचना हुई। उदयप्रभ ने भी उवएसमाला के ऊपर कर्णिकावृत्ति लिखी। ये दोनों वृत्तियाँ अप्रकाशित हैं। आगे चलकर इसके अनुकरण पर धर्मोपदेशमाला आदि की रचना हुई। इसमें चार विश्राम हैं। पहले विश्राम में रणसिंह, चंदनबाला, प्रसन्नचन्द्र, भरत और ब्रह्मदत्त आदि की कथायें हैं। दूसरे विश्राम में मृगावती, जम्बूस्वामी, भवदेव, कुबेरदत्त, मकरदाढ़ा वेश्या, भौताचार्य, चिलातिपुत्र, हरिकेश, वज्रस्वामी, वसुदेव आदि की कथायें हैं। जम्बूस्वामी की कथा में योगराज और एक पुरुष का संवाद है। तीसरे विश्राम में शालिभद्र, मेतार्यमुनि, प्रदेशी राजा, कालकाचार्य, वारत्रक मुनि, सागरचन्द, गोशाल, श्रेणिक, चाणक्य, आर्य महागिरि, सत्यकि, अन्निकापुत्र, चार प्रत्येक बुद्ध आदि की कथायें हैं। चतुर्थ विश्राम में शेलकाचार्य, पुंडरीक-कंडरीक, दर्दुर, सुलस, जमालि आदि की कथायें हैं। शिष्य के संबंध में कहा है—

> थद्धा छिद्दप्पेही, अवण्णवाई सयंमई चवला।
> वंका कोहणसीला, सीसा उव्वेअगा गुरुणो ॥
> रूसइ चोइज्जंतो, वहई हियएण अणुसयं भणिओ।
> न य कम्हि करणिज्जे, गुरुस्स आलो न सो सीसो ॥

—अभिमानी, छिद्रान्वेषण करनेवाले अवर्णवादी, स्वयंमति, चपल, वक्र और क्रोधी स्वभाववाले शिष्य गुरु के लिये उद्वेग-

कारी होते हैं। जो कुछ कहने पर रुष्ट हो जाते हैं, कही हुई बात को मन में रखते हैं, कर्त्तव्य का ठीक से पालन नहीं करते, ऐसे शिष्य शिष्य नहीं कहे जा सकते।

राग-द्वेष के सम्बन्ध में उक्ति है—

को दुक्खं पाविज्जा ? कस्स व सुक्खेहिं विम्हओ हुज्जा ?
को व न लभिज्ज मुक्खं ? रागद्दोसा जइ न हुज्जा ?

—यदि राग-द्वेष न हों तो कौन दुख को प्राप्त करे ? कौन सुख पाकर विस्मित हो ? और किसे मोक्ष की प्राप्ति न हो ?

कपटग्रंथि के संबंध में कहा है—

जाणिज्जइ चिंतिज्जइ, जम्मजरामरणसंभवं दुक्खं।
न य विसयेसु विरज्जई, अहो सुबद्धो कवडगंठी॥

—यह जीव जन्म, जरा और मरण से उत्पन्न होनेवाले दुख को जानता है, समझता है, फिर भी विषयों से विरक्त नहीं होता। कपट की यह गाँठ कितनी दृढ़ बँधी हुई है !

विनय को मुख्य बताया है—

विणओ सासणे मूलं, विणीओ संजओ भवे।
विणयाओ विप्पमुक्कस्स, कओ धम्मो कओ तवो ?

—शासन में विनय मुख्य है। विनीत ही संयत हो सकता है। जो विनय से रहित है उसका कहाँ धर्म है और कहाँ उसका तप है ?

उवएसपद (उपदेशपद)

उपदेशपद याकिनीमहत्तरा के धर्मपुत्र और विरहांक पद से प्रख्यात हरिभद्रसूरि की रचना है, जो कथा साहित्य का अनुपम भण्डार है। ग्रन्थकर्त्ता ने धर्म कथानुयोग के माध्यम से इस कृति में मन्द बुद्धिवालों के प्रबोध के लिए जैनधर्म के उपदेशों को सरल लौकिक कथाओं के रूप में संगृहीत किया है। इसमें १०३९ गाथायें हैं जो आर्या छन्द में लिखी गई हैं। उपदेशपद के ऊपर स्याद्वादरत्नाकर के प्रणेता वादिदेव सूरि के गुरु मुनि-

चन्द्रसूरि की सुखबोधिनी नाम की टीका है जो प्राकृत और संस्कृत में पद्य और गद्य में लिखी है, और अनेक सुभाषितों और सूक्तियों से भरपूर है; अनेक सुभाषित अपभ्रंश में हैं। मुनिचन्द्र सूरि प्राकृत और संस्कृत भाषाओं के बड़े अच्छे विद्वान् थे, और अणहिल्लपाट नगर में विक्रम संवत् ११७४ में उन्होंने इस टीका की रचना की थी।[1]

सर्वप्रथम मनुष्य-जन्म की दुर्लभता बताई गई है। चोल्लक, पाशक, धान्य, द्यूत, रत्न, स्वप्न, चक्र, चर्म, यूप और परमाणु नामक दस दृष्टान्तों द्वारा इसका प्रतिपादन किया है। धान्य का उदाहरण देते हुए बताया है कि यदि समस्त भरत क्षेत्र के धान्यों को मिला कर उनमें एक प्रस्थ सरसों मिला दी जाये तो जैसे किसी दुर्बल और रोगी वृद्धा स्त्री के लिये उस थोड़ी सी सरसों को समस्त धान्यों से पृथक् करना अत्यन्त कठिन है, उसी प्रकार अनेक योनियों में भ्रमण करते हुए जीव को मनुष्य जन्म की प्राप्ति दुर्लभ है। रत्न के दृष्टान्त द्वारा कहा गया है कि जैसे समुद्र में किसी जहाज़ के नष्ट हो जाने पर खोये हुए रत्न की प्राप्ति दुर्लभ है, वैसे ही मनुष्य जन्म की प्राप्ति भी दुर्लभ समझनी चाहिये। विनय का प्रतिपादन करने के लिये श्रेणिक का दृष्टांत दिया गया है। इस प्रसंग में वृद्धकुमारी (वड्डकुमारी) की आख्यायिका दी है। सूत्रदान में नन्दसुन्दरी की कथा का उल्लेख है। बुद्धि के चार भेद बताये हैं—औत्पत्तिकी, वैनयिकी, कर्मजा और पारिणामिका। अनेक पदों द्वारा इनके विस्तृत उदाहरण देकर समझाया गया है। भरतशिला नामक पद में रोहक की कथा दी है। राजा उसकी अनेक प्रकार से बुद्धि की परीक्षा कर अन्त में उसे अपना प्रधान मंत्री बना लेता है। और भी अनेक पहेलियों और प्रश्नोत्तरों के रूप में मनोरंजक आख्यान यहाँ

---

१. मुक्तिकमल जैन मोहनमाला, बड़ौदा से सन् १९२३-५ में दो भागों में प्रकाशित।

दिये गये हैं जो भारतीय कथा-साहित्य के अध्ययन की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं।

एक बार किसी बौद्ध भिक्षु ने गिरगिट को अपना सिर धुनते हुए देखा। उसी समय वहाँ एक श्वेताम्बर साधु उपस्थित हुआ। बौद्ध भिक्षु ने उसे देख कर हँसी में पूछा—"हे क्षुल्लक! तुम तो सर्वज्ञ के पुत्र हो,[1] बताओ यह गिरगिट अपना सिर क्यों धुन रहा है?" क्षुल्लक ने तुरत उत्तर दिया,—"शाक्यव्रति! तुम्हें देख कर चिन्ता से आकुल हो यह ऊपर-नीचे देख रहा है। तुम्हारी डाढ़ी-मूँछ देखकर इसे लगता है कि तुम भिक्षु हो, लेकिन जब वह तुम्हारे लम्बे शाटक (चीवर) पर दृष्टि डालता है तो मालूम होता है तुम भिक्षुणी हो। इसके सिर धुनने का यही कारण है।" भिक्षु बेचारा निरुत्तर हो गया।

एक बार किसी रक्तपट (बौद्ध भिक्षु) ने क्षुल्लक से प्रश्न किया—"इस वेन्यातट नामक नगर में कितने कौए हैं?" क्षुल्लक ने उत्तर दिया—"साठ हजार।" बौद्ध भिक्षु ने पूछा—"यदि इससे कम-ज्यादा हों तो?" क्षुल्लक ने उत्तर दिया—"यदि कम हैं तो समझ लेना चाहिये कि कुछ विदेश चले गये हैं, और अधिक हैं तो समझना चाहिये कि बाहर से कुछ मेहमान आ गये हैं।"

किसी बालक की नाक में खेलते-खेलते लाख की एक गोली चली गई। जब बालक के पिता को पता लगा तो उसने एक सुनार को बुलाया। सुनार ने गरम लोहे की एक सलाई नाक में डालकर लाख की गोली को तोड़ दिया। उसके बाद उसने सलाई को पानी में डालकर ठंढा कर लिया। फिर उसे नाक में डालकर गोली बाहर खींच ली।

एक बार मूलदेव और कण्डरीक नाम के धूर्त कहीं जा रहे थे। रास्ते में उन्होंने बैलगाड़ी में अपनी तरुण पत्नी के साथ

१. जैनधर्म में सर्वज्ञ की मान्यता का यह चिह्न कहा जा सकता है।

एक पुरुष को जाते हुए देखा। तरुणी को देखकर कंडरीक का मन चंचल हो उठा। उसने यह बात मूलदेव से कही। मूलदेव ने कण्डरीक को एक वृक्षों के झुरमुट में छिपा दिया, और स्वयं रास्ते में आकर खड़ा हो गया। जब वह पुरुष अपनी स्त्री के साथ गाड़ी में बैठा हुआ वहाँ पहुँचा तो मूलदेव ने उससे कहा—"देखो, मेरी पत्नी वृक्षों के झुरमुट में लेटी हुई है, वह प्रसवकाल में है, इसलिये जरा देर के लिये अपनी पत्नी को वहाँ भेज दो। पुरुष ने मूलदेव की प्रार्थना स्वीकार कर ली। कुछ समय पश्चात् कण्डरीक के साथ क्रीड़ा समाप्त हो चुकने पर वह मूलदेव के समक्ष उपस्थित हो हँसती हुई उससे कहने लगी—"हे प्रिय! तुम्हारे पुत्र उत्पन्न हुआ है।" फिर अपने पति को लक्ष्य करके उसने निम्नलिखित दोहा पढ़ा—

> खडि गड्डुडी बइल्ल तुहुँ, बेटा जाया ताँह।
> रणिवि हुँति मिलावड़ा मित्त सहाया जाँह॥

—तुम्हारी गाड़ी और बैल खड़े हुए हैं, उसके बेटा हुआ है। जिसके मित्र सहायक होते हैं उसका अरण्य में भी मिलाप हो जाता है।

कोई बौद्ध भिक्षु सन्ध्या के समय चलते-चलते थक कर किसी दिगंबर साधुओं की वसति (अवाउडवसही) में ठहर गया। दिगंबर साधुओं के उपासकों को यह बात अच्छी न लगी। उन्होंने उसे दरवाजेवाले एक कोठे में रख दिया। कुछ ही देर बाद जब वह भिक्षु सोने लगा तो, वहाँ एक दासी उपस्थित हुई और उसने झट से अन्दर से दरवाजा बन्द कर लिया। बौद्ध भिक्षु समझ गया कि ये लोग मुझे बदनाम करना चाहते हैं। उसने कोठरी में जलते हुए दीपक में अपना चीवर जला डाला। संयोगवश वहां पर उसे एक पीछी भी रक्खी हुई मिल गई। बस प्रातःकाल दिगम्बर वेष में अपने दाहिने हाथ से दासी को पकड़ कर जब वह कोठरी से बाहर निकला तो लोगों ने उसे देखा। भिक्षु ऊँचे स्वर में चिल्ला कर दिगम्बर

साधुओं की ओर लक्ष्य करके कहने लगा—"जैसा मैं हूँ, वैसे ही ये सब हैं।"

वैनयिक बुद्धि के उदाहरण देते हुए टीकाकार ने १८ प्रकार की लिपियों का उल्लेख किया है—हंसलिपि, भूतलिपि, यक्षी, राक्षसी, उड्डी, यवनी, फुडुकी, कीडी, दविडी, सिंधविया, मालविणी, नटी, नागरी, लाटलिपि, पारसी, अनिमित्ता, चाणक्यी, मूलदेवी। खड़िया मिट्टी के अक्षर बनाकर खेल-खेल में लिपि का ज्ञान कराया जाता था।

रावण के चरित्र का उल्लेख करते हुए यहाँ राजा दशरथ की तीन प्रिय रानियाँ बताई गई हैं—कौशल्या, सुमित्रा और केकयी। इन्होंने क्रम से राम, लक्ष्मण, और भरत को जन्म दिया। किसी समय दशरथ ने रानी केकयी से प्रसन्न होकर उसे वर दिया। केकयी ने कहा, समय आने पर माँगूँगी। राम के बड़े होने पर जब दशरथ ने उसे अपने पद पर बैठाना चाहा तो केकयी ने भरत को राज्य देने के लिये राजा से कहा। रामचन्द्र को इस बात का पता लगा और वे लक्ष्मण और सीता सहित वन जाने के लिये उद्यत हो गये। तीनों महाराष्ट्र मंडल के किसी गहन वन में जाकर रहने लगे। रावण का पहले से ही सीता के प्रति दृढ़ अनुराग था। वह छल करके वहाँ आया और पुष्पक विमान में सीता को बैठाकर लंकापुरी ले गया। हनुमान ने रामचन्द्र को सीता के लंका में होने का समाचार दिया। तत्पश्चात् राम ने लंका पहुँच कर अपने बंधु के साथ रावण का वध कर सीता को प्राप्त किया। चौदह वर्ष के पश्चात् राम, लक्ष्मण और सीता अयोध्या लौटे। राम की अनुज्ञापूर्वक लक्ष्मण का अभिषेक किया गया। कुछ समय बीतने पर लोगों ने रावण के घर रहने के कारण सीता पर शीलभ्रष्ट होने का आरोप लगाया। यह देखकर एक दिन सीता की किसी सौत ने अपने रूप के लिये संसार भर में प्रसिद्ध रावण का चित्र बनाने के लिये सीता से अनुरोध किया। लेकिन सीता रावण

के केवल पैरों का ही चित्र बना सकी (उसके ऊपर सीता की दृष्टि ही नहीं पहुँची थी)। इस चित्र को अपनी कुटिल बुद्धि से सीता की सौत ने रामचन्द्र को दिखाते हुए कहा—देखिये महाराज, अभी भी यह रावण का मोह नहीं छोड़ती। यह जानकर रामचन्द्र सीता से बहुत असंतुष्ट हुए।[1]

गूढ़ाग्रसूत्र की पिंडपरीक्षा में पादलिप्त आचार्य का उदाहरण दिया है। पारिणामिकी बुद्धि के उदाहरण में वज्रस्वामी के चरित का वर्णन है। स्तूपेन्द्र के उदाहरण में कूलवालग नामक ऋषि का आख्यान है। यह ऋषि गुरु के शाप से तापस आश्रम में जाकर रहने लगा। मागधिका वेश्या ने उसे खाने के लिये लड्डू दिये और वह वेश्या के वशीभूत हो गया। आगे चलकर वह वैशाली नगरी के विनाश का कारण हुआ।

किसी राजा की सभा में कोई भी मंत्री नहीं था। उसे सुमति नाम के किसी अंधे ब्राह्मण का पता लगा। राजा ने रास्ते में लगी हुई बेर की झाड़ी, अश्व और कन्याओं की परीक्षा करा कर उसे मंत्री पद पर नियुक्त किया। वेद का रहस्य समझाने के लिये गुरु ने पर्वतक और नारद को वध करने के लिये एक-एक बकरा देकर उनकी परीक्षा की। अहिंसा को सर्व धर्मों का सार कहा है। आर्यमहागिरि और आर्यसुहस्ति का यहाँ आख्यान दिया है। दशार्णपुर एडकक्षपुर नाम से भी कहा जाता था, इसकी उत्पत्ति का निदर्शन किया है। गजाग्रपद[2]

१. ब्रजभाषा के लोकगीतों में यह प्रसंग आता है। अन्तर केवल इतना ही है कि सौत का स्थान यहाँ ननद को मिलता है। देखिये डाक्टर सत्येन्द्र, ब्रजलोक साहित्य का अध्ययन, पृ० १३७–१३८।

२. गजाग्रपदगिरि का दूसरा नाम दशार्णकूट था। यह दशार्णपुर (एडकाक्षपुर, एरछ, जिला झाँसी) में अवस्थित था। गजाग्रपदगिरि को इन्द्रपद नाम से भी कहा गया है। इसके चारों ओर तथा ऊपर और नीचे बहुत से गाँव थे। देखिये जगदीशचन्द्र जैन, लाइफ इन ऐंशियेण्ट इण्डिया, पृ० २८४, २८३।

तीर्थ में आचार्य महागिरि ने पादोपगमन धारण कर मुक्ति प्राप्त की। अवन्तिसुकुमाल का आख्यान वर्णित है। शुद्ध आज्ञा के बिना क्रियाफल की शून्यता बताई गई है। गोविन्दवाचक का आख्यान दिया है। ये बौद्ध धर्म के अनुयायी महावादी थे और श्रीगुप्तसूरि से वाद में पराजित होकर इन्होंने जैनधर्म में दीक्षा ग्रहण की थी। ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती की कथा दी गई है।

दूसरे भाग में देव द्रव्य का स्वरूप और देव द्रव्य के रक्षण का फल प्रतिपादित किया है। व्रतों को समझाने के लिये सुदर्शन सेठ आदि के उदाहरण दिये हैं। अणुव्रत-पालन में सोमा की कथा दी है। उपकथाओं में झुंटन वणिक् की एक सरस कथा दी है, इसमें रूपक द्वारा धर्म का उपदेश दिया गया है। धन सेठ के पुत्र और शंख सेठ की पुत्री दोनों का विवाह हो गया। दुर्भाग्य से धन-सम्पत्ति नष्ट हो जाने से वे दरिद्र हो गये। धन-पुत्र की पत्नी ने अपने पति को उसके मायके जाकर झुंटणक नामका पशु लाने के लिये कहा। उसने कहा कि इस पशु के रोमों से कीमती कम्बल तैयार कर हम लोग अपनी आजीविका चलायेंगे, लेकिन तुम रात-दिन उसे अपने साथ रखना, नहीं तो वह मर जायेगा। अपनी पत्नी के कहने पर धन-पुत्र झुंटणक को अपने श्वसुर के घर से ले आया, लेकिन उसे एक बगीचे में छोड़कर घर में अपनी पत्नी से मिलने चल दिया। पत्नी के पूछने पर उसने उत्तर दिया कि उसे तो वह एक बगीचे में छोड़ आया है। यह सुनकर उसकी पत्नी ने अपना सिर धुन लिया। इस उदाहरण द्वारा यहाँ बताया गया है कि जैसे धन-पुत्र नाम का संसारी जीव अपनी पत्नी के उत्साहपूर्ण वचनों को सुनकर झुंटणक को पाने के लिये अपने श्वसुर के यहाँ गया और उसे अपने घर ले आया, इसी प्रकार मोहनीय कर्म के क्षयोपशम से यह जीव गुरु के पास उपस्थित होकर धर्म प्राप्त करना चाहता है, और धर्म को वह प्राप्त कर भी लेता है। लेकिन जैसे धन-पुत्र मन्दभाग्य के कारण लोकोपहास के भय से पशु को छोड़ देता है, उसी

प्रकार दीर्घसंसारी होने के कारण धर्म को प्राप्त करके भी यह जीव अज्ञान आदि के कारण उसे सुरक्षित नहीं रख सकता।

धर्म आदि का लक्षण प्रतिपादन करते हुए उपदेशपद में कहा है—

को धम्मो जीवदया, किं सोक्खमरोग्गया उ जीवस्स।
को गोहो सब्भावो, किं पंडिच्चं परिच्छेओ॥
किं विसमं कज्जगती, किं लद्धव्वं जणो गुणग्गाही।
किं सुहगेज्झं सुयणो, किं दुग्गेज्झं खलो लोओ॥[1]

—धर्म क्या है? जीव दया। सुख क्या है? आरोग्य। स्नेह क्या है? सद्भाव। पांडित्य क्या है? हिताहित का विवेक। विषम क्या है? कार्य की गति। प्राप्त क्या करना चाहिये? मनुष्य द्वारा गुण-ग्रहण। सुख से प्राप्त करने योग्य क्या है? सज्जन पुरुष। कठिनता से प्राप्त करने योग्य क्या है? दुर्जन पुरुष।

महाव्रत अधिकार में समिति-गुप्ति का स्वरूप और उनके उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। नन्दिषेण चरित के अन्तर्गत वसुदेव की कथा है। नागश्री के चरित में द्रौपदी का आख्यान है। देशविरति गुणस्थान का प्ररूपण करते हुए रतिसुन्दरी आदि के उदाहरण दिये हैं। धर्माचरण में शंखकलावती का उदाहरण है। इस प्रसंग पर शक्कर और आटे से भरे हुए वर्त्तन के उलट जाने, खाँडमिश्रित सत्तु और घी की कुंडी पलट जाने तथा उफान से निकले हुए दूध के हाथ पर गिर जाने से किसी सज्जन पुरुष के कुटुंब की दयनीय दशा का चित्रण टीकाकार ने किया है—

अह सो सक्करचुन्नमज्झिगयपुन्नु विलोट्टई।
खंडुम्मीसियसत्तुकुंडिधय बाहु पलोट्टइ॥
वाउज्जायं कढियदुद्धि लहसि हत्थह पडियं।
जं दइविं सज्जणकुडुंब एरिस निम्मवियं॥

शंखकलावती के उदाहरण में कपिलनामक ब्राह्मण का

1. यह गाथा काव्यानुशासन (पृ० ३९५), काव्यप्रकाश (१०-५२९) और साहित्यदर्पण (पृ० ८१५) में कुछ हेरफेर के साथ उद्धृत है।

आख्यान है। यह ब्राह्मण गंगा के किनारे रहता था और शौचधर्म का पालन करता था। एक दिन उसने सोचा कि गंगा में मनुष्य, कुत्ते, गीदड़ और बिल्ली आदि सभी की विष्ठा बहती है, जिससे गंगा का जल गंदा हो जाता है। इसलिये मनुष्य और पशुओं से रहित किसी अन्य द्वीप में जाकर मुझे रहना चाहिये जिससे मैं शौचधर्म का निर्विघ्न पालन कर सकूँ। इस बात को उस ब्राह्मण ने किसी मल्लाह से कहा और वह मल्लाह उसे अपनी नाव में बैठाकर चल दिया। किसी द्वीप में पहुँच कर ब्राह्मण ने ईख का खेत देखा, और वह वहाँ गन्ने चूसकर अपना समय यापन करने लगा। जब गन्ने चूसते-चूसते उसके दोनों होठ छिल गये तो वह सोचने लगा कि क्या ही अच्छा होता यदि ईख पर भी फल लगा करते जिससे लोगों को गन्ने चूसने की मेहनत न करनी पड़ती। खोज करते-करते उसे एक जगह पुरुष की सूखी हुई विष्ठा दिखाई दी; ईख का फल समझकर वह उसका भक्षण करने लगा। बाद में वणिक् ने उसे समझाया और सद्धर्म का उपदेश दिया।

आगे चलकर शंखराजर्षि और चौर ऋषि की कथायें दी हैं। दुषमाकाल में भी चरित्र की संभावना बताई गई है। स्वप्नाष्टकों का वर्णन है। सर्प और गरुड़ की पूजा, तथा कन्याविक्रय का उल्लेख है। वाक्य, महावाक्यार्थ आदि भेदों का प्रतिपादन है। लोकरूढ़ित्याग का उपदेश है। धर्मरत्न प्राप्ति की योग्यता को उदाहरणपूर्वक समझाया है। विषयाभ्यास में शुक और भावाभ्यास में नरसुन्दर का आख्यान दिया है। शुद्धयोग में दुर्गत नारी तथा शुद्धानुष्ठान में रत्नशिख की कथा दी है।

धर्मोपदेशमाला-विवरण

धर्मोपदेशमाला और उसके विवरण के रचयिता कृष्णमुनि के शिष्य जयसिंह सूरि हैं।[1] धर्मदास गणी की 'उपदेशमाला'

1. पंडित लालचन्द भगवानदास गांधी द्वारा सम्पादित सिंघी जैन ग्रंथमाला में १९४९ में प्रकाशित।

का अनुकरण करके जयसिंहसूरि ने संवत् ९१५ (ईसवी सन् ८५८) में गद्य-पद्य मिश्रित इस कथा-ग्रन्थ की रचना की है। इस कृति में ९८ गाथायें हैं जिनमें १५६ कथायें गुंफित हैं। अनेक स्थानों पर कादंबरी के गद्य की काव्यमय छटा देखने में आती है। जयसिंहसूरि अलंकारशास्त्र के पंडित थे। इस ग्रन्थ में अनेक देशों, मंदिरों, नदियों, सरोवरों आदि के प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन हैं, तथा प्रेमपत्रिका, प्रश्नोत्तर, पादपूर्ति, वक्रोक्ति, व्याजोक्ति, गूढोक्ति आदि के उदाहरण यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। महाराष्ट्री भाषा को सुललित पद-संचारिणी होने के कारण कामिनी और अटवी के समान सुन्दर कहा गया है।[1] धार्मिक तत्त्वज्ञान के साथ-साथ यहाँ तत्कालीन सामाजिक और व्यावहारिक ज्ञान का भी चित्रण मिलता है। इस ग्रन्थ की बहुसंख्यक कथायें यद्यपि प्राचीन जैन ग्रन्थों से ली गई हैं, फिर भी उनके कथन का ढंग निराला है।

दान के फल में धन सार्थवाह और शील के फल में राजीमती की कथा वर्णित है। राजीमती के आख्यान में स्त्रियों की निन्दा है, लेकिन साथ ही यह भी कहा है कि ऋषभ आदि तीर्थंकरों ने स्त्री-भोग करने के पश्चात् ही संसार का त्याग किया था। राजीमती के विवाह (वारेज्जय) महोत्सव का वर्णन है। पर्वत की गुफा में राजीमती को वसन रहित अवस्था में देखकर रथनेमी उसे भोग भोगने के लिये निमंत्रित करता है। राजीमती उसे उपदेश देती है। तप के परिणाम में दृढ़प्रहारी और भाव के फल में इलापुत्र आदि की कथाओं का वर्णन है। यथार्थवाद का कथन करने में आचार्य कालक का आख्यान है। वणिक् पुत्र की कथा में दिव्य महास्तूप से विभूषित मथुरा नगरी का उल्लेख है। वणिक्पुत्र मथुरा के राजा की रानी को देखकर उसके प्रति अनुरक्त हो गया

---

१. सललियपयसंचारा पयडियमयणा सुवण्णरयणेल्ला।
मरहट्ठयभासा कामिणी य अडवी य रेहंति॥

था। उसने एक पुड़िया पर निम्नलिखित श्लोक लिखकर उसके पास भिजवाया—

काले प्रसुप्तस्य जनार्दनस्य, मेघांधकारासु च शर्वरीषु।
मिथ्या न भाषामि विशालनेत्रे, ते प्रत्यया ये प्रथमाक्षरेषु ॥

इस श्लोक के प्रत्येक पद के प्रथम अक्षरों को मिलाने से 'कामेमि ते' रूप बनता है, अर्थात् मैं तुमसे प्रेम करता हूँ।

उत्तर में रानी ने निम्नलिखित उत्तर भेजा—

नेह लोके सुखं किंचिच्छादितस्यांहसा भृशम्।
मितं (च) जीवितं नृणां तेन धर्मे मतिं कुरु ॥

चारों पादों के अक्षरों को मिलाकर 'नेच्छामि ते' रूप बनता है, अर्थात् मैं तुझे नहीं चाहती।[1]

पुष्पचूला की कथा में संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, पैशाची, मागधी, मध्यउत्तर, बहिःउत्तर, एकालाप, और गत-प्रत्यागत नाम के प्रश्नोत्तरों का उल्लेख है।

संस्कृत प्रश्नोत्तर का उदाहरण—

कां पाति न्यायतो राजा ? विश्रसा बोध्यते कथं ?
टवर्गे पंचमः को वा ? राजा केन विराजते ?
धरणेन्दो कं धारेइ। केण व रोगेण दोब्बला होंति ?
केण व रायइ सेण्णं ? पडिवयणं 'कुंजरेण' त्ति ॥

—राजा किसका न्यायपूर्वक पालन करता है ? पृथ्वी का (कुं)। कोई बात विश्वासपूर्वक कैसे समझाई जा सकती है ? वृद्ध पुरुषों के द्वारा (जरेण)। टवर्ग का पाँचवाँ अक्षर कौन-सा है ? ण। धरणेन्द्र किसको धारण करता है ? तीनों लोकों को (कुं)। किस रोग से मनुष्य दुर्बल हो जाता है ? वृद्धावस्था से (जरेण)। किस सेना से राजा शोभा को प्राप्त होता है ? हाथी से (कुंजरेण)।

---

१. हरिभद्र की आवश्यकटीका में भी ये दोनों श्लोक आये हैं, देखिये पहले पृष्ठ २१३।

यहाँ प्रयागतीर्थ की उत्पत्ति का उल्लेख है।

नूपुरपंडित की कथा प्राचीन जैन शास्त्रों में वर्णित है। स्त्रियों के निन्दासूचक वाक्यों का यहाँ उल्लेख है। आत्मदमन के उपदेश के लिये सिद्धक, और भाव के अनुरूप फल का प्रतिपादन करने के लिये सांब-पालक के आख्यान वर्णित हैं। सुभद्रा की कथा जैन शास्त्रों में सुप्रसिद्ध है। सत्संग का फल दिखाने के लिये वंकचूलि, कर्त्तव्य का पालन करने के लिये वणिक्स्त्री, गुरु के आदेश का पालन करने के लिये राजपुरुष, गुरु का पराभव दिखाने के लिये इन्द्रदत्त के पुत्र, और क्रोध न करने के लिये मेतार्य और दमदन्त की कथायें कही गई हैं। आषाढ़सूरि, श्रेयांस, आर्या चन्दना, कृतपुण्य, शालिभद्र, मूलदेव, आर्यरक्षित, चित्रकर-सुत और दशार्णभद्र के आख्यान, प्राचीन जैन ग्रंथों में भी आते हैं। मूलदेव की कथा में एक स्थान पर कहा है—

> अपात्रे रमते नारी, गिरौ वर्षति माधवः।
> नीचमाश्रयते लक्ष्मीः, प्राज्ञः प्रायेण निर्धनः॥

—नारी अपात्र में रमण करती है, मेघ पर्वत पर बरसता है, लक्ष्मी नीच का आश्रय लेती है, और विद्वान् प्रायः निर्धन रहता है।

फिर—

> सारय-ससंक-धवला कित्ती भुवणं न जस्स धवलेइ।
> नियपोटभरणवावडरिट्ठसरिच्छेण किं तेण?॥

—शरद्कालीन चन्द्रमा के समान जिसकी धवल कीर्त्ति लोक को उज्ज्वल नहीं करती, वह अपने पेट भरने में संलग्न किसी मदोन्मत्त सांड के समान है, उससे क्या लाभ?

तत्पश्चात् नन्दिषेण, सुलसा, प्रत्येकबुद्ध, ब्रह्मदत्त, त्रिपृष्ठ-वासुदेव, चाणक्य, नागिल, वंचक वणिक्, सुभूम चक्रवर्ती चित्रकार-सुता, सुबन्धु, केशी गणधर आदि की कथाओं का वर्णन है। मधुबिन्दु कूप-नर की कथा समराइच्चकहा में आ चुकी है।

द्विजतनय की कथा से मालूम होता है युवती-चरित्र की शिक्षा प्राप्त करने के लिये लोग पाटलिपुत्र जाया करते थे। लाट देश में मामा की लड़की से, उत्तर में सौतेली मां से और कहीं अपनी भौजाई के साथ विवाह करना जायज्ञ माना जाता था। स्त्रियों के संबंध में उक्ति है—

रज्जावेंति न रज्जंति लेंति हिययाइं न उण अप्पेंति।
छप्पण्णयबुद्धीओ जुवईओ दो विसरिसाओ॥

—स्त्रियाँ दूसरे का रंजन करती हैं लेकिन स्वयं रंजित नहीं होतीं, वे दूसरों का हृदय हरण करती हैं लेकिन अपना हृदय नहीं देतीं। दूसरों की छप्पन बुद्धियाँ उनकी दो बुद्धियों के बराबर हैं।

धन सार्थवाह की कथा में मार्गों के गुण-दोष प्रतिपादन करते हुए सार्थ के साथ जानेवाले व्यापारियों के कर्त्तव्यों का उल्लेख है। ग्रामेयक की कथा में एक ग्रामीण की कथा है। समयज्ञ साधु की कथा में एक उक्ति है—

सुद्धसहावम्मि जणे जो दोसं देइ पडइ तस्सेव।
गुंडिज्जइ णणु सो च्चिय जो धूलिं खिवइ चंदस्स॥

—शुद्ध स्वभाव वाले मनुष्य को जो कोई दोषी ठहराता है, वह दोष उसके ऊपर आता है। उदाहरण के लिये, यदि कोई व्यक्ति चन्द्रमा के ऊपर धूल फेंकने का प्रयत्न करे तो वह धूल उसी के ऊपर आकर गिरती है।

विष्णुकुमार की कथा में १४ रत्नों की उत्पत्ति का उल्लेख है। श्रावकसुत की कथा में श्मशान में पहुँच कर कापालिकों द्वारा मंत्रसिद्धि किये जाने का उल्लेख है। काकजंघ की कथा में युवतियों के सामने कोई गुह्य बात प्रकट न करने का आदेश है। औत्पत्तिकी आदि चार प्रकार की बुद्धियों का प्रतिपादन करने के लिये जैन आगम-ग्रन्थों में वर्णित रोहक आदि की कथायें यहाँ भी कही गई हैं। दो मल्लों की कथा में मल्ल-महोत्सव का वर्णन है।

सीलोवएसमाला

इसके कर्ता जयसिंहसूरि के शिष्य जयकीर्ति हैं। इनमें उन्होंने ११६ गाथाओं में शील अर्थात् ब्रह्मचर्य-पालन का उपदेश दिया है। इस ग्रन्थ के ऊपर संघतिलक के शिष्य सोमतिलक सूरि ने शीलतरंगिणी नाम की वृत्ति वि० सं० १३६४ (ईसवी सन् १३३७) में लिखी है। विद्यातिलक और पुण्यकीर्ति ने भी वृत्तियों की रचना की है। यह ग्रन्थ अप्रकाशित है।

भुवनसुन्दरी

नागेन्द्रकुल के आचार्य समुद्रसूरि के दीक्षित शिष्य विजयसिंह सूरि ने सन् ६१७ में ११००० श्लोकप्रमाण प्राकृत में भुवनसुंदरी नाम की कथा की रचना की। इसकी हस्तलिखित प्रति मुनि पुण्यविजय जी के पास है, इसे वे शीघ्र ही प्रकाशित कर रहे हैं।

भवभावना

भवभावना के कर्त्ता मलधारि हेमचन्द्रसूरि हैं। प्रश्नवाहन कुल के हर्षपुरीय नामक विशाल गच्छ में जयसिंहसूरि हुए, उनके शिष्य का नाम अभयदेवसूरि था। अभयदेव अल्प परिग्रही थे और अपने वस्त्रों की मलिनता के कारण मलधारी नाम से प्रसिद्ध थे। पंडित श्वेतांबराचार्य भट्टारक के रूप में प्रसिद्ध मलधारी हेमचन्द्रसूरि इन्हीं अभयदेव के शिष्य थे। इन्होंने विक्रम संवत् ११७० (सन् ११२३) में मेड़ता और छत्रपल्ली में रहकर भवभावना (जिसे उपदेशमाला भी कहा है) और उसकी स्वोपज्ञ वृत्ति की रचना की है।[1] ये आचार्य अनुयोगद्वार-सूत्र-वृत्ति, आवश्यकटिप्पण, उपदेशमाला (पुष्पमाला), शतक-विवरण, जीवसमासविवरण आदि ग्रन्थों के भी रचयिता हैं। भवभावना की बारह भावनायें बारह दिन में पढ़ी जाती हैं। इसमें ५३१ गाथायें हैं जिनमें १२ भावनाओं का वर्णन है।

---

१. ऋषभदेव केशरीमलजी जैन श्वेतांबर संस्था, रतलाम द्वारा वि० सं० १९९२ में दो भागों में प्रकाशित।

अधिकांश भाग प्राकृत गाथाओं में लिखा गया है, बीच-बीच में गद्यमय संस्कृत का भी उपयोग किया है, अपभ्रंश के पद्य भी हैं। ग्रन्थ के पद्यात्मक स्वोपज्ञ विवरण में अनेक धार्मिक व लौकिक कथायें गुंफित हैं। कितने ही चित्रण बड़े स्वाभाविक और सुंदर बन पड़े हैं। प्राकृत और संस्कृत की अनेक उक्तियाँ यहाँ दी हुई हैं। अधिकांश भाग में नेमिनाथ के चरित्र का ही वर्णन है। देशभाषा और देशाचार का ज्ञान लेखक ने आवश्यक बताया है—

न मुणेइ देसभासा देसायारं न नीइ विन्नाणं।
तत्तो धुत्तेहिं पए पए य वंचिज्जए अबुहो॥

—जो देशभाषा और नीतिवेत्ताओं के देशाचार को नहीं जानता वह मूर्ख, धूर्तों के द्वारा पद-पद पर ठगा जाता है।

अपराजितकुमार के सौन्दर्य को देखने के लिये देवकुल, हाट और प्रासादों पर लोगों की भीड़ इकट्ठी हो रही है। उसे देखकर युवतियाँ परस्पर ठठोलियाँ कर रही हैं—

काऽवि भणइ तं पिअसहि। मुणसि कयग्घत्तणं सिरीए जओ।
परिभूअ पंकयंपि हु अहिअंसेणेइ कुमरमुहं॥
अन्ना पभणइ अच्छीणि निअह एअस्स कन्नयत्ताइं।
अन्ना जंपइ न इमं जमिमेहिं अहं पि नो पत्ता॥
सा निइयत्ति मन्ने कंबुवममिमस्स कोमलं जीवं।
जा बाहुपासएण बंधिहिइ भणेइ इअमन्ना॥
सुरसेलसिलाविउले इमस्स वच्छत्थलम्मि कयउन्ना।
काऽवि किर रइकिलन्ती अलीअनिद्दासुहं लहिही॥
अन्ना पेल्लइ अन्नं अन्ना अन्नं च भणइ महमग्गां।
देसु वइस्सइ इहरा ममावि तं चिअ भणइ अन्ना॥

—कोई अपनी सखी से कह रही है—हे प्रियसखि! तू लक्ष्मी की इस कृतघ्नता को समझती है कि कमल का तिरस्कार करके उसने कुमार के मुख का आश्रय लिया है। दूसरी कहने लगी—कानों तक फैले हुए इसके नेत्रों को तो जरा देखो।

तीसरी ने कहा—यदि इसने मुझे प्राप्त नहीं कर लिया तो फिर यह हुआ ही क्या ? चौथी ने कहा—हे सखि ! मैं तो उसे बड़ी निर्दय समझूंगी जो कंबु के समान इसकी ग्रीवा को अपने बाहुपाश से बांधेगी। पाँचवीं कहने लगी—मेरुपर्वत की शिला के समान विस्तृत इसके वक्षस्थल पर कोई कृतपुण्या ही क्रीडा से श्रान्त होकर अलीक निद्रा को प्राप्त होगी। इस प्रकार वे एक दूसरे को धकेलती हुई रास्ता मांग रही थीं।

शंख का जन्म होने पर राजा को बधाइयाँ दी गई। रंगे हुए धागों से सारे घर में रंगोलियाँ बनाई गईं, कनकघटित हल और मूसलों को खड़ा कर दिया गया, सर्वत्र घी और गुड़ से युक्त सोने के दीपक जलाये गये, द्वारों पर कमलों से आच्छादित कलश रक्खे गये, लोगों की रक्षा के लिये द्वार पर हाथ में तलवार लिये सुभट नियुक्त किये गये, ध्वजायें फहराई गईं, गली-मोहल्लों में तोरण लटकाये गये, मार्गों में, चौराहों पर तथा नगरवासियों के द्वारों पर सोने के चावलों के ढेर लगा दिये गये। बंदी जेल से छोड़ दिये गये, दस दिन की अमारी (मत मारो) घोषणा की गई। जिनमंदिरों में पूजा की गई, दस दिन तक कर उगाहना और किसी को दंड देने की मनाई कर दी गई, दुंदुभि बाजे बजने लगे, वारवनिताओं के नृत्य होने लगे, पुष्प, तांबूल और वस्त्र आदि बांटे जाने लगे, द्राक्ष और खजूर का भोजन परोसा जाने लगा, द्राक्ष, खजूर और खांड का शर्बत पिलाया जाने लगा।

बड़े होने पर कुमार को लेखाचार्य के पास भेजा गया जहाँ उसने व्याकरण, न्याय, निमित्त, गणित, सिद्धांत, मंत्र, देशीभाषा, शस्त्रविद्या, वास्तुशास्त्र, वैद्यक, अलंकार, छंद, ज्योतिष, गारुड, नाटक, काव्य, कथा, भरत, कामशास्त्र, धनुर्वेद, हस्तिशिक्षा, तुरगशिक्षा, द्यूत, धातुवाद, लक्षण, कागरुत, शकुन, पुराण, अंगविद्या तथा ७२ कलाओं की शिक्षा प्राप्त की।

मृतक की हड्डियों को गंगा में सिराने का रिवाज था। कोई राजा का मंत्री अपनी पत्नी से बहुत स्नेह करता था। पत्नी के

मर जाने पर वह उसकी हड्डियों का संग्रह करके उनकी पूजा करने लगा। फिर एक दिन बनारस जाकर उसने उन हड्डियों को गंगा में सिरा दिया।

हरिवंशकुल की उत्पत्ति को दस आश्चर्यों में गिनाया है। इस प्रसंग पर दशार्ह राजाओं का उल्लेख है। फिर कंस का वृत्तान्त, वसुदेव का चरित्र, चारुदत्त की कथा, अनार्य वेदों की उत्पत्ति, देवकी का विवाह, कृष्ण का जन्म, नेमिनाथ का जन्म, कंसवध, राजीमति का जन्म, नेमिनाथ का वैराग्य आदि का वर्णन है।

वेदों की उत्पत्ति के संबंध में कहा है कि जन्नवक (याज्ञवल्क्य) नामक तापस और सुलसा के संयोग से आश्रम में पुत्र की उत्पत्ति हुई। पीपल की छाया में बड़े होने के कारण इसका नाम पिप्पलाद पड़ा। सांगोपांग वेदों का उसने अध्ययन किया तथा अपने माता-पिता को वाद में हराया। बाद में जब उसे पता चला कि वह शीलभ्रष्ट माता-पिता का पुत्र है तो उसने अपने माता-पिता को मारने के लिये अनार्य वेदों की रचना की जिनमें पितृमेध, मातृमेध, पशुमेध, आदि का प्रतिपादन किया गया। टंकण देश में भी पशुमेध यज्ञ का प्रचार हो गया था, रुद्रदत्त ने इस यज्ञ को बंद कर जिन धर्म का प्रचार किया। जान पड़ता है कि स्त्रियों को भी वेदपठन का निषेध नहीं था। वसुदेव जब घूमते-फिरते किसी ग्राम में पहुँचे तो वहाँ ब्राह्मण आदि सब लोग वेदाभ्यास में संलग्न थे। किसी ब्राह्मण की क्षत्रियाणी भार्या से उत्पन्न सोमश्री नाम की कन्या ने भी समस्त वेदों का अभ्यास किया था। उसका प्रण था कि जो उसे वेदाभ्यास में हरा देगा उसके साथ वह विवाह कर लेगी। कृष्ण जब ब्रह्मदत्त नामक ब्राह्मण के समीप वेदाभ्यास करने गये तो उसने प्रश्न किया कि तुम अनार्य वेदों का अध्ययन करना चाहते हो या आर्य वेदों का? यहाँ भरत चक्रवर्ती को आर्य वेदों का तथा पर्वतक, मधुपिंग और पिप्पलाद को अनार्य

वेदों का कर्त्ता बताया गया है। वसुदेव ने इन दोनों वेदों का अध्ययन किया।

वाचा, दृष्टि, निजूह (मल्लयुद्ध) और शस्त्र इन चार प्रकार के युद्धों का उल्लेख है। मल्लों में निजूहयुद्ध, वादियों में वाक्-युद्ध, अधम जनों में शस्त्रयुद्ध तथा उत्तम पुरुषों में दृष्टियुद्ध होता है। मथुरा नगरी में मल्लयुद्ध के लिये बड़ी धूमधाम से तैयारियाँ की जाती थीं, वणिक् लोग यवनद्वीप से अपनी नावों में माल भर कर लाये और द्वारका में आकर उन्होंने बहुत-सा धन कमाया। यहाँ से वे लोग मगधपुर (राजगृह) गये। वहाँ रानी ने बहुमूल्य रत्न, कंबल आदि देखकर उनसे माँगे। इस पर वणिक् लोगों को बहुत बुरा लगा, और वे सोचने लगे कि हमारे भाग्य फूट गये जो हम द्वारका छोड़कर यहाँ आये। व्यापारियों ने कहा, यादवों को छोड़कर इन वस्तुओं का इच्छित मूल्य और कोई नहीं दे सकता।

रैवतक पर्वत पर वसन्तक्रीडा और जलक्रीडा का सरस वर्णन है।

नेमिनाथ के चरित्र के बाद अनित्यभावना प्रारंभ होती है। इस प्रसंग पर बलिराजा और भुवनभानु के चरित्र का विस्तार से वर्णन है। अशरणभावना में कौशांबी के राजा चन्द्रसेन, सोमचन्द्र, नन्द, कुचिकर्ण, तिलकश्रेष्ठी, सगर चक्रवर्ती और हस्तिनापुर के राजकुमार की कथायें हैं। एकत्वभावना में राजा मधु का दृष्टान्त दिया है। संसारभावना में चारों गतियों का स्वरूप उदाहरणपूर्वक प्रतिपादित किया है। इस प्रसंग में बताया है कि सरस्वती नाम की कोई सार्थवाह की कन्या किसी ब्राह्मण के पास स्त्रियोचित कलाओं का अध्ययन किया करती थी। वणिक्-पुत्र देवदत्त आदि विद्यार्थी भी उसी गुरु से विद्या का अध्ययन करते थे। एक बार गुरु जी अपनी स्त्री को पीटने लगे तो विद्यार्थियों ने उन्हें रोका। विद्याध्ययन समाप्त करने के पश्चात्

देवदत्त और सरस्वती का विवाह हो गया। भूई नाम की कलहकारिणी सास का चित्रण देखिये—

कम्मक्खणि य न गेहु मुयंती। बहुयाए सह जुज्झि लगंती।
मुणिवर पेक्खिवि मुहु मोडंती, देंती ताडण फोडिहिज्जंती॥
गेहममत्तिण पाव कुणंती, धम्मु मणिवि न कयाइ धरंती।
एवह निक्खपणियम्मि हुइ, अच्छइ बारि बइट्ठी भूइ॥

—कर्मों की खान वह घर नहीं छोड़ सकती है, बहू के साथ वह लड़ाई-झगड़ा करती है, मुनियों को देखकर मुँह बिचकाती है, उनका मारण-ताडन करती है। घर की ममता से वह पाप करती है, मन में धर्म कभी धारण नहीं करती—ऐसी अभागी भूई घर के द्वार पर बैठी हुई है।

कौशांबी के किसी ब्राह्मण की दरिद्रता का चित्रण किया गया है—

नत्थि घरे मह दव्वं विलसइ लोओ पयट्टछणओ त्ति।
डिंभाइं रुयंति तहा हद्धी किं देमि घरिणीए?
दिंति न मह ढोयंपि हु अत्तसमिद्धीइ गव्विया सयणा।
सेसाविहु धणिणो परिहवंति न हु देंति अवयासं॥
अज्ज घरे नत्थि घयं तेल्लं लोणं च इंधणं वत्थं।
जाया व अज्ज तउणी[1] कल्ले किह होहिइ कुडुंबं॥
वड्ढइ घरे कुमारी बाली तणओ न विढप्पइ अत्थे।
रोगबहुलं कुडुंबं ओसहमोल्लाइयं नत्थि॥
उक्कोपा मह घरिणी समागया पाहुणा बहू अज्ज।
जिन्नं घरं च हट्टं झरइ जलं गलइ सव्वं पि॥
कलहकरी मह भज्जा असंवुडो परियणो बहू विरूवो।
देसो अधारणिज्जो एसो वच्चामि अन्नत्थ॥
जलहि पविसेमि महिं तरेमि धाउं धमेमि अहवा वि।
विज्जं मंतं साहेमि देवयं वावि अच्चेमि॥
जीवइ अज्जवि सत्तू मओ य इट्ठो पहू य मह हट्ठो।
दाणिग्गहणं मग्गंति विहविणो कत्थ वच्चामि?

1. पश्चिमी उत्तर प्रदेश में तौणी शब्द आजकल भी प्रचलित है।

—मेरे घर में पैसा नहीं है और लोग उत्सव मनाने में लगे हैं। बच्चे मेरे रो रहे हैं, अपनी घरवाली को मैं क्या दूँ? भेंट देने को भी तो कुछ मेरे पास नहीं, मेरे स्वजन-संबंधी अपनी समृद्धि में मस्त हैं, दूसरे धनी लोग भी तिरस्कार ही करते हैं, वे स्थान नहीं देते। आज मेरे घर घी, तेल, नमक, ईंधन और वस्त्र कुछ भी तो नहीं है। तौनी (मिट्टी का बर्तन) भी आज खाली है, कल कुटुम्ब का क्या होगा? घर में कन्या सयानी हो रही है, लड़का अभी छोटा है इसलिये धन कमा नहीं सकता। कुटुंब के लोग बीमार हैं और दवा लाने के लिये पास में पैसा नहीं। घरवाली गुस्से से मुँह फैलाये बैठी है, बहुत से पाहुने घर में आये हुए हैं। घर पुराना हो गया है, वह भी चूता है, सब जगह पानी गिर रहा है। औरत मेरी लड़ाई-झगड़ा करती है, परिवार के लोग असंयमी हैं, राजा प्रतिकूल है, इस देश में अब रहा नहीं जाता, कहीं और जाना चाहता हूँ। क्या करूँ? क्या समुद्र में प्रवेश कर जाऊँ? पृथ्वी के उस पार पहुँच जाऊँ? किसी धातु का धमन करूँ? किसी विद्या या मंत्र की साधना करूँ? या फिर किसी देव की अर्चना करूँ? मेरा शत्रु आज भी जीवित है, मेरा इष्ट प्रभु मुझसे रूठ गया है, धनवान अपना कर्ज वापिस माँगते हैं, कहाँ जाऊँ?

यह ब्राह्मण अपनी गर्भवती स्त्री के लिये घी, गुड़ का प्रबंध करने के वास्ते धन का उपार्जन करने गया है। रास्ते में उसे एक विद्यामठ मिला जहाँ अध्यापक अपने शिष्यों को नीतिशास्त्र की शिक्षा देते हुए धनोपार्जन की मुख्यता का प्रतिपादन कर रहे थे। ब्राह्मण ने प्रश्न किया कि महाराज! किस उपाय से धन का उपार्जन किया जाय। अध्यापक ने उत्तर दिया कि ईख का खेत, समुद्रयात्रा, योनिपोषण (वेश्यावृत्ति), और राजाओं की कृपा—इन चार प्रकारों से क्षण भर में दरिद्रता नष्ट हो जाती है—

खेत्तं उच्छूण समुद्दसेवणं जोणिपोसणं चेव।
निवईणं च पसाओ खणेण निहणंति दारिद्द ॥

आश्रवभावना के अन्तर्गत मान के उदाहरण में राजपुत्र उज्झित की कथा दी है। उसके पैदा होने पर उसे एक सूप में रख कर कचरे की कूड़ी (कयवरुक्कुरुडे)[1] पर डाल दिया गया था, इसलिये उसका नाम उज्झित रक्खा गया। बड़ा होने पर उसे कलाओं की शिक्षा के लिये अध्यापक के पास भेजा गया, लेकिन वह अपने गुरु का अपमान करने लगा। राजा को जब इस बात का पता लगा तो उसने कहला भेजा कि उसकी डंडे से खबर लो। गुरु ने उसे छड़ी से मारा लेकिन उज्झित ने गुरुजी के ऐसी ज़ोर की लाठी जमाई कि वे ज़मीन पर गिरकर मूर्छित हो गये।

माया के उदाहरण में एक वणिक् कन्या की कथा दी है। यह कन्या बड़ी मायावती थी। जब उसके पुत्र हुआ तो कपटवश उसने अपने पति से कहा कि मैं पर-पुरुष का स्पर्श नहीं करती, इसलिये इसे दूध पिलाने के लिये आप किसी धाय की व्यवस्था करें। अन्त में अपने दुश्चरित्र के कारण उसे घर से निकाल दिया गया।

निर्जराभावना में कनकावलि, रत्नावलि, मुक्तावलि, सिंह-विक्रीडित आदि तपों का विवेचन है।

एक स्थान पर उपमा देते हुए कहा है कि जैसे युवतिजनों के मन में कोई बात गोपनीय नहीं रह सकती और वह चट से बाहर आ जाती है, इसी प्रकार समुद्र में तूफान उठने पर जहाज़ के टूटने की तड़तड़ आवाज़ हुई (फुट्टाइं पवहणाइं तडत्ति जुवईण मुणिअगुज्झं व)। जैसे मकोड़े गुड़ पर चिपट जाते हैं, वैसे ही धन-संपत्ति के प्रति मनुष्य की गृध्रता बताई गई है।

अनेक सुभाषित भी यहाँ देखने में आते हैं—

१. वरसंति घणा किमवेक्खिऊण ? किं वा फलंति वरतरुणो ?

---

१. गुजराती में उकरडी; पश्चिमी उत्तरप्रदेश में कुरड़ी कहते हैं। राजा कूणिक (अजातशत्रु) को भी पैदा होने के बाद कूड़ी पर डाल दिया था।

किमविक्खो य पणासइ सूरो तिमिरं तिहुअणस्स ?

—मेघ किसके लिये बरसते हैं ? सुन्दर वृक्ष किसके लिये फलते हैं ? सूर्य तीनों लोकों के अंधकार को क्यों नष्ट करता है ?

२. जस्स न हिअयंमि बलं कुणंति किं हंत तस्स सत्थाइं ? ६
निअसत्थेणऽवि निहणं पावंति पहीणमाहप्पा ॥

—जिसके हृदय में शक्ति नहीं, उसके शस्त्र किस काम में आयेंगे ? अपने शस्त्र होने पर भी क्षीण शक्तिवाले पुरुष मृत्यु को प्राप्त होते हैं ।

३. दोसा कुसीलइत्थी वाहीओ सत्तुणो खला दुट्ठा ।
मूले अनिरुभंता दुक्खाय हवंति वड्ढंता ॥

—दोष, व्यभिचारिणी स्त्री, व्याधि, शत्रु और दुष्ट पुरुषों को यदि आरंभ से ही न रोका जाये तो वे दुख के कारण होते हैं ।

४. महिला हु रत्तमेत्ता उच्छुखंडं व सक्करा चेव ।
हरइ विरत्ता सा जीवियंपि कसिणाहिगरलव्व ॥

—महिला जब आसक्त होती है तो उसमें गन्ने के पोरे अथवा शक्कर की भांति मिठास होता है, और जब वह विरक्त होती है तो काले नाग की भांति उसका विष जीवन के लिये घातक होता है ।

५. पढमं पि आवयाणं चिंतेयव्वो नरेण पडियारो ।
न हि गेहम्मि पलित्ते अवडं खणिउं तरइ कोई ॥

—विपत्ति के आने के पहले ही उसका उपाय सोचना चाहिये । घर में आग लगने पर क्या कोई कुंआँ खोद सकता है ?

६. जाई रूयं विज्जा तिन्निवि निवडंतु कंदरे विवरे ।
अत्थोच्चिय परिवड्ढउ जेण गुणा पायडा होंति ॥

—जाति, रूप और विद्या ये तीनों ही गुफा में प्रवेश कर जायें, केवल एक धन की वृद्धि हो जिससे गुण प्रकट होते हैं ।

मथुरा में सुपार्श्व जिन के सुवर्णस्तूप होने का उल्लेख है । रुद्रदत्त के सुवर्णभूमि की ओर प्रस्थान करते हुए बीच में टंकण देश पड़ा; वेत्रवन को लाँघ कर उसने इस देश में प्रवेश किया ।

द्वारका नगरी की पूर्वोत्तर दिशा में सिणवल्ली का उल्लेख है। प्रयागतीर्थ की उत्पत्ति बताई गई है। मगध, वरदाम और प्रभास नामक पवित्र तीर्थों से जल और मिट्टी लाकर उससे देवों का अभिषेक किया जाता था।

क्षत्रियों की अपेक्षा वणिक् लोग बहुत छोटे समझे जाते थे इसलिये क्षत्रिय अपनी कन्या उन्हें नहीं देते थे। आठ वर्ष की अवस्था में कन्या की शादी हो जाने का उल्लेख है। गर्भ में शिशु के दाहिनी कोख में होने से पुत्र, बाईं कोख में होने से पुत्री तथा दोनों के बीच में होने से नपुंसक पैदा होता है। पचास वर्ष के पश्चात् स्त्री गर्भ धारण करने के अयोग्य हो जाती है और ७५ वर्ष की अवस्था में पुरुष निर्बीज हो जाता है।

हाथी पकड़ने की विधि बताई है। एक बड़ा गड्ढा खोदकर उसके ऊपर घास वगैरह बिछा देते हैं। उसके दूसरी ओर एक हथिनी बाँध दी जाती है। उसे देखकर हाथी उसकी ओर दौड़ता है और गड्ढे में गिर पड़ता है। उसे कई दिन तक भूखा रक्खा जाता है, जब वह बहुत कमजोर हो जाता है तो उसे खींचकर राजा के पास ले जाते हैं। फिर उसे सूखे वृक्ष में चमड़े की रस्सी से बाँध दिया जाता है। शकुनों के फलाफल का विचार किया गया है। एक स्थल पर उड्डिय क्षपक का उल्लेख है। ये लोग आजीवक मत के अनुयायी थे। ग्रंथ में आवश्यक, व्याख्या-प्रज्ञप्ति, प्रज्ञापना, जीवाजीवाभिगम, पउमचरिय और उपमितिभव-प्रपंचकथा को साक्षीरूप में उल्लिखित किया है।

उपदेशमालाप्रकरण

मलधारी हेमचन्द्रसूरि की दूसरी उल्लेखनीय रचना उपदेश-माला या पुष्पमाला है।[1] भवभावना की भाँति उपदेशमाला भी विषय, कवित्व और शैली की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

---

१. ऋषभदेवजी केशरीमल संस्था द्वारा सन् १९३६ में इन्दौर से प्रकाशित।

इसमें ५०५ मूल गाथायें हैं जिन पर लेखक ने स्वोपज्ञ टीका लिखी है। साधु सोम ने भी इस पर टीका की रचना की है। लेखक के कथानुसार जिनवचनरूपी कानन से सुंदर पुष्पों को चुनकर इस श्रेष्ठ पुष्पमाला की रचना की गई है। इसमें श्रुत के अनुसार विविध दृष्टान्तों द्वारा कर्मों के क्षय का उपाय प्रतिपादित किया गया है। यह ग्रंथ दान, शील, तप और भावना इन चार मुख्य भागों में विभक्त है। भावना के सम्यक्त्वशुद्धि, चरणविशुद्धि, इन्द्रियजय, कषायनिग्रह आदि अनेक विभाग हैं। इस कृति में जैन तत्त्वोपदेश संबंधी कितनी ही महत्त्वपूर्ण धार्मिक और लौकिक कथायें विशद शैली में ग्रथित हैं।

सर्वप्रथम मनुष्य की दुर्लभता के दृष्टान्त दिये गये हैं। धर्म मोक्षसुख का मूल है। अहिंसा सब धर्मों में प्रधान है—

> किं सुरगिरिणो गरुयं ? जलनिहिणो किं व होज्ज गंभीरं ?
> किं गयणा उ विसालं ? को व अहिंसासमो धम्मो ?

—सुरगिरि के समान कौन बड़ा है ? समुद्र के समान कौन गंभीर है ? आकाश के समान कौन विशाल है ? और अहिंसा के समान कौन सा धर्म है ?

वज्रायुध के दृष्टान्त से पता लगता है कि ब्राह्मण और उसकी दासी से उत्पन्न हुए पुत्र को वेदाध्ययन का अधिकार नहीं था। महाभुजग की विषवेदना को दूर करने के लिये मंत्र-तंत्र के स्थान पर अहिंसा, सत्य आदि के पालन को ही महाक्रिया बताया है। शरद् और ग्रीष्म ऋतुओं का वर्णन है। हिंसाजन्य दुख को स्पष्ट करने के लिये मृगापुत्र का दृष्टान्त दिया है। ज्ञानदान में पुरन्दर का उदाहरण है। विद्यासिद्धि के लिये एक मास के उपवासपूर्वक कृष्णचतुर्दशी के दिन श्मशान में रहने का विधान है। इस विधि का पालन करते हुए दो मास तक किसी स्त्री का मुँह देखना तक निषिद्ध है। ठग विद्या का यहाँ उल्लेख है। क्रोध को दवाग्नि, मान को गिरि, माया को भुजंगी और लोभ

को एक पिशाच के रूप में चित्रित किया है। इसीप्रकार मोह का राजा, राग का केशरी, मदन का मांडलिक राजा और विपर्यास का सामन्त के रूप में उल्लेख है। अल्प आधार को नाशका कारण बताया है।

विशेष बुद्धिशाली न होने पर पढ़ने में उद्यम करते ही रहना चाहिये—

मेहा होज्ज न होज्ज व लोए जीवाण कम्मवसगाणं।
उज्जोओ पुण तहविहु नाणंमि सया न मोत्तव्वो॥

—कर्म के वशीभूत जीवों के मेधा हो या न हो, ज्ञान प्राप्ति के लिये सदा उद्यम करते रहना चाहिये।

सूत्रों की प्रधानता के संबंध में कहा है—

सुई जह ससुत्ता न नस्सई कयवरंमि पडिया वि।
तह जीवोऽवि ससुत्तो न नस्सइ गओऽवि संसारे॥

—जैसे धागे वाली सुई कूड़े-कचरे में गिरने पर भी खोई नहीं जाती, उसी प्रकार संसार में भ्रमण करता हुआ जीव भी सूत्रों का अध्येता होने के कारण नष्ट नहीं होता।

सुपात्रदान का फल अनेक दृष्टांतों द्वारा प्रतिपादित किया है। अमरसेन और वरसेन के चरित में पादुका पर चढ़कर आकाश में गमन करना तथा लाठी सुंघाकर रासभी बना देने आदि का उल्लेख है। धनसार नामक श्रेष्ठी करोड़ों रुपये की धन-सम्पत्ति का मालिक होते हुए भी कणभर भी वस्तु किसी को दान नहीं करता था।

शीलद्वार में शील का माहात्म्य बताने के लिये रतिसुंदरी आदि के दृष्टान्त दिये हैं। सीता का चरित दिया गया है। जिनसेन के चरित में ताम्रलिप्ति नगर में योगसिद्धि नामक मठ था, इसमें कोई परिव्राजिका रहती थी।

तपद्वार में वसुदेव, दृढ़प्रहारी, विष्णुकुमार और स्कंदक आदि के चरित हैं।

भावना के अन्तर्गत सम्यक्त्वशुद्धि आदि १४ द्वारों का प्ररूपण है। सम्यक्त्वशुद्धिद्वार में अमरदत्त की भार्या और विक्रम राजा आदि के दृष्टान्त हैं। चरणद्वार में बारह व्रतों का प्रतिपादन है। अठारह प्रकार के पुरुष, बीस प्रकार की स्त्री और दस प्रकार के नपुंसकों को दीक्षा का निषेध है। दया में धर्मरुचि, सत्य में कालकाचार्य, अदत्तादान में नागदत्त, ब्रह्मचर्य में सुदर्शन और स्थूलभद्र, अपरिग्रह में कीर्त्तिचन्द्र और समरविजय आदि के कथानक दिये हैं। रात्रिभोजन-त्याग के समर्थन में ब्राह्मणों की स्मृति से प्रमाण दिये गये हैं। 'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति' (पुत्ररहित शुभ गति को प्राप्त नहीं करता) के संबंध में कहा है—

जायमानो हरेद्भार्यां वर्धमानो हरेद्धनं।
म्रियमाणो हरेत् प्राणान्, नास्ति पुत्रसमो रिपुः।

—पुत्र पैदा होते ही भार्या का हरण कर लेता है, बड़ा होकर धन का हरण करता है, और मरते समय प्राणों को हरता है, इसलिये पुत्र के समान और कोई शत्रु नहीं है।

ब्राह्मणों के जातिवाद का खंडन करते हुए अचल आदि ऋषि-मुनियों की उत्पत्ति हस्तिनी, उलूकी, अगस्ति के पुष्प, कलश, तित्तिर, केवटिनी और शूद्रिका आदि से बताई है। रत्नों के समान महाव्रतों की रक्षा करने का विधान है। दरिद्र के दृष्टान्त में जाति, रूप और विद्या की तुलना में धनार्जन की ही मुख्यता बताई है। पाँच समिति और तीन गुप्तियों को उदाहरणपूर्वक समझाया गया है। सूत्राध्ययन, विहार, परीषह-सहन, मनःस्थैर्य, भावस्तव आदि की व्याख्या की गई है। अपवादमार्ग के उदाहरण में कालकाचार्य की कथा दी है।

इन्द्रियजय के उपदेश में पाँचों इन्द्रियों के अलग-अलग उदाहरण दिये हैं। चक्षु इन्द्रिय के उदाहरण में लक्षणशास्त्र के अनुसार स्त्री-पुरुष के लक्षण दिये हैं। कषायनिग्रहद्वार में कषायों का स्वरूप बताते हुए उनके उदाहरण दिये हैं। लोभ की मुख्यता बताते हुए कहा है—

पियविरहाओ न दुहं दारिद्दाओ परं दुहं नत्थि।
लोहसमो न कसाओ मरणसमा आवई नत्थि॥

—प्रिय के विरह से बढ़कर कोई दुख नहीं, दारिद्र्य से बढ़कर कोई क्लेश नहीं, लोभ के समान कोई कषाय नहीं, और मरण के समान कोई आपत्ति नहीं।

कुलवासलक्षणद्वार में गुरु के गुणों का प्रतिपादन करते हुए शिष्य के लिये विनयवान होना आवश्यक बताया है। शिष्य को गुरु के मन को समझनेवाला, दक्ष और शांत स्वभावी होना चाहिये। जैसे कुलवधु अपने पति के आक्रुष्ट होने पर भी उसे नहीं छोड़ती, वैसे ही गुरु के आक्रुष्ट होने पर भी शिष्य को गुरु का त्याग नहीं करना चाहिये। उसे सदा गुरु की आज्ञानुसार ही उठना-बैठना और व्यवहार-बर्ताव करना चाहिये। दोषविकटनालक्षणद्वार में आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत के भेद से पाँच प्रकार का व्यवहार बताया गया है। आर्द्रककुमार का यहाँ उदाहरण दिया है। विरागलक्षणद्वार में लक्ष्मी को कुलटा नारी की उपमा दी है। विनयलक्षणप्रतिद्वार में विनय का स्वरूप प्रतिपादित किया है। स्वाध्यायरति-लक्षणद्वार में वैयावृत्य, स्वाध्याय और नमस्कार का माहात्म्य बताया है। अनायतनत्यागलक्षणद्वार में महिला-संसर्गत्याग, चैत्यद्रव्य के भक्षण में दोष, कुसंग का फल आदि का प्रतिपादन हैं। परपरिवादनिर्वृतिलक्षण में परदोषकथा को अहित कहा है। धर्मस्थिरतालक्षणद्वार में जिनपूजा आदि का महत्त्व बताया है। परिज्ञानलक्षणद्वार में आराधना की विधि का प्रतिपादन है।

संवेगरंगसाला

इसके कर्ता जिनचन्द्रसूरि हैं,[1] उन्होंने वि० सं० ११२५ (सन् ११६८) में इस कथात्मक ग्रंथ की रचना की। नवांग-

---

१. जिनदत्तसूरि प्राचीन पुस्तकोद्धार फंड द्वारा सन् १९२४ में निर्णयसागर, बंबई में प्रकाशित।

वृत्तिकार अभयदेवसूरि के शिष्य जिनवल्लभसूरि ने इसका संशोधन किया। इस कृति में संवेगभाव का प्रतिपादन है और यह शान्तरस से भरपूर है। संवेगरस की मुख्यता प्रतिपादन करते हुए कहा है—

जह जह संवेगरसो वण्णिज्जइ तह तहेव भव्वाणं।
भिज्जन्ति खित्तजलमिम्मयामकुंभ व्व हिययाइं॥
सुचिरं वि तवो तवियं चिण्णं चरणं सुयं पि बहुपढियं।
जइ नो संवेगरसो ता तं तुसखण्डणं सव्वं॥

—जैसे जैसे भव्यजनों के प्रति संवेगरस का वर्णन किया जाता है, वैसे वैसे—जिस प्रकार मिट्टी के बने हुए कच्चे घड़े पर जल फेंकने से वह टूट जाता है-उनका हृदय द्रवित हो जाता है। बहुत काल तक तप किया, चारित्र का पालन किया, श्रुत का बहुपाठ किया, लेकिन यदि संवेगरस नहीं है तो सब कुछ धान के तुष की भाँति निस्सार है।

गौतमस्वामी महसेन राजर्षि की कथा कहते हैं। राजा संसार का त्याग कर मुनिदीक्षा ग्रहण करना चाहता है। इस अवसर पर राजा-रानी का संवाद देखिये—

राजा—विद्युत् के समान चंचल इस जीवन में पता नहीं कब क्या हो जाये?

रानी—तुम्हारे सुंदर शरीर की शोभा दुस्सह परीषह को कैसे सहन कर सकेगी?

राजा—अस्थि और चर्म से बद्ध इस शरीर में सुन्दरता कहाँ से आई?

रानी—हे राजन्! कुछ दिन तो और गृहवास करो, ऐसी क्या जल्दी पड़ी है?

राजा—कल्याण के कार्य में बहुत विघ्न आते हैं, इसलिये क्षणभर भी यहाँ रहना उचित नहीं।

रानी—फिर भी अपने पुत्रों और राज्यलक्ष्मी के इतने बड़े विस्तार का तो जरा ध्यान करो।

राजा—संसार में अनन्तकाल से भ्रमण करते हुए हमने तो कोई भी वस्तु स्थिर नहीं देखी।

रानी—इतनी बड़ी समृद्धि के मौजूद होने पर इतना दुष्कर कार्य करने क्यों चल पड़े ?

राजा—शरद्कालीन मेघों के समान क्षणभंगुर इस समृद्धि में तुम क्यों विश्वास करती हो ?

रानी—युवावस्था में ही पाँच प्रकार के इन सुंदर विषयभोगों का तुम क्यों त्याग करते हो ?

राजा—जिसने इनका स्वरूप जान लिया है, वह परिणाम में दुखकारी इन विषयभोगों का स्मरण क्यों करेगा ?

रानी—यदि तुम प्रव्रज्या ग्रहण कर लोगे तो तुम्हारे स्वजन-संबंधी रुदन करेंगे।

राजा—धर्म की परवा न करते हुए ये लोग अपने-अपने स्वार्थ के वश ही रुदन करेंगे।[1]

आराधना को स्पष्ट करने के लिये मधुराजा और सुकोसल मुनि के दृष्टांत दिये गये हैं। फिर विस्तार से आराधना का स्वरूप प्रतिपादन करने हुए उसके चार मूल द्वार बताये हैं।

---

१. राजा—तं होज्ज न वा को मुणति तडिलयाचंचले जीए।
देवी—दुस्सहपरीसहे कहं सहिहि तुह सुंदरा सरीरसिरी॥
राजा—किं सुन्दरत्तमेयाए अट्ठिचम्मावणद्धाए।
देवी—कइयवि दिणाणि निवसह सगिहे च्चिय कीस ऊसुगा होह॥
राजा—बहुविग्धे सेयत्थे खणंपि कह णिवसिउं जुत्तं।
देवी—पेच्छह तहावि नियपुत्तरज्जलच्छीए पवरविच्छड्डं॥
राजा—संसारंमि भमंतेहिं णंतसो किं ठियमदिट्ठं।
देवी—किं दुक्करेण इमिणा संतीए समुद्धराए रिद्धीए॥
राजा—सरयब्भभंगुराए इमीए को तुज्झ वीसंभो।
देवी—पंचप्पयारपवरे अपत्तकाले वि चयसि किं विसए॥
राजा—मुणियसरूवो को ते सरेज्ज पज्जतदुक्खकरे।
देवी—तइ पव्वज्जोवगए सुचिरं परिदेविही सयणवग्गो॥
राजा—नियनियकज्जाइं इमो परिदेवइ धम्मणिरवेक्खो।

आराधना धारण करनेवालों में मरुदेवी आदि के दृष्टांत दिये गये हैं। तत्पश्चात् अर्हत्, लिंग, शिक्षा, विनय समाधि, मनो-शिक्षा, अनियतविहार, राजा और परिणाम नामके द्वारों को स्पष्ट करने के लिये क्रम से वंकचूल, कूलवाल, मंगु आचार्य श्रेणिक, नमिराजा, वसुदत्त, स्थविरा, कुरुचन्द्र, और वज्रमित्र के कथानक दिये गये हैं। श्रावकों की दस प्रतिमाओं का स्वरूप बताया गया है। फिर जिनभवन, जिनबिंब, जिनबिम्ब का पूजन, प्रौषधशाला आदि दस स्थानों का निरूपण है।

विवेकमंजरी

इसके कर्ता महाकवि श्रावक आसड हैं जो भिल्लमाल (श्रीमाल) वंश के कटुकराज के पुत्र थे। वे भीमदेव के महामात्य पद पर शोभित थे। विक्रम संवत् १२४८ (ईसवी सन् ११९१) में उन्होंने विवेकमंजरी नामके उपदेशात्मक कथा-ग्रन्थ की रचना की। आसड ने अपने आपको कवि कालिदास के समान यशस्वी बताया है। वे 'कविसभाश्रृङ्गार' के रूप में प्रसिद्ध थे। उन्होंने कालिदास के मेघदूत पर टीका, उपदेशकंदलीप्रकरण तथा अनेक जिनस्तोत्र और स्तुतियों की रचना की है। बाल-सरस्वती नामक कवि का पुत्र तरुण वय में ही काल-कवलित हो गया, उसके शोक से अभिभूत हो अभयदेवसूरि के उपदेश से कवि इस ग्रन्थ की रचना करने के लिये प्रेरित हुए[1]। इस पर बालचन्द्र और अकलंक ने टीकायें लिखी हैं।

उपदेशकंदलि

उपदेशकंदलि में उपदेशात्मक कथायें हैं। इसमें १२० गाथायें हैं।

उवएसरयणायर (उपदेशरत्नाकर)

इसके कर्ता सहस्रावधानी मुनिसुन्दरसूरि हैं जो बालसरस्वती

---

१. देखिये मोहनलाल दलीचन्द देसाई, जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास, पृष्ठ ३३८–९।

और वादिगोकुलषण्ड के नाम से सन्मानित किये जाते थे।[1]
उपदेशरत्नाकर विक्रम संवत् १४७६ (ईसवी सन् १३१६) से पूर्व की रचना है जो लेखक के स्वोपज्ञविवरण से अलंकृत है। यह ग्रन्थ चार अंशों में समाप्त होता है, इसमें १२ तरंग हैं। अनेक दृष्टान्तों द्वारा यहाँ धर्म का प्ररूपण किया गया है। अनेक आचार्यों, श्रेष्ठियों, और मंत्रियों आदि के संक्षिप्त कथानक विवरण में दिये हैं। इसके अतिरिक्त, महाभारत, महानिशीथ, व्यवहारभाष्य, उत्तराध्ययनवृत्ति, पंचाशक, धनपाल की ऋषभ-पंचाशिका आदि कितने ही ग्रन्थों के उद्धरण यहाँ दिये गये हैं। रागी, दुष्ट, मूढ, और पूर्वग्रह से युक्त व्यक्ति को उपदेश के अयोग्य बताया है। इसके दृष्टांत भी दिये गये हैं। अर्थी (जिज्ञासु), समर्थ, मध्यस्थ, परीक्षक, धारक, विशेषज्ञ, अप्रमत्त, स्थिर और जितेन्द्रिय व्यक्ति को धर्म का साधक बताया गया है। चपक आदि पक्षियों के दृष्टान्त द्वारा धर्म का उपदेश दिया है। सर्प, आमोषक (चोर), ठग, वणिक्, वन्ध्या गाय, नट, वेणु, सखा, बन्धु, पिता, माता और कल्पतरु इन बारह दृष्टान्तों द्वारा योग्य-अयोग्य गुरु का स्वरूप बताया है। गुरुओं के निंबोली, प्रियालु, नारियल और केले की भाँति चार भेद किये हैं। जैसे जल, फल, छाया और तीर्थ से विरहित पर्वत आश्रित जनों को कष्टप्रद होते हैं, उसी प्रकार श्रुत, चारित्र, उपदेश और अतिशय से रहित गुरु अपने शिष्यों के लिये क्लेशदायी होते हैं। गुरु को कीटक, खद्योत, घटप्रदीप, गृहदीप, गिरिप्रदीप, ग्रह, चन्द्र और सूर्य की उपमा दी है। अर्क (आख), द्राक्ष, वट और आम्र की उपमा देकर मिथ्या-क्रिया, सम्यक्क्रिया, मिथ्यादानयात्रा और सम्यक्दानयात्रा को समझाया है। धर्मों के संबंध में कहा है—

---

१. देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार ग्रंथमाला में सन् १९१४ में बंबई से प्रकाशित।

मुहपरिणामे रम्मारम्म जह ओसहं भवे चउहा।
इअ बुद्धधम्मजिणतवपभावणाधम्ममिच्छाणि ॥

—औषधि चार प्रकार की होती है (१) स्वादिष्ट लेकिन परिणा में कटु, (२) खाने में कड़वी लेकिन परिणाम में सुन्दर, (३) खाने में अच्छी और परिणाम में भी अच्छी, (४) खाने में कड़वी और परिणाम में कटु। इसी प्रकार क्रम से बुद्धधर्म, जिनधर्म, प्रभावनाधर्म और मिथ्यात्वरूप धर्म को समझना चाहिये।

फिर मिथ्यात्व, कुभाव, प्रमादविधि तथा सम्यक्त्वशुभभाव-अप्रमत्तविधि की क्रम से परिखा, पशुओं से कलुषित जल, नवीन जल और मानससरोवर से उपमा दी गई है। शुक, मशक, मक्षिका, करि, हरि, भारंड, रोहित और झश (मछली) के दृष्टान्तों द्वारा मिथ्यात्व के बंधन में बद्ध अधम जीवों का प्रतिपादन किया है। मोदक के दृष्टान्त द्वारा आठ प्रकार के मनुष्यजन्म का स्वरूप बताया है। यवनाल, इक्षुदण्ड, रस, गुड़, खांड और शक्कर के दृष्टान्तों से धर्म के परिणाम का प्रतिपादन किया है।

वर्धमानदेशना

इसके रचयिता साधुविजयगणि के शिष्य शुभवर्धनगणि हैं।[1] विक्रम संवत् १५५२ (ईसवी सन् १४९५) में इन्होंने वर्धमानदेशना नामक ग्रंथ की रचना की। प्राकृत पद्यों में लिखा हुआ यह ग्रंथ उपासकदशा नाम के सातवें अंग में से उद्धृत किया गया है। इसके प्रथम विभाग में तीन उल्लास हैं। यहाँ विविध कथाओं द्वारा महावीर के धर्मोपदेश का प्रतिपादन है। उदाहरण के लिये, सम्यक्त्व का प्रतिपादन करने के लिये हरिबल, हंसनृप, लक्ष्मीपुंज, मदिरावती, धनसार, हंसकेशव, चारुदत्त,

१. जैनधर्मप्रसारक सभा, भावनगर की ओर से विक्रम संवत् १९८४ में प्रकाशित।

धर्मनृप, सुरसेन महासेन, केशरि चोर, सुमित्र मंत्री, रणशूर नृप और जिनदत्त व्यापारी की कथाओं का वर्णन है। दूसरे उल्लास में कामदेव श्रावक आदि और तीसरे उल्लास में चुलनीपिता श्रावक आदि की कथायें कही गई हैं।

इसके अतिरिक्त, अंतरंगप्रबोध, अंतरंगसंधि, गौतमभाषित, दृशदृष्टांतगीता (कर्ता सोमविमल), नारीबोध, हिताचरण, हितोपदेशामृत आदि प्राकृत ग्रन्थों की जैन औपदेशिक-साहित्य में गणना की जा सकती है।[1]

---

१. देखिये जैन ग्रंथावलि, पृष्ठ १६८–१९४।

सातवाँ अध्याय

प्राकृत चरित-साहित्य

(ईसवी सन् की चौथी शताब्दी से लेकर १७वीं शताब्दी तक)

कथा और आख्यानों की भाँति जैन मुनियों ने महापुरुषों के चरितों की भी रचना की है। जब ब्राह्मणों के पुराण-ग्रन्थों की रचना होने लगी, तथा रामायण, महाभारत और हरिवंश-पुराण आदि की लोकप्रियता बढ़ने लगी तो जैन विद्वानों ने भी राम, कृष्ण और तीर्थंकर आदि महापुरुषों के जीवन-चरित लिखना आरंभ किया। तरेसठशलाकापुरुषों के चरित में चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ वासुदेव, नौ बलदेव और नौ प्रतिवासुदेवों के चरितों का समावेश किया गया। कल्पसूत्र में ऋषभदेव, अरिष्टनेमि, पार्श्वनाथ और महावीर आदि तीर्थंकरों के चरितों का वर्णन किया गया। वसुदेवहिण्डी में तीर्थंकरों के चरित लिखे गये। भरहेसर ने अपनी कहावलि[1] में तीर्थंकरों के चरितों की रचना की। यतिवृषभ की तिलोयपण्णत्ति और जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के विशेषावश्यकभाष्य में महापुरुषों के चरितों को संकलित किया गया। निर्वृतिकुल के मानदेवसूरि के शिष्य शीलांकाचार्य (अथवा शीलाचार्य) ने सन् ८६८ में चउपन्नमहापुरिसचरिय में चौवन शलाकामहापुरुषों का जीवन

---

१. डॉक्टर यू० पी० शाह द्वारा संपादित होकर यह ग्रंथ गायकवाड़ ओरिएंटल सीरिज़, बड़ौदा से प्रकाशित हो रहा है।

चरित लिखा।[1] स्वतंत्ररूप से भी अनेक चरितों की रचना हुई। उदाहरण के लिये, वर्धमानसूरि ने आदिनाथचरित, विजयसिंह के शिष्य सोमप्रभ ने सुमतिनाथचरित, देवसूरि ने पद्मप्रभस्वामीचरित, यशोदेव ने चन्द्रप्रभस्वामीचरित, अजितसिंह ने श्रेयांसनाथचरित, चन्द्रप्रभ ने वासुपूज्यस्वामिचरित, नेमिचन्द्र ने अनंतनाथचरित, देवचन्द्र ने शांतिनाथचरित, जिनेश्वर ने मल्लिनाथचरित, श्रीचन्द्र ने मुनिसुव्रतस्वामिचरित, रत्नप्रभ ने नेमिनाथचरित आदि चरितों की रचना की।[2] इसी प्रकार अतिमुक्तकचरित, ऋषिदत्ताचरित,[3] देवकीचरित, रोहिणीचरित, दमयंतीचरित, मनोरमाचरित, मलयसुन्दरीचरित, पद्मावतीचरित, सीताचरित, हरिबलचरित, वज्रचरित, नागदत्तचरित, भरतचरित आदि कितने ही चरित लिखे गये जो अभी तक अप्रकाशित पड़े हैं।[4]

जैनधर्म के उन्नायक महान् आचार्यों के चरित भी जैन आचार्यों ने लिखे। उदाहरण के लिये, जिनदत्त और चारित्रसिंह गणि ने[5] गणधरसार्धशतक की रचना की। इसमें आर्यसमुद्र, मंगु, वज्रस्वामी, भद्रगुप्त, तोसलिपुत्र, आर्यरक्षित, उमास्वाति, हरिभद्रशीलांक, नेमिचन्द्र, उद्योतनसूरि, जिनचन्द्र, अभयदेव आदि आचार्यों के चरित लिखे गये। आगे चलकर जिनसेन,

---

१. मुनि पुण्यविजय जी इसे प्रकाशित कर रहे हैं। इसके मुद्रित फर्मे (१–३३५) उनकी कृपा से मुझे देखने को मिले। क्लौस ब्रूहन (Klaus Bruhn) द्वारा संपादित, हैम्बर्ग से १९५४ में प्रकाशित।

२. विशेष के लिये देखिये जैन ग्रंथावलि, श्रीश्वेतांबर जैन कान्फरेन्स, बंबई, वि० स० ११६५, पृष्ठ २२८–२४५। आदिनाथ, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर के चरित सिरिपयरणसंदोह (ऋषभदेव केशरीमल संस्था, रतलाम, सन् १९२९) में प्रकाशित हुए हैं।

३. इसे मुनि जिनविजयजी प्रकाशित कर रहे हैं।

४. जैन ग्रंथावलि, पृष्ठ २२०–२३७।

५. चुन्नीलाल पन्नालाल द्वारा बंबई से सन् १९१६ में प्रकाशित।

गुणभद्र और आचार्य हेमचन्द्र ने त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित की संस्कृत में रचना की। फिर पुष्पदन्त ने अपभ्रंश में, और चामुण्डराय ने कन्नड में महापुरुषों के जीवनचरित लिखे। तमिल में भी चरितों की रचना हुई। इन चरितों में लौकिक और धार्मिक कथाओं का समावेश किया गया।

अपनी कल्पना के आधार से भी कल्पित जीवनचरितों की जैन आचार्यों ने रचना की। वासुदेवों में राम और कृष्ण के अनेक लोकप्रिय चरित लिखे गये। नायाधम्मकहाओ, अंतगड-दसाओ और उत्तराध्ययनसूत्र में कृष्ण की कथा आती है। विमलसूरि ने पउमचरिय में राम का और हरिवंसचरिय में कृष्ण का चरित लिखा है। भद्रबाहु का वसुदेवचरित अनुपलब्ध है। संघदास के वसुदेवहिण्डी में वसुदेव के भ्रमण की कथा है। जिनसेन ने संस्कृत में और धवल ने अपभ्रंश में हरिवंश-पुराण की रचना की। इसके सिवाय करकंडु, नागकुमार, यशोधर, श्रीपाल, जीवंधर, सुसढ आदि महापुरुष तथा अनेक गणधर, विद्याधर, केवली, यति-मुनि, सती-साध्वी, राजा-रानी, सेठ-साहुकार, व्यापारी, दानी आदि के जीवनचरित लिखे गये।

पउमचरिय (पद्मचरित)

वाल्मीकि की रामायण की भाँति पउमचरिय में जैन परंपरा के अनुसार ११८ पर्वों में पद्म (राम) के चरित का वर्णन किया गया है।[1] पउमचरिय के कर्त्ता विमलसूरि हैं जो नागिल

---

१. डाक्टर हर्मन याकोबी द्वारा सम्पादित सन् १९१४ में भावनगर से प्रकाशित। इसका मूल के साथ शान्तिलाल शाहकृत हिन्दी अनुवाद प्राकृत जैन टैक्स्ट सोसायटी की ओर से प्रकाशित हो रहा है। इसके कुछ मुद्रित फर्मे प्रोफेसर दलसुख मालवणीया की कृपा से मुझे देखने को मिले। दिगम्बर आचार्य रविषेण ने इस ग्रन्थ के आधार पर सन् ६७८ में संस्कृत में पद्मपुराण की रचना की है। देखिये नाथूराम प्रेमी, जैन साहित्य का इतिहास, पृ० ८७।

वंश के आचार्य राहु के प्रशिष्य थे। स्वयं ग्रन्थकर्ता के कथनानुसार महावीर निर्वाण के ५३० वर्ष पश्चात (ईसवी सन् के ६० के लगभग), पूर्वों के आधार से उन्होंने जैन महाराष्ट्री प्राकृत में आर्या छंद में इस राघवचरित की रचना की है। लेकिन प्रोफेसर याकोबी ने विमलसूरि का समय ईसवी सन् की चौथी शताब्दी माना है। के० एच० ध्रुव के कथनानुसार इस कृति में गाहिनी और सरह छंद का प्रयोग होने से इसका समय ईसवी सन् की तीसरी शताब्दी मानना चाहिये। विमलसूरि के मतानुसार वाल्मीकिरामायण विपरीत और अविश्वसनीय बातों से भरी हुई है, इसलिये पंडित लोग उसमें श्रद्धा नहीं करते। उदाहरण के लिये, वाल्मीकि रामायण में कहा है कि रावण आदि राक्षस मांस आदि का भक्षण करते थे, रावण का भाई कुंभकर्ण छह महीने तक सोता रहता था, और भूख लगने पर वह हाथी, भैंस आदि जो भी कुछ मिलता उसे निगल जाता था, तथा इन्द्र को पराजित कर रावण उसे शृङ्खला में बाँधकर लंका में लाया था। लेखक के अनुसार ये बातें असंभव हैं, और ऐसी ही हैं जैसे कोई कहे कि किसी हरिण ने सिंह को मार डाला अथवा कुत्ते ने हाथी को भगा दिया। राजा श्रेणिक के द्वारा प्रश्न करने पर गौतम गणधर द्वारा कही हुई रामकथा का विमलसूरि ने पउमचरिय में वर्णन किया है। बीच-बीच में अनेक उपाख्यानों, नगर, नदी, तालाब, ऋतु, आदि का वर्णन देखने में आता है। शैली में प्रवाह और ज़ोर है। काव्य-सौष्ठव की अपेक्षा आख्यायिका के गुण अधिक हैं; ऐसा लगता है जैसे कोई आख्यान सुनाया जा रहा हो। वर्णन आदि के प्रसंगों पर काव्यत्व भी दिखाई दे जाता है। शब्दकोष समृद्ध है, कितने ही देशी शब्द जहाँ-तहाँ देखने में आते हैं। व्याकरण के विचित्र रूप पाये जाते हैं। 'एवि,' 'कवण' आदि रूप अपभ्रंश के जान पड़ते हैं।

सूत्रविधान नाम के प्रथम उद्देशक में इस ग्रन्थ को सात

अधिकारों में विभक्त किया गया है—विश्व की स्थिति, वंशोत्पत्ति, युद्ध के लिये प्रस्थान, युद्ध, लव और कुश की उत्पत्ति, निर्वाण और अनेक भव। तत्पश्चात् विस्तृत विषयसूची दी हुई है। श्रेणिकचिन्ताविधान नामक दूसरे उद्देशक में राजगृह, राजा श्रेणिक, महावीर, उनका उपदेश और पद्मचरित के संबंध में राजा श्रेणिक की शंका आदि का वर्णन है। विद्याधरलोकवर्णन में राजा श्रेणिक गौतम के पास उपस्थित होकर रामचरित के संबंध में प्रश्न करते हैं। गौतम केवली भगवान् के कथन के अनुसार प्रतिपादन करते हैं कि मूढ़ कवियों का रावण को राक्षस और मांसभक्षी कहना मिथ्या है। इस प्रसंग पर ऋषभदेव के चरित का वर्णन करते हुए बताया है कि उस समय कृतयुग में क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र केवल यही तीन वर्ण विद्यमान थे। यहाँ विद्याधरों की उत्पत्ति बताई है। चौथे उद्देशक में लोक-स्थिति, भगवान् ऋषभ का उपदेश, बाहुबलि, की दीक्षा, भरत की ऋद्धि और ब्राह्मणों की उत्पत्ति का प्रतिपादन है। पाँचवें उद्देशक में इक्ष्वाकु, सोम, विद्याधर और हरिवंश नाम के चार महावंशों की उत्पत्ति तथा अजितनाथ आदि के चरित का कथन है। छठे उद्देशक में राक्षस एवं वानरों की प्रव्रज्या का वर्णन है। वानरवंश की उत्पत्ति के संबंध में कहा है कि वानर लोग विद्याधर वंश के थे तथा इनकी ध्वजा आदि पर वानर का चिह्न होने के कारण ये विद्याधर वानर कहे जाते थे। सातवें उद्देशक में दशमुख (रावण) की विद्यासाधना के प्रसंग में इन्द्र, लोकपाल और रत्नश्रवा आदि का वृत्तान्त है। रावण का जन्म, उसकी विद्यासाधना आदि का उल्लेख है। रावण की माता ने अपने पुत्र के गले में उत्तम हार पहनाया; इस हार में रावण के नौ मुख प्रतिबिम्बित होते थे, इसलिये उसका नाम दशमुख रक्खा गया। भीमारण्य में जाकर दशमुख ने विद्याओं की साधना की। यहाँ अनेक विद्याओं के नाम उल्लिखित हैं। आठवें उद्देशक में रावण का मन्दोदरी के साथ विवाह, कुंभकर्ण और विभीषण का विवाह, इन्द्रजीत का जन्म, रावण और

वैश्रमण का युद्ध, भुवनालंकार हाथी पर रावण का आधिपत्य आदि का वृत्तान्त है। नौवें उद्देशक में बाली और सुग्रीव का जीवन वृत्तान्त, खरदूषण का चन्द्रनखा के साथ विवाह, बाली और रावण का युद्ध, अष्टापद पर बाली मुनि द्वारा रावण का पराभव और धरणेन्द्र से शक्ति की प्राप्ति का वर्णन है। दसवें उद्देशक में रावण की दिग्विजय के प्रसंग में रावण का इन्द्र के प्रति प्रस्थान, तथा रावण और सहस्रकिरण के युद्ध का वृत्तान्त है। ग्यारहवें उद्देशक में रावण को जिनेन्द्र का भक्त बताया है, उसने अनेक जिन मंदिरों का निर्माण कराया था। यज्ञ की उत्पत्ति की कथा के प्रसंग में नारद और पर्वत का संवाद है। नारद के जीवन-वृत्तान्त का कथन है। नारद ने आर्षवेदों से अनुमत वास्तविक यज्ञ का स्वरूप प्रतिपादन करते हुए कहा है—

वेइसरीरज्झीणो मणजलणो नाणघयसुपज्जलिओ।
कम्मतरुसमुप्पन्नं, मलसमिहासंचयं डहइ॥
कोहो माणो माया लोभो रागो य दोसमोहो य।
पसवा हवन्ति एए हन्तव्वा इन्दिएहि समं॥
सच्चं खमा अहिंसा दायव्वा दक्खिणा सुपज्जत्ता।
दंसणचरित्तसंजमबंभाईया इमे देवा॥
एसो जिणेहि भणिओ जन्नो सच्चत्थवेयनिद्दिट्ठो।
जोगविसेसेण कओ देइ फलं परमनिव्वाणं॥

—शरीर रूपी वेदिका में ज्ञानरूपी घी से प्रज्वलित, मनरूपी अग्नि, कर्मरूपी वृक्ष से उत्पन्न मलरूपी काष्ठ के समूह को भस्म करती है। क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष और मोह ये पशु हैं, इन्द्रियों के साथ इनका वध करना चाहिये। सत्य, क्षमा, अहिंसा, सुयोग्य दक्षिणा का दान, सम्यक्दर्शन, चारित्र्य, संयम और ब्रह्मचर्य आदि देवता हैं। सच्चे वेदों में निर्दिष्ट यह यज्ञ जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है। यदि यह योग-विशेष पूर्वक किया जाये तो परम निर्वाण के फल को प्रदान करता है।

उसके पश्चात् तापसों की उत्पत्ति का वर्णन है। बारहवें उद्देशक में रावण की पुत्री मनोरमा के विवाह, शूलरत्न की उत्पत्ति, रावण का नलकूबर के साथ युद्ध और इन्द्र के साथ युद्ध का वृत्तान्त है। तेरहवें उद्देशक में इन्द्र के निर्वाणगमन का कथन है। चौदहवें उद्देशक में रावण मेरु पर्वत पर जाकर चैत्य-गृहों की वन्दना करता है। अनन्तवीर्य धर्म का उपदेश देते हैं। यहाँ श्रमण और श्रावकधर्म का प्ररूपण है। रात्रिभोजन-त्याग और उसका फल बताया गया है। तत्पश्चात् अंजनासुंदरी के विवाह-विधान में हनुमान का चरित, अंजना का पवनंजय के साथ संबंध आदि का वर्णन है। सोलहवें उद्देशक में पवनंजय और अंजनासुंदरी का भोग और सतरहवें उद्देशक में हनुमान के जन्म का वृत्तान्त है। बीसवें उद्देशक में तीर्थंकर, चक्रवर्ती और बलदेव आदि के भवों का वर्णन है। मल्ली, अरिष्टनेमि, पार्श्वनाथ, महावीर और वासुपूज्य के संबंध में कहा है कि ये कुमारसिंह (बिना राज्य किये ही) गृह का त्याग करके चले गये, शेष तीर्थंकर पृथ्वी का उपभोग कर दीक्षित हुए।[1] इक्कीसवें उद्देशक में हरिवंश की उत्पत्ति और मुनिसुव्रत तीर्थंकर का वृत्तांत है। बीस उद्देशकों की समाप्ति के पश्चात् सर्वप्रथम यहाँ राजा जनक और राजा दशरथ का नामोल्लेख किया गया है। बाईसवें उद्देशक में दशरथ के जन्म का वर्णन करते हुए विविध तपों का उल्लेख है। मांसभक्षण का फल प्रतिपादित किया है। अपराजिता, कैकेयी और सुमित्रा के साथ दशरथ का विवाह हुआ।[2] किसी संग्राम में दशरथ की सारथि बनकर कैकेयी ने उसकी सहायता की जिससे प्रसन्न होकर दशरथ ने उससे कोई वर मांगने को कहा, चौबीसवें उद्देशक में इसका कथन है।

---

१. एए कुमारसीहा गेहाओ निग्गया जिणवरिंदा।
सेसावि हु रायाणो पहई मोत्तूण निक्खंता॥ ५८॥

२. अन्यत्र अपराजिता के स्थान पर कौशल्या का नाम मिलता है। देखिये हरिभद्र का उपदेशपद, भाग १।

पच्चीसवें उद्देशक में अपराजिता से पद्म (राम), सुमित्रा से लक्ष्मण तथा कैकयी से भरत और शत्रुघ्न की उत्पत्ति बताई है। छब्बीसवें उद्देशक में सीता और भामंडल की उत्पत्ति का वृत्तान्त है। यहाँ मांसविरति का फल बताया गया है। राम द्वारा म्लेच्छों की पराजय का उल्लेख है। राम-लक्ष्मण को धनुषरत्न की प्राप्ति हुई। मिथिला में सीता का स्वयंवर रचा गया। राम ने धनुष को उठाकर उस पर डोरी चढ़ा दी और सीता ने उनके गले में वरमाला पहना दी। उनतीसवें उद्देशक में दशरथ के वैराग्य का वर्णन है। इस प्रसंग पर आषाढ़ शुक्ला अष्टमी के दिन दशरथ ने जिन चैत्यों की पूजा का माहात्म्य मनाया। जिनपूजा करने के पश्चात् उसने गंधोदक को अपनी रानियों के लिये भेजा। रानी ने गंधोदक को अपने मस्तक पर चढ़ाया। पटरानी को यह पवित्र जल नहीं मिला जिससे उसने दुखी होकर अपने जीवन का अन्त करना चाहा। इतने में कंचुकी जल लेकर पहुँचा और उसका मन शान्त हो गया। तत्पश्चात् दशरथ ने प्रव्रज्या ग्रहण करने का निश्चय किया। अपने पिता का यह निश्चय देख भरत ने भी प्रतिबुद्ध होकर दीक्षा लेने का विचार किया। कैकेयी यह जानकर अत्यंत दुखी हुई। इस समय उसने दशरथ से अपना वर माँगा कि भरत को समस्त राज्य सौंप दिया जाये। दशरथ ने इसे स्वीकार कर लिया। राम ने भी इसका अनुमोदन किया और वे स्वेच्छा से वनगमन के लिये तैयार हो गये। लक्ष्मण और सीता भी साथ में चलने को तैयार हो गये। वन में जाकर तीनों इधर-उधर परिभ्रमण करते रहे। दण्डकारण्य में वास करते समय लक्ष्मण ने खरदूषण के पुत्र शंबूक का वध कर डाला। चन्द्रनखा रावण की बहन और खरदूषण की पत्नी थी। उसने अपने पुत्र के मारे जाने के कारण बहुत विलाप किया। यह समाचार जब रावण के पास पहुँचा तो वह अपने पुष्पक विमान में बैठकर आया और सीता को हर कर ले गया। सीताहरण का समाचार पाकर राम ने बहुत विलाप किया। तत्पश्चात् लक्ष्मण के साथ वानरसेना को लेकर उन्होंने लंका

के लिये प्रस्थान किया। उधर से रावण भी अपनी सेना लेकर युद्ध के लिये तैयार हो गया। दोनों सेनाओं में घमासान युद्ध हुआ। लक्ष्मण को शक्ति लगी जिससे वे मूर्छित होकर गिर पड़े। लंका में फाल्गुन मास में अष्टाह्निका पर्व मनाये जाने का उल्लेख है। पूर्णभद्र और मणिभद्र नाम के यक्षों के नाम आते हैं।[1] रावण ने किसी मुनि के पास परदारत्याग का व्रत ग्रहण किया था, अतएव सीता को प्रसन्न करके ही उसने उसे प्राप्त करने का निश्चय किया। मन्दोदरी ने रावण को समझाया कि अठारह हज़ार रानियों से भी जब तुम्हारी तृप्ति नहीं हुई तो फिर सीता से क्या हो सकेगी? उसने अपने पति को परमहिला का त्याग करने का उपदेश दिया। लक्ष्मण और रावण का युद्ध हुआ और लक्ष्मण के हाथ से रावण का वध हुआ। सीता और राम का पुनर्मिलन हुआ। सब ने मिलकर अयोध्या के लिए प्रस्थान किया। राम, लक्ष्मण और सीता का भव्य स्वागत हुआ। भरत और कैकेयी ने दीक्षा ग्रहण कर ली। भरत ने निर्वाण प्राप्त किया, कैकेयी को भी सिद्धि प्राप्त हुई। इसके बाद बड़ी धूमधाम से रामचन्द्र का राज्याभिषेक हुआ। यहाँ राम और लक्ष्मण की अनेक स्त्रियों का उल्लेख है। सीता को जिनपूजा करने का दोहद उत्पन्न हुआ। एक दिन अयोध्या के कुछ प्रमुख व्यक्ति राम से मिलने आये। उन्होंने इस बात की खबर दी कि नगर भर में सीता के संबंध में अनेक किंवदंतियाँ फैली हुई हैं। लोग कहते हैं कि सीता को रावण हर कर ले गया था, उसने सीता का उपभोग किया, फिर भी राम ने उसे अपने घर में रख लिया। यह सुनकर राम को बहुत दुःख हुआ। वे सोचने लगे—"जिसके कारण मैंने राक्षसाधिप के साथ युद्ध किया, वही सीता मेरे यश को कलंकित कर रही है। तथा लोगों का यह कहना ठीक ही है, क्योंकि पर-पुरुष के घर में रहने के पश्चात् भी मदन से मूढ़

---

१. यक्षों के लिये देखिये जगदीशचन्द्र जैन, लाइफ इन ऐंशियेण्ट इण्डिया, पृष्ठ २२०–३१।

बना हुआ मैं सीता को अपने घर ले आया। अथवा स्वभावतः कुटिल स्त्रियों का स्वभाव ही ऐसा होता है, वे दोषों की आगार हैं और उनके शरीर में काम का वास है। स्त्रियाँ दुश्चरित्र का मूल हैं और मोक्ष में विघ्न उपस्थित करनेवाली हैं।" यह सोचकर राम ने लक्ष्मण को आदेश दिया कि सीता को निर्वासित कर दिया जाय। इस समय सीता के साथ जाने वाले सेनापति का हृदय भी द्रवित हो उठा। उसने इस अकर्म के लिये अपने आपको बहुत धिक्कारा। वन में सीता ने लव और कुश को जन्म दिया। लव-कुश का रामचन्द्र से समागम हुआ, सीता की अग्निपरीक्षा ली गई। सीता ने घोषणा की कि राम को छोड़कर अन्य किसी पुरुष की मन, वचन, काया से स्वप्न में भी यदि उसने अभिलाषा की हो तो यह अग्नि उसे जलाकर भस्म कर दे, और वह अग्नि में कूद पड़ी। लेकिन सीता के निर्मल चरित्र के प्रभाव से अग्निकुंड के स्थान पर निर्मल जल प्रवाहित होने लगा। रामचन्द्र ने सीता से क्षमा प्रार्थना की, लेकिन सीता ने केश-लोंच कर के जैन दीक्षा स्वीकार कर ली। लव और कुश ने भी दीक्षा ग्रहण कर ली। इधर लक्ष्मण की मृत्यु हो गई, मर कर वे नरक में गये। रामचन्द्र ने तप करके निर्वाण प्राप्त किया।

हरिवंसचरिय

विमलसूरि की दूसरी रचना हरिवंसचरिय है जिसमें उन्होंने हरिवंश का चरित लिखा है। यह अनुपलब्ध है।

जंबूचरिय (जंबूचरित)

जंबूचरित प्राकृत भाषा की एक सुंदर कृति है जिसके रचयिता नाइलगच्छीय वीरभद्रसूरि के शिष्य अथवा प्रशिष्य गुणपाल मुनि थे।[1] इस ग्रन्थ की रचना-शैली आदि से अनुमान

---

१. मुनि जिनविजय जी द्वारा संपादित होकर सिंघी जैन ग्रंथमाला, बंबई द्वारा यह ग्रंथ प्रकाशित हो रहा है। मुनि जिनविजय जी की कृपा से इसकी मुद्रित प्रति मुझे देखने को मिली है।

किया जाता है कि यह ग्रन्थ विक्रम संवत् की ११वीं शताब्दी या उससे कुछ पूर्व लिखा गया है। जैन परंपरा में जंबूस्वामी अंतिम केवली माने जाते हैं, इनके पश्चात् किसी जैन श्रमण को निर्वाणपद की प्राप्ति नहीं हुई। महावीरनिर्वाण के पश्चात् जंबूस्वामी ने सुधर्मस्वामी के पास श्रमणधर्म की दीक्षा स्वीकार की। सुधर्म ने महावीर के उपदेशों को जंबू मुनि को सुनाया। इसलिये प्राचीन जैन आगमों में सुधर्म और जंबू मुनि के नाम-निर्देशपूर्वक ही महावीर के उपदेशों का उल्लेख किया गया है। जंबूचरिय में इन्हीं जंबूस्वामी के चरित का वर्णन किया है। ग्रंथ की शैली पर हरिभद्र की समराइच्चकहा और उद्योतनसूरि की कुवलयमाला का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। धर्मकथाप्रधान यह ग्रन्थ गद्य-पद्य मिश्रित है, भाषा सरल और सुबोध है। कथा का वर्णन प्रवाहयुक्त है, बीच-बीच में जैनधर्म संबंधी अनेक उपदेशों को संग्रहीत किया गया है।

इस ग्रन्थ में १६ उद्देश हैं। पहले उद्देश का नाम कहावीढ (कथापीठ) है। यहाँ अर्थ, काम, धर्म और संकीर्ण कथा नाम की चार कथाओं का उल्लेख है। दूसरे उद्देश का नाम कहानिबंध (कथानिबंध) है। तीसरे उद्देश में राजा श्रेणिक महावीर की वन्दना के लिये जाते हैं। चौथे उद्देश में वे अंतिम केवली जंबूस्वामी के संबंध में भगवान् महावीर से प्रश्न करते हैं। महावीर उनके पूर्वभवों का वर्णन करते हैं। किसी पथिक के दोहे को देखिये—

सा मुद्धा तहिं देसडइ, दुक्खें दियह गमेइ।
जइ न पहुप्पह सुयण तुहुँ, अवसिं पाण चएई॥

—वह मुग्धा उस देश में दुःख से दिन बिता रही है। हे सुजन! यदि तुम नहीं आते हो वह अवश्य ही प्राणों को गँवा देगी।

किसी पूर्व कवि की गाथा देखिये—

दूरयरदेसपरिसंठियस्स पियसंगमं महंतस्स।
आसाबंधो च्चिय माणुसस्स परिरक्खए जीयं॥

—दूरतर देश में स्थित प्रिया के संगम की इच्छा करते हुए मनुष्य के जीवन की आशा का तंतु ही रक्षा कर सकता है।

लाटदेश में स्थित भरुयच्छ (भृगुकच्छ) नगर में रेवाइच्च नामक ब्राह्मण आवया नाम की अपनी पत्नी के साथ रहता था। उसके पन्द्रह लड़कियाँ और एक लड़का था। ब्राह्मणी पानी भर कर, चक्की पीसकर, गोबर पाथकर और भीख माँगकर अपने कुटुम्ब का पालन करती। पेट के लिये आदमी क्या नहीं करता, इसके संबंध में कहा है—

बंसि चडंति धुणंति कर, धूलीधूया हंति।
पोट्टहकारणि कापुरिस, कं कं जं न कुणंति

—कापुरुष लोग बाँस पर चढ़ते हैं, हाथ को मटकाते हैं, धूलि में लिपटे रहते हैं, ऐसा कौन सा काम है जो पेट के कारण वे नहीं करते।

पाँचवें उद्देश में जंबूस्वामी के दूसरे भवों का वर्णन है। यहाँ प्रहेलिका, अंत्याक्षरी, द्विपदी, प्रश्नोत्तर, अक्षरमात्रबिन्दुच्युत और गूढचतुर्थपाद का उल्लेख है। छठे उद्देश का नाम गृहिधर्म-प्रसाधन है। एक उक्ति देखिये—

जं कल्ले कायव्वं अज्जं चिय तं करेह तुरमाणा।
बहुविग्घो य मुहुत्तो मा अवरण्हं पडिक्खेह॥[1]

—जो कल करना है उसे आज ही जल्दी से कर डालो। प्रत्येक मुहुर्त्त बहुविघ्नकारी है, अतएव अपराह्न की अपेक्षा मत करो।

सातवें उद्देश में धर्मोपदेश श्रवण कर जंबूकुमार को वैराग्य हो जाता है। अपने माता-पिता के अनुरोध पर सिंधुमती, दत्तश्री, पद्मश्री, पद्मसेना, नागसेना, कनकश्री, कमलावती और विजयश्री नाम की आठ कन्याओं से वे विवाह करते हैं। एक बार रात्रि

---

१. मिलाइये—

काल करै सो आज कर आज करै सो अब।
पल में परलै होयगी बहुरि करोगे कब॥

के समय जंबूकुमार अपनी आठों पत्नियों के साथ सुख से बैठे हुए क्रीड़ा कर रहे थे, उस समय प्रभव नाम के चोर सेनापति ने अपने भटों के साथ उनके घर में प्रवेश किया। जम्बूस्वामी प्रभव को देखकर किंचिन्मात्र भी भयभीत नहीं हुए। वे उसे उपदेश देने लगे। जंबूकुमार ने प्रभव को मधुबिन्दु का दृष्टान्त सुनाया और कुबेरदत्ता नाम के आख्यान का वर्णन किया। तत्पश्चात् जंबूकुमार ने अपनी आठों पत्नियों को हाथी, बन्दर, गीदड़, धमक, वृद्धा, ग्राममूर्ख, पक्षी, भट्टदुहिता आदि के वैराग्य-वर्धक अनेक कथानक सुनाये। अंत में उन्होंने श्रमणदीक्षा ग्रहण की और केवलज्ञान प्राप्त कर सिद्धि पाई। प्रभव ने भी जंबूकुमार का उपदेश श्रवण कर मुनि दीक्षा ली। जंबूस्वामी के निर्वाण के पश्चात् प्रभव को उनका पद मिला, और उन्होंने भी सिद्ध-गति पाई।[1]

सुरसुंदरीचरिय

कहाणयकोस के कर्ता जिनेश्वरसूरि के शिष्य साधु धनेश्वर ने सुबोध प्राकृत गाथाओं में वि० सं० १०३५ (ईसवी सन् १०३८) में चड्डावल्लि नामक स्थान में इस ग्रन्थ की रचना की है।[2] यह

---

१. इसके अतिरिक्त सकलचन्द्र के शिष्य भुवनकीर्ति (विक्रम संवत् की १६वीं शताब्दी) और पद्मसुन्दर ने प्राकृत में जंबूस्वामिचरित की रचना की। विजयदयासूरि के आदेश से जिनविजय आचार्य ने वि० सं० १७८५ (सन् १७२८) में जंबूस्वामिचरित लिखा (जैन साहित्यवर्धक सभा, भावनगर से वि० सं० २००४ में प्रकाशित)। संस्कृत और अपभ्रंश में भी श्वेताम्बर और दिगम्बर विद्वानोंने जंबूस्वामि-चरितों की रचना की। राजमल्ल का संस्कृत में लिखा हुआ जंबू-स्वामिचरित जगदीशचन्द्र जैन द्वारा संपादित होकर मणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रंथमाला में वि० सं० १९९३ में प्रकाशित हुआ है।

२. जैन विविध साहित्यशास्त्रमाला में मुनिराज श्रीराजविजय जी द्वारा संपादित और सन् १९१६ में बनारस से प्रकाशित।

कृति १६ परिच्छेदों में विभक्त है, प्रत्येक परिच्छेद में २५० पद्य हैं। यह एक प्रेम आख्यान है जो काव्यगुण से संपन्न है। यहाँ शब्दालंकारों के साथ उपमालंकारों का सुन्दर प्रयोग हुआ है। उपमायें बहुत सुन्दर बन पड़ी हैं। रसों की विविधता में कवि ने बड़ा कौशल दिखाया है। अपभ्रंश और ग्राम्यभाषा के शब्दों का जहाँ-तहाँ प्रयोग दिखाई देता है।

धनदेव सेठ एक दिव्य मणि की सहायता से चित्रवेग नामक विद्याधर को नागपाश से छुड़ाता है। दीर्घकालीन विरह के पश्चात् चित्रवेग का विवाह उसकी प्रियतमा के साथ होता है। वह सुरसुंदरी और अपने प्रेम तथा विरह-मिलन की कथा सुनाता है। सुरसुंदरी का मकरकेतु के साथ विवाह हो जाता है। अन्त में दोनों दीक्षा ले लेते हैं। मूलकथा के साथ अंतकथायें इतनी अधिक गुंफित हैं कि पढ़ते हुए मूलकथा एक तरफ रह जाती है। कथा की नायिका सुरसुंदरी का नाम पहली बार ग्यारहवें परिच्छेद में आता है। इस ग्रन्थ में भीषण अटवी, भीलों का आक्रमण, वर्षाकाल, वसन्त ऋतु, मदन महोत्सव, सूर्योदय, सूर्यास्त, सुतजन्म महोत्सव, विवाह, युद्ध, विरह, महिलाओं का स्वभाव, समुद्रयात्रा तथा जैन साधुओं का नगरी में आगमन, उनका उपदेश, जैनधर्म के तत्त्व आदि का सरस वर्णन है। विरहावस्था के कारण बिस्तरे पर करवट बदलते हुए और दीर्घ निश्वास छोड़कर संतप्त हुए पुरुष की उपमा भाड़ में भूने जाते हुए चने के साथ दी है।[1] कोई प्रियतमा दीर्घकाल तक अपने प्रियतम के मुख को टकटकी लगाकर देखती हुई भी नहीं अघाती—

एयस्स वयण-पंकय पलोयणं मोत्तु मह इमा दिट्ठी।
पंक-निवुड्डा दुब्बल गाइव्व न सक्कए गंतुं॥

—जिस प्रकार कीचड़ में फँसी हुई कोई दुर्बल गाय अपने स्थान से हटने के लिये असमर्थ होती है, उसी प्रकार इसके मुख-कमल पर गड़ी हुई मेरी दृष्टि वापिस नहीं लौटती।

१. भट्ठट्ठियचणगो वि य सयणीये कीस तडफडसि। (३, १४८)।

राजा के विरुद्ध कार्य करने वाले व्यक्ति को लक्ष्य करके कहा है—

काउं रायविरुद्धं नासंतो कत्थ छुट्टसे पाव।
सूयार-साल-वडिओ ससउव्व विणस्ससे इण्हिं ॥

—हे पापी! राजा के विरुद्ध कार्य करने से भाग कर तू कहाँ जायेगा? रसोइये की पाकशाला में आया हुआ खरगोश भला कहीं बचकर जा सकता है?

यौवनप्राप्त कन्या के लिये वर की आवश्यकता बताई है—

धूया जोव्वणपत्ता वररहिया कुल-हरम्मि वसमाणा।
तं किंपि कुणइ कज्जं लहइ कुलं मइलणं जेण ॥

—युवावस्था को प्राप्त वररहित कुलीन घर में रहनेवाली कन्या जो कुछ कार्य करती है उससे कुल में कलंक ही लगता है।

राग दुःख की उत्पत्ति का कारण है—

तावच्चिय परमसुहं जाव न रागो मणम्मि उच्छरइ।
हंदि! सरागम्मि मणे दुक्खसहस्साइं पविसंति ॥

—जब तक मन में राग का उदय नहीं होता तब तक ही सुख है। रागसहित चित्तवाले मन में सहस्रों दुःखों का प्रवेश होता है।

पुत्रवती नारी की प्रशंसा की गई है—

धन्नाउ ताउ नारीओ इत्थ जाओ अहोनिसिं नाह।
निययं थणं धयंतं थणंधयं हंदि! पिच्छंति ॥

—वे नारियाँ धन्य हैं जो नित्य स्तनपान करते हुए अपने बालक को देखती हैं।

स्त्रियों के स्वभाव का वर्णन करते हुए बताया गया है कि चंचल चित्तवाली महिलाओं में कापुरुष जन ही आसक्तिभाव रखते हैं, सज्जन नहीं। अपने मन में वे और कुछ सोचती हैं, और किसी को देखती हैं तथा किसी और के साथ संबंध जोड़ती हैं; चंचल चित्तवाली ऐसी महिलाओं को कौन प्रिय हो सकता है? स्त्रियाँ सत्य, दया, और पवित्रता से विहीन होती हैं, अकार्य

में रत रहती हैं, बिना बिचारे साहसपूर्ण कार्य करती हैं, भय उत्पन्न करती हैं, ऐसी हालत में कौन ऐसा बुद्धिमान् पुरुष है जो उनसे प्रेम करेगा? गुरु के मुख से स्त्रियों के संबंध में उपर्युक्त वाक्य सुनकर शिष्य ने शंका की कि महाराज! मेरी स्त्री तो सरल, पतिव्रता, सत्य, शील और दया से युक्त है, तथा वह मुझ से प्रेम करती है और विनीत है। गुरु ने उत्तर दिया—भले ही वह गुणवती हो, लेकिन फिर भी वह विष से मिश्रित भोजन की भाँति दुर्गति को ही ले जानेवाली है।

जीव, सर्वज्ञ और निर्वाण को स्वीकार न करनेवाले नास्तिकवादी कपिल का उल्लेख है। भूत-चिकित्सा के लिये नमक उतारना, सरसों मारना और रक्षा-पोटली बाँधने का विधान है।

शत्रु का आक्रमण होने पर जो गाँव शत्रु के मार्ग में पड़ते थे, वहाँ के निवासी गाँव को खाली करके अन्यत्र चले जाते थे, वहाँ के कुओं को ढंक दिया जाता और तालाबों के पानी को खराब कर दिया जाता था जिससे वह शत्रुसेना के उपयोग में न आ सके।

गंभीर नाम के समुद्रतट का सुन्दर वर्णन है। यहाँ से व्यापारी लोग सुपारी नारियल, कपूर, अगुरु, चंदन, जायफल आदि से यानपात्र को भरकर शुभ नक्षत्र देखकर मंगलघोष के साथ विदेशयात्रा के लिये प्रस्थान करते हैं। यानपात्र शनैः शनैः बड़ी सावधानी के साथ किसी संयमशील मुनि की भाँति आगे बढ़ता है।

उद्यान में क्रीडा करते हुए सुरसुंदरी और मन्दरकेतु का विनोदपूर्ण प्रश्नोत्तर देखिये—

> किं धरइ पुन्नचंदो, किं वा इच्छंति पामरा खित्ते?
> आमंतसु अंत-गुरुं किं वा सोक्खं पुणो सोक्खं?
> दट्ठूण किं विसट्टइ कुसुमवणं जणियजणमणाणंदं?
> कह णु रमिज्जइ पढमं परमहिला जारपुरिसेहिं?
> (इन सब प्रश्नों का एक ही उत्तर है—स-सं-कं)

—१. पूर्णचन्द्र किसे अपने में धारण करता है? ससं (शश अर्थात् हरिण को)।

२. किसान लोग खेत में किसकी इच्छा करते हैं? कं (जल की)।

३. अंतगुरु (जिसके अन्त में गुरु आता हो) कौन है? स (सगण)।

४. सुख क्या है? सं (शं–सुख) ५. फिर सुख क्या है? कं (सुख)। ५. पुष्पों का समूह किसे देखकर प्रफुल्लित हो उठता है? ससंकं (शशांक–चन्द्रमा को)। ६. परस्त्री किसी जार पुरुष से कैसे रमण करती? ससंकं (सशंकं–सशंक होकर)।

रयणचूडरायचरिय (रत्नचूडराजचरित)

प्राकृत गद्य में रचित धर्मकथाप्रधान यह कृति ज्ञातृधर्मकथा नाम के आगम ग्रन्थ का सूचक है जिसमें देवपूजा और सम्यक्त्व आदि धर्मों का निरूपण किया है।[1] इसके रचयिता उत्तराध्ययन-सूत्र पर सुखबोधा नाम की टीका (रचनाकाल विक्रम संवत् ११२९) लिखनेवाले तथा आख्यानमणिकोश के रचयिता सुप्रसिद्ध आचार्य नेमिचन्द्र हैं। यह कृति डिंडिलवद्दनिवेश में आरंभ हुई और चड्डावल्लि पुरी में समाप्त हुई। संस्कृत से यह प्रभावित है, इसमें काव्य की छटा जगह-जगह देखने में आती है। अनेक सूक्तियाँ भी कही गई हैं। लेखक ने अनेक स्थलों पर बड़े स्वाभाविक चित्र उपस्थित किये हैं। गौतम गणधर राजा श्रेणिक को रत्नचूड की कथा सुनाते हैं।

रत्नचूड जब आठ वर्ष का हुआ तो उसे श्वेत वस्त्र पहना और पुष्प आदि से अलंकृत कर विद्याशाला में ले गये और समस्त शास्त्र आदि के पंडित ज्ञानगर्भ नामक कलाचार्य का वस्त्र आदि द्वारा सत्कार कर शुभ नक्षत्र में गुरुवार के दिन उसे

१. पंन्यास मणिविजय गणिवर ग्रंथमाला में सन् १९४२ में अहमदाबाद से प्रकाशित।

विद्याध्ययन करने के लिये बैठा दिया। रत्नचूड ने छंद, अलंकार, काव्य, नाटक आदि का अध्ययन किया।

जब वह बड़ा हुआ तो कोई विद्याधर उसे उठाकर ले गया। किसी जंगल में पहुँचकर वह एक तापस से मिला। वहाँ राजकुमारी तिलकसुन्दरी से उसकी भेंट हुई। दोनों का विवाह हो गया। जब वे नंदिपुर जा रहे थे तो तिलकसुन्दरी को कोई विद्याधर हर कर ले गया। रत्नचूड रिष्टपुर चला गया। रिष्टपुर के कानन में चामुंडा देवी के आयतन का उल्लेख है। रत्नचूड और सुरानन्दा का विवाह हो जाता है।

राजा मध्याह्न के समय अपनी अपनी रानियों के साथ बैठ कर प्रश्नोत्तर गोष्ठी किया करते थे।

रत्नचूड वैताढ्य पर्वत के लिये प्रस्थान करते समय कनकशृंग पर्वत पर शान्तिनाथ के चैत्य के दर्शन के लिये जाते हैं। शान्तिनाथ के स्नान-महोत्सव का यहाँ वर्णन है। स्वप्न सत्य होता है या नहीं, इसको दृष्टांतों द्वारा समझाया गया है। शान्तिनाथ के चरित्र का वर्णन है। आगे चलकर रत्नचूड राजश्री के साथ विवाह करता है और उसका राज्याभिषेक हो जाता है। अपनी प्रथम पत्नी तिलकसुन्दरी को वह निम्नलिखित पत्र भेजता है।

"स्वस्ति वैताढ्य की दक्षिणश्रेणि में स्थित रथनूपुरचक्रवाल नामक नगर से राजा रत्नचूड प्रियप्रियतमा तिलकसुंदरी को सस्नेह आलिंगन करके कहता है। देवी द्वारा अपनी कुशल का पत्र भेजने से हृदय को परम संतोष मिला और चिन्ता का कठिन भार हलका हुआ।" तथा

> "नरयसमाणं रज्जं विसं व विसया दुहंकरा लच्छी।
> तुह विरहे मह सुंदरि, नयरमरण्णेव पडिहाई॥
> पुरओ य पिट्ठओ य पासेसु य दीससे तुमं सुयणु।
> दहइ दिसावलयमिणं, मन्ने तुह चित्तरिंच्छोली॥

चित्ते य वट्टसि तुमं, गुणेसु न य खुट्टसे तुमं सुयणु ।
सेज्जाए पलोट्टसि तुमं विवट्टसि दिसामुहे तंसि ।।
बोल्लंमि वट्टसि तुमं, कव्वपबंधे पयट्टसि तुमं ति ।
तुह विरहे मह सुंदरि ! भुवणं पि हु तं मयं जायं ।।[1]

—राज्य मुझे नरक के समान लगता है, विषयभोग विष के समान प्रतीत होते हैं और लक्ष्मी दुःखदायी हो गई है । हे सुंदरि ! तुम्हारे विरह में यह नगर अरण्य के समान जान पड़ता है । हे सुतनु ! आगे, पीछे और आस-पास जहाँ-जहाँ तुम दिखाई देती हो, वहाँ-वहाँ यह दिशामंडल जलता हुआ जान पड़ता है; मैं तुझे अपने चित्त की रथ्या समझता हूँ । तुम सदा मेरे मन में बसती हो । हे सुतनु ! तुम गुणों से क्षीण नहीं हो । तुम जैसे-जैसे शय्या पर करवट लेती हो, वैसे-वैसे उस दिशा में मेरा मन चला जाता है । प्रत्येक बोल में तुम रहती हो, काव्यप्रबंध में बसती हो । हे सुंदरि ! तुम्हारे विरह के कारण यह सारा संसार तद्रूप हो गया है ।"

"तुम्हें अब अधिक संताप नहीं करना चाहिये । कर्म के वश से किसकी दशा विषमता को प्राप्त नहीं हो जाती । तुम्हारी अब मैं शीघ्र ही खबर लूँगा ।"

रत्नचूड और मदनकेशरी के युद्ध का वर्णन है । रत्नचूड मदनकेशरी को पराजित कर तिलकसुंदरी को वापिस लाता है । तत्पश्चात् अपनी पाँचों स्त्रियों को लेकर वह तिलकसुंदरी के माता-पिता से मिलने नन्दिपुर जाता है ।

धनपाल सेठ की भार्या ईश्वरी बड़ी कटुभाषिणी थी और साधुओं को भिक्षा देने के बहुत खिलाफ थी । एक बार बहुत से कार्पटिक साधु उसके घर भिक्षा के लिये आये । आते ही उन्होंने उसे आशीर्वाद दिया—"सोमेश्वर तुझ पर प्रसन्न हों,

---

1. ये अन्त की दोनों गाथायें कुछ हेरफेर के साथ काव्यप्रकाश (८–३४३) में मिलती हैं जो कर्पूरमंजरी (२–४) से ली गई हैं ।

माई ! हमें कुछ खाने को दो।" यह सुनते ही भ्रकुटी चढ़ाकर बड़े गुस्से से वह बोली—"सोमेश्वर ने तुम लोगों के लिये जो कुछ छिपाकर रक्खा है। उसे खाओ। जाओ यहाँ से, किसी ने तुम्हारे लिये खाना बनाकर यहाँ नहीं रक्खा।" श्रमणों ने फिर उसे धर्मलाभ कहा। अब की बार गुस्से से लाल-पीली हो वह कहने लगी—"धर्मलाभ तुम्हारे सिर पर पड़ेगा। जो दुःख से बहुत पीड़ित हैं, कुछ करने में असमर्थ हैं, वे ही मुंडित होने के लिये दौड़े जाते हैं। जाओ, अभी भिक्षा का समय नहीं हुआ।" उसके बाद वे लोग वेदपाठ करने लगे। यह सुनकर ईश्वरी ने कहा—"क्यों झकझक करते हो, बहुत हुआ तुम्हारा पाठ, कन्याओं के लिये यह भयंकर है। जाओ कोई दूसरा घर देखो। अभी भोजन तैयार नहीं है।" तत्पश्चात् वे कहने लगे—"अरी माई ! केवल अनाज ही दे दो, साधुओं को मना नहीं करते हैं।" यह सुनकर ईश्वरी बोली—"यह कोई तुम्हारे बाप का घर है ?" और गुस्से से लाल-पीली हो "इनका पेट फाड़कर मैं इन्हें ठीक बताऊँगी"—यह कह कर धकधक जलती हुई एक लड़की ले, खिसकते हुए आभूषण (कलाय) को बायें हाथ से सँभालती हुई, सिर के ऊपर से वस्त्र खिसक जाने से खुले हुए केशों के जूड़े को ले वह उन श्रमणों की ओर दौड़ी। श्रमण भी उसे यमराक्षसी समझ कर वहाँ से भाग गये। थोड़ी देर बाद वहाँ सरजस्क साधु आ पहुँचे। उन्हें देखकर वह कहने लगी—"अरे ! ये नंगे, निगोड़े, गधे के समान धूल में लिपटे हुए, स्वयं अपना ही तिरस्कार कर रहे हैं।" उसने उन्हें यह कहकर चलता किया कि भोजन का समय हो चुका है, आगे बढ़ो।

किसी सपत्नी के दुःख का नीचे लिखी हुई गाथाओं में सुन्दर चित्रण किया गया है—

वरिहं मुय वरि गलियगब्भ वरि सेल्लेहिं सल्लिय।
वरि जालावलिपज्जलंति दावानलि घुल्लिय।

वरि करि कवलिय नयणजुयलु वरि महु सहि फुट्टउ ॥
मं ढोल्लउ मण्हंतु अन्ननारिहिं सहु दिट्ठउ ॥ १ ॥
तहा वरि दारिद्दउ वरि अणाहु वरि वरु दुन्नालिउ ।
वरि रोगाउरु वरि कुरुवु वरि निग्गुणु हालिउ ।
वरि करणचरणविहूणदेहू वरि भिक्खभमंतउ
मं राउत्ति सवत्तिजुत्तु मइं पइ संपत्तउ ॥ २ ॥

—कोई गर्विणी अपनी सखी को लक्ष्य करके कह रही है, मर जाना अच्छा है, गर्भ में नष्ट हो जाना श्रेयस्कर है, बर्छियों के द्वारा घायल हो जाना उत्तम है, प्रज्वलित दावानल में फेंक दिया जाना ठीक है, हाथी से भक्षण किया जाना श्रेयस्कर है, दोनों आँखों का फूट जाना उत्तम है, लेकिन अपने पति को पर नारियों के साथ देखना अच्छा नहीं। इसी प्रकार दारिद्र्य श्रेयस्कर है, अनाथ रहना अच्छा है, अनाड़ी रहना उत्तम है, रोग से पीड़ित होना ठीक है, कुरूप होना अच्छा है, निर्गुण रहना श्रेयस्कर है, लूला लँगड़ा हो जाय तो भी कोई बात नहीं, भिक्षा माँगकर खाना उत्तम है, लेकिन कभी अपने पति को सपत्नियों के साथ देखना अच्छा नहीं।

पाटलिपुत्र में एक अत्यंत सुंदर देवभवन था। वह सुंदर शालभंजिकाओं से शोभित था। उसके काष्ठनिर्मित उत्तरंग और देहली अनेक प्रकार के जंतु-रूपकों से शोभायमान थे। वहाँ बाईं ओर रति के समान रमणीय एक स्तंभ-शालभंजिका बनी हुई थी, जिसके केशकलाप, नयननिक्षेप, मुखाकृति तथा अंग-प्रत्यंग आकर्षक थे। अमरदत्त और मित्रानंद नाम के दो मित्रों ने इस देवभवन में प्रवेश किया। अमरदत्त पुत्तलिका के सौन्दर्य को देखकर उस पर आसक्त हो गया। पता लगा कि सोप्पारय (शूर्पारक) देश के सूरदेव नामक स्थपति ने उज्जैनी के राजा महेश्वर की कन्या रत्नमंजरी का रूप देखकर इस पुत्तलिका को गढ़ा है। मित्रानंद पहले सोप्पारय गया, वहाँ से फिर उज्जैनी पहुँचा, और अपनी बुद्धि के चातुर्य से वह महेश्वर की राजकुमारी रत्नमंजरी

को घोड़े पर बैठाकर पाटलिपुत्र ले आया। अमरदत्त उसे प्राप्त कर अत्यंत प्रसन्न हुआ।

पासनाहचरिय (पार्श्वनाथचरित)

पार्श्वनाथचरित कहारयणकोस के कर्ता गुणचन्द्रगणि की दूसरी उत्कृष्ट रचना है।[1] इस ग्रंथ की वि० सं० ११६८ (सन् ११११ में) भड़ौंच में रचना की गई। पार्श्वनाथचरित में पाँच प्रस्तावों में २३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का चरित है। प्राकृत गद्य-पद्य में लिखी गई इस सरस रचना में समासान्त पदावलि और छन्द की विविधता देखने में आती है। काव्य पर संस्कृत शैली का प्रभाव स्पष्ट है। अनेक संस्कृत के सुभाषित यहाँ उद्धृत हैं।

पहले प्रस्ताव में पार्श्वनाथ के तीन पूर्वभवों का उल्लेख है। पहले भव में वे मरुभूति नाम से किसी पुरोहित के घर पैदा हुए। उनके भाई का नाम कमठ था। कमठ का मरुभूति की स्त्री से अनुचित संबंध हो गया जिसका मरुभूति को पता लग गया। राजा ने उसके कान काटकर और गधे पर चढ़ाकर नगर से निकाल दिया। कमठ ने तपोवन में पहुँचकर तापसों के व्रत स्वीकार कर लिये। मरुभूति जब कमठ से क्षमायाचना करने गया तो कमठ ने उसके ऊपर शिला फेंक कर उसे मार डाला। दूसरे भव में दोनों भाई क्रमशः हाथी और सर्प की योनि में उत्पन्न हुए।

दूसरे प्रस्ताव में मरुभूति किरणवेग नामका विद्याधर हुआ। उसके जन्म आदि के वृत्तान्त के साथ बीच-बीच में मुनियों की देशना और उनके द्वारा कथित पूर्वभवों का वर्णन भी यहाँ दिया है। उसके बाद मरुभूति ने वज्रनाभ का जन्म धारण

---

१. अहमदाबाद से सन् १९४५ में प्रकाशित। इसका गुजराती अनुवाद आत्मानन्द जैन सभा की ओर से वि० सं० २००५ में प्रकाशित हुआ है।

किया। वज्रनाभ किसी पथिक के मुख से बंगाधिपति की कथा सुनते हैं। बंगाधिपति की विजया नाम की कन्या को कोई विद्याधर उठाकर ले जाता है। उसकी प्राप्ति के लिये बंगराज मन्त्र की साधना करते हैं। कुलदेवता कात्यायनी की पूजा करके वे अपनी कन्या का समाचार पूछते हैं। उस समय वहाँ अनेक मन्त्र-तन्त्रों में कुशल, वाममार्ग में निपुण भागुरायण नाम का गुरु रहता था। उसने यह दुस्साध्य कार्य करने के लिये अपनी असमर्थता प्रकट की। राजा को उसने एक मन्त्र दिया और कृष्ण चतुर्दशी की रात्रि को श्मशान में लाल कणेर के पुष्पों की माला धारण कर उस मन्त्र की १००८ जाप द्वारा चण्डसिंह नाम के वेताल को सिद्ध करने की विधि बताई। राजा ने श्मशान में पहुँचकर एक स्थान पर एक मण्डल बनाया, दिशाओं को बलि अर्पित की, कवच धारण किया और नाक के अग्रभागपर दृष्टि स्थापित कर चण्डसिंह वेताल का मन्त्र पढ़ना आरम्भ कर दिया। कुछ समय पश्चात् वेताल हाथ में कैंची लिये हुए उपस्थित हुआ। उसने राजा से अपने मांस और रक्त से उसका कपाल भर देने के लिये कहा। राजा ने तलवार से अपनी जांघ काट कर उसे मांस अर्पित किया और रुधिर पान कराया। वेताल ने प्रसन्न होकर राजकुमारी का पता बता दिया। राजकुमारी का वज्रनाभ के साथ विवाह हो गया और बाद में मुनि का उपदेश सुनकर वज्रनाभ ने दीक्षा ले ली।

तीसरे प्रस्ताव में मरुभूति वाराणसी के राजा अश्वसेन के घर पुत्ररूप में उत्पन्न हुए, उनका नाम पार्श्वनाथ रक्खा गया। वाराणसी नगरी का यहाँ सरस वर्णन किया गया है। राजा अश्वसेन ने पुत्रजन्म का उत्सव बड़ी धूमधाम से मनाया। वर्धापन आदि क्रियायें संपन्न हुई। बड़े होने पर प्रभावती से उनका विवाह हुआ। विवाह-विधि का यहाँ वर्णन है। उधर कमठ का जीव तापसों के व्रत धारण कर पंचाग्नि तप करने लगा। नगरी के बहुत से लोग उसके दर्शनों के लिये जाते और

उसकी पूजा-उपासना करते। एक बार पार्श्वनाथ भी वहाँ गये। जिस काष्ठ को कमठ अग्निकुण्ड में जला रहा था, उसमें से पार्श्वनाथ ने एक सर्प निकाल कर दिखाया। इससे कमठ अत्यंत लज्जित हुआ। कमठ मरकर देवयोनि में उत्पन्न हुआ। कुछ समय पश्चात् पार्श्वनाथ ने संसार से उदासीन होकर श्रमण दीक्षा धारण की। उन्होंने अंगदेश में विहार किया। वहाँ एक कुंड नामका सरोवर था जहाँ बहुत से हाथी जल पीने के लिए आते थे। पार्श्वनाथ को कलि पर्वत पर देखकर एक हाथी को अपने पूर्वभव का स्मरण हो आया। यहाँ देवों ने एक मंदिर का निर्माण किया और उसमें पार्श्वनाथ की प्रतिमा विराजमान की, तब से यह पवित्र स्थान कलिकुंड नाम से कहा जाने लगा। अहिच्छत्रा नगरी का भी यहाँ उल्लेख है। कुक्कुडेसर चैत्य के इतिहास पर प्रकाश डाला गया है।[1]

चौथे प्रस्ताव में पार्श्वनाथ को केवलज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। सुभदत्त, अज्जघोष, वसिट्ठ, बंभ, सोम, सिरिधर, वारिसेण, भद्दजस, जय, और विजय नाम के दस गणधरों को वे उपदेश देते हैं। राजा अश्वसेन के प्रश्न करने पर पार्श्वनाथ गणधरों के पूर्वभवों का विस्तार से वर्णन करते हैं। यहाँ शाकिनियों का वर्णन करते हुए कहा है कि वे वट वृक्ष के नीचे एकत्रित हुई थीं, डमरू बज रहा था, जोर जोर से चिल्ला रही थीं, और श्मशान से लाये हुए एक मुर्दे को लेकर बैठी हुई थीं। किसी कापालिक के विद्या-साधन का भी उल्लेख है। कृष्ण चतुर्दशी के दिन श्मशान में पहुँचकर एक स्थान पर मंडल बनाया, उस पर एक अक्षत मुर्दे को स्नान करा कर रक्खा और उस पर चंदन का लेप किया। तत्पश्चात् अपने दायें हाथ के पास एक तलवार रक्खी। मुर्दे के पाँवों को जल से सींचा और सब दिशाओं को बलि अर्पित की। फिर कापालिक नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि रख

१. जिनप्रभ के विविधतीर्थकल्प के अन्तर्गत कलिकुंड कुक्कुडेसर तीर्थ (१५) में भी इसका वर्णन है।

कर मंत्र का स्मरण करने लगा। यहाँ चंडिका के आयतन का भी उल्लेख है जिसे पुरुष की बलि देकर संतुष्ट किया जाता था। उसके ऊपर पानी भर कर लटकाये हुए घड़े में से पानी चूता रहता था। बनारस के ठग उस समय भी प्रसिद्ध थे। वेदों का पाठ करने से भिक्षा मिल जाती थी। यानपात्र में माल भर कर, समुद्र-देवता की पूजा-उपासना कर शुभ मुहूर्त्त में समुद्र-यात्रा की जाती थी। विवाह के अवसर पर अग्नि में आहुति दी जाती, ब्राह्मण लोग मंत्रपाठ करते तथा कुलस्त्रियाँ मंगलगान करती थीं। भद्र, मन्द और मृग नाम के हाथियों के तीन प्रकार गिनाये हैं। उत्तम हाथी का दाम सवा लाख रुपया होता था। पुत्रोत्पत्ति की इच्छा से कुश की शय्या पर बैठकर दस राततक कुलदेवी भगवती की आराधना की जाती थी। गोल्ल देश का यहाँ उल्लेख है। विवाह की भाँवरें पड़ते हुए यदि चौथा फेरा समाप्त होने के पूर्व ही कन्या के वर की मृत्यु हो जाय तो कन्या का पुनर्विवाह हो सकता था। मृतक की हड्डियाँ गंगा में बहाने का रिवाज था। यहाँ हस्तितापसों का उल्लेख है। ये लोग हाथी को मार कर बहुत दिनों तक उसका मांस भक्षण करते थे। इनकी मान्यता थी कि अनेक जीवों के वध करने की अपेक्षा एक जीव का वध करना उत्तम है; थोड़ा सा दोष लगने पर यदि बहुत से गुणों की प्राप्ति होती हो तो उत्तम है, जैसे कि उँगली में सांप के काट लेने पर शेष शरीर की रक्षा के लिये उँगली का उतना ही हिस्सा काट दिया जाता है। भैरवों को कात्यायनी का मंत्र सिद्ध रहता था। वे लोग शशि और रवि के पवनसंचार को देखकर फलाफल बताते थे। भैरव ने तिलकसुंदरी को नीरोग करने के लिए एक कुमारी कन्या को स्नान कराकर, श्वेत दुकूल के वस्त्र पहना, उसके शरीर को चंदन से चर्चित कर मंडल के ऊपर बैठाया।[1]

---

१. नैपाल में हिरण्यगर्भ आदि के मंदिरों में आज भी कुमारी कन्या

मंत्र की सामर्थ्य से आवेशयुक्त होकर वह प्रश्नों का उत्तर देने लगी। औषधि अथवा मंत्र आदि वशीकरण अथवा उच्चाटन करने में समर्थ माने जाते थे। इसे कम्मणदोस कहा गया है। किसी गुटिका आदि से यह दोष शान्त हो सकता था।

पाँचवें प्रस्ताव में पार्श्वनाथ का मथुरा नगरी में समवशरण आता है, और वे दान आदि का धर्मोपदेश देते हैं। उन्होंने गणधरों को उपदेश दिया। तत्पश्चात् काशी में प्रवेश किया। सोमिल ब्राह्मण के प्रश्नों के उत्तर दिये। शिव, सुन्दर, सोम और जय नाम के उनके चार शिष्यों का वृत्तान्त है। वहाँ से पार्श्वनाथ ने आमलकल्पा नगरी में विहार किया। चातुर्याम धर्म का उन्होंने प्रतिपादन किया। अन्त में सम्मेय शैल शिखर पर पहुँचकर मुक्ति पाई।

महावीरचरिय (महावीरचरित)

महावीरचरित गुणचन्द्रगणि की तीसरी रचना है।[1] वि० सं० ११३९ (ईसवी सन् १०८२) में उन्होंने १२,०२५ श्लोक-प्रमाण इस प्रौढ़ ग्रन्थ की रचना की थी। गुणचन्द्र की रचनाओं के अध्ययन से इनके मन्त्र-तन्त्र, विद्या-साधन तथा वाममार्गियों और कापालिकों के क्रियाकाण्ड आदि के विशाल ज्ञान का पता लगता है। महावीरचरित में आठ प्रस्ताव हैं जिनमें से आधे भाग में महावीर के पूर्वभवों का वर्णन किया गया है। यहाँ राजा, नगर, वन, अटवी, उत्सव, विवाहविधि, विद्यासिद्धि आदि के रोचक वर्णन मिलते हैं। काव्य की दृष्टि से यह ग्रन्थ एक सफल रचना है। कालिदास, बाणभट्ट, माघ आदि संस्कृत के

का बहुत महत्त्व है। मंदिरों में दीपक जलाने और मूर्ति को स्पर्श आदि करने का कार्य कुमारी ही करती है।

१. यह ग्रन्थ देवचन्द लालभाई जैन पुस्तक उद्धार ग्रन्थमाला में सन् १९२९ में बम्बई से प्रकाशित हुआ है। इसका गुजराती अनुवाद वि० संवत् १९९४ में जैन आत्मानन्द सभा ने प्रकाशित किया है।

सुप्रसिद्ध कवियों का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। संस्कृत के काव्यों के साथ इसकी तुलना की जा सकती है। बीच-बीच में संस्कृत के श्लोक उद्धृत हैं, अनेक पद्य अवहट्ठ भाषा में लिखे गये हैं जिन पर गुजरात के नागर अपभ्रंश का प्रभाव है। देशी शब्दों के स्थान पर तद्भव और तत्सम शब्दों का प्रयोग ही अधिक है। छन्दों की विविधता देखने में आती है।

प्रथम प्रस्ताव में सम्यक्त्वप्राप्ति का निरूपण है। दूसरे में ऋषभ, भरत, बाहुबलि तथा मरीचि के भवों आदि का वर्णन है। मरीचि के वर्णन-प्रसंग में कपिल, और आसुरि की दीक्षा का उल्लेख है। तीसरे प्रस्ताव में विश्वभूति की वसन्त-क्रीड़ा, रणयात्रा, संभूति आचार्य का उपदेश और विश्वभूति की दीक्षा का वर्णन है। रिपुप्रतिशत्रु ने अपनी कन्या मृगावती के साथ गन्धर्वविवाह कर लिया, उससे प्रथम वासुदेव त्रिपृष्ठ का जन्म हुआ। त्रिपृष्ठ का अश्वग्रीव के साथ युद्ध हुआ जिसमें अश्वग्रीव मारा गया। यहाँ गोहत्या के समान दूत, वेश्या और भांड़ों के वध का निषेध किया है। धर्मघोषसूरि का धर्मोपदेश संगृहीत है। प्रियमित्र चक्रवर्ती की दिग्विजय का वर्णन है। अन्त में प्रियमित्र दीक्षा ग्रहण कर मुनिधर्म का पालन करते हैं। चौथे प्रस्ताव में प्रियमित्र का जीव नन्दन नामका राजा बनता है।[1] घोरशिव तपस्वी वशीकरण आदि विद्याओं में निष्णात था। वह श्रीपर्वत[2] से आया था और जालंधर के लिए प्रस्थान कर

१. यह प्रस्ताव नरविक्रमचरित्र के नाम से संस्कृत छाया के साथ नेमिविज्ञान ग्रंथमाला में वि० सं० २००८ में अहमदाबाद से प्रकाशित हुआ है।

२. यह मद्रास राज्य में करनूल ज़िले में एक पवित्र पर्वत माना जाता है। सुबन्धु ने अपनी वासवदत्ता में श्रीपर्वत का उल्लेख किया है। पद्मपुराण (उत्तरखण्ड, अध्याय ११) में इसे मल्लिकार्जुन का स्थान माना है। भवभूति ने मालतीमाधव (अंक १) में इसका

रहा था। राजा नरसिंह ने उसे अपने मन्त्र-बल से कोई कौतुक दिखाने की प्रार्थना की। घोरशिव ने कृष्णचतुर्दशी को रात्रि के समय श्मशान में जाकर अग्नितर्पण करने के लिये राजा से कहा। राजा ने इसे स्वीकार कर लिया। श्मशान में पहुँच कर घोरशिव ने वेदिका रची, मण्डल बनाया। फिर वहाँ पद्मासन लगाकर प्राणायामपूर्वक मन्त्र जपने लगा। श्मशान का वर्णन देखिये—

निलीणविज्जसाहगं पवूढपूयवाहगं,
करोडिकोडिसंकडं, रडंतघूयकक्कडं।
सिवासहस्ससंकुलं, मिलंतजोगिणीकुलं,
पभूयभूयभीसणं, कुसत्तसत्तनासणं।
पघुट्ठदुट्ठसावयं जलंततिव्वपावयं,
भसंतडाइणीगणं पवित्तमंसमग्गणं॥ १॥
कहकहट्टहासोवलक्खगुरुरक्खलक्खदुप्पेच्छं।
अइरुक्खरुक्खसंबद्धगिद्धपारद्धघोररवं ॥ २॥
उत्तालतालसद्दुम्मिलंतवेयालविहियहलबोलं।
कीलावणं व विहिणा विणिम्मयं जमनरिन्दस्स॥ ३॥

—यहाँ विद्या-साधक बैठे हुए हैं, पूजा-वाहक उपस्थित हैं, यह स्थान कापालिकों से व्याप्त है और उल्लुओं के बोलने का शब्द यहाँ सुनाई दे रहा है। अनेक गीदड़ भाग-दौड़ रहे हैं, योगिनियाँ एकत्रित हैं, यह स्थान भूतों से भीषण है, प्राणियों का यहाँ वध किया जा रहा है। अनेक दुष्ट जंगली पशुओं का घोष सुनाई पड़ रहा है, अग्नि जल रही है, डाकिनियाँ इधर-उधर भ्रमण कर रही हैं, पवित्र मांस वे मांग रही हैं। अट्टहास करने वाले राक्षसों के कारण यह स्थान दुष्प्रेक्ष्य है, वृक्षों पर बैठे हुए गीधों का भयानक शब्द सुनाई दे रहा है, वैतालिक ऊँची ताल

उल्लेख किया है। देखिये के० के० हण्डी का यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर, पृष्ठ ३५९ और उसका फुटनोट।

देकर कोलाहल मचा रहे हैं। मालूम होता है ब्रह्मा ने यमराज का क्रीड़ास्थल ही निर्माण किया है।

इसी प्रसंग में महाकाल नामके योगाचार्य का उल्लेख है। तीनों लोकों को विजय करनेवाले मन्त्र की साधन-विधि का प्रतिपादन करते हुए उसने कहा कि १०८ प्रधान क्षत्रियों का वध करके अग्नि का तर्पण करना चाहिये, दिशाओं के देवताओं को बलि प्रदान करना चाहिये और निरन्तर मन्त्र का जप करते रहना चाहिये। तत्पश्चात् कलिंग आदि देशों में जाकर क्षत्रियों का वध किया गया।

युद्धवर्णन पर दृष्टिपात कीजिये—

खणु निट्ठुरमुट्ठिहिं उट्ठियंति, खणु पच्छिमभागमणुव्वयंति।
खणु जणगजणणि गालीउ देंति, खणु नियसोंडीरम्मि कित्तयंति॥

—(कभी योद्धा गण) क्षणभर में अपने निष्ठुर मुक्के दिखाते हैं, क्षणभर में पीछे की ओर घूमकर आ जाते हैं, कभी माँ-बाप की गालियाँ देने लगते हैं, और कभी अपनी शूरवीरता का बखान करने लगते हैं।

आगे चलकर कालमेघ नाम के महामल्ल का वर्णन है। इसे मल्लयुद्ध में कोई नहीं जीत सकता था। नगर के राजा ने इसे विजयपताका समर्पित कर सम्मानित किया था। नरविक्रमकुमार ने उसे मल्लयुद्ध में पराजित कर शीलमती के साथ विवाह किया। आगे चलकर नरविक्रमकुमार शीलमती और अपने पुत्रों को लेकर नगर से बाहर चला जाता है और किसी माली के यहाँ पुष्पमालायें बेचकर अपनी आजीविका चलाता है। देहिल नाम का एक व्यापारी छलपूर्वक शीलमती को अपने जहाज़ में बैठाकर उसे भगा ले जाता है। अन्त में नरविक्रमकुमार का उसके पुत्रों और पत्नी से मिलन हो जाता है। नरविक्रमकुमार जैन दीक्षा धारण कर मोक्ष प्राप्त करते हैं।

नन्दन का जीव देवानन्दा ब्राह्मणी के गर्भ में अवतरित होता है। उसे क्षत्रियकुंडग्राम की त्रिशला क्षत्रियाणी के गर्भ में

परिवर्तित कर दिया जाता है। बालक का नाम वर्धमान रक्खा जाता है। जन्म आदि उत्सव बड़ी धूम-धाम से मनाये जाते हैं। पराक्रमशील होने के कारण महावीर नाम से वे प्रख्यात हो जाते हैं। बड़े होने पर महावीर पाठशाला में अध्ययन करने जाते हैं। बसन्तपुर नगर के राजा समरवीर की कन्या यशोदा से उनका विवाह हो जाता है। विवाहोत्सव बड़ी धूम से मनाया जाता है। महावीर के प्रियदर्शना नाम की एक कन्या पैदा होती है। २८ वें वर्ष में उनके माता-पिता का देहान्त हो जाता है। उनके बड़े भाई नन्दिवर्धन का राज्याभिषेक होता है। अपने भाई की अनुमतिपूर्वक महावीर दीक्षा ग्रहण करते हैं। निष्क्रमणमहोत्सव धूमधाम से मनाया जाता है।

पाँचवें प्रस्ताव में शूलपाणि और चण्डकौशिक के प्रबोध का वृत्तान्त है। महावीर ने क्षत्रियकुंडग्राम के बाहर ज्ञातृखण्ड नामक उद्यान में श्रमण-दीक्षा ग्रहण की और कुम्मारगाम पहुँचकर वे ध्यानावस्थित हो गये। सोम ब्राह्मण को उन्होंने अपना देवदूष्य वस्त्र दे दिया। कुम्मारगाम में गोप ने उपसर्ग किया। भ्रमण करते हुए वे वर्धमानग्राम में पहुँचे। वर्धमान का दूसरा नाम अस्थिग्राम था। यहाँ शूलपाणि यक्ष ने उपसर्ग किया। कनकखल आश्रम में पहुँचकर उन्होंने चंडकौशिक सर्प को प्रतिबोधित किया। यहाँ गोभद्र नामक एक दरिद्र ब्राह्मण की कथा दी है। धन प्राप्ति के लिये गोभद्र की स्त्री ने उसे वाराणसी जाने के लिए अनुरोध किया। उस समय बनारस में बहुत दूर-दूर से अनेक राजा-महाराजा और श्रेष्ठी आकर रहते थे। कोई परलोक सुधारने की इच्छा से, कोई यश-कीर्त्ति की कामना से, कोई पाप-शमन की इच्छा से और कोई पितरों के तर्पण की भावना से यहाँ आता था। लोग यहाँ महा होम करते, पिंडदान देते और सुवर्णदान द्वारा ब्राह्मणों को सम्मानित करते थे। गोभद्र बनारस के लिये रवाना हो गया। मार्ग में उसे एक सिद्धपुरुष मिला। दोनों साथ-साथ चले। सिद्धपुरुष ने अपने

मन्त्र के बल से भोजन और शय्या आदि तैयार करके गोभद्र को आश्चर्यचकित कर दिया। (इस प्रसंग पर सुंदर रमणियों और जोगिनियों से शोभित जालन्धर नगर का वर्णन किया गया है।) यहाँ चन्द्रलेखा और चन्द्रकान्ता नाम की दो जोगिनी बहनें रहा करती थीं। कुछ समय पश्चात् परदेशी मठों में (विदेसिय-मठेसु=विदेशी लोगों के ठहरने के मठ) रात्रि व्यतीत कर दोनों वाराणसी पहुँच गये। वहाँ पहुँच कर उन्होंने स्कन्द, मुकुंद, रुद्र आदि देवताओं की पूजा की। दोनों गङ्गा के तट पर आये। सिद्धपुरुष ने दिव्यरक्षा-वलय को गोभद्र को सौंप कर स्नान करने के लिये गङ्गा में प्रवेश किया, और वह प्राणायाम करने लगा। कुछ देर हो जाने पर जब सिद्धपुरुष जल से बाहर नहीं निकला तो गोभद्र को बड़ी चिन्ता हुई। वह समझ नहीं सका कि उसका साथी कहीं लहरों में छिपा रह गया है, या उसे मगर-मच्छ निगल गये हैं, या फिर वह कहीं दलदल में फँस गया है। गोभद्र ने गोताखोरों से यह बात कही। उन्होंने गङ्गा में गोते लगाकर, अपनी भुजाओं को चारों ओर फैलाकर सिद्ध-पुरुष की खोज की, लेकिन उसका कहीं पता न चला। अपने साथी को गङ्गा में से वापिस न आता देखकर गोभद्र गङ्गा से प्रार्थना करता हुआ विलाप करने लगा। वहीं पास में कोई नास्तिकवादी बैठा हुआ था। उसने गोभद्र को समझाते हुए कहा कि क्या इस तरह विलाप करने से गङ्गा मैया तुझे तेरे साथी को वापिस दे देगी? उसने कहा कि इस गङ्गा में स्नान करने वाले देश-देश के कोढ़ आदि रोगों से पीड़ित नर-नारियों के स्पर्श का अपवित्र जल प्रवाहित होता है, ऐसी हालत में अनेक मृतक शरीर तथा हड्डी आदि का भक्षण करनेवाली किसी महाराक्षसी की भाँति यह गङ्गा मनोरथ की सिद्धि कैसे कर सकती है? तथा यदि गङ्गा में स्नान करने से पुण्य मिलता हो तो फिर मत्स्य, कच्छप आदि जीव-जन्तु सबसे अधिक पुण्य के भागी होने चाहिये। गोभद्र ब्राह्मण एकाध-दिन बनारस रह कर

वहाँ से चला आया। वह जालंधर गया और वहाँ सिद्धपुरुष को देख आश्चर्यचकित हो गया। तत्पश्चात् गोभद्र अपने घर वापिस लौटा। लेकिन इस समय उसकी पत्नी मर चुकी थी। उसने धर्मघोष मुनि के पास दीक्षा ग्रहण कर ली। आगे चलकर गोभद्र ने चण्डकौशिक सर्प का जन्म धारण किया।

महावीर घूमते-घामते सेयविया पहुँचे। वहाँ राजा प्रदेशी ने उनका सत्कार किया। यहाँ कंबल-शंबल नाम के नागकुमारों के पूर्वभव की कथा का वर्णन है। मथुरा में भंडीर यक्ष की यात्रा का उल्लेख है।

छठे प्रस्ताव में गोशाल की दुर्विनीतता का वृत्तांत है। राजगृह के समीप नालंदा नामक संनिवेश में महावीर और गोशाल का मिलाप हुआ था। उत्तरापथ में सिलिन्ध्र नामक संनिवेश में केशव नाम का एक ग्रामरक्षक रहता था। उसकी भार्या से मंख का जन्म हुआ। वह चित्रपट लेकर गाँव-गाँव में घूमा करता था। एक बार वह घूमता हुआ चंपा नगरी में पहुँचा। वहाँ मंखली नाम का एक गृहपति रहता था। उसकी स्त्री का नाम सुभद्रा था। मंखली मंख के पास रहकर उसकी सेवा करने लगा और गायन आदि विद्याओं में वह पारंगत हो गया। तत्पश्चात वह चित्रपट लेकर अपनी पत्नी के साथ वहाँ से चला गया। सरवण संनिवेश में पहुँच कर किसी गोशाला में सुभद्रा ने गोशाल को जन्म दिया। गोशाल बड़ा होकर अपने माता-पिता से लड़कर अलग रहने लगा। यही मंखलिपुत्र गोशाल नाम से प्रसिद्ध हुआ। कालांतर में उसने महावीर से दीक्षा ग्रहण की और गुरु-शिष्य दोनों साथ-साथ रहने लगे।

महावीर की चर्या के प्रसंग में विभेलक नामक यक्ष के पूर्वभवों के वृत्तान्त का कथन है। इस प्रसंग में शूरसेन और रत्नावली के विवाह का विस्तृत वर्णन है। मद्य, मांस और रात्रिभोजन के निषेध का वर्णन है। कटपूतना के उपसर्ग का कथन है। लाढ़देश के अन्तर्गत वज्रभूमि नामक अनार्यदेशों में महावीर ने

गोशाल के साथ भ्रमण किया। वैश्यायन के प्रसंग में वेश्याओं द्वारा गणिकाओं की विद्याओं के सिखाये जाने का उल्लेख है। गोशाल को तेजोलेश्या की प्राप्ति हुई।

सातवें प्रस्ताव में महावीर के परिषह-सहन और केवलज्ञान-प्राप्ति का वर्णन है। उनके वैशाली पहुँचने पर शंख ने उनका आदर-सत्कार किया। गंडकी नदी पार करते समय नाविक ने उपसर्ग किया। वाणिज्यग्राम में आनन्द गृहपति ने आहार दिया। दृढ़भूमि में संगम ने उपसर्ग किये। उसके बाद महावीर ने आलभिका, सेयविया, श्रावस्ती, कौशांबी, वाराणसी, और मिथिला में विहार किया। कौशांबी में चन्दना द्वारा कुल्माष का दान ग्रहण कर उनका अभिग्रह पूर्ण हुआ। उनके कानों में कीलें ठोक दी गई। मध्यम पावा पहुँचकर महावीर को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई।

आठवें प्रस्ताव में महावीर के निर्वाणलाभ का कथन है। मध्यम पावा के महासेनवन उद्यान में समवशरण की रचना की गई। भगवान् का उपदेश हुआ। ११ गणधरों ने प्रतिबोध प्राप्त कर दीक्षा ग्रहण की। यहाँ चन्दनबाला की दीक्षा, चतुर्विध संघ की स्थापना, ऋषभदत्त और देवानन्दा की दीक्षा, क्षत्रियकुंड में समवशरण, महावीर के दामाद जमालि का माता-पिता की आज्ञा से दीक्षाग्रहण, जमालि का निह्नव, प्रियदर्शना का बोध, सुरप्रिय यक्ष का महोत्सव, राजा शतानीक का मरण, रानी मृगावती की दीक्षा, श्रावस्ती में गोशाल का आगमन, उसका जिनत्व का अपलाप, तेजोलेश्या का छोड़ना, गोशाल की मृत्यु, सिंह द्वारा लाई हुई औषधि से महावीर का आरोग्यलाभ, गोशाल के पूर्वभव, राजगृह में महावीर का श्रेणिक आदि को धर्मोपदेश, मेघकुमार की दीक्षा, नंदिषेण की दीक्षा, प्रसन्नचन्द्र का प्रतिबोध, १२ व्रतों की कथायें, गागलि की प्रव्रज्या, महावीर का मिथिला में गमन, और उनके निर्वाणोत्सव का वर्णन है।

सुपासनाहचरिय (सुपार्श्वनाथचरित)

सुपार्श्वनाथचरित प्राकृत पद्य की रचना है जिसमें सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ का चरित लिखा गया है। सुपार्श्वनाथ का चरित तो यहाँ संक्षेप में ही समाप्त हो जाता है, अधिकांश भाग में उनके उपदेश की ही प्रधानता है। श्रावकों के बारह व्रतों के अतिचारसंबंधी यहाँ अनेक लौकिक अभिनव कथायें दी हुई हैं। इन कथाओं में कहीं बुद्धि-माहात्म्य, कहीं कला-कौशल आदि की मुख्यता का सरल और प्रभावोत्पादक शैली में दिग्दर्शन कराते हुए लौकिक आचार-व्यवहार, सामाजिक रीति-रिवाज, राजकीय परिस्थिति और नैतिक जीवन आदि का चित्रण किया गया है। सुपार्श्वनाथचरित के कर्त्ता लक्ष्मणगणि श्रीचन्द्रसूरि के गुरुभाई और हेमचन्द्रसूरि के शिष्य थे। उन्होंने विक्रम संवत् ११६६ (ईसवी सन् ११४२) में राजा कुमारपाल के राज्याभिषेक के वर्ष में इस ग्रंथ की रचना की। लेखक ने आरम्भ में हरिभद्रसूरि आदि आचार्यों का बड़े आदरपूर्वक उल्लेख किया है। बीच-बीच में संस्कृत और अपभ्रंश का उपयोग किया गया है; अनेक सुभाषित इस रचना में संग्रहीत हैं।

पूर्वभव प्रस्ताव में सुपार्श्वनाथ के पूर्वभवों का उल्लेख है। कुलों में श्रावक का कुल, प्रवचनों में निर्ग्रन्थ प्रवचन, दानों में अभयदान और मरणों में समाधिमरण को श्रेष्ठ बताया है। धर्म-पालन के संबंध में कहा है—

जाव न जरकडपूयणि सव्वंगयं गसइ,
जाव न रोयभुयंगु उग्गु निद्दउ डसइ।
ताव धम्मि मणु दिज्जउ किज्जउ अप्पहिउ,
अज्ज कि कल्लि पयाणउ जिउ निच्चप्पहिउ॥

—जब तक जरारूपी पूतना समस्त अंग को न डस ले, उग्र और निर्दय रोगरूपी सर्प न काट ले, उससे पहले ही धर्म में चित्त देकर आत्महित करो। हे जीव, आज या कल निश्चय ही प्रयाण करना है।

दूसरे प्रस्ताव में तीर्थंकर के जन्म और निष्क्रमण का वर्णन करते हुए देवों द्वारा मेरुपर्वत के ऊपर जन्माभिषेक का सरस वर्णन है। केवलज्ञान नाम के तीसरे प्रस्ताव में लकुट आसन, गरुड आसन तथा छट्ठ, अट्ठम आदि उग्र तपों का उल्लेख करते हुए तीर्थंकर को केवलज्ञान की प्राप्ति बताई है। इसके पश्चात् भगवान् धर्म का उपदेश देते हैं। इस भाग में अनेक कथाओं का वर्णन है। सम्यक्त्व-प्रशंसा में चम्पकमाला का उदाहरण है। चम्पकमाला चूडामणिशास्त्र की पण्डिता थी और इस शास्त्र की सहायता से वह यह जानती थी कि उसका कौन पति होगा तथा उसके कितनी संतान होंगी। पुत्रोत्पत्ति के लिये काली देवी की तर्पणा की जाती थी। पुत्रों को अब्रह्म का हेतु प्रतिपादित करते हुए कहा है यदि पुत्रों के होने से स्वर्ग की प्राप्ति होती हो तो बकरी, सूअरी, कुतिया, शकुनि और कछवी को सब से पहले स्वर्ग मिलना चाहिये। शासनदेवी का यहाँ उल्लेख है। अर्थशास्त्र में अर्थ, काम और धर्म नामक तीन पुरुषार्थों को बताया है। सम्यक्त्व के आठों अंगों को समझाने के लिये आठ उदाहरण दिये हैं। भक्खर द्विज की कथा में विद्या के द्वारा आकाश में गमन, धन-कनक की प्राप्ति, इच्छानुसार रूपपरिवर्तन और लाभादि का परिज्ञान बताया है। कृष्ण चतुर्दशी के दिन रात्रि के समय श्मशान में बैठकर विद्या की सिद्धि बताई है। ब्रह्मचर्य पालनेवाले को ब्राह्मण, तथा स्त्रीसंग में लीन पुरुष को शूद्र कहा गया है। भीमकुमार की कथा में नरमुंड की माला धारण किये हुए कापालिक का वर्णन है। कुमार ने उसके साथ रात्रि के समय श्मशान में पहुँच कर मंडल आदि लिखकर और मंत्रदेवता की पूजा करके विद्यासिद्धि करना आरंभ किया। नरमुंडों से मंडित काली का यहाँ वर्णन है। विजयचंद की कथा में शाश्वत सुख प्रदान करनेवाले जैनधर्म का अपभ्रंश में वर्णन है। पर पीडा न देने को ही सच्चा धर्म कहा है—

एहु धम्मु परमत्थु कहिज्जइ, तं परपीडि होइ तं न किज्जइ।

जो परपीड करइ निच्चिंतउ, सो भवि भमइ दुक्खसंतत्तउ ॥

—दूसरे को पीड़ा नहीं पहुँचाना ही धर्म का परम अर्थ है। जो दूसरों को निश्चित होकर पीड़ा देता है, वह दुखों से संतप्त होकर परिभ्रमण करता है।

यहाँ गारुडमंत्र और अवस्वापिनी विद्या का उल्लेख है। सिरिवच्छकहा में विद्यामठ का उल्लेख है। वर्षाऋतु का वर्णन है। उस समय हालिक अपने खेतों में हल जोतते हैं; दाँत पीस कर और पूंछ मरोड़ कर वे बैल हाँकते हैं। सीहकथा में मस्तक पर विचित्र रंग की टोपी लगाये एक योगी का उल्लेख है। रक्तचंदन का उसने तिलक लगाया था और वह मृगचर्म धारण किये हुए था, वह हुंकार छोड़ रहा था।[1] कमलसिट्ठीकहा में आमों की गाड़ी का उल्लेख है। पारसदेश से तोते मँगाये जाते थे। बंधुदत्त की कथा में जल की एक बूंद में इतने जीव बताये हैं जो समस्त जंबूद्वीप में भी न समा सकें। मित्र और अमित्र का लक्षण देखिये—

भवगिह मज्झम्मि पमायजलणजलियम्मि मोहनिद्दाए।
जो जग्गवइ स मित्तं वारंतो सो पुण अमित्तं ॥

—संसाररूपी घर के प्रमादरूपी अग्नि से जलने पर मोहरूपी निद्रा में सोते हुए पुरुष को जो जगाता है वह मित्र है, और जो उसे जगाने से रोकता है वह अमित्र है।

देवदत्तकथा में भूतबलि और शासनदेवी का उल्लेख है। वीरकुमारकथा में बंगालदेश का उल्लेख है। दुग्गकथा में त्रिपुरा विद्यादेवी के प्रसाधन के लिये कनेर के फूल और गूगल आदि लेकर मलय पर्वत पर जाने का कथन है। दुल्लहकथा में इंद्रमह, स्कंदमह और नागमह की चर्चा है। दत्तकथा में रात्रिभोजनत्याग का प्रतिपादन है। रात्रिभोजन-त्याग करनेवाला व्यक्ति

---

१. नैपाल के राजकीय संग्रहालय में कनटोप आदि धारण किये हुए जालंधर की एक मूर्ति है, इस वर्णन से उसकी समानता है।

सौ वर्ष जीता है और उसे पचास वर्ष उपवास करने का फल होता है। अवंती नगरी में योगिनी के प्रथम पीठ का उल्लेख है जहाँ सिद्धनरेन्द्र वास करता था। दिन के समय वह प्रमदाओं और रात्रि के समय योगिनियों के साथ क्रीड़ा किया करता था। एक दिन उसने श्मशान में पहुँचकर भूत, पिशाच, राक्षस, यक्ष और योगिनियों का आह्वान किया। असियक्ष नाम का एक यक्ष उसके सामने उपस्थित हुआ। दीपक के उद्योत में मोदक आदि अच्छी तरह देखकर खाने में क्या दोष है? इसका उत्तर दिया गया है। सीहकथा में कपर्दिक यक्ष का उल्लेख है। भोगों के अतिरेक में मलदेव की और सल्लेखना का प्रतिपादन करने के लिये मलयचन्द्र की कथा वर्णित है। अन्त में सुपार्श्वनाथ के निर्वाणगमन का वर्णन है।

सुदंसणाचरिय (सुदर्शनाचरित)

सुदंसणाचरिय में शकुनिकाविहार नामक मुनिसुव्रतनाथ के जिनालय का वर्णन किया गया है। यह सुंदर रचना प्राकृत पद्य में है।[1] संस्कृत और अपभ्रंश का भी इसमें प्रयोग है। ग्रंथ के कर्त्ता जगच्चन्द्रसूरि के शिष्य देवेन्द्रसूरि (सन् १२७० में स्वर्गस्थ) हैं। गुर्जर राजा की अनुमतिपूर्वक वस्तुपाल मंत्री के समक्ष अर्बुदगिरि (आबू) पर इन्हें सूरिपद प्रदान किया गया था। इस चरित में धनपाल, सुदर्शना, विजयकुमार, शीलवती, अश्वावबोध, भ्राता, धात्रीसुत और धात्री नाम के आठ अधिकार हैं जो १६ उद्देशों में विभक्त हैं। सब मिलाकर चार हजार से अधिक गाथायें हैं। रचना प्रौढ़ है, शार्दूलविक्रीडित आदि छंदों का प्रयोग हुआ है। तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति पर काफी प्रकाश पड़ता है।

---

१. आत्मवल्लभ ग्रंथ सीरीज़ में वलाद (अहमदाबाद) से सन् १९३२ में प्रकाशित। मुनि पुण्यविजयजी के कथनानुसार देवेन्द्रसूरि ने अन्य किसी प्राचीन सुदंसणाचरिय के आधार से इस ग्रंथ की रचना की है।

प्रथम उद्देश में श्रेष्ठीपुत्र धनपाल की कथा के प्रसंग में धर्मकथा का वर्णन है। यहाँ पर रात्रि, स्त्री, भक्त और जनपद कथा का त्याग करके धर्मकथा का श्रवण हितकारी बताया है। दूसरे उद्देश में सुदर्शना के जन्म का वर्णन है। सुदर्शना बड़ी होकर उपाध्यायशाला में जाकर लिपि, गणित आदि कलाओं का अध्ययन करती है। तीसरे उद्देश में सुदर्शना की कलाओं की परीक्षा ली जाती है। उसे जातिस्मरण हो आता है। भरुयकच्छ (भड़ौंच) का ऋषभदत्त नाम का एक सेठ राजा के पास भेंट लेकर राजसभा में उपस्थित होता है। राजा के प्रश्न करने पर वह पारस से लाये हुए तेज दौड़नेवाले तुक्खार नाम के घोड़ों की प्रशंसा करते हुए घोड़ों के लक्षण कहता है—

जिनके मुख मांसरहित हों, जिनकी नसें दिखाई देती हों; विशाल वक्षस्थलवाले, परिमित उदरवाले, चौड़े मस्तकवाले, छोटे कानवाले, जिनके कानों का अंतर संकीर्ण है, पृष्ठभाग में पृथु, पश्चिम पार्श्व में मोटे, पसलियों से दुर्बल, स्निग्ध रोमवाले, मोटे कंधेवाले, घने बालोंवाले, सुप्रमाण पूँछवाले, गोल खुरवाले, पवन के समान दौड़नेवाले, लाल आँखोंवाले, दर्पयुक्त, सुप्रशस्त ग्रीवावाले, दक्षिण आवर्त्तवाले, शत्रु का पराभव करनेवाले, तथा स्वामी को जय प्राप्त करानेवाले घोड़े शुभ कहे जाते हैं। इसी प्रकार अशुभ घोड़ों के भी लक्षण बताये हैं। सुदर्शना के पिता अपनी कन्या की परीक्षा करने के लिये उससे निम्नलिखित पहेली का उत्तर माँगते हैं—

कः क्रमते गगनतलं ? किं क्षीणं वृद्धिमेति च नितांतम् ?
को वा देहमतीव, स्त्रीपुंसां रागिणां दहति ?

—१ गगनतल में कौन उड़ता है ? २ कौन वस्तु नितान्त क्षीण होती है और वृद्धि को प्राप्त होती है ? ३ रागयुक्त स्त्री-पुरुषों के शरीर को कौन अधिक दग्ध करता है ?

सुदर्शना का उत्तर—विरह (१ विः = पक्षी, २ अह = दिन, ३ विरह)।

ज्ञात्वा कथितं च तया गगने वियोति तात ! विख्यातः।
अहरेति वृद्धिमनिशं,प्रियरहितं दहति विरहश्च ॥

—१ गगन में पक्षी उड़ता है, २ दिन निरन्तर वृद्धि और क्षय को प्राप्त होता है, और ३ प्रियरहित विरह स्त्री-पुरुषों को दग्ध करता है।

इसके बाद सुदर्शना ने राजा से प्रश्न किया—

बोध्यो देववरः कथं बहुषु वै ? कः प्रत्ययः कर्मणां ?
संबोध्यस्तु कथं सदा सुररिपुः किं श्लाघ्यते भूभृताम् ?
किं त्वन्यायवतामहो क्षितिभृतां लोकैः सदा निन्द्यते ?
व्यस्तन्यस्तसमस्तकंचनततः शीघ्रं विदित्वोच्यताम् ॥

—१ बहुत से देवों में श्रेष्ठतर देव को कैसे समझा जाये ? २ कर्मों का कौन सा प्रत्यय है ? ३ देवताओं के शत्रु को किस प्रकार सम्बोधित किया जाये ? ४ राजाओं की किस बात से प्रशंसा होती है ? ५ किन्तु आश्चर्य है कि अन्याययुक्त राजाओं की लोक में सदा निन्दा होती है—सोच समझ कर शीघ्र ही इसका उत्तर दो।

राजा ने जब उत्तर देने में असमर्थता प्रकट की तो सुदर्शना ने उत्तर दिया—अयशः (१ अय् = दैव, २ शस् , ३ हे अ = कृष्ण. ४ यश, ५ अयश)।

धर्माधर्मविचार नाम के चौथे उद्देश में राजसभा में ज्ञाननिधि नाम का एक पुरोहित आता है। वह ब्राह्मण धर्म का उपदेश देता है, लेकिन सुदर्शना उसके उपदेश का खण्डन करके मुनि धर्म का प्रतिपादन करती है। पाँचवें उद्देश में शीलमती का विजयकुमार के साथ विवाह होता है। शीलमती का हरण कर लिया जाता है, इस पर विजयकुमार और विद्याधर में युद्ध होता है। छठे उद्देश में धर्मयश नाम के चारण श्रमण के धर्मोपदेश का वर्णन है। सातवें उद्देश में सुदर्शना अपने माता-पिता आदि के साथ सिंहलद्वीप से भरुयकच्छ के लिये प्रस्थान

करती है। सब लोग बन्दरगाह पर पहुँचते हैं। यहाँ से सुदर्शना शीलमती के साथ जहाज में बैठकर आगे जाती है। इस प्रसंग पर बोहित्थ, खरकुल्लिय, बेदुल्ल, आवत्त (गोल नाव), खुरप्प आदि प्रवहणों के नामोल्लेख हैं जिन पर नेत्तपट्ट, सियवत्थ, दोछडिय, पट्ट, मृगनाभि, मृगनेत्र (गोरोचन) कर्पूर, चीण, पट्टंसुय, कुंकुम, कालागुरु, पद्मसार, रत्न, घृत, तेल, शस्य, वस्ति (मशक), इंधन, एला, कंकोल, तमालपत्र पोप्फल (पूगीफल = सुपारी), नारियल, खजूर, द्राक्षा, जातीफल (जायफल), नाराच, कुंत, मुद्गर, सव्वल (बरछी), तूणा, खुरप्प, खड्ग, जंपाण, सुखासन, खट्ट, तूलि, चाउरी, मसूरिका, गुडुर (डोरा), गुलणिय, पटमंडप, तथा अनेक प्रकार के कनक, रत्न, अंशुक आदि लाद दिये गये। आठवाँ उद्देश अन्य उद्देशों की अपेक्षा बड़ा है। इसमें विमलगिरि का वर्णन, महामुनि का उपदेश, विजयकुमार का शीलमती के साथ परिणयन, विजयकुमार की दीक्षा, धर्मोपदेश, विशुद्धदान के संबंध में वीरभद्र श्रेष्ठी का और शील के संबंध में कलावती का उदाहरण, भावनाधर्म के निरूपण में नरविक्रम का दृष्टांत आदि वर्णित हैं। महिलाओं के कुसंग से दूर रहने का यहाँ उपदेश है। पुत्री के संबंध में कहा है—

नियघरसोसा परगेहमंडणी कुलहरं कलंकाणं।
धूया जेहि न जाया जयम्मि ते सुत्थिया पुरिसा॥

—अपने घर का शोषण करनेवाली, दूसरे के घर को मंडित करनेवाली, पितृघर की कलंकरूप, जिसके पुत्री पैदा नहीं हुई वे पुरुष सुखी हैं।

कन्या के योग्य वर की प्राप्ति के संबंध में उक्ति है—

सा भणइ जं न लब्भइ वरोऽणुरूवो तओ वरेणाऽलं।
वरमुव्वसा वि साला, तक्करभरिया न उ कया वि॥

—यदि योग्य वर नहीं मिलता तो फिर वर-प्राप्ति से ही क्या लाभ? चोरों से भरी हुई शाला की अपेक्षा उजाड़शाला भली है।

तीन विडम्बनायें—

तक्कविहूणो विज्जो लक्खणहीणो य पंडिओ लोए।
भावविहूणो धम्मो तिण्णि वि गरुई विडम्बणया॥

—तर्क विहीन वैद्य, लक्षणविहीन पंडित और भावविहीन धर्म ये तीन महान् विडम्बनायें समझनी चाहिये।

यहाँ पर सिंहलद्वीप में बुद्धदर्शन के प्रचार का उल्लेख है। घोर शिव महाव्रती श्रीपर्वत से आया था और उत्तरापथ में जालन्धर जाने के लिये उद्यत था; स्तम्भन आदि विद्याओं में वह निष्णात था। राजा को उसने पुत्रोत्पत्ति का मंत्र दिया।

नौवें उद्देश में मुनि के दर्शन से सुदर्शना के मन में वैराग्य भावना उदित होने का वर्णन है। दसवें उद्देश में नवकारमन्त्र का प्रभाव, श्रेयांसकुमार की कथा, मरुदेवी के गर्भ में ऋषभदेव का अवतरण, ऋषभदेव का चरित्र, भरत को केवलज्ञान की उत्पत्ति, नरसुन्दर राजा की कथा, महाबल राजा का दृष्टांत, जीर्ण वृषभ की कथा आदि उल्लिखित हैं। रात्रिभोजन-त्याग का महात्म्य बताया है। ग्यारहवें उद्देश में भृगुकच्छ के अश्वावबोध तीर्थ का वर्णन है। अश्व को बोध देने के लिये मुनिसुव्रतनाथ भगवान् का वहाँ आगमन होता है और अश्व को जातिस्मरण उत्पन्न होता है। बारहवें उद्देश में सुदर्शना के आदेशानुसार मुनिसुव्रतनाथ भगवान् का प्रासाद निर्मित किये जाने का वर्णन है। जिनबिम्ब की प्रतिष्ठाविधि सम्पन्न होती है। नर्मदा के किनारे शकुनिकाविहार नामक जिनालय के पूर्ण होने पर उसकी प्रशस्ति आदि की विधि की जाती है। तेरहवें उद्देश में शीलवती के साथ सुदर्शना द्वारा रत्नावली आदि विविध प्रकार के तपश्चरण करने आदि का वर्णन है। चौदहवें उद्देश में शत्रुंजय तीर्थ पर महावीर के आगमन और उनके धर्मोपदेश का वर्णन है। पन्द्रहवें उद्देश में महासेन राजा के दीक्षा-ग्रहण का उल्लेख है। सोलहवें उद्देश में धनपाल संघ को साथ लेकर रैवतगिरि की यात्रा करता है। यहाँ उज्जयन्त पर्वत पर नेमिनाथ के जिनभवन का वर्णन

है। धनपाल ने पहले संस्कृत गद्य-पद्य फिर प्राकृत पद्य में नेमिनाथ की स्तुति की। यात्रा से लौट कर धनपाल ने तीर्थोद्यापन किया और गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए वह समय यापन करने लगा।

जयन्तीप्रकरण

जयन्तीप्रकरण को जयन्तीचरित नाम से भी कहा जाता है।[1] भगवतीसूत्र के १२ वें शतक के द्वितीय उद्देशक के आधार से मानतुंगसूरि ने जयन्तीप्रकरण की रचना की है जिस पर उनके शिष्य मलयप्रभसूरि ने सरस वृत्ति लिखी है। इस टीका में संस्कृत गद्य-पद्य का भी उपयोग किया गया है। मलप्रभसूरि विक्रम सम्वत् १२६० (सन् १२०३) में विद्यमान थे। महासती जयन्ती कौशाम्बी के राजा सहस्रानीक की पुत्री, शतानीक की भगिनी और उसके पुत्र राजा उदयन की फूफी थी। महावीर के शासनकाल में वह निर्ग्रन्थ साधुओं को वसति देने के कारण प्रथम शय्यातरी के रूप में प्रसिद्ध हुई। जयन्ती ने महावीर भगवान् से जीव और कर्मविषयक अनेक प्रश्न पूछे।

इस में कुल मिलाकर केवल २८ गाथायें हैं, लेकिन इनके ऊपर लिखी हुई विशद वृत्ति में अनेक आख्यान संग्रहीत हैं। आरम्भ में कौशम्बी नगरी, शतानीक राजा और उसकी मृगावती रानी का वर्णन है। उज्जैनी का राजा प्रद्योत मृगावती को प्राप्त करना चाहता था, इस पर दोनों राजाओं में युद्ध हुआ। अन्त में मृगावती ने महावीर के समक्ष उपस्थित होकर श्रमणी दीक्षा ग्रहण कर ली। राजा प्रद्योत को महावीर ने परदारा-वर्जन का उपदेश दिया।

अभयदान में मेघकुमार की कथा है। मेघकुमार का आठ कन्याओं से विवाह होता है; विवाह सामग्री का यहाँ वर्णन किया

---

१. पन्यास श्रीमणिविजय जी गणिवर ग्रन्थमाला में वि० सं० २००६ में प्रकाशित।

है। अन्त में मेघकुमार दीक्षा ले लेते हैं। सुपात्रदान में वीरभद्र और करुणादान में राजा सम्प्रति की कथा दी है। शील में सुदर्शन का दृष्टान्त है। तप के उदाहरण दिये गये हैं। ऋषभदेव के चरित में भरत और बाहुबलि का आख्यान है। अठारह पापस्थानों की उदाहरणपूर्वक व्याख्या की गई है। फिर भव्य-अभव्य के सम्बन्ध में चर्चा है। अन्त में जयन्ती महावीर भगवान् के समीप दीक्षा ग्रहण करती है और चारित्र का पालन कर मोक्ष प्राप्त करती है।

कण्हचरिय (कृष्णचरित)

रामचरित की भाँति कृष्ण के भी अनेक चरित प्राकृत में लिखे गये हैं। इस के कर्त्ता सुदंसणाचरिय के रचयिता तपागच्छीय देवेन्द्रसूरि हैं।[1] यह चरित श्राद्धदिनकृत्य की वृत्ति में से उद्धृत किया गया है, जिसमें नेमिनाथ का चरित भी अन्तर्भूत है।

प्रस्तुत चरित में वसुदेव के पूर्वभव, कंस का जन्म, वसुदेव का भ्रमण, अनेक राज्यों से कन्याओं का ग्रहण, चारुदत्त का वृत्तान्त, रोहिणी का परिणयन, कृष्ण और बलदेव के पूर्वभव, नारद का वृत्तान्त, देवकी का ग्रहण, कृष्ण का जन्म, नेमिनाथ का पूर्वभव, नेमि का जन्म-महोत्सव, कंस का बध, द्वारिका नगरी का निर्माण, कृष्ण की अग्र महिषियाँ, प्रद्युम्न का जन्म, पाण्डवों की परम्परा, द्रौपदी के पूर्वभव, जरासंध के साथ युद्ध, कृष्ण की विजय, राजीमती का जन्म, नेमिनाथ और राजीमती के विवाह की चर्चा, नेमिनाथ का विवाह किये बिना ही मार्ग से लौट आना, उनकी दीक्षा, धर्मोपदेश, द्रौपदी का हरण, गजसुकुमाल का वृत्तान्त, यादवों की दीक्षा, ढंढणऋषि की कथा, रथनेमि और राजीमती का संवाद, थावच्चापुत्र का वृत्तांत, शैलक की कथा, द्वीपायन द्वारा द्वारिका का दहन, राम और कृष्ण का निर्गमन,

---

१. केशरीमल जी संस्था, रतलाम द्वारा सन् १९३० में प्रकाशित।

कृष्ण की मृत्यु, बलदेव का विलाप, दीक्षा-ग्रहण, पाण्डवों की दीक्षा और नेमिनाथ के निर्वाण का वर्णन है। कृष्ण मर कर तीसरे नरक में गये, आगे चलकर वे अमम नाम के तीर्थंकर होंगे। बलदेव उनके तीर्थ में सिद्धि प्राप्त करेंगे।

कुम्मापुत्तचरिय (कूर्मापुत्रचरित)

कूर्मापुत्रचरित में कूर्मापुत्र की कथा है, जो १६८ प्राकृत पद्यों में लिखी गई है।[1] इस ग्रन्थ के कर्ता जिनमाणिक्य अथवा उनके शिष्य अनन्तहंस माने जाते हैं। ग्रन्थ की रचना का समय सन् १५१३ है। सम्भवतः इसकी रचना उत्तर गुजरात में हुई है। कुम्मापुत्तचरिय की भाषा सरल है, अलंकार आदि का प्रयोग यहाँ नहीं है। व्याकरण के नियमों का ध्यान रक्खा गया है।

कुम्मापुत्त की कथा में भावशुद्धि का वर्णन है। दान, शील, रूप आदि की महिमा बताई गई है। अन्त में गृहस्थावस्था में रहते हुए भी कुम्मापुत्त को केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। प्रसंगवश मनुष्यजन्म की दुर्लभता, अहिंसा की मुख्यता, कर्मों का क्षय, प्रमाद का त्याग आदि विषयों का यहाँ प्ररूपण किया गया है।

अन्य चरित-ग्रन्थ

इसके अतिरिक्त अभयदेवसूरि के शिष्य चन्द्रप्रभमहत्तर ने संवत् ११२७ (सन् १०७०) में देवावड नगर में वरदेव के अनुरोध पर विजय चन्दकेवलीचरिय की रचना की। इसमें धूपपूजा, अक्षत-पूजा, पुष्पपूजा, दीपपूजा, नैवेद्यपूजा आदि के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। अभयदेवसूरि के शिष्य वर्धमानसूरि ने सन् १०८३ में १५,००० गाथाप्रमाण मनोरमाचरिय और ११,००० श्लोकप्रमाण आदिनाहचरिय की रचना की। अपभ्रंश की गाथायें भी इस

---

१. प्रो० अभ्यंकर द्वारा सम्पादित सन् १९३३ में अहमदाबाद से प्रकाशित।

रचना में पाई जाती हैं। इस समय सुप्रसिद्ध हेमचन्द्र आचार्य के गुरु देवचन्द्र सूरि ने लगभग १२,००० श्लोकप्रमाण संतिनाहचरिय की रचना की। फिर नेमिचन्द्रसूरि के शिष्य शांतिसूरि ने अपने शिष्य मुनिचन्द्र के अनुरोध पर सन् ११०४ में पुहवीचन्दचरिय लिखा। मलधारी हेमचन्द्र ने नेमिनाहचरिय, और उनके शिष्य श्रीचन्द्र ने सन् ११३५ में मुणिसुव्वयसामिचरिय की रचना की। देवेन्द्रसूरि के शिष्य श्रीचन्द्रसूरि ने सन् ११५७ में सणंकुमारचरिय की रचना की। श्रीचन्द्रसूरि के शिष्य वाटगच्छीय हरिभद्र ने सिद्धराज और कुमारपाल के महामात्य पृथ्वीपाल के अनुरोध पर चौबीस तीर्थकरों का जीवनचरित लिखा। इनमें चन्दप्पहचरिय, मल्लिनाहचरिय और नेमिनाहचरिय उपलब्ध हैं। मल्लिनाहचरिय प्राकृत में लिखा गया है, इसमें तीन प्रस्ताव हैं। कुमारपालप्रतिबोध के कर्ता सोमप्रभसूरि ने ६००० गाथाओं में सुमतिनाहचरिय, और सन् १३५३ में मुनिभद्र ने संतिनाहचरिय की रचना की। नेमिचन्द्रसूरि ने भव्यजनों के लाभार्थ अनन्तनाहचरिय लिखा जिसमें पूजाष्टक[1] उद्धृत किया है। यहाँ कुसुमपूजा आदि के उदाहरण देते हुए जिनपूजा को पापहरण करनेवाली, कल्याण का भंडार और दरिद्रता को दूर करनेवाली बताया है। दारिद्र्य के संबंध में उक्ति है—

हे दारिद्र्य ! नमस्तुभ्यं सिद्धोऽहं त्वत्प्रसादतः।
जगत्पश्यामि येनाहं न मां पश्यति कश्चन ॥

—हे दारिद्र्य ! तुझे नमस्कार हो। तेरी कृपा से मैं सिद्ध बन गया हूँ, जिससे मैं जगत् को देखता हूँ और मुझे कोई नहीं देखता।

---

१. ऋषभदेव केशरीमल श्वेतांबर जैन संस्था की ओर से सन् १९३९ में रतलाम से प्रकाशित।

पूजाप्रकाश[1] संघाचारभाष्य, श्राद्धदिनकृत्य आदि से उद्धृत किया गया है।[2]

प्राकृत के अतिरिक्त संस्कृत और अपभ्रंश में भी चरित-ग्रन्थों की रचना हुई, और आगे चलकर पंप, रन्न और होन्न ने कनाडी भाषा में तीर्थंकरों के चरित लिखे।

स्तुति-स्तोत्र साहित्य

चरित-ग्रन्थों के साथ-साथ अनेक स्तुति-स्तोत्र भी प्राकृत में लिखे गये। इनमें धनपाल का ऋषभपंचाशिका[3] और वीरथुइ,[4] नंदिषेण का अजियसंतिथव,[5] धर्मवर्धन का पासजिनथव, जिन-पद्मका संतिनाहथव, जिनप्रभसूरि का पासनाहलहुथव; तथा भद्र-

---

१. श्रुतज्ञान अमीधारा सीरीज़ में शाह रायचंद गुलाबचन्द की ओर से सन् १९४० में प्रकाशित।

२. डा० ए० एम० घाटगे ने अनैल्स आफ भांडारकर ओरिंटिएल इंस्टिट्यूट, भाग १६, १९३४–५ में 'नरैटिव लिटरेचर इन महाराष्ट्री' नामक लेख में चरित-ग्रन्थों का इतिहास दिया है।

३.–४. जर्मन प्राच्य विद्यासमिति की पत्रिका के ३३वें खंड में प्रकाशित। फिर सन् १८९० में बम्बई से प्रकाशित काव्यमाला के ७वें भाग में प्रकाशित। सावचूर्णि ऋषभपंचाशिका के साथ वीरथुई देव-चन्दलाल भाई पुस्तकोद्धार ग्रन्थमाला की ओर से सन् १९३३ में बंबई से प्रकाशित हुई है।

५. मुनि वीरविजय द्वारा संपादित अहमदाबाद से वि० सं० १९९२ में प्रकाशित। जिनप्रभसूरि ने १३६५ में इस पर टीका लिखी है। यह स्तवन उपसर्ग-निवारक माना गया है; जो इसका पाठ करता है और इसे श्रवण करता है उसे कोई रोग नहीं होता। लघुअजितसंतिथव के कर्ता जिनवल्लभसूरि हैं। इसमें १७ गाथायें हैं जिन पर धर्मतिलक मुनि ने उल्लासिक्कम नाम की व्याख्या लिखी है।

बाहुस्वामी का उवसग्गहर,[1] मानतुंग का भयहर, कमलप्रभाचार्य का पार्श्वप्रभुजिनस्तवन, पूर्णकलशगणि का स्तंभनपार्श्वजिनस्तवन,[2] अभयदेवसूरि का जयतिहुयण,[3] धर्मघोषसूरि का इसिमंडलथोत्त,[4] नन्नसूरि का सत्तरिसयथोत्त, महावीरथव[5] आदि मुख्य हैं। इसके सिवाय, जिनचन्द्रसूरि के नमुक्कारफलपगरण, मानतुंगसूरि के पंचनमस्कारस्तवन, पंचनमस्कारफल, तथा जिनकीर्त्तिसूरि के परमेष्ठिनमस्कारस्तव (मंत्रराजगुणकल्पमहो-

---

१. सप्तस्मरण के साथ जिनप्रभसूरि, सिद्धचन्द्रगणि और हर्षकीर्तिसूरि की व्याख्याओं सहित देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार ग्रन्थमाला की ओर से सन् १९३३ में बंबई से प्रकाशित।

२. प्राचीन साहित्य उद्धार ग्रन्थावलि की ओर से सन् १९३६ में प्रकाशित जैनस्तोत्रसंदोह में संग्रहीत। तुहु गुरु, खेमंकरु॥

३. सन् १९१६ में बंबई से प्रकाशित। उपाध्याय समयसुन्दर ने इस पर विवरण लिखा है। नमूना देखिये—

तुहु सामिउ, तुहु मायबप्पु तुहु मित्त, पियंकरु।
तुहु गइ, तुहु मइ, तुहु जि ताणु। तुहु गुरु, खेमंकरु।
हुउं दुहभरभारिउ वराउ, राउल निब्भग्गह लीणउ।
तुहु कमकमलसरणु जिण, पालहि चंगह॥

—तुम स्वामी हो, तुम माँ-बाप हो, मित्र हो, प्रिय हो। तुम गति हो, त्राता हो, गुरु हो, खेमंकर हो। मैं रंक दुख के भार से दबा हुआ हूँ, अभागों का राजा हूँ। हे जिन! तुम्हारे चरणकमल ही मेरी शरण हैं, तुम मेरा भली प्रकार पालन करो।

४. यशोविजय महाराज द्वारा संपादित वि० सं० २०१२ में बड़ौदा से प्रकाशित। इस पर शुभवर्धन, हर्षनन्दन, भुवनतुंग, पद्ममंदिर आदि अचार्यों ने वृत्तियाँ लिखी हैं।

५. आत्मानन्द सभा, भावनगर से वि० सं० १९७० में प्रकाशित। समयसुन्दरगणि की इस पर स्वोपज्ञ अवचूरि है।

दधि) में नमस्कारमंत्र का स्तवन किया गया[1] है। देवेन्द्रसूरि का चत्तारिअट्ठदसथव,[2] सम्यक्त्वस्वरूपस्तव, गणधरस्तवन, चतुर्विंशतिजिनस्तवन, जिनराजस्तव, तीर्थमालास्तव, नेमिचरित्र-स्तव, परमेष्ठिस्तव, पुंडरीकस्तव, वीरचरित्रस्तव, वीरस्तवन, शाश्वतजिनस्तव, सप्तशतिजिनस्तोत्र और सिद्धचक्रस्तवन आदि स्तोत्र-ग्रन्थों की प्राकृत में रचना की गई है।[3]



१. ये सब लघु ग्रंथ सिंघी जैनग्रन्थमाला, बंबई से प्रकाशित हो रहे हैं। मुनि जिनविजय जी की कृपा से मुझे देखने को मिले हैं।

२. देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धार ग्रंथमाला की ओर से सन् १९३३ में प्रकाशित।

३. देखिये जैन ग्रन्थावलि, पृ० २७२–२९५। नन्दीसरथव, जिणथोत्त, सिरिवीरथुई और कल्लाणयथोत्त सिरिपयरणसंदोह में संग्रहीत हैं (ऋषभदेव केशरीमल संस्था, रतलाम, १९२९)। डॉक्टर डब्ल्यू शूब्रिंग ने स्तोत्र-साहित्य के संबंध में ज्ञानमुक्तवलि, दिल्ली, १९५९ में एक महत्त्वपूर्ण लेख प्रकाशित किया है।

आठवाँ अध्याय

प्राकृत काव्य-साहित्य (ईसवी सन् की पहली शताब्दी से लेकर १८वीं शताब्दी तक)

प्राकृत साहित्य में अनेक सरस काव्यों की भी रचना हुई। इस साहित्य का धार्मिक उपदेश अथवा धार्मिक चरितों से कोई संबंध नहीं था, और इसके लेखक मुख्यतया अजैन विद्वान् ही हुए। संस्कृत महाकाव्यों की शैली पर ही प्रायः यह साहित्य लिखा गया जिसमें शृङ्गाररस को यथोचित स्थान मिला। छन्दोबद्ध पद्य से मुक्त मुक्तक काव्य इस युग की विशेषता थी। इस काव्य में पूर्वापर संबंध की अपेक्षा के बिना एक ही पद्य में पाठक के चित्त को चमत्कृत करने के लिये वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्य की प्रधानता रही है। गीतात्मक होने के कारण इसमें गेय तत्त्व का भी समावेश हुआ। गाथासप्तशती प्राकृत साहित्य का इसी तरह का एक सर्वश्रेष्ठ अनुपम काव्य है।

गाहासत्तसई (गाहासप्तशती)

गाथासप्तशती, जिसे सप्तशतक भी कहा जाता है, शृङ्गाररस-प्रधान एक मुक्तक काव्य है जिसमें प्राकृत के सर्वश्रेष्ठ कवि[1]

---

१. इनमें रइराअ, मिअंग, हाल, पवरसेण, केसव, गुणाढ्य, अणिरुद्ध, मअरन्द, कुमारिल, चन्दसामि, अवन्तिवम्म, हरिउड्ढ, पोट्टिस, चन्दहत्थि, पालित, वल्लह, माहवसेण, ईसाण, मत्तगइन्द, विसमसेण, भोज, सिरिधम्म, रेवा, णरवाहण, ससिप्पहा, रोहा, दामोअर, मल्लसेण, तिलोअण आदि मुख्य हैं। इनमें हरिउड्ढ और पोट्टिस का उल्लेख राजशेखर की कर्पूरमंजरी में मिलता है। भोज के सरस्वती-कंठाभरण (१. १३२) में भी हरिउड्ढ का नाम आता है। पालित अथवा पादलिप्त सुप्रसिद्ध जैन आचार्य हैं जिन्होंने तरंगवइकहा की

और कवयित्रियों की चुनी हुई लगभग सात सौ गाथाओं का संग्रह है।[1] पहले यह गाहाकोस नाम से कहा जाता था। बाणभट्ट ने अपने हर्षचरित में इसे इसी नाम से उल्लिखित किया है। उपमा, रूपक आदि अलंकारों से सज्जित ध्वनि-अर्थ-प्रधान ये गाथायें महाराष्ट्री प्राकृत में आर्या छंद में लिखी गई हैं। कहा जाता है कि गाथासप्तशती के संग्रहकर्ता ने एक करोड़ प्राकृत पद्यों में से केवल ७०० पद्यों को चुनकर इसमें रक्खा है। बाण, रुद्रट, मम्मट, वाग्भट, विश्वनाथ और गोवर्धन आचार्य आदि काव्य और अलंकार-ग्रन्थों के रचयिताओं ने इस काव्य की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है और इसकी गाथाओं को अलंकार, रस आदि के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है। गोवर्धनचार्य ने तो यहाँ तक कहा है कि प्राकृत काव्य में ही ऐसी सरसता आ सकती है, संस्कृत काव्य में नहीं। सचमुच

रचना की है। यहाँ प्रवरसेन का नाम भी आता है। लेकिन प्रवरसेन का समय ईसवी सन् की ५वीं शताब्दी माना जाता है। इसका समाधान प्रोफेसर वासुदेव विष्णु मिराशी ने १३वीं ऑल इण्डिया ओरिंटिएल कॉन्फरेंस, नागपुर, १९४६ में पठित 'द ओरिजिनल नेम ऑव गाथासप्तशती' नामक लेख में किया है कि गाथा सप्तशती का मूल नाम गाहाकोस था। पहले इसमें पद्यों की संख्या कम थी, बाद में जैसे-जैसे श्रेष्ठ कवि होते गये, उनकी रचनाओं का इसमें समावेश होता गया।

१. काव्यमाला २१ में निर्णयसागर प्रेस, बंबई से सन् १९३३ में प्रकाशित। वेबर ने इसके आरंभ की ३७० गाथायें 'इ० यूबर डास सप्तशतकम् डेस हाल' नाम से लाइप्त्सिख, १८७० में प्रकाशित कराई थी। उसके बाद सन् १८८१ में उसने सप्तशती का संपूर्ण संस्करण प्रकाशित किया—इसका जर्मन अनुवाद भी किया। इसका एक उत्तम संस्करण दुर्गाप्रसाद और काशीनाथ पांडुरंग परब ने निकाला है जो गंगाधर भट्ट की टीका सहित निर्णयसागर प्रेस से काव्यमाला के २१वें भाग में प्रकाशित हुआ है।

गाहासत्तसई के पढ़ने के बाद यह जानकर बड़ा कौतूहल होता है कि क्या ईसवी सन् की प्रथम शताब्दी के आसपास प्राकृत में इतने भावपूर्ण उत्कृष्ट काव्यों की रचना होने लगी थी? गाथासप्तशती के अनुकरण पर संस्कृत में आर्यासप्तशती और हिन्दी में बिहारीसतसई[1] आदि की रचनायें की गई हैं। अमरु कवि का अमरुशतक भी इस रचना से प्रभावित है।

हाल अथवा आंध्रवंश के सातवाहन (शालिवाहन) को इस कृति का संग्रहकर्ता माना जाता है। सातवाहन और कालकाचार्य के संबंध में पहले कहा जा चुका है। सातवाहन प्रतिष्ठान में राज्य करते थे,तथा बृहत्कथाकार गुणाढ्य और व्याकरणाचार्य शर्ववर्मा आदि विद्वानों के आश्रयदाता थे। भोज के सरस्वतीकंठाभरण (२. १५) के अनुसार जैसे विक्रमादित्य ने संस्कृत भाषा के प्रचार के लिये प्रयत्न किया, उसीप्रकार शालिवाहन ने प्राकृत के लिये किया। राजशेखर काव्यमीमांसा (पृ० ५०) के अनुसार अपने अंतःपुर में शालिवाहन प्राकृत में ही बातचीत किया करते थे (श्रूयंते च कुंतलेषु सातवाहनो नाम राजा, तेन प्राकृतभाषात्मकमन्तःपुर एवेति समानं पूर्वेण)। बाण ने अपने हर्षचरित में सातवाहन को प्राकृत के सुभाषित रत्नों का संकलनकर्ता कहा है। इनका समय ईसवी सन् ६९ माना जाता है। श्रृंगाररस प्रधान होने के कारण इस कृति में नायक-नायिकाओं के वर्णन-प्रसंग में साध्वी, कुलटा, पतिव्रता, वेश्या, स्वकीया, परकीया, संयमशीला, चंचला आदि स्त्रियों की मनःस्थितियों का सरस चित्रण किया है। प्रेम की अवस्थाओं का वर्णन अत्यंत मार्मिक

१. तुलना के लिये देखिये श्री मथुरानाथ शास्त्री की गाथासप्तशती की भूमिका, पृ० ३७-५३; पद्मसिंह शर्मा का बिहारीसतसई पर संजीवनी भाष्य। डिंगल के कवि सूर्यमल्ल ने वीरसतसई की रचना की। इसी प्रकार गुजराती में दयाराम ने सतसया और दलपतराय ने दलपत-सतसई की रचना की—प्रोफेसर कापडिया, प्राकृत भाषाओ अने साहित्य, पृष्ठ १४५ फुटनोट।

बन पड़ा है। प्रसंगवश मेघधारा, मयूरनृत्य, कमलवनलक्ष्मी, झरने, तालाब, ग्राम्य जीवन, लहलहाते खेत, विन्ध्य पर्वत, नर्मदा, गोदावरी आदि प्राकृतिक दृश्यों का अनूठा वर्णन किया है। बीच-बीच में होलिका महोत्सव, मदनोत्सव, वेशभूषा, आचार-विचार, व्रत-नियम, आदि के काव्यमय चित्र उपस्थित किये गये हैं। निस्सन्देह पारलौकिकता की चिंता से मुक्त प्राकृतकाव्य की यह अनमोल रचना संसार के साहित्य में बेजोड़ है। गाथा-सप्तशती के ऊपर १८ टीकायें लिखी जा चुकी हैं; जैन विद्वानों ने भी इस पर टीका लिखी है। जयपुर के श्री मथुरानाथ शास्त्री ने इस पर व्यंग्यसर्वंकषा नाम की संस्कृत में पांडित्यपूर्ण टीका लिखी है।

गाथाशप्तशती की चमत्कारपूर्ण उक्तियों के कुछ उदाहरण देखिए—

१. फुरिए वामच्छि तुए जइ एहिइ सो पिओ ज्ज ता सुइरम्।
संमीलिअ दाहिणअं तुइ अवि एहं पलोइस्सम्॥

—हे वामनेत्र! तेरे फरकने पर (परदेश गया हुआ) मेरा प्रिय यदि आज आ जायेगा तो अपना दाहिना नेत्र मूँदकर मैं तेरे द्वारा ही उसे देखूँगी।[1]

२. अज्ज गओ ति अज्जं गओ त्ति अज्जं गओ त्ति गणरीए।
पढम व्विअ दिअहद्धे कुड्डो रेहाहिं चित्तलिओ॥

—(मेरा पति) आज गया है, आज गया है, इस प्रकार एक दिन में एक लकीर खींचकर दिन गिननेवाली नायिका ने दिन के प्रथमार्ध में ही दिवाल रेखाओं से चित्रित कर डाली।

३. जस्स अहं विअ पढमं तिस्सा अंगम्मि णिवडिआ दिट्ठी।
तस्स तहिं चेअ ठिआ सव्वंगं केण वि ण दिट्ठं॥

---

१. मिलाइये—बाम बाहु फरकत मिलैं, जो हरि जीवनमूरि।
तौ तोहीं सों भेंटिहौं, राखि दाहिनी दूरि॥
१४२ बिहारीसतसई।

—उसके शरीर पर जहाँ जिसकी दृष्टि पड़ी, वहीं वह लगी रह गई, और उसका सारा अंग कोई भी न देख सका।

४. वेविरसिण्णकरंगुलि परिग्गहक्खलिअलेहणीमग्गे।
सोत्थिव्विअ ण समप्पइ पिअसहि लेहम्मि किं लिहिमो॥

—काँपती हुई और स्वेदयुक्त उँगलियों द्वारा पकड़ी हुई लेखनी के स्खलित हो जाने से, नायिका स्वस्ति शब्द को ही पूरा न कर सकी, पत्र तो वह विचारी क्या लिखती ?

५. अव्वो दुक्करआरअ ! पुणो वि तंतिं करेसि गमणस्स।
अज्ज वि ण होंति सरला वेणीअ तरंगिणो चिउरा॥

—हे कठोर हृदय ! अभी तो (विरह अवस्था में बँधी हुई) वेणी के कुटिल केश भी सीधे नहीं हो पाये, और तुम फिर से जाने की बात करने लगे।[1]

६. हत्थेसु अ पाएसु अ अंगुलिगणणाइ अइगआ दिअहा।
एण्हिं उण केण गणिज्जउ त्ति भणिअ रुअइ मुद्धा॥

—हाथ और पाँवों की सब उँगलियाँ गिनकर दिन बीत गये, अब मैं किस प्रकार शेष दिनों को गिन सकूँगी, यह कहकर मुग्धा रुदन करने लगी।

७. बहलतमा हअराई अज्ज पउत्थो पई घरं सुण्णम्।
तह जग्गेसु सअज्झिअ ! ण जहा अम्हे मुसिज्जामो॥

—आज की हतभागी रात में घना अँधेरा है, पति परदेश गये हैं, घर सूना है। हे पड़ोसिन ! तुम आज रात को जागरण करो जिससे चोरी न हो जाये।

८. धण्णा ता महिलाओ जा दइअं सिविणए वि पेच्छंति।
णिद्दव्विअ तेण विणा ण एइ का पेच्छए सिविणम्॥

—वे महिलायें धन्य हैं जो अपने पति का स्वप्न में तो दर्शन

---

१. मिलाइये—अज्यौं न आये सहज रँग बिरह दूबरे गात।
अबहीं कहा चलाइयत ललन चलन की बात॥ १२०॥
—बिहारीसतसई।

कर लेती हैं, लेकिन जिन्हें उनके विरह में निद्रा ही नहीं आती वे बेचारी स्वप्न ही क्या देखेंगी ?

९. जाव ण कोसविकासं पावइ ईसीस मालईकलिआ।
मअरंदपाणलोहिल्ल भमर तावच्चिअ मलेसि ॥

—मालती की कली का विकसित होने के पूर्व ही, पुष्परस पान करने का लोभी भ्रमर मर्दन कर डालता है।[1]

१०. सो णाम संभरिज्जइ पब्भसिओ जो खणं पि हिअआहि।
संभरिअव्वं च कअं गअं अ पेम्मं णिरालंबम् ॥

—जो एक क्षण के लिये भी हृदय से दूर रहे उसका नाम स्मरण करना तो ठीक कहा जा सकता है (लेकिन जो रात-दिन हृदय में रहता है उसका क्या स्मरण किया जाये ?)। यदि प्रिय स्मरण करने योग्य है तो प्रेम निरालंब ही हो जायेगा।

११. पणअकुविआणं दोण्ह वि अलिअपसुत्ताणं माणइल्लाणम्।
णिच्चलणिरुद्धणीसासदिण्णकण्णाणं को मल्लो ॥

—प्रणय से कुपित, झूठ-मूठ सोये हुए, मानयुक्त, एक दूसरे के निश्चल रोके हुए निश्वास की ओर कान लगाये हुए नायक और नायिका दोनों में देखें कौन मल्ल है ? (कोई भी नहीं)।

१२. अण्णाण्णं कुसुमरसं जं किर सो महइ महुअरो पाउं।
तं णीरसाण दोसो कुसुमाणं णेअ भमरस्स ॥

—भौंरा जो दूसरे-दूसरे कुसुमों का रस पान करना चाहता है, इसमें नीरस कुसुमों का ही दोष है, भौंरे का नहीं।

१३. अण्णमहिलापसंगं दे देव ! करेसु अह्म दइअस्स।
पुरिसा एक्कन्तरसा ण हु दोसगुणे विआणंति ॥

—हे देव ! हमारे प्रियतम को किसी अन्य महिला से मिलने का भी प्रसंग हो क्योंकि एकमात्र रस के भोगी पुरुष स्त्रियों के गुण-दोष नहीं समझते।

---

१. मिलाइये—नहिं पराग नहिं मधुर मधु नहि विकास इहिं काल।
अली कलीही तैं बंध्यो आगे कौन हवाल ॥
—बिहारीसतसई

१४. असरिसचित्ते दिअरे सुद्धमणा पिअअमे विसमसीले ।
णं कहइ कुडुम्बविहडणभएण तणुआअए सोण्हा ।।

—काम विकार के कारण दूषित हृदयवाले देवर के होते हुए भी, शुद्ध हृदयवाली पुत्रवधू प्रियतम के कठोर स्वभावी होने से, कुटुंब में कलह होने के भय से, अपने मन की बात न कहने के कारण प्रतिदिन कृश होती जा रही है।

१५. भुंजसु जं साहीणं कुत्तो लोणं कुगामरिद्धम्मि ।
सुहअ ! सलोणेण वि किं तेण सिणेहो जहिं णत्थि ।।

—जो स्वाधीन होकर मिले उसे खाओ, छोटे-मोटे गाँव में भोजन बनाते समय लवण कहाँ से आयेगा ? हे सुन्दर ! उस लवण से भी क्या लाभ जहाँ स्नेह न हो।

१६. अज्जं पि ताव एक्कं मा मं वारेहि पिअसहि रुअंतिम् ।
कल्लिं उण तम्मि गए जइ ण मुआ ताण से दिस्सम् ।।

—आज एक दिन के लिये मुझ रोती हुई को मत रोको। कल उसके चले जाने पर यदि मैं न मर गई तो फिर मैं रोऊँगी ही नहीं (अर्थात् उसके चले जाने पर मेरा मरण अवश्यंभावी है)।

१७. जे जे गुणिणो जे जे अ चाइणो जे विडड्ढविण्णाणा ।
दारिद्द रे विअक्खण ! ताण तुमं साणुराओ सि ।।

—जो कोई गुणवान् हैं, त्यागी हैं, ज्ञानवान् हैं, हे विचक्षण दारिद्र्य ! तू उन्हीं से प्रेम करता है।

वज्जालग्ग

हाल की सप्तशती के समान वज्जालग्ग (व्रज्यालग्न) भी प्राकृत के समृद्ध साहित्य का संग्रह है। यह भी किसी एक कवि की रचना नहीं है, अनेक कवियोंकृत प्राकृत पद्यों का यह सुभाषित संग्रह है जिसे श्वेताम्बर मुनि जयवल्लभ ने संकलित किया है।[1] इन सुभाषितों को पढ़कर इनके रचयिताओं की सूक्ष्म-

१. प्रोफेसर जुलियस लेबर द्वारा कलकत्ता से सन् १९१४, १९२३ और १९४४ में प्रकाशित।

बूझ और सूक्ष्म पर्यवीक्षण शक्ति का अनुमान किया जा सकता है। यह सुभाषित आर्या छन्द में है और इसमें धर्म, अर्थ, और काम का प्ररूपण है। वज्जा का अर्थ है पद्धति; एक प्रस्ताव में एक विषय से संबंधित अनेक गाथायें होने के कारण इसे वज्जालग्ग कहा गया है। हाल की सप्तशती की भाँति इसमें भी ७०० गाथायें थीं। वर्तमान कृति में ७६५ गाथायें हैं; दुर्भाग्य से इनके लेखकों के नामों के संबंध में हम कुछ नहीं जानते। ये गाथायें काव्य, सज्जन, दुर्जन, दैव, दारिद्र्य, गज, सिंह, भ्रमर, सुरत, प्रेम, प्रवसित, सती, असती, ज्योतिषिक, लेखक, वैद्य, धार्मिक, यांत्रिक, वेश्या, खनक (उड्ड), जरा, वडवानल आदि ६५ प्रकरणों में विभक्त हैं। रत्नदेवगणि ने संवत् १३९३ में इस पर संस्कृत टीका लिखी है। कहीं-कहीं अपभ्रंश का प्रभाव दिखाई देता है। हेमचन्द्र और संदेशरासक के कर्त्ता अब्दुर्रहमान आदि की गाथायें भी यहाँ मिलती हैं।

प्रारंभ में प्राकृत-काव्य को अमृत कहा है, जो इसे पढ़ना और सुनना नहीं जानते वे काम की वार्ता करते हुए लज्जा को प्राप्त होते हैं। प्राकृत-काव्य के संबंध में कहा है—

> ललिए महुरक्खरए जुवईयणवल्लहे ससिंगारे।
> सन्ते पाइयकव्वे को सक्कइ सक्कयं पढिउं॥

—ललित, मधुर अक्षरों से युक्त, युवतियों को प्रिय, शृङ्गार-युक्त, प्राकृतकाव्य के रहते हुए संस्कृत को कौन पढ़ेगा?

नीति के सम्बन्ध में बताया है—

> अप्पहियं कायव्वं जइ सक्कइ परहियं च कायव्वं।
> अप्पहियपरहियाणं अप्पहियं चेव कायव्वं॥

—पहले अपना हित करना चाहिये, संभव हो तो दूसरे का हित करना चाहिये। अपने और दूसरे के हित में से अपना हित ही मुख्य है।

धीर पुरुषों के संबंध में—

वे मग्गा भुवणयले माणिणि ! माणुन्नयाण पुरिसाणं ।
अहवा पावंति सिरिं अहव भमन्ता समप्पंति ॥[1]

—हे मानिनि ! इस भूमंडल पर मानी पुरुषों के लिये केवल दो ही मार्ग हैं—या तो वे श्री को प्राप्त होते हैं, या फिर भ्रमण करते हुए समाप्त हो जाते हैं ।

विधि की मुख्यता बताई है—

को एत्थ सया सुहिओ कस्स व लच्छी थिराइ पेम्माइं ।
कस्स व न होइ खलणं भण को हु न खंडिओ विहिणा ॥

—यहाँ कौन सदा सुखी है ? किसके लक्ष्मी टिकती है ? किसका प्रेम स्थिर रहता है ? किसका स्खलन नहीं होता ? और विधि के द्वारा कौन खंडित नहीं होता ?

दीन के संबंध में—

तिणतूलं पि हु लहुयं दीणं दइवेण निम्मियं भुवणे ।
वाएण किं न नीयं अप्पाणं पत्थणभएण ॥

—दैव ने तृण और तूल (रुई) से भी लघु दीन को सिरजा है, तो फिर उसे वायु क्यों न उड़ा ले गई ? क्योंकि उसे डर था कि दीन उससे भी कुछ माँग न बैठे ।

सेवक को लक्ष्य करके कहा है—

वरिसिहिसि तुमं जलहर ! भरिहिसि भुवणन्तराइ नीसेसं ।
तण्हासुसियसरीरे मुयम्मि वप्पीहयकुडुंबे ॥

—हे जलधर ! तुम बरसोगे और समस्त भुवनांतरों को जल से भर दोगे, लेकिन कब ? जब कि चातक का कुटुंब तृष्णा से शोषित होकर परलोक पहुँच जायेगा ।

---

१ मिलाइये—कुसुमस्तवकस्येव द्वे वृत्ती तु मनस्विनः ।
सर्वेषां मूर्ध्नि वा तिष्ठेत् विशीर्येत वनेऽथवा ॥
हितोपदेश १. १३४ ।

हंस के संबंध में—

एक्केण य पासपरिट्ठिएण हंसेण जा सोहा।
तं सरवरो न पावइ बहुएहि वि ढेंकसत्थेहिं॥

—पास में रहनेवाले एक हंस से जो सरोवर की शोभा होती है, वह अनेक मेढकों से भी नहीं होती।

संसार में क्या सार है—

सुम्मइ पंचमगेयं पुज्जिज्जइ वसहवाहणो देवो।
हियइच्छिओ रमिज्जइ संसारे इत्तियं सारं॥

—पंचम गीत का सुनना, बैल की सवारीवाले शिवजी का पूजन करना और जैसा मन चाहे रमण करना, यही संसार में सार है।

कोई नायक अपनी मानिनी नायिका को मना रहा है—

ए दइए! मह पसिज्जसु माणं मोत्तूण कुणसु परिओसं।
कयसेहराण सुम्मइ आलावो झत्ति गोसम्मि॥

—हे दयिते! प्रसन्न हो, मान को छोड़कर मुझे सन्तुष्ट कर। सबेरा हो गया है, मुर्गे की बाँग सुनाई पड़ रही है।

पति के प्रवास पर जाते समय नायिका की चिन्ता—

कल्लं किर खरहियओ पवसिहिइ पिओ त्ति सुव्वइ जणम्मि।
तह वड्ढ भयवइनिसे! जह से कल्लं चिय न होइ॥[1]

—सुनती हूँ, कल वह क्रूर प्रवास को जायेगा। हे भगवती रात्रि! तू इस तरह बड़ी हो जा जिससे कभी कल हो ही नहीं।

बिदाई का दृश्य देखिये—

जइ वच्चसि वच्च तुमं एण्हिं अवऊहणेण न हु कज्जं।
पावासियाण मडयं छिविऊण अमंगलं होइ॥

मिलाइये—

१. सजन सकारे जायेंगे नैन मरेंगे रोय।
या विधि ऐसी कीजिये फजर कबहूँ ना होहि॥

—बिहारीसतसई।

—यदि तुम्हें जाना हो तो जाओ, इस समय आलिंगन करने से क्या लाभ ? प्रवास के लिये जाने वाले लोग यदि मृतक (निष्प्राण) का स्पर्श करें तो यह अमंगल सूचक है।

लेकिन पति चला गया, केवल उसके पदचिह्न शेष रह गये। प्रोषितभर्तृका उन्हीं को देखकर सन्तोष कर लेती है। किसी पथिक को उस मार्ग से जाते हुए देखकर वह कह उठती है—

इय पंथे मा वच्चसु गयवइभणियं भुयं पसारे वि।
पंथिय ! पियपयमुद्दा मइलिज्जइ तुज्झगमणेण ॥

—प्रोषितभर्तृका नारी अपनी भुजाओं को फैलाकर कहती है, हे पथिक ! तू इस मार्ग से मत जा। तेरे गमन से मेरे प्रियतम के पगचिह्न नष्ट हो जायेंगे।

पति के वियोग में प्रोषितभर्तृका विचारी कापालिनी बन गई—

हत्थट्ठियं कवालं न मुयइ नूणं खणं पि खट्टंगं।
सा तुह विरहे बालय ! बाला कावालिणी जाया ॥[1]

—अपने सिर को हाथ पर रक्खे हुए (खप्पर हाथ में लिये हुए), वह खाट को नहीं छोड़ती (अथवा खट्वांग को धारण किये हुए) ऐसी वह नायिका तेरे विरह में कापालिका बन गई है।

सुगृहिणी के विषय में सुभाषित देखिये—

भुंजइ भुंजियसेसं सुप्पइ सुप्पम्मि परियणे सयले।
पढमं चेय विबुज्झइ घरस्स लच्छी न मा घरिणी ॥

—जो बाकी बचा हुआ भोजन करती है, सब परिजनों के सो जाने पर स्वयं सोती है, सबसे पहले उठती है, वह गृहिणी नहीं, लक्ष्मी है।

मिलाइये—

१. अब्दुर्रहमान के संदेशरासक (२. ८६) के साथ।

तथा—

पत्ते पियपाहुणए मंगलवलयाइ विक्किणंतीए।
दुग्गयघरिणीकुलबालियाए रोवाविओ गामो॥

—किसी प्रिय पाहुने के आ जाने पर उसने अपने मंगलवलय को बेच दिया। इसप्रकार कुलबालिका की दयनीय दशा देखकर सारा गाँव रो पड़ा।

यहाँ छह ऋतुओं का वर्णन है। हाल कवि का और श्रीपर्वत से औषधि लाने का यहाँ उल्लेख है।

गाथासहस्री

सकलचन्द्रगणि के शिष्य समयसुन्दरगणि इस ग्रंथ के संग्रह-कर्ता हैं।[1] वे तर्क, व्याकरण, साहित्य आदि के बहुत बड़े विद्वान् थे। विक्रम संवत् १६८६ (ईसवी सन् १६२६) में उन्होंने प्रस्तुत ग्रन्थ में लौकिक-अलौकिक विषयों का संग्रह किया है। इस ग्रन्थ पर एक टिप्पण भी है, उसके कर्ता का नाम अज्ञात है। जैसे गाथासप्तशती में ७०० गाथाओं का संग्रह है वैसे ही इस ग्रन्थ में १००० (८५५) सुभाषित गाथाओं का संग्रह है। यहाँ ३६ सूरि के गुण, साधुओं के गुण, जिनकल्पिक के उपकरण, यतिदिनचर्या, २५½ आर्यदेश, ध्याता का स्वरूप, प्राणायाम, ३२ प्रकार के नाटक, १६ श्रृंगार, शकुन और ज्योतिष आदि से संबंध रखनेवाले विषयों का संग्रह है। महानिशीथ व्यवहारभाष्य, पुष्पमालावृत्ति आदि के साथ-साथ महाभारत, मनुस्मृति आदि संस्कृत के ग्रन्थों से भी यहाँ उद्धरण प्रस्तुत किये हैं।

इनके अतिरिक्त प्राकृत में अन्य भी सुभाषित ग्रन्थों की रचना हुई है। जिनेश्वरसूरि (सन् ११९५) ने गाथाकोष लिखा। लक्ष्मण की भी इसी नाम की एक कृति मिलती है।[2] फिर,

---

१. जिनदत्तसूरि प्राचीन पुस्तकोद्धार फंड, सूरत से सन् १९४० में प्रकाशित।

२. इन दोनों को मुनि पुण्यविजयजी प्रकाशित करा रहे हैं।

रसालय, रसाउलो (कर्ता मुनिचन्द्र), विद्यालय, साहित्यश्लोक, और सुभाषित नाम के सुभाषित-ग्रन्थ भी प्राकृत में लिखे गये।[1]

सेतुबंध

मुक्तक काव्य और सुभाषितों की भाँति महाकाव्य भी प्राकृत में लिखे गये जिनमें सेतुबंध, गउडवहो और लीलावई आदि का विशिष्ट स्थान है। सेतुबंध प्राकृत भाषा का सर्वोत्कृष्ट महाकाव्य माना जाता है।[2] यह महाराष्ट्री प्राकृत में लिखा गया है। रावणवध अथवा दशमुखवध नाम से भी यह कहा जाता है। महाकवि दण्डी और बाणभट्ट ने इस कृति का उल्लेख किया है। सेतुबन्ध के रचयिता महाकवि प्रवरसेन माने जाते हैं जिनका समय ईसवी सन् की पाँचवीं शताब्दी है। इस काव्य में १५ आश्वास हैं जिनमें वानरसेना के प्रस्थान से लेकर रावण के वध तक की रामकथा का वर्णन है। सेतुबन्ध की भाषा साहित्यिक प्राकृत है जिसमें समासों और अलंकारों का प्रयोग अधिक हुआ है; यमक, अनुप्रास और श्लेष की मुख्यता है।

---

१. जैन ग्रन्थावलि, पृ० ३४१।

२. इसका एक प्राकृत संस्करण अकबर के समय में रामदास ने टीकासहित लिखा था; पर वह मूल का अर्थ ठीक-ठीक नहीं समझ पाया; पिशल, प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, पृष्ठ २३। सबसे पहले सन् १८४६ में सेतुबन्ध पर होएफर ने काम किया था। फिर पौल गोल्डश्मित्त ने १८७३ में 'स्पिसिमैन डेस् सेतुबंध' नामक पुस्तक गोएटिंगन से प्रकाशित की। तत्पश्चात् स्ट्रासबर्ग से सन् १८८० में जीगफ्रीड गोल्डश्मित्त ने सारा ग्रन्थ जर्मन अनुवाद सहित प्रकाशित कराया। इसी के आधार पर शिवदत्त और परब ने बम्बई से संस्करण निकाला जो रामदास की टीका के साथ काव्यमाला ४७ में सन् १८९५ में प्रकाशित हुआ; पिशल, वही, पृष्ठ २४।

तत्कालीन संस्कृत काव्यशैली का इस पर गहरा प्रभाव है। स्कन्धक, गलितक, अनुष्टुप् आदि छन्द भी संस्कृत के ही हैं। सम्पूर्ण कृति एक ही आर्या छन्द में लिखी गई है। इस महाकाव्य का प्रभाव संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश पर भी पड़ा है। आगे चलकर इसके अनुकरण पर गउडवहो, कंसवहो और शिशुपालवध आदि अनेक प्रबन्धकाव्य लिखे गये। सेतुबन्ध पर अनेक टीकायें हैं जिनमें जयपुर राज्य के निवासी अकबर-कालीन रामदास की रामसेतुप्रदीप टीका प्रसिद्ध है। यह टीका ईसवी सन् १५९५ में लिखी गई थी। रामदास के कथनानुसार विक्रमादित्य की आज्ञा से कालिदास ने इस ग्रन्थ को प्रवरसेन के लिये लिखा है, लेकिन यह कथन ठीक नहीं है।

कथा का आधार वाल्मीकि रामायण का युद्धकाण्ड है। विरह से संतप्त राम हनुमान द्वारा सीता का समाचार पाकर लंका की ओर प्रस्थान करते हैं। लेकिन मार्ग में समुद्र आ जाने से रुक जाते हैं। वानर-सेना समुद्र का पुल बाँधती है। राम समुद्र को पार कर लंका नगरी में प्रवेश करते हैं, और रावण तथा कुम्भकर्ण आदि का वध करके सीता को छुड़ा लाते हैं। अयोध्या लौटने पर उनका राज्याभिषेक किया जाता है। पहले आठ आश्वासों में शरद् ऋतु, रात्रिशोभा, चन्द्रोदय, प्रभात, पर्वत, समुद्रतट, सूर्योदय, सूर्यास्त, मलयपर्वत, वानरों द्वारा समुद्र पर सेतु बाँधने आदि का सुन्दर और काव्यात्मक वर्णन है। उत्तरार्ध में लंका नगरी का दर्शन, रावण का क्षोभ, निशाचरियों का संभोग, प्रमद-वन, सीता की मूर्च्छा, लङ्का का अवरोध, युद्ध तथा रावणवध आदि का सूक्ष्म चित्रण किया गया है। बीच-बीच में अनेक सूक्तियाँ गुंफित हैं।

समुद्रवेला का वर्णन करते हुए कहा है—

विअसिअतमालणीलं पुणो पुणो चलतरंगकरपरिमट्ठम्।
फुल्लेलावणसुरहिं उअहि गइन्दस्स दाणलेहं व ठिअम्॥ १. ६३

—समुद्रतट विकसित तमाल वृक्षों से श्याम हो गया था,

बार-बार उठने वाली चञ्चल तरङ्गों से वह परिमार्जित था, और प्रफुल्लित इलायची के वन से सुगन्धित था। यह तट हाथी की मद्धारा के समान शोभित हो रहा था।

सत्पुरुषों के संबंध की एक उक्ति देखिये—

ते विरला सप्पुरिसा जे अभणन्ता घडेन्ति कज्जालावे।
थोअ चिअ ते वि दुमा जे अमुणिअकुसुमनिग्गमा देन्ति फलं॥ ३. ६

—जो बिना कुछ कहे ही कार्य कर देते हैं, ऐसे सत्पुरुष विरले ही होते हैं। उदाहरण के लिये, बिना पुष्पों के फल देनेवाले वृक्ष बहुत कम होते हैं।

समर्थ पुरुषों को लक्ष्य करके कहा गया है—

आहिअ समराअमणा वसणम्मि अ उच्छवे अ समराअमणा।
अवसाअअविसमत्था धीरच्चिअ होन्ति संसए वि समत्था॥
३. २०

—समर्थ लोग संशय उपस्थित होने पर धीरता ही धारण करते हैं। संग्राम उपस्थित होने पर वे अपने आप को समर्पित कर देते हैं। सुख और दुःख में वे समभाव रखते हैं, और संकट उपस्थित होने पर विचार कर कार्य करते हैं।

वानरों द्वारा सेतु बाँधने का वर्णन पढ़िये—

धरिआ भुएहि सेला सेलेहि दुमा दुमेहि घणसंघाआ।
ण वि णज्जइ किं पवआ सेउं बंधंति ओमिणेन्ति णहअलम्॥ ७.५८

—वानरों ने अपनी भुजाओं पर पर्वत धारण कर लिये, पर्वतों के वृक्ष और वृक्षों के ऊपर परिभ्रमण करने वाले बादल ऊपर उठा लिये। यह पता नहीं चलता था कि वानरसेना सेतु को बाँध रही है अथवा आकाश को माप रही है।

राक्षसियों की कातरता का दिग्दर्शन कराया गया है—

पिअअमवच्छेसु वणे ओवइअदिसागइन्ददन्तुल्लिहिए।
वेवइ दट्ठूण चिरं संभाविअसमरकाअरो जुवइजणो॥ १०-६०

—प्रहार करने के लिये उपस्थित दिग्गज हाथी के दाँतों द्वारा अपने प्रियतम के वक्षस्थल पर किये हुए घावों को देखकर,

उपस्थित हुए युद्ध से कातर बनी हुई युवतियों का हृदय कंपित होता है।

स्त्रियों के अनुराग की अभिव्यक्ति देखिये—

अलअं छिवइ विलक्खो पडिसारेइ वलअं जमेइ णिअत्थम्।
मोहं आलवइ सहिं दइआलोअणडिओ विलासिणीसत्थो॥ १०.७०

—विलासिनी स्त्रियाँ कहीं से अकस्मात् आये हुए अपने प्रिय को देखकर लज्जा से चञ्चल हो उठती हैं। वे अपने केशों को स्पर्श करती हैं, कड़ों को ऊपर-नीचे करती हैं, वस्त्रों को ठीक-ठाक करती हैं और अपनी सखी से झूठ-मूठ का वार्तालाप करने लगती हैं।

नवोढ़ा के प्रथम समागम के संबंध में कहा है—

ण पिअइ दिण्णं पि मुहं ण पणामेइ अहरं ण मोएइ बला।
कह वि पडिवज्जइ रअं पढमसमागमपरम्मुहो जुवइजणो॥
१०. ७८

—नवोढ़ा स्त्री प्रिय द्वारा उपस्थित किये हुए मुख का पान नहीं करती, प्रिय के द्वारा याचित किये हुए अधर को नहीं झुकाती, प्रिय द्वारा अधर ओष्ठ से आकृष्ट किये जाने पर जबर्दस्ती से उसे नहीं छुड़ाती। इस प्रकार प्रथम समागम में लज्जा से पराङ्मुख युवतियाँ बड़े कष्टपूर्वक रति सम्पन्न करती हैं।

शृंगाररस में वीररस की प्रधानता देखिये—

पिअअमकण्ठोलइअं जुअईण सुअम्मि समरसण्णाहरवे।
ईसणिहं णवर भअं सुरअक्खेएण गलइ बाहाजुअलम्॥
१२. ४८

—युद्धसंनाह की भेरी की ध्वनि सुनकर, सुरत के खेद से प्रियतम के कण्ठ से अवलग्न युवतियों के बाहुपाश शिथिल हो जाते हैं।

रण की अभिलाषा का वर्णन करते हुए कवि ने लिखा है—

भिज्जइ उरो ण हिअअं गिरिणा भज्जइ रहो ण उण उच्छाहो।
छिज्जन्ति सिरणिहाणा तुंगा ण उण रणदोहला सुहडाणम्॥
१३. ३६

—युद्धभूमि में सुभटों के वक्षस्थलों का भेदन होता है, उनके हृदय का नहीं; गिरि (कपियों के अस्त्र-टीका) से रथों का भेदन होता है, उत्साह का नहीं; सुभटों के शिरों का छेदन होता है, उनकी रण-अभिलाषाओं का नहीं।

कामदत्ता

कामदत्ता नाम के प्राकृत काव्य का चतुर्भाणी के अन्तर्गत शूद्रक विरचित पद्मप्राभृतकम् (पृ० १२) में मिलता है। पद्मप्राभृतकम् का समय ईसवी सन् की ५वीं शताब्दी माना जाता है।

गउडवहो (गौडवध)

गउडवहो लौकिक चरित्र के आधार पर लिखा हुआ एक प्रबन्ध काव्य है।[1] इसमें गौड देश के किसी राजा के वध का वर्णन होना चाहिये था जो केवल दो ही पद्यों में समाप्त हो जाता है। यशोवर्मा ने गौड-मगध-के राजा का वध किस प्रकार किया, इत्यादि भूमिका के रूप में यह काव्य लिखा गया मालूम होता है। कदाचित् यह पूर्ण नहीं हो सका, और यदि पूर्ण हो गया है तो उपलब्ध नहीं है। बप्पइराअ अथवा वाक्पतिराज इस चरित-काव्य के कर्ता माने जाते हैं। उन्होंने लगभग ७५० ईसवी में महाराष्ट्री प्राकृत में आर्या छन्द में इस ग्रन्थ की रचना की। वाक्पतिराज कन्नौज में राजा यशोवर्मा के आश्रय में रहते थे। यशोवर्मा की प्रशंसा में ही यह काव्य लिखा गया है। इसमें १२०६ गाथायें हैं। ग्रन्थ का विभाजन सर्गों में न होकर कुलकों में हुआ है। सबसे बड़े कुलक में १५० पद्य हैं

---

१. हरिपाल की टीका सहित इसे शंकर पांडुरंग पण्डित ने बम्बई संस्कृत सीरीज़ ३४ में बम्बई से १८८७ में प्रकाशित कराया। शंकर-पाण्डुरंग पण्डित और नरायण बापूजी उतगीकर द्वारा सम्पादित, सन् १९२७ से भाण्डारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टिट्यूट द्वारा प्रकाशित।

और सबसे छोटे में पाँच। भाषा की दृष्टि से यह ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है। उत्प्रेक्षा, उपमा और वक्रोक्तियों का यहाँ सुन्दर प्रयोग हुआ है। हरिपाल ने इस पर गौडवधसार नाम की टीका लिखी है।

सर्वप्रथम ६१ पद्यों में ब्रह्मा, हरि, नृसिंह, महावराह, वामन, कूर्म, कृष्ण, बलभद्र, शिव, गौरी, गणपति, लक्ष्मी आदि देवताओं का मङ्गलाचरण है। तत्पश्चात् कवियों की प्रशंसा है। कवियों में भवभूति, भास, ज्वलनमित्र, कांतिदेव, कालिदास, सुबन्धु और हरिचन्द्र के नाम गिनाये गये हैं। सुकवि के सम्बन्ध में कहा है कि वह विद्यमान वस्तु को अविद्यमान, विद्यमान को अविद्यमान और विद्यमान को विद्यमान चित्रित कर सकता है। कवि ने प्राकृत भाषा के सम्बन्ध में लिखा है—"प्राकृत भाषा में नवीन अर्थ का दर्शन होता है, रचना में वह समृद्ध है और कोमलता के कारण मधुर है। समस्त भाषाओं का प्राकृत भाषा में सन्निवेश होता है; सब भाषायें इसमें से प्रादुर्भूत हुई हैं, जैसे समस्त जल समुद्र में प्रविष्ट होता है, और समुद्र से ही उद्भूत होता है। इसके पढ़ने से विशेष प्रकार का हर्ष होता है, नेत्र विकसित होते हैं और मुकुलित हो जाते हैं, तथा बहिर्मुख होकर हृदय विकसित हो जाता है।"

तत्पश्चात् काव्य आरम्भ होता है। राजा यशोवर्मा एक प्रतापी राजा है जिसे हरि का अवतार बताया गया है। संसार में प्रलय होने के पश्चात् केवल यशोवर्मा ही बाकी बचा। वर्षा ऋतु समाप्त होने पर वह विजययात्रा के लिये प्रस्थान करता है। इस प्रसंग पर शरद् और हेमन्त ऋतु का वर्णन किया गया है। क्रम से वह शोण नद पर पहुँचता है। उसके सैनिकों के प्रयाण से शालि के खेत नष्ट हो जाते हैं। वहाँ से वह विन्ध्य पर्वत की ओर गमन करता है और वहाँ विन्ध्यवासिनी देवी की स्तुति करता है। देवी के मन्दिर के तोरण-द्वार पर घण्टे लगे हुए हैं, महिषासुर का मस्तक देवी के पगों से भिन्न

हो रहा है, पुष्प और धूप आदि सुगंधित पदार्थों से आकृष्ट होकर भ्रमर गुंजार कर रहे हैं, स्थान-स्थान पर रक्त की भेंट चढ़ाई गई है, कपालों के मण्डल बिखरे हुए हैं। मन्दिर का गर्भभवन वीरों के द्वारा वितीर्ण असिधेनु, करवाल आदि की कान्ति से शोभित है, साधक लोग तन्दुल और पुरुषों के मुण्ड से पूजा-अर्चना कर रहे हैं, अरुण पताकायें फहरा रही हैं, भूत-प्रतिमायें रुधिर और आसव का पान कर सन्तोष प्राप्त कर रही हैं, दीपमालायें प्रज्वलित हो रही हैं, कौल नारियाँ वध किये जाते हुए महापशु (मनुष्य) को प्राप्त करने के लिये एकत्रित हो रही हैं; देवी-श्मशान में साधक लोग महामांस की बिक्री कर रहे हैं। यहाँ बताया है कि मगध (गौड) का राजा, यशोवर्मा के भय से पलायन कर गया। इस प्रसंग पर ग्रीष्म और वर्षा ऋतु का वर्णन है। यहाँ पर मगधाधिप के भागे हुए सहायक राजे लौट आते हैं। यशोवर्मा की सेना के साथ उनका युद्ध होता है जिसमें मगध (गौड) के राजा का वध होता है। इसी घटना को लेकर प्रस्तुत रचना को गौडवध कहा गया है।

तत्पश्चात् यशोवर्मा ने एला से सुरभित समुद्रतट के प्रदेश में प्रयाण किया। वहाँ से वंग देश की ओर गया। यह देश हाथियों के लिये प्रसिद्ध था। उसने वंगराज को पराजित किया, फिर मलय पर्वत को पार कर दक्षिण की ओर बढ़ा, समुद्रतट पर पहुँचा जहाँ बालि ने भ्रमण किया था। फिर पारसीक जन-पद में पहुँच कर वहाँ के राजा के साथ युद्ध किया। कोंकण की विजय की, वहाँ से नर्मदा के तट पर पहुँचा। फिर मरुदेश की ओर गमन किया। वहाँ से श्रीकण्ठ गया। तत्पश्चात् कुरुक्षेत्र में पहुँचकर जलक्रीडा का आनन्द लिया। वहाँ से यशोवर्मा हरिश्चन्द्र की नगरी अयोध्या के लिये रवाना हुआ। महेन्द्र पर्वत के निवासियों पर विजय प्राप्त की और वहाँ से उत्तरदिशा की ओर प्रस्थान किया। यहाँ १४६ गाथाओं के कुलक में

विजययात्रा में आये हुए अनेक तालाब, नदी, पर्वत और वृक्ष आदि का वर्णन किया गया है। ग्राम्य-जीवन का चित्र देखिये—

टिविडिक्किअ डिंभाणं णवरंगयगव्वगरुयमहिलाण।
णिक्कम्पपामराणं भद्दं गामूसव-दिणाण॥

—वे ग्रामोत्सव के दिन कितने सुन्दर हैं जब कि बालकों को प्रसाधित किया जाता है, नये रंगे हुए वस्त्रों को धारण कर स्त्रियाँ गर्व करती हैं और गाँव के लोग निश्चेष्ट खड़े रह कर खेल आदि देखते हैं।

आम्रवृक्षों की शोभा देखिये—

इह हि हलिद्दाहयदविडसामलीगंडमंडलानीलं।
फलमसलपरिणामावलम्बि अहिहरइ चूयाणं॥

—हलदी से रंगे हुए द्रविड देश की सुंदरियों के कपोल-मण्डल के समान, आधा पका हुआ वृक्ष पर लटकता हुआ आम का फल कितना सुन्दर लगता है!

गाँवों का चित्रण देखिये—

फललम्भमुइयडिंभा सुदारुघरसंणिवेसरमणिज्जा।
एए हरंति हिययं अजणाइण्णा वणग्गामा॥

—जहाँ फलों को पाकर बालक मुदित रहते हैं, लकड़ी के बने हुए घरों के कारण जो रमणीक जान पड़ते हैं और जहाँ बहुत लोग नहीं रहते, ऐसे वन-ग्राम कितने मनमोहक हैं।

यशोवर्मा विजययात्रा के पश्चात् कन्नौज लौट आता है। उसके सहायक राजा अपने-अपने घर चले जाते हैं, और सैनिक अपनी पत्नियों से मिलकर बड़े प्रसन्न होते हैं। बन्दिजन यशोवर्मा का जय-जयकार करते हैं। राजा अन्तःपुर की रानियों के साथ क्रीड़ा में समय यापन करता है। यहाँ स्त्रियों की क्रीडाओं और उनके सौंदर्य का वर्णन किया गया है।

इसके पश्चात् कवि अपना इतिहास लिखता है। वह राजा यशोवर्मा के राजदरबार में रहता था। भवभूति, भास, ज्वलन-मित्र, कुन्तिदेव, रघुकार, सुबंधु और हरिश्चन्द्र का प्रशंसक था।

न्याय, छंद और पुराणों का वह पंडित था। पंडितों के अनुरोध पर उसने यह काव्य लिखना आरंभ किया था।

यशोवर्मा के गुणों का वर्णन करते हुए कवि ने संसार की असारता, दुर्जन, सज्जन, और स्वाधीन सुख आदि का वर्णन किया है। देखिये—

पेच्छह विवरीयमिमं बहुया मइरा मएइ ण हु थोवा।
लच्छी उण थोवा जह मएइ ण तहा इर बहुया॥

—देखो, कितनी विपरीत बात है, बहुत मदिरा का पान करने से नशा चढ़ता है, थोड़ी का करने से नहीं। लेकिन थोड़ी-सी लक्ष्मी जितना मनुष्य को मदमत्त बना देती है, उतना अधिक लक्ष्मी नहीं बनाती।

एक दूसरी व्यंग्योक्ति देखिये—

पत्थिवघरेसु गुणिणोवि णाम जइ केवि सावयास व्व।
जणसामण्णं तं ताण किंपि अण्णं चिय निमित्तं॥

—यदि कोई गुणी व्यक्ति राजगृहों में पहुँच जाता है तो इसका कारण यही हो सकता है कि जनसाधारण की वहाँ तक पहुँच है, अथवा इसमें अन्य कोई कारण हो सकता है, उसके गुण तो इसमें कदापि कारण नहीं हैं।

एक नीति का पद्य सुनिये—

तुंगावलोयणे होइ विम्हओ णीयदंसणे संका।
जह पेच्छंताण गिरिं जहेय अवडं णियंताण॥

—ऊँचे आदमी को देखकर विस्मय होता है और नीच को देखकर शंका। उदाहरण के लिये, किसी पहाड़ को देखकर विस्मय और कुएँ को देखकर शङ्का होती है।

यश के स्थायित्व के सम्बन्ध में कवि ने लिखा है—

कालवसा णासमुवागयस्स सप्पुरिसजससरीरस्स।
अट्ठिलवायंति कहिंपि विरलविरला गुणग्गारा॥

—काल के वश से नाश को प्राप्त सत्पुरुष का यश मृत पुरुष की हड्डियों की भाँति कभी-कभी स्मरण किया जाता है।

वैराग्य की महत्ता का प्रदर्शन करते हुए कवि ने कहा है—

सोच्चेय किं ण राओ मोत्तूण बहुच्छलाइं गेहाइं।
पुरिसा रमंति बद्धुज्झरेसु जं काणणंतेसु॥

—क्या यह राग नहीं कहा जायेगा कि अनेक छल-छिद्रों से पूर्ण गृहवास का त्याग कर पुरुष झरनों से शोभित काननों में रमण करते हैं?

हृदय को समझाते हुए वह लिखता है—

हियय! कहिं पि णिसम्भसु कित्तियमासाहओ किलिम्मिहिसि।
दीणो वि वरं एक्कस्स ण उण सयलाए पुहवीए॥

—हे हृदय! कहीं एक स्थान पर विश्राम करो, निराश होकर कबतक भटकते फिरोगे? समस्त पृथ्वीमण्डल की अपेक्षा किसी एक का दीन बनकर रहना श्रेयस्कर है।

अन्त में कवि ने सूर्यास्त, संध्या, चन्द्र, कामियों की चर्चा, शयनगमन के लिये औत्सुक्य, प्रियतमा का समागम, परिरंभ और प्रभात आदि का वर्णन कर यशोवर्मा की स्तुति की है।

महुमहविअअ (मधुमथविजय)

वाक्पतिराज की दूसरी रचना है मधुमथविजय जिसका वाक्पतिराज ने अपने गउडवहो में उल्लेख किया है। दुर्भाग्य से यह कृति अब नष्ट हो गई है। इसका उल्लेख अभिनवगुप्त (ध्वन्यालोक १५२.१५ की टीका में) ने किया है, इससे इस ग्रंथ की लोकप्रियता का अनुमान किया जा सकता है। हेमचन्द्र ने अपने काव्यानुशासन की अलङ्कारचूडामणिवृत्ति (१.२४ पृ० ८१) में इस ग्रन्थ की निम्नलिखित गाथा उद्धृत की है—

लीलादाढग्गुवूढसयलमहिमंडलस्स चिअ अज्ज।
कीस मुणालाहरणं पि तुज्झ गरुआइ अंगम्मि॥

हरिविजय

हरिविजय के रचयिता सर्वसेन हैं। यह कृति भी अनुपलब्ध है। हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन की अलङ्कारचूडामणि (पृष्ठ १७१

और ४६१) और विवेक (पृष्ठ ४५८, ४५६) नाम की टीकाओं में रावणविजय, सेतुबंध तथा शिशुपालवध और किरातार्जुनीय आदि के साथ इसका उल्लेख किया है। आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक (उद्योत ३, पृ० १२७) और भोज के सरस्वतीकंठाभरण में भी हरिविजय का उल्लेख मिलता है।

रावणविजय

हेमचन्द्र ने अपने काव्यानुशासन में इसका उल्लेख किया है। अलंकारचूडामणि (पृ० ४५६) में इसका एक पद्य उद्धृत है।

विसमबाणलीला

विषमबाणलीला के कर्ता आनन्दवर्धन हैं। उन्होंने अपने ध्वन्यालोक (उद्योत २, पृ० १११; उद्योत ४, पृ० २४१) में इस कृति का उल्लेख करते हुए विषमबाणलीला की एक प्राकृत गाथा उद्धृत की है। आचार्य हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन की अलंकार-चूडामणि (१-२४, पृ० ८१) में मधुमथविजय के साथ विषमबाणलीला का उल्लेख किया है। इस कृति की एक प्राकृत गाथा भी यहाँ (पृ० ७४) उद्धृत है—

तं ताण सिरिसहोअररयणा हरणम्मि हिअयमिक्करसं।
बिंबाहरे पिआणं निवेसियं कुसुमबाणेण ॥

लीलावई (लीलावती)

भूषणभट्ट के सुपुत्र कोऊहल नामक ब्राह्मण ने अपनी पत्नी के आग्रह पर 'मरहट्ठ-देसिभासा' में लीलावई नामक काव्य की रचना की है।[1] इस कथा में देवलोक और मानवलोक के पात्र होने के कारण इसे दिव्य-मानुषी कथा कहा गया है। जैन प्राकृत कथा-ग्रन्थों की भाँति यह कथा-ग्रन्थ धार्मिक अथवा उपदेशात्मक नहीं है। इसमें प्रतिष्ठान के राजा सातवाहन और

१. डाक्टर ए० एन० उपाध्ये द्वारा सम्पादित सिंघी जैन ग्रन्थमाला, बम्बई में १९४९ में प्रकाशित।

सिंहलदेश की राजकुमारी लीलावती की प्रेमकथा का वर्णन है। गाथाओं की संख्या १८०० है; ये गाथाएँ प्रायः अनुष्टुप् छन्द में लिखी गई हैं, कुछ वाक्य गद्य में भी पाये जाते हैं। ग्रन्थ-रचना का काल ईसवी सन् की लगभग ८वीं शताब्दी माना गया है। ग्रन्थ की शैली अलंकृत और साहित्यिक है, भाषा प्रवाहपूर्ण है। अनेक स्थानों पर प्राकृतिक दृश्यों के सुन्दर चित्रण है। मलय देश, केरला आदि का वर्णन है। राष्ट्रकूट और सोलंकियों का नाम भी आया है। वर्णन-शैली से प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार कवि कालिदास, सुबन्धु और बाणभट्ट आदि की रचनाओं से परिचित थे। इस ग्रन्थ पर लीलावती-कथा-वृत्ति नामक संस्कृत टीका है जिसके कर्त्ता का नाम अज्ञात है। अनुमान किया जाता है ये टीकाकार गुजरात के रहनेवाले श्वेताम्बर जैन थे जो ईसवी सन् ११७२ और १४०४ के बीच विद्यमान थे।

कुवलयावली राजा विपुलाशय और अप्सरा रंभा से उत्पन्न कन्या थी। वह गन्धर्वकुमार चित्रांगद के प्रेमपाश में पड़ गई और दोनों ने गंधर्वविधि से विवाह कर लिया। कुवलयावली के पिता को जब इस बात का पता लगा तो उसने क्रुद्ध होकर चित्रांगद को शाप दिया जिससे वह भीषणानन नाम का राक्षस बन गया। कुवलयावली ने निराश होकर आत्महत्या करना चाहा, लेकिन रंभा ने उपस्थित होकर उसे धीरज बँधाया और उसे यक्षराज नलकूबर के सुपुर्द कर दिया।

विद्याधर हंस के वसंतश्री और शरदश्री नाम की दो कन्यायें थीं। वसंतश्री का विवाह नलकुबेर के साथ हुआ था। महानुमती इनकी पुत्री थी। महानुमती और कुवलयावली दोनों में बड़ी प्रीति थी। एक बार वे दोनों विमान में बैठकर मलय पर्वत पर गईं। वहाँ सिद्धकुमारियों के साथ झूला झूलते हुए महानुमति और सिद्धकुमार माधवानिल का परस्पर प्रेम हो गया। घर लौटने पर महानुमति अपने प्रिय के विरह से व्याकुल रहने लग ' बाद में पता चला कि माधवानिल को कोई शत्रु

भगाकर पाताललोक में ले गया है। महानुमति और उसकी सखी कुवलयावली मनोरथ-सिद्धि के लिये गोदावरी के तट पर पहुँच कर भवानी की उपासना करने लगीं।

लीलावती सिंहलराज शिलामेघ और वसंतश्री की बहन शारदश्री की पुत्री थी। एक बार वह प्रतिष्ठान के राजा सातवाहन (हाल) का चित्र देखकर मोहित हो गई; वह उसे केवल स्वप्न में देखा करती। अपने माता-पिता की आज्ञा लेकर लीलावती अपने प्रिय की खोज में चली। अपने दल के साथ वह गोदावरी तट पर पहुँची और यहाँ अपनी मौसी की कन्या महानुमती से मिल गई। तीनों विरहिणियाँ एक साथ रहने लगीं।

इधर अपने राज्य का विस्तार करने की इच्छा से राजा सातवाहन ने सिंहलराज पर आक्रमण कर दिया। राजा के सेनापति विजयानंद ने सलाह दी कि सिंहलराज से मैत्री रखना ही उचित होगा। सातवाहन ने विजयानंद को अपना दूत बनाकर भेजा। वह रामेश्वर होता हुआ सिंहल के लिये रवाना हुआ। लेकिन मार्ग में तूफान आने के कारण नाव टूट जाने से गोदावरी के तट पर ही रुक जाना पड़ा। यहाँ पर उसे एक नग्न पाशुपत के दर्शन हुए। पता लगा कि सिंहलराज की पुत्री लीलावती अपनी सखियों के साथ यहीं पर निवास करती है। विजयानंद ने सातवाहन के पास पहुँचकर उसे सारा वृत्तान्त सुनाया। सातवाहन ने लीलावती के साथ विवाह करने की इच्छा व्यक्त की। लेकिन लीलावती ने यह कह कर इन्कार कर दिया कि जब तक महानुमती का उसके पति के साथ पुनर्मिलन न होगा तब तक वह विवाह न करेगी। यह सुनकर राजा सातवाहन अपने गुरु नागार्जुन के साथ पाताललोक में पहुँचा और उसने माधवानिल का उद्धार किया। अपनी राजधानी में लौटकर उसने भीषणानन राक्षस पर आक्रमण किया जिससे चोट खाते ही वह एक सुंदर राजकुमार बन गया। अब राजा सातवाहन, गंधर्वकुमार चित्रांगद और माधवानिल तीनों एक स्थान पर मिले। चित्रांगद और कुवलयावली तथा माधवानिल और महानुमती का विवाह

हो गया। राजा सातवाहन और लीलावती का विवाह भी बड़ी सजधज के साथ सम्पन्न हुआ।

कुमारियों के संबंध में कहा है—

सव्वाउ च्चिय कुमरीओ कुलहरे जा ण हुंति तरुणीओ।
ताव च्चिय सलहिज्जंति ण उण णव-जोव्वणारंभे॥

—कुलघर की समस्त कुमारियाँ तभी तक अच्छी लगती हैं जब तक कि वे तरुण होकर यौवन अवस्था को प्राप्त नहीं करतीं। फिर कहा गया है—

ण उणो धूयाए समं चित्त-क्खणयं जणस्स जिय-लोए।
हियइच्छिओ वरो तिहुयणे वि दुलहो कुमारीणं॥

—इस संसार में लोगों को अपनी कन्या जैसी और कोई चीज मन को कष्टदायी नहीं होती। कन्या के लिये मनचाहा वर तीन लोकों में भी मिलना दुर्लभ है।

दैव के संबंध में उक्ति देखिये—

तह वि हु मा तम्म तुमं मा झुरसु मा विमुंच अत्ताणं।
को देइ हरइ को वा सुहासुहं जस्स जं विहियं॥

—फिर भी किसी हालत में संतप्त नहीं होना चाहिये, खेद नहीं करना चाहिये, अपने आपका परित्याग नहीं कर देना चाहिये। क्योंकि जो सुख-दुख जिसके लिये विहित है उसे न कोई दे सकता है और न छीन ही सकता है।

कुमारवालचरिय (कुमारपालचरित)

कुमारपालचरित को द्व्याश्रयकाव्य भी कहा जाता है।[1] इसके कर्त्ता कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्र हैं जिन्होंने व्याकरण, कोष, अलंकार और छन्द आदि विषयों पर अपनी लेखनी चलाई है। जिस-प्रकार अष्टाध्यायी का ज्ञान कराने के लिए भट्टि कवि ने भट्टिकाव्य की रचना की है, उसी प्रकार हेमचन्द्र आचार्य ने (जन्म सन्

---

१. डाक्टर पी० एल० द्वारा सम्पादित, भांडारकर ओरियण्टल इन्स्टिट्यूट, पूना से १९३६ के प्रकाशित।

१०८८) सिद्धहेमव्याकरण के नियमों को समझाने के लिये कुमारपालचरित की रचना की है। हेमचन्द्र का यह महाकाव्य दो विभागों में विभक्त है। प्रथम भाग में सिद्धहेम के सात अध्यायों में उल्लिखित संस्कृत व्याकरण के नियम समझाते हुए सोलंकी वंश के मूलराज से लगाकर जैनधर्म के उपासक कुमारपाल तक के इतिहास का २० सर्गों में वर्णन किया गया है। तत्पश्चात् द्वितीय भाग में आठवें अध्याय में उल्लिखित प्राकृतव्याकरण के नियमों को स्पष्ट करते हुए राजा कुमारपाल के युद्ध आदि का आठ सर्गों में वर्णन है। इस प्रकार इस काव्य से दोहरे उद्देश्य की सिद्धि होती है, एक ओर कुमारपाल के चरित का वर्णन हो जाता है, दूसरी ओर संस्कृत और प्राकृतव्याकरण के नियम समझ में आ जाते हैं। अन्तिम दो सर्गों की रचना शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिकापैशाची और अपभ्रंश भाषा में है। संस्कृत द्व्याश्रयकाव्य के टीकाकार अभयतिलकगणि और प्राकृत द्व्याश्रयकाव्य के टीकाकार पूर्णकलशगणि हैं। प्राकृत द्व्याश्रय-काव्य (कुमारपालचरित) का यहाँ संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

प्रथम सर्ग में अणहिल्लनगर का वर्णन है। यहाँ राजा कुमार-पाल राज्य करता था, उसने अपनी भुजाओं के बल से वसुन्धरा को जीता था, वह न्यायपूर्वक राज्य चलाता था। प्रातःकाल के समय महाराष्ट्र आदि देश से आये हुए स्तुतिपाठक अपनी सूक्तियों द्वारा उसे जगाते थे। शयन से उठकर राजा प्रातःकृत्य करता, द्विज लोग उसे आशीर्वाद देते; वह तिलक लगाता, धृष्ट और अधृष्ट लोगों की विज्ञप्ति सुनता, मातृगृह में प्रवेश करता, लक्ष्मी की पूजा करता, तत्पश्चात् व्यायामशाला में जाता। दूसरे सर्ग में व्यायाम के प्रकार बताये गये हैं। वह हाथी पर सवार होकर जिनमन्दिर में दर्शन के लिये जाता, वहाँ जिनेन्द्र भगवान् की स्तुति करने के पश्चात् जिनप्रतिमा का स्तवन करता, फिर सङ्गीत का कार्यक्रम होता। उसके बाद अपने अश्व पर आरूढ़ होकर वह धवलगृह को लौट जाता। तीसरे सर्ग में राजा उद्यान

में क्रीडा के लिए जाता। इस प्रसङ्ग पर वसन्त ऋतु का विस्तार से वर्णन किया गया है। यहाँ वाणारसी के ठगों का उल्लेख है। स्त्री-पुरुषों की विविध क्रीडाओं का उल्लेख है—

आसणठिआइ घरिणीइ गहवई झंपिऊण अच्छीइं।
हसिरो मोत्तुं संकं चुंबिअ अन्तं सढो मुइओ॥

—आसन पर बैठी हुई अपनी गृहिणी की आँखें बन्द करके कोई शठ पुरुष निश्शंक भाव से किसी अन्य स्त्री का चुम्बन लेकर प्रसन्न हो रहा है।

मा सोउआण अलिअं कुप्प मईआ सि तुम्हकेरो हं।
इअ केण वि अणुणीआ णिअयपिआ पाणिणी अजडा॥

—(सखी द्वारा कहे हुए) मिथ्या वचन को सुनकर तू क्रुद्ध मत हो; तू मेरी है, मैं तेरा हूँ, इस प्रकार किसी ने पाणिनीय व्याकरण के रूपों द्वारा अपनी विचक्षण प्रिया को प्रसन्न किया।

चौथे सर्ग में ग्रीष्म ऋतु में जलक्रीडा का वर्णन है। पाँचवें सर्ग में वर्षा, हेमन्त और शिशिर ऋतुओं का वर्णन है। पद्मावती देवी के पूजन की तैयारी की जा रही है। इस प्रसंग पर लेखक ने युष्मद् शब्द के एक वचन और बहुवचन के रूपों के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं—

तं तुं तुवं तुह तुमं आणेह नवाइं नीवकुसुमाइं।
भे तुब्भे तुम्होय्हे तुय्हे तुज्झासणं देह॥

—हे सखि! तू, तू, तू, तू और तू (तं, तु, तुवं, तुह, तुमं—ये युष्मद् शब्द के प्रथमा के एक वचन के रूप हैं)—तुम सब नूतन नीप के पुष्प लाओ। और हे सखियो! तुम, तुम, तुम, तुम और तुम (भे, तुब्भे, तुम्होय्हे, तुय्हे और तुज्झ ये युष्मद् शब्द के बहुवचन के रूप हैं)—तुम सब आसन लाओ।

उद्यान से लौटकर राजा कुमारपाल अपने महल में आ जाते हैं। वे सन्ध्याकर्म करते हैं। सन्ध्या के समय विद्याध्ययन करनेवाले विद्यार्थी निर्भय होकर क्रीडा करने लगते हैं। चकवा और चकवी का विरह हो जाता है।

छठे सर्ग में चन्द्रोदय का वर्णन है। कुमारपाल मण्डपिका में बैठते हैं, पुरोहित मन्त्रपाठ करता है, बाजे बजते हैं, वारवनितायें थाली में दीपक रखकर उपस्थित होती हैं। राजा के समक्ष श्रेष्ठी, सार्थवाह आदि महाजन आसन ग्रहण करते हैं, राजदूत कुछ दूरी पर बैठते हैं। तत्पश्चात् सांधिविग्रहिक राजा के बल-वीर्य का यशोगान करता हुआ विज्ञप्तिपाठ करता है—

'हे राजन्! आपके योद्धाओं ने कोंकण देश में पहुँचकर मल्लिकार्जुन नामक कोंकणाधीश की सेना के साथ युद्ध किया और इस युद्ध में मल्लिकार्जुन मारा गया। फिर आपने दक्षिण दिशा की दिग्विजय की, पश्चिम में सिन्धुदेश में आपकी आज्ञा शिरोधार्य की गई, यवनाधीश ने आपके भय से तांबूल का सेवन करना त्याग दिया, तथा वाराणसी, मगध, गौड, कान्यकुब्ज, चेदि, मथुरा और दिल्ली आदि नरेश आपके वशवर्ती हो गये।' विज्ञप्ति सुनने के पश्चात् राजा कुमारपाल शयन करने चले जाते हैं।

सातवें सर्ग में सोकर उठने के पश्चात् राजा परमार्थ की चिन्ता करता है। यहाँ जीव के संसारपरिभ्रमण, स्त्रीसंगत्याग, स्थूलभद्र, वज्रर्षि, गौतमस्वामी, अभयकुमार आदि मुनि-महात्माओं की प्रशंसा, जिनवचन के हृदयंगम करने से मोक्ष की प्राप्ति, पंचपरमेष्ठियों को नमस्कार, श्रुतदेवी की स्तुति आदि का वर्णन है। श्रुतदेवी राजा कुमारपाल को प्रत्यक्ष दर्शन देती है और राजा उससे उपदेश देने की प्रार्थना करता है। स्त्रियों के सम्बन्ध में उक्ति देखिये—

मायाइ उद्धुमाया अहिरेमिअ-तुच्छयाइ अंगुमिआ।
चवलत्तं पूरिआओ को तुवरइ दट्ठुमित्थीओ॥

—माया से पूर्ण, पूरी तुच्छता से भरी हुई और चपलता से पूरित स्त्रियों को देखने की कौन इच्छा करेगा? (यहाँ पूर् धातु के उद्धुमाया, अहिरेमिअ, अंगुमिआ और पूरिआओ नामक आदेशों के उदाहरण दिये गये हैं)।

श्रुतदेवी के ध्यान का महत्त्व—

खम्भइ कुबोहसेलो खणिज्जए मूलओ वि पाव-तरू।
हम्मइ कली हणिज्जइ कम्मं सुअ-देवि-झाणेण॥

—श्रुतदेवी के ध्यान से कुबोध रूपी शैल विदीर्ण हो जाता है, पापरूपी वृक्ष की जड़ उन्मूलित हो जाती है, कलिकाल नष्ट हो जाता है और कर्मों का नाश हो जाता है। (यहाँ खम्भइ, खणिज्जइ, हम्मइ और हणिज्जइ रूपों के उदाहरण दिये हैं)।

सातवें सर्ग की ६३ वीं गाथा तक प्राकृत भाषा के उदाहरण समाप्त हो जाते हैं। उसके बाद शौरसेनी के उदाहरण चलते हैं—

तायध समग्ग-पुहविं तायह सग्गं पि भोदु तुह भद्दं।
होदु जयस्सोत्तंसो तुह कित्तीए अपुरवाए॥

—हे नरेन्द्र! तू समग्र पृथ्वी का पालन कर, स्वर्ग की रक्षा कर, तेरा कल्याण हो; तेरी अपूर्व कीर्त्ति से जगत् का उत्कर्ष हो।

आठवें सर्ग में श्रुतदेवी के उपदेश का वर्णन है। इसमें मागधी, पैशाची, चूलिकापैशाची और अपभ्रंश के उदाहरण प्रस्तुत हैं।

मागधी का उदाहरण—

पुञ्ञे निशाद-पञ्ञ सुपञ्ञले यदि-पधेण वञ्ञन्ते।
शयल-यय-वश्चलत्तं गश्चन्ते लहदि पलमपदं॥

—पुण्यात्मा, कुशाग्र प्रज्ञावाला, सुप्राञ्जल, यतिमार्ग का अनुसरण करता हुआ, सकल जग की वत्सलता का आचरण करता हुआ परमपद को प्राप्त करता है।

पैशाची का उदाहरण—

यति अरिह-परममंतो पढिय्यते कीरते न जीवबधो।
यातिस-तातिस-जाती ततो जनो निव्वुतिं याति॥

—यदि कोई अर्हत के परम मन्त्र का पाठ करता है, जीव-वध नहीं करता, तो ऐसी-वैसी जाति का होता हुआ भी वह निर्वृति को प्राप्त होता है।

चूलिकापैशाची का उदाहरण—

झच्छर-डमरूक-भेरी-ढक्का-जीमूत-घोसा वि।
बह्मनियोजितमप्पं जस्स न दोलिन्ति सो धञ्ञो॥

—झच्छर (अडाउज), डमरू, भेरी और पटह इनका मेघ के समान गम्भीर घोष भी जिसकी ब्रह्म-नियोजित आत्मा को दोलायमान नहीं करता, वह धन्य है।

अपभ्रंश का उदाहरण—

उब्भियबाह असारउ सव्वु वि।
म भमि कु-तित्थिअ-पट्ठें मुहिआ
परिहरि तृणु जिम्वँ सव्वु वि भव-सुहु
पुत्ता तुह मइ एउ कहिआ॥

—हे पुत्र! मैंने अपनी भुजायें ऊपर उठाकर तुझ से कहा है कि सब कुछ असार है, तू व्यर्थ ही कुतीर्थों के पीछे मत फिर, समस्त संसार के सुख को तृण के समान त्याग दे।

सत्य की महिमा प्रतिपादन—

तं बोल्लिअइ जु सच्चु पर इमु धम्मक्खरु जाणि।
एहो परमत्था एहु सिवु एह सुह-रयणहँ खाणि॥

—जो सत्य है, वह परम है, उसे धर्म का रहस्य जान, यही परमार्थ है, यही शिव है और यही रत्नों की खान है।

अशुभ भावों के त्याग का उपदेश—

काय-कुडल्ली निरु अथिर जीवियडउ चलु एहु।
ए जाणिवि भव-दोसडा असुहउ भावु चएहु॥

—कायरूपी कुटीर नितांत अस्थिर है, जीवन चञ्चल है, इस प्रकार संसार के दोष जानकर अशुभ भावों का त्याग कर।

सिरिचिंधकव्व (श्रीचिह्नकाव्य)

जैसे भट्टिकवि ने अष्टाध्यायी के सूत्रों का ज्ञान कराने के लिये भट्टिकाव्य (रावणवध), और आचार्य हेमचन्द्र ने सिद्धहेम के सूत्रों का ज्ञान कराने के लिये प्राकृतद्व्याश्रय काव्य की रचना की है, उसी प्रकार वररुचि के प्राकृतप्रकाश और त्रिविक्रम के

प्राकृतव्याकरण के नियमों को स्पष्ट करने के लिये श्रीचिह्नकाव्य अथवा गोविन्दाभिषेक की रचना की गई है।[1] इस काव्य के प्रत्येक सर्ग के अन्त में श्रीशब्द का प्रयोग हुआ है, इसलिये इसे श्रीचिह्न कहा गया है। यह काव्य १२ सर्गों में है, इसके कर्ता का नाम कृष्णलीलाशुक है जो कवि सर्वभौम नाम से प्रसिद्ध थे और कोदंडमंगल या विल्वमंगल नाम से भी कहे जाते थे। कृष्णलीलाशुक केरल के निवासी थे, इनका समय ईसवी सन् की १३वीं शताब्दी माना जाता है। कृष्णलीलाशुक ने श्रीचिह्नकाव्य के केवल ८ सर्गों की रचना की है, शेष चार सर्ग श्रीचिह्नकाव्य के टीकाकार दुर्गाप्रसाद यति ने लिखे हैं। दुर्गाप्रसाद यति की संस्कृत टीका विद्वत्तापूर्ण है, और बिना टीका के काव्य का अर्थ समझ में आना कठिन है। प्राकृतव्याकरण के सूत्रों का अनुकरण करने के कारण इस काव्य में शुष्कता अधिक आ गई है, जिससे काव्य-सौष्ठव कम हो गया है। जनसंपर्क से दूर हो जाने पर प्राकृत भाषायें जब अन्तिम श्वास ले रही थीं तो उन्हें प्राकृत व्याकरणों की सहायता से कृत्रिमता प्रदान कर किस प्रकार जीवित रक्खा जा रहा था, उसका यह काव्य एक उदाहरण है।

इस काव्य में कृष्ण की लीला का वर्णन किया गया है। निम्नलिखित गाथाओं में प्राकृतप्रकाश के उदाहरण दिये हैं—

ईसि-पिक्क फल-पाअवे महा-
वेडिसे विअण-पल्लवे वणे।
सो जणो असुइणो अ-पावइं-
गालअम्मि लसिओ मिअंगिओ॥ १.६॥

ईसपक्क-फलए इस-त्थली
वेडसे वअण-पल्लवे ठिओ।

---

1. डाक्टर ए० एन० उपाध्ये ने इस काव्य के प्रथम सर्ग का संपादन भारतीय विद्या ३.१ में किया है।

सो सणो असिविणो अ-पावअं-
गालए महिवणो मुअंगओ ॥ १७ ॥

वररुचि के प्राकृतप्रकाश (१.३) में ईषत्, पक्व, स्वप्न, वेतस, व्यजन, मृदङ्ग और अंगार शब्दों के क्रमशः ईसि-ईस, पिक्क-पक्क, सवण-सिविण, वेअस-वेइस, वअण-विअण, मुअंग-मुइंग और अंगाल-इंगाल प्राकृत रूप समझाये हैं। इनमें ईसि, पिक्क, वेडिस (प्राकृतप्रकाश में वइस रूप है), विअण, असुइण (प्राकृतप्रकाश में असवण), इंगाल और मिअंग (प्राकृतप्रकाश में मुइंग); तथा ईस, पक्क, वेडस, (प्राकृतप्रकाश में वेअस), वअण, असिविण, अंगाल और मुअंग रूपों के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं।

सोरिचरित (शौरिचरित)

दुर्भाग्य से शौरिचरित्र की पूर्ण प्रति अभी तक उपलब्ध नहीं हुई है।[1] मद्रास की प्रति में इसके कुल चार आश्वास प्राप्त हुए हैं। शौरिचरित के कर्ता का नाम श्रीकण्ठ है, ये मलाबार में कोल-त्तुनाड के राजा केरलवर्मन् की राजसभा के एक बहुश्रुत पण्डित थे। ईसवी सन् १७०० में उन्होंने शौरिचरित की यमक काव्य में रचना की है। कुछ विद्वानों के अनुसार श्रीकण्ठ का समय ईसवी सन् की १५वीं शताब्दी का प्रथमार्ध माना गया है। रघूदय श्रीकण्ठ की दूसरी रचना है जो संस्कृत में है और यह भी यमक काव्य में लिखी गई है। श्रीकण्ठ के शिष्य रुद्रमिश्र ने शौरिचरित और रघूदय दोनों पर विद्वत्तापूर्ण टीकायें लिखी हैं। शौरिचरित की टीका में वररुचि और त्रिविक्रम के प्राकृतव्याकरण के आधार से शब्दों को सिद्ध किया गया है।

शौरिचरित में कृष्ण के चरित का चित्रण है। काव्य-चातुर्य इसमें जगह-जगह दिखाई पड़ता है, प्रत्येक गाथा में

---

१. डा० ए० एन० उपाध्ये ने जर्नल ऑव द युनिवर्सिटी ऑव बम्बई, जिल्द १२, १९४३–४४ में इस काव्य के प्रथम आश्वास को सम्पादित किया है।

यमक अलंकार का प्रयोग हुआ है। संस्कृत का प्रभाव स्पष्ट है। ग्रन्थ दुरूह है और बिना टीका की सहायता के समझना कठिन है। निम्नलिखित उद्धरणों से इस ग्रन्थ के रचनावैशिष्ट्य का पता लग सकता है—

रअ-रुइरंगं ताणं घेत्तूणं व अंगणम्मि रंगंताणं।
चुंबइ माआ महिआ बल-कण्हाणं मुहाइ माआ-महिआ॥

—धूलि से धूसरित अंगवाले आंगन में रेंगते हुए बलदेव और कृष्ण को उठाकर पूजनीय माता उन्हें चूंबने लगी, वह माया के वश में हो गई।

कृष्ण की क्रीडा का चित्रण देखिये—

जो णिच्चो राअंतो रमावई सो वि गव्व-चोराअंतो।
वअ-बहु-बद्धो संतो सद्दो व्व ठिइ-च्चुओ अबद्धो संतो॥

—जो (कृष्ण) नित्य शोभा को प्राप्त होते हुए, गायों के दूध की चोरी करते हुए, व्रजबनिता यशोदा के द्वारा (ओखली से) बाँध दिये गये, फिर भी वे शान्त रहे; मर्यादा से च्युत शब्द की भाँति वे अबद्ध ही रहे।

भृंगसंदेश

शौरिचरित की भाँति दुर्भाग्य से भृंगसंदेश की भी पूर्ण प्रति उपलब्ध नहीं हो सकी।[1] इस ग्रन्थ की एक अपूर्ण प्रति त्रिवेन्द्रम के पुस्तकालय से मिली है। ग्रन्थकर्ता की भाँति ग्रन्थ के टीकाकार का नाम भी अज्ञात है। टीकाकार ने अपनी टीका में मेघदूत, शाकुन्तल, कर्पूरमञ्जरी तथा वररुचि और त्रिविक्रम के प्राकृतव्याकरण से सूत्र उद्‌धृत किये हैं। प्राकृत का यह काव्य मेघदूत के अनुकरण पर मंदाक्रान्ता छन्द में लिखा गया है—

आलावं से अह सुमहुरं कूइअं कोइलाणं।
अंगं पाओ उण किसलअं आणणं अंबुजम्मं

---

१. डाक्टर ए० एन० उपाध्ये ने इस काव्य की छह गाथायें प्रिंसिपल करमरकर कमोमरेशन वोल्यूम, पूना, १९४८ में संपादित की हैं।

णेत्तं भिंगं सह पिअअयं तस्स माआ-पहावा।
सो कप्पंतो विरह-सरिसिं तं दसं पत्तवंतो॥

—वह विरही उसकी माया के प्रभाव से अपनी प्रिया के समधुर आलाप को कोकिल का कूजन, उसके अंग को किसलय, मुख को कमल और नेत्रों को प्रियतम भृंग समझ कर उस विरह-सदृश दशा को प्राप्त हुआ।

साहित्यदर्पण में हंससंदेश और कुवलायश्वचरित नाम के प्राकृत काव्यों का उल्लेख है। ये काव्य मिलते नहीं हैं।

कंसवहो (कंसवध)

कंसवहो श्रीमद्भागवत के आधार पर लिखा गया है। इस खंड-काव्य में चार सर्गों में २३३ पद्यों में कंसवध का वर्णन है। संस्कृत के अनेक छन्द और अलंकारों का इस काव्य में प्रयोग किया गया है। इसकी भाषा महाराष्ट्री है, कहीं शौरसेनी के रूप भी मिल जाते हैं। प्राकृत के अन्य प्राचीन ग्रन्थों की भाँति किसी प्रान्त की जनसाधारण की बोली के आधार से यह ग्रन्थ नहीं लिखा गया, बल्कि वररुचि आदि के प्राकृत व्याकरणों का अध्ययन करके इसकी रचना की गई है। इसलिये इसकी भाषा को शुद्ध साहित्यिक प्राकृत कहना ठीक होगा। कंसवहो के कर्त्ता रामपाणिवाद विष्णु के भक्त थे, वे केरलदेश के निवासी थे। इनकी रचनायें, संस्कृत, मलयालम और प्राकृत इन तीनों भाषाओं में मिलती हैं। संस्कृत में इन्होंने नाटक, काव्य और स्तोत्रों की रचना की है। प्राकृत में प्राकृतवृत्ति (वररुचि के प्राकृत-प्रकाश की टीका), उसाणिरुद्ध और कंसवहो की रचना की है। इनकी शैली संस्कृत से प्रभावित है, विशेषकर माघ के शिशुपाल-वध का प्रभाव इनकी रचना पर पड़ा है। पाणिवाद का समय ईसवी सन् १७०७ से १७७५ तक माना गया है।[1]

---

१. देखिये कंसवहो की भूमिका। यह ग्रन्थ डा० ए० एन० उपाध्ये द्वारा संपादित सन् १९४० में हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई से प्रकाशित हुआ है।

पहले सर्ग में अक्रूर गोकुल पहुँच कर कृष्ण और बलराम को कंस का सन्देश देता है कि धनुष-उत्सव के बहाने कंस ने उन दोनों को मथुरा आमन्त्रित किया है। तीनों रथ पर सवार होकर मथुरा के लिये प्रस्थान करते हैं। अक्रूर कृष्ण के वियोग से दुखी गोपियों को उपदेश देते हैं। दूसरे सर्ग में कृष्ण और बलराम मथुरा पहुँच जाते हैं; कोदंडशाला में पहुँचकर कृष्ण बात की बात में धनुष तोड़ देते हैं। मथुरा नगरी का यहाँ सरस वर्णन है जिसमें कवि ने उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, दृष्टान्त आदि का प्रयोग किया है—

इह कंचण-गेह-कंति-लित्ते।
गअणे बाल-दिणेसमोहमोहा॥
विहडेइ ण दिग्घिआसु दिग्घं।
रअणीअं पि रहंगणाम-जुग्गं॥

—यहाँ पर आकाश सोने के बने हुए भवनों की कांति से व्याप्त रहता है, इसलिये चक्रवाकों के युगल उसे बालसूर्य समझ कर, दीर्घिकाओं में, रात्रि के समय भी दीर्घकाल तक अलग नहीं होते।

मथुरा नगरी साक्षात् स्वर्ग के समान जान पड़ती है—
गंधव्वा ण किमेत्थ संति ण हु किं विज्जंति विज्जाहरा।
किंवा चारू ण चारणाण अ कुलं जिण्णंति णो किंणरा॥
किं णेअं सुमणाण धाम किमहो णाहो महिंदो ण से।
सग्गो च्चेव वसूण ठाणमिणमो रम्मं सुधम्मुज्जलं॥

—क्या यहाँ गन्धर्व (नायक) नहीं है ? क्या यहाँ विद्याधर (विद्या के ज्ञाता) नहीं हैं ? क्या यहाँ सुन्दर चारणों (स्तुति-पाठकों) का समूह नहीं है ? क्या यहाँ विजयी किंनर (विविध प्रकार के मनुष्य) नहीं हैं ? क्या यहाँ सुमनों (देव; सज्जन पुरुष) का घर नहीं है ? क्या यहाँ महेन्द्र (इन्द्र; राजा) नहीं रहता ? वसु (देव; धन) का यह स्थान सुधर्म (सुधर्मा; श्रेष्ठ धर्म) से रम्य है, जो प्रत्यक्ष स्वर्ग ही प्रतीत होता है।

तीसरे सर्ग में बंदिजन प्रातःकाल उपस्थित होकर सोते हुए कृष्ण और बलराम को उठाते हैं। वे प्रातःकाल उठकर नगरी के द्वार पर पहुँचते हैं। चाणूर और मुष्टिक नामक मल्लों से उनका युद्ध होता है।

कड्ढंता कर-जुअलेण जाणु-जंघा।
संघट्ठ-क्खुडिअ-विलित्त-रत्त-गत्ता॥
उद्दामब्भमण-धुणंत-भूमि-अक्का।
विक्कंति विविहमिमा समारहंति॥

—(ये युद्ध करनेवाले) दोनों हाथों से (प्रतिमल्ल के) जानु और जङ्घाओं को खींचते हैं, संघर्ष के कारण युद्ध में उनके शरीर टूट गये हैं और रक्त से लिप्त हो गये हैं, और जिनके उद्दाम भ्रमण से भूमिचक्र काँप उठा है, इस प्रकार वे विविध प्रकार का विक्रम आरंभ कर रहे हैं।

कंस कृष्ण और बलराम को जेल में डाल देना चाहता है, लेकिन वह उनके हाथ से मारा जाता है। इस पर देव जय जय-कार करते हैं और स्वर्ग से पुष्पों की वर्षा होती है।

अन्तिम सर्ग में, कंस के मरने से लोगों के मन को आनंद होता है, कुल की बालिकायें अब स्वतन्त्रता से विचरण कर सकती हैं और युवकजन यथेच्छरूप से क्रीडा कर सकते हैं। उग्रसेन राजा के पद पर आसीन होता है और कृष्ण अपने माता-पिता को कारागार से मुक्त करते हैं। इस प्रसङ्ग पर कृष्ण की बाललीलाओं का उल्लेख किया गया है। प्राकृत के दुस्तर समुद्र को पार करने के लिये अपने काव्य को कवि ने समुद्र का तट बताया है।

उसाणिरुद्ध

उसाणिरुद्ध के कर्त्ता भी रामपाणिवाद हैं, कंसवहो की भाँति यह भी एक खण्डकाव्य है जो चार सर्गों में विभक्त है।[1]

---

1. डाक्टर कुनहन राजा द्वारा सम्पादित, अडियार लाइब्रेरी, मद्रास से सन् १९४३ में प्रकाशित।

उषा और अनिरुद्ध की कथा श्रीमद्भागवत से ली गई है। इस पर राजशेखर की कर्पूरमञ्जरी का प्रभाव स्पष्ट है। यहाँ विविध छन्द और अलङ्कारों का प्रयोग किया गया है।

बाण की कन्या उषा अनिरुद्ध को स्वप्न में देखती है। उसे प्रच्छन्नरूप से उषा के घर लाया जाता है और वह वहाँ रह कर उसके साथ क्रीडा करने लगता है। एक दिन नौकरों को पता लग जाता है, और वे इस बात की खबर राजा को देते हैं। राजा अनिरुद्ध को पकड़ कर जेल में डाल देता है। उषा उसके विरह में विलाप करती है। दूसरे सर्ग में, जब कृष्ण को पता लगता है कि उनके पौत्र को जेल में डाल दिया गया है तो वे बाण के साथ युद्ध करने आते हैं। बाण की सेना पराजित हो जाती है और बाण की सहायता करनेवाले शिव कृष्ण की स्तुति करने लगते हैं। तीसरे सर्ग में बाण अपनी कन्या उषा का विवाह अनिरुद्ध से कर देता है। कृष्ण द्वारका लौट जाते हैं। अन्तिम सर्ग में नगर की नारियाँ अपना काम छोड़ कर उषा और अनिरुद्ध को देखने के लिये जल्दी-जल्दी आती हैं। कोई कंकण के स्थान पर अंगद पहन लेती है, कोई करधौनी के स्थान पर अपनी कटी में हार पहन लेती है, कोई प्रयाण करने के कारण अपनी शिथिल नीवी को हाथ से पकड़ कर चलती है। विविध क्रीडाओं में रत रह कर उषा और अनिरुद्ध समय यापन करते हैं।



नौवाँ अध्याय

संस्कृत नाटकों में प्राकृत

(ईसवी सन् की प्रथम शताब्दी से लेकर १८ वीं शताब्दी तक)

नाटकों में प्राकृतों के रूप

प्राकृत भाषाओं का प्रथम नाटकीय प्रयोग संस्कृत नाटकों में उपलब्ध होता है। भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र (१७. ३१. ४३) में धीरोदात्त और धीरप्रशान्त नायक, राजपत्नी, गणिका और श्रोत्रिय ब्राह्मण आदि के लिये संस्कृत, तथा श्रमण, तपस्वी, भिक्षु, चक्रधर, भागवत, तापस, उन्मत्त, बाल, नीच ग्रहों से पीड़ित व्यक्ति, स्त्री, नीच जाति और नपुंसकों के लिये प्राकृत बोलने का निर्देश किया है। यहाँ भिन्न-भिन्न पात्रों के लिये भिन्न-भिन्न प्राकृत भाषायें[1] बोले जाने का उल्लेख है। उदाहरण के लिये, नायिका और उसकी सखियों द्वारा शौरसेनी, विदूषक आदि द्वारा प्राच्या (पूर्वीय शौरसेनी), धूर्तों द्वारा अवन्तिजा (उज्जैनी में बोली जाने वाली शौरसेनी) चेट, राजपुत्र और श्रेष्ठियों द्वारा अर्धमागधी[2], राजा के अन्तःपुर में रहनेवालों, सुरङ्ग खोदनेवालों, सेंध लगाने वालों, अश्वरक्षकों और आपत्तिग्रस्त नायकों द्वारा मागधी, योधा, नगर-रक्षक आदि और जुआरियों द्वारा दाक्षिणात्या, तथा उदीच्य

---

१. मागधी, अवन्तिजा, प्राच्या, शौरसेनी, अर्धमागधी, बाह्लीका, और दाक्षिणात्या नाम की सात भाषायें यहाँ गिनाई हैं (१७. ४८)।

२. डाक्टर कीथ के अनुसार (द संस्कृत ड्रामा, पृ० ३३६) अश्वघोष और सम्भवतः भास के कर्णभार नाटक को छोड़कर अन्यत्र इसका प्रयोग दिखाई नहीं देता।

और खसों द्वारा बाह्लीक भाषा बोली जाती थी (१७. ५०-२)।[1] विभाषाओं में शाकारी, आभीरी, चाण्डाली, शाबरी, द्राविड़ी और आन्ध्री के नाम गिनाये हैं। इनमें पुल्कस (डोम्ब) द्वारा चाण्डाली, अङ्गारकारक (कोयला तैयार करने वाले), व्याध, काष्ठ और मन्त्र से आजीविका चलानेवालों और वनचरों द्वारा शाकारी, गज, अश्व, अजा, उष्ट्र, आदि की शालाओं में रहनेवालों द्वारा अभीरी अथवा शाबरी, तथा वनचरों द्वारा द्राविड़ी भाषा बोली जाती थी[2] (१७. ५३-६)।

संस्कृत नाटकों के अध्ययन करने से पता लगता है कि इन नाटकों में उच्च वर्ग के पुरुष, अग्रमहिषियाँ, राजमन्त्रियों की पुत्रियाँ और वेश्याएँ आदि संस्कृत तथा साधारणतया स्त्रियाँ, विदूषक, श्रेष्ठी, नौकर-चाकर आदि निम्नवर्ग के लोग प्राकृत में बातचीत करते हैं। नाट्यशास्त्र के पण्डितों ने जो रूपक और उपरूपक के भेद गिनाये हैं उनमें भाण, डिम, वीथी, तथा सट्टक, तोटक, गोष्ठी, हल्लीश, रासक, भणिका, और प्रेंखण[3] आदि लोकनाट्य के ही प्रकार हैं, और इन नाट्यों में धूर्त, विट, पाखण्डी, चेट, चेटी, विट, नपुंसक, भूत, प्रेत, पिशाच, विदूषक, हीन पुरुष आदि

---

१. महाराष्ट्री भाषा का यहाँ निर्देश नहीं है। अश्वघोष और भास के नाटकों में भी इस प्राकृत के रूप देखने में नहीं आते। पैशाची प्राकृत का उल्लेख दशरूपक (२. ६५) में मिलता है, नाटकों में नहीं। बाह्लीकी प्राकृत भी नाटकों में नहीं पायी जाती।

२. मृच्छकटिक में शाकारी और चाण्डाली के साथ ढक्की विभाषा के प्रयोग भी मिलते हैं।

३. हेमचन्द्र आचार्य ने काव्यानुशासन (८. ३-४) में नाटक, प्रकरण, नाटिका, समवकार, ईहामृग, डिम, व्यायोग, उत्सृष्टिका, अङ्क, प्रहसन, भाण, वीथि, और सट्टक पाठ्य के, तथा डोंबिका, भाण, प्रस्थान, शिंगक, भाणिका, प्रेरण, रामाक्रीड, हल्लीसक, रासक, गोष्ठी, श्रीगदित और काव्य गेय के भेद बताये हैं। रूपक और उपरूपकों के भेदों के लिये देखिये साहित्यदर्पण (६. ३-५)।

अधिकांश पात्र वही हैं जो नाटकों में प्राकृत भाषायें बोलते हैं। इससे यही प्रतीत होता है कि प्राकृत जन-साधारण की, तथा संस्कृत पण्डित, पुरोहित और राजाओं की भाषा मानी जाती थी। स्त्रियाँ प्रायः शौरसेनी में ही बातचीत करती हैं (संस्कृत उनके मुँह से अच्छी नहीं लगती)।[1] अधम लोग भी शौरसेनी में बोलते थे, तथा अत्यन्त नीच पैशाची और मागधी में। तात्पर्य यह है कि नीच पात्र अपने-अपने देश की प्राकृत भाषाओं में बातचीत करते थे,[2] और संस्कृत नाटकों को लोकप्रिय बनाने के लिये भिन्न-भिन्न पात्रों के मुख से उन्हीं की बोलियों में बातचीत कराना आवश्यक भी था।

प्राचीन काल में संस्कृत और प्राकृत में अनेक नाटक लिखे गये। सम्भव है सट्टकों की भाँति कतिपय नाटक भी पूर्णतया प्राकृत में ही रहे हों जो संस्कृत से प्रभाव के कारण आज नष्ट हो गये, अथवा संस्कृत में रूपान्तरित होने के कारण उनका स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं रहा। आगे चलकर तो नाटकों के प्राकृत अंशों की संस्कृत छाया का महत्त्व इतना बढ़ गया कि नौवीं शताब्दी के नाटककार राजशेखर को अपनी बालरामायण के

---

१. शूद्रक ने अपने मृच्छकटिक में स्त्रियों के मुख से बोली जानेवाली संस्कृत भाषा को हास्योत्पादक बताते हुए उसकी उपमा एक गाय से दी है जिसके नथुनों में नई रस्सी डाले जाने से वह सू सू का शब्द करती है (इत्थिआ दाव सक्कअं पढन्ती दिण्णणवणस्सा वि अ गिट्ठी अहिअं सुसुआअदि—तीसरा अङ्क, तीसरे श्लोक के बाद।)

२. स्त्रीणां तु प्राकृतम् प्रायः शौरसेन्यधमेषु च।
पिशाचात्यन्तनीचादौ पैशाचम् मागधं तथा॥

(इसके अर्थ के लिये देखिये मनमोहनघोष, कर्पूरमञ्जरी की भूमिका, पृ० ४९–५०)

यद्देशं नीचपात्रं यत्तद्देशं तस्य भाषितम्।
कार्यतश्चोत्तमादीनां कार्यो भाषाव्यतिक्रमः॥

—धनंजय, दशरूपक (२. ६५–६)

प्राकृत अंशों को संस्कृत छाया द्वारा समझाने का प्रयत्न करना पड़ा। शनैः शनैः प्राकृत भाषायें भी संस्कृत की भाँति साहित्यिक बन गयीं, और जैसे कहा जा चुका है प्राकृत के व्याकरणों का अध्ययन कर कर के विद्वान् प्राकृत काव्यों की रचनाएँ करने लगे। द्रविड़देश वासी रामपाणिवाद और रुद्रदास आदि इसके उदाहरण हैं जिन्होंने वररुचि और त्रिविक्रम के प्राकृत व्याकरणों का अध्ययन कर प्राकृत के काव्य और सट्टक आदि की रचना की।

अश्वघोष के नाटक

अश्वघोष (ईसवी सन् की प्रथम शताब्दी के आसपास) के नाटकों में सर्वप्रथम प्राकृत भाषाओं का प्रयोग हुआ है। इनके शारिपुत्रप्रकरण (अथवा शारद्वतीपुत्रप्रकरण) तथा अन्य दो अधूरे नाटक मध्य एशिया से मिले हैं।[1] शारिपुत्रप्रकरण नौ अंकों में समाप्त होता है। इसमें गौतम बुद्ध द्वारा मौद्गल्यायन और शारिपुत्र को बौद्धधर्म में दीक्षित किये जाने का वर्णन है। अधूरे नाटकों में एक में बुद्धि, कीर्त्ति और कृति जैसे रूपात्मक पात्रों के सम्वाद हैं; बुद्धि आदि पात्र संस्कृत में वार्तालाप करते हैं। दूसरे नाटक में मगधवती गणिका, कोमुदगन्ध विदूषक, धनंजय, राजपुत्र आदि सात पात्र हैं। लुइडर्स के कथनानुसार इन नाटकों में दुष्ट लोग मागधी, गणिका और विदूषक शौरसेनी तथा तापस अर्धमागधी में बोलते हैं। इन नाटकों में प्रयुक्त प्राकृत भाषायें अशोक की शिलालेखी प्राकृत से मिलती हैं जो उत्तरकालीन प्राकृत भाषाओं को समझने में बहुत सहायक हैं।

भास के नाटक

अश्वघोष के पश्चात् भास (ईसवी सन् ३५० के पूर्व)

---

१. लुइडर्स द्वारा सम्पादित, १९११ में बर्लिन से प्रकाशित। ये नाटक देखने में नहीं आये।

ने अनेक नाटकों की रचना की।[1] इन नाटकों में अविमारक और चारुदत्त नाम के नाटक प्राकृत भाषा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। अविमारक में छह अङ्क हैं जिनमें अविमारक और उसके मामा की कन्या कुरङ्गी की प्रेम-कथा का वर्णन है, अन्त में दोनों का विवाह हो जाता है। चारुदत्त नाटक में चार अङ्क हैं इनमें चारुदत्त और वसन्तसेना के प्रेम का मार्मिक चित्रण है। भास के सभी नाटकों में खासकर पद्यभाग में शौरसेनी की प्रधानता है, मागधी के रूप भी यहाँ मिलते हैं। दूतवाक्य नाटक में स्त्री पात्रों की भाँति प्राकृत भाषा का भी अभाव है। अविमारक में शौरसेनी भाषा में विदूषक की उक्ति देखिये—

अहो णअरस्स सोहासंपदि। अत्थं आसादिदो भअवं सुय्यो दीसइ दहिपिंडपंडरेसु पासादेसु अग्गापणालिन्देसु पसारिअगुलमहुरसंगदो विअ। गणिआजणो णाअरिजणो अ अण्णोण्णविसेदमंडिदा अत्ताणं दंसइदुकामा तेसु तेसु पासादेसु सविब्भमं संचरंति। अहं तु तादिसाणि पेक्खिअ उम्मादिअमाणस्स तत्तहोदो रत्तिसहाओ होमि त्ति णअरादो णिग्गदो म्हि। सो वि दाव अम्हाअं अधण्णदाए केणवि अणत्थसंचिन्तणेण अण्णादिसो विअ संवुत्तो। एवं तत्तहोदो आवासगिहं। अज्ज णअरापणालिन्दे सुणामि तत्तहोदो गिहादो णिग्गदा राअदारिआए धत्ती सही अत्ति। किं णु खु एत्थ कय्यं। अहव हत्थिहत्थचंचलाणि पुरुसभग्गाणि होन्ति। अहव गच्छदु अणत्थो अम्हाअं। अवत्थासदिसं राअउलं पविसामि (अविमारक २)।

—इस समय नगर की शोभा कितनी सुंदर है! भगवान् सूर्य अस्ताचल को पहुँच गये हैं जिससे दधिपिण्ड के समान

१. पूना ओरिएन्टल सीरीज़ में सी० आर देवधर ने भासनाटकचक्र के अन्तर्गत स्वप्नवासवदत्ता, प्रतिज्ञायौगन्धरायण, अविमारक, चारुदत्त, प्रतिमा, अभिषेकनाटक, पञ्चरात्र, मध्यमव्यायोग, दूतवाक्य, दूतघटोत्कच, कर्णभार, उरुभङ्ग और बालचरित नामक १३ नाटकों का सन् १९३७ में सम्पादन किया है।

श्वेतवर्ण के प्रासाद और अग्रभाग की दूकानों के अलिन्दों (कोठों) में मानों मधुर गुड़ प्रसारित हो गया है। गणिकायें तथा नगरवासी विशेषरूप से सज्जित हो अपने आप का प्रदर्शन करने की इच्छा से उन प्रासादों में विभ्रमपूर्वक सञ्चार कर रहे हैं। मैं इन लोगों को इस अवस्था में देखकर उन्मादयुक्त हो रात्रि के समय आपका सहायक बनूँगा, यह सोचकर नगर से बाहर चला आया हूँ। सो भी हमारे दुर्भाग्य से किसी अनर्थ की चिन्ता से कुछ और ही हो गया। यह आपका आवासघर है। आज नगर की दूकानों के अलिन्दों में सुनता हूँ कि राजकुमारी की धात्री और सखी आपके घर से बाहर गई हैं। अब क्या किया जाये? अथवा पुरुष का भाग्य हाथी की सूँड के समान चञ्चल होता है। अथवा हमारा अनर्थ नष्ट हो जाये। अवस्था के समान राजकुल में प्रवेश करता हूँ।

चारुदत्त (अङ्क १) में शकार के मुख से मागधी की उक्ति सुनिये—

चिट्ठ चिट्ठ वशन्तशेणिए! चिट्ठ
किं याशि धावशि पधावशि पक्खलन्ती
शाहु प्पशीद ण मलीअशि चिट्ठ दाव।
कामेण शम्पदि हि जज्झइ मे शलीलं
अंगालमज्झपडिदे विअ चम्मखंडे॥

—ठहर-ठहर वसन्तसेना! ठहर! जा। तू क्यों जा रही है, क्यों भाग रही है, क्यों गिरती-पड़ती जोर से दौड़ रही है? हे सुन्दरी! प्रसन्न हो, तुझे कोई मार नहीं रहा है, ठहर जा। मेरा शरीर काम से प्रज्वलित हो रहा है जैसे आग में गिरा हुआ चमड़ा।

मृच्छकटिक

शूद्रक (ईसवी सन् की लगभग पाँचवीं शताब्दी) के

मृच्छकटिक की गिनती भी प्राचीन नाटकों में की जाती है।[1] भास के चारुदत्त नाटक से यह प्रभावित है। मृच्छकटिक एक सामाजिक नाटक है जिसमें समाज का यथार्थवादी चित्र अङ्कित है। संस्कृत की अपेक्षा प्राकृत का उपयोग ही इसमें अधिक है। इसलिये प्राकृत भाषाओं के अध्ययन के लिये यह अत्यन्त उपयोगी है। सब मिलकर इसमें ३० पात्र हैं, इनमें स्वयं विवृतिकार पृथ्वीधर के कथनानुसार सूत्रधार, नटी, रदनिका, मदनिका, वसन्तसेना, उसकी माता, चेटी, कर्णपूरक, चारुदत्त की ब्राह्मणी, शोधनक और श्रेष्ठी ये ग्यारह पात्र शौरसेनी में, वीर और चन्दनक अवन्ती में, विदूषक प्राच्य में, संवाहक, स्थावरक, कुंभीलक, वर्धमानक, भिक्षु तथा रोहसेन मागधी में, शकार शकारी में, दोनों चण्डाल चाण्डाली में, माथुर और द्यूतकर ढक्की में तथा शकार, स्थावरक और कुंभीलक आदि मागधी में बातचीत करते हैं।[2]

इस नाटक में प्रयुक्त प्राकृत भाषायें भरत के नाट्यशास्त्र में उल्लिखित प्राकृत भाषाओं के नियमानुसार लिखी गई मालूम होती हैं। साधारणतया यहाँ भी शौरसेनी और मागधी भाषाओं का ही प्रयोग अधिकतर हुआ है। वसन्तसेना की शौरसेनी में एक उक्ति देखिये—

---

१. नारायण बालकृष्ण गोडबोले द्वारा संपादित और सन् १८९६ में गवर्नमेन्ट सेण्ट्रल बुक डिपो द्वारा प्रकाशित।

२. मृच्छकटिक की विवृति में पृथ्वीधर ने प्राकृत भाषाओं के लक्षणों का प्रतिपादन किया है—

शौरसेन्यवंतिजा प्राच्या एतास्तु दन्त्यसकारता। तत्रावंतिजा रेफवती लोकोक्तिबहुला। प्राच्या स्वार्थिकककारप्राया। मागधी तालव्यशकारवती। शकारी-चाण्डाल्योस्तालव्यशकारता रेफस्य च लकारता। वकारप्राया ढक्कविभाषा। संस्कृतप्रायत्वे दन्त्यतालव्यसशकारद्वययुक्ता च।

चिरअदि मदणिआ। ता कहिं णु हु सा। (गवाक्षेण दृष्ट्वा) कधम् एसा केनावि पुरिसकेण सह मंतअंती चिट्ठदि। जधा अदिसिणिद्धाए णिच्चलदिट्ठीए आपिबंती विअ एदं णिज्झाअदि तधा तक्केमि एसो सो जणो एवं इच्छदि अभुजिस्सं कादुम्। ता रमदु रमदु, मा कस्सावि पीदिच्छेदो भोदु। ण हु सद्दाविस्सम् (चतुर्थ अङ्क)।

—मदनिका को बहुत देर हो गई। वह वहाँ चली गई? (झरोखे में से देखकर) अरे! वह तो किसी पुरुष से बातचीत कर रही है। माल्रूम होता है अत्यन्त स्निग्ध निश्चल दृष्टि से उसका पान करती हुई उसके ध्यान में वह रत है। माल्रूम होता है यह पुरुष उसका उपभोग करना चाहता है। खैर, कोई बात नहीं, वह आनन्द से रमण करे, रमण करे। किसी की प्रीति का भङ्ग न हो। मैं उसे न बुलाऊँगी।

राजा का साला शकार मागधी में वसन्तसेना वेश्या का चित्रण करता है—

एशा णाणकमूशिकामकशिका मच्छाशिका लाशिका।
णिण्णाशा कुलणाशिका अवशिका कामस्स मञ्जूशिका।
एशा वेशवहू शुवेशणिलआ वेशंगणा वेशिआ
एशे शे दश णामके मयि कले अज्जावि मं णेच्छदि॥

(प्रथम अङ्क)

—यह धन की चोर, काम की कशा (कोड़ा), मत्स्यभक्षी, नर्तिका, नककटी, कुल की नाशक, स्वछंद, कामकी मंजूषा, वेशवधू, सुवेशयुक्त, और वेश्यांगना—इस प्रकार उसके दस नाम मैंने रक्खे हैं, फिर भी वह मुझे नहीं चाहती।[1]

---

१. वेश्याओं के वेश के सम्बन्ध में चतुर्भाणी (पृ० ३१) में कहा है—

कामावेशः कैतवस्योपदेशो मायाकोशो वञ्चनासन्निवेशः।

चाण्डाली भी मागधी का ही एक प्रकार है, उसमें एक चण्डालोक्ति पढ़िये—

> इन्दे प्पवाहिअन्ते गोप्पसवे शंकमं च तालाणम्।
> शुपुलिशपाणविपत्ती चत्तालि इमे ण दट्ठवा ॥
>
> (दशम अङ्क)

इन्द्रध्वज का उतार कर ले जाना, गाय का प्रसव, तारों का संक्रमण और सत्पुरुषों की प्राणविपत्ति—इन चार वस्तुओं को नहीं देखना चाहिये।

कालिदास के नाटक

महाकवि कालिदास (ईसवी सन् की चौथी शताब्दी) ने भी अपने नाटकों[1] में प्राकृतों का प्रयोग किया है। इनकी रचनाओं में गद्य के लिये प्रायः शौरसेनी और पद्य के लिये प्रायः महाराष्ट्री का प्रयोग मिलता है। राजा का साला शाकारी आदि भाषाओं में बातचीत न कर शौरसेनी में ही बोलता है। नपुंसक, ज्योतिषी और विक्षिप्त भी शौरसेनी का प्रयोग करते हैं। स्त्रियाँ और शिशु महाराष्ट्री तथा पुलिस के कर्मचारी और मछुए आदि मागधी का आश्रय लेते हैं। कालिदास की प्राकृत रचनायें समासांत पदावलि से युक्त हैं जिन पर संस्कृत शैली का प्रभाव है।

निर्द्रव्याणामप्रसिद्धप्रवेशो रम्यः क्लेशः सुप्रवेशोऽस्तु वेशः ॥

—गणिकाओं का यह वेश काम का आवेश, छल-कपट का उपदेश, माया का कोश, ठगी का अड्डा, निर्धनों को न घुसने देने के लिये बदनाम है। यहाँ क्लेश भी अच्छा लगता है। यहीं वेशवालों का प्रवेश सुलभ है।

१. अभिज्ञानशाकुन्तल ए० बी० गजेन्द्रगडकर द्वारा सम्पादित, पापुलर बुक डिपो, बम्बई से प्रकाशित। मालविकाग्निमित्र एम० आर० काले द्वारा सम्पादित, गोपालनारायण एण्ड कम्पनी, बम्बई द्वारा १९३३ में प्रकाशित। विक्रमोर्वशीय आर० एन० गैधानी द्वारा सम्पादित और द रायल बुक स्टाल, पूना द्वारा प्रकाशित।

शौरसेनी में विदूषक की उक्ति पढ़िये—

भो दिट्ठं। एदस्स मिअआसीलस्स रण्णो वअस्सभावेण णिव्विण्णो ह्मि। अअं मिओ अअं वराहो अअं सद्दूलो त्ति मज्झणे वि गिह्मविरलपाअवच्छाआसु वणराईसु आहिण्डीअदि अडवीदो अडवीम्। पत्तसंकरकसाआइं कदुण्हाइं गिरिणईजलाइं पीअंति। अणिअदेवलं सुल्लमंसभूइट्ठो आहारो अण्हीअदि। तुरगाणुधावणकंडिदसंधिणो रत्तिम्मि वि णिकामं सइदव्वं णत्थि। तदो महन्ते एव पच्चूसे दासीए पुत्तेहिं सउणिलुद्धएहिं वणग्गहण-कोलाहलेण पडिबोधिदो ह्मि। एदावन्तेण वि दाव पीडा ण णिक्कमदि। तदो गंडस्स उवरि पिंडओ संवुत्तो। हिओ किल अह्मेसु ओहीणेसु तत्तहोदो मिआणुसारेण अस्समपदं पविट्ठस्स तावसकण्णआ सउन्दला मम अधण्णदाए दंसिदा संपदं णअर-गमणस्स कहं वि ण करेदि। अज्ज वि से तं एव्वं चिंतअंतस्स अक्खीसु पहादं आसि। का गदि ? (अभिज्ञानशाकुन्तल, द्वितीय अङ्क)।

—हाय रे दुर्भाग्य ? इस मृगयाशील राजा के वयस्यभाव से मुझे वैराग्य हो आया। यह मृग है, यह सूअर है, यह शार्दूल है, इस प्रकार ग्रीष्मकाल के मध्याह्न में भी विरल छायावाले वृक्षों की वनपंक्तियों में एक अटवी से दूसरी अटवी में भटकना होता है। पत्तों के मिश्रण से कसैले और किञ्चित् उष्ण गिरि की नदियों का जल पीना पड़ता है। अनियत समय सींक पर भुना हुआ मांस खाना पड़ता है। घोड़े के पीछे-पीछे दौड़ने के कारण मेरी संधियों में दर्द होने लगा है जिससे रात्रि के समय में आराम से सो भी नहीं सकता। फिर बहुत सबेरे दासीपुत्र और कुत्तों से घिरे हुए बहेलियों द्वारा वन के कोलाहल से मैं जगा दिया जाता हूँ। और इतने से ही मेरा कष्ट दूर नहीं होता। फोड़े के ऊपर एक और फुड़िया निकल आई। कल हमें पीछे छोड़कर मृग का पीछा करते-करते महाराज एक आश्रम में जा पहुँचे और मेरे दुर्भाग्य से शकुन्तला नाम की तापसकन्या पर

उनकी दृष्टि पड़ गई। उसे देखने के बाद अब वे नगर लौटने की बात ही नहीं करते। यही सोचते-सोचते आँखों के सामने प्रभात हो जाता है। अब क्या रास्ता है ?

शकुन्तला महाराष्ट्री में गाती है—

तुज्झ ण जाणो हिअअं मम उण कामो दिवापि रत्तिम्मि।
णिग्घिण तवइ बलीअं तुइ वुत्तमणोरहाइ अंगाइं॥
(तृतीय अङ्क)

—मैं तेरे हृदय को नहीं जानती। लेकिन यह निर्दय प्रेम, जिनके मनोरथ तुममें केन्द्रित हैं ऐसे मेरे अङ्गों को, दिन और रात कष्ट देता है।

मछुए का मागधी में भाषण सुनिये—

एकश्शिं दिअशे खंडशो लोहिअमच्छे मए कप्पिदे। जाव तश्श उदलब्भन्तले पेक्खामि दाव एशे लदणभासुरअंगुलीअअं देक्खिअ। पच्छा अहके शे विक्कआअ दंशअन्ते गहिदे भावमिश्शेहिं। मालेह वा मुंचेह वा अअं शे आअमवुत्तन्ते। (पाँचवाँ अङ्क)

—एक दिन मैंने रोहित मछली को काटा। ज्यों ही मैंने उसके उदर के अन्दर देखा तो मुझे रत्न से चमचमाती एक अंगूठी दिखाई दी। फिर जब मैंने उसे बिक्री के लिये निकाल कर दिखाया तो मैं इन लोगों के द्वारा पकड़ लिया गया। अब आप चाहे मुझे मारें या छोड़ें। इसके मिलने की यही कहानी है।

मालविकाग्निमित्र और विक्रमोर्वशीय नाटकों में भी प्राकृत का प्रयोग हुआ है। मालविकाग्निमित्र में चेटी, बकुलावलिका, कौमुदिका, राजा की पटरानी, मालविका, परिचारिका और विदूषक आदि प्राकृत बोलते हैं। यहाँ प्राकृत के संवाद बड़े सुन्दर बन पड़े हैं। विक्रमोर्वशी में रम्भा, मेनका, चित्रलेखा, उर्वशी आदि अप्सरायें, राजमहिषी, किराती, तापसी आदि स्त्री-पात्र तथा विदूषक प्राकृत बोलते हैं। अपभ्रंश में भी कुछ सुन्दर गीत दिये गये हैं—

हउं पइं पुच्छिछमि आक्खहि गअवरु
ललिअपहारेँ णासिअतरुवरु।
दूरविणिज्जिअससहरकन्ती
दिट्ठी पिअ पइं संमुह जन्ती ॥

—हे गजवर ! मैं तुझ से पूछ रहा हूँ, उत्तर दे। तू ने अपने सुन्दर प्रहार से वृक्षों का नाश कर दिया है। दूर से ही चन्द्रमा की कान्ति को जीतने के लिये मेरी प्रिया को क्या तू ने प्रिय के सन्मुख जाते देखा है ?

दूसरा गीत देखिये—

मोरा परहुअ हंस रहंग
अलि गअ पव्वअ सरिअ कुरंग ।
तुज्झह् कारणेँ रण्ण भमन्तेँ
को ण हु पुच्छिउ मइं रोअन्तेँ ॥

—मोर, कोयल, हंस, चक्रवाक, भ्रमर, गज, पर्वत, सरित्, कुरंग इन सब में से तेरे कारण जंगल में भ्रमण एवं रुदन करते हुए मैंने किस-किस को नहीं पूछा ?

श्रीहर्ष के नाटक

श्रीहर्ष (ईसवी सन् ६००-६४८) ने प्रियदर्शिका[1], रत्नावली[2] और नागानन्द[3] में प्राकृत भाषाओं का प्रचुर प्रयोग किया है। नाटिकाओं में पुरुष-पात्रों की संख्या कम है तथा स्त्री-पात्र और विदूषक आदि प्राकृत में बातचीत करते हैं। पद्य में महाराष्ट्री के साथ शौरसेनी का भी प्रयोग हुआ है। प्रियदर्शिका में चेटी,

---

१. एम० आर० काले द्वारा सम्पादित, गोपालनारायण एण्ड कं० बम्बई द्वारा १९२८ में प्रकाशित।

२. के० एम० जोगलेकर द्वारा १९०७ में सम्पादित।

३. आर० आर० देशपाण्डे और बी० के० जोशी द्वारा सम्पादित, दादर बुकडिपो, बम्बई द्वारा प्रकाशित।

आरण्यिका (प्रियदर्शिका), वासवदत्ता, कांचनमाला, मनोरमा और विदूषक आदि प्राकृत में बातचीत करते हैं। आरिण्यका के कुछ गीत देखिये—

घणबंधणसंरुद्धं गअणं दट्ठूण माणसं एदुं।
अहिलसइ राअहंसो दइअं घेऊण अप्पणो वसइं॥

—बादलों के बन्धन से संरुद्ध आकाश को देखकर राजहंस अपनी प्रिया को लेकर मानसरोवर में जाने की अभिलाषा करता है।

फिर—

अहिणवराअक्खित्ता महुअरिआ वामएण कामेण।
उत्तम्मइ पत्थन्ती दट्ठुं पिअदंसणं दइअं॥ (तृतीय अङ्क)।

—वक्र काम के द्वारा अभिनव राग में क्षिप्त मधुकरी अपने दयिता के प्रियदर्शन के लिये प्रार्थना करती हुई व्याकुल होती है।

रत्नावली में वासवदत्ता और उसकी परिचारिकायें आदि प्राकृत में वार्तालाप करती हैं। कौशाम्बी के राजा वत्स का मित्र वसन्तक राजा को एक शुभ समाचार सुना रहा है—

ही ही भो! अच्चरिअं अच्चरिअं। कोसंबीरज्जलाहेणावि ण तादिसो पिअवअसस्स हिअअपरितोसो जादिसो मम सआसादो अज्ज पिअवअणं सुणिअ हविस्सदित्ति तक्केमि। ता जाव गदुअ पिअवअसस्स णिवेदइस्सं। (परिक्रम्यावलोक्य च) कधं एसो पिअवअस्सो जधा इमं ज्जेव्व पडिवालेदि। ता जाव णं उवसप्पामि। (इत्युपसृत्य) जअदु जअदु पिअवअस्सो। भो वअस्स! दिट्ठिआ वड्ढसे तुमं समीहिदकज्जसिद्धीए। (तृतीय अङ्क)।

अरे आश्चर्य! आश्चर्य। मैं समझता हूँ, मुझ से प्रिय वचन सुनकर जैसा परितोष मेरे प्रिय वयस्य को होगा वैसा उसे कौशाम्बी का राज्य पाकर भी नहीं हो सकता। इसलिये मैं अपने प्रिय सखा के पास पहुँचकर इस समाचार को निवेदन करूँगा। (घूमकर और देखकर) मेरा प्रिय सखा इसी दिशा की ओर

देखते हुए खड़ा है जिससे जान पड़ता है वह मेरी ही प्रतीक्षा में है। अस्तु, पास में जाता हूँ (पास जाकर) प्रिय वयस्य की जय हो ! हे वयस्य ! तुम्हारे इष्टकार्य की सिद्धि होने से तुम बड़े भाग्यशाली हो।

नागानन्द में संस्कृत का प्राधान्य है। यहाँ भी नटी, चेटी, नायिका, मलयवती, प्रतिहारी तथा विदूषक, विट और किङ्कर आदि प्राकृत में वार्तालाप करते है। किङ्कर के मुख से यहाँ मागधी बुलवाई गई है—

एदं लत्तंसुअजुअलं पलिहाय आलुह वज्झसिलं। जेण तुमं लत्तंसुअचिण्णोवलक्खिदं गरुडो गेण्हिअ आहालं करिस्सदि (चतुर्थ अङ्क)।

—इस रक्तांशुक-युगल को धारण कर वध्यशिला पर आरोहण करो जिससे रक्त अंशुक चिह्न से चिह्नित तुम्हें ग्रहण करके गरुड तुम्हारा आहार करेगा।

भवभूति के नाटक

भवभूति (ईसवी सन् की सातवीं शताब्दी) के महावीर-चरित, मालतीमाधव और उत्तररामचरित नाटकों में संस्कृत का प्राधान्य पाया जाता है। संस्कृत के आदर्श पर ही उन्होंने शौरसेनी का प्रयोग किया है। वररुचि आदि के प्राकृत-व्याकरणों के प्रयोग यहाँ देखने में आते हैं।

मुद्राराक्षस

विशाखदत्त (ईसवी सन् की नौवीं शताब्दी) के मुद्राराक्षस[1] में प्राकृत के प्रयोग मिलते हैं, यद्यपि यहाँ भी संस्कृत को ही महत्त्व दिया गया है। शौरसेनी, महाराष्ट्री और मागधी का प्रयोग यहाँ किया गया है। चन्दनदास का शौरसेनी में एक स्वगत सुनिये—

चाणकम्मि अकरुणे सहसा सद्दाविदस्स वट्टेदि।
णिद्दोसस्सवि संका किं उण संजाददोसस्स ॥ (अङ्क २)

१. हिलेब्राण्ट, ब्रेसलौ, १९१२

—निर्दय चाणक्य के द्वारा किसी निर्दोष पुरुष को बुलाये जाने पर भी उसके मन में शङ्का उत्पन्न हो जाती है, फिर अपराधी पुरुष की तो बात ही क्या ?

क्षपणक मागधी में बातचीत करता है—

शाशणमलिहन्ताणं पडिवय्यध मोहवाधिवेय्याणं।
जे पढममेत्तकडुअं पश्चापश्चं उवदिशन्ति॥ (अङ्क ४)

—क्या तुम मोहरूपी व्याधि के वैद्य अर्हन्तों के शासन को प्राप्त करते हो जो प्रारम्भ में मूहुर्त्त मात्र के लिये कटु किन्तु बाद में पथ्य का काम करनेवाली औषधि का उपदेश देते हैं ?

वज्रलोमा की मागधी में उक्ति देखिये—

यइ महध लश्किदुं शे पाणे विहवे कुलं कलत्तं च।
ता पलिहलध विशं विअ लाआवश्चं पअत्तेण॥ (अङ्क ७)

—यदि अपने प्राण, विभव, कुल और कलत्र की रक्षा करना चाहते हो तो विष की भाँति राजा के लिये अपथ्य (अवांछनीय) पदार्थ का प्रयत्नपूर्वक परित्याग करो।

वेणीसंहार

भट्टनारायण (ईसवी सन् की आठवीं शताब्दी के पूर्व) के वेणीसंहार[1] में शौरसेनी की ही प्रधानता है। तीसरे अंक के आरंभ में राक्षस और उसकी पत्नी मागधी में बातचीत करते हैं।

ललितविग्रहराज

सोमदेव के ललितविग्रहराज नाटक में महाराष्ट्री, शौरसेनी और मागधी का प्रयोग हुआ है।[2]

---

१. आर० आर० देशपांडे द्वारा सम्पादित, दादर बुक डिपो, बम्बई द्वारा प्रकाशित।

२. पिशल का प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, पृष्ठ १६। यह नाटक कीलहार्न द्वारा एण्टीक्वेरी २०, २२१ पृष्ठ और उसके बाद के पृष्ठों में छपा है।

अद्भुतदर्पण

अद्भुतदर्पण नाटक के कर्ता महादेव कवि हैं, ये दक्षिण के निवासी थे। इनके गुरु का नाम बालकृष्ण था जो नीलकण्ठ विजयचम्पू के कर्ता नीलकंठ दीक्षित के समकालीन थे। नीलकंठ विजयचम्पू की रचना सन् १६३७ में हुई थी, इसलिए महादेव कवि का समय भी इसी के आसपास मानना चाहिये। अद्भुत-दर्पण के ऊपर कवि जयदेव का प्रभाव लक्षित होता है। संस्कृत का इसमें आधिक्य है। सीता, सरमा, और त्रिजटा आदि स्त्री-पात्र तथा विदूषक और महोदर आदि प्राकृत में बातचीत करते हैं। इसमें १० अंक हैं जिनमें अङ्गद द्वारा रावण के पास संदेश ले जाने से लगाकर रामचन्द्र के राज्याभिषेक तक की घटनाओं का वर्णन है। राक्षसिनियाँ शूर्पणखा की भर्त्सना करती हुई कहती हैं—

अयि मूढे। अणत्थआरिणि सुप्पणहे! भक्खणणिमित्तं तुम्हेहिं मारिदा जाणइ त्ति। परिकुविदो भट्टा जीवन्तीओ एव्व अम्हे कुक्कुराणं भक्खणं कारिस्सदि। ता समरगअस्स भत्तुणो पुरदो एवं जाणईउत्तन्तं णिवेदम्ह। तदो जं होइ तं होदु।

—अयि मूढ़, अनर्थकारिणि सूर्पनखे!. तुमने अपने खाने के लिये जानकी को मार डाला है। भर्ता कुपित होकर जीवित अवस्था में ही हमलोगों को कुत्तों को खिलायेंगे। इसलिए चलो युद्ध में जाने के पूर्व ही भर्ता के समक्ष जानकी का समाचार निवेदन कर दें। फिर जो होना होगा सो देखेंगे।

लीलावती

मलयालम के सुप्रसिद्ध लेखक रामपाणिवाद की लिखी हुई यह एक वीथि है जिसकी रचना १८ वीं शताब्दी के मध्य में हुई थी।[1] वीथि में एक ही अंक रहता है जिसमें एक, दो या

---

१. जनरल ऑव द ट्रावनकोर यूनिवर्सिटी ओरिएण्टल मैनुस्क्रिप्ट लाईब्रेरी, ३, २-३, ट्रावनकोर, १९४७ में प्रकाशित।

अधिक से अधिक तीन पात्र रहते हैं, शृंगार रस की यहाँ प्रधानता होती है।[1] रामपाणिवाद राजा देवनारायण की सभा के एक विद्वान् थे और राजा का आदेश पाकर उन्होंने इस नाटक का अभिनय कराया था। लीलावती कर्नाटक के राजा की एक सुन्दर कन्या है। उसे कोई हरण न कर ले जाये इसलिये राजा उसे कुन्तल के राजा वीरपाल की रानी कलावती के पास सुरक्षित रख देता है। लेकिन वीरपाल राजकुमारी से प्रेम करने लगता है। यह देखकर कलावती को ईर्ष्या होती है। इस समय विदूषक रानी कलावती को साँप से डसवा देता है और फिर स्वयं ही उसे बचा लेता है। कलावती को आकाशवाणी सुनाई पड़ती है कि लीलावती से राजा का विवाह कर दो। अन्त में लीलावती और वीरपाल का विवाह हो जाता है। यही प्रेमकथा इस नाटक का कथानक है।

प्राकृत में सट्टक

भरत के नाट्यशास्त्र में सट्टक और नाटिका का उल्लेख नहीं मिलता। सर्वप्रथम भरत के नाट्यशास्त्र के टीकाकार अभिनवगुप्त (ईसवी सन् की १० वीं शताब्दी के आसपास) ने अपनी टीका में (नाट्यशास्त्र, जिल्द २, पृ० ४०७, गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज़, १६३४) कोहल आदि द्वारा लक्षित तोटक, सट्टक[2] और

---

१. वीथ्यामेको भवेदंकः कश्चिदेकोऽत्र कल्प्यते ।
आकाशभाषितैरुक्तैश्चित्रां प्रत्युक्तिमाश्रितः ॥
सूचयेद्भूरिशृंगारं किंचिदन्यान् रसान् प्रति ।
मुखनिर्वहणे संधी अर्थप्रकृतयोऽखिलाः ॥

—साहित्यदर्पण ६, २५३-४

२. डाक्टर ए० एन० उपाध्ये डोंबी, हल्लीशक, विदूषक, (प्राकृत के विउसो अथवा विउसओ रूप से) अज्जुका, भट्टदारिका, मार्ष आदि शब्दों की भाँति सट्टक शब्द को भी संस्कृत का रूप नहीं स्वीकार करते। उनका कहना है कि सट्टक शब्द संभवतः द्राविडी भाषा का शब्द है जो आट्ट शब्द से बना है जिसका अर्थ है नृत्य। शारदातनय

रासक की परिभाषा देते हुए सट्टक को नाटिका के समान बताया है। हेमचन्द्र (ईसवी सन् १०८६-११७२) के काव्यानुशासन (पृ० ४४४) के अनुसार सट्टक की रचना एक ही भाषा में होती है, नाटिका की भाँति संस्कृत और प्राकृत दोनों में नहीं। शारदातनय (ईसवी सन् ११७५-१२५०) के भावप्रकाशन (पृ० २४४, २५५, २६६) के अनुसार सट्टक नाटिका का ही एक भेद है जो नृत्य के ऊपर आधारित है। इसमें कैशिकी और भारती वृत्ति रहती हैं, रौद्ररस नहीं रहता और संधि नहीं होती। अङ्क के स्थान पर सट्टक में यवनिकांतर होता है, तथा इसमें छादन, स्खलन, भ्रान्ति और निह्नव का अभाव रहता है। साहित्य-दर्पण (६, २७६-२७७) के अनुसार सट्टक पूर्णतया प्राकृत में ही होता है और अद्भुत रस की इसमें प्रधानता रहती है। कर्पूर-मंजरीकार (१. ६) ने सट्टक को नाटिका के समान बताया है जिसमें प्रवेश, विष्कंभ और अङ्क नहीं होते।[1] सट्टक में अङ्क को यवनिका कहा जाता है। प्रायः किसी नायिका के नाम पर ही सट्टक का नाम रक्खा जाता है। राजशेखर ने इसे प्राकृतबंध (पाउडबंध) कहा है, नृत्य द्वारा इसका अभिनय किया जाता है (सट्टअम् णच्चिदव्वं)। कर्पूरमंजरी[2] प्राकृत का एक सुप्रसिद्ध सट्टक है।

कर्पूरमंजरी

कप्पूरमंजरी, विलासवती, चंदलेहा, आनंदसुंदरी और सिंगार-मंजरी इन पाँच सट्टकों में से विलासवती को छोड़कर बाकी के

ने भावप्रकाशन में सट्टक को नृत्यभेदात्मक बताया है। देखिये चन्दलेहा की भूमिका, पृ० २९।

१. सो सट्टओत्ति भण्णइ जो णाडिआइ अणुहरइ।
किं उण पवेसविक्खंभकाइं केवलं ण दीसंति॥ कर्पूरमंजरी १. ६

२. मनमोहनघोष द्वारा विद्वत्तापूर्णभूमिका सहित संपादित, युनिव-र्सिटी ऑव कलकत्ता द्वारा सन् १९३९ में प्रकाशित। स्टेन कोनो की कर्पूरमंजरी हार्वर्ड युनिवर्सिटी, कैम्ब्रिज से १९०१ में प्रकाशित।

सट्टक उपलब्ध हैं। इनमें कर्पूरमंजरी सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। कर्पूरमंजरी के रचयिता यायावरवंशीय राजशेखर (समय ईसवी सन् ६०० के लगभग) हैं। कर्पूरमंजरी के अतिरिक्त उन्होंने बालरामायण, बालभारत, विद्धशालभंजिका और काव्यमीमांसा की भी रचना की है। राजशेखर नाटककार की अपेक्षा कवि अधिक थे। अपनी भाषा के ऊपर उन्हें पूर्ण अधिकार है। वसंत, चन्द्रोदय, चर्चरी नृत्य आदि के वर्णन कर्पूरमंजरी में बहुत सुंदर बन पड़े हैं। कर्पूरमंजरी को प्राकृत में लिखने का नाटककार ने कारण बताया है—

परुसा सक्कअबंधा पाउअबंधो वि होई सुउमारो।
पुरिसमहिलाणं जेत्तिअमिहन्तरं तेत्तिअमिमाणं॥

—संस्कृत का गठन परुष और प्राकृत का गठन सुकुमार है। पुरुष और महिलाओं में जितना अन्तर होता है उतना ही अन्तर संस्कृत और प्राकृत काव्य में समझना चाहिये।

कर्पूरमंजरी में कुल मिलाकर १४४ गाथायें हैं जिनमें १७ प्रकार के छंद प्रयुक्त हुए हैं; इनमें शार्दूलविक्रीडित, वसन्ततिलका, श्लोक, स्रग्धरा आदि प्रधान हैं। गीति-सौन्दर्य जगह-जगह दिखाई देता है। इसमें शौरसेनी का प्रयोग हुआ है।[1]

प्रेम का लक्षण देखिये—

जस्सिं विअप्पघडणाइ कलंकमुक्को
अंतो मणम्मि सरलत्तणमेइ भावो।
एक्केक्कअस्स पसरन्तरसप्पवाहो
सिंगारवड्ढिअमणोहवदिण्णसारो॥ (जवनिकांतर ३)

---

१. स्टेन कोनो ने अपनी कर्पूरमजरी की प्रस्तावना में कर्पूरमंजरी के गद्यभाग में शौरसेनी और पद्यभाग में महाराष्ट्री प्राकृत पाये जाने का समर्थन किया था, और तदनुसार उन्होंने इस ग्रंथ का संपादन भी किया था, लेकिन डाक्टर मनमोहनघोष ने अपनी तर्कपूर्ण युक्तियों द्वारा इस मत को अमान्य किया है; देखिये मनमोहनघोष की कर्पूरमंजरी की भूमिका।

—जिसमें मन का आंतरिक भाव सरलता को प्राप्त होता है, जो विकल्पों के संघटन आदि और कलंक से मुक्त है, जिसमें एक दूसरे के लिए रस का प्रवाह बहता है, शृङ्गार द्वारा जो वृद्धि को प्राप्त होता है और मनोभव कामदेव से जिसका सार प्राप्त होता है वह प्रेम है।

यहाँ कौलधर्म के स्वरूप का व्याख्यान किया गया है—

रण्डा चण्डा दिक्खिदा धम्मदारा
मज्जं मंसं पिज्जए खज्जए अ।
भिक्खा भोज्जं चम्मखंडं च सेज्जा
कोलो धम्मो कस्स णो भादि रम्मो ॥ (जवनिकांतर १)

—कोई चण्ड रण्डा धर्मदारा के रूप में दीक्षित की गई है, मद्य का पान किया जाता है और मांस का भक्षण किया जाता है। भिक्षा माँग कर भोजन करते हैं, चर्मखंड पर शयन करते हैं, ऐसा कौलधर्म किसे प्रिय नहीं ?

विलासवती

विलासवती प्राकृतसर्वस्व के रचयिता मार्कण्डेय (ईसवी सन् की लगभग १७वीं शताब्दी) की कृति है। दुर्भाग्य से यह कृति अनुपलब्ध है। विश्वनाथ (१४वीं शताब्दी) के साहित्यदर्पण में विलासवती नाम के एक नाट्य रासक का उल्लेख मिलता है, संभवतः यह कोई दूसरी रचना हो। मार्कण्डेय ने अपने प्राकृत-सर्वस्व (५. १३१) में विलासवती की निम्नलिखित गाथा उद्धृत की है—

पाणाअ गओ भमरो लब्भइ दुक्खं गइंदेसु।
सुहाअ रज्ज किर होइ रण्णो ॥

चन्दलेहा

चन्दलेहा के कर्ता रुद्रदास पारशव वंश में उत्पन्न हुए थे तथा रुद्र और श्रीकण्ठ के शिष्य थे। ये कालिकट के रहनेवाले थे; सन् १६६० के आसपास इन्होंने चन्दलेहा की रचना की

थी। चन्दलेहा में चार यवनिकांतर है जिनमें मानवेद और चन्द्रलेखा के विवाह का वर्णन है। श्रृङ्गाररस की इसमें प्रधानता है; शैली ओजपूर्ण है। चन्दलेहा की शैली कर्पूरमंजरी की शैली से बहुत कुछ मिलती है; कर्पूरमंजरी के ऊपर यह आधारित है। काव्य की दृष्टि से यह एक सुन्दर रचना है, यद्यपि शब्दालंकारों और समासांत पदावलि के कारण इसमें कृत्रिमता आ गई है। पद्यों में प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन सुन्दर बन पड़े हैं। छन्दों की विविधता पाई जाती है। अन्य सट्टक रचनाओं की भांति इस पर भी संस्कृत का प्रभाव स्पष्ट है। वररुचि के प्राकृतप्रकाश के आधार पर इस ग्रन्थ की रचना की गई है, जिससे भाषा में कृत्रिमता का आ जाना स्वाभाविक है। सट्टक का यहाँ निम्न-लिखित लक्षण बताया है—

सो सट्टओ सहअरो किल णाडिआए
ताए चउज्जवणिअंतर-बंधुरंगो ।
चित्तत्थत्थसुत्तिअरसो परमेकभासो
विक्खंभआदिरहिओ कहिओ वुहेहिं ॥

—सट्टक नाटिका का सहचर होता है, उसमें चार यव-निकांतर होते हैं, विविध अर्थ और रस से वह युक्त होता है, उसमें एक ही भाषा बोली जाती है, और विष्कंभ आदि नहीं होते।

नवचन्द्र का चित्रण देखिये—

चन्दण-चच्चिअ-सव्व-दिसंतो
चारु-चओर-सुहाइ कुणंतो।
दीह-पसारिअ-दीहिइ-वुंदो
दीसइ दिण्ण-रसो णव-चन्दो ॥ (३. २१)

—समस्त दिशाओं को चन्दन से चर्चित करता हुआ, सुन्दर चकोर पक्षियों को सुख प्रदान करता हुआ, अपनी किरणों के समूह को दूर तक प्रसारित करता हुआ सरस नूतन चन्द्रमा दिखाई दे रहा है।

आनन्दसुन्दरी

आनन्दसुन्दरी[1] के कर्ता घनश्याम का जन्म ईसवी सन् १७०० में महाराष्ट्र में हुआ था। २६ वर्ष की अवस्था में ये तंजोर के तुक्कोजी प्रथम (सन् १७२६–३५) के मन्त्री रहे। घनश्याम महाराष्ट्रचूडामणि और सर्वभाषाकवि कहे जाते थे; सात-आठ उक्ति और लिपियों में निष्णात थे और कंठीरव के रूप में प्रसिद्ध थे। जैसे राजशेखर अपने आपको वाल्मीकि का तीसरा अवतार मानते थे, वैसे ही घनश्याम अपने को सरस्वती का अवतार समझते थे। इन्होंने ६४ संस्कृत, २० प्राकृत और २० भाषा के ग्रन्थों की रचना की है। ये ग्रन्थ नाटक, काव्य, चम्पू, व्याकरण, अलंकार और दर्शन आदि विषयों पर लिखे गये हैं। उन्होंने तीन सट्टकों की रचना की थी—बैकुंठचरित, आनन्दसुन्दरी तथा एक अन्य। इनमें से केवल आनन्दसुन्दरी ही उपलब्ध है। आनन्दसुन्दरी की रचना में राजशेखर की कर्पूरमंजरी की छाया कम है, मौलिकता अपेक्षाकृत अधिक। घनश्याम के अनुसार सट्टक में गर्भनाटक न होने से वह अपहासभाजन होता है, इसलिए आनन्दसुन्दरी में गर्भनाटक का समावेश किया गया है। इसमें चार जवनिकांतर हैं। प्राकृत इस समय बोल-चाल की भाषा नहीं रह गई थी, इसलिए लेखक प्राकृत व्याकरणों का अध्ययन करके साहित्य सर्जन किया करते थे। इसलिए पाणिवाद और रुद्रदास आदि लेखकों की भाँति घनश्याम की रचना में भी भाषा की कृत्रिमता ही अधिक दिखाई देती है। मराठी भाषा के बहुत से शब्द और धातुएँ यहाँ पाई जाती हैं। भट्टनाथ ने इस पर संस्कृत में व्याख्या लिखी है। आनन्दसुन्दरी को राजा को समर्पित करते समय धात्री की उक्ति देखिये—

---

१. डा० ए० एन० उपाध्ये द्वारा सम्पादित और मोतीलाल बनारसीदास, बनारस द्वारा १९५५ में प्रकाशित।

जम्मणो पहुदि वड्ढिदा मए
लालणेहि विविहेहि कण्णआ।
संपदं तुह करे समप्पिआ
से पिओ गुरुअणो सही तुमं ॥

—जन्म से विविध लालन-पालन के द्वारा जिस कन्या को मैंने बड़ा किया, उसे अब मैं तुम्हारे हाथ सौंप रही हूँ, अब तुम इसके प्रिय, गुरुजन और सखी सभी कुछ हो।

सिंगारमंजरी

विश्वेश्वर की शृङ्गार-मंजरी[1] प्राकृत साहित्य का दूसरा सट्टक है। विश्वेश्वर लक्ष्मीधर के पुत्र और शिष्य थे तथा अलमोड़ा के निवासी थे। इनका समय ईसवी सन् की १८वीं शताब्दी का पूर्वार्ध माना जाता है। विश्वेश्वर ने अल्पवय में ही अनेक ग्रन्थों की रचना की जिनमें नवमालिका नाम की नाटिका और शृङ्गार-मंजरी नामक सट्टक मुख्य हैं। डाक्टर ए० एन० उपाध्ये को इस सट्टक की हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध हुई हैं जिनके आधार पर उन्होंने अपनी चन्दलेहा की विद्वतापूर्ण भूमिका में इस ग्रन्थ का कथानक प्रस्तुत किया है। राजशेखर की कर्पूरमंजरी और शृङ्गारमंजरी के वर्णनों आदि में बहुत-सी समानतायें पायी जाती हैं। दोनों ही ग्रन्थकारों ने भास की वासवदत्ता, कालिदास के मालविकाग्निमित्र तथा हर्ष की रत्नावलि और प्रियदर्शिका का अनुकरण किया है। शृङ्गारमंजरी में कवि की मौलिक प्रतिभा के दर्शन होते हैं, भाषा-शैली उनकी प्रसादगुण से संपन्न है।

रंभामंजरी

रंभामंजरी के कर्ता प्रसन्नचन्द्र के शिष्य नयचन्द्र हैं[2] जो पहले विष्णु के उपासक थे और बाद में जैन हो गये थे। पट्-

१. काव्यमाला सीरीज़, भाग ८ में बम्बई से प्रकाशित।

२. रंभामंजरी में साहित्यिक मराठी के प्रयोग मिलते हैं, इस दृष्टि से यह ग्रन्थ बहुत महत्त्व का है—

भाषाओं में कवित्त करने में और राजाओं का मनोरंजन करने में ये कुशल थे। नयचन्द्र ने अपने आपको श्रीहर्ष और अमरचन्द्रकवि के समान प्रतिभाशाली बताया है। अपनी रंभामंजरी को भी उन्होंने कर्पूरमंजरी की अपेक्षा श्रेष्ठ कहते हुए उसमें कवि अमरचन्द्र का लालित्य और श्रीहर्ष की वक्रिमा स्वीकार की है। लेकिन वस्तुतः वसंत के वर्णन आदि प्रसंगों पर नयचन्द्र ने कर्पूरमंजरी को आदर्श मानकर ही अपने सट्टक की रचना की है। नाटककार के रूप में लेखक बहुत अधिक सफल हुए नहीं जान पड़ते। रंभामंजरी में तीन जवनिकांतर हैं, इसमें संस्कृत का भी प्रयोग हुआ है। नयचन्द्र का समय १४ वीं शताब्दी का

जरि पेखिला मस्तकावरी केशकलापु।
तरी परिस्खलिला मयूरांचे पिच्छप्रतापु॥
जरि नयनविषयु केला वेणीदंडु।
तरि सापाजालाभ्रमण(र)श्रेणीदंडु॥
जरि दृग्गोचरी आला विसाल भालु।
तरि अर्द्धचन्द्रमंडलु भइला ऊर्णायु जालु।
भ्रूजुगलु जाणु द्वैधीकृतकंदर्पचापु।
नयननिर्जितु जाला पंजनु निःप्रतापु॥
मुखमंडलु जाणु शशांक देवताचे मंडलु।
सर्वांगसुन्दरता मूर्त्तिमंतुकामु॥
कल्पद्रुम जैसे सर्वलोकआशाविश्रामु। (जवनिकांतर १)

—जब मस्तक के ऊपर केशकलाप देखा तो वह मयूर के पंख की शोभा जान पड़ी। वेणीदंड भ्रमरों की पंक्ति की भाँति प्रतीत हुई। विशाल मस्तक अर्धचन्द्र के मंडल की भाँति जान पड़ा। भ्रूयुगल कामदेव के टूटे हुए धनुष की भाँति जान पड़ा। तुम्हारे नयनों ने खंजन पक्षियों को प्रतापहीन कर दिया। मुखमंडल चन्द्रदेवता के मंडल के समान जान पड़ा। सर्व अंग की सुन्दरता मूर्तिमान काम के समान प्रतीत हुई। कल्पद्रुम की भाँति सब लोगों की आशा का विश्राम जान पड़ी।

अन्त माना जाता है।[1] इन्होंने हम्मीर महाकाव्य तथा अन्य अनेक जैनग्रन्थों की रचना की है।

एक उक्ति सुनिये—

रासहवसहतुरंगा जूआरा पंडिया डिंभा।
न सहंति इक्क इक्कं इक्केण विणा ण चिट्ठंति ॥

—रासभ, वृषभ, तुरंग, द्यूतकार, पंडित और बालक ये एक दूसरे के बिना अकेले नहीं रह सकते।

वसन्त के आगमन पर विरहिणियों की दशा देखिये—

मयंको सप्पंको मलयपवणा देहतवणा।
कहूसद्दो रुद्दो कुसुमसरसरा जीविदहरा ॥
वराईयं राई उवजणइ णिद्दंपि ण खणं।
कहं हा जीविस्से इह विरहिया दूरपहिया ॥

—वसन्त के आगमन पर जिसका पति विदेश गया हुआ है ऐसी विरहिणी कैसे जीवित रहेगी ? उसे मृगांक सर्पाक के समान प्रतीत होता है, मलय का शीतल पवन देह को संतप्त करता है, कोकिल की कुहू कुहू रौद्र मालूम होती है, कामदेव के बाण जीवन को अपहरण करने वाले जान पड़ते हैं,—उस बिचारी को रात्रि के समय एक क्षण भी नींद नहीं आती।



१. डा० पी० पीटर्सन और रामचन्द्र दीनानाथ शास्त्री द्वारा संपादित तथा निर्णयसागर प्रेस, बम्बई द्वारा सन् १८८९ में प्रकाशित।

दसवाँ अध्याय

प्राकृत-व्याकरण छन्द-कोष तथा अलंकार-ग्रन्थों में प्राकृत (ईसवी सन् की छठी शताब्दी से लेकर १८ वीं शताब्दी तक)

(क) प्राकृत-व्याकरण

संस्कृत का उद्‌भव वेदपाठी पुरोहितों के यहाँ हुआ था जब कि वैदिक ऋचाओं को उनके मूल रूप में सुरक्षित रखने के लिये संस्कृत भाषा की शुद्धता पर जोर दिया गया। प्राकृत के सम्बन्ध में यह बात नहीं थी। वह बोलचाल की भाषा थी, इसलिये संस्कृत की भाँति इस पर नियन्त्रण रखना कठिन था। प्राकृत भाषा के व्याकरण-सम्बन्धी नियम संस्कृत की देखा-देखी अपेक्षाकृत बहुत बाद में बने, इसलिये पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि जैसे वैयाकरणों का यहाँ अभाव ही रहा। प्राकृत के वैयाकरणों में चण्ड (ईसवी सन् की तीसरी-चौथी शताब्दी), वररुचि (ईसवी सन् की लगभग छठी शताब्दी) और हेमचन्द्र (ईसवी सन् ११००) मुख्य माने जाते हैं। इससे मालूम होता है कि प्राकृत भाषा को व्याकरणसम्मत व्यवस्थित रूप काफी बाद में मिला। यह भी ध्यान रखने की बात है कि जैसा प्रश्रय संस्कृत को ब्राह्मण विद्वानों से मिला, वैसा प्राकृत को नहीं मिल सका। उल्टे, प्राकृत को म्लेच्छों की भाषा उल्लिखित कर उसके पढ़ने और सुनने का निषेध ही किया गया।[1] वस्तुतः शिक्षा और व्याकरण की सहायता से जो सुनिश्चित और सुगठित

---

१. लोकायतम् कुतर्कम् च प्राकृतं म्लेच्छभाषितम्।
श्रोतव्यं द्विजेनैतद् अधो नयति तद् द्विजम्॥
(गरुडपुराण, पूर्व० ९८, १७)

रूप संस्कृत को मिला, प्राकृत उससे वंचित रह गई। व्याकरणों में वररुचि का प्राकृतव्याकरण सबसे अधिक व्यवस्थित और प्रामाणिक है। लेकिन इसके सूत्रों से अश्वघोष के नाटक, खरोष्ट्री लिपि के धम्मपद और अर्धमागधी में लिखे हुए जैन आगमों आदि की भाषाओं पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। अवश्य ही पैशाची भाषा—जिसका कोई भी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है—के नियमों का उल्लेख यहाँ मिलता है। इससे प्राकृत व्याकरणों की अपूर्णता का ही द्योतन होता है।[1]

प्राकृतप्रकाश

मार्कण्डेय ने अपने प्राकृतसर्वस्व के आरंभ में शाकल्य, भरत और कोहल नाम के प्राकृत व्याकरणकर्ताओं के नाम गिनाये हैं, इससे पता लगता है कि शाकल्य आदि ने भी प्राकृतव्याकरणों की रचना की है जिनसे मार्कण्डेय ने अपनी सामग्री ली है। वर्तमान लेखकों में भरत ने ही सर्वप्रथम प्राकृत भाषाओं के सम्बन्ध में विचार किया है।

वररुचि का प्राकृतप्रकाश[2] उपलब्ध व्याकरणों में सबसे प्राचीन है। इस पर कात्यायन (ईसवी सन् की छठी-सातवीं शताब्दी) कृत मानी जाने वाली प्राकृतमंजरी और भामह

---

१. देखिये मनमोहनघोष, कर्पूरमंजरी की भूमिका, पृ० १८।

२. डाक्टर सी० कुनहन राजा द्वारा सम्पादित, अडयार लाइब्रेरी, मद्रास द्वारा सन् १९४६ में प्रकाशित; भामह और कात्यायन की वृत्तियों और बंगाली अनुवाद के साथ वसन्तकुमार शर्मा चट्टोपाध्याय द्वारा सम्पादित, सन् १९१४ में कलकत्ता से प्रकाशित। इसका प्रथम संस्करण हर्टफोर्ड से ईसवी सन् १८५४ में छपा था। दूसरा संस्करण कौवेल ने अपनी टिप्पणियों और अनुवाद के साथ भामह की टीका सहित सन् १८६८ में लंदन से प्रकाशित कराया। इसका नया संस्करण रामशास्त्री तैलंग ने सन् १८९९ में बनारस से निकाला। तत्पश्चात् वसंतराज की प्राकृतसंजीवनी और सदानन्द की सदानन्दा नाम की टीकाओं सहित सरस्वतीभवन सीरीज़, बनारस से सन् १९२७ में प्रकाशित। फिर

(ईसवी सन् की सातवीं-आठवीं शताब्दी) कृत मनोरमा, वसंतराजकृत प्राकृतसंजीवनी (ईसवी सन् की १४वीं–१५वीं शताब्दी) तथा सदानन्दकृत सदानन्दा और नारायणविद्याविनोद-कृत प्राकृतपाद नाम की टीकायें लिखी गई हैं जिससे इस व्याकरण की लोकप्रियता का अनुमान किया जा सकता है। कंसवहो और उसाणिरुद्ध के रचयिता मलाबार के निवासी रामपाणिवाद ने भी इस पर टीका[1] लिखी है। केरलानिवासी कृष्णलीलाशुक ने इस के नियमों को समझाने के लिए सिरि-चिंधकव्व नाम का काव्य लिखा है। इससे पता लगता है कि प्राकृतप्रकाश का दक्षिण में भी खूब प्रचार हुआ। इस ग्रन्थ में १२ परिच्छेद हैं, इनमें नौ परिच्छेदों में महाराष्ट्री प्राकृत के लक्षणों का वर्णन है, दसवें परिच्छेद में पैशाची और ग्यारहवें में मागधी के लक्षण बताये हैं। ये दोनों परिच्छेद बाद के माने जाते हैं, तथा भामह अथवा अन्य किसी टीकाकार के लिखे हुए बताये जाते हैं। १२वें परिच्छेद में शौरसेनी का विवेचन है, इस पर भामह की टीका नहीं है, इससे यह परिच्छेद भी बाद का जान पड़ता है। प्राकृतसंजीवनी और प्राकृतमंजरी में केवल महाराष्ट्री का ही वर्णन मिलता है। जान पड़ता है ये तीनों परिच्छेद हेमचन्द्र के समय से पहले ही सम्मिलित कर लिये गये थे। शौरसेनी को यहाँ प्रधान प्राकृत बताया है, महाराष्ट्री का उल्लेख नहीं है। इससे यही अनुमान किया जाता है कि वररुचि के समय तक महाराष्ट्री का उत्कर्ष नहीं हुआ था।

डाक्टर पी० एल० वैद्य द्वारा पूना ओरिएण्टल सीरीज़ से सन् १९३१ में प्रकाशित। युनिवर्सिटी ऑव कलकत्ता द्वारा सन् १९४३ में प्रकाशित, दिनेशचन्द्र सरकार की 'ग्रामर ऑव द प्राकृत लैंग्वेज' में प्राकृतप्रकाश का अंग्रेजी अनुवाद दिया है। के० पी० त्रिवेदी ने इसे गुजराती अनुवाद के साथ नवसारी से सन् १९५७ में प्रकाशित किया है।

१. इस टीका में गाथासप्तशती, कर्पूरमंजरी, सेतुबंध और कंसवहो आदि से उद्धरण प्रस्तुत किये गए हैं।

प्राकृतलक्षण

प्राकृत का दूसरा व्याकरण चण्ड का प्राकृतलक्षण है जिसमें तीन अध्यायों में ६६ सूत्रों में प्राकृत का विवेचन है।[1] वीर भगवान् को नमस्कार कर वृद्धमत का अनुसरण कर चण्ड ने इस व्याकरण की रचना की है। अपभ्रंश, पैशाची और मागधी का यहाँ एक-एक सूत्र में उल्लेख कर उनकी सामान्य विशेषतायें बताई हैं। कुछ विद्वान् इस व्याकरण को प्राचीन कहते हैं, कुछ का मानना है कि अन्य ग्रंथों के आधार से इसकी रचना हुई है।

प्राकृतकामधेनु

लंकेश्वर ने प्राकृतकामधेनु अथवा प्राकृतलंकेश्वररावण की रचना की है।[2] ग्रंथ के मंगलाचरण से मालूम होता है कि लंकेश्वर के प्राकृतव्याकरण के ऊपर अन्य कोई विस्तृत ग्रन्थ था जिसे संक्षिप्त कर प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना की गई है। यहाँ ३४ सूत्रों में प्राकृत के नियमों का विवेचन है; बहुत से सूत्र अस्पष्ट हैं। ११वें सूत्र में अ के स्थान में उ का प्रतिपादन कर (जैसे गृह = घरु) अपभ्रंश की ओर इंगित किया है। अन्तिम सूत्र में योषित् के स्थान में महिला शब्द का प्रयोग स्वीकार किया है।

संक्षिप्तसार

हेमचन्द्र के सिद्धहेम की भाँति क्रमदीश्वर ने भी संक्षिप्तसार नाम के एक संस्कृत-प्राकृत व्याकरण की रचना की है;[3] इसके

---

१. भूमिका आदि सहित हार्नेल द्वारा सन् १८८० में कलकत्ता से प्रकाशित। सत्यविजय जैन ग्रंथमाला की ओर से अहमदाबाद से भी सन् १९२९ में प्रकाशित।

२. डाक्टर मनोमोहनघोष द्वारा संपादित प्राकृतकल्पतरु के साथ परिशिष्ट नंबर २ में पृष्ठ १७०–१७३ पर प्रकाशित।

३. सबसे पहले लास्सेन ने अपने इन्स्टीट्यूत्सीओनेस में इसके

प्राकृतपाद नाम के आठवें अध्याय में प्राकृतव्याकरण लिखा गया है, शेष सामग्री की सजावट, पारिभाषिक शब्दों के नाम आदि में दोनों में कोई साम्य नहीं। क्रमदीश्वर ने भी वररुचि का ही अनुगमन किया है। इनके संक्षिप्तसार पर कई टीकायें लिखी गई हैं। स्वयं क्रमदीश्वर की एक स्वोपज्ञ टीका है, इस टीका की एक व्याख्या भी है। केवल प्राकृतपाद की टीका चण्डीदेवशर्मन् ने प्राकृतदीपिका नाम से की है। क्रमदीश्वर का समय ईसवी सन् की १२वीं–१३वीं शताब्दी माना गया है।

प्राकृतानुशासन

इसके कर्ता पुरुषोत्तम हैं जो ईसवी सन् की १२ वीं शताब्दी में हुए हैं।[1] ये बंगाल के निवासी थे। इसमें तीन से लगाकर बीस अध्याय हैं,—तीसरा अध्याय अपूर्ण है। नौंवे अध्याय में शौरसेनी और दसवें में प्राच्या के नियम दिये हैं। प्राच्या को लोकोक्ति-बहुल बताया है,—इसके शेष रूप शौरसेनी के समान होते हैं। ग्यारहवें अध्याय में अवन्ती और बारहवें में मागधी का विवेचन है। तत्पश्चात् विभाषाओं में शाकारी, चांडाली, शाबरी और टक्कदेशी के नियम बताये हैं। शाकारी में क और टक्की में उद् की बहुलता पाई जाती है। इसके बाद अपभ्रंश में नागरक, ब्राचड, उपनागर आदि का विवेचन है। अन्त में कैकेय, पैशाचिक और शौरसेनी पैशाचिक के लक्षण दिये हैं।

संबंध में विस्तारपूर्वक लिखा है। इनका 'राडिकेस प्राकृतिकाएँ' सन् १८३९ में डेलिउस द्वारा प्रकाशित हुआ है। फिर राजेन्द्रलाल मित्र ने प्राकृतपाद का सम्पूर्ण संस्करण बिब्लिओथिका इंडिका में प्रकाशित कराया। इसका नया संस्करण सन् १८८९ में कलकत्ते से छपा था।

१. एल० नित्ती डौल्ची द्वारा महत्त्वपूर्ण फ्रेञ्च की भूमिका सहित सन् १९३८ में पेरिस से प्रकाशित। डाक्टर मनोमोहनघोष द्वारा संपादित प्राकृतकल्पतरु के साथ परिशिष्ट १ में पृ० १५६-१६९ तक अंग्रेजी अनुवाद के साथ प्रकाशित।

प्राकृतकल्पतरु

प्राकृतकल्पतरु के कर्ता रामशर्मा तर्कवागीश भट्टाचार्य हैं जो बंगाल के रहने वाले थे।[1] इनका समय ईसवी सन् की १७ वीं शताब्दी माना जाता है। रामशर्मा ने विषय के विवेचन में पुरुषोत्तम के प्राकृतानुशासन का ही अनुगमन किया है। इस पर लेखक की स्वोपज्ञ टीका है। इसमें तीन शाखायें हैं। पहली शाखा में दस स्तवक हैं जिनमें महाराष्ट्री के नियमों का प्रतिपादन है। दूसरी शाखा में तीन स्तवक हैं जिनमें शौरसेनी, प्राच्या, आवन्ती, बाह्लीकी, मागधी, अर्धमागधी और दाक्षिणात्या का विवेचन है। प्राच्या का विदूषक आदि द्वारा बोले जाने का यहाँ उल्लेख है। आवन्ती की सिद्धि शौरसेनी और प्राच्या के संमिश्रण से बताई गई है। आवन्ती और बाह्लीकी भाषायें नगराधिप, द्वारपाल, धूर्त, मध्यम पात्र, दण्डधारी और व्यापारियों द्वारा बोली जाती थीं। मागधी राक्षस, भिक्षु और क्षपणक आदि द्वारा बोली जाती थी, तथा महाराष्ट्री और शौरसेनी इसका आधार था। दाक्षिणात्या के सम्बन्ध में कहा है कि पदों से मिश्रित, संस्कृत आदि भाषाओं से युक्त इसका काव्य अमृत से भी अधिक सरस होता है। विभाषाओं में शाकारिक, चांडालिका, शाबरी, आभीरिका और टक्की का विवेचन है। राजा के साले, मदोद्धत, चपल और अतिमूर्ख को शाकार कहा है। शाकार द्वारा बोली जानेवाली भाषा शाकारिका कही जाती है। इसको ग्राम्य, निरर्थक, क्रमविरुद्ध, न्याय-आगम आदि विहीन, उपमानरहित और पुनरुक्तियों सहित कहा गया है। इस विभाषा के पदों के दोष को गुण माना गया है। चाण्डाली शौरसेनी और मागधी का मिश्रण है।

---

१. डाक्टर मनमोहनघोष द्वारा संपादित, एशियाटिक सोसायटी कलकत्ता द्वारा १९५४ में प्रकाशित। इसी के साथ पुरुषोत्तम का प्राकृतानुशासन, लंकेश्वर का प्राकृतकामधेनु और विष्णुधर्मोत्तर का प्राकृतलक्षण भी प्रकाशित है।

इसमें ग्राम्योक्तियों की बहुलता रहती है। शाबरी मागधी से बनी है। अंगारिक (कोयला जलानेवाले), व्याध तथा नाव और काष्ठ उपजीवी इसका प्रयोग करते हैं। मागधी पात्रों के भेद से आभीरिका, द्राविडिका, औत्कली, वानौकसी और मान्दुरिका नाम की विभाषाओं में विभाजित है। आभीरिका शाबरी से सिद्ध होती है। इस विभाषा के यहाँ कुछ ही रूप लिये हैं, शेष रूपों को उनके प्रयोगों से जानने का आदेश है। टक्की भाषा जुआरी और धूर्तों के द्वारा बोली जाती थी। शाकारी, औड्री और द्राविडी विभाषाओं के संबंध में कहा है कि यद्यपि ये अपभ्रंश में अन्तर्भूत होती हैं, लेकिन यदि नाटक आदि में इनका प्रयोग होता है तो वे अपभ्रंश नहीं कही जातीं। तीसरी शाखा में नागर, अपभ्रंश, व्राचड, अपभ्रंश तथा पैशाचिक का विवेचन है। पैशाचिक के दो भेद हैं—एक शुद्ध, दूसरा संकीर्ण। कैकय, शौरसेन पांचाल, गौड, मागध और व्राचड पैशाचिक का यहाँ विवेचन किया है।

प्राकृतसर्वस्व

प्राकृतसर्वस्व के कर्ता मार्कण्डेय हैं जो उड़ीसा के रहनेवाले थे। मुकुन्ददेव के राज्य में उन्होंने इस ग्रन्थ की रचना की थी।[1] इनका समय ईसवी सन् की १७वीं शताब्दी है। मार्कण्डेय ने ग्रन्थ के आदि में शाकल्य, भरत, कोहल, वररुचि, भामह, वसन्तराज आदि का नामोल्लेख किया है जिनके ग्रन्थों का अवलोकन कर उन्होंने प्राकृतसर्वस्व की रचना की। यहाँ अनिरुद्धभट्ट, भट्टिकाव्य, भोजदेव, दण्डी, हरिश्चन्द्र, कपिल, पिंगल, राजशेखर, वाक्पतिराज तथा सप्तशती और सेतुबन्ध का उल्लेख है। महाराष्ट्री, शौरसेनी और मागधी के सिवाय प्राकृत की अन्य बोलियों का ज्ञान प्राप्त करने के लिये यह

---

१. भट्टनाथस्वामि द्वारा संपादित, ग्रन्थप्रदर्शिनी, विज़गापट्टम से १९२७ में प्रकाशित।

व्याकरण अत्यन्त उपयोगी है। यहाँ २० पादों में भाषा, विभाषा, अपभ्रंश और पैशाची का वर्णन किया है। भाषाओं में महाराष्ट्री, शौरसेनी, प्राच्या, आवन्ती और मागधी के नाम गिनाये गये हैं। महाराष्ट्री प्राकृत के नियम आठ पादों में हैं, यह भाग वररुचि के आधार पर लिखा गया है। नौवें पाद में शौरसेनी, दसवें में प्राच्या, ग्यारहवें में आवन्ती और बाह्लीकी तथा बारहवें में मागधी और अर्धमागधी के नियम बताये हैं। अर्धमागधी के संबंध में कहा है कि यह शौरसेनी से दूर न रहनेवाली मागधी ही है। तेरहवें से सोलहवें पाद तक शाकारी, चांडाली, शाबरी, औड्री, आभीरिका और टक्की नाम की पाँच विभाषाओं का वर्णन है। सतरहवें-अठारहवें पाद में नागर, व्राचड और उपनागर इन तीन अपभ्रंशों का विवेचन है। उन्नीसवें और बीसवें पाद में पैशाची के नियम बताये हैं। कैकय, शौरसेन और पांचाल ये पैशाची के भेद हैं। इस प्रकार भाषा, विभाषा आदि के सब मिलाकर सोलह भेद होते हैं। मार्कण्डेय ने व्राचड को सिंध की बोली माना है।

सिद्धहेमशब्दानुशासन (प्राकृतव्याकरण)

प्राकृत के पश्चिमी प्रदेश के विद्वानों में आचार्य हेमचन्द्र (सन् १०८८-११७२) का नाम सर्वप्रथम है। उनका प्राकृत-व्याकरण सिद्धहेमशब्दानुशासन का आठवाँ अध्याय है। सिद्धराज को अर्पित किये जाने और हेमचन्द्र द्वारा रचित होने के कारण इसे सिद्धहेम कहा गया है। हेमचन्द्र की इस पर प्रकाशिका नाम की[1] स्वोपज्ञ वृत्ति है। इस पर और भी टीकायें हैं। उदयसौभाग्य-गणि ने हेमचन्द्रीय वृत्ति पर हेमप्राकृतवृत्तिढुंढिका नामकी टीका

१. पिशल द्वारा सम्पादित, ईसवी सन् १८७७-८० में हाल्ले आमज़ार से प्रकाशित। पी० एल० वैद्य द्वारा सम्पादित, सन् १९३६ में भंडारकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टिट्यूट, पूना से प्रकाशित; संशोधित संस्करण १९५८ में प्रकाशित।

लिखी है। नरचन्द्रसूरि ने भी हेमचन्द्र के प्राकृतव्याकरण की टीका बनाई है। इस व्याकरण में चार पाद हैं। पहले तीन पादों में और चौथे पाद के कुछ अंश में सामान्य प्राकृत, जिसे हेमचन्द्र ने आर्ष प्राकृत कहा है, के लक्षण बताये गये हैं। तत्पश्चात् चौथे पाद के अन्तिम भाग में शौरसेनी (२६०–२८६ सूत्र), मागधी (२८७–३०२), पैशाची (३०३–२४), चूलिका-पैशाची (३२५–३२८) और फिर अपभ्रंश (३२९–४४६) का विवेचन किया गया है। 'कश्चित्', 'केचित्', 'अन्ये' आदि शब्दों के प्रयोगों से मालूम होता है कि हेमचन्द्र ने अपने से पहले के व्याकरणकारों से भी सामग्री ली है[1]। यहाँ मागधी का विवेचन करते हुए प्रसंगवश एक नियम अर्धमागधी के लिये भी दे दिया है। इसके अनुसार अर्धमागधी में पुल्लिंग कर्ता के एक वचन में अ के स्थान में एकार हो जाता है (वस्तुतः यह नियम मागधी भाषा के लिये लागू होता है)। जैन आगमों के प्राचीन सूत्रों को अर्धमागधी में रचित कहा गया है (पोराणमद्धमागह-भासानिययं हवइ सुत्तं)। अपभ्रंश का यहाँ विस्तृत विवेचन है। अपभ्रंश के अनेक अज्ञात ग्रंथों से शृङ्गार, नीति और वैराग्य-सम्बन्धी सरस दोहे उद्धृत किये गये हैं।

प्राकृतशब्दानुशासन

प्राकृतशब्दानुशासन के कर्ता त्रिविक्रम हैं।[2] इन्होंने मङ्गलाचरण में वीर भगवान् को नमस्कार किया है तथा धवला के कर्ता वीरसेन और जिनसेन आदि आचार्यों का स्मरण किया है, इससे मालूम होता है कि वे दिगम्बर जैन थे। त्रैविद्यमुनि

१. देखिये पिशल, प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, पृष्ठ ७७।

२. इसका प्रथम अध्याय ग्रंथ प्रदर्शिनी, विज़गापट्टम से सन् १८९६ में प्रकाशित; टी० लडडू द्वारा सन् १९१२ में प्रकाशित, डाक्टर पी० एल० वैद्य द्वारा संपादित, जीवराज जैन ग्रंथमाला, शोलापुर की ओर से सन् १९५४ में प्रकाशित।

अर्हनन्दि के समीप बैठकर उन्होंने जैनशास्त्रों का अभ्यास किया था। उन्होंने अपने आपको सुकवि रूप में उल्लिखित किया है, यद्यपि अभी तक उनका कोई काव्य-ग्रंथ प्रकाश में नहीं आया। इनका समय ईसवी सन् की १३वीं शताब्दी माना जाता है। त्रिविक्रम ने साधारणतया हेमचन्द्र के सिद्धहेम (प्राकृतव्याकरण) का ही अनुगमन किया है। हेमचन्द्र की भाँति इन्होंने भी आर्ष (प्राकृत) का उल्लेख किया है, लेकिन उनके अनुसार देश्य और आर्ष दोनों रूढ़ होने के कारण स्वतन्त्र हैं इसलिये उनके व्याकरण की आवश्यकता नहीं; संप्रदाय द्वारा ही उनके सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। यहाँ उसी प्राकृत के व्याकरण के नियम दिये हैं जिनके शब्दों की खोज साध्यमान संस्कृत और सिद्ध संस्कृत से की जा सकती है।[1] त्रिविक्रम ने इस व्याकरण पर स्वोपज्ञ वृत्ति की रचना की है। प्राकृत रूपों के विवेचन में उन्होंने हेमचन्द्र का आश्रय लिया है। इसमें तीन अध्याय हैं,— प्रत्येक में चार-चार पाद हैं। प्रथम, द्वितीय और तृतीय अध्याय के प्रथम पाद में प्राकृत का विवेचन है। तत्पश्चात् तृतीय अध्याय के दूसरे पाद में शौरसेनी (१-२६), मागधी (२७-४२), पैशाची (४३-६३), और चूलिकापैशाची (६४-६७) के नियम दिये हुए हैं। तीसरे और चौथे पादों में अपभ्रंश का विवेचन है।

प्राकृतरूपावतार

इसके कर्ता समुद्रबंधयज्वन् के पुत्र सिंहराज हैं जो ईसवी सन् की १५वीं शताब्दी के प्रथमार्ध के विद्वान् माने जाते हैं।[2]

---

१. तद्भव शब्द दो प्रकार के होते हैं—साध्यमान संस्कृतभव और सिद्ध संस्कृतभव। जो प्राकृत शब्द उन संस्कृत शब्दों का, बिना उपसर्ग और प्रत्यय के, मूलरूप बताते हैं जिनसे कि वे बने हैं, पहली श्रेणी में आते हैं। जो व्याकरण से सिद्ध संस्कृत रूपों से बने हैं ऐसे प्राकृत शब्द दूसरी श्रेणी में आते हैं (जैसे वन्दिता) संस्कृत वन्दित्वा से बना है।

२. हुल्त्श द्वारा सम्पादित, रॉयल एशियाटिक सोसायटी की ओर से सन् १९०९ में प्रकाशित।

परम्परा द्वारा इस व्याकरण के कर्ता वाल्मीकि कहे गये हैं। सिंहराज ने अपने ग्रन्थ में पूर्व (१२-४२), कौमार (कांतत्र) और पाणिनीय (२-२) का उल्लेख किया है। वस्तुतः त्रिविक्रम का आधार मानकर यह व्याकरण लिखा गया है। इसके छः भाग हैं जो २२ अध्यायों में विभाजित हैं। प्राकृत शब्द तीन प्रकार के बताये हैं—संस्कृतसम, संस्कृतभव और देशी। १८वें अध्याय में शौरसेनी, १९वें में मागधी, २०वें में पैशाची, २१ वें में चूलिकापैशाची और २२वें अध्याय में अपभ्रंश का विवेचन है। संज्ञा और क्रियापदों की रूपावलि के ज्ञान के लिये यह व्याकरण बहुत उपयोगी है।

षड्भाषाचन्द्रिका

षड्भाषाचन्द्रिका[1] में लक्ष्मीधर ने प्राकृतों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। उन्होंने प्राकृत[2], शौरसेनी[3], मागधी,[4] पैशाची, चूलिकापैशाची[5] और अपभ्रंश[6] इन छह भाषाओं का

---

१. कमलाशंकर प्राणशंकर त्रिवेदी द्वारा सम्पादित बाम्बे संस्कृत और प्राकृत सीरज़ में सन् १९१६ में प्रकाशित।

२. लक्ष्मीधर ने प्राकृत को महाराष्ट्रोद्भव कहा है। इसके समर्थन में उन्होंने आचार्य दण्डी का प्रमाण दिया है। स्वोपज्ञवृत्ति में लेखक ने सब स्त्रियों और नीच जाति के लोगों द्वारा प्राकृत बोले जाने का निर्देश किया है (श्लोक ३२-३३)।

३. शौरसेनी छद्मवेषधारी साधुओं, किन्हीं के अनुसार जैनों तथा अधम और मध्यम लोगों द्वारा बोली जाती थी (श्लोक ३४)।

४. मागधी धीवर आदि अतिनीच पुरुषों द्वारा बोली जाती थी (श्लोक ३५)।

५. पैशाची और चूलिकापैशाची राक्षस, पिशाच और नीच व्यक्तियों द्वारा बोली जाती थी (श्लोक ३५)। यहाँ पर पांड्य, केकय, बाह्लीक, सिंह, नेपाल, कुन्तल, सुधेष्ण, भोज, गांधार, हैव और कन्नौज देशों की गणना पिशाच देशों में की गई है। (श्लोक २९-३०)

६. अपभ्रंश आभीर आदि की बोली थी और कविप्रयोग के लिये

विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। जैसा हम ऊपर देख आये हैं आचार्य हेमचन्द्र ने भी भाषाओं का यही विभाग किया है।[1] अपभ्रंश का भी लक्ष्मीधर ने विस्तृत विवेचन किया है, अन्तर इतना ही है कि हेमचन्द्र की भाँति उन्होंने अपभ्रंश के ग्रन्थों में से उदाहरण नहीं दिये। लक्ष्मीधर लक्ष्मणसूरि के नाम से भी कहे जाते थे, ये आंध्रदेश के रहनेवाले शिवोपासक थे। त्रिविक्रम की वृत्ति के आधार पर उन्होंने षड्भाषाचन्द्रिका की रचना की है। त्रिविक्रम, हेमचन्द्र और भामह को गुरु मानकर प्रस्तुत ग्रन्थ में इन्हीं की रचनाओं को उन्होंने संक्षेप में प्रस्तुत किया है। लक्ष्मीधर की अन्य रचनाओं में गीतगोविन्द और प्रसन्नराघव की टीकायें मुख्य हैं।

प्राकृतमणिदीप

प्राकृतमणिदीप (अथवा प्राकृतमणिदीपिका) के कर्ता अप्पयदीक्षित हैं जो शैवधर्मानुयायी थे।[2] ईसवी सन् १५५३–१६३६ में ये विद्यमान थे। उन्होंने शिवार्कमणिदीपिका आदि शैवधर्म के अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की है। कुवलयानन्द के भी ये कर्ता हैं। अप्पयदीक्षित ने त्रिविक्रम, हेमचन्द्र और लक्ष्मीधर का उल्लेख अपने ग्रन्थ में किया है। ग्रन्थकार के कथनानुसार पुष्पवननाथ, वररुचि और अप्पयज्वन् ने जो

यह अयोग्य समझी जाती थी (श्लोक ३१)। इसके समर्थन में लेखक ने दंडी का उद्धरण दिया है।

१. भामकवि की षड्भाषाचन्द्रिका, दुर्गणाचार्य की षड्भाषारूपमालिका तथा षड्भाषामंजरी, षड्भाषासुबंतादर्श और षड्भाषाविचार में भी इन्हीं छह भाषाओं का विवेचन है, देखिये षड्भाषाचन्द्रिका की भूमिका पृष्ठ ४।

२. श्रीनिवास गोपालाचार्य की टिप्पणी सहित ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टिट्यूट पब्लिकेशन्स युनिवर्सिटी ऑव मैसूर की ओर से सन् १९५४ में प्रकाशित।

वार्तिकार्णवभाष्य आदि की रचना की वे बहुत विस्तृत थे, अतएव उन्होंने संक्षेप रुचिवाले पाठकों के लिये मणिदीपिका लिखी है। श्रीनिवासगोपालाचार्य ने इस व्याकरण पर संस्कृत में टिप्पणी लिखी है।

प्राकृतानन्द

प्राकृतानन्द के रचयिता पंडित रघुनाथ कवि ज्योतिर्वित् सरस के पुत्र थे[1]। ये १८वीं शताब्दी में हुए हैं। इस ग्रन्थ में ४१६ सूत्र हैं। प्रथम परिच्छेद में शब्द और दूसरे में धातु-विचार किया गया है। जैसे सिंहराज ने त्रिविक्रम के सूत्रों को प्राकृतरूपावतार में सजाया है, वैसे ही रघुनाथ ने वररुचि के प्राकृतप्रकाश के सूत्रों को बड़े ढंग से प्राकृतानन्द में सजाया है।

प्राकृत के अन्य व्याकरण

इसके सिवाय जैन और अजैन विद्वानों ने और भी प्राकृत के अनेक व्याकरण लिखे। शुभचन्द्र ने हेमचन्द्र का अनुकरण करके शब्दचिंतामणि,[2] श्रुतसागर ने औदार्यचिन्तामणि[3], समन्तभद्र ने प्राकृतव्याकरण और देवसुंदर ने प्राकृतयुक्ति[4] की रचना की। धवला के टीकाकार वीरसेन ने भी किसी अज्ञात-कर्तृक पद्यात्मक व्याकरण के सूत्रों का उल्लेख किया है। इस

---

१. यह ग्रंथ सिंघी जैन ग्रन्थमाला में प्रकाशित हो रहा है। मुनि जिनविजय जी की कृपा से इसकी मुद्रित प्रति मुझे देखने को मिली है।

२. देखिये डाक्टर ए० एन० उपाध्ये का एनल्स ऑव भंडारकर ओरिएण्टल इंस्टिट्यूट (जिल्द १३, पृ० ३७–३८) में 'शुभचन्द्र और उनका प्राकृत व्याकरण' नामक लेख।

३. भट्टनाथस्वामिन् (पृ० २९–४४) द्वारा प्रकाशित, प्रकाशन का समय नहीं दिया है।

४. देखिये जैन ग्रन्थावलि (पृष्ठ ३०७) में हस्तलिखित ग्रंथों की सूची।

व्याकरणकार का समय ईसवी सन् की ८वीं शताब्दी से १२वीं शताब्दी के बीच माना गया[1] है। अजैन विद्वानों में नरसिंह ने प्राकृतशब्दप्रदीपिका, कृष्णपंडित अथवा शेषकृष्ण ने प्राकृतचन्द्रिका[2] और प्राकृतपिंगल-टीका के रचयिता वामनाचार्य ने प्राकृतचन्द्रिका लिखी। इसी प्रकार प्राकृतकौमुदी, प्राकृतसाहित्यरत्नाकर,[3] षड्भाषासुबन्तादर्श, भाषार्णव आदि ग्रन्थ लिखे गये।[4]

यूरोप के विद्वानों ने प्राकृत के व्याकरणों का आधुनिक ढंग से सांगोपांग अध्ययन किया। सबसे पहले होएफर ने 'डे प्राकृत डिआलेक्टो लिब्रिदुओ' (बर्लिन से सन् १८३६ में प्रकाशित) नामक पुस्तक लिखी। प्रायः इसी समय लास्सन ने 'इन्स्टीट्यूत्सीओनेस लिंगुआए प्राकृतिकाए' (बौन से सन् १८३९ में प्रकाशित) प्रकाशित की, जिसमें उन्होंने प्राकृतसम्बन्धी प्रचुर सामग्री एकत्रित कर दी। वेबर ने महाराष्ट्री और अर्धमागधी पर काम किया। एडवर्ड म्यूलर ने अर्धमागधी और हरमन याकोबी ने महाराष्ट्री का गम्भीर अध्ययन किया। कौवेल ने 'ए शार्ट इन्ट्रोडक्शन टू द आर्डिनरी प्राकृत ऑव द संस्कृत ड्रामाज़ विद् ए लिस्ट ऑव कॉमन इर्रेगुलर प्राकृत वर्ड्स' (लन्दन से १८७५ में प्रकाशित) पुस्तक लिखी। हौग ने फैरग्लाइशुंगडेस प्राकृता मित डेन रोमानिशन् श्प्राखन्' (बर्लिन से सन् १८६९— में प्रकाशित) पुस्तक प्रकाशित की। होएर्नले ने भी प्राकृत व्युत्पत्तिशास्त्रों पर काम किया।[5] रिचर्ड पिशल का 'ग्रामेटिक डेर

---

१. देखिये डाक्टर हीरालाल जैन का भारतकौमुदी (पृष्ठ ३१५–२२) में 'ट्रेसेज़ ऑव ऐन ओल्ड मीट्रिकल ग्रामर' नामक लेख। भारतकौमुदी के इस अंक का समय नहीं ज्ञात हो सका।

२. यह श्लोकबद्ध है। पीटर्सन की थर्ड रिपोर्ट में पृष्ठ ३४२–४८ पर इसके उद्धरण दिये हैं।

३. शकुन्तलानाटक की चन्द्रशेखरकृत टीका में उल्लिखित।

४. देखिये पिशल, प्राकृतभाषाओं का व्याकरण, पृष्ठ ८८–९।

५. देखिये पिशल, प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, पृष्ठ ९२–३।

प्राकृत श्प्राखेन' (स्ट्रैसबर्ग से सन् १६०० में प्रकाशित) 'प्राकृत भाषाओं का व्याकरण' नाम से डाक्टर हेमचन्द्र जोशी द्वारा हिन्दी में अनूदित होकर बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना से प्रकाशित हो चुका है।

(ख) छन्दोग्रन्थ

वृत्तजातिसमुच्चय

व्याकरण की भाँति काव्य को सार्थक बनाने के लिये छंद की भी आवश्यकता होती है। छंद के ऊपर भी प्राकृत में ग्रन्थों की रचना हुई। वृत्तजातिसमुच्चय छंदशास्त्र का प्राकृत में लिखा हुआ एक महत्त्वपूर्ण प्राचीन ग्रंथ है जिसके कर्ता का नाम विरहांक है।[1] विरहांक जाति के ब्राह्मण थे तथा संस्कृत और प्राकृत के विद्वान् थे। दुर्भाग्य से ग्रन्थ के कर्ता का वास्तविक नाम जानने के हमारे पास साधन नहीं हैं। विरहांक ने अपनी प्रिया को लक्ष्य करके इस ग्रन्थ की रचना की है। ग्रन्थ के आदि में ग्रन्थकर्ता ने सरस्वती को नमस्कार करने के पश्चात् गन्धहस्ति, सद्भाव-लांछन, पिंगल और अपलेपचिह्न को नमस्कार किया है। आगे चलकर विषधर (कम्बल और अश्वतर), सालाहण, भुजगाधिप और वृद्धकवि का भी उल्लेख किया है। दुर्भाग्य से विरहांक ने छन्दों का उदाहरण देने के लिये तत्कालीन प्राकृत और अपभ्रंश के कवियों की रचनाओं का उपयोग अपने ग्रन्थ में नहीं किया। उस समय अपभ्रंश बोलियाँ प्राकृत भाषाओं के साथ स्थान प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील हो रही थीं, इसके ऊपर से प्रोफेसर वेलेनकर ने कवि विरहांक का समय ईसवी सन् की छठी और आठवीं शताब्दी के बीच स्वीकार किया है।

---

१. यह ग्रन्थ प्रोफेसर एच० डी० वेलेनकर द्वारा संपादित होकर उनकी विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावना के साथ सिंघी जैन ग्रन्थमाला बम्बई से शीघ्र ही प्रकाशित हो रहा है। मुनि जिनविजय जी की कृपा से यह मुद्रित ग्रन्थ मुझे देखने को मिला है।

वृत्तजातिसमुच्चय पद्यात्मक प्राकृत भाषा में लिखा गया है जिसमें मात्राछंद और वर्णछन्द के सम्बन्ध में विचार किया गया है। यह ग्रन्थ छह नियमों में विभक्त है। पहले नियम में प्राकृत के समस्त छन्दों के नाम गिनाये हैं जिन्हें आगे के समयों में समझाया गया है। तीसरे नियम में द्विपदी छन्द के ५२ प्रकारों का प्रतिपादन है। चौथे नियम में प्राकृत के सुप्रसिद्ध गाथा-छन्द का लक्षण बताया है, इसके २६ प्रकार हैं। पाँचवाँ नियम संस्कृत में है, इसमें संस्कृत के ५० वर्णछन्दों का वर्णन है। छठे नियम में प्रस्तार, नष्ट, उद्दिष्ट, लघुक्रिया, संख्या और अध्वान नामके छह प्रत्ययों का लक्षण बताया है। विरहांक ने अडिला, ढोसा, मागधिका और मात्रा रड्डा को क्रम से आभीरी, मारुवाई (मारवाड़ी), मागधी और अपभ्रंश से उपलक्षित कहा है (४-२८-३६) चक्रपाल के पुत्र गोपाल ने वृत्तजातिसमुच्चय की अनेक प्रतियों को देख कर उस पर टीका लिखी है। टीकाकारने पिंगल, सैतव, कात्यायन, भरत, कंबल और अश्वतर को नमस्कार किया है।

कविदर्पण

नन्दिषेणकृत अजितशान्तिस्तव के ऊपर लिखी हुई जिनप्रभ की टीका में कविदर्पण का उल्लेख मिलता है। यह टीका सम्वत् १३६५ में लिखी गई थी। दुर्भाग्य से कविदर्पण और उसके टीकाकार का नाम अज्ञात है[1]। मूल ग्रन्थकर्ता और टीकाकार

---

१. यह ग्रंथ प्रोफेसर एच० डी० वेलेनकर द्वारा संपादित सिंघी जैनग्रन्थमाला बम्बई से प्रकाशित हो रहा है। मुद्रित ग्रंथ मुझे मुनि जिनविजयजी की कृपा से देखने को मिला है। इसी के साथ नन्दिताढ्य का गाथालक्षण, रत्नशेखरसूरि का छन्दःकोश और नन्दिषेण के अजित-शांतिस्तव की जिनप्रभीय टीका के अन्तर्गत छन्दोलक्षणानि भी प्रकाशित हो रहे हैं।

दोनों जैन थे और दोनों ने हेमचन्द्र के छन्दोनुशासन के उद्धरण दिये हैं। जिनप्रभ के समय छन्द का यह ग्रन्थ सुप्रसिद्ध था, इसीलिये अजितशान्तिस्तव के छन्दों को समझाने के लिये जिनप्रभ ने हेमचन्द्र के छन्दोनुशासन के स्थान पर कविदर्पण का ही उपयोग किया है। प्रोफेसर वेलेनकर ने कविदर्पण का रचनाकाल ईसवी सन् की १३ वीं शताब्दी माना है। छन्दोनुशासन के अतिरिक्त इस ग्रन्थ में सिंहहर्ष की रत्नावलि नाटिका तथा जिनसूरि, सूरप्रभसूरि और तिलकसूरि की रचनाओं के उद्धरण दिये हैं। भीमदेव, कुमारपाल, जयसिंहदेव और शाकंभरिराज नामके राजाओं का यहाँ उल्लेख है। स्वयंभू, मनोरथ और पादलिप्त की कृतियों में से भी यहाँ उद्धरण दिये गये हैं। टीकाकार ने छंदःकंदली का उल्लेख किया है। वे मूल ग्रन्थकर्ता के समकालीन जान पड़ते हैं। कविदर्पण में छह उद्देश हैं। पहले उद्देश में मात्रा, वर्ण और उभय के भेद से तीन प्रकार के छन्द बताये हैं। दूसरे उद्देश में मात्राछन्द के ११ प्रकारों का वर्णन है। तीसरे उद्देश में सम, अर्धसम और विषम नामके वर्णछन्दों का स्वरूप है। चौथे उद्देश में समचतुष्पदी, अर्धसमचतुष्पदी और विषमचतुष्पदी के वर्णछन्दों का विवेचन है। पाँचवें उद्देश में उभयछन्दों और छठे उद्देश में प्रस्तार और संख्या नाम के प्रत्ययों का प्रतिपादन है।

गाहालक्खण (गाथालक्षण)

गाथालक्षण प्राकृत छंदों पर लिखी हुई एक अत्यन्त प्राचीन रचना है जिसके कर्ता नन्दिताढ्य हैं। इसमें ९२ गाथाओं में गाथाछंद का निर्देश है। नन्दिताढ्य ने ग्रन्थ के आदि में नेमिनाथ भगवान् को नमस्कार किया है जिससे उनका जैन धर्मानुयायी होना निश्चित है। ग्रन्थकार ने अपभ्रंश भाषा के प्रति तिरस्कार व्यक्त किया है (गाथा ३१)। इससे अनुमान किया जाता है कि नन्दिताढ्य ईसवी सन् १००० के आसपास

में मौजूद रहे होंगे। गाथालक्षण पर रत्नचन्द्र ने टीका लिखी है।[1]

छन्दःकोश

छन्दःकोश में ७४ गाथाओं में अपभ्रंश के कुछ छंदों का विवेचन है। यह रचना प्राकृत और अपभ्रंश दोनों में लिखी गई है। इसके कर्ता वज्रसेनसूरि के शिष्य जैन विद्वान् रत्नशेखर-सूरि हैं जो ईसवी सन् की १४वीं शताब्दी के द्वितीयार्ध में हुए हैं। इस रचना में अर्जुन (अल्हु) और गोसल (गुल्हु) नामक छंदशास्त्र के दो विद्वानों का उल्लेख मिलता है। चन्द्रकीर्त्ति सूरि ने इस पर १७वीं शताब्दी में टीका लिखी है।

छन्दोलक्षण (जिनप्रभोय टीका के अन्तर्गत)

नन्दिषेणकृत अजितशान्तिस्तव के ऊपर जिनप्रभ ने जो टीका लिखी है उसके अन्तर्गत छंद के लक्षणों का प्रतिपादन किया है। इस टीका में कविदर्पण का उल्लेख मिलता है, जैसा कि पहले कहा जा चुका है। नन्दिषेण ने अजितशांतिस्तव में २५ विभिन्न छन्दों का प्रयोग किया है, इन्हीं का विवेचन जिनप्रभ की टीका में किया गया है।

छंदःकंदली

कविदर्पण के टीकाकार ने अपनी टीका में छंदःकंदली का उल्लेख किया है। छंदशास्त्र के ऊपर लिखी हुई प्राकृत की यह रचना थी। इसके कर्ता का नाम अज्ञात है। कविदर्पण के टीकाकार ने छंदःकंदली में से उद्धरण दिये हैं।

---

१. जैसलरमेर भांडागारीय ग्रन्थसूची (पृष्ठ ६१) के अनुसार भट्टमुकुल के पुत्र हर्षट ने इस पर विवृति लिखी है, देखिये प्रोफेसर हीरालाल कापडिया, पाइय भाषाओ अने साहित्य, पृष्ठ ६२ फुटनोट।

प्राकृतपैंगल

प्राकृतपैंगल[1] में भिन्न-भिन्न ग्रन्थकारों की रचनाओं में से प्राकृत छन्दों के उदाहरण दिये गये हैं। आरंभ में छन्दशास्त्र के प्रवर्तक पिंगलनाग का स्मरण किया है। यहाँ मेवाड के राजपूत राजा हमीर (राज्यकाल का समय ईसवी सन् १३०२) तथा सुलतान, खुरसाण, ओल्ला, साहि, आदि का उल्लेख पाया जाता है। हरिबंभ, हरिहरबंभ, विज्जाहर, जज्जल आदि कवियों का संग्रहकर्ता ने नाम निर्देश किया है। राजशेखर की कर्पूरमंजरी में से यहाँ कुछ पद्य उद्धृत हैं। इन सब उल्लेखों के ऊपर से प्राकृतपैंगल के संग्रहकर्ता का समय आचार्य हेमचन्द्र के पश्चात् ही स्वीकार किया जाता है। इस कृति पर ईसवी सन् की १६वीं अथवा १७वीं शताब्दी के आरंभ में टीकायें लिखी गई हैं। विश्वनाथपंचानन की पिंगलटीका, वंशीधरकृत पिंगलप्रकाश, कृष्णीयविवरण तथा यादवेन्द्रकृत पिंगलतत्त्वप्रकाशिका नाम की टीकायें मूलग्रन्थ के साथ प्रकाशित हुई हैं। अवहट्ठ का प्रयोग यहाँ काफी मात्रा में मिलता है।

स्वयंभूछन्द

यह छन्दोग्रन्थ[2] महाकवि स्वयंभू का लिखा हुआ है जिसमें अपभ्रंश छन्दों के उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। स्वयंभू की पउमचरिय में से यहाँ अनेक उदाहरण दिये हैं। स्वयंभूछन्द के कितने ही छंद के लक्षण और उदाहरण हेमचन्द्र के छन्दोनुशासन में पाये जाते हैं।

---

१. चन्द्रमोहनघोष द्वारा संपादित, द एशियाटिक सोसायटी ऑव बंगाल, कलकत्ता द्वारा १९०२ में प्रकाशित।

२. यह ग्रंथ प्रोफेसर एच० डी० वेलेनकर के सम्पादकत्व में सिन्धी जैन ग्रन्थमाला सीरीज में प्रकाशित हो रहा है। इसकी मुद्रित प्रति मुनि जिनविजय जी की कृपा से देखने को मुझे मिली है।

(ग) कोश

पाइयलच्छीनाममाला

संस्कृत में जो स्थान, अमरकोश का है, वही स्थान प्राकृत में धनपाल की पाइयलच्छीनाममाला का है। धनपाल ने अपनी छोटी बहन सुन्दरी के लिये विक्रम संवत् १०२६ (ईसवी सन् ६७२) में धारानगरी में इस कोश की रचना की थी। प्राकृत का यह एकमात्र कोश है। ब्यूलर के अनुसार इसमें देशी शब्द कुल एक चौथाई हैं, बाकी तत्सम और तद्भव हैं।[1] इसमें २७६ गाथायें आर्या छंद में हैं जिनमें पर्यायवाची शब्द दिये गये हैं। हेमचन्द्र के अभिधानचिन्तामणि में तथा शारंगधरपद्धति में धनपाल के पद्यों के उद्धरण मिलते हैं, इससे पता लगता है कि धनपाल ने और भी ग्रन्थों की रचना की होगी जो आजकल उपलब्ध नहीं हैं। ऋषभपंचाशिका में इन्होंने ऋषभनाथ भगवान् की स्तुति की है। इसके सम्बन्ध में पहले लिखा जा चुका है।

हेमचन्द्रसूरि ने अपनी रयणावलि (रत्नावलि) नामकी देसीनाममाला में धनपाल, देवराज, गोपाल, द्रोण, अभिमानचिह्न, पादलिप्ताचार्य और शीलांक नामक कोशकारों का उल्लेख किया है, अज्ञात कवियों के उद्धरण भी यहाँ दिये गये हैं। दुर्भाग्य से इन कोशकारों की रचनाओं का अभीतक पता नहीं चला।

(घ) अलंकारशास्त्र के ग्रन्थों में प्राकृत

जैसे भाषा के अध्ययन के लिये व्याकरणशास्त्र की आवश्यकता होती है वैसे ही काव्य में निपुणता प्राप्त करने के लिये

1. गेऔर्ग ब्यूलर द्वारा संपादित होकर गोएटिंगन में सन् १८७९ में प्रकाशित। गुलाबचन्द लालुभाई द्वारा संवत् १९७३ में भावनगर से भी प्रकाशित। अभी हाल में पण्डित बेचरदास द्वारा संशोधित होकर बम्बई से प्रकाशित।

अलंकारशास्त्र की आवश्यकता होती है। काव्य के स्वरूप, रस, दोष, गुण, रीति और अलंकारों का निरूपण अलंकारशास्त्र में किया जाता है। वैदिक और लौकिक ग्रन्थों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिये अलंकारशास्त्र का ज्ञान नितान्त आवश्यक बताया है। राजशेखर ने तो इसे वेद का अंग ही मान लिया है। अलंकारशास्त्र के कितने ही प्राचीन और अर्वाचीन प्रणेता हुए हैं जिनमें भरत, भामह, दण्डी, वामन, रुद्रट, आनन्दवर्धन, कुन्तल, अभिनवगुप्त, वाग्भट, रुय्यक, भोजराज, मम्मट, हेमचन्द्र, विश्वनाथ, अप्पयदीक्षित और पण्डितराज जगन्नाथ के नाम मुख्य हैं। अलंकारशास्त्र के इन दिग्गज पंडितों ने प्राकृत भाषाओं संबंधी चर्चा करने के साथ-साथ ग्रन्थ में प्रतिपादित विषय के उदाहरणस्वरूप प्राकृत के अनेक सरस पद्य उद्धृत किये हैं जिससे पता लगता है कि इन विद्वानों के समक्ष प्राकृत साहित्य का अनुपम भण्डार था। इनमें से बहुत से पद्य गाथासप्तशती, सेतुबन्ध, गउडवहो, रत्नावलि, कर्पूरमञ्जरी आदि से उद्धृत हैं; अनेक अज्ञातकर्तृक हैं। विश्वनाथ ने अपने कुवलयाश्वचरित से कुछ पद्य उद्धृत किये हैं। दुर्भाग्य से इन ग्रन्थों के प्राकृत अंश का जैसा चाहिये वैसा आलोचनात्मक संपादन नहीं हुआ, इसलिये प्रकाशित संस्करणों पर ही अवलंबित रहना पड़ता है।[1]

काव्यादर्श

काव्यादर्श के रचयिता दण्डी (ईसवी सन् ७-८वीं शताब्दी का मध्य) अलंकारसम्प्रदाय के एक बहुत बड़े विद्वान् थे। उन्होंने काव्य की शोभा बढ़ानेवाले अलंकारों का अपने ग्रंथ में वर्णन किया है। काव्यादर्श[2] (१.३२) में संस्कृत, प्राकृत,

१. पिशल, प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, पृष्ठ ७५-७६।

२. आचार्य रामचन्द्र मिश्र द्वारा संपादित, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी से संवत् २०१७ में प्रकाशित।

अपभ्रंश और मिश्र के भेद से चार प्रकार की भाषाओं का उल्लेख है। यहाँ सूक्तियों का सागर होने के कारण महाराष्ट्र में बोली जानेवाली भाषा को प्रकृष्ट प्राकृत माना है। शौरसेनी, गौडी, लाटी तथा अन्य देशों में बोली जानेवाली भाषाओं को प्राकृत तथा गोप, चाण्डाल और शकार आदि द्वारा बोली जानेवाली भाषाओं को अपभ्रंश कहा है। बृहत्कथा को भूत भाषामयी और अद्भुत अर्थवाली बताया है।

काव्यालंकार

रुद्रट (ईसवी सन् की ६वीं शताब्दी के पूर्व) भी अलंकार संप्रदाय के अनुयायी हैं। अलंकारशास्त्रके समस्त सिद्धांतों की इन्होंने अपने काव्यलंकार में विस्तृत समीक्षा की है। यद्यपि उन्होंने भाषा, रीति, रस, और वृत्ति का सम्यक् रूप से वर्णन किया है, लेकिन अलंकारों का वर्णन इनके ग्रन्थ की विशेषता है। ग्रन्थ में दिये हुए उदाहरण इनके अपने हैं। इनके काव्यालंकार[1] में प्राकृत, संस्कृत, मागधी, पैशाची, शौरसेनी और देशविशेष के भेदवाली अपभ्रंश—इस प्रकार भाषा के छह भेद बताये हैं। जैन पंडित नमिसाधु ने काव्यालंकार पर टिप्पणी लिखी है। रुद्रट ने उक्त छहों भाषाओं के उदाहरण प्रस्तुत करने के लिये संस्कृत-प्राकृत मिश्रित गाथाओं की रचना की है। इन गाथाओं के संस्कृत और प्राकृत में अलग-अलग अर्थ निकलते हैं। कहीं कहीं प्रश्नोत्तर के ढंग की गाथायें पाई जाती हैं।

इसके सिवाय धनंजय ने दशरूपक (२.४६–७१), भोजराज ने सरस्वतीकंठाभरण (२.७–२६) और विश्वनाथ ने साहित्य-दर्पण (६.१५८–१६६) में प्राकृत भाषाओं के संबंध में चर्चा की है।

---

१. पंडित दुर्गाप्रसाद द्वारा संपादित, निर्णयसागर, बंबई द्वारा सन् १९०९ में प्रकाशित।

ध्वन्यालोक

ध्वन्यालोक की मूलकारिका और उसकी विवृति के रचयिता आनन्दवर्धन काश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा (ईसवी सन् ८५५-८८३) के सभापति थे। अभिनवगुप्त ने इस ग्रंथ पर टीका लिखी है। ध्वन्यालोक में ध्वनि को ही काव्य की आत्मा माना गया है। आनन्दवर्धन के समय से अलंकार ग्रन्थों में महाराष्ट्री प्राकृत के पद्य बहुलता से उद्धृत किये जाने लगे। ध्वन्यालोक[1] और अभिनवगुप्त की टीका में प्राकृत की लगभग ४६ गाथायें मिलती हैं। नीति की एक उक्ति देखिये—

होइ ण गुणाणुराओ खलाणं णवरं पसिद्धिसरणाणम्।
किर पह्लवइ ससिमणी चन्दे ण पिआमुहे दिट्ठे॥
(१.१३ टीका)

—प्रसिद्धि को प्राप्त दुष्टजनों के प्रति गुणानुराग उत्पन्न नहीं होता। जैसे चन्द्रमणि चन्द्र को देखकर ही पसीजती है, प्रिया का मुख देखकर नहीं।

एक दूसरी उक्ति देखिये—

चन्दमऊएहिं णिसा णलिनी कमलेहिं कुसुमगुच्छेहिं लआ।
हंसेहिं सरहसोहा कव्वकहा सज्जणेहिं करइ गरुइ॥
(२.५० टीका)

—रात्रि चन्द्रमा की किरणों से, नलिनी कमलों से, लता पुष्प के गुच्छों से, शरद् हंसों से और काव्यकथा सज्जनों से शोभा को प्राप्त होती है।

दशरूपक

दशरूपक (अथवा दशरूप) के कर्त्ता धनंजय (ईसवी सन् की दसवीं शताब्दी) मालवा के परमारवंश के राजा मुंज के राजकवि थे। दशरूपक भरत के नाट्यशास्त्र के ऊपर आधारित

१. पट्टाभिरामशास्त्री द्वारा सम्पादित, चौखंबा संस्कृत सीरिज़, बनारस से सन् १९४० में प्रकाशित।

है, यह कारिकाओं में लिखा गया है। इसके ऊपर धनंजय के लघु भ्राता धनिक ने अवलोक नाम की वृत्ति लिखी है। दशरूपक[1] में प्राकृत के २६ पद्य उद्धृत हैं। कुछ पद्य गाथासप्तशती, रत्नावलि और कर्पूरमंजरी से लिये हैं, कुछ स्वतंत्र हैं। धनिक के बनाये हुए पद्य भी यहाँ मिलते हैं। लज्जावती भार्या की प्रशंसा सुनिये—

लज्जापज्जत्तपसाहणाइं परतित्तिणिप्पिवासाइं।
अविणअदुम्मेहाइं धण्णाण घरे कलत्ताइं ॥ (२.१५)

—लज्जा जिसका यथेष्ट प्रसाधन है, पर-पुरुषों में निस्पृह और अविनय से अनभिज्ञ ऐसी कलत्र किसी भाग्यवान् के ही घर होती है।

वृत्तिकार धनिक द्वारा रचित एक पद्य देखिये—

तं चिअ वअणं ते च्चेअ लोअणे जोव्वणं पि तं च्चेअ।
अण्णा अणंगलच्छी अण्णं चिअ किं पि साहेइ ॥ २. ३३)

—वही वचन है, वही नेत्रों में मदमाता यौवन है, लेकिन कामदेव की शोभा कुछ निराली है और वह कुछ और ही बता रही है!

सरस्वतीकंठाभरण

भोजराज (ईसवी सन् ९९६–१०५१) मालव देश की धारा नगरी के निवासी थे। उन्होंने रामायणचम्पू, शृङ्गारप्रकाश आदि की रचना की है। श्रृंगारप्रकाश[2] और सरस्वतीकंठाभरण उनके अलंकारशास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। श्रृंगारप्रकाश में कुल मिलाकर ३६ प्रकाश हैं, जिनमें से २६वाँ प्रकाश लुप्त हो गया है। इस ग्रन्थ में अनंगवती, इन्दुलेखा, चारुमती, बृहत्कथा, मलयवती,

---

१. वासुदेव लक्ष्मणशास्त्री पणसीकर द्वारा सम्पादित, निर्णयसागर प्रेस, बंबई से सन् १९२८ में प्रकाशित।

२. प्रथम भाग के १–८ प्रकाश जी० आर० जोसयेर द्वारा संपादित, सन् १९५५ में मैसूर से प्रकाशित; प्रथम भाग के २२–२४ प्रकाश सन् १९२६ में मद्रास से प्रकाशित।

माधविका, शकुन्तिका आदि अनेक रचनाओं का उल्लेख है। ग्रन्थकर्ताओं के नामों में शाकल्य, वागुरि, विकटनितंबा आदि नाम मुख्य हैं। इन उल्लेखों से इस ग्रन्थ की महत्ता का सहज ही अनुमान किया जा सकता है। शृङ्गार रस-प्रधान प्राकृत पद्यों का यहाँ विशेषरूप से उल्लेख किया गया है। भोजराज ने शृंगार रस को सब रसों में प्रधान स्वीकार किया है। इन के सरस्वती-कंठाभरण[1] में ३३१ प्राकृत पद्य हैं, जिनमें अधिकांश गाथा-सप्तशती और रावणवहो में से लिये गये हैं; कुछ कालिदास, श्रीहर्ष, राजशेखर आदि से लिये गये हैं, कुछ अज्ञातकर्तृक हैं।

किसी पथिक के प्रति नायिका की उक्ति है

कत्तो लंभइ पत्थिअ ! सत्थरअ एत्थ गामणिघरम्मि।
उण्णपओहरे पेक्खिअ उण जइ वससि ता वससु॥
(परिच्छेद १)

—हे पथिक ! यहाँ ग्रामणी के घर में तुझे बिस्तरा कहाँ से मिलेगा ? उन्नत पयोधर देखकर यदि तू यहाँ ठहरना चाहता है तो ठहर जा।

एक दूसरा सुभाषित देखिये—

ण उणवर कोअण्डदण्डए पुत्ति ! माणुसे वि एमेअ।
गुणवज्जिएण जाअइ वंसुप्पण्णो वि टंकारो॥ (परिच्छेद ३)

—हे पुत्रि ! धनुष के दण्ड में ही यह बात नहीं बल्कि मनुष्य के संबन्ध में भी यही बात है कि सुवंश (बाँस और अच्छा वंश) में उत्पन्न होने पर भी गुण (रस्सी और गुण) रहित होने पर उसमें टंकार नहीं होती।

---

१. इसके प्रथम, द्वितीय, और तृतीय परिच्छेद पर रत्नेश्वर की व्याख्या है, चतुर्थ और पंचम परिच्छेद पर जीवानन्द विद्यासागर भट्टाचार्य ने व्याख्या लिखी है। कलकत्ता से ईसवी सन् १८९४ में प्रकाशित। रत्नसिंह (१-३) और जगद्धर (४) की टीकासहित पण्डित केदारनाथ शर्मा द्वारा सम्पादित, बम्बई १९३४ में प्रकाशित।

कृषक वधुओं के स्वाभाविक सौन्दर्य पर दृष्टिपात कीजिये—

सालिवणगोविआए उड्डावन्तीअ पूसविन्दाइम् ।
सव्वंगसुन्दरीए वि पहिआ अच्छीइ पेच्छन्ति ।। (परिच्छेद ३)

—पथिकगण शालिवन में छिपी हुई शुकों को उड़ाती हुई सर्वांगसुन्दरियों के नयनों को ही देखते हैं ।

धीर पुरुषों की महत्ता का वर्णन पढ़िये—

सच्चं गरुआ गिरिणो को भणइ जलासआ ण गंभीरा ।
धीरेहिं उवमाउं तहवि हु मह णात्थि उच्छाहो (परिच्छेद ४)

—यह सत्य है कि पर्वत महान् होते हैं, और कौन कहता है कि तालाब गम्भीर नहीं होते ? फिर भी धीर पुरुषों के साथ उनकी उपमा देने के लिये उत्साह नहीं होता ।

कौन सच्चा प्रेमी है और कौन स्वामी है ?

दूणन्ति जे मुहुत्तं कुविआ दासव्विअ ते पसाअन्ति ।
ते च्चिअ महिलाणं पिआ सेसा सामिच्चिअ वराआ।। (परिच्छेद ५)

—जो अल्पकाल के लिये भी कुपित अपनी प्रिया को देखकर दुखी होते हैं और उन्हें दास की भाँति प्रसन्न करते हैं, वे ही सचमुच महिलाओं के प्रिय कहलाते हैं, बाकी तो वेचारे स्वामी हैं।

अलंकारसर्वस्व

अलंकारसर्वस्व के कर्ता राजानक रुय्यक काश्मीर के राजा जयसिंह (ईसवी सन् ११२८–४६) के सांधिविग्रहिक महाकवि मंखुक के गुरु थे ।[1] इस ग्रंथ में अलंकारों का बड़ा पांडित्यपूर्ण वर्णन किया गया है। जयरथ ने इस पर विमर्शिनी नाम की व्याख्या लिखी है। अलंकारसर्वस्व में प्राकृत के लगभग १० पद्यों को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस सूत्र पर मंखुक ने वृत्ति लिखी है ।

---

१. टी० गणपति शास्त्री द्वारा सम्पादित, त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज़ में सन् १९१५ में प्रकाशित ।

एक उदाहरण देखिये—

रेहइ मिहिरेण णहं रसेण कव्वं सरेण जोव्वणणम् ।
अमएण धुणीधवओ तुमए णरणाह ! भुवणमिणम् ॥

(दीपकनिरूपण, पृ० ७४)

—चन्द्रमा से आकाश, रस से काव्य, कामदेव से यौवन और अमृत से समुद्र शोभा को प्राप्त होता है, लेकिन हे नरनाथ ! तुम से तो यह समस्त भुवन शोभित हो रहा है।

आक्षेपनिरूपण का उदाहरण—

सुहअ ! विलम्बसु थोअं जाव इमं विरहकाअरं हिअअ ।
संठाविऊण भणिस्सं अहवा बोलेसु किं भणिमो ॥

(आक्षेपनिरूपण, पृ० १४०)

—हे सुभग ! जरा ठहर जाओ। विरह से कातर इस हृदय को जरा संभाल कर फिर बात करूँगी। अथवा फिर चले जाओ, बात ही क्या करूँ ?

काव्यप्रकाश

मम्मट (ईसवी सन् की १२वीं शताब्दी) काश्मीर के निवासी थे और बनारस में आकर उन्होंने अध्ययन किया था। उनका काव्यप्रकाश अलंकारशास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है जिस पर अनेक-अनेक टीकायें लिखी गई हैं। काव्यप्रकाश में प्राकृत की ४६ गाथायें उद्धृत हैं। एक सखी की किसी नायिका के प्रति उक्ति देखिये—

पविसंती घरवारं विवलिअवअणा विलोइऊण पहम् ।
खंधे घेत्तूण घडं हाहा णट्ठोत्ति रुअसि सहि किं ति ॥ (४. ६०)

—हे सखि ! कंधे पर घड़ा रखे घर के दरवाजे में प्रवेश करती हुई पथ (संकेत स्थान) को देखकर तेरी आँखें उधर लग गईं, फिर यदि घड़ा फूट गया तो अब रोने से क्या लाभ ?

एक श्लेषोक्ति देखिये—

महदे सुरसन्धम्मे तमवसमासंगमागमाहरणे ।
हरबहुसरणं तं चित्तमोहमवसर उमे सहसा ॥ (६. ३७२)

(क) प्राकृत भाषा के श्लोक का अर्थ—

(मह देसु रसं धम्मे, तमवसम् आसम् गमागमा हरणे।
हरबहु ! सरणं तं चित्तमोहं अवसरउ मे सहसा)

—हे हरवधु गौरि ! तुम्हीं एक मात्र शरण हो, धर्म में मेरी प्रीति उत्पन्न करो, आवागमन के निदान इस संसार में मेरी तामसी वृत्ति का नाश करो, और मेरे चित्त का मोह शीघ्र ही दूर करो !

(ख) संस्कृत भाषा के श्लोक का अर्थ—

(हे उमे ! मे महदे आगमाहरणे तं सुरसन्धं समासंगं अव, अवसरे (च) बहुसरणं चित्तमोहं सहसा हर)

—हे उमे ! मेरे जीवन के महोत्सवरूप आगमविद्या के उपार्जन में देवों द्वारा भी सदा अभीप्सित मेरे मनोयोग की निरन्तर रक्षा करो, और समय-समय पर प्रसरणशील चित्तमोह को शीघ्र ही हटाओ।

प्रतीपालंकार का उदाहरण देखिये—

ए एहि दाव सुन्दरि ! कण्णं दाऊण सुणसु वअणिज्जम् ।
तुज्झ मुहेण किसोअरि ! चन्दो उवमिज्जइ जणेण ।। १०. ५५४

—हे सुन्दरि ! हे कृशोदरि ! इधर आ, कान देकर अपनी इस निन्दा को सुन कि अब लोग तेरे मुख की उपमा चन्द्रमा से देने लगे हैं !

काव्यानुशासन

मम्मट के काव्यप्रकाश के आधार पर हेमचन्द्र, विश्वनाथ और पंडितराज जगन्नाथ ने अपनी-अपनी रचनायें प्रस्तुत की हैं। सर्वप्रथम कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन की रचना की। जैसे उन्होंने व्याकरण पर शब्दानुशासन (सिद्धहेम) और छन्दशास्त्र पर छन्दोनुशासन लिखा, वैसे ही काव्य के ऊपर काव्यानुशासन लिखकर उसमें काव्य समीक्षा की। हेमचन्द्र के

काव्यानुशासन[1] और उसकी स्वोपज्ञवृत्ति में शृङ्गार और नीति संबंधी ७८ प्राकृत पद्य संग्रहीत हैं जो गाथासप्तशती, सेतुबंध, कर्पूरमंजरी, रत्नावलि आदि से लिये गये हैं।

किसी नायिका की नाजुकता पर ध्यान दीजिये—

सणियं वच्च किसोयरि ! पए पयत्तेण ठवसु महिवट्ठे।
भज्जिहिसि वत्थ (ट्ट) यत्थणि विहिणा दुक्खेण निम्मविया ॥
(१. १६. २१)

—हे किशोरि ! धीरे चल. अपने पैरों को बड़े हौले-हौले पृथ्वी पर रख। हे गोलाकार स्तनवाली ! नहीं तो तू गिर जायेगी, विधि ने बड़े कष्ट से तेरा सर्जन किया है।

युद्ध के लिये प्रस्थान करते हुए नायक की मनोदशा पर दृष्टिपात कीजिये—

एकत्तो रुअइ पिआ अण्णत्तो समरतूरनिग्घोसो।
नेहेण रणरसेण य भडस्स दोलाइयं हिअअम् ॥
(३.२ टीका १८७)

एक ओर प्रिया रुदन कर रही है, दूसरी ओर रणभेरी बज रही है। इस प्रकार स्नेह और युद्धरस के बीच भट का हृदय दोलायमान हो रहा है।

का विसमा दिव्वगई किं लट्ठं जं जणो गुणग्गाही।
किं सुक्खं सुकलत्तं किं दुग्गेज्झं खलो लोओ ॥
(६. २६. ६४०)

—विषम क्या है ? दैवगति। सुंदर क्या है ? गुणग्राही जन। सुख क्या है ? अच्छी स्त्री। दुर्ग्राह्य क्या है ? दुष्टजन।

साहित्यदर्पण

मम्मट के काव्यप्रकाश के ढाँचे पर काव्यप्रकाश की आलोचना के रूप में कविराज विश्वनाथ (ईसवी सन् की १४वीं

---

१. रसिकलाल सी० परीख द्वारा सम्पादित, श्रीमहावीर जैन विद्यालय, बंबई द्वारा १९३८ में दो भागों में प्रकाशित।

शताब्दी का पूर्व भाग) ने साहित्यदर्पण की रचना की[1]। ये उत्कलदेश के रहनेवाले थे और सुलतान अलाउद्दीन मुहम्मद खिलजी के समकालीन थे । इन्होंने राघवविलास, कंसवध, प्रभावतीपरिणय, चन्द्रकलानाटिका आदि के अतिरिक्त कुवलयाश्वचरित नाम के प्राकृत काव्य की भी रचना की थी। प्रशस्तरत्नावलि में इन्होंने १६ भाषाओं का प्रयोग किया था। बहुभाषावित् होने के कारण ही ये 'अष्टादशभाषावारविलासिनीभुजंग' नाम से प्रख्यात थे। विश्वनाथ के पिता महाकवीश्वर चन्द्रशेखर भी चौदह भाषाओं के विद्वान् थे। इन्होंने भाषार्णव नामक ग्रन्थ में प्राकृत और संस्कृत भाषाओं के लक्षणों का विवेचन किया है। साहित्यदर्पण में प्राकृत के ๖४ पद्य उद्धृत हैं, इनमें से अधिकांश गाथासप्तशती से लिये गये हैं, कुछ स्वयं लेखक के हैं, कुछ रत्नावली से तथा कुछ काव्यप्रकाश, दशरूपक और ध्वन्यालोक से उद्धृत हैं। कुछ अज्ञात कवियों के हैं। निम्नलिखित पद्य 'यथा[2]मम' लिखकर उद्धृत किया गया है—

पन्थिअ ! पिआसिओ विअ लच्छीअसि जासि ता किमण्णत्तो।
ण मणं वि वारओ इध अत्थि घरे घणरसं पिअन्ताणं॥
(३. १२८)

—हे पथिक ! तू प्यासा मालूम होता है, तू अन्यत्र कहाँ जाता हुआ दिखाई देता है। मेरे घर में गाढ़ रस का पान करनेवालों को कोई रोक नहीं है।

किसी विरहिणी की दशा देखिये—

भिसणीअलसअणीए निहिअं सव्वं सुणिच्चलं अंगं।
दीहो णीसासहरो एसो साहेइ जीअइ त्ति परं॥
(३. १९२)

---

१. श्रीकृष्णमोहन शास्त्री द्वारा संपादित, चौखंबा संस्कृत सीरीज़ द्वारा सन् १९४७ में प्रकाशित।

२. सातवें परिच्छेद में पृष्ठ ४९८ पर एक और गाथा 'ओवहइ उल्लहइ' आदि 'यथा मम' कह कर उद्धृत है।

—कमलिनीदल के शयनीय पर समस्त अंग निश्चल रूप से स्थापित कर दिया गया (जिससे नायिका मृतक की भाँति जान पड़ने लगी), उसके दीर्घ निश्वास की बहुलता से ही पता लगता है कि वह अभी जीवित है।

रसगंगाधर

पंडितराज जगन्नाथ को शाहजहाँ (ईसवी सन् १६२८-१६५७) ने अपने पुत्र दाराशिकोह को संस्कृत पढ़ाने के लिये दिल्ली आमंत्रित किया था। इनकी विद्वत्ता से प्रसन्न होकर शाहजहाँ ने इन्हें पंडितराज की पदवी से विभूषित किया। शाहजहाँ के दरबार में रहते हुए पंडितराज ने दाराशिकोह की प्रशस्ति में 'जगदाभरण' और नवाब आसफ की प्रशस्ति में 'आसफविलास' की रचना की। रसगंगाधर[1] के अतिरिक्त इन्होंने गंगालहरी, भामिनीविलास आदि अनेक ग्रन्थों की रचना की है।

रसगंगाधर में उद्धृत एक गाथा देखिये—

ढुंढुंणन्तो हि मरीहिसि कंटककलिआइं केअइवणाइं।
मालइ कुसुमसरिच्छं भमर ! भयन्तो न पाविहिसि ॥

(पृ० १६५)

—हे भ्रमर ! तू ढूँढ़ते-ढूँढ़ते मर जायेगा, केतकी के वन काँटों से भरे हैं। मालती के पुष्पों के समान इन्हें तू कभी भी प्राप्त न कर सकेगा।

---

1. पंडित दुर्गाप्रसाद द्वारा संपादित, निर्णयसागर प्रेस, बंबई से सन् १८८८ में प्रकाशित।

ग्यारहवाँ अध्याय

शास्त्रीय प्राकृत साहित्य

(ईसवी सन् की प्रथम शताब्दी से लेकर १४ वीं शताब्दी तक)

धार्मिक, पौराणिक और लोकसाहित्य के अलावा अर्थशास्त्र, राजनीति, ज्योतिष, हस्तरेखा, मंत्र-तंत्र और वैद्यक आदि शास्त्रीय (टैक्निकल) विषयों पर भी जैन-अजैन विद्वानों ने प्राकृत भाषा में साहित्य की रचना की है। साधुजीवन में इन सब विषयों के ज्ञान की आवश्यकता होती थी, तथा धर्म और लोकहित के लिये कितनी ही बार जैन साधुओं को ज्योतिष, वैद्यक, मंत्र-तंत्र, आदि का प्रयोग आवश्यक हो जाता था। जैन शास्त्रों में भद्रबाहु, कालक, खपुट, वज्र, पादलिप्त, विष्णुकुमार आदि कितने ही आचार्य और मुनियों का उल्लेख मिलता है जो धर्म और संघ पर संकट उपस्थित होने पर विद्या, मंत्र, आदि का आश्रय लेने के लिये बाध्य हुए। यहाँ इस विषय से सम्बन्ध रखनेवाले प्राकृत-साहित्य का परिचय दिया जाता है।

अत्थसत्थ (अर्थशास्त्र)

प्राचीन जैन ग्रन्थों में अत्थसत्थ के नामोल्लेखपूर्वक प्राकृत की गाथायें उद्धृत मिलती हैं। चाणक्य के नाम से भी कुछ वाक्य उद्धृत हैं। इससे जान पड़ता है कि प्राकृत में अर्थशास्त्र के नाम का कोई ग्रन्थ अवश्य रहा होगा। हरिभद्रसूरि ने धूर्ताख्यान में खंडपाणा को अर्थशास्त्र का निर्माता बताया है।

पादलिप्त की तरंगवती के आधार पर लिखी गई नेमिचन्द्र-गणि की तरंगलोला में अत्थसत्थ की निम्नलिखित गाथायें उद्धृत हैं—

तो भणइ अत्थसत्थंमि वण्णियं सुयुणु ! सत्थयारेहिं।
दूती परिभव दूती न होइ कज्जस्स सिद्धकरी॥

एतो हु मंतभेओ दूतीओ होज्ज कामनेमुक्का ।
महिला मुंचरहस्सा रहस्सकाले न संठाइ ॥
आभरणमवेलायां नीणंति अवि य घेघति चिंता ।
होज्ज मंतभेओ गमणविधाओ अनिव्वाणी ॥

संघदासगणि के वसुदेवहिण्डी में भी अत्थसत्थ की एक गाथा का उल्लेख है—

विसेसेणमायाए सत्थेण य हंतव्वो अप्पणो विवड्ढमाणो सत्तु त्ति ।

(अपने बढ़ते हुए शत्रु का विशेष माया से या शस्त्र से संहार करना चाहिये)

इसी प्रकार ओघनिर्युक्ति (गाथा ४१८) की द्रोणसूरिकृत वृत्ति (पृष्ठ १५२) में चाणक्य का निम्नलिखत अवतरण दिया गया है—

जह काइयं न वोसिरइ ततो अदोसो ।

(यदि मल-मूल का त्याग नहीं करता है तो दोष नहीं है ।

राजनीति

इस ग्रंथ के रचयिता का नाम देवीदास है। इसकी हस्त-लिखित प्रति डेक्कन कालेज भंडार, पूना में है ।[1]

निमित्तशास्त्र

जैन ग्रन्थों में निमित्तशास्त्र का बड़ा महत्त्व बताया है। विद्या, मंत्र और चूर्ण आदि के साथ निमित्त का उल्लेख आता है। मंखलिगोशाल निमित्तशास्त्र का महापंडित था। आर्यकालक के शिष्य इस शास्त्र का अध्ययन करने के लिये आजीविक मत के अनुयायियों के समीप जाया करते थे। स्वयं आर्यकालक निमित्तशास्त्र के वेत्ता थे ।[2] आचार्य भद्रबाहु को भी निमित्तवेत्ता

१. देखिये जैन ग्रन्थावलि, पृष्ठ ३२९ ।

२. पंचकल्पचूर्णी; मुनि कल्याणविजय जी ने श्रमण भगवान् महावीर (पृ० २६०) में इस उद्धरण का उल्लेख किया है ।

कहा गया है।[1] आचार्य धरसेन भी अष्टांग महानिमित्त के पारगामी माने जाते थे। उपाध्याय मेघविजय ने अपने वर्षप्रबोध में भद्रबाहु के नाम से कतिपय प्राकृत गाथायें उद्धृत की हैं, इससे जान पड़ता है भद्रबाहु की निमित्तशास्त्र पर कोई रचना विद्यमान थी।[2]

प्राचीन जैन ग्रन्थों में आठ महानिमित्त गिनाये हैं—भौम (भूकंप आदि), उत्पात (रक्त की वर्षा आदि), स्वप्न, अन्तरिक्ष (आकाश में ग्रहों का गमन उदय, अस्त, आदि) अंग, (आँख, भुजा का स्फुरण आदि), स्वर (पक्षियों का स्वर), लक्षण (शरीर के लक्षण) और व्यंजन (तिल, मसा आदि)।[3] बृहत्कल्पभाष्य (१. १३१३), गुणचन्द्रगणि के कहारयणकोस (पृष्ठ २२ अ, २३, और अभयदेव ने स्थानांग (४२८) की टीका में चूडामणि नामक निमित्तशास्त्र का उल्लेख मिलता है। इसके द्वारा भूत, भविष्य और वर्तमान का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता था।[4]

---

१. गच्छाचारवृत्ति पृष्ठ ९३–९६।

२. प्रोफेसर हीरालाल रसिकदास कापडिया, पाइय भाषाओ अने साहित्य, पृष्ठ १६८।

३. ठाणांग ४०५–८.६०८। कहीं इनके साथ छिन्न (मूषकछिन्न), दण्ड, वस्तुविद्या, और छींक आदि भी सम्मिलित किये जाते हैं। देखिये सूत्रकृतांग १२.९; उत्तराध्ययन टीका ८.१३; १५.७। समवायांग की टीका (२९) के अनुसार इन आठों निमित्तों पर सूत्र, वृत्ति और वार्तिक मौजूद थे। अंग को छोड़कर बाकी निमित्तों के सूत्र सहस्रप्रमाण, वृत्ति लक्षप्रमाण और इनकी वार्तिक कोटिप्रमाण थी। अंग के सूत्र लक्षप्रमाण, वृत्ति कोटिप्रमाण और वार्तिक अपरिमित बताई गई है।

४. तीतमणागतवट्टमाणत्थाणोपलब्धिकारणं णिमित्तं (निशीथचूर्णी, पृ० ८६२, साइक्लोस्टाइल प्रति)।

जयपाहुड निमित्तशास्त्र

इस ग्रन्थ[1] के कर्ता का नाम अज्ञात है, इसे जिनभाषित कहा गया है। यह ईसवी सन् की १०वीं शताब्दी के पूर्व की रचना है। निमित्तशास्त्र का यह ग्रन्थ अतीत, अनागत, वर्तमान, निमित्त आदि अनेक प्रकार के नष्ट, मुष्टि, चिन्ता, विकल्प आदि अतिशय ज्ञान से पूर्ण है। इससे लाभालाभ का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। इसमें ३७८ गाथायें हैं जिनमें संकट-विकट-प्रकरण, उत्तराधरप्रकरण, अभिघात, जीवसमास, मनुष्यप्रकरण, पक्षिप्रकरण, चतुष्पद, धातुप्रकृति, धातुयोनि, मूलभेद, मुष्टिविभाग-प्रकरण, वर्ण-रस-गंध-स्पर्शप्रकरण, नष्टिकाचक्र, चिन्ताभेदप्रकरण, तथा लेखगंडिकाधिकार में संख्याप्रमाण, कालप्रकरण, लाभ-गंडिका नक्षत्रगंडिका, स्ववर्गसंयोगकरण, परवर्गसंयोगकरण, सिंहावलोकितकरण, गजविलुलित, गुणाकारप्रकरण, अस्त्रविभाग-प्रकरण आदि का विवेचन है।

निमित्तशास्त्र

इसके कर्ता ऋषिपुत्र हैं।[2] इसके सिवाय ग्रन्थकर्ता के संबंध में और कुछ पता नहीं लगता। इसमें १८७ गाथायें हैं जिनमें निमित्त के भेद, आकाश-प्रकरण, चंद्रप्रकरण, उत्पातप्रकरण, वर्षा-उत्पात, देव उत्पातयोग, राज उत्पातयोग और इन्द्र-धनुष द्वारा शुभाशुभ ज्ञान, गंधर्वनगर का फल, विद्युल्लतायोग और मेघयोग का वर्णन है।

चूडामणिसार शास्त्र

इसका दूसरा नाम ज्ञानदीपक है। यह भी जिनेन्द्र द्वारा

---

१. जयपाहुड और चूडामणिसार शास्त्र मुनि जिनविजयजी द्वारा संपादित होकर सिंघी जैन ग्रंथमाला में प्रकाशित हो रहे हैं। ये दोनों ग्रन्थ मुद्रितरूप में मुनि जी की कृपा से मुझे देखने को मिले हैं।

२. पंडित लालारामशास्त्री द्वारा हिन्दी में अनूदित, वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री, शोलापुर की ओर से सन् १९४१ में प्रकाशित।

प्रतिपादित बताया गया है। गुणचन्द्रगणि ने कहारयणकोस में चूडामणिशास्त्र का उल्लेख किया है। चंपकमाला चूडामणिशास्त्र की पंडिता थी। वह जानती थी कौन उसका पति होगा और कितनी उसके संताने होंगी।[1] इसमें कुल मिलाकर ७३ गाथायें हैं।

निमित्तपाहुड

इसके द्वारा केवली, ज्योतिष और स्वप्न आदि निमित्त का ज्ञान प्राप्त किया जाता था। भद्रेश्वर ने अपनी कहावली और शीलांक की सूत्रकृतांग-टीका में निमित्तपाहुड का उल्लेख किया है।[2]

अंगविज्जा (अंगविद्या)

अंगविज्जा फलादेश का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है[3] जो सांस्कृतिक सामग्री से भरपूर है। अंगविद्या का उल्लेख अनेक प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है।[4] यह एक लोकप्रचलित विद्या थी जिससे शरीर के लक्षणों को देख कर अथवा अन्य प्रकार के निमित्त या मनुष्य की विविध चेष्टाओं द्वारा शुभ-अशुभ फल का बखान किया जाता था। अंगविद्या के अनुसार अंग, स्वर, लक्षण, व्यंजन, स्वप्न, छींक, भौम, अंतरिक्ष ये निमित्त-कथा के आठ

---

१. देखिये लक्ष्मणगणि का सुपासनाहचरिय, दूसरा प्रस्ताव, सम्यक्त्वप्रशंसाकथानक।

२. देखिये प्रोफेसर हीरालाल रसिकदास कापडिया, पाइयभाषाओ अने साहित्य पृष्ठ १६७-८।

३. मुनि पुण्यविजय जी द्वारा संपादित, प्राकृत जैन टैक्स्ट सोसायटी द्वारा सन् १९५७ में प्रकाशित।

४. पिंडनिर्युक्ति टीका (४०८) में अंगविद्या की निम्नलिखित गाथा उद्धृत है—

इंदिएहिं दियत्थेहिं, समाधानं च अप्पणो।
नाणं पवत्तए जम्हा निमित्तं तेण आहियं॥

आधार हैं और इन आठ महानिमित्तों द्वारा भूत और भविष्य का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। इनमें अंगविद्या को सर्वश्रेष्ठ बताया है। दृष्टिवाद नामक बारहवें अंग में महावीर भगवान् ने निमित्तज्ञान का उपदेश दिया था।

अंगविद्या पूर्वाचार्यों द्वारा प्रणीत है। इस ग्रंथ में ६० अध्याय हैं। आरंम्भ में अंगविद्या की प्रशंसा करते हुए उसके द्वारा जय-पराजय, आरोग्य, हानि-लाभ, सुख-दुख, जीवन-मरण, सुभिक्ष-दुर्भिक्ष आदि का ज्ञान होना बताया है। आठवाँ अध्याय ३० पाटलों में विभक्त है। इसमें अनेक आसनों के भेद बताये हैं। नौवें अध्याय में १८६८ गाथाओं में २७० विविध विषयों का प्ररूपण है। यहाँ अनेक प्रकार की शय्या, आसन, यान, कुड्य, खंभ, वृक्ष, वस्त्र, आभूषण, बर्तन, सिक्के आदि का वर्णन है। ग्यारहवें अध्याय में स्थापत्यसंबंधी अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों का प्ररूपण है। स्थापत्यसंबंधी शब्दों की यहाँ एक लम्बी सूची दी है। उन्नीसवें अध्याय में राजोपजीवी शिल्पी और उनके उपकरणों के संबंध में उल्लेख है। विजयद्वार नामक इक्कीसवें अध्याय में जय-पराजय सम्बन्धी कथन है। बाइसवें अध्याय में उत्तम फलों की सूची दी है। पच्चीसवें अध्याय में गोत्रों का विशद वर्णन है जो बहुत महत्व का है। छब्बीसवें अध्याय में नामों का वर्णन है। सत्ताइसवें अध्याय में राजा, अमात्य, नायक, आसनस्थ, भाण्डागारिक महाणसिक, गजाध्यक्ष आदि सरकारी अधिकारियों के पदों की सूची दी है। अट्ठाइसवें अध्याय में पेशेवर लोगों की महत्त्वपूर्ण सूची है। नगरविजय नाम के उनतीसवें अध्याय में प्राचीन भारतीय नगरों के सम्बन्ध में बहुत सी सूचनायें मलती हैं। तीसवें अध्याय में आभूषणों का वर्णन है। बत्तीसवें अध्याय में धान्यों और तेंतीसवें अध्याय में वाहनों के नाम गिनाये हैं। छत्तीसवें अध्याय में दोहदसंबंधी विचार है। सैंतोसवें अध्याय में १२ प्रकार के लक्षणों का प्रतिपादन है। चालीसवें अध्याय में भोजन-सम्बन्धी विचार है। इकतालीसवें अध्याय में मूर्तियों

प्रकार, आभरण और अनेक प्रकार की रत-सुरत क्रीडाओं का वर्णन है। तैंतालीसवें अध्याय में यात्रा का विचार है। छियालीसवें अध्याय में गृहप्रवेशसम्बन्धी शुभाशुभ का विचार किया गया है। सैंतालीसवें अध्याय में राजाओं की सैनिक-यात्रा के फलाफल का विचार है। चौवनवें अध्याय में सार-असार वस्तुओं का कथन है। पचपनवें अध्याय में गड़ी हुई धनराशि का पता लगाने के सम्बन्ध में कथन है। अट्ठावनवें अध्याय में जैन धर्म सम्बन्धी जीव-अजीव का विस्तार से विवेचन है। अन्तिम अध्याय में पूर्वभव जानने की युक्ति बताई गई है।

जोणिपाहुड (योनिप्राभृत)

जोणिपाहुड निमित्तशास्त्र का एक महत्वपूर्ण ग्रंथ था। इसके कर्ता धरसेन आचार्य (ईसवी सन् की प्रथम और द्वितीय शताब्दी का मध्य) हैं; वे प्रज्ञाश्रमण कहलाते थे। वि० सं० १५५६ में लिखी हुई बृहट्टिपणिका नाम की ग्रंथसूची के अनुसार वीर निर्वाण के ६०० वर्ष पश्चात् धरसेन ने इस ग्रंथ की रचना की थी।[1] ग्रंथ को कूष्मांडिनी देवी से प्राप्त कर धरसेन ने पुष्पदंत और भूतबलि नामके अपने शिष्यों के लिये लिखा था। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में भी इस ग्रन्थ का उतना ही आदर था जितना दिगम्बर सम्प्रदाय में। धवलाटीका के अनुसार इसमें मन्त्र-तन्त्र की शक्ति का वर्णन है और इसके द्वारा पुद्गलानुभाग जाना जा सकता है।[2] निशीथविशेषचूर्णी (४, पृष्ठ ३७५ साइक्लोस्टाइल प्रति) के कथनानुसार आचार्य सिद्धसेन ने जोणिपाहुड के आधार से अश्व

---

१. योनिप्राभृतं वीरात् ६०० धारसेनम् (बृहट्टिपणिका जैन साहित्य संशोधक, १, २ परिशिष्ट); षट्खंडागम की प्रस्तावना, पृष्ठ ३०, फुटनोट। इस सम्बन्ध में देखिये अनेकांत, वर्ष २, किरण ९ में पं० जुगलकिशोर मुख्तार का लेख। दुर्भाग्य से अनेकांत का यह अङ्क मुझे नहीं मिल सका।

२. जोणिपाहुडे भणिदमंततंतसत्तीओ पोग्गलाणुभागो त्ति घेत्तव्वो। डाक्टर हीरालालजैन, षट्खंडागम की प्रस्तावना, पृ ३०।

बनाये थे,[1] इसके बल से महिषों को अचेतन किया जा सकता था, और इससे धन पैदा कर सकते थे। प्रभावकचरित (५. ११५-१२७) में इस ग्रंथ के बल से मछली और सिंह उत्पन्न करने की, तथा विशेषावश्यकभाष्य (गाथा १७७५) की हेमचन्द्रसूरिकृत टीका में अनेक विजातीय द्रव्यों के संयोग से सर्प, सिंह आदि प्राणी और मणि, सुवर्ण आदि अचेतन पदार्थों के पैदा करने का उल्लेख मिलता है। कुवलयमालाकार के कथनानुसार जोणिपाहुड में कही हुई बात कभी असत्य नहीं होती। जिनेश्वरसूरि ने अपने कथाकोषप्रकरण में भी इस शास्त्र का उल्लेख किया है। इस ग्रंथ में ८०० गाथायें हैं। कुलमण्डनसूरि द्वारा विक्रम संवत् १४७३ (ईसवी सन् १४१६) में रचित विचारामृतसंग्रह (पृष्ठ ९ आ) में योनिप्राभृत को पूर्वश्रुत से चला आता हुआ स्वीकार किया है।[2]

अग्गेणिपुव्वनिग्गयपाहुडसत्थस्स मज्झयारंमि।
किंचि उद्देसदेसं धरसेणो वज्जियं भणइ॥
गिरिउज्जिंतठिएण पच्छिमदेसे सुरट्ठगिरिनयरे।
बुड्डंतं उद्धरियं दूसमकालप्पयावंमि॥
प्रथम खण्डे—
अट्ठावीससहस्सा गाहाणं जत्थवन्निया सत्थे।
अग्गेणिपुव्वमज्झे संखेवं वित्थरे मुत्तुं॥
चतुर्थखण्डप्रान्ते योनिप्राभृते।

इस कथन से ज्ञात होता है कि अग्रायणीपूर्व का कुछ अंश लेकर धरसेन ने इस ग्रन्थ का उद्धार किया है, तथा इसमें पहले २८ हज़ार गाथायें थीं, उन्हीं को संक्षिप्त करके योनिप्राभृत में कहा है।

१. देखिये बृहत्कल्पभाष्य (१. १३०३; २. २६८१); व्यवहारभाष्य (१. पृष्ठ ५८); पिंडनिर्युक्तिभाष्य ४४-४६; दशवैकालिकचूर्णी १. पृष्ठ ४४, ६१६; सूत्रकृतांगटीका ८. पृष्ठ १६५ अ; जिनेश्वरसूरि, कथाकोषप्रकरण।

२. देखिये प्रोफेसर हीरालाल रसिकदास कापडिया, आगमोनुं दिग्दर्शन, पृष्ठ २३४-३५।

इसकी हस्तलिखित प्रति भांडारकर इंस्टिट्यूट पूना में मौजूद है।

वड्ढमाणविज्जाकप्प

जिनप्रभसूरि (विक्रम की १४ वीं शताब्दी) ने वर्धमान-विद्याकल्प की रचना की है।[1] वाचक चन्द्रसेन ने इसका उद्धार किया है। इसमें १७ गाथाओं में वर्धमानविद्या का स्तवन है। यहाँ बताया है कि जो २१ बार इसका जाप करके किसी ग्राम में प्रवेश करता है उसका समस्त कार्य सिद्ध होता है।

ज्योतिषसार

ज्योतिष का यह ग्रन्थ पूर्व शास्त्रों को देखकर लिखा गया है;[2] खासकर हरिभद्र, नारचंद, पद्मप्रभसूरि, जउण, वाराह, लल्ल, पराशर, गर्ग आदि के ग्रन्थों का अवलोकन कर इसकी रचना की गई है। इसके चार भाग हैं। दिनशुद्धि नामक भाग में ४२ गाथायें हैं जिनमें वार, तिथि और नक्षत्रों में सिद्धियोग का प्रतिपादन है। व्यवहारद्वार में ६० गाथायें हैं; इनमें ग्रहों की राशि, स्थिति, उदय, अस्त और वक्र दिन की संख्या का वर्णन है। गणितद्वार में ३८ और लग्नद्वार में ६८ गाथायें हैं।

विवाहपडल (विवाहपटल)

विवाहपडल का उल्लेख निशीथविशेषचूर्णी (१२, पृष्ठ ८५४ साइक्लोस्टाइल प्रति) में मिलता है। यह एक ज्योतिष का ग्रन्थ था जो विवाहवेला के समय में काम में आता था।

---

१. बृहत्ह्रींकारकल्पविवरण के साथ डाह्याभाई मोहोकमलाल, अहमदाबाद की ओर से प्रकाशित। प्रकाशन का समय नहीं दिया है।

२. यह ग्रंथ रत्नपरीक्षा, द्रव्यपरीक्षा और धातूत्पत्ति के साथ सिंघी जैन ग्रन्थमाला में प्रकाशित हो रहा है।

लग्गसुद्धि

इस ग्रन्थ के कर्ता याकिनीसूनु हरिभद्र हैं।[1] इसे लग्न-कुंडलिका नाम से भी कहा गया है। यह ज्योतिषशास्त्र का ग्रन्थ है। इसमें १३३ गाथायें हैं जिनमें शुभ लग्न का कथन है।

दिनसुद्धि

इसके कर्ता रत्नशेखरसूरि हैं।[2] इसमें १४४ गाथाओं में रवि, सोम, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र और शनि की शुद्धि का वर्णन करते हुए तिथि, लग्न, प्रहर, दिशा और नक्षत्र की शुद्धि बताई है।

जोइसहीर (जोइससार—ज्योतिषसार)

इस ग्रन्थ के कर्त्ता का नाम अज्ञात है।[3] ग्रन्थ के अन्त में लिखा है कि 'प्रथमप्रकीर्णं समाप्तं' इससे मालूम होता है कि यह ग्रन्थ अधूरा है। इसमें २८७ गाथायें हैं जिनमें शुभाशुभ तिथि, ग्रह की सबलता, शुभ घड़ियाँ, दिनशुद्धि, स्वरज्ञान, दिशाशूल' शुभाशुभयोग, व्रत आदि ग्रहण करने का मुहूर्त्त, क्षौरकर्म का मुहूर्त्त और ग्रहफल आदि का वर्णन है।

करलक्खण

यह सामुद्रिक शास्त्र का अज्ञातकर्तृक ग्रन्थ है।[4] इसमें ६१

---

१. उपाध्याय क्षमाविजयगणी द्वारा संपादित, शाह मूलचन्द बुलाखीदास की ओर से सन् १९३८ में बम्बई से प्रकाशित।

२. सम्पादक और प्रकाशक उपर्युक्त।

३. पंडित भगवानदास जैन द्वारा हिन्दी में अनूदित; मैनेजर, नरसिंहप्रेस, हरिसन रोड कलकत्ता की ओर से सम्बत् १९२३ में प्रकाशित। मोहनलाल दलीचन्द देसाई ने अपने जैन साहित्य नो इतिहास (पृष्ठ ५८२) में बताया है कि हीरकलश ने वि० सं० १६२१ (ईसवी सन् १५६४) में नागौर में जोइसहीर का उद्धार किया।

४. प्रोफेसर प्रफुल्लकुमार मोदी द्वारा संपादित और भारतीय ज्ञानपीठ, काशी द्वारा सन् १९५४ में प्रकाशित (द्वितीय संस्करण)।

गाथाओं में हस्तरेखाओं का महत्त्व, पुरुषों के लक्षण, पुरुषों का दाहिना और स्त्रियों का बाँया हाथ देखकर भविष्यकथन आदि विषयों का वर्णन किया गया है। विद्या, कुल, धन, रूप और आयुसूचक पाँच रेखायें होती हैं। हस्तरेखाओं से भाई-बहन, और सन्तानों की संख्या का भी पता चलता है। कुछ रेखाएँ धर्म और व्रत की सूचक मानी जाती हैं।

रिष्टसमुच्चय

रिष्टसमुच्चय के कर्ता आचार्य दुर्गदेव दिगम्बर सम्प्रदाय के विद्वान् थे। उन्होंने विक्रम संवत् १०८९ (ईसवी सन् १०३२) में कुंभनगर (कुंभेरगढ़, भरतपुर) में इस ग्रन्थ को समाप्त किया था।[1] दुर्गदेव के गुरु का नाम संजयदेव था। उन्होंने पूर्व आचार्यों की परंपरा से आगत मरणकरंडिका के आधार पर रिष्टसमुच्चय में रिष्टों का कथन किया है। रिष्टसमुच्चय में २६१ गाथायें हैं जो प्रधानतया शौरसेनी प्राकृत में लिखी गई हैं। इस ग्रन्थ में तीन प्रकार के रिष्ट बताये गये हैं—पिंडस्थ, पदस्थ और रूपस्थ। उंगलियों का टूटना, नेत्रों का स्तब्ध होना, शरीर का विवर्ण हो जाना, नेत्रों से सतत जल का प्रवाहित होना आदि क्रियायें पिंडस्थ में, सूर्य और चन्द्र का विविध रूपों में दिखाई देना, दीपशिखा का अनेक रूप में देखना, रात का दिन के समान और दिन का रात के समान प्रतिभासित होना आदि क्रियायें पदस्थ में, तथा अपनी छाया का दिखाई न देना, दो छायाओं, अथवा आधी छाया का दिखाई देना आदि क्रियायें रूपस्थ में पाई जाती हैं। इसके पश्चात् स्वप्नों का वर्णन है। स्वप्न दो प्रकार के बताये गये हैं, एक देवेन्द्रकथित, और दूसरा सहज। मरणकंडी का प्रमाण देते हुए दुर्गदेव ने लिखा है—

> न हु सुणइ सतणुसद्दं दीवयगंधं च णेव गिण्हेइ।
> सो जियइ सत्तदियहे इय कहिअं मरणकंडीए॥ १३९॥

---

१. डाक्टर ए० एस० गोपाणी द्वारा संपादित, सिंघी जैन ग्रन्थमाला बम्बई से सन् १९४५ में प्रकाशित।

—जो अपने शरीर का शब्द नहीं सुनता, और दीपक की गंध जिसे नहीं आती, वह सात दिन तक जीता है, ऐसा मरणकंडी में कहा है।

प्रश्नरिष्ट के आठ भेद बताये हैं—अंगुलिप्रश्न, अलक्तप्रश्न, गोरोचनाप्रश्न, प्रश्नाक्षरप्रश्न, शकुनप्रश्न, अक्षरप्रश्न, होराप्रश्न और ज्ञानप्रश्न। इनका यहाँ विस्तार से वर्णन किया है।

अग्घकंड (अर्घकाण्ड)

दुर्गदेव की यह दूसरी कृति है। अग्घकंड का उल्लेख विशेषनिशीथचूर्णी (१२, पृष्ठ ४५४) में भी मिलता है। यह कोई प्राचीन कृति रही होगी जिसे देखकर दुर्गदेव ने प्रस्तुत ग्रंथ की रचना की। इससे इस बात का पता लगाया जाता था कि कौन-सी वस्तु खरीदने और कौन-सी वस्तु बेचने से लाभ होगा।[1]

रत्नपरीक्षा

यह ग्रन्थ[2] श्रीचन्द्र के पुत्र श्रीमालवंशीय ठक्कुरफेरु ने संवत् १३७२ (ईसवी सन् १३१५) में लिखा है। ठक्कुरफेरु जिनेन्द्र के भक्त थे और दिल्ली के बादशाह अलाउद्दीन के खजांची थे। सुरमिति, अगस्त्य और बुद्धभट्ट के द्वारा लिखित रत्नपरीक्षा को देखकर उन्होंने अपने पुत्र हेमपाल के लिये इस ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ में कुल मिलाकर १३२ गाथायें हैं जिनमें रत्नों के उत्पत्तिस्थान, जाति और मूल्य आदि का विस्तार से वर्णन है। वज्र नामक रत्न शूर्पारक, कलिंग, कोशल और महाराष्ट्र में, मुक्ताफल और पद्मराग मणि सिंघल और तुंबरदेश आदि स्थानों में, मरकत मणि मलयपर्वत और बर्बर देश में, इन्द्रनील सिंघल में, विद्रुम विन्ध्य पर्वत, चीन, महाचीन, और नैपाल में, तथा लहसुनिया, वैडूर्य और स्फटिक नैपाल, काश्मीर और चीन आदि

---

१. इमं दव्वं विक्कीणाहि इमं वा कीणाहि।

२. रत्नपरीक्षा, द्रव्यपरीक्षा, धातूत्पत्ति और ज्योतिषसार सिंघी जैन ग्रन्थमाला में प्रकाशित हो रहे हैं। मुनि जिनविजयजी की कृपा से मुद्रितरूप में ये मुझे देखने को मिले हैं।

स्थानों में पाये जाते थे। रत्नों के परीक्षक को मांडलिक कहा जाता था, ये लोग रत्नों का परस्पर मिलान कर उनकी परीक्षा करते थे।

द्रव्यपरीक्षा

यह ग्रंथ विक्रम संवत् १३७५ (ईसवी सन् १३१८) में लिखा गया। इसमें १४६ गाथायें हैं। इनमें द्रव्यपरीक्षा के प्रसंग में चासणिय, सुवर्णरूपशोधन, मौल्य, सुवर्ण-रुप्यमुद्रा, खुरासानीमुद्रा, विक्रमार्कमुद्रा, गुर्जरीमुद्रा, मालवीमुद्रा, नलपुर-मुद्रा, जालंधरीमुद्रा, ढिल्लिका, महमूदसाही, चउकडीया, फरीदी, अलाउद्दीनी, मोमिनी अलाई, मुलतानी, मुखतलफी और सीराजी आदि मुद्राओं का वर्णन है।

धातूत्पत्ति

इसमें ५७ गाथायें हैं। इन गाथाओं में पीतल, ताँबा, सीसा, राँगा, काँसा, पारा हिंगुलक, सिन्दूर, कर्पूर, चंदन, मृगनाभि आदि का विवेचन है।

वस्तुसार

इनके अतिरिक्त पूर्व शास्त्रों का अध्ययन कर संवत् १३७२ में ठक्कुरफेरू ने वास्तुसार ग्रन्थ की रचना की।[1] इसमें गृहवास्तु-प्रकरण में भूमिपरीक्षा, भूमिसाधना, भूमिलक्षण, मासफल, नींव-निवेसलग्न, गृहप्रवेशलग्न, और सूर्यादि ग्रहाष्टक का १५८ गाथाओं में वर्णन है। इसकी ५४ गाथाओं में बिम्बपरीक्षा प्रकरण, और ६८ गाथाओं में प्रासादकरण का वर्णन किया गया है।

शास्त्रीय विषयों पर प्राकृत में अन्य भी अनेक ग्रंथों की रचना हुई। उदाहरण के लिए सुमिणसित्तरि में ७० गाथाओं में इष्ट-अनिष्ट स्वप्नों का फल बताया है।[2] जिनपाल ने स्वप्नविचार (सुविणविचार) और विनयकुशल ने ज्योतिश्चक्रविचार (जोइस-

१. चन्दनसागर ज्ञानभंडार वेजलपुर की ओर से वि० सं० २००२ में प्रकाशित।

२. ऋषभदेव केशरीमल संस्था, रतलाम द्वारा प्रकाशित सिरि-पयरणसंदोह में संग्रहीत।

चक्कविचार) की रचना की है। इसके अलावा पिपीलिकाज्ञान (पिपीलियानाण), अकालदंतकप्प आदि ज्योतिषशास्त्र के ग्रन्थों की रचनायें हुई। जगसुन्दरीयोगमाल योनिप्राभृत का ही एक भाग था।[1] फिर वसुदेवहिण्डीकार ने पोरागम नाम के पाकशास्त्र-विषयक[2] ग्रंथ का और तरंगलोलाकार ने पुप्फजोणिसत्थ (पुष्पयोनिशास्त्र) का उल्लेख किया है। अनुयोगद्वारचूर्णी में संगीत-सम्बन्धी प्राकृत के कुछ पद्य उद्धृत किये हैं, इससे मालूम होता है कि संगीत के ऊपर भी प्राकृत का कोई ग्रन्थ रहा होगा।[3]

इसके अलावा प्राकृत जैन ग्रन्थों में सामुद्रिकशास्त्र,[4] मणिशास्त्र,[5] गारुडशास्त्र[6] और वैशिक[7] (कामशास्त्र) आदि संस्कृत के श्लोक उद्धृत हैं। इससे पता लगता है कि संस्कृत में भी शास्त्रीय विषयों पर अनेक ग्रन्थ लिखे गये थे।

---

१. जैन ग्रन्थावलि, पृष्ठ ३४७, ३५५, ३५७, ३६१, ३६४। नेमिचन्द्रसूरि ने उत्तराध्ययन की संस्कृत टीका (८.१३) में स्वप्नसंबंधी प्राकृत गाथाओं के अवतरण दिये हैं। जगद्देव के स्वप्नचिंतामणि से इन गाथाओं की तुलना की गई है।

२. वि० सं० १४८३ में लिखी हुई सुरेश्वररचित पाकशास्त्र की हस्तलिखित प्रति पाटन के भंडार में मौजूद है।

३. उदान की परमत्थदीपनी नामक अट्ठकथा में अलंकारसत्थ का उल्लेख है जिसमें चौरकर्म की विधि बताई है।

४. गुणचन्द्रसूरि, कहारयणकोस, पृष्ठ ३४ अ, ५०।

५. वही, पृ० ४४।

६. जिनेश्वरसूरि, कथाकोषप्रकरण पृ० १२।

७. 'दुर्विज्ञेयो हि भावः प्रमदानाम्', सूत्रकृतांगचूर्णि, पृ० १४०, समवयांग की टीका (२९) में हरमेखला नामक वशीकरणसंबंधी शास्त्र का उल्लेख है। प्रोफेसर कापडिया ने (पाइय भाषाओ अने साहित्य, पृष्ठ १८४) मयणमउड नाम के कामशास्त्रविषयक ग्रन्थ का उल्लेख

प्राकृत शिलालेख

किसी साहित्य का व्यवस्थित अध्ययन करने के लिये शिलालेख सर्वोत्तम साधन हैं। ताड़पत्र या कागज़ पर लिखे हुए साहित्य में संशोधन या परिवर्त्तन की गुञ्जायश रहती है जब कि पत्थर या धातु पर खुदे हुए लेख सैकड़ों-हज़ारों वर्षों के पश्चात् भी उसी रूप में मौजूद रहते हैं। भारतवर्ष में सबसे प्राचीन शिलालेख प्रियदर्शी सम्राट् अशोक के मिलते हैं। अपने राज्याभिषेक (ईसवी सन् पूर्व २६६) के १२ वर्ष पश्चात् उसने गिरनार, कालसी (ज़िला देहरादून), धौलि (ज़िला पुरी, उड़ीसा), जौगड़ (ज़िला गंजम, उड़ीसा), मनसेहरा (ज़िला हज़ारा, उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रदेश), शाहबाज़गढ़ी (ज़िला पेशावर, उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रदेश), येर्रगुड़ी (ज़िला करनूल, मद्रास) और सोपारा (ज़िला ठाणा) नामक स्थानों में शिलालेखों में धर्मलिपियों को उत्कीर्ण किया था। ये शिलालेख पालि भाषा में तथा ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपियों में विद्यमान हैं।

हाथीगुंफा का शिलालेख

प्राकृत के शिलालेखों में राजा खारवेल का हाथीगुंफा का शिलालेख अत्यन्त प्राचीन है। यह पालि से मिलता-जुलता है और ईसवी सन् के पूर्व लगभग प्रथम शताब्दी के अंत में ब्राह्मी लिपि में भुवनेश्वर (ज़िला पुरी) के पास उदयगिरि नाम की पहाड़ी में उत्कीर्ण किया गया था। अशोक के शिलालेखों की अपेक्षा इस शिलालेख में भाषा का प्रवाह अधिक देखने में आता है जिससे इस काल की प्राकृत की समृद्धता का अनुमान किया जा सकता है। इस शिलालेख में खारवेल के राज्य के १३ वर्षों का वर्णन है—

किया है। इसकी रचना सिंधु नदी के तट पर स्थित माणिक्य महापुर के निवासी गोसइ विप्र ने की थी।

नमो अरहतानं। नमो सव-सिधानं॥ एरेण महाराजेन माहामेघ-वाहनेन चेति-राजव (ं) स-वधनेन पसथ-सुभ-लखनेन चतुरंतलुठ (ण) गुण-उपितेन कलिंगाधिपतिना सिरि-खारवेलेन

(पं) दरस-वसानि सीरि-(कडार)-सरीरवता कीडिता कुमार-कीडिका॥

ततो लेखरूप-गणना-ववहार-विधि-विसारदेन।
सव-विजावदातेन नव-वसानि योवरजं (प) सासितं॥
संपुंण-चतुवीसति-वसो तदानि वधमानसेसयो-वेनाभिविजयो ततिये

कलिंग-राज-वसे पुरिस-युगे माहाराजाभिसेचनं पापुनाति।
अभिसितमतो च पधमे वसे वात-विहत-गोपुर-पाकार-निवेसनं पटिसंखारयति। कलिंग-नगरि खबीर-इसिताल-तडाग-पाडियो च

बंधापयति सवुयान-प (टि) संठपनं च
कारयति॥ पनतीसाहि सतसहसेहि पकतियो च रंजयति॥[१]

(१) अर्हतों को नमस्कार। सर्वसिद्धों को नमस्कार। वीर महाराज महामेघवाहन चेदि राजवंश के वर्धक, प्रशस्त शुभलक्षण वाले, चारों दिशाओं में व्याप्त गुणों से अलंकृत कलिंगाधिपति श्री खारवेल ने

(२) १५ वर्ष तक शोभावाली अपनी गौरवयुक्त देह द्वारा बालक्रीड़ा की। उसके पश्चात् लेख्य, रूप, गणना, व्यवहार और धर्मविधि में विशारद बन सर्व विद्याओं से संपन्न होकर नौ वर्ष तक उसने युवराज पद का उपभोग किया। फिर २४ वर्ष समाप्त होने पर, शैशवकाल से ही जो वर्धमान है और अभिविजय में जो वेनराज के समान है, उसका तृतीय

(३) पुरुषयुग (पीढ़ी) में कलिङ्ग राज्यवंश में महाराज्याभिषेक हुआ। अभिषिक्त होने के बाद वह प्रथम वर्ष में

---

१. दिनेसचन्द्र सरकार के सेलेक्ट इंस्क्रिप्शन्स, जिल्द १, युनिवर्सिटी ऑव कलकत्ता, १९४२, पृष्ठ २०६ से उद्धृत।

झंझावात से गिरे हुए गोपुर और प्राकार का निर्माण कराता हुआ। कलिङ्ग नगरी में ऋषितडाग[1] की पैड़ियाँ उसने बँधवाईं, सर्वप्रकार के उद्यानों का पुनरुद्धार किया।

(४) पैंतीस शत-शहस्र प्रजा का रंजन किया।

नासिक का शिलालेख

वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि का नासिक गुफा का एक दूसरा शिलालेख है जो ईसवी सन् १४६ में नासिक में उत्कीर्ण किया गया था। इसमें राजा के भाट की मनोदशा का चित्रण किया है—

सिद्धं। रञो वासिठीपुतस पसरि-पुलुमायिस सवछरे एकुनवीसे १० + ६ गीम्हाणं पखे बितीये २ दिवसे तेरसे १० + ३ राजरञो गोतमीपुतस हिमव(त) मेरुमंदर-पवत-सम-सारस असिक-असक-मुलक-सुरठ-कुकुरापरंत-अनुपविदभ-आकरावंति-राजस विझ-छवत-पारिचात-सय्ह (ह्य)-कण्हगिरि-मचसिरि-टन-मलय-महिद-सेटगिरि-चकोरपवत-पतिस सवराज(लोक) म (ं) डलपति-गहीत-सासनस दिवसकर-(क)र-विबोधित-कमल-विमल-सदिस-वदनस तिसमुद-तोय-पीत-वाहनस-पटिपू(ं)-ण-चंदमंडल-ससिरीक-पियदसनस······ सिरि-सातकणिसमातुय महादेवीय गोतमीय बलसिरीय सचवचन-दान-खमा-हिंसानिरताय तप-दम-नियमोपवास-तपराय राजरिसिवधु-सदमखिलमनुविधीयमानाय कारितदेयधम (केलासपवत)-सिखर-सदिसे (ति) रण्हु-पवत-सिखरे विम (ान) वरनिविसेस-महिढीकं लेण।[2]

—सिद्धि हो ! राजा वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि के १६ वर्ष में ग्रीष्म के द्वितीय पक्ष के २ दिन बीतने पर चैत्रसुदी १३ के दिन राजराज गोतमीपुत्र, हिमवान् , मेरु और मन्दर पर्वत के समान श्रेष्ठ;

---

१. बृहत्कल्पभाष्य (१.३१५०) इसका उल्लेख है। इसका इसिवाल नाम के वानमंतर द्वारा निर्माण हुआ बताया गया है।

२. दिनेसचन्द्र सरकार, वही, पृ० १९६–९८।

ऋषिक, अश्मक, मूलक, सुराष्ट्र, कुकुर, अपरान्त, अनूप, विदर्भ और आकरावंति के राजा; विन्ध्य, ऋक्षवत्, पारियात्र, सह्य, कृष्णगिरि, मर्त्यश्री, स्तन, मलय, महेन्द्र, श्रेष्ठगिरि और चकोर पर्वतों के स्वामी; सर्व राजलोकमंडल के ऊपर शासन करनेवाले; सूर्य की किरणों के द्वारा विबोधित निर्मल कमल के सदृश मुखवाले, तीन समुद्र के अधिपति, पूर्ण चन्द्रमंडल के समान शोभायुक्त प्रिय दर्शन वाले···ऐसे श्री शातकर्णि की माता महादेवी गौतमी बलश्री ने सत्यवचन, दान, क्षमा और अहिंसा में संलग्न रहते हुए, तप, दम, नियम, उपवास में तत्पर, राजर्षि वधू शब्द को धारण करती हुई गौतमी बलश्री ने कैलाश पर्वत के शिखर के सदृश त्रिरश्मिपर्वत के शिखर पर श्रेष्ठ विमान की भाँति महा समृद्धि युक्त एक गुफा (लयन) खुदवाई।



उपसंहार

मध्ययुगीन भारतीय-आर्यभाषाओं में पालि और प्राकृत दोनों का अन्तर्भाव होता है, लेकिन प्रस्तुत ग्रन्थ में केवल प्राकृत भाषाओं के साहित्य के इतिहास पर ही प्रकाश डाला गया है। ईसवी सन् के पूर्व ५वीं शताब्दी में मगध देश विशेषकर भगवान् महावीर और बुद्ध की प्रवृत्तियों का केन्द्र रहा, अतएव जिस जनसाधारण की बोली में उन्होंने अपना लोकोपदेश दिया वह बोली सामान्यतया मागधी कहलाई। आगे चलकर यह भाषा केवल अपने में ही सीमित न रही और मगध के आसपास के प्रदेशों की भाषा के साथ मिल जाने से अर्धमागधी कही जाने लगी। मागधी अथवा अर्धमागधी की भाँति पैशाची भी मध्ययुगीन आर्यभाषाओं की एक प्राचीन बोली है जो भारत के उत्तर-पश्चिमी भागों में बोली जाती थी। पैशाची में गुणाढ्य ने बड्डकहा (बृहत्कथा) की रचना की थी, लेकिन दुर्भाग्य से यह रचना उपलब्ध नहीं है। पैशाची की भाँति शौरसेनी भी एक प्रादेशिक बोली थी जो शूरसेन (मथुरा के आसपास का प्रदेश) में बोली जाने के कारण शौरसेनी कहलाई। क्रमशः प्राकृत भाषाओं का रूप निखरता गया और हाल की सत्तसई, प्रवरसेन का सेतुबंध और वाक्पतिराज का गउडवहो आदि रचनाओं के रूप में इसका सुगठित साहित्य रूप हमारे सामने आया।

ज्ञातृपुत्र श्रमण भगवान् महावीर ने मगध के आसपास बोली जानेवाली मिली-जुली अर्धमागधी भाषा में अपना प्रवचन दिया। संस्कृत की भाँति यह भाषा केवल सुशिक्षितों की भाषा नहीं थी, बल्कि बाल, वृद्ध, स्त्री और अनपढ़ सभी इसे समझ सकते थे। निस्सन्देह महावीर की यह बहुत बड़ी देन थी जिससे जनसाधारण के पास तक वे अपनी बात पहुँचा सके थे।

महावीर के निर्वाण के पश्चात् उनके गणधरों ने निर्ग्रन्थ-प्रवचन का संकलन किया और यह संकलन आगम के नाम से कहा गया। अर्धमागधी में संकलित यह आगम-साहित्य अनेक दृष्टियों से अत्यन्त महत्त्व का है। जब भारत के उत्तर, पश्चिमी और पूर्व के कुछ प्रदेशों में ब्राह्मण धर्म का प्रचार हो चुका था, उस समय जैन श्रमणों ने मगध और उसके आसपास के क्षेत्रों में ग्रामानुग्राम घूम-घूम कर कितनी तत्परता से जैनसंघ की स्थापना की, इसकी कुछ कल्पना इस विशाल साहित्य के अध्ययन से हो सकती है। इस साहित्य में जैन उपासकों और मुनियों के आचार-विचार, नियम, व्रत, सिद्धांत, परमत-खंडन, स्वमतस्थापन आदि अनेक विषयों का विस्तृत विवेचन है। इन विषयों का यथासंभव विविध आख्यान, चरित, उपमा, रूपक, दृष्टांत आदि द्वारा सरल, और मार्मिक शैली में प्रतिपादन किया गया है। वस्तुतः यह साहित्य जैन संस्कृति और इतिहास का आधारस्तंभ है, और इसके बिना जैनधर्म के वास्तविक रूप का सांगोपांग ज्ञान नहीं हो सकता। आगे चलकर भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के अनुसार जैनधर्म के सिद्धांतों में संशोधन-परिवर्धन होते रहे, लेकिन आगम-साहित्य में वर्णित जैनधर्म के मूलरूप में विशेष अंतर नहीं आया। स्वयं भगवान् महावीर के उपदेशों का संग्रह होने से आगम-साहित्य का प्राचीनतम समय ईसवी सन् के पूर्व पाँचवीं शताब्दी, तथा वलभी में आगमों की अन्तिम वाचना होने से इसका अर्वाचीनतम समय ईसवी सन् की पाँचवीं शताब्दी मानना होगा।

कालक्रम से आगम-साहित्य पुराना होता गया और शनैः शनैः इस साहित्य में उल्लिखित अनेक परंपरायें विस्मृत होती चली गईं। ऐसी हालत में आगमों के विषय को स्पष्ट करने के लिये निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णी, टीका आदि अनेक व्याख्याओं द्वारा इस साहित्य को पुष्पित और पल्लवित किया गया। फल यह हुआ कि आगमों का व्याख्या-साहित्य प्राचीनकाल से चली आनेवाली अनेक अनुश्रुतियों, परंपराओं, ऐतिहासिक और अर्ध-

ऐतिहासिक कथानकों तथा धार्मिक और लौकिक कथाओं का भंडार बन गया। इससे केवल व्याख्यात्मक होने पर भी यह साहित्य जैनधर्म और जैन संस्कृति के अभ्यासियों के लिये एक अत्यंत आवश्यक स्वतंत्र साहित्य ही हो गया। इस साहित्य का निर्माण ईसवी सन् की लगभग दूसरी शताब्दी से आरंभ हुआ और ईसा की १६वीं १७वीं शताब्दी तक चलता रहा। जैसे यह साहित्य आगमों को आधार मान कर लिखा गया, वैसे ही इस साहित्य के आधार से उत्तरवर्ती प्राकृत साहित्य की रचना होती रही।

दिगम्बर आचार्यों ने श्वेताम्बरसम्मत आगमों को प्रमाण रूप से स्वीकार नहीं किया। श्वेतांबर परंपरा के अनुसार केवल दृष्टिवाद नाम का बारहवाँ अंग ही उच्छिन्न हुआ था, जबकि दिगम्बरों की मान्यता के अनुसार समस्त आगम नष्ट हो गये थे और केवल दृष्टिवाद का ही कुछ अंश बाकी बचा था। इस अंश को लेकर दिगम्बर सम्प्रदाय में षट्खंडागम की रचना की गई और इस पर अनेक आचार्यों ने टीका-टिप्पणियाँ लिखीं। २३ भागों में प्रकाशित इस बृहदाकार विशाल ग्रंथ में खास तौर से कर्मसिद्धांत की चर्चा ही प्रधान है जिससे प्रतिपाद्य विषय अत्यन्त जटिल और नीरस हो गया है। श्वेतांबरीय आगमों की भाँति निर्ग्रन्थ-प्रवचनसंबंधी विवधि विषयों की विशद और व्यापक चर्चा यहाँ नहीं मिलती। दिगंबर साहित्य में भगवती-आराधना और मूलाचार बहुत महत्त्व के हैं; इनकी विषयवस्तु श्वेतांबरों के निर्युक्ति और भाष्य-साहित्य के साथ बहुत मिलती-जुलती है। श्वेताम्बर और दिगंबरों के प्राचीन इतिहास के क्रमिक विकास को समझने के लिये दोनों के प्राचीन साहित्यों का तुलनात्मक अध्ययन अत्यंत उपयोगी सिद्ध होगा। कुन्दकुन्दाचार्य का दिगम्बर सम्प्रदाय में वही स्थान है जो श्वेतांबर सम्प्रदाय में भद्रबाहु का। इनके ग्रंथों के अध्ययन से जान पड़ता है कि उन्होंने वेदान्त से मिलती-जुलती अध्यात्म की एक विशिष्ट

शैली को जन्म दिया था, जो शैली जैन परंपरा में अन्यत्र देखने में नहीं आती।

दिगंबर आचार्यों की भाँति श्वेतांबर विद्वानों ने भी आगमोत्तरकालीन जैनधर्मसंबंधी विपुल साहित्य का सर्जन किया। इसमें आचार-विचार, कर्मसिद्धांत, दर्शन, खंडन-मंडन आदि सभी विषयों का समावेश किया गया। प्रकरण-ग्रन्थों की रचना इस काल की विशेषता है। सरलता से कंठस्थ किये जानेवाले इस प्रकार के लघुग्रंथ की सैकड़ों की संख्या में रचना की गई। विधि-विधान और तीर्थसंबंधी प्राकृतग्रन्थों की रचना भी इस काल में हुई। पट्टावलियों में आचार्यों और गुरुओं की परंपरा संग्रहीत की गई तथा प्रबंध-ग्रंथों में ऐतिहासिक प्रबंधों की रचना हुई। इस प्रकार प्राकृत-साहित्य केवल महावीर के उपदेशों तक ही सीमित न रहा, बल्कि वह उत्तरोत्तर व्यापक और समुन्नत होता गया।

प्राकृत जैन कथा-साहित्य जैन विद्वानों की एक विशिष्ट देन है। उन्होंने धार्मिक और लौकिक आख्यानों की रचना कर प्राकृत-साहित्य के भंडार को समृद्ध किया। कथा, वार्ता, आख्यान, उपमा, दृष्टान्त, संवाद, सुभाषित, प्रश्नोत्तर, समस्यापूर्त्ति और प्रहेलिका आदि द्वारा इन रचनाओं को सरस बनाया गया। संस्कृत साहित्य में प्रायः राजा, योद्धा और धनी-मानी व्यक्तियों के ही जीवन का चित्रण किया जाता था, लेकिन इस साहित्य में जनसामान्य के चित्रण को विशेष स्थान प्राप्त हुआ। जैन कथाकारों की रचनाओं में यद्यपि सामान्यतया धर्मदेशना की ही मुख्यता है, रीति-प्रधान श्रृंगारिक साहित्य की रचना उन्होंने नहीं की, फिर भी पादलिप्त, हरिभद्र, उद्योतनसूरि, नेमिचन्द्र, गुणचन्द्र, मलधारि हेमचन्द्र, लक्ष्मणगणि, देवेन्द्रसूरि आदि कथा-लेखकों ने इस कमी को बहुत कुछ पूरा किया। उधर ईसवी सन् की ११वीं-१२वीं शताब्दी से लेकर १४वीं-१५वीं शताब्दी तक गुजरात, राजस्थान और मालवा में जैनधर्म का

प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा था जिससे प्राकृत कथा-साहित्य को काफी बल मिला। इस समय केवल आगम अथवा उन पर लिखी हुई व्याख्याओं के आधार से ही कथा-साहित्य का निर्माण नहीं हुआ, बल्कि अनेक अभिनव कथा-कहानियों की भी रचना की गई। अनेक कथाकोषों का संग्रह किया गया जिनमें चुनी हुई कथाओं को स्थान मिला। इस प्रकार प्राकृत कथा-साहित्य में तत्कालीन सामाजिक जीवन का विविध और विस्तृत चित्रण किया गया जो विशेषकर संस्कृत साहित्य में दुर्लभ है। प्राचीन भारत के सांस्कृतिक अध्ययन के लिये इस साहित्य का अध्ययन अत्यन्त उपयोगी है। इसके सिवाय भिन्न-भिन्न देशों में प्रचलित देशी शब्दों का यहाँ प्रचुर मात्रा में स्वच्छंद रूप से प्रयोग हुआ। ये शब्द भारतीय आर्यभाषाओं के अध्ययन की दृष्टि से बहुत उपयोगी हैं।

कथानक और आख्यानों की भाँति तीर्थंकर आदि महापुरुषों के जीवनचरित भी प्राकृत में लिखे गये। राम और कृष्णचरित के अतिरिक्त यहाँ विशिष्ट यति-मुनि, सती-साध्वी, सेठ-साहुकार, मंत्री-सार्थवाह आदि के शिक्षाप्रद चरित लिखे गये। इन चरितों में बीच-बीच में धार्मिक और लौकिक सरस कथाओं का समावेश किया गया।

संस्कृत की शैली के अनुकरण पर यद्यपि प्राकृत के कथाग्रंथों में जहाँ-तहाँ अलंकारप्रधान समासांत पदावलि में नगर, वन, अटवी, ऋतु, वसंत, जलक्रीड़ा आदि के वर्णन देखने में आते हैं, फिर भी कथा-साहित्य में संस्कृत-साहित्य जैसी प्रौढ़ता न आ सकी। प्राकृत काव्य-साहित्य के निर्माण से यह क्षति बहुत कुछ अंश में पूरी हुई। इस काल में संस्कृत महाकाव्यों की शैली पर श्रृंगाररस-प्रधान प्राकृत काव्यों की रचना हुई, और इन काव्यों की रचना प्रायः जैनेतर विद्वानों द्वारा की गई। गाथा-सप्तशती श्रृंगाररस-प्रधान प्राकृत का एक अनुपम मुक्तक काव्य है जिसकी तुलना संस्कृत के किसी भी सर्वश्रेष्ठ काव्य से की

जा सकती है। ध्वनि और अलंकार-प्रधान इस काव्य में तत्कालीन प्राकृत के सर्वश्रेष्ठ कवियों और कवयित्रियों की रचनायें संग्रहीत हैं जिससे पता लगता है कि ईसवी सन् की प्रथम शताब्दी के पूर्व ही प्राकृत काव्य-कला प्रौढ़ता को प्राप्त कर चुकी थी। उपमाओं और रूपक की नवीनता इस काव्यकला की विशेषता थी। आनन्दवर्धन, धनंजय, भोज, मम्मट और विश्वनाथ आदि विद्वानों ने अपने अलंकार ग्रंथों में जो अलंकार और रस आदि के उदाहरणस्वरूप प्राकृत की अनेकानेक गाथायें उद्धृत की हैं उससे प्राकृत काव्य की समृद्धता का पता चलता है। इन गाथाओं में अधिकांश गाथायें गाथासप्तशती और सेतुबन्ध में से ली गई हैं। मुक्तक काव्य के अतिरिक्त महाकाव्य (सेतुबन्ध), प्रबन्धकाव्य (गउडवहो) और प्रेमकाव्य (लीलावई) की रचना भी प्राकृत साहित्य में हुई। अंत में केरलनिवासी रामपाणिवाद (ईसवी सन् की १८वीं शताब्दी) ने कंसवहो और उसाणिरुद्ध जैसे खंडकाव्यों की रचना कर प्राकृत काव्य-साहित्य को समृद्ध किया।

संस्कृत के नाटकों में भी प्राकृत को यथोचित स्थान मिला। यहाँ मनोरञ्जन के लिये भिन्न-भिन्न पात्रों से मागधी, पैशाची, शौरसेनी और महाराष्ट्री बोलियों में भाषण कराये गये। मृच्छ-कटिक में अवन्ती, प्राच्या, शकारी, चांडाली आदि का भी समावेश किया गया। क्रमशः प्राकृत की लोकप्रियता में वृद्धि हुई और इसे सट्टकों में स्थान मिला। शृंगाररसप्रधान प्राकृत के इन सट्टकों में किसी नायिका के प्रेमाख्यान का चित्रण किया गया और सट्टक का नाम भी नायिका के ऊपर ही रक्खा गया। प्राकृत भाषा की कोमल पदावलि के कारण ही राजशेखर अपनी कर्पूरमंजरी की रचना इस भाषा में करने के लिये प्रेरित हुए।

तत्पश्चात् प्राकृत भाषा को सुव्यवस्थित रूप देने के लिये प्राकृत के व्याकरण लिखे गये। प्राकृत भाषा इस समय बोलचाल की भाषा नहीं रह गई थी, इसलिये प्राकृत के उपलब्ध साहित्य

में से उदाहरण चुन-चुन कर उनके आधार से व्याकरण के नियम बने। व्याकरण के साथ-साथ छंद और कोष भी तैयार हुए। गाथा-छन्द प्राकृत का सर्वप्रिय छन्द माना गया है। इसमें और भी अनेक नये छंदों का विकास हुआ, तथा मात्रिक अथवा तालवृत्तों को लोक-काव्य से उठाकर काव्य में उनका समावेश किया गया।

विद्वज्जनों में प्राकृत का प्रचार होने से ज्योतिष, सामुद्रिकशास्त्र, और संगीत आदि पर प्राकृत ग्रंथों की रचना हुई। रत्नपरीक्षा, द्रव्यपरीक्षा आदि विषयों पर विद्वानों ने लेखनी चलाई। प्राकृत का सबसे प्राचीन उपलब्ध शिलालेख हाथीगुंफा का शिलालेख है जो ईसवी सन् के पूर्व लगभग प्रथम शताब्दी में उदयगिरि पहाड़ी में उत्कीर्ण किया गया था।

इस प्रकार ईसवी सन् के पूर्व ५ वीं शताब्दी से लगाकर ईसवी सन् की १८ वीं शताब्दी तक प्राकृत भाषा का साहित्य बड़े वेग से आगे बढ़ता रहा। २३०० वर्षों के इस दीर्घकालीन इतिहास में उसे भिन्न-भिन्न अवस्थाओं से गुजरना पड़ा। उसमें धर्मोपदेश उद्धृत किये गये, लौकिक आख्यानों की रचना हुई, काव्यों का सर्जन हुआ, नाटक लिखे गये तथा व्याकरण, छंद और कोशों का निर्माण हुआ। यदि प्राकृत संस्कृत की शैली आदि से प्रभावित हुई तो संस्कृत को भी उसने कम प्रभावित नहीं किया। दोनों में वही संबंध रहा जो दो बहनों में हुआ करता है। प्राकृत ने जब-जब संस्कृत की देखा-देखी साहित्यक रूप धारण करने का प्रयत्न किया तब-तब वह जन-समाज से दूर हो गई। बोलचाल की वैदिक प्राकृत को जब साहित्यिक रूप मिला तो वह संस्कृत बन गई। आगे चलकर यही प्राकृत पालि और अर्धमागधी के रूप में हमारे सामने उपस्थित हुई। जब उसका भी साहित्यिक रूप निर्माण होने लगा तो बोलचाल की प्राकृत भाषा अपभ्रंश कही जाने लगी। अपभ्रंश के पश्चात् देशी भाषाओं का उदय हुआ। तात्पर्य यह है कि प्राकृत ने जनसमुदाय का साथ नहीं छोड़ा।

परवर्ती भारतीय साहित्य को प्राकृत ने अनेक रूप में प्रभावित किया। मध्ययुगीन संत कवियों, वैष्णव भक्तों, सूफियों के प्रेमाख्यानों, सतसइयों, वैराग्य-उक्तियों और नीति-वाक्यों पर इस साहित्य की छाप पड़ी। अब तक संस्कृत साहित्य को ही विशेष महत्त्व दिया जाता था, लेकिन प्राकृत के विपुल साहित्य के प्रकाश में आने से अब इस साहित्य के अध्ययन की ओर भी विद्वानों की रुचि बढ़ेगी, ऐसी आशा है।



परिशिष्ट–१

कतिपय प्राकृत ग्रन्थों की शब्दसूची

(क) आचारांसूत्र (प्राचीन आगम)

मइमं = मतिमान्
असइं = अनेक बार
आहट्ट (आहृत्य) = रखकर
सगडब्भि (स्वकृतभित्) = अपने किये कर्म को भेदन करनेवाला
विण्णू = विद्वान्
अतिविज्जो = अति विद्वान्
लंभो = लाभ
सागारिक = मैथुन
वुइया (उक्ता) = कहा
किट्टइ (कीर्तयति) = कहता है
हुरत्था = अन्यत्र
कुज्जा (कुर्यात्) = करे
हावए (स्थापयेत्) = स्थापना करे
अदक्खु = देखते थे
एलिक्खए = इस प्रकार की
घास = ग्रास
उक्खा = एक प्रकार का बर्तन
खद्धं खद्धं = जल्दी जल्दी
भिलुग = जहाँ की जमीन फट गई हो
दुरुक्क = थोड़ा पीसा हुआ
आएसग = अतिथि
णिणक्खु = बाहर निकलता है
ऊसढ = उत्सृष्ट
वच्च (वर्चस्) = रूप
वियड = प्रासुक जल
जुगमायं = युगमात्र
उत्तिंग = छिद्र
जवस = धान्य
पमेइलं (प्रमेदस्वी) = बहुत चर्बीवाला
असंथड = असमर्थ
अस्सं पडियाए (अस्वप्रत्यय) = अपने लिये नहीं
विहं = मार्ग
णीहट्टु (निस्सार्य) = निकाल कर

सूत्रकृतांगसूत्र (प्राचीन आगम)

णूम = माया
छन्न = माया
कण्हुई = क्वचित्
आघं (आ + ख्या) = आख्यातवान्
विभज्जवाय = स्याद्वाद
णीइए = नित्यः
खेअन्न = निपुण
हण्णू = हन्यमान
हेच्च (हित्वा) = छोड़कर
अन्दु = जंजीर
मच्चिया = मर्त्याः
घडदासी = पानी भरने वाली
वुसी (वृषी) = साधु
गारत्थ = गृहस्थ

भगवतीसूत्र (प्राचीन आगम)

आइल्ल = आदिम
मत्थुलुंग = मस्तकमेधम् (भेजा)
पोहत्त = पृथक्त्व
कोट्टकिरिया = एक देवी = चंडी
बोंदि = शरीर
चुडिल्लच्व = जलते हुए घास के पूलों की भाँति
वेसालियसावय = वैशाली के रहनेवाले महावीर के श्रावक

कुत्तियावण = ऐसी दूकान जहाँ हर वस्तु मिलती हो।
चोप्पाल = चौपाल
पल्हत्थिअ = पलोथी
कासवग = नाई
वग्गू = वचन

ज्ञातृधर्मकथा (प्राचीन आगम)

अट्टणसाला = व्यायामशाला
जवणिया = यवनिका = परदा
अलंकारियसभा=बाल काटने का सैलून
पोच्चड[1] = निस्सार
चप्पुडिया = ताली देना
पढमिल्लुग = प्रथम
भिसिया = आसन
झोड़ा = जीर्ण
जीवविप्पजढं = जीव से वंचित = निश्चेतन
पायदद्दरिय = पाद का आघात
सवहसाविय=शपथशापित=शपथ दिलवाना
करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु = दोनों हाथों की अंजलि करके मस्तक पर रखना
उदुंबरपुप्फं पिव दुल्लहे सवणयाए, किं पुण पासणयाए = उदुम्बर के पुष्प के समान श्रवण करना भी दुर्लभ है, देखने की तो बात दूर रही।
आसुरुत्ते तिवलियं भिउडिं निडाले कट्टु = क्रोध से भ्रुकुटि चढ़ाकर
गिरिकंदरमल्लीणा इव चंपगलया = पर्वत की गुफा में सुरक्षित चंपक की लता की भाँति
मारामुक्के विव काए = वधस्थान से मुक्त कौए की भाँति
दसद्ध = पाँच
भोयणपिडग = खाना भेजने का डिब्बा (टिफिन)
जाणुकोप्परमाया = केवल घोंटू और कोहनी की माता (वंध्या)
हत्थसंगल्ली = हाथ में हाथ डालकर घूमना
नट्टुलग = नृत्य
निप्पट्ठपसिणवागरण (निस्+स्पृष्ट प्रश्नव्याकरण) = निरुत्तर
मुहमक्कडिया=मुँह टेढ़ा करके चिढ़ाना
आघयण = वधस्थान
पाणियधरिया = पनिहारिन
चिल्लग = दैदीप्यमान=चिलकता हुआ
निंदूसक[2] = गेंद

उवासगदसाओ (प्राचीन आगम)

मेढी = आधार
भुमगाओ (भ्रुवौ) = भौं
पोट्ट[3] = पेट
अंगुली = असुन्दर
पेयाल = प्रधान
चाउरंत = जिसके चार अंत हों (संसार)
नन्नत्थ (नान्यत्र) = सिवाय
निडाल = ललाट
वेहास (विहायस) = आकाश
अल्ललट्ठी (आर्द्र यष्टि) = मुलहठी
अमाघाय=जीवहिंसा न करने की घोषणा
मिसिमिसायमाण = क्रोध से दाँत पीसना

अन्तःकृतदशा (प्राचीन आगम)

णिंदू = बाँझ
वावत्ती (व्यापत्ति) = विपत्ति
पासादिय = प्रासादित=सुन्दर

---

१. पश्चिमी उत्तर प्रदेश में पोचड़ा
२. मराठी में चेंडू
३. मराठी में पोट

निलुक्कइ[1] = लुक जाना = छिप जाना
डिंभ = शिशु
पत्थियपिडग = पिटारी = टोकरी
वेयालिं (वेलायां) = किनारे पर
महेलिया = महिला
परिपेरंत (परिपर्यन्त) = आसपास
दवदव = शीघ्र
छल्लिया = छाल

प्रश्नव्याकरण (प्राचीन आगम)

अण्हय = आस्रव
एणी = मृगी
कलाय = सुनार
चंगेरी = फूलों की डलिया
पेहुण = मोर का पंख
पाठीन = एक प्रकार की मछली
मच्छंडी (मत्स्यंडी) = बूरा
सुसाण = श्मशान
हुंड = बेडौल
अचियत्त = अप्रीतिकारक
उंदर[2] = चूहा
कच्छुल्ल = खुजली के रोग से पीड़ित
गोमिया = ग्वाला
धणिय = अत्यन्त
पडिग्गह = पात्र
भट्ठभज्जण = भाड़ में भूनना
विडंग = कबूतरों का दड़ा
हत्थंदुय = हथकड़ी
लडह = सुन्दर

विपाकसूत्र (प्राचीन आगम)

अट्टपडाग = एक प्रकार की मछली
अद्धढाइज्ज = अर्धतृतीय = अढाई
आहेवच्च = आधिपत्य
कल्लाकल्लिं (कल्यम् कल्यम्) = हर सुबह
गुडा = घोड़े का बख्तर
णं = ननु
निब्बुड = निमग्न
वेसदार (वेश्या दारा) = वेश्या
हेट्ठा (अधस्तात्) = नीचे
उक्कुरुडिया = कचरा फेंकने की कूड़ी
आवसह = रहने का स्थान
अट्ठाए (अर्थाय) = के लिये
अप्पेगइय (अपि एकैक) = कुछ लोग
एगट्ठिया = एक नाव जिसमें एक ही आदमी बैठ सकता हो
खिप्पामेव (क्षिप्रम् एव) = शीघ्र ही
जन्नुपायवडिय (जानुपादपतित) = घुटने टेककर प्रणाम करना
देवाणुप्पिय = देवों को प्रिय (आदर-वाची शब्द)
पायरास (प्रातराश) = सुबह का कलेवा
हव्वं = शीघ्र ही
हडाहड = बहुत अधिक
जिमियभुत्तुत्तरागया = भोजन करके आये हुए
वग्गुरा = समूह

निशीथसूत्र (छेदसूत्र)

माउग्गाम[3] = स्त्री
वेणूसूइय = बाँस की सूई
सुब्भि = शुभ = अच्छा
कोलुण = करुणा
लहुसग = लघु
पाहुड = कलह
दगवीणिय = पतनाला
अंगादाण = जननेन्द्रिय

---

१. पश्चिमी उत्तरप्रदेश में लुकना
२. मराठी में उन्दीर
३. भोजपुरी में मउगी

तुंडिय = थेगला
पालु = अपान
पडियाणिया = थेगली
बहियावासी = अन्य गच्छ का
वुग्गह = कलह

बृहत्कल्पसूत्र (छेदसूत्र)

बव्वा = बल्वज
हरियाहडिया = हृताहृतिका
पवत्तिणी = साध्वियों में प्रधान साध्वी
वगडा = बाड़
सिहिरिणी=शिखरिणी=दही और चीनी से बना एक मिष्ट खाद्य (श्रीखंड)
तिरीडपट्ट = वृक्षविशेष की छाल का बना कपड़ा
सणय = सन
मेरा = मर्यादा
चिलियामिलिया = कनात = परदा
अहालन्दं = काल का एक परिमाण
सक्कुली = शष्कुली = तिलपापड़ी
नीहड (निर्हृत) = निर्गत
मोय = मूत्र

(ख) निशीथभाष्य (भाष्यों का समय ईसवी सन् की लगभग चौथी शताब्दी)

बाउल्ल[1] = गुड़िया
जड्ड = हाथी
उंमुग = अलाय = जलता हुआ काष्ठ
छप्पत्ति = जूँ (छह पैरवाली)
दोगच्च = दारिद्र्य
कट्टोल्ल = हल से तैयार की हुई भूमि
गल्लोल = एक प्रकार का पात्र
लाउणालो = अँगूठी
कोल्हुग = शृगाल
घडा = गोष्ठी
गंड = स्तन
वीरल्ल = श्येन पक्षी
उदद्दर = सुभिक्ष
फुट्टपत्थर = टूटे हुए पत्थर
केवडिय = कितना
वीसुंभण = जीव और शरीर का पृथक् होना
खोल = गोरस में भावित वस्त्र
छिहलि = शिखा
दगवारय = गडुआ
उसु = तिलक
खरकम्मिय = राजपुरुष
चमढ = निष्कारण गण से बहिष्कृत संयती
वट्टखुर = वृत्तखुर = श्रेष्ठ घोड़ा
कामजल = स्नान करने की चौकी
खोल्ल = कोटर
दमअ = दरिद्र
नेड्ड = घर
भोइया = पत्नी
मेहुणि (मैथुन के लिये ग्रहण योग्य) = मामा या फूआ की लड़की या साली
विग्गह = जननेन्द्रिय
अहिणव = अग्नि
ओम = दुर्भिक्ष
दउयर = जलोदर
लाया = लाजा
कुडुभग = जल का मेढ़क
कोणय = लाठी
अंचिय = दुर्भिक्ष
कमणी = जूते
मालवतेण = मालव पर्वत पर रहनेवाले चोर

---

१. मराठी में बाहुली।

भंडी = गाड़ी
भदंत = आचार्य
धाय = सुभिक्ष
अणुरंगा = गाड़ी
मेतर = प्रासुक
वेतुलिया = नास्तित्ववादी
इत्थी (सागारिय) = योनि
फेल्ल = दरिद्र
आयमणी = लुटिया
घोडा = चट्ट
दिट्ठपाठी = वैद्यक जाननेवाला
अप्पाहे = सकारण
खलुग = घुण्टी
मन्नु = क्रोध
दीणार = दीनार
सरडु = जिस फल में गुठली न हो।
वियरग = कूपिका
कोनाली = गोष्ठी
अलित्त = नौकादंड
गुंठ = घोड़ा
दंतिक्क = लड्डू आदि जो दाँत से तोड़ कर खाया जाता है।

व्यवहारभाष्य

संगार = संकेत
वाडुं = नाश
कडिल्ल = महागहन
वियरिय = जलाशय
सिग्ग = परिश्रम
खरिका = गर्दभी
संभलि = दूती
वोद = मूर्ख
रकडुय = मृतक भोजन
डेव = डिप = प्रपातं कुरु (टीका)
मुईग = मकोड़ा
संगिल्ल = समुदाय
सासेरा = यंत्रमयी नर्तकी
मयूरांगचूलिका = एक आभरण
मडप्फर = गमनोत्साह
खरिकामुखी = दासी
च्छेवग = मारी
किढग = वृद्ध
कासइ = कस्यचित्

बृहत्कल्पभाष्य (ईसवी सन् की लगभग चौथी शताब्दी)

मदुगु = जलकाक
कुड = घट
खउर = एक भाजन
वालुंक = चिर्भटिका = फूट
संडासग = संडसी
असंखड = कलह
साभरग = रूपक
कोत्थु = कौस्तुभ मणि
मोग्गरग = मोंगरे का पुष्प
मरुग = ब्राह्मण
सागारिय = मैथुनस्थान = योनि
किढी = स्थविर
चाड = पलायन
खुल = दुर्बल
तुप्प[1] = घी
सोलग = घोड़े का साईस
उंडिका = मुद्रा
चालिणि = चालनी = छलनी
ढंढणया = भेरी
चोप्प = चोक्ष = मूर्खः
जक्खुलिहण = यक्ष अर्थात् कुत्ते की जीभ से चाटा हुआ
उड्डंचक = याचक
कोल्लुपरंपर = कोल्लुकचक्रन्याय
तालायर = नट

---

१. मराठी में तूप।

डहर = बालक
कुवणय = लगुड
खोड = काष्ठमय
कलम = शालिविशेष
खग्गूड = आलसी = निद्रालु = अश्रद्धालु
काहीए = काथिक=कथा कहने में तल्लीन
धंतं = अतिशय
सागारिक = शय्यातर = वसति आदि देने वाला।
घाडिय = मित्र
साही = पंक्ति
छिन्ना = छिन्नाल = छिनाल
रुंद = विस्तीर्ण
ओवग = गर्त्त
खरय = दास
वेंटल = वशीकरणप्रयोग
वियरग = कूपिका
एरंडइय = जिसे हड़क उठी हो
सेडुग = कपास
दसा = किनारी
गोर = गोधूम
अवसावण = कांजी
डगण = एक यान
फिल्लसिया = फिसल गई
तत्ति = व्यापार
पव्वावी = प्रव्रजित
वसधि = वसति
जाधे = यदा
अहवण = अथवा
विगड = मद्य
सगल[1] = समस्त
भोइय = ग्रामस्वामी
सोट्टा[2] = सूखी लकड़ी
अहव्व = अक्षणिक
गोणी = बोरी
खउरियाओ = कलुषित चित्तवाला
णंतग = वस्त्र
खउर = चिकना पदार्थ
पिट्ठस्स पीसणं णिरत्थं = पीसे हुए को पीसना निरर्थक है
थाइणि = वडवा = घोड़ी
ओलि[3] = पंक्ति
पेलव = निःसत्त्व
मत्तग = मूत्र
कडहू = एक वृक्ष
कोंचवीरग = एक जलयान
उज्जल्ल = अत्यन्त मलिन
खट्टामल = पूपलिकाखादक = सौ वर्ष का बूढ़ा जो स्वयं खाट से उठने में असमर्थ हो।
नवरंग = दृतिका = मशक
मक्कोडग = मकोड़ा
पेलू = पूनी
बहिलग = करभी, वेसर, बैल आदि
अगंठिक = केला=(जिसमें गाँठ न हो)
चोल्लय = भोजन
उअपोत = आकीर्ण
गाध = कथ् = कहना
सेडग = श्वेत
खेरि = परिशाटी
गंधसाली = गंधशालि
अधव = अथवा
छुट्टगुल = गीला गुड
सिण्हा = अवश्याय
काइय = कायिकी = दीर्घशंका, लघुशंका
सीताजन्न = हलपूजा
घरासे = गृहवासे
रट्ठउड = राठौड

१. मराठी में सगळा
२. हिन्दी में सोंटा
३. मराठी में ओळी

सहू = सहिष्णु
अतर = ग्लान = रुग्ण
उद्दुंडुग = उपहास्य
पप्पा = प्राप्य = प्राप्त करके
डगलक = शौच के समय टट्टी पोंछने के लिये जैन साधुओं द्वारा काम में लाये जानेवाले मिट्टी के ढेले
संख = संग्राम
फुंफुका = कंडे की आग
फरुससाल = कुम्भकारशाला
वलिट्ठ = वरिष्ठ
लिसी = ऋषि
तलु = तरु
चुडुलि = उल्का
काणिट्ट = पत्थर की ईंटें
सज्झिल्लक = सगा भाई
मुहणंतक = मुखवस्त्रिका
मोरग = कुण्डल
भच्चक = भानजा
डब्बहत्थ[1] = बायाँ हाथ
गुज्झक्खिणी = स्वामिनी
होठ = अलीक
वेस्सा = अनिष्टा
वोगड = व्याकृत = स्फुट
तच्चणिय = बौद्ध भिक्षु
डिंडिम = गर्भ
एत्थ जती आसि = यहाँ कल यति था
तेण मि न आतो = इसलिये मैं नहीं आया
गुलु = गुरु
अंबल = अंबर
केलिस = कीदृश
कट्ठसिव = काठ का शिव
भूणय = पुत्र
उम्मरी = देहली
वेट्टिका = राजकन्या
आसिआवण = अपहरण
बोद्द = तरुण
कउय = एक नट
सारवण = प्रमार्जन
पुताई = उद्भ्रामिका
कुडंड = बाँस की टोकरी
खद्ध = प्रचुर

(ग) निशीथचूर्णी (चूर्णियों का काल ईसवी सन् की लगभग ६ ठी शताब्दी)

सइज्झिय = पड़ोसी
वुक्कण्णय = पासे
गोधम्म = मैथुन
सीता = श्मशान
खट्टिक = जाति का खटीक
मडह = लघु
वग्गलि=बारबार वमन करने की व्याधि
लोमसी = ककड़ी
हंसोलीणं = कंधे पर चढ़ना
इलय = छुरी
रिणकंठ = पानी का किनारा
पाइल्लग = मिट्टी खोदने का फावड़ा
चिलिच्चिल = आर्द्र
दोद्धिअ = वर्त्तन
सिग्गुण = शतद्रु वृक्ष
अद्धाणकप्प = रात्रिभोजन

वसुदेवहिण्डी (ईसवी सन् की लगभग पांचवीं शताब्दी

सस्सू = सास
कब्बडदेवया = कर्बटदेवता
वंठाण = अविवाहित
डिंडी (बंध) = गर्भसम्भव

---

१. गुजराती में डाबो हाथ

गामेल्लअ = ग्रामीण
सूयरपिल्लअ = सूअर का पिल्ला
वितड्डि = वेदिका
चोप्पड = चुपड़ा हुआ
रहिय = रथिक
कल्लाण = विवाह
सरीरोवरोह = शौच

उपदेशपद (ईसवी सन् की आठवीं शताब्दी)

छोयर[1] = छोकरा (लड़का)
लिंडी = लेंडी
अवाउडवसही (अव्यापृतवसही) = दिगंबर साधुओं की वसति
छोल्लिय = छोलना (छिलका उतारना)
आलुका = एक प्रकार का बर्तन
पिट्टण = पीटना
झुंटणक = एक पशु
अंगोहलि[2] = सिर छोड़ कर गले तक का स्नान
खाडहिला = गिलहरी
टार = छोटा घोड़ा
दंगिगय = गाय-बैलों का मुखिया
समर = कामदेव का आयतन
दोत्तडी = दुष्ट नदी
बिच्चुं[3] = बिच्छु

धर्मोपदेशमालाविवरण (ईसवी सन् की ६ वीं शताब्दी)

झोज्झ = युद्ध
वल्लूर (?)
अहव्वा = असती = कुलटा
ढयर = पिशाच
कयवर = कचरा
टिविडिक्किय = विभूषित
अनाड = जार
पुट्टालिया = पोटली
जोहार = जुहार
बरुअ = तृण

ज्ञानपंचमी (ईसवी सन् की ११ वीं शताब्दी से पूर्व)

छेली[4] = बकरी
गड्डरिय = भेड़
माइण्हिअ = मृगतृष्णा
संभालइ = संभालना
मक्कडय = बंदर
चरड = चरट (लुटेरों की एक जाति)
चिडय = चिड़िया
लत्त = लात
जोडिय = जोड़ना
सुघरी = बया
घाल्लिया = डाल देना

सुरसुंदरीचरिअ (ईसवी सन् की ११ वीं शताब्दी)

जुयारि = जंवार
देक्खलियं = देखा
वारहडी = युद्ध
डोलिया = डोली
सिलिंब = शिशु
टुंबय[5] = टक्कर मारना
वेडय = बेड़ा
तरिहि = तहिं = तो
रोलं[6] = आवाज
भंभला = मूर्ख
तुक्खार = घोड़े
टक्कर = टक्कर मारना
मेत्तल = कामदेव

---

१. गुजराती में छोकरा
२. मराठी में आंघोळ
३. हिन्दी में बिच्छू
४. मराठी में शेळी
५. गुजराती ठुम्बा
६. रौला पश्चिमी हिन्दी में

भवभावना (ईसवी सन् की १२ वीं शताब्दी)

काणवराड = कानी कौड़ी
चलुअतिग = तीन चुल्लू
गंदलीभूअ = गंदला
कंखणरोलो (?)
बंदुरा = अश्वशाला
गावीचुंखणडिंभ = कृष्ण का संबोधन
कुट्टए = कूटता है
डोय[1] = लकड़ी की डोई
कच्छोट्ट[2] = कछोटा
फाडए = फाड़ता है
ठिक्करियाओ = ठीकरियाँ
वाणिजाराय = बनजारे
चिंगिया (?)
रसोइ = रसोई
चुंटिऊण = चूंटकर
लूइआ = लू
छंटेइ = छींटता है
बुंबाओ[3] = चिल्लाना
लूडइ = लूटता है
बहिणी = बहन
रंडोलउ (?)
भेट्टिओ = भेंट की
कप्पासपूणी = कपास की पूनी
अंबिली = इमली
पोत्ते[4] = कपड़े
घरगोज्जरी = छिपकली
दम्म = द्रम्म
कण्णकडुय = कान को कडुआ लगने वाला
बड्डुय = बटुक
चक्खुलिंडि = आख का मैल(?)

पासनाहचरिय (ईसवी सन् की १२ वीं शताब्दी)

बेडिला = नौका, जहाज
कंडवडी (?)
तंबोलबीडओ = पान का बीड़ा
करवती[5] = करवा
रंधयारीहर = रसोईघर
आलपाल (?)
अराडी[6] = कोलाहल
कुसी = लोहे का हथियार
पेडा = मंजूषा, पेटी
तलहट्टी = सिंचन
टालिअ = भ्रष्ट
खोट्टिगा = खोटा सिक्का
गालिदाण = गाली देना

सुदंसणाचरिय (ईसवी सन् की १२ वीं शताब्दी)

नाहर = सिंह
रीठा = निन्दा
बइट्ठो = बैठा
गब्भिल्ल = कर्णधार (नाव का)
भाइणेयी = भागिनेयी
सुक्काण[7] = सुकान
दोसियहट्ट = कपड़े की दुकान
मुरुक्ख = मूर्ख

सुपासनाहचरिय (ईसवी सन् की १२ वीं शताब्दी)

निक्कालेउं = निकालने के लिये

---

१. गुजराती में डोयो
२. मराठी में कासोटा
३. गुजरानी में बूम मारना
४. पश्चिमी हिन्दी में पोत
५. मराठी में करवत
६. पश्चिमी उत्तर प्रदेश में राड
७. सुकान गुजराती में

चिंचिणीगा = घरट्टिका
दिज्जउ = दो
पुक्करइ = पुकारता है
डाल = शाखा
खिल्लियं = खरीदा
टोपी = टोपी
झुल्लंति = झूलते हैं
थुक्किऊण = थूककर
हेडाउ = दासी (?)
मंड = मांडा
उंडा[1] = गहरा
सिद्धिवधूपरिरंभ = सिद्धिरूपी वधू का आलिंगन
लिज्जउ = लो
ठगिओ = ठगा गया
झिलिओ = झेल लिया
साहुलि = एक वस्त्र
गड्डय = गाड़ी

सिरिवालकहा (ईसवी सन् की १५ वीं शताब्दी)

पेडय = समूह
मुक्कलपय = मुक्तपद = अकेले
आमूलचूल = अथ से इति तक
ढिंकली = एक पात्र
वेसरी = खच्चर
लाग = चुंगी
गुड्डर = खेमा
भुंगल = एक वाद्य

गाथासप्तशती (ईसवी सन् की प्रथम शताब्दी)

डिबंईउ = निंबकीट
छेप्प[2] = पूँछ
वोडही = कुमारी या तरुणी
चंदिल = नापित
वोड = दुष्ट अथवा कनछिदा
छीओल्लक = मुखविकार
अडअणा = असती
पाउहारी = खेत में भोजन ले जानेवाली स्त्री
करिमरि = बन्दी
पाडी = भैंस
भोण्डी = सूकरी
तउसी = खीरा
वेल्लहल = सुन्दर
लेहल = लंपट
मंडल = कुत्ता
कुडंग = महिष
चिरडी = वर्णमाला
कुद्दंति = कूदते हैं
चुंटंतो = चुनते हुए
पट्टइल = पटेल
खिल्लेइ = खेलता है
इड्डरीय = इडली (एक प्रकार की मिठाई)

लीलावती (ईसवी सन् की ८वीं शताब्दी

हलब्बोल = कोलाहल
अज्झा = नवपरिणीता
खोर = अधम स्त्री, वेश्या
पोरत्थ = दुर्जन
गुडिया[3]
पुल्ली = व्याघ्री
उत्तावल = उतावला

---

१. ऊण्डा गुजराती में
२. मराठी में शेपटी
३. मराठी में गुढीतोरण

परिशिष्ट-२

अलंकार ग्रन्थों में प्राकृत पद्यों की सूची

[गा० स० = गाथासप्तशती (बंबई, १९३३), सेतु = सेतुबन्ध (बंबई, १९३५), काव्या = काव्यादर्श, काव्यालं = काव्यालंकार (बंबई, १९०९), ध्वन्या० = ध्वन्यालोक (बनारस, १९५३), दश० = दशरूपक (बनारस, १९५५), स० कं० = सरस्वतीकंठाभरण (बंबई, १९३४), अलंकार = अलंकारसर्वस्व (बंबई, १८९३), का० प्र० = काव्यप्रकाश (बनारस, १९५५), काव्यानु० = काव्यानुशासन (बंबई, १९३८), साहित्य० = साहित्यदर्पण (बनारस, १९५५), रस० = रसगंगाधर (बंबई, १८८८), शृङ्गार० = शृङ्गार-प्रकाश (मद्रास, १९२६; मैसूर १९५५; इस ग्रन्थ के समस्त पद्य उद्धृत नहीं हैं]

अइकोवणा वि सासू रुआविआ गअवईअ सोण्हाए ।
पाअपडणोण्णआए दोसु विगलिएसु बलएसु ॥

(गा० स० ५, ९३; स० कं० ५, ३३९)

प्रोषितभर्तृका (जिस स्त्री का पति परदेश गया है) पुत्रवधू जब अपनी सास के पादवंदन के लिए गई तो उसके हाथ के दोनों कंकण निकल कर गिर पड़े, यह देखकर बहुत गुस्सेवाली सास भी रो पड़ी ।

अइ दिअर ! किं ण पेच्छसि आआसं किं मुहा पलोएसि ।
जाआइ बाहुमूलंमि अद्धअन्दाणँ पारिवाडिम् ॥

(गा० स० ६।७०; काव्या० पृ० ३६८, ५६८)

(भाभी अपने देवर से परिहास करती हुई कह रही है) हे देवर ! आकाश की ओर व्यर्थ ही क्या ताक रहे हो ? क्या अपनी प्रिया के वक्षःस्थल पर बने हुए नखक्षतों को नहीं देखते ? (अतिशयोक्ति अलंकार)

अइ दुम्मणआ ! अज्ज किणो पुच्छामि तुमं ।
जेण जिविज्जइ जेण विलासो पलिहिज्जइ कीस जणो ॥

(सं० कं० २, ३९५)

हे दुर्मनस्क ! आज मैं तुमसे पूछती हूँ कि जिसके कारण जीते हैं और जिससे आमोद-प्रमोद करते हैं, उस जन का क्यों परिहास किया जाता है ?

(रास का उदाहरण)

अइपिहुलं जलकुम्भं घेत्तूण समागदह्मि सहि ! तुरिअम् ।
समसेअसलिलणीसासणीसहा वीसमामि खणम् ॥ (का० प्र० ३, १३)

हे सखि ! मैं बहुत बड़ा जल का घड़ा लेकर जल्दी-जल्दी आई हूँ इससे श्रम के कारण पसीना बहने लगा है और मेरी साँस चलने लगी है जिसे मैं सहन नहीं

कर सकती, अतएव क्षण भर के लिए मैं विश्राम ले रही हूँ। (यहाँ चोरी-चोरी की हुई रति की ध्वनि व्यक्त की गई है)। (आर्थी व्यञ्जना)

अइ सहि ! वक्कुल्लाविरि च्छुहिहिसि गोत्तस्स मत्थए छारम् ।
अचन्तदत्तदिट्ठेण सामि (?) वलिएण हसिएण ॥

(स० कं० ३, १५५)

हे सखि ! वक्र आलापों के द्वारा अतिशय रूप से देखती हुई, वक्र हास्य द्वारा तू गोत्र के मस्तक पर राख लगायेगी (अर्थात् नाम दूषित करेगी)।

(पूर्ववत् का उदाहरण)

अगणिअसेसजुआणा बालअ ! वोलीणलोअमज्जाआ ।
अइ सा भमइ दिसामुहपसारिअच्छी तुह कएण ॥

(गा० स० ११५६; स० कं० ५, ३४१)

अरे नादान ! तुम्हारे सिवाय और सब नवयुवकों की अवगणना करके लोक-मर्यादा की परवा न करती हुई वह तुम्हें चारों तरफ आँखें खोल-खोलकर देखती फिरती है।

अच्छउ ताव मणहरं पिआए मुहदंसणं अइमहग्घं ।
तग्गामखेत्तसीमा वि झत्ति दिठ्ठा सुहावेइ ॥

(श्रृंगार० १३, ६०; गा० स० २, ६८)

प्रिया के अतिमहार्घ मनोहर मुखदर्शन की क्या बात कहें, उसके गाँव के खेत की सीमा देखकर भी अतिशय सुख प्राप्त होता है। (आह्लाद का उदाहरण)

अच्छेरं व णिहिं विअ सग्गे रज्जं व अमअपाणं व ।
आसि म्ह तं मुहुत्तं विणिअंसणदसणं तिस्सा ॥

(श्रृङ्गार० १०–४४; गा० स० २, २५)

एक क्षण भर के लिये उसे वस्त्रविहीन देखकर मैं आश्चर्यचकित रह गया, मानों कोई निधि मिल गई हो, स्वर्ग का राज्य प्राप्त हो गया हो, या फिर अमृत का पान कर लिया हो। (रति का उदाहरण)

अज्ज मए गन्तव्वं घणन्धआरे वि तस्स सुहअस्स ।
अज्जा णिमीलिअच्छी पअपरिवाडिं घरे कुणइ ॥

(गा० स० ३, ४९; स० कं० ५, १४७)

(रात्रि के समय) घोर अन्धकार होने पर भी आज मुझे उस सुभग के पास अवश्य जाना है, यह सोचकर नायिका अपने घर में आँख मींचकर चलने का अभ्यास करने लगी।

अज्ज मए तेण विणा अणुहूअसुहाइं संभरन्तीए ।
अहिणवमेहाणं रवो णिसामिओ वज्झपडहो व्व ॥

(गा० स० १, २९; स० कं० ५ १३८)

आज उसकी अनुपस्थिति में अनुभव किए हुए सुखों को स्मरण करते हुए मैंने

वध्यस्थान को ले जाते समय बजाये जाने वाले पटह के समान नूतन मेघों की गर्जना का शब्द सुना है।

अज्ज वि ताव एक्कं मा मं वारेहि पिअसहि ! रुअन्तिम् ।
कल्लि उण तम्मि गए जइ ण मरिस्सं ण रोइस्सम् ॥

(स० कं० ५, ३४५; गा० स० ५, २)

हे प्रियसखि ! आज केवल एक दिन के लिए रोती हुई मुझे मत रोको; कल उसके चले जाने पर, यदि मैं जीवित रही तो फिर कभी न रोऊँगी।

अज्ज वि सेअजलोल्लं पव्वाइ ण तीअ हलिअसोण्हाए।
फग्गुच्छणचिक्खिल्लं जं तइ दिण्णं थणुच्छंगे ॥

(स० कं० ५, २२६)

उस कृषक-वधू के स्तनों पर फाग खेलने (फग्गुच्छण) के अवसर पर लगाया हुआ कादों स्वेदजल से गीला होने पर आज भी नहीं छूटता।

अज्जवि हरि चमक्कइ कहकहवि न मंदरेण दलिआइं।
चन्दकलाकंदलसच्छहाइं लच्छीइ अंगाइं ॥

(काव्यानु०, पृ० ९९, १५९)

चन्द्रकला के अंकुर के समान लक्ष्मी का शरीर किसी भी कारण से मंदर पर्वत से दलित नहीं हुआ, यह देखकर विष्णु भगवान् आज भी आश्चर्यचकित होते हैं।

अज्ज वि बालो दामोअरो त्ति इअ जंपिए जसोआए।
कण्हमुहपेसिअच्छं णिहुअं हसिअं वअवहूहिं ॥

(गा० स० २, १२; स० कं० ४, २१९)

अभी तो कृष्ण बालक ही है, इस प्रकार यशोदा के कहने पर कृष्ण के मुँह को टकटकी लगाकर देखती हुई ब्रजवनितायें छिप-छिपकर हँसने लगीं।

(पर्याय अलंकार)

अज्ज सुरअंमि पिअसहि ! तस्स विलक्खत्तणं हरंतीए।
अकअत्थाए कअत्थो पिओ मए उणिअ मवऊढो ॥

(शृङ्गार ४७, २२९)

हे प्रिय सखि ! आज सुरत के समय उसकी लज्जा अपहरण करते हुए मुझ अकृतार्थ द्वारा कृतार्थ किया हुआ प्रियतम पुनः-पुनः मेरे द्वारा आलिंगन किया गया)

(नित्यानुकारी का उदाहरण।

अज्जाए णवणहक्खअणिक्खणे गरुअजोव्वणुत्तुंगम्।
पडिमागअणिअणअणुप्पलच्चिअं होइ थणवट्टम् ॥

(स० कं० ५, २२१; गा० स० २, ५०)

गुरु यौवन से उभरे अपने स्तनों पर बने हुए नूतन नखक्षतों को देखते समय नायिका के नेत्रों का (उसके स्तनों पर) जो प्रतिबिम्ब पड़ा, उससे ऐसा प्रतीत हुआ कि मानों नील कमलों से वह पूजा कर रही है।

अज्जाए पहारो णवलदाए दिण्णो पिएण थणवट्टे।
मिउओ वि दूसहो व्विअ जाओ हिअए सवत्तीणम् ॥
(ध्वन्या० उ० १, पृ० ७५)

प्रियतम ने अपनी प्रेयसी के स्तनों पर नई लता द्वारा जो प्रहार किया, वह कोमल होते हुए भी सौतों के हृदय को असह्य हो उठा। (लक्षणा का उदाहरण)

अणुणिअखणलद्धसुहे पुणोवि सम्भरिअमण्णुदूमिअविहले।
हिअए माणवईणं चिरेण पणअगरुओ पसम्मई रोसो ॥
(स० कं० ५, २७७)

मनुहार के कारण क्षण भर के लिए सुख को प्राप्त और स्मरण किए हुए क्रोध के कारण विह्वल ऐसी मानवती नायिकाओं के हृदय का प्रणयजन्य गंभीर रोष बहुत देर में शांत होता है।

अणुमरणपत्थिआए पच्चागअजीविए पिअअमम्मि।
वेहव्वमंडणं कुलवहुअ सोहग्गअं जाअम् ॥
(स० कं० ५, २७५; गा० स० ७, ३२)

कोई कुलवधू अपने पति के मर जाने पर सती होने जा रही थी कि इतने में उसका प्रियतम जी उठा। (ऐसे समय) उसने जो वैधव्यसूचक अलंकार धारण किये थे वे सौभाग्यसूचक हो गये।

अण्णत्थ वच्च बालय ! ण्हायंतिं कीस मं पुलोएसि।
एयं भो जायाभीरुयाणत्तहं चिय न होइ ॥
(काव्यानु० पृ० ८५, ८५)

हे नादान ! स्नान करती हुई मुझे तू क्यों देख रहा है ? यहाँ से चला जा। जो अपनी पत्नी से डरते हैं उनके लिए यह स्थान नहीं (ईर्ष्या के कारण प्रच्छन्न-कामिनी की यह उक्ति है)।

अण्णमहिलापसंगं दे देव ! करेसु अम्ह दइअस्स।
पुरिसा एक्कन्तरसा ण हु दोसगुणे विआणन्ति ॥
(स० कं० ५, २८८; गा० स० १, ४८)

हे देव ! हमारे प्रियतम को अन्य महिलाओं का भी साथ हो, क्योंकि एकनिष्ठ पुरुष स्त्रियों के गुण-दोषों को नहीं समझ पाते।

(परभाग अलंकार का उदाहरण)

अण्णह ण तीरइ च्चिअ परिवड्ढंतगरुअसंतावम्।
मरणविणोएण विणा विरमावेउं विरहदुक्खम् ॥
(सं० कं० ५, ३४२; गा० स० ४, ४९)

(प्रियतम के) विरह का दुख दिन प्रतिदिन बढ़ता हुआ घोर संताप उत्पन्न करता है; मरण-क्रीड़ा के बिना उसे शान्त करने का और कोई उपाय नहीं।

अण्णुअ ! णाहं कुविआ, उवऊहसु, किं मुहा पसाएमि।
तुह मण्णुसमुप्पण्णेण मज्झ माणेण वि ण कज्जम् ॥
(स० कं० ५, २४८)

हे नादान ! मैं गुस्सा नहीं हूँ। (नायक उत्तर देता है) तो फिर मेरा तू आलिंगन कर, मैं व्यर्थ ही तुझे मना रहा हूँ; तेरे क्रोध से उत्पन्न मान से मुझे प्रयोजन नहीं।

अण्णे वि हु होन्ति छणा ण उणो दीआलिआसरिच्छा दे।
जत्थ जहिच्छं गम्मइ पिअवसही दीवअमिसेण ॥
(स० कं ५, ३१५)

उत्सव बहुत से हैं लेकिन दिवाली के समान कोई उत्सव नहीं। इस अवसर पर इच्छानुसार कहीं भी जा सकते हैं और दीपक जलाने के बहाने अपने प्रिय की वसति में प्रवेश कर सकते हैं।

अण्णं लडहत्तणयं अण्ण च्चिय कावि वत्तणच्छाया।
सामा सामण्णपयावइस्स रेह च्चिय न होइ ॥
(काव्यानु० पृ० ३६८, ५६९; का० प्र० २०, ४५०)

इस नवयौवना की सुकुमारता कुछ और है और लावण्य कुछ और; किसी सामान्य प्रजापति की रचना यह कदापि नहीं हो सकती। (अतिशयोक्ति का उदाहरण)

अतहट्ठिए वि तहसट्ठिए व्व हिअअम्मि जा णिवेसेइ।
अत्थविसेसे सा जअइ विकडकइगोअरा वाणी ॥
(ध्वन्या० उ० ४, पृ० ५९८)

अर्थ विशेष में अविद्यमान अर्थ को जो विद्यमान की भाँति हृदय में बैठा देती है, ऐसी कवियों की उत्कृष्ट वाणी की विजय हो।

अत्तन्तहरमणिज्जं अम्हं गामस्स मंडणीहूअम्।
लुअतिलवाडिसरिच्छं सिसिरेण कअं भिसिणिसंडम् ॥
(स० कं० २, ७७)

हमारे गाँव की एकमात्र शोभा अत्यन्त रमणीय कमलिनी के वन को शिशिर ऋतु ने काटे हुए तिल के खेत के समान बना दिया !

अत्ता एत्थ तु मज्जइ एत्थ अहं दियसयं पुलोएसु।
मा पहिय रत्तिअंधय ! सेज्जाए महं नु मज्जिहसि ॥
(काव्यानु० पृ० ५३, १४; साहित्य, पृ० १७; काव्य० प्र० ५ १३६; गा० स० ७, ६७)

हे रतौंधी वाले पथिक ! तू दिन में ही देख ले कि मेरी सास यहाँ सोती है और मैं वहाँ, कहीं ऐसा न हो कि तू मेरी खाट पर गिर पड़े। (अभिनय और नियम अलंकार का उदाहरण)

अत्थक्कागअहिअए बहुआ दइअम्मि गुरुपुरओ।
जूरइ विअलंताणं हरिसविसट्टाण बलआणम् ॥ (स० कं० ५, २४१)

(प्रवास पर गये हुए) प्रियतम के अकस्मात् लौट आने पर हर्ष से स्खलित हुए कंकणों वाली वधू गुरुजनों को सामने देखकर झुर रही है।

अत्थक्करूसणं खणपसिज्जणं अलिअवअणणिब्बन्धो।
उम्मच्छरसन्तावो पुत्तअ ! पअवी सिणेहस्स ॥

(स० कं० ५, १७८; गा० स० ७, ७५)

हे पुत्र ! अचानक रूठ जाना, क्षणभर में प्रसन्न हो जाना, मिथ्या वचन कहकर किसी बात का आग्रह करना और ईर्ष्या से संताप करना—यह स्नेह का मार्ग है।

अद्दंसणेण पुत्तअ ! सुट्ठु वि णेहाणुबन्धगहिआइं।
हत्थउडपाणिआइं व कालेण गलन्ति पेम्माइं ॥

(स० कं० ५, ३२८; गा० स० ३, ३६)

हे पुत्र ! हस्तपुट में रखे हुए जल की भाँति स्नेहानुबंध से गृहीत सुष्ठु प्रेम दीर्घकाल तक दर्शन के अभाव में क्षीण होने लगता है।

अप्फन्दन्तेण णहं महिं च तडिउद्धमाइअदिसेण।
दुन्दहिगम्भीररवं दुन्दुहिअं अंबुवाहेण ॥

(स० कं० २, १९०)

आकाश और पृथ्वी पर फैल जानेवाला तथा बिजली से समस्त दिशाओं को प्रकाशित करनेवाला मेघ दुंदुभि की भाँति गंभीर शब्द करने लगा।

अमअमअ गअणसेहर रअणीमुहतिलअ चन्द ! दे च्छिवसु।
छित्तो जेहिं पिअअमो ममं वि तेहिं चिअ करेहिं ॥

(स० कं० ५, ३३७; गा० स० १, १६)

जिन किरणों द्वारा तू ने मेरे प्रियतम का स्पर्श किया है, उन्हीं किरणों से अमृत रूप, आकाश के मुकुट और रजनीमुख के तिलक हे चन्द्रमा ! तू मुझे भी स्पर्श कर। (परिकर अलंकार का उदाहरण)

अम्हारिसा वि कइणो कइणो हलिबुड्ढहालपमुहा वि।
मण्डुक्कमक्कडा वि हु होन्ति हरीसप्पसिंहा वि ॥

(स० कं० १, १३३)

कहाँ हमारे जैसे और कहाँ हरिवृद्ध और हाल इत्यादि (असाधारण प्रतिभाशाली) कवि ? कहाँ मेंढक और बंदर तथा कहाँ सर्प और सिंह ?

अलससिरोमणि धुत्ताणं अग्गिमो पुत्ति ! धणसमिद्धिमओ।
इअ भणिएण णअंगी पप्फुल्लविलोअणा जाआ ॥

(काव्य० ४, ६०)

हे पुत्रि ! (जिससे तुम प्रेम करती हो) वह आलसियों का शिरोमणि, धूर्तों का अगुआ और धन-सम्पत्तिवाला है। इतना सुनते ही उसकी आँखें खिल उठीं और उसका शरीर झुक गया। (अर्थशक्ति-उद्भव ध्वनि का उदाहरण)

अलिअपसुत्तअविणिमीलिअच्छ ! देसु सुहअ ! मज्झ ओआसं।
गण्डपरिउंबणापुलइअङ्ग ण पुणो चिराइस्सं ॥

(स० कं० ५, १६९; सा०, पृ० १९४; गा० स० १, २०)

झूठ-मूठ सोने का बहाना बनाकर अपनी आँखें मींचनेवाले हे सुभग! मुझे (अपने बिस्तरे पर) जगह दे। तुम्हारे कपोल का चुंबन लेने से तुम्हें पुलकित होते हुए मैंने देखा है। सच कहती हूँ, अब कभी इतनी देर न लगाऊँगी (उद्भेद और व्याज अलंकार का उदाहरण)

अवसर रोउं चिअ णिम्मिआइं मा पुससु मे हअच्छीइं।
दंसणमेत्तुम्मत्तेहिं जेहि हिअअं तुह ण णाअम्॥
(ध्वन्या० उ० ३, पृ० ३३१)

(हे शठ नायक!) यहाँ से दूर हो, मेरी अभागी आँखें (विधाता ने) रोने के लिए ही बनाई हैं, इन्हें मत पोंछ; तेरे दर्शन मात्र से उन्मत्त हुई ये आँखें तेरे हृदय को न पहचान सकीं।

अवऊहिअपुव्वदिसे समअं जोण्हाए सेविअपओसमुहे।
माइ! ण झिज्जउ रअणी वरदिसाइतपच्छिअम्मि मिअंके॥
(स० कं० ५, ३५६)

अपनी ज्योत्स्ना से जिसने पूर्व दिशा का आलिंगन किया है और प्रदोषमुख का जिसने पान किया है ऐसा चन्द्रमा पश्चिम दिशा की ओर जा रहा है। हे माई! रात नहीं कटती।

अवरण्हाअअजाभाउअस्स विउणेइ मोहणुक्कंठं।
बहुआए घरपलोहरमज्जणमुहलो वलअसद्दो॥ (शृंगार २२, ९८)

दामाद का अपराह्नकाल में आगमन सुरत की उत्कंठा को दुगुना कर देता है। उस समय घर के पिछवाड़े स्नान में संलग्न वधू के कंकड़ों का शब्द सुनाई देने लगा।

अवलम्बिअमाणपरम्मुहीअ एंतस्स माणिणी! पिअस्स।
पुट्ठपुलउग्गमो तुह कहेइ संमुहठिअं हिअअं॥
(स० कं० ५, ३८१; गा० स० १, ८७)

हे मानिनि! प्रियतम के आने पर तू मान करके बैठ गई, किन्तु तेरी पीठ के रोमांच से मालूम होता है कि तेरा हृदय उसमें लगा है।[1] (विरोध अलंकार का उदाहरण)

अवलम्बह मा संकह ण इमा गहलंघिया परिब्भमइ।
अत्थक्कगज्जिउब्भंतहित्थहिअआ पहिअजाआ॥
(स० कं० ५, ३४३; गा० स० ४, ८६)

सहसा बादलों के गर्जन से त्रस्त हुई प्रवास पर गये हुए पथिक की प्रियतमा घर छोड़कर भटकती फिरती है। किसी भूत-प्रेत की बाधा से वह पीड़ित नहीं, डरो मत। सहारा देकर इसे बाहर जाने से रोको।

---

१. मिलाइये—रही फेरि मुख हेरि इन हितसमुहे चित नारि।
दीठि परत उठि पीठि के पुलकैं कहत पुकारि॥
(बिहारीसतसई ५६७)

अवसहिअजणो पइणा सलाहमाणेण एच्चिरं हसिओ।
चन्दो त्ति तुज्झ मुहसंमुहदिण्णकुसुमंजलिविलक्खो॥

(स० कं० ५, २९८; गा० स० ४, ४६)

तुम्हारे रूप के प्रशंसक तुम्हारे पति के द्वारा, तुम्हारे मुख को चन्द्रोदय समझकर उसे कुसुमांजलि प्रदान करने के कारण लज्जित जन परिहास का पात्र हुआ।[1] (भ्रान्तिमान अलंकार का उदाहरण)

अविअह्णपेच्छणिज्जेण तक्खणं मामि! तेण दिट्ठेण।
सिविणअपीएण व पाणिएण तण्हच्चिअ ण फिट्टा॥ (श्रृंगार ४, ५)

हे मामी! उस क्षण अवितृष्ण नयनों से उसे देखने से ऐसा मालूम हुआ जैसे स्वप्न में जल का पान किया है और उससे तृष्णा ही नहीं बुझी।

अविभाविअरअणिमुहं तस्स अ सच्चरिअविमलचन्दुज्जोअम्।
जाअं पिआविरोहे बद्धन्ताणुसअमूढलक्खं हिअअम्॥

(स० कं० ५, २०३)

सन्ध्याकाल बीत जाने पर, सच्चरित्र रूपी निर्मल चन्द्रमा के प्रकाश से प्रकाशित उस (नायिका) का हृदय, अपने प्रियतम के पास रहने पर, वृद्धि को प्राप्त अतिशय प्रेम के कारण विक्षिप्त जैसा दिखाई दिया।

अव्वोछिण्णपसरिओ अहिअं उद्धाइ फुरिअसूरच्छाओ।
उच्छाहो सुहडाणं विसमक्खलिओ महाणईणं सोत्तो॥

(स० कं ४, ५२; सेतुबंध ३, १७)

महानदियों के प्रवाह की भाँति विषम संकट में स्खलित (प्रवाह के पक्ष में विषम भूमि पर स्खलित), अव्यवच्छिन्न रूप से फैलने वाला और शूरवीरों की मुखश्री बढ़ाने वाला (प्रवाह के पक्ष में सूर्य की छाया के प्रतिबिम्ब से युक्त) ऐसा सुभटों का उत्साह अधिकाधिक तीव्रता से अग्रसर होता है।

अव्वो दुक्करआरअ! पुणो वि तत्तिं करेसि गमणस्स।
अज्ज वि ण होंति सरला वेणीअ तरंगिणो चिउरा॥

(सं० कं० ५, २९१; गा० स० ३, ७३)

हे निर्दयी! अभी तो मेरी वेणी के केश भी सीधे नहीं हुए और तू फिर से जाने की बात करने लगा।[2]

असईण णमो ताणं दप्पणसरिसेसु जाण हिअएसु।
जोच्चेअ ठाइ पुरओ सहसा सोच्चेअ संकमइ॥ (श्रृङ्गार ४२, २०७)

---

१. मिलाइये—तू रहि हौंही ससि लखौं चढ़ि न अटा बलि बाल।
सबहिनु बिनु ही ससि लखैं देहैं अरघ अकाल॥
(बिहारीसतसई २८४)

२. मिलाइये—अज्यों न आये सहज रंग विरह दूबरे गात।
अबही कहा चलाइयत ललन चलन की बात॥
(बिहारीसतसई ६)

कुलटा स्त्रियों को नमस्कार है, जिनके दर्पण के समान हृदयों में जो सामने उपस्थित है, वही हूबहू प्रतिबिंबित भी होता है।

असमत्तो वि समप्पइ अपरिग्गहिअलहुओ परगुणालावो।
तस्स पिआपडिबद्धा ण समप्पइ रइसुहासमत्ता वि कहा॥

(स० कं० ५, ३४०)

अतिशय महान् दूसरे के गुणों की प्रशंसा असमाप्त होकर भी समाप्त हो जाती है, लेकिन उसकी प्रियतमा के रतिसुख की कथा कभी समाप्त नहीं होती।

असमत्तमण्डणा च्चिअ वच्च घरं से सकोउहल्लस्स।
बोलाविअहलहलअस्स पुत्ति! चित्ते ण लग्गिहिसि॥

(स० कं० ५, १७४; गा० स० १, २१)

हे पुत्रि! तू अपने साज-श्रृङ्गार के पूर्ण हुए बिना ही (तेरी प्रतीक्षा में) उत्सुकता से बैठे हुए अपने प्रिय के घर जा। उसकी उत्सुकता शिथिल हो जाने पर फिर तू उसके मन न भायेगी।

अह तइ सहत्थदिण्णो कह वि खलन्तमत्तजणमज्झे।
तिस्सा थणेसु जाओ विलेवणं कोमुईवासो॥

(स० कं० ५, ३१४)

पूर्णिमा की ज्योत्स्ना किसी नायिका के स्तनपृष्ठ पर पड़ रही है, मालूम होता है कि स्खलित होते हुए मदोन्मत्त लोगों के बीच में किसी नायक ने अपने हाथों से उसके स्तनों पर लेप कर दिया है।

अह धाविऊण संगमएण सव्वंगिअं पडिच्छन्ति।
फग्गुमहे तरुणीओ गहवइसुअहत्थचिक्खिल्लं॥

(स० कं० ५, ३०४)

एक साथ दौड़कर युवतियाँ, फाग के उत्सव पर, गृहपति के पुत्र के हाथ की कीचड़ को अपने समस्त अङ्ग में लगवाने के लिए उत्सुक हो रही हैं।

अहयं लज्जालुइणी तस्सवि उम्मन्थराइं पिम्माइं।
सहिआअणो अ निउणो अलाहि किं पायराएण॥

(काव्यानु० पृ० १५५, १७५; गा० स० २, २७)

मैं तो शरमीली हूँ, और उसका प्रेम उत्कट है; मेरी सखियाँ (जरा से निशान से) सब कुछ समझ जाती हैं; फिर भला मेरे चरणों के रंगने से क्या लाभ? (रतिक्रीड़ा के समय पुरुष के समान आचरण करने वाली नायिका की यह उक्ति है।) (व्याजोक्ति अलंकार का उदाहरण)

अह सा तहिं तहिं च्चिअ वाणीरवणम्मि चुक्कसंकेआ।
तुह दंसणं विमग्गइ पब्भट्ठणिहाणठाणं व॥

(स० कं० ५, ४००; गा० स० ४, १८)

उसी बेंत के वन में दिये हुए संकेत को भूलकर वह, निधिस्थल को भूले हुए व्यक्ति की भाँति, तुम्हारे दर्शन के लिए इधर-उधर भटकती फिर रही है।

अह सो विलक्खहिअओ मए अहव्वाइ अगणिअप्पणओ ।
परवज्जणच्चिरीहिं तुम्हेहिं उवेक्खिओ जंतो ॥

(स० कं ५, ३९९; गा० स० ५, २०)

हे सखियो ! उसके प्रणय की परवा न कर मुझ अभागिनी ने उसे लज्जित कर दिया और परपुरुष को वाद्यपूर्वक नचाते हुए तुम लोगों ने बाहर जाते समय उसकी उपेक्षा की ।

अहिणवपओअरसिएसु सोहइ सामाइएसु दिअहेसु ।
रहसपसारिअगीआणं णच्चिअं मोरविन्दाणं ॥

(साहित्य० पृ० ८४९; ध्वन्या उ० ३, पृ० ५७४; गा० स० ६, ५९)

अभिनव मेघों की गर्जना से युक्त रात्रि की भाँति दिखाई देने वाले दिनों में (मेघ को देखने के लिए) शीघ्रता से अपनी गर्दन उठाने वाले मोरों का नाच कितना सुन्दर लगता है ! (उपमा और रूपक का उदाहरण)

अहिणवमणहरविरइअवलयविहूसा विहाइ णवबहुआ ।
कुंदलयव्व समुप्फुल्लगुच्छपरिलिंतभमरगणा ॥

(काव्यानु० पृ० २०७, २२५; स० कं० १, ३७)

अभिनव सुन्दर कंकणों के आभूषणों से नववधू शोभित हो रही है, मानों फूलों के गुच्छों पर मड़राते हुए भौरों से वेष्टित कुंदपुष्प की लता हो ।

(अधिक उपमा का उदाहरण)

आअम्बलोअणाणं ओल्लंसुअपाअडोरुजहणाणं ।
अवरण्हमज्जिरीणं कए ण कामो धणुं वहइ ॥

(स० कं० ५, १३५; गा० स० ५, ७३)

(सद्यः स्नान करने से) जिसके नेत्र ललौहें हो गये हैं, और गीले वस्त्र होने से जिसके उरु और जघन दिखाई पड़ रहे हैं, अपराह्न काल में स्नात ऐसी नायिका के लिए कामदेव को धनुष धारण करने की आवश्यकता नहीं पड़ती (ऐसी नायिका तो स्वयं ही कामीजनों के मन में क्षोभ उत्पन्न कर देती है) ।

आअरपणमिओट्ठं अघडिअणासं असंघडिअणिलाडम् ।
वण्णग्घअलिप्पमुहीअ तीअ परिउम्बणं मरिमो ॥

(स० कं ५, २१२; गा० स० १, २२)

हल्दीमिश्रित घी से लिप्त मुँहवाली (रजस्वला स्त्री ने) अपनी नासिका और ललाट के स्पर्श को बचाते हुए बड़े आदर से अपने अधरोष्ठ को झुकाकर जो चुंबन दिया वह हमें आज भी याद है ।

आउज्झिअ पिट्टिअए जह कुक्कुलि णाम मज्झ भत्ताले ।
पेक्खन्तह लाउलकण्णिआह हा कस्स कन्देमि ॥

(स० कं० १, ३१)

कुक्कुर की भाँति मेरे भर्ता को डाँट-फटकार कर पीटा गया । हे राजकुल के कर्मचारियो ! देखो, अब मैं किसके आगे रोऊँ ?

आणासआइ देंती तह सुरए हरिसविअसिअकवोला ।
गोसे वि ओणअमुही असमोत्ति पिआं ण सद्दहिमो ॥
(शृङ्गार ५३, १)

हर्ष से विकसित कपोलवाली और सुरत के समय सैकड़ों आज्ञायें देनेवाली वही प्रिया प्रभात कालमें मुंह नीचा करके चलती है, यह विश्वास नहीं होता ।

आणिअपुलउब्भेओ सवत्तिपणअपरिधूसरम्मि वि गुरुए ।
पिअदंसणे पवड्ढइ मण्णुट्ठाणे वि रूप्पिणीअ पहरिसो ॥
(स० कं० ५, ३३०)

सपत्नी के प्रणय से अत्यधिक धूसरित और रोष के स्थान ऐसे प्रिय का दर्शन होने पर पुलकित हुई रुक्मिणी का हर्ष बढ़ने लगा ।

आम ! असइओ ओरम पइव्वए ण तुए मलिणिअं सीलम् ।
किं उण जणस्स जाअव्व चन्दिलं तं ण कामेमो ॥
(ध्वन्या० उ० ३, पृ० ५१८; गा० स० ५, १७)

अच्छा मैं कुल्टा हू और तू है पतिव्रता ! तू मुझसे दूर रह । कहीं तेरा शील तो दूषित नहीं हो गया ? एक साधारण वेश्या की भाँति उस नाई पर तो मेरा दिल नहीं चला गया ?

आलाओ मा दिज्जउ लोअविरुद्धंति णाम काऊण ।
समुहापडिए को वेरिए वि दिट्ठिं ण पाडेइ ॥
(स० कं० ५, १४६)

लोकविरुद्ध समझकर इसके संबंध में चर्चा मत करो । सामने आये हुए शत्रु के ऊपर भला कौन नजर नहीं डालता ?

आलोअन्त दिसाओ ससन्त जम्भन्त गन्त रोअन्त ।
मुज्झन्त पडन्त हसन्त पहिअ किं ते पउत्थेण ॥
(स० कं० ५, २६६; गा० स० ६, ४६)

हे पथिक ! अभी से जब तेरी यह दशा है कि तू इधर-उधर देख रहा है, तेरी साँस चलने लगी है, तू जम्हाई ले रहा है, कभी तू गाता है, कभी रोता है, कभी बेहोश हो जाता है, कभी गिर पड़ता है और कभी हँसने लगता है, तो फिर तेरे प्रवास पर जाने से क्या लाभ ?

आवाअभअअरं चिअ ण होइ दुक्खस्स दारुणं णिव्वहणम् ।
णाह ! जिअन्तीअ मए दिट्ठं सहिअं अ तुह इमं अवसाणम् ॥
(सं० क० ५, २५५)

दुख का दारुण निर्वाह अन्ततः भयंकर नहीं होता । हे नाथ ! जीवित अवस्था में मैंने तुम्हारे इस अन्त को देखा और सहन किया है । (सीता की रामचन्द्र के प्रति उक्ति) ।

आसाइयं अणाएण जेत्तियं तेत्तिअं चिअ विहीणं।
ओरमसु वसह ! इण्हिं रक्खिज्जइ गहवईच्छित्तं॥
(काव्या० पृ० ५४, १६)

हे बैल ! तूने बिना जाने खेत के कितने ही धान खा लिए, तू अब ठहर जा, क्योंकि गृहपति अब अपने खेत की रखवाली करने आ गया है।

(भाविक अलंकार का उदाहरण)

इमिणा सरएण ससी ससिणा वि णिसा णिसाइ कुमुअवणम्।
कुमुअवणेण अ पुलिणं पुलिणेण अ सोहए हंसउलम्॥
(स० कं० ४, २०५)

इस शरद् से चन्द्रमा, चन्द्रमा से रात्रि, रात्रि से कुमुदवन, कुमुदवन से नदीतट और नदीतट से हंस शोभा को प्राप्त होते हैं। (माला का उदाहरण)

ईसाकलुसस्स वि तुह मुहस्स णणु एस पुण्णिमायंदो।
अज्ज सरिसत्तणं पाविऊण अंगे चिय न माइ॥
(काव्यानु० पृ० ७६, १४५; ध्वन्या० उ० २ पृ० २०८)

(हे मनस्विनि !) देखो पूनो का यह चाँद ईर्ष्या से कलुषित तुम्हारे मुख की समानता पाकर फूला नहीं समाता।

उअहिस्स जसेण जसं धीरं धीरेण गरुअआइ वि गरुअम्।
रामो ठिएअ वि ठिइं भणइ रवेण अ रवं समुप्फुदन्तो॥
(स० कं० २, २४०; सेतुबंध ४, ४३)

(रामचन्द्र) अपने यश से समुद्र के यश, अपने धैर्य से उसके धैर्य, अपनी गम्भीरता से उसकी गम्भीरता, अपनी मर्यादा से उसकी मर्यादा और अपनी ध्वनि से उसकी ध्वनि को आक्रान्त करते हुए कहने लगे।

उअ णिच्चलणिप्पन्दा भिसिणीपत्तम्मि रेहइ बलाआ।
निम्मलमरगअभाअणपरिट्ठिआ संखसुत्ति व्व॥
(साहित्य० पृ० ६३; गा० स० १, ४; काव्यप्रकाश २, ८)

(अरे प्रियतम !) देखो कमलिनियों के पत्तों पर निश्चल और स्थिर बगुलों की पंक्ति ऐसी शोभित हो रही है मानो किसी निर्मल नीलम के पात्र में शंख की सीपी रक्खी हो। (धर्मोक्ति, व्यंग्योक्ति और स्वभावोक्ति अलंकार का उदाहरण)

उच्चिणसु पडियकुसुमं मा धुण सेहालियं हलियसुण्हे।
एस अवसाणविरसो ससुरेण सुओ वलयसद्दो॥
(ध्वन्या० उ० २, पृ० २२३; काव्यानु० पृ० ५५, २०)

हे हलवाहे की पतोहू ! भूमि पर स्वयं गिरे हुए पारिजात के पुष्पों को चुन ले, उसकी टहनियाँ मत हिला, कारण कि तेरे कंकणों के अप्रीतिकर शब्द को तेरे श्वसुर ने सुन लिया है।

उज्झसि पिआइ समअं तहवि हु रे ण भणसि कीस किसिअं ति।
उवरिभरेण अ अण्णुअ! मुअइ बइल्लोवि अंगाइम् ॥
(सं० कं० ४, १२०; गा० स० ३, ७५)

प्रिया के द्वारा तू वहन किया जाता है और फिर भी तू उसी से पूछता है कि तू कृश क्यों हो गई है! हे नादान! अपने ऊपर भार लादने से तो बैल भी कृश हो जाता है। (सहोक्ति अलंकार का उदाहरण)

उद्धन्तमहारम्भे थणए दट्ठूण मुद्धबहुआए।
ओसण्णकवोलाए णीससिअं पढमघरिणीए॥
(स० कं ५ ३८७; गा० स० ४, ८२)

मुग्धा वधू के आरम्भ से ही उठावदार स्तनों को देखकर सूखे कपोल वाली पहली पत्नी सांस मारने लगी।[1]

उत्तंसिऊण दोहलविअसिआसो अमिन्दुवदणाए।
विरहिणो णिप्फलकंकेल्लिकरणसद्दो समुप्पुसिओ ॥(स० कं० ५, ३०५)

चन्द्रमुखी ने अपने पाद के आघात से अशोक को विकसित करके मानो ब्रह्मा के फलविहीन अशोक वृक्ष के सर्जन को ही निरर्थक कर दिया है।

उदित्तरकआभोआ जह जह थणआ विणन्ति बालाणम्।
तह तह लद्धावासो व्व मम्महो हिअअमाविसइ॥
(ध्वन्या० ३, ४, पृ० ६०४)

फैले हुए केशों के विस्तार से आच्छादित बालिकाओं के स्तन जैसे-जैसे बढ़ते हैं, वैसे-वैसे मानो अवसर पाकर कामदेव हृदय में प्रवेश करता है।

उद्धच्छो पिअइ जलं जह जह विरलंगुली चिरं पहिओ।
पाआवलिआ वि तह तह धारं तणुअंपि तणुएइ॥
(स० कं० ३, ७३; गा० स० २, ६१)

जैसे-जैसे पथिक अपनी उंगलियों को विरल करके आँखों को ऊपर उठाकर (पानी पिलाने वाली को देखने के लिए) बहुत देर तक पानी पीता है, वैसे-वैसे प्याऊ पर बैठकर पानी पिलाने वाली भी पानी की धार को कम-कम करती जाती है। (अन्योन्य और प्रतीयमान अलंकार का उदाहरण)

उप्पहजायाए असोहिणीए फलकुसुमपत्तरहिआए।
बोरीए वइं देन्तो पामर! हो हो हसिज्जिहसि॥
(काव्यानु० पृ० ३६०, ५४७; ध्वन्या० उ० ३, पृ० ५४२)

हे पामर! कुमार्ग (अधम कुल) में उत्पन्न, अशोभनीय (कुरूप) तथा फल, पुष्प और पत्तों (संतान) से रहित ऐसी बेरी (स्त्री) की बाड़ लगाने (स्त्री को अपने घर में बसाने) वाले पुरुष का लोग उपहास करेंगे।
(अप्रस्तुतप्रशंसा का उदाहरण)

---

१. बाढ़तु तो उर उरज भर भरि तरुनई विकास।
बोझनु सौतिनु कै हियैं आवति रूँधि उसास॥ (बिहारीसतसई ४४९)

उम्मूलिआण खुडिआ उक्खिप्पंताण उज्जुअं ओसरिआ।
णिज्जंताण णिराआ गिरीण मग्गेण पत्थिआ णइसोत्ता॥
(स० कं ४, १७३; सेतुबंध ६, ८१)

उन्मूलित होकर खंडित, उत्क्षिप्त होकर सरल भाव से बहने वाले और टेढ़े मार्ग से ले जाये जाकर दीर्घ बने ऐसे नदी के प्रवाह पहाड़ी रास्तों से बहते हैं। (संबंधिपरिकर अलंकार का उदाहरण)

उरपेल्लिअवइकारिल्लआइं उच्चेसि दइअवच्छलिए।
कण्टअविलिहिअपीणुण्णअत्थणि उत्तम्मसु एत्ताहे॥ (स० कं० ४ ८४)

हे अपने प्रियतम की लाड़ली ! तू ही अपने वक्षस्थल से बाड़ को मर्दन कर करवेली के फल तोड़ने गई थी जिससे तेरे पीन और उन्मत्त स्तन काँटों से क्षत हो गये हैं, अब तू संताप को प्राप्त हो (इसमें दूसरे किसी का क्या दोष ?)

उल्लाअइ से अंगं ऊरु वेवन्ति कूवलो गलइ।
ऊच्छुच्छुलेइ हिअअं पिआअमे पुप्फवइआइ॥ (स० कं० ५, २४५)

प्रिय के आने पर पुष्पवती (रजस्वला) का अंग स्वेदयुक्त होने लगता है, जंघा कंपित होने लगती है, जघन का वस्त्र गलित हो जाता है और हृदय थरथर काँपने लगता है।

उव्वहइ णवतिणंकुररोमञ्चपसाहिआइं अंगाइं।
पाउसलच्छीए पओहरेहिं पडिवेल्लिओ विंज्झो॥
(स० कं ५, १४; गा० स० ६, ७७)

प्रावृट् शोभा (वर्षा ऋतु) के पयोधरों (स्तन अथवा बादल) से पीड़ित विन्ध्य पर्वत नूतन तृणांकुर रूपी रोमांचों से मंडित शरीर को धारण करता है। (रूपक अलंकार का उदाहरण)

उव्वहइ दइअगहिआहरोट्ठज्झिज्जन्तरोसपडिराअम्।
पाणोसरन्तमइरं चसअं व णिअं मुहं बाला॥
(स० कं ५, १८९; गउड० ६९०)

प्रीतम के द्वारा अधरोष्ठ ग्रहण करने से जिसके रोष की लाली फीकी पड़ गई है ऐसी नायिका का मुख मदिरा से आरक्त मदिरा-पात्र की भाँति प्रतीत हो रहा है।

ए एहि किंपि कीएवि कएण णिक्किव ! भणामि अलमहवा।
अविआरिअकज्जारंभआरिणी मरउ ण भणिस्सम्॥
(काव्य० प्र० १०, ४७१)

अरे निष्ठुर ! जरा यहाँ तो आ, मुझे उसके बारे में तुझसे कुछ कहना है; अथवा रहने दे, क्या कहूँ ! बिना विचारे मनमाना करने वाली यदि वह मर जाय तो अच्छा है, अब मैं कुछ न कहूँगी। (आक्षेप अलंकार का उदाहरण)

ए एहि दाव सुन्दरि ! कण्णं दाऊण सुणसु वअणिज्जम्।
तुज्झ मुहेण किसोअरि ! चन्दो उअमिज्जइ जणेण॥
(काव्य प्र० १०, ५५४)

हे सुन्दरि ! जरा इधर आ, कान लगाकर अपनी निन्दा सुन। हे कृशोदरि ! लोग अब तेरे मुख के साथ चन्द्रमा की उपमा देने लगे हैं।

(प्रतीप अलंकार का उदाहरण)

एक्कत्तो रुअइ पिया अण्णत्तो समरतूरनिग्घोसो।
नेहेण रणरसेण य भडस्स दोलाइयं हिअअम् ॥

(काव्यानु० पृ० १६८, १८७; दशरू० ४ पृ० २१२)

एक ओर प्रिया रुदन कर रही है, दूसरी ओर युद्ध की भेरी का घोष सुनाई दे रहा है, इस प्रकार स्नेह और युद्धरस के बीच योद्धा का हृदय डोलायमान हो रहा है। (रति और उत्साह नामक स्थायी भावों का चित्रण)

एक्को वि कालसारो ण देइ गन्तुं पआहिण वलन्तो।
किं उण बाहाउलिअं लोअणजुअलं मिअच्छीए ॥

(स० कं० ५, २४४; गा० स० १, २५)

दाहिनी ओर से बाईं ओर को जाता हुआ हरिण प्रवास के समय अपशकुन माना जाता है, फिर भला अश्रुपूर्ण नेत्रवाली मृगाक्षी (प्रियतमा) को देखकर तो और भी अपशकुन मानना चाहिये। (अर्थापत्ति अलंकार का उदाहरण)

एक्कं पहरुव्विण्णं हत्थं मुहमारुएण वीअन्तो।
सोत्ति हसन्तीए मए गहीओ बीएण कण्ठम्मि ॥

(स० कं० पृ० १७१; गा० स० १, ८६)

मेरे प्रहार से उद्विग्न, (मेरे) एक हाथ में अपने मुँह से फूँक मारते हुए अपने प्रियतम को मैंने हँसते-हँसते दूसरे हाथ से अपने कंठ से लगा लिया।

एत्तो वि ण सच्चविओ गोसे पसरत्तपल्लवारुणच्छाओ।
मज्जणतंबेसु मओ तह मअतंबेसु लोअणेसु अमरिसो ॥

(स० कं० ३ पृ० १२६; काव्या० पृ० ३६९, ५७२)

प्रभातकाल में जिसके स्नान के पश्चात् ललौहें नेत्रों में फैलते हुए पल्लवों का अरुण राग रूपी मद, तथा मद से ललौहें नेत्रों में अमर्ष (क्रोध) आता हुआ भी दिखाई नहीं दिया। (यह अतिशयोक्ति का उदाहरण है। यहाँ नेत्रों के दोनों प्रकार के अरुण राग में अभिन्नता दिखाई है)।

एद्दहमित्तत्थणिया एद्दहमित्तेहिं अच्छिवत्तेहिं।
एयावत्थं पत्ता एत्तियमित्तेहिं दियहेहिं ॥

(काव्या० पृ० ६५, ५२; स० कं० २, ८२; काव्य० २, ११)

इतने थोड़े से ही दिनों में यह सुन्दरी इतने बड़े-बड़े स्तनों वाली और इतनी बड़ी आँखों वाली हो गई ! (अभिनय अलंकार का उदाहरण)

एमेअ अकअउण्णा अप्पत्तमणोरहा विवज्जिस्सं।
जणवाओ वि ण जाओ तेण समं हलिअउत्तेण ॥ (स० कं० ५, १४१)

उस हलवाहे के साथ मेरी बदनामी भी न हुई, इस प्रकार मैं अभागी अपना मनोरथ पूरा न होने से विपद में पड़ गई हूँ।

एमेअ जणो तिस्सा देइ कवोलोवमाइ ससिबिम्बम्।
परमत्थविआरे उण चन्दो चन्दो च्चिय वराओ॥
(काव्यानु पृ० २१६, ३४२; ध्वन्या० उ० ३, पृ० २३२)

उस सुन्दरी के कपोलों की उपमा लोग व्यर्थ ही चन्द्रमा से देते हैं, वास्तव में देखा जाय तो चन्द्रमा बिचारा चन्द्रमा है (उसके साथ उसकी उपमा नहीं दी जा सकती)।

एसा कुडिलघणेण चिउरकडप्पेण तुह णिबद्धा वेणी।
मह सहि! दारइ दंसइ आअसजट्ठिव्व कालउरइव्व हिअअं॥
(साहित्य पृ० १७७)

हे मेरी सखि! कुटिल और घने केशकलाप से बद्ध तुम्हारी यह वेणी लोहे की यष्टि की भाँति हृदय में घाव करती है और कालसर्पिणी की भाँति डस लेती है।

एसो ससहरविम्बो दीसइ हेअंगवीणपिंडो व्व।
एदे अअस्स मोहा पडंति आसासु दुद्धधार व्व॥ (साहित्य पृ० ५६०)

यह चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब घृतपिण्ड की भाँति मालूम होता है और इसकी दूध की धार के समान किरणें चारों दिशाओं में फैल रही हैं।

एहिइ पिओ त्ति णिमिसं व जग्गिअं जामिणीअ पढमद्धं।
सेसं संतावपरव्वसाए वरिसं व वोलीणं॥ (स० कं० ५, ४०१)

प्रियतम आयेगा, यह सोचकर रात के पहले पहर में एक क्षण भर के लिये मैं जाग गई, उसके बाद बाकी रात संताप की दशा में एक वर्ष के समान बीती।

एहिइ सो वि पउत्थो अहअं कुप्पेज्ज सो वि अणुणेज्ज।
इअ कस्स वि फलइ मणोरहाणं माला पिअअमम्मि॥
(स० कं० ५, २४९; गा० स० १, १७)

प्रवास पर गया हुआ प्रियतम वापिस लौटेगा, मैं कोप करके बैठ जाऊंगी, फिर वह मेरी मनुहार करेगा—मनोरथों की यह अभिलाषा किसी भाग्यशालिनी की ही पूरी होती है।

ओण्णिद्दं दोब्बल्लं चिंता अलसंतणं सणीससिअम्।
मह मंदभाइणीए केरं सहि! तुहवि अहह परिभवइ॥
(काव्य० प्र० ३, १४ रसगंगा १, पृ० १६)

हे सखि! कितने दुःख की बात है कि मुझ अभागी के कारण तुझे भी अब नींद नहीं आती, तू दुर्बल हो गई है, चिन्ता से व्याकुल है, थकावट का अनुभव करने लगी है और लम्बी साँसों से कष्ट पा रही है। (यहाँ दूती नायिका के प्रेमी के साथ रति-सुख का उपभोग करने लगी है, उसी की व्यंजना है)।

(आर्थी व्यंजना का उदाहरण)

ओरत्तपंकअमुहिं वम्महणडिअं व सलिलसअणणिसण्णम्।
अल्लिअइ तीरणलिणिं वाआइ गमेइ सहचरिं चक्काओ॥
(स० कं० ५, ३५७)

कमल को मुख में धारण करके विरक्त हुई (तीरनलिनी के पक्ष में रक्त वर्ण वाली), कामदेव के द्वारा नर्तित (अथवा इधर-उधर हिलने वाली) और जलरूपी शयन पर सोती हुई (जल में स्थित) ऐसी अपनी सहचरी चकवी के पास चकवा अपने कूजन द्वारा प्राप्त होता है और तट की कमलिनी का आलिंगन करता है।

(तिर्यगाभास का उदाहरण)

ओल्लोल्लकरअरअणक्खएहिं तुह लोअणेसु मह दिण्णं।
रत्तंसुअं पआओ कोवेण पुणो इमे ण अक्कमिआ॥

(काव्य० प्र० ४. ७०)

हे प्रियतम! मेरे इन नेत्रों में क्रोध नहीं है। यह तो तुम्हारी (किसी सुंदरी के) दन्तक्षत और नखक्षत के द्वारा तुम्हें प्रसाद स्वरूप दिया हुआ एक रक्त अंशुक (वस्त्र) है। (नायक के प्रश्न करने पर कि तुम्हारे नेत्रों में क्रोध क्यों है, उत्तर में नायिका की यह उक्ति है)। (उत्तर अलंकार का उदाहरण)

ओवट्टइ उल्लट्टइ परिवट्टइ सअणे कहिंपि।
हिअएण फिट्टइ लज्जाइ खुट्टइ दिहीए सा॥ (साहित्य० पृ० ४९८)

वह (कोई विरहिणी) शय्या पर कभी नीचे मुँह करके लेट जाती है, कभी ऊपर को मुँह कर लेती है और कभी इधर-उधर करवट बदलती है। उसके मन को जरा भी चैन नहीं, लज्जा से वह खेद को प्राप्त होती है और उसका धीरज टूटने लगता है।

ओसुअइ दिण्णपडिवक्खवेअणं पसिढिलेहिं अंगेहिं।
णिव्वत्तिअसुरअरसाणुबन्धसुहणिब्भरं सोण्हा॥ (स० कं० ५, ६४)

सुरत समाप्त होने के पश्चात् जिसे अतिशय सुख प्राप्त हुआ है, और जिसने अपनी सौतों के हृदय में वेदना उत्पन्न की है, ऐसी शिथिल अंगों वाली पुत्रवधु (आराम से) शयन कर रही है।[1] (रसप्रकर्ष का उदाहरण)

अंतोहुत्तं डज्झइ जाआसुण्णे घरे हलिअउत्तो।
उक्खित्तणिहाणाइं व रमिअट्ठाणाइं पेच्छन्तो॥

(स० कं ५, २०७; गा० स० ४, ७३)

हलवाहे का पुत्र अपनी प्रियतमा से शून्य घर में, जमीन खोदकर ले जाये गये खजाने की भाँति, (पूर्वकाल में) रमण के स्थानों को देखकर मन ही मन झुर रहा है।

अंदोलणक्खणोट्ठिआए दिट्ठे तुमम्मि मुद्धाए।
आसंघिज्जइ काउं करपेल्लणणिच्चला दोला॥

(स० कं० ५, ३०१)

---

१. मिलाइये—रँगी सुरत-रँग पिय हियैं लगी जगी सब राति।
पैंड-पैंड पर ठठुकि कै ऐंड भरी ऐंडाति॥
(बिहारीसतसई १८३)

झूला झूलते समय ऊपर चढ़ी हुई मुग्धा की नजर जब तुम पर पड़ी तो वह अपने हाथों से झूले को थामने का प्रयत्न करने लगी।[1]

कअलीगब्भसरिच्छे ऊरु दट्ठूण हलिअसोण्हाए।
उल्ललइ णहरंजणं चंदिलस्स सेउल्लिअकरस्स॥

(स० कं० ५, १८४)

हलवाहे की पुत्रवधू की कदली की भाँति कोमल जंघाएं देखकर स्वेद से गीले हाथ वाले नाई के द्वारा नखों का रंगना भी गीला हो गया।[2]

कइआ गओ पिओ अज्ज पुत्ति अज्जेण कइ दिणा होन्ति।
एक्को एद्दहमेत्ते भणिए मोहं गआ बाला॥

(स० कं०, ५, २५४; शृङ्गारप्रकाश २३, ७१)

किसी नायिका ने प्रश्न किया कि प्रियतम कब गया है? उत्तर मिला—आज। नायिका ने पूछा—आज कितने दिन हो गये? उत्तर—एक। यह सुनते ही नायिका मूर्छित हो गई।

कडुए धूमंधारे अब्भुत्तणमग्गिणो समप्पिहिइ।
मुहकमलचुम्बणलेहलम्मि पासट्ठिए दिअरे॥ (स० कं० ५, ३९२)

मुखरूपी कमल के चुम्बन के अभिलाषी देवर के पास बैठने पर, कडुए धुंए से अंधेरा हो जाने पर (आग जलाने के लिए) आग में फूँक मारना भी बन्द हो गया। (सामान्य नायिका का उदाहरण)

कणइल्लि च्चिअ जाणइ कुन्तपलत्ताइ कीरसंलविरी।
पूसअभासं मुंचसु ण हु रे हं धिट्ठवाआडी॥

(स० कं० २, ६८)

शुक का वार्तालाप शुकी ही समझ सकती है, अतएव अरे! तू शुक की भाषा बोलना छोड़ दे, मैं धृष्ट शुकी नहीं हूँ (कोई विट शुक की बोली में अपनी प्रिया का उपहास कर रहा है, उसी के उत्तर में यह उक्ति है। यहाँ कुन्त, कीर और पूस शब्द शुक तथा कणइल्ली और वाआड़ी शब्द शुकी के पर्यायवाची हैं)।

कण्डुज्जुआ वराई सा अज्ज तए कआवराहेण।
अलसाइअरुण्णविअंभिआइं दिअहेण सिक्खिविया॥

(स० कं० ५, २०२; गा० स० ४, ५२)

---

१. मिलाइये—हेरि हिंडोरे गगन तैं, परी परी सी टूटि।
धरी धाय पिय बीच ही करी खरी रस लूटि॥
(बिहारीसतसई ७०५)

२. मिलाइये—नैंक उतैं उठि बैठिये कहा रहे गहि गेहु।
छुटी जाति नहँदी छिनकु महदी सूखन देहु॥ (वही ३७४)

वह बिचारी सरकंडे के समान सरल है, दिनभर आलस्य में बैठी हुई रोती है और जंभाई लेती रहती है। अपराधी तू है और दण्ड उसे भुगतना पड़ रहा है! (अन्यासक्त नायक के प्रति यह उक्ति है)। (संचारीभावों में अमर्ष का उदाहरण)

कत्तो सम्पडइ मह पिअसहि ! पिअसंगमो पओसे वि।
जं जिअजइ गहिअकरणिअरखिंखिरी चन्दचण्डालो॥

(स० कं० ५, १५१)

हे प्रिय सखि! जब तक कि यह दुष्ट चन्द्रमा अपने हाथ में खिंखरी (एक प्रकार का वाद्य) लिये जीवित है, तब तक प्रदोष के समय भी प्रियतम के साथ मिलाप कैसे हो सकता है?

कमलकरा रंभोरू कुवलअणअणा मिअंकवअणा सा।
कहं णु णवचंपअंगी मुणालबाहू पिआ तवइ॥

(स० कं० ४, ३)

कमल के समान हाथ वाली, कदली के समान ऊरु वाली, कुवलय के समान नेत्र वाली, चन्द्रमा के समान मुख वाली, नव चंपक कली के समान अंग वाली और मृणाल के समान बाहुवाली प्रिया भला क्यों संताप सहन नहीं करती? (अर्थात् करती ही है)

कमलाअरा ण मलिआ हंसा उड्डाविआ ण अ पिउच्छा!
केण वि गामतडाए अब्भं उत्ताणअं वूढम्॥

(ध्वन्यालोक उ० २ पृ० २१९; गा० स० २, १०)

हे बुआ जी! गांव के इस तालाब में न तो कमल ही खंडित हुए हैं, न हंस ही उड़े हैं, जान पड़ता है किसी ने आकाश को खींच-तान कर फैला दिया है। (तालाब में मेघ के प्रतिबिंब को देखकर किसी मुग्धा नायिका की यह उक्ति है)।

कमलेण विअसिएण संजोएन्ती विरोहिणं ससिबिम्बं।
करअलपल्लत्थमुही किं चिन्तसि सुमुहि ! अन्तराहिअहिअआ॥

(साहित्य, पृ० १७९)

अपने विकसित कमल (करतल) के साथ विरोधी चन्द्रबिंब (मुख) को संयुक्त करती हुई हे सुमुखि! अपने करतल पर मुख को रखकर मन ही मन तू क्या सोच रही है?

करजुअगहिअजसोआत्थणमुहविणिवेसिआहरपुडस्स।
संभरिअपंचजण्णस्स णमह कण्हस्स रोमञ्चं॥

(काव्य० प्र० १०, ५५१)

दोनों हाथों से पकड़कर यशोदा के स्तनों पर अपने ओठों को लगाये पांचजन्य शंख का स्मरण करते हुए कृष्ण भगवान् के रोमांच को प्रणाम करो।

(स्मरण अलंकार का उदाहरण)

करिणीवेहव्वअरो मह पुत्तो एक्ककाण्डविणिवाई।
हअसोह्णाए तह कहो जह कण्डकरण्डअं वहइ॥

(ध्वन्यालोक ३, ४ पृ० ६०५)

केवल एक बाण से हथिनियों को विधवा बना देने वाले मेरे पुत्र को उस अभागिनी पुत्रवधु ने ऐसा कमजोर बना दिया है कि अब वह केवल बाणों का तरकस लिये घूमता है।

करिमरि! अआलगज्जिरजलदासणिपउणपडिरओ एसो।
पइणो धणुरवकंखिणि रोमञ्चं किं मुहा वहसि॥

(स० कं० ५, २५; गा० स० १, ५७)

हे वंदिनी! अकाल में गरजने वाले मेघ से वज्र के गिरने की यह आवाज़ है। अपने पति के धनुष की टंकार सुनने की इच्छा रखने वाली तू वृथा ही क्यों पुलकित होती है।

कलहोओज्जलगोरं कलहोअसिआसु सरअराईसु।
चुंबंति विअसिअच्छं विअद्धजुवईमुहं धण्णा॥

(श्रृंगार ५६, १५)

चांदी के समान स्वच्छ शरद्काल की रात्रियों में उज्ज्वल, गौरवर्ण और विकसित नयन वाली ऐसी विदग्ध युवतियों के मुख का जो चुंबन करते हैं वे धन्य है।

कल्लं किर खरहिअओ पवसिहिइ पिओत्ति सुव्वइ जणम्मि।
तह वड्ढ भअवइ णिसे! जह से कल्लं चिअ ण होइ॥

(श्रृंगार २०, ८९)

कल वह निर्दय प्रियतम प्रवास पर जायेगा, ऐसा सुना जाता है। हे भगवति रात्रि! तू बढ़ जा जिससे कल कभी हो ही नहीं।

कस्स करो बहुपुण्णफलेक्कतरुणो तुहं विसम्मिहिइ।
थणपरिणाहे मम्महणिहाणकलसे व्व पारोहो॥

(स०कं० ५, ३८५; गा० स० ६, ७५)

बहुपूर्ण फल वाले वृक्ष के नवपल्लव की भाँति न जाने किसका हाथ (हे कुमारी!) कामदेव के निधि-कलश रूपी तुम्हारे विस्तृत स्तनों पर विश्राम को प्राप्त होगा?

कस्स वि न होइ रोसो दट्ठूण पिआए सव्वणं अहरं।
सभमरपउमग्घाइणि! वारिअवामे! सहसु इण्हिं॥

(ध्वन्या० उ० १, पृ० २३; काव्या०, पृ० ५७, २५; साहित्य०, पृ० ३०२)

हे सखि! अपनी प्रिया के ओष्ठ को क्षत देखकर किसे रोष नहीं होता? इसलिए भौंरे समेत फूल को सूँघने वाली और मना करने पर भी न मानने वाली! अब तू अपनी करतूत का फल भोग। (अपह्नुति और व्याजोक्ति अलंकार का उदाहरण)

कह कह विरएइ पअं मग्गं पुलएइ छेज्जमाविसइ ।
चोरव्व कई अत्थं लद्धुं दुक्खेण णिव्वहइ ॥

(स० कं० ४, १८९; वज्जालग्गं २२)

कवि किसी न किसी प्रकार पद (चोर के पक्ष में पैर) की रचना करता है, मार्ग (कविशैली) का अवलोकन करता है, छेद (छेक अलंकार अथवा छिद्र) में प्रवेश करता है, इस प्रकार वह चोर की भाँति महान् कष्टपूर्वक अर्थ (चोर के पक्ष में धन) को प्राप्त करने में समर्थ होता है । (उपमा अलंकार का उदाहरण)

कह णु गआ कह दिट्ठा किं भणिआ किं च तेण पडिवण्णं ।
एअं चिअ ण समप्पइ पुणरुत्तं जम्पमाणीए ॥ (स० कं० ५, २३२)

कैसे वह गई, कैसे उसने देखा, क्या कहा और क्या स्वीकार किया, इस बात को बारबार कहते हुए भी वह बात समाप्त नहीं होती ।

कहं मा झिज्जउ मज्झो इमीअ कन्दोट्टदलसरिच्छेहिं ।
अच्छीहिं जो ण दीसइ घणथणभररुद्धपसरेहिं ॥

(स० कं० ४, १५५; ५, ३५४)

विशाल स्तनों के कारण जिनकी गति अवरुद्ध हो गई है ऐसे कुवलयदल के समान नेत्रों के द्वारा जो दिखाई नहीं देता, ऐसा इस नायिका का मध्य भाग कहीं क्षीण न हो जाये !

काअं खाअइ खुहिओ कूरं फेल्लेइ णिब्भरं रुट्ठो ।
सुणअं गेण्हइ कण्ठे हक्केइ अ णत्तिअं थेरो ॥

(स० कं० १, ३०; काव्या० पृ० २१५, २५४)

रूठा हुआ कोई भूखा वृद्ध पुरुष कौए को खा लेता है, चावल फेंक देता है, कुत्ते को डराता है और अपनी नातिन को कण्ठ से लगा लेता है ।

(संकीर्ण वाक्यदोष का उदाहरण)

कारणगहिओ वि मए माणो एमेअ जं समोसरिओ ।
अत्थक्कप्फुल्लिअंकोल्ल तुज्झ तं मत्थए पडउ ॥

(स० कं० ५, २६१)

मैंने किसी कारण से मान किया था, लेकिन अकस्मात् ही अशोक की कली दिखाई दी और मेरा मान नष्ट हो गया; हे अशोक की कली ! इसका दोष तेरे सिर पर है ।

काराविऊण खउरं गामउलो मज्जिओ अ जिमिओ अ ।
णक्खत्ततिहिवारे जोइसिअं पच्छिउं चलिओ ॥

(स० कं० १, ५५; काव्या० पृ० २६४, ३७९)

ग्रामीण पुरुष ने क्षौरकर्म के बाद स्नान और भोजन किया, फिर ज्योतिषी से नक्षत्र, तिथि और दिन पूछ कर वह चल दिया (उसने क्षौरकर्म आदि के पश्चात् तिथि के संबंध में प्रश्न किया, जब कि होना चाहिये था इससे उल्टा) ।

(अपक्रम दोष का उदाहरण)

कालक्खरदुस्सिक्खिअ बालअ ! रे लग्ग मज्झ कंठम्मि ।
दोण्ह वि णरअणिवासो समअं जइ होइ ता होउ ॥
(स० कं० ४, ११२)

काले अक्षर की कुशिक्षा पाने वाले हे नादान ! मेरे कण्ठ का आलिङ्गन कर। फिर यदि दोनों को साथ-साथ नरक में भी निवास करना पड़े तो कोई बात नहीं (नरक भी स्वर्ग की भाँति हो जायेगा)। (किसी नायिका की यह उक्ति है।)

(अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार का उदाहरण)

का विसमा दिव्वगई किं लद्धं जं जणो गुणग्गाही ।
किं सुक्खं सुकलत्तं किं दुग्गेज्झं खलो लोओ ॥
(काव्या, पृ० ३९५, ६५०; साहित्य, पृ० ८१५; काव्य प्र० १०, ५२९)

विषम वस्तु कौन सी है ? भाग्य की गति। दुर्लभ वस्तु कौनसी है ? गुणग्राहक व्यक्ति। सुख क्या है ? अच्छी स्त्री। दुःख क्या है ? दुष्टजनों की संगति।

(उत्तर, नियम और परिसंख्या अलंकार का उदाहरण)

किवणाणं धणं णाआणं फणमणी केसराइं सीहाणं ।
कुलवालिआणं थणआ कुत्तो छिप्पन्ति अमुआणम् ॥
(काव्य० प्र० १०, ४५७)

कृपणों का धन, सर्पों के फण में लगे हुए रत्न, सिंहों की जटा और कुल-बालिकाओं के स्तनों को जीते जी कोई हाथ तो लगा ले ?

(दीपक अलंकार का उदाहरण)

किं किं दे पडिहासइ सहीहिं इअ पुच्छिआइ मुद्धाइ ।
पढमुब्बुअदोहलिणीअ णवरि दइअं गआ दिट्ठी ॥
(स० कं० ५, २३६; गा० स० १, १५)

(गर्भधारण के पश्चात्) प्रथम दोहद वाली कोई मुग्धा नायिका अपनी सखियों से पूछे जाने पर कि तुझे क्या चीज़ अच्छी लगती है, केवल अपने प्रियतम की ओर देखने लगी।

किं गुरुजहणं अह थणभरोत्ति भाअकरअलग्गतुलिआए ।
विहिणो खुत्तङ्गुलिमग्गविब्भमं वहइ से तिवली ॥
(स० कं० ५, ४८७)

नायिका का जघन बड़ा है अथवा स्तनभार ? इसका निश्चय करतल के अग्रभाग से किया गया। उसकी त्रिवली मानो ब्रह्मा द्वारा उङ्गलियों को दबाकर बनाये हुए मार्ग का अनुकरण कर रही है। (रसालंकार संकर का उदाहरण)

किं जम्पिएण दहमुह ! जम्पिअसरिसं अणिव्वहन्तस्स भरं ।
एत्तिअ जम्पिअसारं णिहणं अण्णे वि वज्जधारासु गआ ॥
(स० कं० ४, १५१)

हे रावण ! ज्यादा बोलने से क्या प्रयोजन ? बोलने के समान दृढ़ संकल्प का

निर्वाह न करने वाले को मात्र इतना ही कहना है कि और भी बहुत से योद्धा वज्रधारा के प्रवाह में नष्ट हो गये हैं।

किं तस्स पावरेणं किमग्गिणा किं व गब्भधरएण ।
जस्स उरम्मि णिसम्मइ उम्हाअंतत्थणी जाआ ॥

(शृंगार ५६, १७)

गर्म चादर या अग्नि की उसे क्या जरूरत है, गर्भभवन में बैठने की भी उसे आवश्यकता नहीं जिसके हृदय में ऊष्मस्तनवाली नायिका विराजमान है।

किं धरणीए मिअङ्को आआसे महिहरो जले जलणो ।
मज्झण्हम्मि पओसो दाविज्जउ देहि आणत्तिम् ॥

(दशरूपक १ पृ० ५१; रत्नावलि ४, ८)

आज्ञा दो कि मैं पृथ्वी पर चन्द्रमा, आकाश में पर्वत, जल में अग्नि और मध्याह्न में संध्या लाकर दिखा दूँ। (भैरवानंद की उक्ति)।

किं भणिओसि ण बालअ ! गामणिधूआइ गुरुअणसमक्खम् ।
अणिमिसवंकवलन्तअआणणणअणद्धदिट्ठेहिं ॥

(स० कं० ५, २४७; गा० स० ४, ७०)

हे नादान ! गांव के पटेल की पुत्री ने निमेषरहित मुँह को जरा घुमाकर कटाक्षयुक्त नयनों से गुरुजनों के सामने क्या नहीं कह दिया ?

कुत्तो लंभइ पन्थिअ ! सत्थरअं एत्थ गामणिघरम्मि ।
उण्णअपओहरे पेक्खिऊण जइ वससि ता वससु ॥

(स० कं० १, १८१)

हे पथिक ! यहाँ गाँव के पटेल के घर में तू (सोने के लिये) बिस्तरा कहाँ पायेगा ? हाँ यदि, उन्नत स्तनों को देख कर यहाँ ठहरना चाहता है तो ठहर जा।

(संदिग्ध वाक्य गुण का उदाहरण)

कुलबालिआए पेच्छह जोव्वणलायन्नविब्भमविलासा ।
पवसंति व्व पवसिए एन्ति व्व पिए घरमइंते ॥

(काव्या० पृ० ४१३, ६९२; दशरू० २ पृ० ९६)

कुलीन महिलाओं के यौवन, लावण्य और शृङ्गार की चेष्टाओं को देखो जो प्रिय के प्रवास पर चले जाने पर चली जाती हैं और उसके लौट आने पर लौट आती हैं। (स्वीया नायिका का उदाहरण)

कुविआ अ सच्चहामा समेवि बहुआण णवर माणक्खलणे ।
पाअडिअहिअअसारो पेम्मासंघसरिसो पअट्टइ मण्णू ॥

(स० कं० ५, २६३)

सब पत्नियों का मान-स्खलन समान होने पर केवल सत्यभामा ही कोप करती है। हृदय से प्रकट होने वाले सार तथा प्रेम के आश्वास की भाँति उसका कोप प्रकट होता है।

कुविआओ वि पसण्णाओ ओरण्णमुहीओ विहसमाणीओ ।
जह गहिआ तह हिअअं हरंति उच्छिन्नमहिलाओ ॥
(स० कं० ५, ३२४; ध्वन्या० १ पृ० ७४)

स्वैर विहार करने वाली महिलायें कुपित हों या प्रसन्न, रोती हुई हों या हँसती हुई, किसी भी हालत में युवकों का मन वश में कर लेती हैं । (लक्षणा का उदाहरण)

केलीगोत्तक्खलणे वरस्स पप्फुल्लइ दिहिं देहि ।
बहुवासअवासहरे बहुए बाहोल्लिया दिट्ठी ॥ (स० कं० ५, १७२)

क्रीड़ा करते हुए गोत्र-स्खलन (किसी दूसरी नायिका का नामोल्लेख) से वर को आनन्ददायी संतोष प्राप्त होता है, जब कि वधू अत्यन्त सुगंधित वासगृह में अश्रुपूर्ण दृष्टि से देख रही है ।

केली गोत्तक्खलणे विकुप्पए केअवं अआणन्ती ।
दुट्ठ ! उअसु परिहासं जाआ सच्चं विअ परुण्णा ॥
(दशरूपक० अ० ४, पृ० २६५)

हे दुष्ट ! मजाक तो देखो, मालूम होता है तुम्हारी पत्नी जैसे सचमुच ही रो रही है । क्रीड़ा के समय गोत्र-स्खलन (किसी दूसरी नायिका का नाम लेना) के छल को न जानती हुई वह कोप किये बैठी है ।

(नायक ने नायिका का गोत्र-स्खलन किया था जिसे वह समझ नहीं सकी) ।

केसेसु बलामोडिअ तेण अ समरम्मि जअसिरी गहिआ ।
जह कंदराहि विहुरा तस्स दढं कंठअम्मि सठविआ ॥
(काव्य० ४, ६५)

उसने जैसे ही युद्धभूमि में केशों को पकड़ कर जयश्री को अपनी ओर खींचा, वैसे ही कन्दराओं ने अपने शत्रुओं (प्रेमियों) को जोर से अपने कंठ से लगा लिया । (अपह्नुति, उत्प्रेक्षा का उदाहरण)

को एसोत्ति पलोट्टुं सिंवलिवलिअं पिअं परिक्खसइ ।
हलिअसुअं मुद्धवहू सेअजलोल्लेण हत्थेण ॥
(स० कं० ५, ३०२)

यह कौन ? (यह कहकर) मुग्धा वधू सेंमल के पेड़ के पीछे छिपे हुए अपने प्रिय हलवाहे के पुत्र को, स्वेद से गीले अपने हाथ से पकड़ कर बैठा लेती है । (सेंमल के पेड़ के नीचे खेल हो रहा है)

कोला खणन्ति मोत्थं गिद्धा खाअन्ति मउअमंसाइम् ।
उलुआ हणन्ति काए काआ उलुए वि वाअन्ति ॥
(स० कं० १, ६४)

सूअर नागरमोथे को खोदते हैं, गीध मृतक का मांस खाते हैं, उल्लू कौओं को मारते हैं और कौए उल्लुओं को खाते हैं ।

(यह निरलंकार–अलंकार विहीन—का उदाहरण है)

खणपाहुणिआ देअर ! जाआए सुहअ किंपि दे भणिआ ।
रूअइ पडोहरवलहीघरम्मि अणुणिज्जउ वराई ॥
(काव्य० प्र० ४, १११; ध्वन्या० ३ पृ० ५५८; साहित्य० ४)

हे सुन्दर देवर ! जाओ उस बिचारी को मना लो। वह यहाँ जरा सी देर के लिये पाहुनी बनकर आई थी, किन्तु तुम्हारी बहू के कुछ कह देने पर घर के पिछवाड़े छज्जे पर बैठी हुई वह रो रही है। (ध्वनिसांकर्य का उदाहरण)

खणमेत्तं पि ण फिट्टइ अणुदिअहं दिण्णगरुअसन्तावा ।
पच्छुण्णपावसंकव्व सामली मज्झ हिअआहि ॥
(स० कं० ५, १४०; गा० स० २, ८३)

प्रतिदिन अत्यधिक सन्ताप देनेवाली श्यामा प्रच्छन्न पापशंका की भाँति क्षण भर के लिये भी मेरे हृदय से दूर नहीं होती।

खलववहारा दीसंति दारुणा जहवि तहवि धीराणम् ।
हिअवअअस्स बहुमआ ण हु ववसाआ विमुज्झंति ॥
(काव्य० ४, ७४)

यद्यपि दुष्ट लोगों के व्यवहार बहुत दुखदायी होते हैं, फिर भी धीर पुरुषों के कार्य जो उनके हृदयरूपी मित्र द्वारा बहुत सम्मान से देखे जाते हैं, कभी नहीं रुकते। (अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य नामक ध्वनिभेद का उदाहरण)

खाहि विसं पिअ मुत्तं णिज्जसु मारीअ पडउ दे वज्जम् ।
दन्तक्खण्डिअथणआ खिविऊण सुअं सवइ माआ ॥
(स० कं० १, ५८)

(स्तनपान के समय) अपने शिशु के दाँतों से अपने स्तन काटे जाने पर 'तू जहर खा ले, मूत पी ले, तुझे मारी ले जाए, तेरे ऊपर पहाड़ गिर पड़े'—कहती हुई माँ शिशु को एक ओर पटक कर शाप दे रही है।
(क्रूरार्थ का उदाहरण)

खिण्णस्स ठवेइ उरे पइणो गिम्हावरण्हरमिअस्स ।
ओल्लं गलन्तउप्फं ण्हाणसुअन्धं चिउरभारम् ॥
(स० कं० ५, ३७९; गा० सा० ३, ९९)

कोई नायिका ग्रीष्मऋतु की दुपहर में रमण करने के पश्चात् थके हुए पति के वक्षस्थल पर स्नान से सुगंधित, गीले और फूल झड़ते हुए अपने केशपाश फैला रही है। (संपूर्ण प्रगल्भा का उदाहरण)

गअणं च मत्तमेहं धारालुलिअज्जुणाइं अ वणाइं ।
निरहंकारमिअंका हरन्ति नीलाओ वि णिसाओ ॥
(ध्वन्या० उ० २ पृष्ठ ९२)

मतवाले मेघों वाला आकाश, वृष्टिधारा के कारण चंचल अर्जुन वृक्षों वाले वन, तथा निस्तेज चन्द्रमा वाली नीली रातें (चित को) लुभा रही है।
(तिरस्कृत वाच्यध्वनि का वाक्यगत उदाहरण)

गज्जन्ते खे मेहा फुल्ला णीवा पणच्चिया मोरा।
णट्ठो चन्दुज्जोओ वासारत्तो हला पत्तो ॥ (स० कं० ३, १५२)

मेघ गरज रहे हैं, नीप पुष्प फूल गये हैं, मोर नाच रहे हैं, चन्द्रमा का प्रकाश दिखाई नहीं देता। हे सखि ! वर्षा ऋतु आ गई है।

(सामान्यतोदृष्ट का उदाहरण)

गज्ज महच्चिअ उअरिं सव्वत्थामेण लोहहिअअस्स।
जलहर ! लंबालइअं मा रे मारेहिसि वराइं ॥

(शृंगार ११, १९)

हे मेघ ! कठोर हृदय वाले मेरे ऊपर ही अपनी सारी शक्ति लगाकर बरस, लंबे केशवाली उस बिचारी को क्यों मारे डाल रहा है ? (विधि अलंकार का उदाहरण)

गमिआ कदम्बवाआ दिट्ठं मेहंधआरिअं गअणअलं।
सहिओ गज्जिअसद्दो तह वि हु से णत्थि जीविए आसंगो ॥

(स० कं० ४, १५७; सेतुबंध १, १५)

कदंब के पुष्पों का स्पर्श करके वायु बहती है, आकाशमंडल में मेघ का अंधकार छाया हुआ है, गर्जन का शब्द सुनाई पड़ रहा है, फिर भी (राम के) जीवन में उत्साह नहीं।

गम्मिहिसि तस्य पासं मा जूरसु तरुणि ! वड्ढउ मिअंको।
दुद्धे दुद्धम्मिव चन्दिआए को पेच्छइ मुहं ते ॥

(स० कं० ५, ४०३; गा० सा० ७, ७)

हे तरुणि ! तू उसके पास पहुँचेगी, तू दुखी मत हो, ज़रा चन्द्रमा को ऊपर पहुँच जाने दे। जैसे दूध में दूध मिल जाने से उसका पता नहीं लगता, वैसे ही चाँदनी में तेरे मुँह को कौन देख सकेगा ?[1] (सामान्य अलंकार का उदाहरण)

गहवइसुएण समअं सच्चं अलिअं व किं विआरेण।
धण्णाइ हलिअकुमारिआइ जणम्मि जणवाओ ॥

(स० कं० ५, २५९)

उस भाग्यशाली हलवाहे की कन्या का गृहपति के पुत्र के साथ लोकापवाद फैल गया है; अब यह अपवाद सच्चा है या झूठा, यह सोचने से क्या लाभ ?

गाढालिंगणरहसुज्जुअम्मि दइए लहुं समोसरइ।
माणंसिणीअ माणो पीलणभीअव्व हिअआहिं ॥

(ध्वन्या० २ पृ० १८६)

हे सखि ! उस मनस्विनी के मान के विषय में क्या कहूँ ? वह तो प्रियतम के वेगपूर्वक गाढ़ आलिंगन के लिये उद्यत होते ही (दोनों के बीच में) दब जाने के भय से शीघ्र ही भाग खड़ा हुआ ! (उत्प्रेक्षा का उदाहरण)

---

१. मिलाइये—जुवति जोन्हमें मिलि गई नैक न होति लखाय।
सोंधे के डोरनि लगी अली चली संग जाय ॥
(बिहारी सतसई २२८)

गामतरुणीओ हिअं हरन्ति पोढ़ाण थणहरिल्लीओ।
मअणूसअम्मि कोसुम्भरंजिअकञ्चुआहरणमेत्ताओ॥

(स० कं० ५, ३०३; गा० स० ६, ४५)

मदन उत्सव के अवसर पर पुष्ट स्तनवाली और केवल कुसुंबी रंग की कंचुकी पहनने वाली गाँव की तरुणियाँ विदग्धजनों का मन हरण करती हैं।

गामारुहम्मि गामे वसामि णअरट्ठिइं ण जाणामि।
णाअरिआणं पइणो हरेमि जा होमि सा होमि॥

(काव्य० प्र० ४, १०१)

हे नागरि ! मैं गाँव में ही जन्मी हूँ, गाँव की ही रहने वाली हूँ, नगर की स्थिति को मैं नहीं जानती। मैं कुछ भी होऊँ लेकिन इतना बताये देती हूँ कि नागरिकाओं के प्राणप्रिय पतियों को मैं हर लेती हूँ।

गिम्हे दवग्गिमसिमइलिआइं दीसन्ति विंज्झसिहराइं।
आससु पउत्थवइए ! ण होन्ति णवपाउसब्भाइं॥

(स० कं० ४, ८०; ५, ४०४; गा० स० १, ७०)

ग्रीष्मकाल में विन्ध्य पर्वत के शिखर दावानल से मलिन दिखाई देते हैं, वर्षाकाल के नूतन मेघ वे कदापि नहीं हैं, अतएव हे प्रोषितभर्तृके ! तू धीरज रख।

(अपह्नुति अलंकार का उदाहरण)

गिम्हं गमेइ कह कह वि विरहसिहितापिआपि पहिअवहू।
अविरलपडंतगिब्भरवाहजलोल्लोवरिल्लेण॥ (शृंगार ५९, २९)

विरह-अग्नि से संतप्त पथिकवधू निरंतर गिरते हुए अतिशय वाष्पजल से आर्द्र उत्तरीय वस्त्र पहन कर किसी तरह ग्रीष्मऋतु बिताती है।

गुरुयणपरवसप्पिय ! किं भणामि तुह मन्दभाइणी अहयं।
अज्ज पवासं वच्चसि वच्च सयं च्चेव सुणसि करणिज्जं॥

(काव्या० पृ० ६१, ३४; काव्य० प्र० ३, २१)

हे गुरुजनों के आधीन प्रियतम ! तुमसे क्या कहूं, मैं बड़ी अभागिन हूं। तुम आज प्रवास पर जा रहे हो, जाओ; तुम स्वयं सुन लेना कि तुम्हारे चले जाने पर मेरा क्या हुआ। (कालाधिष्ठित अर्थ व्यंजना का उदाहरण)

गेण्हन्ति पिअअमा पिअअमाण वअणाहि विसलअद्धाइं।
हिअआइं वि कुसुमाउहवाणकआणेअरन्धाइं॥

(स० कं० ५, ३१२)

प्रियतमायें अपने प्रियतमों के मुख से कामदेव के बाण द्वारा बींधे हुए हृदयों की भाँति अभिनव कमलनाल के अंकुर ग्रहण कर रही हैं। (पक्षिमिथुन की क्रीड़ा का वर्णन है)।

गेण्हइ कंठम्मि बला चुंबइ णअणाइ हरइ मे सिअअं।
पढमसुरअम्मि रअणी परस्स एमेअ बोलेइ॥ (शृंगार ६, २०)

वह कंठ को पकड़ता है नयनों का जोर से चुम्बन लेता है, वस्त्र का अपहरण कर लेता है—इस प्रकार प्रथम सुरत में रजनी अपने आप ही बीत जाती है।

गेण्हह पलोएह इमं विअसिअवअणा पिअस्स अप्पेइ।
घरणी सुअस्स पढमुब्भिण्णदन्तजुअलंकिअं बोरं॥

(स० कं० ३, १३८; गा० स० २, १००)

यह लो और देखो, यह कह कर हँसमुख नायिका अपने बालक के नये-नये दांतों द्वारा चिह्नित बेर को अपने पति को देती है (इसमें प्रसव के पश्चात् संभोग-सुख की योग्यता का सूचन होता है)। (भावअलंकार का उदाहरण)

गोत्तक्खलणं सोऊण पिअअमे अज्ज मामि छणदिअहे।
वज्झमहिसस्स माल व्व मण्डणं उअह पडिहाइ॥

(स० कं० ५, १४२; गा० स० ५, ९६)

आज उत्सव के दिन अपने प्रियतम के मुख से अपने नाम की जगह किसी दूसरी नायिका का नाम सुनकर, देखो, उसके आभूषण, वध को ले जाये जाते हुए भैंसे की माला के समान, प्रतीत होने लगे।

गोलानटट्ठिअं पेच्छिऊण गहवइसुअं हलिअसोण्हा।
आढत्ता उत्तरिउं दुक्खुत्ताराइ पअवीए॥

(स० कं० ३, १४१, गा० स० २, ७)

गोदावरी नदी के तट पर गृहपतिपुत्र को देख कर हलवाहे की पतोहू कठिन मार्ग से जाने के लिए उद्यत हो गई।

(इस आशा से कि अपने हाथ का अवलंबन देकर वह उसे रोकेगा)

गोलाविसमोआरच्छलेण अप्पा उरम्मि से मुक्को।
अणुअम्पाणिद्दोसं तेण वि सा गाढमुअऊढा॥

(स० कं० ३, ७४; ५, २२५; गा० स० २, ९३)

गोदावरी का यह उतार विषम है, इस बहाने से नायिका ने अपने शरीर का भार नायक के वक्षस्थल पर रख दिया; नायक ने भी अनुकम्पा के बहाने उसका गाढ़ आलिंगन किया। (अन्योन्य अलंकार का उदाहरण)

घडिऊरुसंपुडं णववहूए जहणं वरो पुलोएइ।
संदट्ठणवकवाडं दारं पिव सग्गणअरस्स॥ **(शृंगार ४, ७)**

वर नववधू के उरुद्वय से संपुट जघन का अवलोकन कर रहा है, मानो बन्द किया हुआ स्वर्गनगर का द्वार हो।

घरिणीए महाणसकम्मलग्गमसिमइलिएण हत्थेण।
छित्तं मुहं हसिज्जइ चन्दावत्थं गअं पइणा॥

(स० कं० ४, ६१; ५, ३८२; गा० स० १, १३)

रसोई के काम में लगी हुई किसी नायिका ने अपने मैले हाथ अपने मुंह पर लगा लिए जिससे चन्द्रावस्था को प्राप्त अपनी प्रिया को देख कर उसका प्रियतम

हँसने लगा।[1] (निदर्शना, विकृत प्रपञ्चोक्ति और संकर अलंकार का उदाहरण)

घरिणिघणत्थणपेल्लणसुहेल्लिपडिअस्स होन्ति पहिअस्स।
अवसउणंगारअवारविट्टिदिअसा सुहावेन्ति ॥
(स० कं० ५, ६२; गा० स० ३, ६१)

गृहिणी के घन स्तनों के पीड़न की सुखक्रीड़ा से युक्त प्रवास करने के लिये प्रस्तुत पथिक को अपशकुनरूप मंगलवार और शुक्लपक्ष के द्वितीया, सप्तमी और द्वादशी के दिन सुख प्रदान करते हैं। (रूप द्वारा रसनिष्पत्ति का उदाहरण)

घेत्तुं मुच्चइ अहरे अण्णत्तो वलइ पेक्खिउं दिट्ठी।
घडिदुं विहडन्ति भुआ रअम्मि सुरआअ वीसामो ॥
(अलंकारसर्वस्व, पृ० १६५)

(नायिका के) अधर का पान कर उसे छोड़ दिया जाना है, जब कि (नायिका) अपनी दृष्टि को दूसरी ओर फेर लेती है, भुजाएँ आलिंगन से विघटित हो जाती हैं—इस प्रकार सुरत में विश्राम प्राप्त होता है।

चत्तरघारिणी पिअंदसणा अ बाला पउत्थवइआ अ।
असई सअज्झिआ दुग्गआअ ण हु खण्डिअं सीलं ॥
(स० कं० ५, ४३७; गा० स० १, ३६)

चौराहे पर रहने वाली सुंदरी तरुणी प्रोषितभर्तृका का शील कुलटा के पड़ोस में रहने और अत्यंत दरिद्र होने पर भी खंडित नहीं होता !
(विशेषोक्ति, समुच्चय अलंकार का उदाहरण)

चित्ते विहट्टदि ण टुट्टदि सा गुणेसुं सेज्जासु लोट्टदि विसट्टदि दिम्मुहेसुं।
बोलम्मि वट्टदि पुपवट्टदि कव्वबंधे झाणे ण टुट्टदि चिरं तरुणी तरट्टी ॥
(काव्य प्र० ८, ३४३; कर्पूर मं० २, ४)

जितनी ही गुणों में (वह कर्पूरमंजरी) पूर्ण है, उतनी ही चित्र में भी दिखाई दे रही है। कभी वह (मेरी) शय्या पर लोटती हुई जान पड़ती है, कभी चारों दिशाओं में वही-वही दिखाई देती है। कभी वह मेरी वाणी में आ जाती है और कभी काव्यप्रबंध में दिखाई देने लगती है। वह चिरतरुणी प्रगल्भा कभी भी मेरे मन से नहीं हटती।

चमढियमाणसकञ्चणपंकयनिम्महियपरिमला जस्स।
अक्खुडियदाणपसरा बाहुप्फलिह च्चिय गयन्दा ॥
(काव्या० पृ० ७९, १५०)

उसके हाथी, मानसरोवर के सुवर्णकमलों के मर्दित होने से (कमलों की) सुगंध को मथने वाले, और अखंडित रूप से दान (हाथी के पक्ष में मदजल) देने वाले ऐसे भुजादंड की भाँति दिखाई देते हैं। (रूपक का उदाहरण)

---

१. पिय तिय सो हँसिकै कह्यौ लख्यौ डिठौना दीन।
चन्द्रमुखी मुखचन्द्र सौं भलो चन्द्रसम कीन ॥ (बिहारीसतसई ४९१)

चूयंकुरावयंसं छणपसरमहग्घमणहरसुरामोअं।
अवणामियं पि गहियं कुसुमसरेण महुमासलच्छीए मुहं॥
(काव्या० पृ० ७९, ७४; धन्या० उ० ३, पृ० २३९)

आम्रमंजरी के कर्ण-आभूषणों से अलंकृत और वसन्तोत्सव के महासमारोह के कारण सुंदर तथा सुगंधि से पूर्ण ऐसे वसन्तलक्ष्मी के बिना झुकाए हुए मुख को कामदेव ने ज़बर्दस्ती पकड़ लिया। (अर्थशक्ति-उद्भव ध्वनि का उदाहरण)

चंदणधूसरअं आउलिअलोअणअं हासपरम्मुहअं णीसासकिलालिअअं।
दुम्मणदुम्मणअं संकामिअमण्डणअं माणिणि! आणणअं किं तुज्झ करट्ठिअअं॥
(स० कं० २, ३९४)

चन्दन के समान धूसरित, व्याकुल लोचनों से युक्त, हास्यविहीन, निश्वास से खेदखिन्न, दुष्ट चित्त वालों के लिये दुखरूप तथा शोभाविहीन ऐसा तुम्हारा यह मुखड़ा हे मानिनि! तुम्हारे हाथ पर क्यों रक्खा है?

(दृश्य काव्य में हल्लीसक का उदाहरण)

चंदमऊहेहिं निसा णलिणी कमलेहिं कुसुमगुच्छेहिं लया।
हंसेहिं सरयसोहा कव्वकहा सज्जणेहि कीरई गरुई॥
(काव्या० ३५५, ५५१)

जैसे रात्रि चन्द्रमा की किरणों से, कमलिनी कमलों से, लता पुष्पों के गुच्छों से और शरद् हंसों से शोभित होती है, वैसे ही काव्यकथा सज्जनों के साथ अच्छी लगती है। (दीपक अलंकार का उदाहरण)

चंदसरिसं मुहं से अमअसरिच्छो अ मुहरसो तिस्सा।
सकअग्गहरहसुज्जल चुंबणअं कस्स सरिसं से॥
(स० कं० ४, २; ५, १४४; गा० स० ३, १३)

उसका मुख चन्द्रमा के समान है और मुख का रस अमृत के समान, फिर बताओ, उसके केशों को पकड़ कर झट से उसका चुंबन लेना किसके समान होगा?

(उपमान लुप्तोपमा और संकर अलंकार का उदाहरण)

चिंताणिअदइअसमागमम्मि किदमण्णुआइं सरिऊण।
सुण्णं कलहाअन्ती सहीहि रुण्णा ण ओहसिया॥
(स० कं० ५, ३५; गा० स० १, ६०)

ध्यान में बैठे-बैठे प्रियतम का समागम होने पर कोप के कारणों को स्मरण करके व्यर्थ ही कलह करती हुई नायिका को देखकर उसकी सखियाँ न रो सकीं और न हँस सकीं।

चुंबिजइ सअहुत्तं अवरुन्धिजइ सहस्सहुत्तम्मि।
विरमिअ पुणो रमिज्जइ पिओ जणो णत्थि पुनरुत्तम्॥
(ध्वन्या उ० १ पृ० ७४)

(रसिक नायक) नायिका को सैकड़ों बार चूमता है, हजारों बार आलिंगन

करता है, रह-रह कर वह फिर-फिर उसके साथ रमण करता है, फिर भी उसका मन नहीं भरता। (लक्षणा का उदाहरण)

चोरा सभअसतण्हं पुणो पुणो पेसअन्ति दिट्ठीओ।
अहिरक्खिअणिहिकलसे व्व पोढमहिलाथणुच्छंगे॥

(सं० कं० ५, ४९४; गा० स० ६, ७६)

जैसे सर्प से रक्षित खजाने के कलश को चोर भय और तृष्णा से बार-बार देखता है, वैसे ही (कामुक पुरुष) प्रौढ़ महिलाओं के स्तनों पर बार-बार दृष्टि डालता है। (संकर अलंकार का उदाहरण)

छणपिट्ठधूसरत्थणि महुमअतंबच्छि कुवलआहरणे।
कण्णकअचूअमंजरि पुत्ति! तुए मण्डिओ गामो॥

(स० कं० ३, ३; ५, ३००)

वसन्तोत्सव पर चन्दन के लेपयुक्त स्तनवाली, मधुमद के समान ताम्रवर्ण की आँखों वाली, कुवलय के आभरण वाली और कानों में आम्रमंजरी धारण करने वाली हे पुत्रि! तूने इस गाँव की शोभा बढ़ा दी है।

जइआ पिओ ण दीसइ भणह हला कस्स कीरए माणो।
अह दिट्ठम्मि वि माणो ता तस्स पिअत्तणं कत्तो॥

(स० कं० ५, ३९०)

हे सुंदरि! यदि प्रियतम नहीं हैं तो मान किसके लिये करती हो? और यदि प्रियतम के होने पर भी मान करती हो तो फिर वह प्रिय कैसे कहा जायेगा?

(शान्ता नायिका का उदाहरण)

जइ इच्छा तह रमिअं जाआ पत्ता पइं गआ धूआ।
घरसामिअस्स अज्ज वि सो कोउहल्लाइं अच्छीइं॥

(स० कं० ५, ४४३)

कन्या (बड़ी होने पर) पत्नी बन कर अपने पति के पास चली गई और यथेच्छ रमण करने लगी, (यह देख कर) आज भी गृहस्वामी के नेत्र कौतूहल से पूर्ण हैं।

जइ जइ से परिउम्बइ मण्णुभरिआइं णिहुवणे दइओ।
अच्छीइं उवरि उवरि तह तह भिण्णाइं विगलन्ति॥

(स० कं० ५, २१४)

रतिक्रीड़ा के समय जैसे-जैसे नायक कोपयुक्त प्रिया के नयनों को चूमता है, वैसे-वैसे वे खुलते जाते हैं।

जइ ण छिवसि पुप्फवइं पुरओ ता कीस वारिओ ठासि;
छित्तोसि चुलुचुलन्तेहिं पहाविऊण मह हत्थेहिं॥

(स० कं० ५, १६६; गा० स० ५, ८१)

यदि तू मुझ रजस्वला को नहीं छूता तो फिर मना किये जाने पर भी सामने

क्यों खड़ा है ? तेरे स्पर्श के लिये खुजलाने वाले मेरे हाथों ने दौड़कर तुझे छू लिया है (मैंने नहीं छुआ)।

जइ देअरेण भणिआ खग्गं घेत्तूण राउलं वच्च।
तं किं सेवअबहुए हसिऊण वलोइअं सअणं॥ (स० कं० २, ३७०)

जब देवर ने उससे कहा कि तू खड्ग लेकर राजकुल में जा तो यह सुनकर सेवक की वधू हँस कर शयन की ओर देखने लगी।

(अभिप्राय गूढ़ का उदाहरण)

जइ सो ण वल्लह च्चिअ णामग्गहणेण तस्स सहि ! कीस।
होइ मुहं ते रविअरफंसविसट्टं व्व तामरसम्॥
(स० कं० ५, २३०; गा० स० ४, ४३)

यदि वह तुम्हारा प्रिय नहीं तो जैसे सूर्य की किरणों के स्पर्श से कमल विकसित होता है, वैसे ही हे सखि ! उसका नाम भर लेने से तुम्हारा मुख क्यों खिल उठता है ?[1]

जइ होसि ण तस्स पिआ अणुदिअहं णीसहेहिं अंगेहिं।
णवसूअपीअपेऊसमत्तपाडि व्व किं सुवसि॥
(स० कं० ५, ३२७; गा० स० १, ६५)

यदि तू उसकी प्रिया नहीं तो प्रतिदिन (सुरत के परिश्रम से) थक कर खीस पीकर सोई हुई नवप्रसूत महिषा की भाँति मस्त होकर क्यों सोती है ?

जत्थ ण उज्जागरओ जत्थ ण ईसा विसूरणं माणम्।
सब्भावचाटुअं जत्थ णत्थि णेहो तहिं णत्थि॥
(स० कं० ५, २६२)

जहाँ उजागरता नहीं, ईर्ष्या नहीं, रोष नहीं, मान नहीं और सद्भावपूर्ण चाटुकारिता नहीं, वहाँ कभी स्नेह नहीं हो सकता।

जस्स जहिं चिअ पढमं तिस्सा अंगंमि णिवडिआ दिट्ठी।
तस्स तहिं चेय ठिआ सव्वंगं तेण वि ण दिट्ठं॥
(शृंगार ३२, १५६)

उसके अंग पर जहाँ जिस जगह पहले दृष्टि पड़ी वह उसी जगह रह गई, इससे उसके सारे अंग का दर्शन ही न हो सका।

जस्स रणंतेउरए करे कुणंतस्स मंडलग्गलयं।
रससंमुही वि सहसा परम्मुही होइ रिउसेणा॥
(काव्या० पृ० ३५२, ५३८; साहित्य, पृ० ७५७; काव्यप्र० १०, ४२२)

रणरूपी अंतःपुर में खड्गलता (प्रिया) का पाणिग्रहण करने वाले उस

---

१. मिलाइये—नाम सुनत ही ह्वै गयो तन औरै मन और।
दुवै नहीं चित चढ़ि रह्यौ कहा चढ़ाये त्यौर॥
(विहारीसतसई)

(राजा) की शत्रुसेना (प्रतिनायिका), रस (वीररस) में पगी होने पर भी सहसा परांमुख हो गई । (रूपक का उदाहरण)

जस्सेअ वणो तस्सेअ वेअणा भणइ तं जणो अलिअम् ।
दतक्खअं कवोले वहूए वेअणा सवत्तीणम् ॥

(काव्य० प्र० १०, ५३३)

लोगों का यह कथन झूठ है कि जिसे चोट लगती है पीड़ा उसी को होती है। क्योंकि दंतक्षत तो वधू के कपोल पर दिखाई दे रहा है और पीड़ा हो रही है उसकी सौतों को । (असंगति अलंकार का उदाहरण)

जह गहिरो जह रअणणिब्भरो जह अ णिम्मलच्छाओ ।
तह किं विहिणा एसो सरसपाणीओ जलणिही ण किओ ॥

(काव्य० प्र० १०, ५७३)

विधाता ने जैसा यह समुद्र गहरा, रत्नों से पूर्ण तथा स्वच्छ और निर्मल बनाया है, वैसा ही मीठे पानी वाला क्यों नहीं बनाया ? (संकर का उदाहरण)

जह जह जरापरिणओ होइ पई दुग्गओ विरूओ वि ।
कुलवालिआइं तह तह अहिअअरं वल्लहो होइ ॥

(स० कं० ५, ३२९; गा० स० ३, ९३)

दरिद्र और कुरूप पति जैसे-जैसे वृद्धावस्था को प्राप्त होता जाता है, वैसे-वैसे कुलीन पत्नियों का वह अधिक प्रिय होता है ।

जह जह णिसा समप्पइ तह तह वेविरतरंगपडिमापडिअं ।
किंकाअव्वविमूढं वेवइ हिअअं व्व उअहिणो ससिबिंबं ॥

(स० कं० ४, १८२; सेतुबंध ५, १०)

जैसे-जैसे रात बीतती है, वैसे वैसे कंपित तरंगों में प्रतिबिंबित चन्द्रबिंब, समुद्र के हृदय की भाँति किंकर्तव्यविमूढ़ होकर मानों कांपने लगता है ।

(परिकर अलंकार का उदाहरण)

जह ण्हाउं ओइण्णे उब्भन्तमुल्हासिअमंसुअद्धन्तम् ।
तह य ण्हाआसि तुमं सच्छे गोलानईतूहे ॥

(स० कं० १, १६६)

स्वच्छ गोदावरी नदी के किनारे स्नान करने के लिये अवतीर्ण तुम्हारे गीले हुए वस्त्र का अर्धभाग जब उद्भ्रष्ट हो जायेगा तभी समझा जायेगा कि तुमने स्नान किया है ।

जाइ वअणाइ अह्मे वि जप्पिमो जाइ जप्पइ जणो वि ।
ताइ च्चिअ तेण पअप्पिआइ हिअअं सुहावेंति ॥

(शृंगार २९, १४०)

जो वचन हम बोलते हैं और जिन्हें सब बोलते हैं, वे ही यदि उसके द्वारा बोले जायें तो हृदय को सुख देते हैं ।

जाओ सो वि विलक्खो मए वि हसिऊण गाढमुवगूढो ।
पढमोवसरिअस्स णिअंसणस्स गंठिं विमग्गन्तो ॥

(स० कं० ५, १७०; गा० स० ४, ५१)

(संभोग के समय) पहले ही खुली हुई नाड़े की गांठ को टटोलता हुआ वह लज्जित हो गया, यह देख, हँस कर मैंने उसे आलिंगनपाश में बाँध लिया ।

(आक्षेप अलंकार का उदाहरण)

जाएज्ज वणुद्देसे खुज्जो च्चिअ पायवो झडिअपत्तो ।
मा माणुसम्मि लोए चाई रसिओ दरिद्दो अ ॥

(काव्या० पृ० ७८, १४९; ध्वन्या० उ० २ पृ० २०४; गा० स० ३, ३०)

किसी जंगल में पत्तों के बिना कोई बौना वृक्ष होकर मैं जन्म लूँ तो यह अच्छा है, लेकिन मनुष्यलोक में दानशील और रसिक हो कर, दरिद्र बन कर जन्म लेना मैं नहीं चाहता । (विध्याभास और व्यतिरेक अलंकार का उदाहरण)

जाणइ जाणावेउं अणुणअविहुरीअमाणपरिसेसं ।
रइविक्कमम्मि विणआवलम्बणं स च्चिअ कुणन्ती ॥

(स० कं० ५, ३८९; गा० स० १, ८८)

मनुहार द्वारा (अपने प्रियतम के) समस्त मान को द्रवित करके एकान्त में (सुरतक्रीड़ा के समय) विनय व्यक्त करना केवल वही जानती है । (अन्य युवतियाँ नहीं) । (उदात्ता नायिका का उदाहरण)

जाणइ ! सिणेहभणिअं मा रअणिअरित्ति मे जुउच्छसु वअणम् ।
उज्जाणम्मि वणम्मि अ जं सुरहिं तं लआण घेप्पइ कुसुमं ॥

(स० कं० ५, ४१७; सेतुबंध ११, ११९)

हे जानकि ! मुझे राक्षसी समझ कर स्नेहपूर्वक कहे हुए मेरे वचनों के प्रति जुगुप्सा मत करो । उद्यान अथवा वन में लताओं के सुगंधित पुष्प ही ग्रहण किये जाते हैं (अन्य वस्तुएँ नहीं) ।

जा थेरं व हसन्ती कइवअणंबुरुहबद्धविणिवेसा ।
दावेइ भुअणमंडलमण्णं विअ जअइ सा वाणी ॥

(काव्य प्र० ४, ६७)

कवियों के मुखकमल पर विराजमान सरस्वती मानो बूढ़े ब्रह्मा का उपहास कर रही है; किसी विलक्षण भुवनमंडल का मानो वह प्रदर्शन कर रही है । उसकी विजय हो । (व्यतिरेक ध्वनि का उदाहरण)

जो जस्सहिअअदइओ दुक्खं देन्तो वि सो सुहं देइ ।
दइअणहदूमिआणं वि वड्ढीइ त्थणआणं रोमञ्चो ॥

(स० कं० ४, १६१)

जो जिसके हृदय को प्रिय है वह उसे दुख देता हुआ भी सुख ही देता है । पति के नखक्षत से क्लेश को प्राप्त स्तनों में रोमांच ही पैदा होता है ।

(अर्थांतरन्यास अलंकार का उदाहरण)

जोण्हाइ महुरसेण अ विइण्णतारुण्णउस्सुअमणा सा।
बुड्ढा वि णवोणव्विअ परवहुआ अहह हरइ तुह हिअअम्॥

(काव्य प्र० ४, ९२)

तुम्हें तो कोई परकीया चाहिये चाहे वह वृद्धा ही क्यों न हो, जो ज्योत्स्ना तथा मदिरा के रस से अपना तारुण्य अर्पित कर उत्कंठित हो उठी हो; नववधू के समान वही तुम्हारे हृदय को आनन्द देगी।

(अर्थशक्ति-उद्भव ध्वनि का उदाहरण)

जो तीएँ अहरराओ रत्तिं उव्वासिओ पिअअमेण।
सो च्चिअ दीसइ गोसे सवत्तिणअणेसु संकन्तो॥

(स० कं० ३, ७९; गा० स० २, ६; काव्या० पृ० ३८९, ६३१)

प्रियतमा के ओठों में जो लाल रंग लगा था वह प्रियतम के द्वारा रात्रि के समय पोंछ डाला गया; जान पड़ता है प्रातः काल में वही रंग सौतों के नेत्रों में प्रतिबिंबित हो रहा है। (परिवृत्ति और पर्याय अलंकार का उदाहरण)

जं किं पि पेच्छमाणं भणमाणं रे जहा तहच्चेव।
णिज्झाअ णेहमुद्धं वअस्स ! मुद्धं णिअच्छेह॥

(दशरूपक प्र० २, पृ० १२०)

हे मित्र ! चाहे तुम स्नेहमुग्ध भोली नायिका को दृष्टिपात करती हुई देखो या बोलती हुई को, बात एक ही है। (हाव का उदाहरण)

जं जस्स होइ सारं तं सो देइत्ति किमत्थ अच्छेरं।
अणहोत्तं पि हु दिण्णं तइ दोहग्गं सवत्तीणम्॥

(स०कं० ३, १८०)

इसमें कौनसा आश्चर्य है कि जो जिसके योग्य होता है वह उसे दिया जाता है, लेकिन आश्चर्य है कि उसने अनहोने दुर्भाग्य को अपनी सौतों को दे दिया !

(अत्यन्ताभाव का उदाहरण)

जं जं करेसि जं जं च जंपसे जह तुमं नियंसेसि।
तं तमणुसिक्खिरीए दीहो दिअहो न संपडइ॥

(काव्या० पृ० ४२५, ७२३; स० कं० ५, १५२; गा० स० ४, ७८)

जैसे-जैसे तू करता है, बोलता है और देखता है, वैसे-वैसे मैं भी उसका अनुकरण करती हूँ, लेकिन दिन बड़ा है और वह समाप्त होने में नहीं आता।

(दूती की नायक के प्रति उक्ति)

जं जं सो णिज्झाअइ अंगोआसं महं अणिमिसच्छो।
पच्छाएमि अ तं तं इच्छामि अ तेण दीसंतं॥

(शृंगार० ३, ४; गा० स० १, ७३)

मेरे जिस-जिस अंग को निर्निमेष नयन से वह ध्यान पूर्वक देखता है उसका मैं प्रच्छादन कर लेती हूँ; चाहती हूँ वह देखता ही रहे।

जं परिहरिउं तीरइ मणअं पि ण सुन्दरत्तणगुणेण ।
अह णवरं जस्स दोसो पडिपक्खेहिं पि पडिवण्णो ॥

(काव्य० प्र० ७, २१६ । यह गाथा आनन्दवर्धन के विषमबाणलीला की कही गई है)

(कामविलास ऐसी वस्तु है कि) इसकी सुंदरता के कारण इससे दूर रहना कभी संभव नहीं, क्योंकि विरोधी भी इसके दोषों का ही बखान करते हैं, इसका परिहार वे भी नहीं कर सकते।

जं भणह तं सहीओ ! आम करेहामि तं तहा सव्वं ।
जइ तरइ रुंभिउं मे धीरं समुहागए तम्मि ॥

(काव्या० पृ० ३९६, ६५७)

हे सखियो ! जो-जो तुम कहोगी मैं सब कुछ करूंगी, बशर्ते कि उसके सामने आने पर मैं अपने आपको वश में रख सकूँ। (अनुमान अलंकार का उदाहरण)

जं मुच्छिआ ण अ सुओ कलम्बगन्धेण तं गुणे पडिअं ।
इअरह गज्जिअसद्दो जीएण विणा न बोलिन्तो ॥

(स० कं० ५, ३४४)

कदंब की सुगंधि पाकर वह मूर्च्छित हो गई और मूर्च्छा के कारण वह मेघ की गर्जना न सुन सकी। यह अच्छा ही हुआ, नहीं तो गर्जना सुन कर उसके प्राणों का ही अंत हो जाता (कदंब की मादक सुगंध दोष माना जाता है, लेकिन यहाँ वह गुण सिद्ध हुआ है)। (मूर्च्छा का उदाहरण)

ढुंढुल्लिंतु मरीह सि कंटयकलिआइं केअइवणाइं ।
मालइकुसुमेण समं भमर ! भमंतो न पाविहिसि ॥

(काव्या० पृ० २४३, ५०५; ध्वन्या० पृ० २१३; काव्य० प्र० १०, ४०७)

हे भ्रमर ! काँटों वाले केतकी के बन में भटकने-फिरने तुम भले ही मर जाओ, लेकिन मालती का-सा पुष्प तुम्हें कहीं न मिलेगा। (उपमा अलंकार का उदाहरण)

णअणब्भन्तरघोलन्तबाहभरमन्थराइ दिट्ठीए ।
पुणरुत्तपेच्छिरीए बालअ ! किं जं ण भणिओ सि ॥

(स० कं० ५, १४९; गा० स० ४, ७१)

नयनों के अश्रुभार से जड़ हुई दृष्टि से हे नादान ! बार-बार विलोकन करने वाली उस नायिका ने ऐसी कौन-सी बात है जो न कह दी हो।

(संचारिभावों में अश्रु का उदाहरण)

ण अ ताण घडइ ओही ण ते दीसन्ति कह वि पुणरुत्ता ।
जे विब्भमा पिआणं अत्था व सुकइवाणीणम् ॥

(ध्वन्या० ४, पृ० ६३५)

प्रियतमों के हाव-भाव और सुकवियों की वाणी के अर्थ की न कोई सीमा है और न वे पुनरुक्त जैसे दिखाई देते हैं।

ण उण वरकोदण्डदण्डए पुत्ति ! माणुसेवि एमेअ ।
गुणवज्जिएण जाअइ वंसुप्पण्णे वि टंकारो ॥ (स० कं० ३, ८९)

हे पुत्रि ! यह उक्ति केवल श्रेष्ठ धनुष के संबंध में ही नहीं, बल्कि मनुष्य के संबंध में भी ठीक है कि सुवंश (बांस, वंश) में उत्पन्न होने पर भी गुणों (रस्सी, गुण) के बिना टंकार का शब्द नहीं होता । (निदर्शन अलङ्कार का उदाहरण)

णच्चिहिइ णडो पेच्छिहिइ जगवओ भोइओ णायओ ।
सो वि दूसिहिइ जइ रंगविहडणअरी गहवइधूआ ण वच्चिहिइ ॥
(स० कं० ५, ३१९)

नट नृत्य करेगा, लोग उसे देखेंगे, नायक भोगी है । लेकिन यदि गृहपति की पुत्री वहाँ न जायेगी तो वह नायक दूषित होगा और रंग में भंग पड़ जायेगा ।

णमह अवट्ठिअतुंगं अविसारिअवित्थअं अणोणअं गहिरं ।
अप्पलहुअपरिसण्हं अण्णाअपरमत्थपाअडं महुमहणं ॥
(स० कं० ३, १६; सेतु १, १)

जिसकी ऊँचाई आकाशव्यापी है, मध्य में विस्तार बहुत फैला हुआ है और गहराई अधोलोक में बहुत दूर तक चली गई है तथा जो महान् है, सूक्ष्म है और जो परमार्थ से अज्ञात होकर भी (घट, पट आदि रूप में) प्रकट है, ऐसे मधुमथन (विष्णु) को नमस्कार करो । (विभावना अलङ्कार का उदाहरण)

णमह हरं रोसाणलणिद्दड्ढमुद्धमम्महसरीरम् ।
वित्थअणिअम्बणिग्गअगंगासोत्तं व हिमवंतम् ॥ (स० कं० १, ६२)

जिसने अपनी क्रोधाग्नि से मुग्ध मन्मथ के शरीर को दग्ध कर दिया है और जो विस्तृत नितंब से निकली हुई गंगा के प्रवाह वाले हिमालय पर्वत के समान है, ऐसे शिवजी को नमस्कार करो । (असदृशोपम वाक्यार्थ दोष का उदाहरण)

ण मुअन्ति दीहसासं ण रुअन्ति ण होन्ति विरहकिसिआओ ।
धण्णाओ ताओ जाणं बहुवल्लह ! वल्लहो ण तुमं ॥
(स० कं० ४, ११५; गा० स० २, ४७)

हे बहुवल्लभ (जिसे बहुत-सी महिलायें प्रिय हैं) ! जिनका तू प्रिय नहीं ऐसी जो नायिकायें (तेरे विरह में) न दीर्घ श्वास छोड़ती हैं, न बहुत काल तक रुदन करती हैं और न कृश ही होती हैं, वे धन्य हैं । (अप्रस्तुत प्रशंसा अलङ्कार का उदाहरण)

ण मुअम्मि मुए वि पिए दिट्ठो पिअअमो जिअन्तीए ।
इह लज्जा अ पहरिसो तीए हिअए ण संमाइ ॥
(स० कं० ५, १९१)

प्रियतम के मर जाने पर मैं न मरी, और फिर जीती हुई मैंने उसे देखा— इस प्रकार लज्जा और हर्ष के भाव उसके मन में नहीं समाते ।

णवपल्लवेसु लोलइ घोलइ विडवेसु चलइ सिहरेसु ।
थवइ थवएसु चलणे वसंतलच्छी असोअस्स ॥
(स० कं० ४, २०३; ५, ४५५)

वसंतशोभा अशोक के नव पल्लवों में चंचल होती है, वृक्षों के शिखरों पर चलायमान होती है और उनके पुष्पगुच्छों पर अपने चरण रखती है।

(दीपक अलङ्कार का उदाहरण)

णवपुण्णिमामिअङ्कस्स सुहअ ! को त्तं सि भणसु मह सच्चम् ।
का सोहग्गसमग्गा पओसरअणि व्व तुह अज्ज ॥

(काव्य० प्र० ४, ८८)

हे सुभग ! सच-सच बताओ, नवोदित पूर्णिमा के चन्द्र के तुम कौन लगते हो ? क्या आज प्रदोषरात्रि की भाँति तुम्हारी कोई सौभाग्य सुन्दरी मौजूद है ?

(प्रतिमा अलङ्कार का उदाहरण)

णवरिअ तं जुअजुअलं अण्णोण्णं णिहिदसजलमंथरदिट्टिं ।
आलेक्खआपिअं विअ खणमेत्थं तत्थ संठिअं मुअसण्णं ॥

(साहित्य०, पृ० १६४; कुवलयाश्वचरित)

उन दोनों की जोड़ी परस्पर अश्रुपूर्ण निश्चल दृष्टि से देखती हुई, संज्ञा से शून्य केवल चित्रलिखित की भाँति वहाँ क्षण भर के लिये खड़ी रही।

णवरि अ पसारिअंगी रअभरिउप्पहपइण्णवेणीबन्धा ।
पडिआ उरसन्दाणिअमहिअलचक्कलइअत्थणी जणअसुआ ॥

(स० कं० ५, २०६; सेतु० ११, ६८)

(तत्पश्चात) अपने अंगों को फैला कर, धूलि से भरे हुए उन्मार्ग में जिसकी वेणी खुल गई है, तथा (नीचे की ओर मुंह करके गिरने से) छाती के जमीन से लगने के कारण जिसके स्तनों पर चक्र की भाँति मंडल बन गये हैं, ऐसी जनकसुता (सीता) भूमि पर गिर पड़ी।

णवलइपहारतुट्ठाइ तं कअं किंपि हलिअसोण्हाए ।
जं अज्जवि जुअइजणो घरे घरे सिक्खिउं भमइ ॥

(स० कं० ५, १७५)

नवलता के प्रहार से संतुष्ट हलवाहे की पतोहू ने जो कुछ किया उसे आज भी घर-घर की युवतियाँ सीखने की इच्छा रखती हैं।

णवलइ पहारमंगे जहिं जहिं महइ देअरो दाउं ।
रोमंचदंडराई तहिं तहिं दीसइ बहूए ॥

(स० कं० ५, ३०८; गा० स० १, २८)

देवर जहाँ-जहाँ शरीर पर नवलता से प्रहार करने की इच्छा करता है, वहाँ-वहाँ वधू के (शरीर पर) रोमांचपंक्ति दिखाई देने लगती है।

ण वि तह अणालवन्ती हिअअं दूमेइ माणिणी अहिअम् ।
जइ दूरविअम्भिअगरुअरोसमज्झत्थभणिएहिं ॥

(स० कं० ५, ३२५, ३८०; गा० स० ६, ६४)

मानिनी यदि मौन धारण कर लेती है तो वह इतना अधिक हृदय को कष्ट नहीं पहुँचाती जितना कि वह अत्यधिक रोषपूर्ण स्नेहशून्य उदासीन वचनों द्वारा।

ण वि तह छेअरआइं हरन्ति पुणरुत्तराअरमिआइं।
जह जत्थ व तत्थ व जह व तह व सब्भावरमिआइं॥

(स० कं० ५, ३३३; गा० स० ३, ७४)

पुनः-पुनः परिशीलित, रति-व्यापार में अनुभव वाला ऐसा कामशास्त्रोक्त रति-व्यापार इतना आकर्षक नहीं होता जितना कि किसी भी स्थान पर और किसी भी प्रकार से अन्तःकरण के स्नेहपूर्वक किया हुआ समागम।

णहमुहपसाहिअंगो निद्दाघुम्मंतलोअणो न तहा।
जह निव्वणाहरो सामलंग ! दूमेसि मह हिअयं॥

(काव्या० पृ० ५६, २३)

हे श्यामलांगी प्रियतमे ! नखक्षत द्वारा शोभायमान तुम्हारा शरीर और निद्रा से घूर्णित तुम्हारे नेत्र मुझे इतने व्याकुल नहीं करते जितना कि दन्तक्षत बिना तुम्हारा अधरोष्ठ।

ण हु णवरं दीवसिहासारिच्छं चम्पएहिं पडिवण्णम्।
कज्जलकज्जं पि कअं उअरि भमन्तेहिं भमरेहिं॥

(स० कं० ५, ४६२)

केवल चंपक के फूल ही दीपक की शिखा की भाँति प्रतीत नहीं होते, किंतु ऊपर उड़ने वाले भौंरे भी काजल जैसे लगते हैं। (अलङ्कार सङ्कर का उदाहरण)

णाराअणो त्ति परिणअपराहिं सिरिवल्लहो त्ति तरुणीहिं।
बालाहिं उण कोदूहलेण एमेअ सच्चविओ॥

(अलङ्कार स०, पृ० ४८)

परिणीत स्त्रियों की रुचि नारायण में, तरुणियों की श्रीवल्लभ में और बालाओं की केवल कुतूहल में रहती है, यही देखा गया है।

णासं व सा कवोले अज्ज वि तुह दन्तमण्डलं बाला।
उब्भिण्णपुलअवइवेढ़परिगअं रक्खइ वराई॥

(स० कं० ५, २१८; गा० स० १, ९६)

वह बिचारी बाला रोमांचरूपी बाड़ से युक्त अपने कपोल पर तुम्हारे द्वारा किये हुए दन्तक्षत की धरोहर की भाँति आज भी रक्षा कर रही है।

णिग्गंडदुरारोहं मा पुत्तय ! पाडलं समारुहसु।
आरूढ़निवाडिया के इमीए न कया इहग्गामे॥

(काव्या०, पृ० ४००, ६६६; गा० सं० ५, ६८)

हे पुत्र ! गाँठ रहित और मुश्किल से चढ़े जाने योग्य पाटल वृक्ष के ऊपर मत चढ़। इस गाँव में ऐसे कौन हैं जिन्हें (ऊपर चढ़े हुओं को) इस (नायिका) ने नीचे नहीं गिरा दिया। (सङ्कर अलङ्कार का उदाहरण)

णिद्दालसपरिघुम्मिरतं सवलन्तद्धतारआलोआ।
कामस्सवि दुव्विसहा दिट्ठिणिवाआ ससिमुहीए॥

(स० कं० ५, ६३; गा० स० २, ४८)

(सुरत-जागरण के कारण) निद्रा से अलसाये और झूमते हुए, तथा (अतिशय अनुराग से) पुतलियों को तिरछे फिराते हुए चन्द्रवदना के दृष्टिबाण कामदेव के लिये भी असह्य हैं ।

णियदइयदंसणुक्खित्त पहिय ! अन्नेण वच्चसु पहेण ।
गहवइधूआ दुल्लंघवाउरा इह हयग्गामे ॥

(काव्या०, पृ० ५५, १९; स० कं० ५, ३७५)

अपनी प्रियतमा के दर्शन के लिये उत्सुक हे पथिक ! तू और किसी रास्ते से जा । इस अभागे ग्राम में गृहपति की कन्या कहीं इधर-उधर जाने में असमर्थ है ।

(मध्यमा नायिका का उदाहरण)

णिहुअरमणम्मि लोअणपहंपि पडिए गुरुअणमज्झंमि ।
सअलपरिहारहिअआ वणगमणं एव्व महइ बहू ॥

(काव्य० प्र० ७, ३२८; काव्या० पृ० १६१, १८७)

अपने प्रेमी के साथ एकान्त में रमण करने वाली कोई वधू अपने गुरुजनों द्वारा देख लिये जाने पर, घर का सब काम-काज छोड़ कर केवल वनगमन की ही इच्छा करती है ! (श्रृङ्गाररस के निर्वेद से बाधित होने का उदाहरण)

णेउरकोडिविलग्गं चिहुरं दइअस्स पाअपडिअस्स ।
हिअअं माणपउत्थं उम्मोअं त्ति च्चिअ कहेइ ॥

(दशरूपक, पृ० ४; पृ० २६७; गा० स० २, ८८)

प्रिया के पैरों में गिरने वाले प्रियतम के केश प्रिया के नूपुरों में उलझ गये हैं जो इस बात की सूचना दे रहे हैं कि नायिका के मानी हृदय को अब मान से छुटकारा मिल गया है ।

णोल्लेइ अणोल्लमणा अत्ता मं घरभरंमि सयलंमि ।
खणमेत्तं जइ संझाए होइ न व होइ वीसामो ॥

(काव्या०, पृ० ६०, ३१; काव्य० प्र० ३, १८)

हे प्रियतम ! मेरी निष्ठुर सास दिन भर मुझे घर के काम में लगाये रखती है । मुझे तो केवल सांझ के समय क्षण भर के लिये विश्राम मिलता है, या फिर वह भी नहीं मिलता । (यहाँ नायिका अपने पास खड़े प्रेमी को दिन भर काम में लगे रहने की बात सुनाकर उससे सांझ के समय मिलने की ओर इंगित कर रही है) ।

(सूक्ष्म अलङ्कार का उदाहरण)

तइआ मह गंडत्थलणिमिअं दिट्ठिं ण णेसि अण्णत्तो ।
एण्हिं सच्चेअ अहं तेअ कवोला ण सा दिट्ठी ॥

(काव्य० प्र० ३, १६)

हे प्रियतम ! उस समय तो मेरे कपोलों में निमग्न तेरी दृष्टि कहीं दूसरी जगह जाने का नाम भी न लेती थी, और अब यद्यपि मैं वहीं हूँ, वे ही मेरे कपोल हैं, फिर भी तुम्हारी वह दृष्टि नहीं रही (यहाँ प्रियतम के प्रच्छन्न कामुक होने की ध्वनि व्यक्त होती है)। (वाक्य वैशिष्ट्य से वाच्य रूप अर्थ की व्यंजना का उदाहरण)

तत्तो च्चिअ णेन्ति कहा विअसन्ति तहिं समप्पन्ति ।
किं मण्णे माउच्छा ! एक्कजुआणो इमो गामो ॥

(स० कं० ५, २२७; गा० स० ७, ४८)

उसी से कहानियाँ आरंभ होती हैं, उसी से बढ़ती हैं और वहीं पर समाप्त हो जाती है। हे मौसी ! क्या कहूं, इस गाँव में केवल वही एक छैलछबीला रहता है।

तरलच्छि ! चंदवअणे ! पीणत्थणि ! करिकरोरु ! तणुमज्झे !
दीहा वि समप्पइ सिसिरजामिणी कह णु दे माणे ॥

(शृंगार०, ५९, ३३)

हे चंचल नेत्रों वाली ! चन्द्रवदने ! पीन स्तनवाली ! हाथी के शुंडादंड के समान उरुवाली ! कृशोदरि ! शिशिर ऋतु की सारी रात बीत गई, और तेरा मान अभी भी पूरा नहीं हुआ !

तह वलिअं णअणजुअं गहवइधूआए रंगमज्झंमि ।
जह ते वि णडा णडपेच्छआ वि मुहपेच्छआ जाआ ॥

(शृंगार० २९, १३५)

जैसे नट और नटों के प्रेक्षक उसके मुख की ओर देखने लगे, वैसे ही रंगस्थली में उस गृहपति की पतोहू के नेत्रयुगल घूम गये।

तह झत्ति से पअत्ता सव्वंगं विब्भमा थणुब्भेए ।
संसइअबालभावा होइ चिरं जह सहीणं पि ॥

(दशरूपक २, पृ० १२०)

जैसे-जैसे उसके स्तनों में वृद्धि होने लगी वैसे-वैसे उसके समस्त अंगों में विलास दिखाई देने लगा, यहाँ तक कि उसकी सखियाँ भी एकबारगी उसके बाल्य-भाव के बारे में संदेह करने लग गईं। (हेला का उदाहरण)

तह दिट्ठं तह भणिअं ताए णिअदं तहा तहासीणम् ।
अवलोइअं सअण्हं सविब्भमं जह सवत्तीहिं ॥

(दशरूपक, प्र० २, पृ० १२४)

उस नायिका का देखना, बोलना, स्थित होना और बैठना इस ढंग का है कि उसकी सौतें भी उसे तृष्णा और विलासपूर्वक देखती हैं। (भाव का उदाहरण)

तह सा जाणइ पावा लोए पच्छण्णमविणअं काउं ।
जह पढमं चिअ स च्चिअ लिक्खइ मज्झे चरितवंतीणं ॥

(स० कं० ५, ३९४)

जैसे वह पहले चरित्रवंतियों के बीच प्रधान गिनी जाती थी, वैसे ही अब वह कुलटा लोक में प्रच्छन्न अविनय करने वालों में सर्वप्रथम है।

(स्वैरिणी का उदाहरण)

ता कुणह कालहरणं तुवरंतम्मि विवरे विवाहस्स ।
जाव पण्डुणहवणाइं होन्ति कुमारीअ अंगाइम् ॥

(स० कं० ५,

विवाह के लिये वर के द्वारा शीघ्रता करने पर भी तब तक समय यापन करो जब तक कि कुमारी के अंग पाण्डु नखक्षतों से युक्त न हो जायँ।

(विवाह के समय परिहास का उदाहरण)

ताणं गुणग्गहणाणं ताणुक्कंठाणं तस्स पेम्मस्स।
ताणं भणिआणं सुन्दर ! एरिसिअं जाअमवसाणम् ॥

(काव्य० प्र० ४, १०२)

हे सुन्दर ! क्या उन गुणों के वर्णन का, उन उत्कंठाओं का, उस प्रेम का और तुम्हारी उन प्रेमपगी बातों का यही अन्त होना था ?

(वचन की रसव्यंजकता का उदाहरण)

ताला जायन्ति गुणा जाला ते सहिअएहिं घिप्पंति।
रविकिरणाणुग्गहिआइं हुंति कमलाइं कमलाइं ॥

(अलङ्कार० पृ० २३; काव्या० पृ० २०९, २३५; विषमबाणलीला; काव्य० प्र० ७, ३१५)

गुण उस समय उत्पन्न होते हैं जब वे सहृदय पुरुषों द्वारा ग्रहण किये जाते हैं। सूर्य की किरणों से अनुगृहीत विकसित कमल ही कमल कहे जाते हैं।

(लाटानुप्रास का उदाहरण)

ताव च्चिअ रइसमए महिलाणं विब्भमा विराअन्ति।
जाव ण कुवलयदलसच्छहाइं मउलेन्ति णअणाइं ॥

(सं० कं० ५, १६८; दशरूपक २, पृ० १००; गा० स० १, ५)

रति के समय स्त्रियों की शृंगार-चेष्टाएँ तभी तक शोभित होती हैं जब तक कि कमलों के समान उनके नयन मुकुलित नहीं हो जाते।

(रसाश्रित भाव का उदाहरण)

तावमवणेइ ण तहा चन्दनपंको वि कामिमिहुणाणम्।
जइ दूसहे वि गिम्हे अण्णोण्णालिंगणसुहेल्ली ॥

(स० कं० ५, २१३; गा० स० ३, ८८)

असह्य ग्रीष्मकाल में भी कामीजनों का ताप, जैसा परस्पर आलिंगन-सुख की क्रीड़ा से शान्त होता है, वैसा चन्दन के लेप से भी नहीं होता।

(सङ्कर अलङ्कार का उदाहरण)

तीए दंसणसुहए पणअक्खलणजणिओ मुहम्मि मणहरे।
रोसो वि हरइ हिअअं मअअंको व्व मिअलंछणम्मि णिसण्णो ॥

(स० कं० ५, ४८५)

उसके दर्शनीय सुंदर मुख पर प्रणय के स्खलन के कारण जो रोष दिखाई देता है वह भी चन्द्रमा में बैठे हुए मृग के चिह्न की भाँति मनोहर जान पड़ता है।

(सङ्कर अलङ्कार का उदाहरण)

तीए सविसेसदूमिअसवत्तिहिअआइं णिव्वलणन्तसिणेहं।
पिअगरुइआइ णिमिअं सोहग्गगुणाण अग्गभूमीअ पअं ॥

(स० कं० ५, ३५०)

विशेष रूप से अपनी सौतों के हृदय को दुखी करने वाली अपने प्रिय की लाड़ली उस (नायिका) ने सौभाग्य-गुणों की अग्रभूमि में स्नेहयुक्त स्थान बनाया है।

तुज्झ ण आणे हिअअं मम उण मअणो दिआअ रत्तिं अ।
णिक्किव ! तवेइ वलिअं जुह जुत्तमणोरहाइं अंगाइं॥
(स० कं० २, २; अ० शाकुन्तल ३, १९)

मैं तेरे हृदय को नहीं जानती लेकिन हे निर्दय ! जिसके मनोरथ तुम पर केन्द्रित हैं ऐसी मुझ जैसी के अंगों को दिन और रात अतिशय रूप से काम सताता है। (शुद्ध प्राकृत का उदाहरण)

तुह वल्लहस्स गोसम्मि आसि अहरो मिलाणकमलदलं।
इय नववहुआ सोऊण कुणइ वयणं महीसमुहं॥
(काव्या० पृ० ८०, ७६; काव्यप्रकाश ४, ८३)

आज प्रभात में तुम्हारे प्रियतम का अधरोष्ठ किसी मसले हुए कमलपत्र की भाँति दिखाई दे रहा था, यह सुनते ही नववधू का मुँह जमीन में गड़ गया।

(रूपक का उदाहरण)

तुह विरहुज्जागरओ सिविणे वि ण देइ दंसणसुहाइं।
वाहेण जहालोअणविणोअणं पि से विहअम्॥
(स० कं० ५, ३३८; गा० स० ५, ८७)

तुम्हारे विरह के जागृत रहने से स्वप्न में भी तुम्हारे दर्शन का सुख उसे प्राप्त नहीं होता तथा आँखों के अश्रुओं से पूर्ण होने से तुम्हें देखने का आनंद नहीं मिलता, यह उस बेचारी का बड़ा दुर्भाग्य है !

तेण इर णवलआए दिण्णो पहरो इमीअ थणवट्टे।
गामतरुणीहिं अज्ज वि दिअहं परिवालिआ भमइ॥
(स० कं० ५, २२८)

उसने उस नायिका के स्तनों पर नवलता से प्रहार किया जिससे वह अभी भी गाँव की तरुणियों द्वारा रक्षित इधर-उधर घूम रही है।

ते विरला सप्पुरिसा जे अभणन्ता घडेन्ति कज्जलावे।
थोअच्चिअ ते वि दुमा जे अमुणिअकुसुमणिग्गमा देन्ति फलं॥
(स० कं० ४, १६२; सेतु० ३, ९)

जो विना कुछ कहे ही काम बना देते हैं ऐसे सत्पुरुष विरले हैं। उदाहरण के लिये, ऐसे वृक्ष थोड़े ही होते हैं जो फूलों के विना ही फल देते हैं।

(अर्थान्तरन्यास अलङ्कार का उदाहरण)

तो कुम्भअण्णपडिवअणदण्डपडिघट्टिआमरिसघोरविसो।
गलिअंसुअणिमोओ जाओ भीसणनरो दसाणणभुअओ॥
(स० कं० ४, ३८)

तत्पश्चात् कुंभकर्ण के प्रत्युत्तर रूपी दंड से जिसका क्रोध रूपी उग्र विष

जागृत हो गया है, तथा जिसकी वस्त्ररूपी केंचुली स्खलित हो गई है ऐसा रावणरूपी सर्प अति भयानक दिखाई देने लगा। (रूपक अलङ्कार का उदाहरण)

तो ताण हअच्छाअं णिच्चललोअणसिहं पउत्थपआवम्।
आलेक्खपईवाणं व णिअअं पइइचडुलत्तणं पि विअलिअम्॥
(स० कं० ४, ५६; ५, २४; सेतुबंध २, ४५; काव्या० पृ० १४५, १७०; विषमबाणलीला)

शोभा-विहीन निश्चल लोचनरूपी शिखा से युक्त और प्रतापरहित ऐसे चित्रलिखित दीपकों की भाँति उन वानरों की स्वाभाविक चंचलता नष्ट हो गई। (साम्य अलङ्कार का उदाहरण)

तं किर खणा विरज्जसि तं किर उवहससि सअलमहिलाओ।
एहेहि वारवालिइ! अंसू मइलं समुप्पिसिमो॥
(स० कं० ५, ३७६)

तू क्षण भर में उदास हो जाती है, फिर तू सब महिलाओं का उपहास करने लगती है। हे द्वारपालिके! इधर आ, हम तेरे मलिन आँसुओं को पोंछ देंगे। (अधमा नायिका का उदाहरण)

तं च्चिअ वअणं ते च्चेअ लोअणे जोव्वणं पि तं च्चेअ।
अण्णा अणंगलच्छी अण्णं च्चिअ किं पि साहेइ॥
(दशरूपक प्र० २, पृ० १२०)

उस नायिका का वही मुख है, वे ही नेत्र हैं, और वही उसका यौवन है, लेकिन उसके शरीर में एक विचित्र ही कमनीयता दिखाई देती है जो कुछ और ही कह रही है। (भाव का उदाहरण)

तं णत्थि किंपि पइणो पकप्पिअं जं ण णिअइघरणीए।
अणवरअगमणसीलस्स कालपहिअस्स पाहिज्जम्॥
(अलङ्कार० पृ० १२३)

नियतिरूपी गृहिणी ने सतत गमनशील काल-पथिकरूप अपने पति के लिये कौनसा पाथेय तैयार नहीं किया?

तं ताण सिरिसहोअररयणाहरणम्मि हिअयमिक्करसं।
बिंबाहरे पिआणं निवेसियं कुसुमबाणेण॥
(ध्वन्या० उ० २ पृ० २००; काव्या० पृ० ७४, ७०; विषमबाणलीला)

कौस्तुभमणि को प्राप्त करने के लिये तत्पर असुरों का मन जो अत्यन्त तन्मय हो गया था, उसे कामदेव ने (कौस्तुभमणि से खींच कर) प्रेयसी के अधरबिंब में निवेशित कर दिया। (पर्याय अलङ्कार का उदाहरण)

तं तिअसकुसुमदामं हरिणा णिम्महिअसुरहिगन्धामोअं।
अप्पणइअं पि दूमिअपणइणिहिअएण रुप्पिणीअ विइण्णम्॥
(स० कं० ५, ३५१)

सुगंध से परिपूर्ण और स्वयं लाई हुई देवों की पुष्पमाला को, प्रणयिनी के हृदय को कष्ट पहुँचाने वाले कृष्ण ने बिना माँगे ही रुक्मिणी को दे दी।

(प्रतिनायिका का उदाहरण)

तं तिअसवन्दिमोक्खं समत्तलोअस्स हिअसल्लुद्धरणम्।
सुणह अणुरायइण्हं सीयादुक्खक्खयं दसमुहस्स वहम्॥

(काव्या० पृ० ४५६, ६१२; सेतुबन्ध १, १२)

बंदी किए हुए देवताओं को छुटकारा देने वाले, समस्त लोक के हृदयों में से शल्य को निकालने वाले, (सीता के प्रति राम के) अनुराग के चिह्न रूप तथा सीता के दुख का हरण करने वाले ऐसे रावणवध को सुनो।

तं दइआचिण्णाणं जम्मि वि अंगम्मि राहवेण ण णिमिअं।
सीआपरिमट्ठेण व ऊढो तेणवि निरन्तरं रोमञ्चो॥

(स० कं० ४, २२३; सेतुबंध १, ४२)

उस प्रिया के चिह्न (मणि) को रामचन्द्र ने जिस अंग पर नहीं रखा वह भी मानों सीता द्वारा चारों ओर से स्पृष्ट होकर पुलकित हो उठा।

(अतिशयोक्ति अलङ्कार का उदाहरण)

तं पुलइअं पि पेच्छइ तं चिअ णिज्झाइ तीअ गेणहइ गोत्तं।
ठाइअ तस्स समअणे अण्णं वि विचिंतअम्मि स च्चिअ हिअए॥

(स० कं० ५, ३३६)

हृदय में किसी अन्य का विचार करते हुए, वह पुलकित हुई उसी नायिका को देखता है, उसी का ध्यान करता है, उसी का नाम लेता है और वही उसके हृदय में वास करती है।

तंबमुहकआहोआ जइ जइ थणआ किलेन्ति कुमरीणम्।
तह तह लद्धावासोव्व वम्महो हिअअमाविसइ॥

(स० कं० ५, ३३२)

विस्तार वाले कुमारियों के ताम्रमुख स्तन जैसे-जैसे क्लांति उत्पन्न करते हैं, वैसे-वैसे मानो कामदेव स्थान पाकर हृदय में प्रवेश करता है।

(यौवनज का उदाहरण)

तं सि मए चूअंकर ! दिण्णो कामस्स गहिदधणुअस्स।
जुवइमणमोहणसहो पञ्चब्भहिओ सरो होहि॥

(स० कं० २, ७; अ० शाकुन्तल ६, ३)

हे आम्रमंजरी ! हाथ में धनुष लेने वाले कामदेव को मैंने तुझे दिया है, अब तू युवतियों के मन को मोहित करने में समर्थ पाँच से अधिक बाणरूप बन जा (कामदेव को पंचशर कहा गया है)। (शुद्ध शौरसेनी का उदाहरण)

थोआरूढमहुमआ खणपम्हट्ठावराहदिण्णुल्लावा।
हसिऊण संठविज्जइ पिएण संभरिअलज्जिआ कावि पिआ॥

(स० कं० ५, ३२१)

जिसे मदिरा का थोड़ा-सा नशा चढ़ा हुआ है और जो क्षण भर के लिए अपराधों को भूल कर उल्लास कर रही है, लज्जा को स्मरण करती हुई ऐसी प्रिया को उसका प्रियतम हँस कर बैठा रहा है।

थोओ सरंतरोसं थोअत्थोअपरिवड्ढमाणपहरिसम्।
होइ अ दूरपआसं उअहरसाअंतविब्भमं तीअ मुखम् ॥
(स० कं० ५, ४९१)

धीरे-धीरे जिसका रोष दूर हो रहा है और जिस पर धीरे-धीरे हर्ष के चिह्न दिखाई दे रहे हैं ऐसा दूर से प्रकाशित और उभय रस के हाव-भाव से युक्त उस (नायिका) का मुख दिखाई दे रहा है। (स्वभावोक्ति का उदाहरण)

दइअस्स गिम्मवम्महसंदावं दो वि झत्ति अवणेइ।
मज्जणजलद्दचंदणसिसिरा आलिंगणेण वहू ॥ (श्रृंगार० ५५, १३)

स्नान के जल से आर्द्र और चन्दन से शिशिर वधू अपने आलिंगन से दयिता के ग्रीष्म और काम संताप दोनों को झट से दूर कर देती है।

दट्ठुं चिरं ण लद्धो मामि ! पिओ दिट्ठिगोअरगओ वि।
दंडाहअवलिअभुअंगवक्करच्छे हअग्गामे ॥
(श्रृंगार ४१, २०२)

हे मामी ! दंड से आहत, घूमे हुए, और भुजंग के समान टेढ़े-मेढ़े रास्ते वाले इस अभागे गाँव में दृष्टिगोचर होते हुए भी उस अपने प्रिय को बहुत देर तक मैं न देख सकी।

दट्टोट्ठ हो ! असिलअघाओ दे वि मउलावइ लोअणभउहो बे।
सुपओहरकुवलयपत्तलच्छि कह मोहण जणइ ण लग्गवच्छि॥
(स० कं० ५, ४९८)

हे अधरामृत के पान करने वाले ! तेरा नखाघात (उसके) दोनों लोचनों को मुकुलित कर देता है, फिर वह सुंदर स्तनों वाली और कमल के समान नयनों वाली वक्षस्थल से लगी हुई किसके हृदय में मोह उत्पन्न नहीं करती ? (वीर रस सूचक अर्थ : ओठों को डस कर तुम्हारे खड्ग का प्रहार किये जाने पर उसके दोनों नेत्र मुकुलित हो जाते हैं, फिर वक्षस्थल से लग्न समस्त पृथ्वी मंडल को प्राप्त लक्ष्मी योद्धाओं के हृदय में क्यों मोह उत्पन्न नहीं करती ?) (श्लेष का उदाहरण)

दढमूढबद्धगंठिं व मोइआ कहवि तेण मे बाहू।
अह्मे विअ तस्स उरे खत्तव्व समुक्खआ थणआ ॥ (श्रृंगार० ७, २८)

दृढ़ बंधी हुई गाँठ की भाँति उसने किसी तरह मेरी दोनों बाहुओं को छुड़ाया, फिर तो हमने भी गड्ढे की भाँति उसके वक्षस्थल पर अपने स्तन गड़ा दिये।

दरवेविरोरुजुअलासु मउलिअच्छीसु लुलिअचिउरासु।
पुरुसाइअसीरीसु कामो पिआसु सज्जाउहो वसइ ॥
(स० कं० ५; २२२; गा० स० ७. १४)

जिसके उरुयुगल कुछ कंपित हो रहे हैं, जिसके नेत्र मुकुलित हैं, केशपाश

चंचल हो रहा है ऐसी पुरुषायित (रति के समय पुरुष की भाँति आचरण करने वाली) प्रिया में कामदेव मानों समस्त शस्त्रों से सज्जित होकर उपस्थित हुआ है।

दिअहे दिअहे सूसइ संकेअअभंगवड्ढिआसंका।
आपाण्डुरावणमुही कलमेण समं कलमगोवी॥

(स० कं० ५, ३२६; गा० स० ७, ९१)

जैसे कलम (एक प्रकार का धान) पक जाने पर पीला पड़ कर दिन प्रतिदिन सूखने लगता है, वैसे ही (धान के खेत सूख जाने पर) संकेत-स्थल के नष्ट हो जाने की चिन्ता से पीली पड़ी हुई, नीचे मुंह किये धान की रखवाली करने वाली (कृषक वधु) दिन पर दिन सूखती जाती है। (सहोक्ति अलङ्कार का उदाहरण)

दिअहं खु दुक्खिआए सअलं काऊण गेहवावारम्।
गरुएव मण्णुदुक्खे भरिमो पाअन्तसुत्तस्स॥

(दशरूपक प्र० २, पृ० १२३; गा० स० ३, २६)

दिन भर घर के कामकाज में लगी रहने के कारण दुःखी नायिका का भारी क्रोध एवं दुःख प्रिय के पाँयतो की तरफ सो जाने से शांत हो गया।

(औदार्य का उदाहरण)

दिट्ठाइ जं ण दिट्ठो आलविआए वि जं ण आलत्तो।
उवआरो जं ण कओ तं चिअ कलिअं छइल्लेहिं॥

(स० कं० ५, २५२; ३, १२९)

उस (नायिका) के द्वारा देखे जाते हुए भी जिसने उसकी ओर नहीं देखा, भाषण किये जाते हुए भी भाषण नहीं किया, और जिसने उसका स्वागत तक नहीं किया, उसे विदग्ध लोग ही समझ सकते हैं।

(विचित्र, विषम अलङ्कार का उदाहरण)

दिट्ठा कुविआणुणआ पिआ सहस्सजणपेल्लणं पि विसहिअं।
जस्स णिसण्णाइ उरे सिरीए पेम्मेण लहुइओ अप्पाणो॥

(स० कं० ५, ३२२)

सहस्रजनों की प्रेरणा को सहन करके भी कुपित प्रियतमा को मनाया, (तत्पश्चात्) जिसके वक्षस्थल पर आसीन लक्ष्मी के प्रेम से उसकी आत्मा कोमल हो गई।

दिट्ठे जं पुलइज्जसि थरहरसि पिअम्मि जं समासण्णे।
तुह सम्भासणसेउल्लि फंसणे किं वि लज्जिहिसि॥

(स० कं० ५, १४८)

जिस प्रियतम को देखने पर तू पुलकित होती है, जिसके पास आने पर कंपित होने लगती है और जिसके साथ वार्तालाप करने से पसीना-पसीना हो जाती है, उसके स्पर्श से तू भला क्यों लजाती है?

(संचारी भावों में स्वेद, रोमांच और वेपथु का उदाहरण)

दियरस्स सरअमउअं अंसुमइलेण देइ हत्थेण।
पढमं हिअअं बहुआ पच्छा गण्डं सदन्तवणम्॥ (स० कं० ५, ३१७)

पहले बहू अपने देवर को अपना हृदय सौंपती है, तत्पश्चात् आँसुओं से मलिन हाथ से शरद ऋतु में होने वाले अपने दाँत-कटे गन्ने को देती है।

दीसइ ण चूअमउलं अज्ज ण अ वाइ मलअगन्धवहो।
एइ वसन्तमासो सहि ! जं उक्कण्ठिअं चेअं॥
(स० कं० ३, १५६; गा० स० ६, ४२)

हे सखि ! अभी आम्रवृक्ष पर मौर लगा नहीं और मलय का सुगंध पवन बहता नहीं, फिर भी मेरा उत्कंठित मन कह रहा है कि वसन्त आ गया है।
(शेषवत् का उदाहरण)

दीहो दिअहभुअंगो रइबिंबफणामणिप्पहं विअसन्तो।
अवरसमुद्दमुवगओ मुंचंतो कंचुअंबघम्मअणिवहम्॥
(स० कं० ४, ४६)

दीर्घ सूर्य बिंबरूपी फण की मणि को विकसित करता हुआ और आतपरूपी केंचुली छोड़ता हुआ ऐसा दिवस रूपी सर्प पश्चिम समुद्र को प्राप्त हुआ (सूर्यास्त का वर्णन)। (रूपक अलङ्कार का उदाहरण)

दुल्लहजणाणुराओ लज्जा गरुई परव्वसो अप्पा।
पिअसहि ! विसमं पेम्मं मरणं सरणं णवर एक्कं॥
(स० कं० ५, १७७; साहित्य० पृ० ३६८; दशरूपक १, पृ० २९; रत्नावलि २, १)

दुर्लभ जन के प्रति प्रेम, गंभीर लज्जा और पराधीन आत्मा, हे प्रिय सखि ! ऐसा यह विषम प्रेम है, अब तो मृत्यु ही एक मात्र शरण है।

दूमेन्ति जे मुहुत्तं कुविअं दास व्व जे पसाएन्ति।
ते च्चिअ महिलाणं पिआ सेसा सामि च्चिअ वराआ॥
(स० कं ५, २८६)

जो थोड़ी देर के लिए (क्रीड़ा, गोत्र-स्खलन आदि द्वारा) अपनी प्रिया को कष्ट देते हैं और कुपित हुई को दास की भाँति प्रसन्न करते हैं, वास्तव में वे ही महिलाओं के प्रिय हैं, बाकी तो विचारे स्वामी कहे जाने योग्य हैं।

दूरपडिबद्धराए अवऊहत्तम्मि दिणअरे अवरदिसम्।
असहन्ति व्व किलिम्मइ पिअअमपच्चक्खदूसणं दिणलच्छी॥
(स० कं० ४, ८६)

अत्यन्त रागयुक्त सूर्य के द्वारा पश्चिम दिशा (अपर नायिका) के आलिंगन किये जाने पर, दिवस-शोभा अपने प्रियतम के प्रत्यक्ष दूषण को सहन न कर सकने के कारण ही मानों म्लान हो चली है। (समाधि अलङ्कार का उदाहरण)

दे आ पसिअ णिअत्तसु मुहससिजोह्लाविलुत्ततमणिवहे।
अहिसारिआण विग्घं करेसि अण्णाण वि हआसे॥
(ध्वन्या० उ० १, पृ० २२; काव्या० पृ० ५५, २२; दशरूपक २, पृ० १२३)

अपने मुखरूपी चन्द्रमा की ज्योत्स्ना से अंधकार को दूर करने वाली हे प्रिये ! तुम प्रसन्न हो कर घर लौटो। नहीं तो हे अभागिनी ! तुम अन्य अभिसारिकाओं के मार्ग में भी बाधा बन जाओगी। (दीप्तिभाव का उदाहरण)

देव्वाएत्तम्मि फले किं कीरइ एत्तिअं पुणो भणिमो।
कंकेल्लपल्लवाणं ण पल्लवा होन्ति सारिच्छा॥
(ध्वन्या० उ० २, पृ० २०१; गा० स० ३, ७९)

फल सदा भाग्य के अधीन रहता है, इसमें कोई क्या कर सकता है ? हम तो इतना ही कहते हैं कि अशोक के पत्ते अन्य पत्तों के समान नहीं होते।

(अप्रस्तुतप्रशंसा, सङ्कर अलङ्कार का उदाहरण)

देहोव्व पडइ दिअहो कण्ठच्छेओ व्व लोहिओ होइ रई।
गलइ रुहिरं व्व संझा घोलइ केसकसणं सिरम्मि अ तिमिरं॥
(स० कं० ४, ९१)

देह की भाँति दिवस गिर रहा है, कंठच्छेद की भाँति सूर्य लाल हो रहा है, रुधिर की भाँति संध्या गल रही है और कृष्ण केशों वाले सिर की भाँति अन्धकार इधर-उधर घूर्णित हो रहा है। (समाधि अलङ्कार का उदाहरण)

दंतभवअं कवोले कअग्गहोवेल्लिओ अ धम्मिलो।
पडिघुम्मिरा अ दिट्ठी पिआगमं साहइ बहूए॥ (स० कं० ५, २२०)

कपोल पर दाँतों के चिह्नों का दिखाई देना, केशग्रहण करने से छितराया हुआ केशों का जूड़ा और इधर-उधर घूमने वाली दृष्टि—ये नायिका के प्रियतम के आगमन को सूचित करते हैं।

दंसणवलिअं दढ़कं बिबंधणं दीहरं सुपरिणाहम्।
होइ घरे साहीणं मुसलं घरणाणं महिलाणम्॥ (स० कं० ४, २३३)

धान कूटने वाला, दृढ़, बन्धन रहित, दीर्घ और अति स्थूल मूसल उत्तम महिलाओं के घर सदा रहता है (यहाँ मूसल शब्द में श्लेष है)।

(भाविक अलङ्कार का उदाहरण)

दंसेमि तं पि ससिणं वसुहावइण्णं, थंभेमि तस्स वि रइस्स रहं णहद्धे।
आणेमि जक्खसुरसिद्धगणंगणाओ, तं णत्थि भूमिवलए मह जं ण सज्झम्॥
(स० कं० ५, ४०९; कर्पूर मं० १, २५)

मैं उस चन्द्रमा को पृथ्वी पर लाकर दिखा दूंगा, उस सूर्य के रथ को आकाश के बीच ठहरा दूंगा, तथा यक्ष, सुर और सिद्धांगनाओं को यहाँ ले आऊँगा। इस भूमंडल पर ऐसा कोई भी कार्य नहीं जिसे मैं सिद्ध न कर सकूँ (भैरवानंद की उक्ति)।

धणुओवप्पणवल्लरिविरइअकण्णावअंसदुप्पेच्छे।
वाहगुरुआ णिसम्मइ वाहीएअ बहुमुहे दिट्ठी॥ (स०कं० ५, १०८)

प्रियंगुलता से विरचित कर्ण-आभूषणों के कारण दुष्प्रेक्ष्य और शांत ऐसे वधू के मुख पर अश्रुपूर्ण दृष्टि आगे जाने से रुक जाती है।

धरहरइ ऊरुजुअलं झिज्जइ वअणं ससज्झसं हिअअं।
बालाए पढमसुरए किं किं ण कुणंति अंगाइं ॥

(शृंगार० २०, ९१)

उरुयुगल कंपित हो रहा है, मुख झीज रहा है, हृदय में भय उत्पन्न हो रहा है, प्रथम सुरत के प्रसंग में बाला के अंग क्या-क्या नहीं करते ?

धवलो सि जइ वि सुन्दर ! तहवि तए मज्झ रंजिअं हिअअं।
रायभरिए वि हियए सुहय ! निहित्तो न रत्तोसि ॥

(काव्या० पृ० ३७७, ६०६; काव्यप्रकाश १०, ५६४; गा० स० ७, ६५)

हे सुंदर ! यद्यपि तू धवल (श्रेष्ठ) है, फिर भी तूने मेरा हृदय रंग दिया है। लेकिन हे सुभग ! अनुराग पूर्ण मेरे हृदय में रहते हुए भी तू रक्त नहीं होता।

(अतद्गुण अलङ्कार का उदाहरण)

धीराण रमइ घुसिणारुणम्मि न तहात्रि या थणुच्छंगे।
दिट्ठी रिउगयकुंभत्थलम्मि जह बहलसिंदूरे ॥

(काव्या० पृ० ७५, ७२; ध्वन्या० २, पृ० १०९)

धीर पुरुषों की दृष्टि जितनी सिंदूर से पूर्ण शत्रुओं के हाथियों के गंडस्थल को देखने में रमती है, उतनी कुंकुम से रक्त अपनी प्रिया के स्तनों में नहीं।

(उपमाध्वनि का उदाहरण)

धीरेण माणभंगो माणक्खलणेण गरुअधीरारम्भो।
उब्बलइ तुलिज्जन्ते एक्कम्मि वि से थिरं न लग्गइ हिअअं ॥

(स० कं० ५, ४९२)

धीरज से मान भंग हो जाता है और मान भंग होने से फिर महान् धीरज आरंभ होता है, इस प्रकार उस (मानिनी) का हृदय तराजू की भाँति ऊपर-नीचे जा रहा है, वह एक जगह स्थिर नहीं रहता।

(स्वभावोक्ति अलङ्कार का उदाहरण)

धीरेण समं जामा हिअएण समं अणिट्ठिआ उवएसा।
उच्छाहेण सह भुआ बाहेण समं गलन्ति से उल्लावा ॥

(स० कं० ४, १३२; सेतुबंध ५, ७)

(राम के) धैर्य के साथ रात्रि के पहर, उसके हृदय के साथ अनिश्चित उपदेश, उत्साह के साथ भुजायें और अश्रुओं के साथ वचन विगलित होते हैं।

(सहोक्ति अलङ्कार का उदाहरण)

धीरं व जलसमूहं तिमिणिवहं विअ सपक्खपव्वअलोअम्।
णइसोत्तेव तरंगे रअणाइं व गुरुअगुणसआइं वहन्तम् ॥

(स० कं० ४, १३३; सेतु० २, १४)

धैर्य की भाँति जलसमूह को, तिमिंगल मत्स्यों की भाँति पक्षसहित पर्वतलोक को, नदी के स्रोत की भाँति तरंगों को और रत्नों की भाँति सैकड़ों महान् गुणों को धारण करता हुआ (समुद्र दिखाई दे रहा है)। (सहोक्ति अलङ्कार का उदाहरण)

धीरं हरइ विसाओ विणअं जोव्वणमदो अणंगो लज्जं।
एक्कंतगहिअवक्खो किं सेसउ जं ठवेइ वअपरिणामो॥

(स० कं० ४, १७४; सेतु० ४, २३)

विषाद धैर्य का, यौवनमद विनय का और कामदेव लज्जा का अपहरण करता है, फिर एकान्तपक्ष निर्णय बुद्धि वाले बुढ़ापे के पास बचता ही क्या है जिसे वह स्थापित करे ?-(अर्थात् बुढ़ापा सर्वहारी है)। (परिकर अलङ्कार का उदाहरण)

धुअमेहमहुअराओ घणसमआअड्ढिओणअविमुक्काओ।
णहपाअवसाहाओ णिअअट्ठाणं व पडिगआओ दिसाओ॥

(स० कं० ४, ४७; सेतु० बं० १, १९)

इधर-उधर उड़ने वाले मेघरूपी भौरों से युक्त (नायिका के पक्ष में बुद्धि नष्ट करने वाले मधु को हाथ में धारण किये हुए) वर्षाऋतु में घन आवरण के कारण आकृष्ट, अवनत और फिर त्यक्त (नायिका के पक्ष में अत्यंत मदपूर्वक नायक के द्वारा आकृष्ट, वशीकृत और उपभोग के पश्चात् त्यक्त) ऐसे आकाशरूपी वृक्षों की शाखारूपी दिशायें (नायिका के पक्ष में नखक्षत के प्रसाधन से युक्त) अपने-अपने स्थान पर चली गईं (नायिकाओं के पक्ष में अभिसरण के पश्चात् प्रातःकाल के समय)। (रूपक अलङ्कार का उदाहरण)

धूमाइ धूमकलुसे जलइ जलंता रुहन्तजीआबन्धे।
पडिरअपडिउण्णदिसे रसइ रसन्तसिहरे धणुम्मि णहअलं॥

(स० कं० २, २२७; सेतुबंध ५, १९)

राम के धनुष से उठे हुए धुएं की कालिमा से आकाश धुएँ से भर गया, अग्निबाण को चढ़ाते समय प्रत्यंचा की ज्वाला से आकाश प्रज्वलित हो गया और कोटि की टंकार से प्रतिध्वनित होकर दिशाओं को गुंजित करने लगा।

(अनुप्रास का उदाहरण)

पअडिअसणेहसंभावविब्भमंतिअ जह तुमं दिट्ठो।
संवरणवावडाए अण्णो वि जणो तह च्चेव॥

(स० कं० ३, १२८; गा० स० २, ९९)

अपने स्नेह का सद्भाव प्रकट करके जैसे उसने तुम्हारी ओर दृष्टिपात किया, वैसे ही अपने प्रेम-संबंध को गोपन करने की दृष्टि से उसने अन्य जन को देखा।

पअपीडिअमहिसासुरदेहेहिं, भुअणभअलुआव(?)ससिलेहिं।
सुरसुहदेत्तवलिअधवलच्छिहिं, जअइ सहासं वअणु महलच्छीए॥

(स० कं० २, ३८८)

अपने चरणों द्वारा जिसने महिषासुर को मर्दन कर रक्खा है, चन्द्रमा की किरणों से जिसने संसार में भय उत्पन्न किया है, तथा देवताओं को सुखकर गोलाकार धवल नेत्रों वाला ऐसा महालक्ष्मी का हास्ययुक्त मुख विजयी हो।

(आक्षिप्तिका का उदाहरण)

पइपुरओ च्चिअ णिज्जइ विंछुअदट्टेत्ति जारवेज्जघरं।
सहिआसएण करधरिअजुअलअंदोलिरी मुद्धा ॥

(शृंगार० ४०, १९५)

बिच्छू से काटी हुई, भुजाओं को हाथ से पकड़े हुए, कंपनशीला मुग्धा नायिका अपनी सखी के सहारे पति के सामने ही जार-वैद्य के घर ले जाई जा रही है !

पउरजुआणो गामो महुमासो जोव्वणं पई ठेरो।
जुण्णसुरा साहीणा असई मा होउ किं मरउ ॥

(स० कं० ४, १५४; गा० स० २, ९७)

इस गाँव में बहुत से जवान पुरुष हैं, वसन्त की बहार है, जवानी अपनी छटा दिखा रही है, पति खूसट है, पुरानी सुरा पास में है, फिर भला ऐसी हालत में कोई कुलटा न बने तो क्या प्राण त्याग दे ?

(आक्षेप, तुल्ययोगिता अलङ्कार का उदाहरण)

पच्चूसागअ ! रंजियदेह ! पिआलोअ ! लोअणाणन्द !
अण्णत्त खविअसव्वरि ! णहभूसण ! दिणवइ ! णमो दे ॥

(स० कं० ५, ३९८; गा० स० ७, ५३)

प्रत्यूषकाल में दूसरे द्वीप से (दूसरे पक्ष में सौत के घर से) आगत, अरुण देह से युक्त (दूसरे पक्ष में सौत के अलक्त आदि से रंजित), प्रिय आलोक वाले, लोचनों को आनन्ददायी, अन्यत्र रात्रि बिताने वाले (अन्य स्त्रियों के साथ रात बिताने वाले) और आकाश के भूषण (नखक्षत आदि आभूषण से युक्त) हे सूर्य ! तुझे नमस्कार हो। (खंडिता नायिका का उदाहरण)

पज्जत्तंमि वि सुरए विअलिअबंधं अ संजमंतीए।
विब्भमहसिएहिं कओ पुणो वि मअणाउरो दइओ ॥

(शृंगार० ५४, ६)

सुरत के समाप्त होने पर, अपने खुले हुए नाड़े के बंधन को ठीक करती हुई नायिका ने अपने विलासपूर्ण हास्य द्वारा अपने दयिता को पुनः काम से व्याकुल कर दिया।

पट्टंसुउत्तरिज्जेण पामरो पामरीए परिपुसइ।
अइगुरुअकूरकुम्भीभरेण सेउल्लिअं वअणम् ॥ **(स० कं १, ७०)**

बहुत भारी चावलों की कलसी के भार के कारण पसीने से गीले हुए पामरी के मुँह को पामर उसके रेशमी उत्तरीय से पोंछ रहा है।

(औचित्यविरुद्ध का उदाहरण)

पडिआ अ हत्थसिढिलिअणिरोहपण्डुरसमूससन्तकवोला।
पेल्लिअवामपओहरविसमुण्णअदाहिणत्थणी जणअसुआ ॥

(स० कं० ४, १७२; सेतु० ११, ५४)

हाथ के शिथिल होकर खिसक जाने से जिसके पांडुर कपोल (हस्तपीडन के त्याग के कारण) उच्छ्वास ले रहे हैं, तथा वाम पयोधर के पीड़ित होने से

जिसका दक्षिण पयोधर विषम और उन्नत हो गया है ऐसी सीता (केवल मूर्च्छित ही नहीं हुई बल्कि) गिर भी पड़ी। (परिकर अलङ्कार का उदाहरण)

पडिउच्छिआ ण जंपइ गहिआ वि प्फुरइ चुम्बिआ रुसइ।
तुण्हिक्का णवबहुआ कआवराहेण दइएण॥

(स० कं० ५, १७९)

अपराधी पति द्वारा प्रश्न किये जाने पर चुपचाप रहने वाली नववधू बोलती नहीं, पकड़ लेने पर चंचल होती है और चुम्बन लेने पर नाराज हो जाती है।

पडिवक्खमण्णुपुंजे लावण्णउडे अणंगगअकुम्भे।
पुरिससअहिअअधरिए कीस थणंती थणे वहसि॥

(स० कं० ५, ३७८; गा० स० ३, ६०)

सपत्नियों के क्रोध के पुंजस्वरूप, सौन्दर्य के आवास, अनंगरूपी हस्ती के गंडस्थल, सैकड़ों पुरुषों द्वारा हृदय में धारण किये जाते हुए तथा सौन्दर्य की गर्जना करने वाले ऐसे इन स्तनों को तू किसके लिए धारण करती है?

(मध्यमा नायिका का उदाहरण)

पढमघरिणीअ समअं उअ पिंडारे दरं कुणन्तम्मि।
णवबहुआइ सरोसं सव्व च्चिअ वच्छुला मुक्का॥

(स० कं० ५, १८५)

देखो, प्रथम गृहिणी से ग्वाले (पिंडार) के डर जाने पर, उसकी नववधू ने रोष में आकर सभी बछड़ों को मुक्त कर दिया। (स्त्री के मान का उदाहरण)

पणअं पढमपिआए रक्खिउकामो वि महुरमहुरेहिं।
छेअवरो विणडिज्जइ अहिणवबहुआविलासेहिं॥(स०कं० ५, ३८६)

मधुर-मधुर रूपों से प्रथम प्रिया के प्रणय की रक्षा करने का अभिलाषी विदग्ध पुरुष नववधू के अभिनव विलासों के द्वारा सुख को प्राप्त होता है।

(ज्येष्ठा नायिका का उदाहरण)

पणमत पणअपकुविअगोलीचलणग्गलग्गपडिबिंबम्।
दससु णहदप्पणेसु एआदसतणुधलं लुद्दं॥ (स० कं० २, ४)

प्रणय से कुपित पार्वती के चरणों के अग्रभाग में जिसका प्रतिबिंब दिखाई दे रहा है, ऐसे दस नखरूपी दर्पणों में ग्यारह शरीर के धारी शिव भगवान् को प्रणाम करो। (शुद्ध पैशाची का उदाहरण)

पणयकुवियाण दुण्ह वि अलियपसुत्ताण माणइल्लाणं।
निच्चलनिरुद्धणीसासदिण्णकण्णाण को मल्लो॥

(काव्या० पृ० ११२, १०५; गा० स० १, २७; दशरूपक पृ० ४; पृ० २६३; साहित्य पृ० १९५)

प्रणय से कुपित, झूठ-मूठ सोए हुए, मानी, बिना हिले-डुले जिन्होंने अपनी सांस रोक रक्खी है और अपने कान एक दूसरे की सांस सुनने के लिये खड़े कर रक्खे हैं, ऐसे प्रिय और प्रिया दोनों में देखें कौन मल्ल है?

पत्तनिअंबप्फंसा ण्हाणुत्तिण्णाए सामलंगीए।
त्रिहुरा रुअंति जलबिन्दुएहिं बंधस्स व भएग॥
(काव्या० पृ० २१२, २४३; गा० स० ६, ५५)

स्नान करके आई हुई किसी श्यामलाङ्गी के नितंबों को स्पर्श करने वाले केशों में से जो जल की बूंदें चू रही हैं, उनसे लगता है कि केश मानों फिर से बाँधे जाने के भय से रुदन कर रहे हैं। (उत्प्रेक्षा अलङ्कार का उदाहरण)

पत्ता अ सीकराहअधाउसिलाजलणिसण्णराइअजलअं।
सज्झं ओज्झरपहसिददरिमुहणिम्महिअवउलमइरामोअं॥
(स० कं० २, १९१; सेतुबंध १, ५६)

जिसके जल-बिन्दुओं से आहत धातुशिला-तल पर आसीन मेघों से शोभायमान तथा जिसके निर्झर रूप में हंसती हुई कन्दराओं से बकुल पुष्प की गंध के रूप में मदिरा का आमोद फैल रहा है, ऐसे सह्य पर्वत पर (वीर, वानर) पहुंच गये। (ओजस्विनी नायिका का उदाहरण)

पप्फुरिअउट्ठदलअं तक्खणविगलिअरुहिरमहुविच्छड्डुम्।
उक्खडिअकण्ठणालं पडिअं फुडदसणकेसरं मुहकमलम्॥
(स० कं० ४, ३७)

हिलते हुए ओष्ठरूपी दल, तत्क्षण गिरने हुए रुधिर रूपी मधुप्रवाह, खंडित कंठ रूपी कमलनाल, और स्फुट दाँत रूपी केसर से युक्त मुखरूपी कमल नीचे लुढ़क गया। (रूपक का उदाहरण)

परिवट्टंतिव णिसंस (म)इ मण्डलिअकुसुमाउहं अणंगम्।
विरहम्मि मण्णइ हरीणहे(?) अणत्थपडिउट्ठिअं व मिअंकम्॥
(स० कं० ५, १४५)

अपने कुसुमायुध को बटोरकर कामदेव मानो निश्शंक होकर लौट रहा है; विरह-काल में मनोहर लगने वाले नखक्षत, व्यर्थ ही उठे हुए चन्द्रमा की भाँति जान पड़ रहे है।

परिवड्ढइ विन्नाणं संभाविज्जइ जसो विढप्पन्ति गुणा।
सुव्वइ सुपुरिसचरिअं किन्तं जेण न हरन्ति कहालावा॥
(काव्या० पृ० ४५६, ६१३; सेतुबंध १, १०)

उससे विज्ञान की वृद्धि होती है, यश संभावित होता है, गुणों का अर्जन होता है, सुपुरुषों का चरित सुना जाता है, इस प्रकार काव्यकथा की वह कौनसी बात है जो मन को आकृष्ट न करती हो।

परं जोण्हा उण्हा गरलसरिसो चन्दणरसो।
खदक्खारो हारो मलअपवणा देहतवणा॥
मुणाली वाणाली जलदि अ जलद्दा तणुलदा।
वरिट्ठा जं दिट्ठा कमलवअणा सा सुणअणा॥
(स० कं० २, २२३; कर्पूरमं० २, ११)

जब से उस कमलनयनी सुन्दरी सुवदना को देखा है तब से ज्योत्स्ना उष्ण मालूम देने लगी है, चन्दन का रस विष के समान लगने लगा है, हार क्षारयुक्त मालूम देता है, मलय का पवन शरीर को संतप्त करने लगा है, मृणाल बाणों के समान मालूम देता है और जल से आर्द्र शरीर तपने लगा है।

(पदानुप्रास का उदाहरण)

पलिच्चले लम्बदशाकलाअं पावालअं शुत्तशदेण छुत्तं।
मंशं च खादुं तुह ओट्टिकाहिं चकुश्चकुश्चक्कुचुकुश्चुकुं ति ॥

(स० कं० ५, ४०६; मृच्छकटिक ८, २१)

अरे ! सैकड़ों धागों से बनी लंबी किनारी वाली चादर को स्वीकार कर चुक-चुक करती हुई अपने ओठों से यदि मांस खाने की इच्छा है तो ··· ········ (मागधी की उक्ति)

पल्लविअं विअ करपल्लवेहिं पप्फुल्लिअं विअ णअणेहिं।
फलिअं वि अ पीणपओहरेहिं अज्जाए लावण्णं ॥(स०कं०४, ९०)

आर्या का लावण्य हस्तरूपी पल्लवों से पल्लवित, नयनों से प्रफुल्लित और पीन पयोधरों से फलित जान पड़ता है। (समाधि अलङ्कार का उदाहरण)

पवणुव्वेल्लिअसाहुलि ठएसु ठिअदण्डमण्डले ऊरू।
चडुआरअं पइं मा हु पुत्ति ! जणहासणं कुणसु ॥ (स०कं० ५, २१९)

वायु के द्वारा चंचल वस्त्र के आँचल में दंडमंडल की भाँति दिखाई देने वाले जो तुम्हारे (कम्पमान) उरू हैं उन्हें तू निश्चल कर। हे पुत्रि ! नहीं तो तुम्हारा चाटुकारी पति उपहास का भाजन होगा। (मान के पश्चात् अनुराग का उदाहरण)

पविसन्ती घरवारं विवलिअवअणा विलोइऊण पहम्।
खंधे घेत्तूण घडं हाहा णट्ठो त्ति रुअसि सहि ! किं ति ॥

(काव्य० प्र० ४, ९०)

हे सखि ! कंधे पर घड़ा रक्खे घर के द्वार में प्रवेश करती हुई रास्ते की ओर देख कर तूने उधर ही आँखें जमा लीं, और जब घड़ा फूट गया तो फिर हा-हा करके रोती है ? (हेतु अलङ्कार का उदाहरण)

पहवन्ति च्चिअ पुरिसा महिलाणं किं खु सुहअ ! विहिओसि।
अणुराअणोल्लिआए को दोसो आहिजाईए ॥

(स० कं० ५, १०९)

पुरुष ही सामर्थ्यवान् होते हैं, हे सुभग ! तुम तो जानते हो, महिलाओं के संबंध में क्या कहा जाये ? अनुराग से प्रेरित कुलीन महिलाओं का इसमें क्या दोष ?

पाअपडणाणं मुद्धे !-रहसवलामोडिचुंबिअव्वाणम्।
दंसणमेत्तपसिज्जिरि चुक्का बहुआण सोक्खाणं ॥

(स० कं० ५, २६०; गा० स० ५, ६५)

अपने प्रियतम के दर्शन मात्र से प्रसन्न हुई हे मुग्धे ! तू (मनुहार के कारण) पांव पड़ने तथा जबर्दस्ती चुम्बन लेने आदि अनेक सुखों से वंचित ही रह गई।

पाअडिअं सोहग्गं तंबाएउ अह गोट्ठमज्झम्मि।
दुट्ठविसहस्स सिंगे अच्छिउडं कण्डुअन्तीए॥

(स० कं ५, १२; गा० स० ५, ६०)

देखो, गोठ में ताम्रवर्ण की गाय दुष्ट बैल के सींग में अपनी आँख को खुजलाती हुई अपना सौभाग्य प्रकट कर रही है।

पाणउडी अवि जलिऊण हुअवहो जलइ जण्णवाडम्मि।
ण हु ते परिहरिअव्वा विसमदसासंठिआ पुरिसा॥

(स० कं० ३, ८५; गा० स० ३ २७)

मधुपान की कुटिया को जलाकर अग्नि यज्ञवाटिका को भी भस्म कर देती है। विषमदशा में स्थित पुरुषों को त्याग देना ठीक नहीं।

(निदर्शना अलंकार का उदाहरण)

पाअपडिअं अहव्वे किं दाणिं ण उट्ठवेसि भत्तारं।
एवं विअ अवसाणं दूरं पि गअस्स पेम्मस्स॥

(शृंगार० ४६, २२८; गा० स० ४, ९०)

हे अभव्ये! क्या तू अब चरणों में गिरे हुए अपने पति को नहीं उठायेगी? क्या दूरगत प्रेम का यही अन्त है?

पाणिग्गहणे च्चिअ पव्वईअ णाअं सहीहिं सोहग्गम्।
पसुवइणा वासुइकंकणम्मि ओसारिए दूरम्॥

(स० कं० ५, १८८; गा० स० १, ६९)

पशुपति ने अपने वासुकिरूप कंकण को दूर हटा दिया, यह देखकर पाणिग्रहण के समय ही पार्वती की सखियों को उसके सौभाग्य का पता लग गया।

पिअंदसणेण सुहरसमुउलिअ जइ से ण होन्ति णअणाइं।
ता केण कण्णरइअं लक्खिज्जइ कुवलअं तिस्सा॥

(स० कं० ३, १२७; गा० स० ४, २३)

यदि उसके नयन प्रियदर्शन के सुखरस से मुकुलित न हों तो उसके कानों में सजे हुए कमलों की ओर किसका ध्यान पहुँचेगा (इससे नयनों का सौन्दर्य सूचित किया गया है)? (तद्गुण, मीलित और विवेक अलङ्कार का उदाहरण)

पिअलंभेण पओसो जाआ दिण्णप्फला रइसुहेण णिसा।
आणिअविरहुक्कंठो गलइ अ णिव्विण्णवम्महो पच्चूसो॥

(शृङ्गार० २१, ९४)

प्रिय को पाकर प्रदोष हो गया, रात्रि में रतिसुख का फल प्राप्त हुआ और अब विरह की उत्कंठा लाने वाला खेदखिन्न कामदेव से युक्त प्रभात काल बीत रहा है।

पिअसम्भरणपलोट्टंतवाहधाराणिवाअभीआए।
दिज्जइ वंकग्गीवाइ दीवओ पहिअजाआए॥

(स० कं० ५, २०४; गा० स० ३, २२)

प्रिय के स्मरण से बहती हुई अश्रुधारा के गिरने के भय से पथिक की पत्नी ने गर्दन टेढ़ी करके उसे दीपक प्रदान किया (जिससे उसके अश्रु नेत्रों में ही रह जायें, बाहर न आयें)।

पिसुणेन्ति कामिणीणं जललुक्कपिआवऊहणसुहेल्लिं ।
कण्डइअकवोलुफुल्लणिच्चलच्छीइं वअणाइं ॥
(स० कं० ५, ३१८; गा० स० ६, ५८)

(प्रिय के अंगस्पर्श से) पुलकित कपोल तथा विकसित और निश्चल आँखों वाली कामिनियों के मुख जल में छिपे हुए प्रिय के आलिंगन-सुख की क्रीड़ा को सूचित कर रहे हैं (जलक्रीड़ा का वर्णन)।

पीणथणएसु केसरदोहलदाणुम्मुहीअ णिवलन्तो ।
तुंगसिहरग्गपडणस्स जं फलं तं तुए पत्तं ॥ (स० कं० ५, ३०७)

हे बकुल के पुष्प ! किसी युवती के मदिरा के कुल्ले से विकसित होकर उसके पीन स्तनों पर गिर कर तूने पहाड़ के किसी ऊंचे शिखर से गिरने के पुण्य को प्राप्त किया है।

पीणपओहरलग्गं दिसाणं पवसन्तजलअसमअविइण्णम् ।
सोहग्गपढमइण्हं पम्माअइ सरसणहवअं इन्दधणुं ॥
(स० कं० ४, ४८; सेतुबंध १, २४)

प्रवास को जाते समय जलदरूपी (जड़ता प्रदान करने वाले) नायक ने दिशाओं के मेघरूपी पीन पयोवर्गों में इन्द्रधनुष के रूप में प्रथम सौभाग्य-चिह्न स्वरूप जो सुंदर नखक्षत (इन्द्रधनुष के पक्ष में सरस आकाश-मंडल में स्थानयुक्त) विनीर्ण (इन्द्रधनुष के पक्ष में जाते हुए वर्षाकाल के द्वारा विनीर्ण) किये थे वे अब अधिक मलिन हो रहे हैं। (रूपक का उदाहरण)

पीणुत्तणदुग्गेज्झं जस्स भुआअन्तणिट्ठुरपरिग्गहिअं ।
रिट्ठस्स विसमवलिअं कंठं दुक्खेण जीविअं वोलीणं ॥
(स० कं० ३, ४८; सेतु० बं० १, ३)

(मधुमथन की) भुजाओं से निष्ठुरता से पकड़ा गया और अपनी मोटाई के कारण कठिनता से पकड़े जाने योग्य ऐसा अरिष्टासुर का कंठ टेढ़ा करके मरोड़े जाने से क्लेश के साथ प्राणविहीन हो गया। (व्याहत का उदाहरण)

पुरिससरिसं तुह इमं रक्खससरिसं कअं णिसाअरवइणा ।
कह ता चिन्तिज्जंतं महिलासरिसं ण संपडइ मे मरणं ॥
(स० कं० ५, ४४३; सेतु० ११, १०५)

तुम्हारा यह (निधन) पुरुषों के सदृश है और रावण ने राक्षसों के समान ही काम किया है, किंतु चिन्तामात्र से सुलभ महिलाओं के समान मेरा मरण क्यों सिद्ध नहीं हो रहा है (यह सीता की उक्ति है) ?

पुलअं जणेंति दहकन्धरस्स राहवसरा सरीरम्मि ।
जणअसुआफंसमहग्घविअ करअलाअड्ढिअविमुक्का ॥
(स० कं० ५, १२)

जनकसुता के स्पर्श से मानो बहुमूल्य बने, और हाथ से खींच कर छोड़े हुए रामचन्द्र के बाण रावण के शरीर में रोमांच पैदा कर रहे हैं।

पुहवीअ होहिइ पई बहुपुरिसविसेसचञ्चला राअसिरी।
कह ता महच्चिअ इमं णीसामण्णं उवट्ठिअं वेहव्वम्॥
(स० कं० ५, २६९; सेतु० ११, ७८)

पृथ्वी का अन्य कोई पति होगा और राज्यश्री अनेक असाधारण पुरुषों के विषय में चंचल रहती है, इस प्रकार असाधारण वैधव्य मेरे ही हिस्से में पड़ा है (यह सीता की विलापोक्ति है)।

पेच्छइ अलद्धलक्खं दीहं णीससइ सुण्णअं हसइ।
जह जंपइ अफुडत्थं तह से हिअअट्ठिअं किं वि॥
(स० कं० २००; गा० स० ३, ९६)

वह निरुद्देश्य दृष्टि से देख रही है, दीर्घश्वास ले रही है, शून्य मुद्रा से हँस रही है और असंबद्ध प्रलाप कर रही है; उसके मन में कुछ और ही है।

पोढ़महिलाण जं सुट्ठं सिक्खिअं तं रए सुहावेइ।
जं जं असिक्खिअं नववहूण तं तं रइं देइ॥
(स० कं० ३, ५६; ५, २२३; काव्या० पृ० ३९५, ६५५)

रतिक्रीड़ा के समय प्रौढ़ महिलाओं ने जो कुछ सीखा है वह सुख देता है, और नवोढ़ाओं ने जो नहीं सीखा वह सुखदायी है। (उत्तर अलङ्कार का उदाहरण)

पंथिय ! न एत्थ सत्थरमत्थि मणं पत्थरत्थले गामे।
उन्नयपओहरं पेक्खिऊण जइ वससि ता वससु॥
(धन्या० २, १५५; काव्यप्रकाश ४, ५८; साहित्य० पृ० २४७)

हे पथिक ! इस पथरीले गाँव में सोने के लिये तुम्हें कहीं बिस्तर नहीं मिलेगा, हाँ यदि उन्नत पयोधर (स्तन; मेघ) देखकर ठहरना चाहो तो ठहर जाओ।
(शब्दशक्ति मूलव्यञ्जना का उदाहरण)

पंथिअ ! पिपासिओ व्विअ लच्छीअसि जासि ता किमण्णत्तो।
ण मणं वि वारओ इध अत्थि घरे घणरसं पिअन्ताणं॥
(साहित्य० पृ० १५४)

हे पथिक ! तू प्यासा जैसा मालूम होता है, अन्यत्र कहाँ जा रहा है ? यहाँ घर में जी भर कर रस पीने वालों को कोई बिलकुल भी रोकने वाला नहीं है।

फुल्लुक्करं कलमकूरसमं वहन्ति, जे सिंदुवारविडवा मह वल्लहा ते।
जे गालिदस्स महिसीदहिणो सरिच्छा ते किंपि मुद्धवियइल्लपसूणपुञ्जा॥
(काव्या० पृ० २२७, २८८; काव्यप्र० ७, ३०९; कर्पूरमञ्जरी १ श्लो० १९)

वे सिंधुवार के वृक्ष मुझे कितने प्रिय लगते हैं जो कलम धान के समान पुष्पों से भरे हुए हैं, और वे मल्लिका के पुष्पपुंज भी कितने प्यारे लगते हैं जो जमाये हुये भैंस के दही के समान जान पड़ते हैं। (ग्राम्यत्व गुण का उदाहरण)

बहलतमा हयराई अज्ज पउत्थो पई घरं सुन्नं।
तह जग्गिज्ज सयज्झय ! न जहा अम्हे मुसिज्जामो ॥
(काव्या० पृ० ५३, १५; गा० स० ४, ३५)

अभागी रात घोर अंधकारमय है, पति आज परदेश गया है, घर सूना पड़ा है। हे पड़ोसिन ! तू जागते रहना जिससे घर में चोरी न हो जाये ! (नायिका के पड़ोस में रहने वाले उपपति के प्रति यह उक्ति है।)

बहुवल्लहस्स जा होइ वल्लहा कह वि पञ्चदिअहाइं।
सा किं छट्ठं मग्गइ कत्तो मिट्ठं च बहुअं च ॥
(स० कं० ५, ४४६; गा० स० १,७२)

जो अनेक स्त्रियों का प्रिय है उसका प्रेम किसी वल्लभा पर अधिक से अधिक पाँच दिन तक हो सकता है। क्या वह वल्लभा उससे छठे दिन का (प्रेम) मांग सकती है ? ठीक है, मीठी चीज बहुत नहीं मिलती। (समुच्चय अलङ्कार का उदाहरण)

बालअ ! णाहं दूती तुअ पिओसि त्ति ण मह वावारो।
सा मरइ तुज्झ अअसो एअं धम्मक्खरं भणिमो ॥
(साहित्य० पृ० ७९०; अलंकारसर्वस्व ११५)

हे नादान ! मैं दूती नहीं हूं। तुम उसके प्रिय हो, इसलिये भी मेरा उद्यम नहीं है। मैं केवल यही धर्माक्षर कहने आई हूँ कि वह मर जायेगी और तुम अपयश के भागी होगे।

बालत्तणदुल्ललिआए अज्ज अणज्जं किं अ णववहुए।
भाआमि घरे एआइणि त्ति णिंतो पई रुद्धो ॥ (स० कं० ५, ३८४)

बालत्व के कारण दुर्ललित नववधू ने आज अनार्योचित कार्य किया। उसने यह कह कर जाते हुए पति को रोक दिया कि मुझ अकेली को घर में डर लगता है। (परिणीत ऊढ़ा का उदाहरण)

भद्दं भोदु सरस्सईअ कइणो नन्दन्तु वासाइणो।
अण्णाणंपि परं पअट्टदु वरा वाणी छइल्लप्पिया ॥
वच्छोभी तह माअही फुरदु णो सा किं अ पंचालिआ।
रीदियो विलिहन्तु कव्वकुसला जोण्हं चओरा विव ॥
(स० कं० २, ३८५; कर्पूर० १-१)

सरस्वती का कल्याण हो, व्यास आदि कवि आनंदित हों, कुशल जनों के लिये श्रेष्ठ वाणी दूसरों के लिये भी प्रवृत्त हो, वैदर्भी और मागधी हम में स्फुरायमान हो, तथा जैसे चकोर ज्योत्स्ना को चाहता है वैसे ही काव्यकुशल लोग पांचालिका रीति का प्रयोग करें।

भम धम्मिय ! वीसत्थो सो सुणओ अज्ज मारिओ तेण।
गोलाणइकच्छकुडंगवासिना दरियसीहेण ॥
(काव्या० पृ० ४७, १३; साहित्य पृ० २४२; ध्वन्या० उ० १ पृ० १९;
काव्यप्रकाश ५, १३८; रस गं० १ पृ० १५; गा० स० २, ७५;
दशरूपक प्र० ४ पृ० २२८)

हे धार्मिक ! गोदावरी नदी के किनारे निकुंज में रहने वाले विकराल सिंह ने उस कुत्ते को मार डाला है, इसलिये अब तू निश्चिन्त होकर भ्रमण कर !

(व्यंजना का उदाहरण)

भरिमो स सअणपरम्मुहीअ विअलन्तमाणपसराए।
केअवसुत्तुव्वत्तणथणहरपेल्लणसुहेल्लिम् ॥
(स० कं० ५, २३८; गा० स० ४. ६८)

(मान के कारण) वह विस्तर पर मुँह फिरा कर लेट गई (तत्पश्चात् अनुराग की उत्कंठा से) उसका मन शान्त होने लगा। ऐसे समय बहाना बना कर सोये हुए मुझे उसने एकाएक करवट लेकर अपने स्तनकलश के मर्दन से जो सुख दिया वह आज तक स्मरण है। (विचित्र क्षेपक अलङ्कार का उदाहरण)

भिउडीअ पुलोइस्सं णिब्भच्छिस्सं परम्मुही होस्सम्।
जं भणह तं करिस्सं सहिओ जइ तं ण पेच्छिस्सम् ॥
(स० कं० ५, २३९)

मैं भौं चढ़ा कर देखूँगी, उसकी भर्त्सना करूँगी, उससे मुँह फिरा लूँगी, हे सखियो ! जो कहोगी वह करूँगी बशर्ते कि उसे न देखूँ।

भिसणीअलसअणीए निहिअं सव्वं सुणिच्चलं अंगं।
दीहो णीसासहरो एसो साहेइ जीअइत्ति परं ॥
(साहित्य०, पृ० १९०)

कमल दल की शय्या पर उस विरहिणी का निश्चल अङ्ग रख दिया गया है, उसका दीर्घ निश्वास बता रहा है कि वह अभी जीवित है।

मअवहणिमित्तणिग्गअमइंदसुण्णं गुहं णिएऊग।
लद्धावसरो गहिऊण मोत्तिआइं गओ वाहो ॥ (स० कं० २, ३८९)

मृग को मारने के लिये गये हुए मृगेन्द्र से शून्य गुफा को देख, अवसर पाकर मोतियों को लेता हुआ शिकारी वहाँ से चला गया।

मग्गिअलद्धम्मि बलामोडिअचुंविए अप्पणा अ उवणमिए।
एक्कम्मि पिआहरए अण्णोण्णा होन्ति रसभेआ ॥
(अलङ्कार० ६७)

इच्छा करने से प्राप्त, बलपूर्वक चुम्बित तथा स्वयं झुके हुए ऐसे प्रिया के एक ही अधरोष्ठ में अनेक रसभेद होते हैं।

मज्झट्ठिअधरणिहरं झिज्जइ अ समुद्दमण्डलं उव्वेलं।
रइरहवेअविअलिअं पडिअं विअ उक्खडक्खकोडिं चक्कं ॥
(स० कं० ४, १७५)

मध्य में मन्दर पर्वत होने के कारण जिसका जल बाहर निकलने लगा है तथा सूर्य के वेग से उद्भट अक्षकोटि वाला चक्र मानों गिर पड़ा है, ऐसा समुद्रमंडल क्षय को प्राप्त होता है। (परिकर अलङ्कार का उदाहरण)

मज्झण्णपत्थिअस्स वि गिम्हे पहिअस्स हरइ सन्तावम्।
हिअअट्ठिअजाआमुहमिअंकजोण्हाजलप्पवहो ॥
(स० कं० ५, २०५; गा० स० ४, ९९)

हृदय में स्थित प्रिया के मुख रूपी ज्योत्स्ना का जलप्रवाह ग्रीष्म के मध्याह्न-काल में प्रस्थान करने वाले पथिक के संताप को दूर करता है।

मज्झ पइण्णा एसा भणामि हिअएण जं महसि दट्ठुम्।
तं ते दावेमि फुडं गुरुणो मन्तप्पहावेण ॥
(दशरूपक प्र० १, ५१; रत्नावलि ४, ९)

मेरी यह प्रतिज्ञा है, मैं हृदय से कहता हूँ, जो कुछ आप देखना चाहें, गुरु के मंत्र के प्रभाव से मैं आपको दिखा सकता हूं। (कालभैरव की उक्ति)

मसिणवसणाण कअवेणिआण आपंडुगंडवासाणं।
पुप्फवइआण कामो अंगेसु कआउहो वसइ ॥
(शृंगार० २७, १३०)

मलिन वस्त्रवाली, वेणीवाली और पाण्डु कपोलवाली ऐसी रजस्वला स्त्रियों में कामदेव आयुध के साथ सज्जित रहता है।

मह देसु रसं धम्मे तमवसमासं गमागमाहरणे।
हरबहु! सरणं तं चित्तमोहमवसरउ मे सहसा ॥
(काव्य० प्र० ९, ३७२; साहित्य १०)

हे गौरि! तुम्हीं एक मात्र शरण हो, धर्म में मेरी प्रीति उत्पन्न करो, मेरे गमनागमन (जन्म-मरण) की तामसी प्रवृत्ति का नाश करो, और मेरे चित्त के मोह को शीघ्र ही दूर करो। (भाषाश्लेष का उदाहरण)

महमहइन्ति भणिन्तउ वज्जइ कालो जणस्स तेइ।
ण देओ जणद्दणो गोअरो होदि मणसो महुमहणो ॥
(ध्वन्या० उ० ४ पृ०, ६४८)

'मेरा'-'मेरा' कहते-कहते मनुष्य का सारा जीवन बीत जाता है, लेकिन हृदय में मधुमथन जनार्दन का साक्षात्कार नहीं होता।

महिलासहस्सभरिए तुह हिअए सुहय! सा अमायन्ती।
अणुदिणमणण्णकम्मा अंगं तणुअं पि तणुएइ ॥
(ध्वन्या० उ० २, पृ० १८६; काव्या० पृ० १५५, १७७; अलंकारसर्वस्व ६०; साहित्य० पृ० २५६; गा० स० श० २, ८२)

हे सुभग! हजारों सुन्दरियों से पूर्ण तुम्हारे इस हृदय में न समा सकने के कारण वह अनन्यकर्मा प्रतिदिन अपनी दुर्बल देह को और भी क्षीण बना रही है।
(अर्थ शक्ति-उद्भव ध्वनि का उदाहरण)

महु(?) एहि किं णिवालअ हरसि णिअंबाउ जइ वि मे सिचयम्।
साहेमि कस्स सुन्दर! दूरे गामो अहं एक्का ॥
(काव्या० पृ० ५४, १७; दशरूपक २ पृ० ११८)

हे निगोड़ी वायु! तुम बार-बार आकर नितंब से मेरे अञ्चल को हटा देती हो, फिर भी हे सुंदर! मैं किसे प्रसन्न करूँ, गाँव दूर है और मैं अकेली हूं।

माए! घरोवअरणं अज्ज हु णत्थि त्ति साहिअं तुमए।
ता भण किं करणिज्जं एमेअ ण वासरो ठाइ ॥
(काव्य० प्र० २, ६)

हे माँ ! तुम्हीं ने तो कहा था आज घर में सामान नहीं है, इसलिये बता कि मैं क्या करूँ ? दिन ढलता जा रहा है (यहाँ नायिका के स्वैरविहार की इच्छा सूचित होती है)। (वाच्यरूप अर्थ की व्यंजना का उदाहरण)

माणदुमपरुसपवणस्स मामि ! सव्वंगणिव्वुदिअरस्स ।
उवऊहणस्स भद्दं रइणाडअपुव्वरंगस्स ॥

(स० कं० ५ २१५; गा० स० ४,४४)

हे मामी ! मानरूपी वृक्ष के लिये कठोर पवन, समस्त अङ्ग को सुखकारक और रतिरूपी नाटक के पूर्वरङ्ग ऐसे आलिङ्गन का कल्याण हो । (रूपक का उदाहरण)

मा पंथ रुंध महं अवेहि बालय ! अहो सि अहिरीओ ।
अम्हे अणिरिक्काओ सुण्णहरं रक्खियव्वं णो ॥

(काव्य० पृ० ८४, ८२; ध्वन्या० ३, पृ० ३३२)

हे नादान ! मेरा रास्ता मत रोक, दूर हट, तू कितना निर्लज्ज मालूम देता है ! मैं पराधीन हूँ और अपने शून्य गृह की मुझे रक्षा करनी है ।

मामि ! हिअअं व पीअं तेण जुआणेण मज्जमाणाए ।
ण्हाणहलिद्दाकडुअं अणुसोत्तजलं पिअन्तेण ॥

(स० कं० ५, २५७; गा० स० ३, ४६)

हे मामी ! मेरे स्नान करते समय प्रवाह में बहने वाले मेरे स्नान की हल्दी से कडुए जल का पान करने वाले उस युवक ने मानो मेरे हृदय का ही पान कर लिया । (तद्गुण अलंकार का उदाहृण)

मुण्डइआचुण्णकसाअसाहिअं पाणणावणविइण्णम् ।
तेलं पलिअत्थणीणं वि कुणेइ पीणुण्णए थणए ॥

(स० कं० ३, १६२)

गोरखमुंडी के चूर्ण के काढ़े के द्वारा तैयार किया हुआ और जल के नस्य से युक्त तेल लघु स्तनवाली नायिकाओं के स्तनों को भी पीन और उन्नत बना देता है । (काम्य का उदाहरण)

मुण्डसिरे बोरफलं बोरोवरि बोरअं थिरं धरसि ।
विग्गुच्छाअइ अप्पा णालिअछेआ छलिज्जन्ति ॥

(अलंकार० पृ० ८३)

जैसे मुंडित सिर पर बेर रख कर उस बेर के ऊपर दूसरा बेर रखना संभव नहीं, उसी प्रकार अपने आपको छिपाये हुए धूर्त पुरुषों को छलना संभव नहीं ।

मुद्धे ! गहणअं गेण्हउ तं धरि मुद्दं गिए हत्थे ।
णिच्छउ सुन्दरि ! तुह उवरि मम सुरअप्पहा अत्थि ॥

(स० कं २, १२)

हे मुग्धे ! अपनी फीस ले ले, तू इस मुद्रा को अपने हाथ में रख । हे सुन्दरि ! निश्चय ही तुमसे सुरत-व्यवहार करना चाहता हूँ । (अपभ्रष्टा नायिका का उदाहरण)

मुहपेच्छओ पई से सा वि हु पिअरूअदंसणुम्मइआ।
दो वि कअत्था पुहविं अपुरिसमहिलं ति मण्णन्ति॥

(स० कं० ५, २८०; गा० स० ५, ९८)

मुख को देखते रहनेवाला पति और पत्नि के सुन्दर रूप देखने में उन्मत्त पत्नी ये दोनों ही बड़भागी हैं और वे समझते हैं कि इस पृथ्वी पर वैसा और कोई पुरुष और स्त्री नहीं है।

मुहविज्झाविअपईवं ऊससिअणिरुद्धसंकिउल्लावं।
सवहसअरक्खिओट्ठं चोरिअरमिअं सुहावेइ॥

(श्रृंगार० ५४, २; गा० स० ४, ३३)

जिसमें दीपक को मुँह से बुझा दिया है, उच्छ्वास और शंकित उल्लाप बन्द कर दिया है, सैकड़ों शपथ देकर ओठ को सुरक्षित रक्खा है, ऐसा चोरी-चोरी रमण कितना सुख देता है!

मोहविरमे सरोसं थोरत्थणमण्डले सुरवहूणम्।
जेण करिकुम्भसंभावणाइ दिट्ठी परिट्ठविआ॥

(स० कं० ३, १०८)

मोह के शान्त होने पर जिसने रोषपूर्वक हाथियों के गण्डस्थल की संभावना से सुरवधुओं के स्थूल स्तनमंडल पर दृष्टि स्थापित की।

(भ्रांति अलङ्कार का उदाहरण)

मंगलवलअं जीअं व रक्खिअं जं पउत्थवइआइ।
पत्तपिअदंसणूससिअबाहुलइआइं तं भिण्णम्॥

(स० कं० ५. १९०)

प्रोषितपतिका ने जिस मंगलकंकण की अपने जीवन की भांति रक्षा की थी वह प्रिय के दर्शन से उच्छ्वसित बाहुओं में पहना जाकर टूट गया!

मंतेसि महुमहपणअं सन्दाणेसि तिदसेसपाअवरअणम्।
ओज(उज्झ)सु मुद्धसहावं सम्भावेसु सुरणाह! जाअवलोअम्॥

(स० कं० ४, २३५)

हे इन्द्र! यदि तू कृष्ण के प्रति प्रेम स्वीकार करता है तो देवों को पारिजात देने में अपने मुग्ध स्वभाव का त्याग कर, और यादवों को प्रसन्न कर।

(भाविक अलङ्कार का उदाहरण)

रइअमुणालाहरणो णलिणिदलत्थइअपीवरत्थणअलसो।
वहइ पिअसंगमम्मिवि मअणाअप्पप्पसाहणं जुवइजणो॥

(स० कं० ४, १९१)

जिन्होंने मृणाल को आभूषण बनाया है और कमलिनियों के पत्तों से पीन स्तनकलश को आवृत किया है, ऐसी युवतियाँ प्रिय के सङ्गम के समय भी कामदेव की उत्कंठा के लिये अलङ्कार धारण करती है। (परिकर अलङ्कार का उदाहरण)

रइअरकेसरणिवहं सोहइ धवलब्भदलसहस्सपरिगअम् ।
महुमहदंसणजोग्गं पिआमहुप्पत्तिपंकअं व णहअलम् ॥
(स० कं० ४, ४५; सेतु० बं० १, १७)

सूर्य की किरणरूपी केसर के समूहवाला, श्वेत मेघरूपी सहस्रदल वाला और विष्णु के दर्शन योग्य (शरद्काल में विष्णु जागरण करते हैं और आकाश रमणीय दिखाई देता है) ऐसा आकाशमंडल ब्रह्माजी के उत्पत्ति-कमल के समान शोभित हो रहा है। (रूपक अलङ्कार का उदाहरण)

रइअं पि ता ण सोहइ रइजोग्गं कामिणीण छणणेवच्छं ।
कण्णे जा ण रइज्जइ कवोलघोणन्तसहआरं ॥
(स० कं० ५, ३०६)

कामिनियों के रतियोग्य उत्सव के अवसर पर धारण की हुई वेशभूषा तब तक शोभित नहीं होती जबतक कि वे कानों में कपोलों तक झूलती हुई आम्रमञ्जरी नहीं धारण करतीं।

रइकेलिहियनियंसणकरकिसलयरुद्धनयणजुयलस्स ।
रुद्दस्स तइयनयणं पव्वइ परिचुंबियं जयइ ॥
(काव्या० पृ० ८७, ९२; गा० स० ५, ५५; काव्य प्र० ४, ९७)

रतिक्रीड़ा के समय महादेव जी द्वारा पार्वती के निर्वस्त्र कर दिये जाने पर पार्वती ने अपने करकमलों से महादेवजी की दोनों आँखें बन्द कर दीं। (तत्पश्चात् महादेव अपने तृतीय नेत्र से पार्वती को देखने लगे)। पार्वती ने उनके इस तृतीय नेत्र का चुम्बन ले लिया, इस नेत्र की विजय हो !

रइविग्गहम्मि कुण्ठीकआओ धाराओ पेम्मखग्गस्स ।
अण्णमआइं व्व सिज्झन्ति (? खिज्जन्ति) माणसाइं णाइ मिहुणाणम् ॥
(स० कं० ५, १९३)

सुरत-युद्ध के समय प्रेमरूपी खड्ग की धार कुंठित हो जाने से मानों एक दूसरे से पृथक् हो गये हैं ऐसे कामी-मिथुन के हृदय खेद को प्राप्त होते हैं।

(मान का उदाहरण)

रणदुज्जओ दहमुहो सुरा अवज्झा अ तिहुअणस्स इमे ।
पडइ अणत्थोत्ति फुडं विहीसणेण फुडिआहरं णीससिअं ॥
(स० कं० ४, २२५)

रावण युद्ध में दुर्जय है, और देवताओं का वध नहीं किया जा सकता, इसलिये त्रिभुवन के लिये बड़ा संकट उपस्थित हो गया है, यह जानकर विभीषण ने अपने स्फुटित अधर द्वारा श्वास लिया। (अतिशयोक्ति अलङ्कार का उदाहरण)

रत्तुप्पलदलसोहा तीअ वि चसअम्मि सुरहिवारुणीभरिए ।
मअतंबेहिं मणहरा पडिमापडिएहिं लोअणेहिं लहुइआ ॥
(स० कं० ४, ६२)

सुगंधित वारुणी से भरे हुए पानपात्र में किसी नायिका के मद से रक्त हुए नेत्रों

का प्रतिबिंब पड़ रहा था, जिससे सुंदर रक्त कमलदल की शोभा उसके सामने फीकी पड़ गई है। (साम्य अलङ्कार का उदाहरण)

रमिऊण पइम्मि गए जाहे अवऊहिअं पडिनिवुत्तो।
अहहं पउत्थपइअव्व तक्खणं सो पवासिव्व ॥

(स० कं० ५, २४२; गा० स० १, ९८)

रमण करने के पश्चात् पति प्रवास को चला गया, लेकिन कुछ समय बाद आलिंगन करने के लिये वह फिर लौट कर आया। इस बीच में उसी क्षण मैं प्रोषितभर्तृका और वह प्रवासी बन गया !

राईसु चंदधवलासु ललिअमप्फालिऊण जो चावम्।
एकच्छत्तं विअ कुणइ भुअणरज्जं विजंभंतो॥

(काव्य० प्र० ४. ८४)

चन्द्रमा से श्वेत हुई रातों में कामदेव अपने धनुष की टंकार द्वारा सारे संसार के राज्य को मानों एकछत्र साम्राज्य बना कर विचरण करता हुआ दिखाई देने लगता है। (अर्थशक्ति मूल ध्वनि का उदाहरण)

रेहइ पिअपरिरंभणपसारिअं सुरअमन्दिरद्दारे।
हेलाहलहलिअथोरथणहरं भुअलआजुअलं ॥ (स० कं० ५, १६४)

अपने प्रिय का आलिंगन करने के लिये फैलायी हुई, और वेग से कौतूहल को प्राप्त स्थूल स्तनभार से युक्त (नायिका की) दोनों भुजायें सुरतमंदिर के द्वार पर शोभित हो रही हैं। (हेला का उदाहरण)

रेहइ मिहिरेण णहं रसेण कव्वं सरेण जोव्वणअम्।
अमएण धुणीधवओ तुमए णरणाह ! भुवणमिणम् ॥

(अलङ्कार० पृ० ७४)

सूर्य से आकाश, रस से काव्य, कामदेव से यौवन, अमृत से समुद्र और हे नरनाथ ! तुमसे यह भुवन शोभित होता है।

रंडा चण्डा दिक्खिदा धम्मदारा मज्जं मंसं पिज्जए खज्जए अ।
भिक्खा भोज्जं चम्मखण्डे च सेज्जा कोलो धम्मो कस्स णो होइ रम्मो ॥

(दशरूपक प्र० २ पृ० १५१; कर्पूरमंजरी १, २३)

जहाँ चंड रंडाएँ दीक्षित हो कर धर्मपत्नियाँ बनती हैं, मद्य-पान और मांस-भक्षण किया जाता है, भिक्षा द्वारा भोजन प्राप्त किया जाता है, और सोने के लिये चर्म की शय्या होती है, ऐसा कौलधर्म किसे प्रिय न होगा ?

रंधणकम्मणिउणिए मा जूरसु रत्तपाडलसुअन्धम्।
मुहमारुअं पिअन्तो धूमाइ सिही ण पज्जलइ ॥

(स० कं० ५, ९१; गा० स० १, १४)

रसोई बनाने में निपुण नायिका पर गुस्सा मत हो। रक्तपाटल की सुगन्धि उसके मुख की वायु का पान करके धूम बन जाती है, इसलिये आग नहीं जलती (इसलिये वह बिचारी लाचार है) !

लच्छी दुहिदा जामाउओ हरी तंस घरिणिआ गंगा।
अमिअमिअंका अ सुआ अहो कुटुम्बं महोअहिणो॥

(ध्वन्या० उ० ३, पृ० ४९९)

समुद्र की लक्ष्मी कन्या है, विष्णु दामाद हैं, गंगा उसकी पत्नी है, अमृत और चन्द्रमा पुत्र हैं, समुद्र का कितना बड़ा कुटुम्ब-कबीला है !

(परिकर अलङ्कार का उदाहरण)

लज्जा चत्ता सीलं च खंडिअं अजसघोसणा दिण्णा।
जस्स कएणं पिअसहि ! सो च्चेअ जणो जणो जाओ॥

(श्रृङ्गार० ४३, २१३; गा० स० ६, २४)

जिसके कारण लज्जा त्याग दी, शील खंडित कर दिया, और अपयश मिला, हे प्रियसखि ! वही जन अब दूसरे का हो गया !

लज्जापज्जत्तपसाहणाइं परभत्तिणिप्पिवासाइं।
अविणअदुम्मेधाइं धण्णाण घरे कलत्ताइं॥

(साहित्य० पृ० १११; दशरूपक प्र० २; पृ० ९६)

भाग्यशाली व्यक्तियों के घरों की स्त्रियाँ पर्याप्त लज्जा वाली होती हैं, पर पुरुष की इच्छा वे नहीं रखतीं और विनयशील होती हैं।

लहिऊण तुज्झ बाहुप्फंसं जीए स कोवि उल्लासो।
जअलच्छी तुह विरहे हूज्जला दुब्बला णं सा॥

(काव्य० १०, ४३४)

तुम्हारी भुजाओं का स्पर्श पाकर जिसके हृदय में कभी एक अपूर्व उल्लास पैदा होता था, वह उज्वल जयलक्ष्मी तुम्हारे विरह में कितनी दुर्बल होती जा रही है !

(समासोक्ति अलङ्कार का उदाहरण)

लीलाइओ णिअसणे रक्खिउ तं राहिआइ थणवट्टे।
हरिणो पढमसमागमसज्झसवसरेहिं वेविरो हत्थो॥

(स० कं० ५, २३५)

राधिका के स्तनों पर प्रथम समागम के समय भय से कम्पनशील और उसके वस्त्र पर क्रीड़ा करने वाला ऐसा कृष्ण का हाथ तेरी रक्षा करे !

लीलादाढ़ग्गुवूढ़सयलमहिमण्डलस्स चिअ अज्ज।
कीसमुणालाहरणं पि तुज्झ गुरुआइ अंगम्मि॥

(काव्या० पृ० ८१, १५१)

जिसने लीला से अपनी दाढ़ के अग्र भाग से समस्त पृथ्वीमंडल को ऊपर उठा लिया है (वराह अवतार धारण करने के समय), ऐसे तुम्हारे शरीर में कमल-नाल का आभरण भी क्यों भारी मालूम दे रहा है ?

('मधुमथनविजय' में पांचजन्य की उक्ति)

लुलिआ गहवइधूआ दिण्णं व फलं जवेहिं सविसेसं।
एण्हिं अणिवारिअमेव गोहणं चरउ छेत्तम्मि॥

(स० कं० ५, २९९)

जौ के खेत में खूब अच्छी फसल हुई है इसलिये गृहपति की पुत्री चंचल हो उठी है। अब गायें खेत में बिना किसी रोकटोक के चर सकेंगी।

लोओ जूरइ जूरउ वअणिज्जं होइ, होउ तं णाम।
एहि! णिमज्जसु पासे पुप्फवइ! ण एइ मे निद्दा॥

(स० कं० ५, १६७; गा० स० ६, २९)

लोगों को बुरा लगता हो तो लगे, यह निन्द्य हो तो हो, हे पुष्पवती! आकर मेरे पास सो जा, मुझे नींद नहीं आ रही है।[1]

वइविवरणिग्गअदलो एरण्डो साहइव्व तरुणाणम्।
एत्थ घरे हलिअवहू एद्दहमेत्तत्थणी वसइ॥

(स० कं० ३, १६६; गा० स० ३, ५७)

बाड़ के छिद्र में से जिसके पत्ते बाहर निकल रहे हैं ऐसा एरण्ड का वृक्ष तरुण जनों को घोषित कर कह रहा है कि इन पत्रों की भाँति विशाल स्तनवाली हलवाहे की वधू इस घर में वास करती है। (अभिनय अलङ्कार का उदाहरण)

वच्च महं चिअ एक्काए होंतु नीसासरोइअव्वाइं।
मा तुज्झ वि तीए विणा दक्खिण्णहयस्स जायंतु॥

(काव्या० पृ० ५६, २३; ध्वन्या० १ पृ० २१)

हे प्रिय! तुम उसके पास जाओ। मैं अकेली तुम्हारे विरह में श्वास छोड़ती हुई अश्रुपात करूँ यह अच्छा है, लेकिन उसके विरह में तुम्हारे दाक्षिण्य का नष्ट होना ठीक नहीं। (विध्याभास अलङ्कार का उदाहरण)

वणराइकेसहत्था कुसुमाउहसुरहिसंचरन्तधअवडा।
ससिअरमुहुत्तमेहा तमपडिहत्था विणेंति धूमुप्पीडा॥ (स०कं० ४,४२)

वनपंक्ति के केशकलाप, कामदेव की सुगंधित चंचल ध्वजा का पट, चन्द्रमा की किरणों को मुहूर्त भर के लिये आच्छादित करनेवाला मेघ तथा अंधकार के प्रतिनिधि की भाँति धूमसमूह शोभायमान हो रहा है।

(रूपक अलंकार का उदाहरण)

वण्णसि एव्व विअत्थसि सच्चं विअ सो तुए ण संभविओ।
ण हु होन्ति तम्मि दिट्ठे सुत्थावत्थाइं अंगाइं॥

(गा० स० ५, ७८; काव्या०, पृ० ३९०, ५६२)

केवल उसके गुण सुन कर उसके वश में हो जाने वाली! तूने उसे देखा है, इसकी तू व्यर्थ ही शेखी मारती है। यदि तूने उसे सचमुच देखा होता तो तेरा शरीर स्वस्थ रहने वाला नहीं था। (अनुमान अलंकार का उदाहरण)

---

१. मिलाइये—सोएवा पर वारिआ पुप्फवईहिं समाणु।
जग्गेवा पुणु को धरइ जइ सो वेउ पमाणु॥
(हेमचन्द्र, प्राकृतव्याकरण ८, ४, ४३८)

—पुष्पवतियों के साथ सोना मना है, लेकिन उनके साथ जागने को कौन रोकता है, यदि वेद प्रमाण है।

ववसाअरइप्पओसो रोसगइन्ददिढसिंखलापडिबन्धो ।
कह कह वि दासरहिणो जयकेसरिपञ्जरो गओ घणसमओ ॥

(स० कं० ४, २९; से० बं० १, १४)

राम के उद्यम रूपी सूर्य के लिये रात्रि के समान, उनके रोष रूपी महागज के लिये दृढ़ शृंखलाबंध के समान, तथा उनके विजय रूपी सिंह के लिये पिंजड़े के समान वर्षाकाल किसी प्रकार व्यतीत हुआ। (रूपक अलङ्कार का उदाहरण)

ववसिअणिवेइअत्थो सो मारुइलद्धपच्चआगअहरिसं ।
सुग्गीवेण उरत्थलवणमालामलिअमहुअरं उवऊढो ॥

(स० कं० ४, १७१)

जिसने संकल्प के अर्थ का निवेदन किया है ऐसे (विभीषण) का हनुमान द्वारा विश्वास प्राप्त करने पर हर्षित हुए, तथा वक्षःस्थल में पहनी हुई वनमाला के भ्रमरों का मर्दन कर सुग्रीव ने आलिंगन किया। (परिकर अलङ्कार का उदाहरण)

वाअग्गिणा करो मे दड्ढो त्ति पुणो पुणो च्चिअ कहेइ ।
हालिअसुआ मलिअच्छुसदोहली पामरजुआणे ॥

(स० कं० ५, ३१६)

'बुझी हुई आग से मेरा हाथ जल गया'—इस प्रकार पामर युवा द्वारा कृषक-कन्या को बार-बार संबोधित किये जाने पर उसका दोहद दलित हो गया।

वाणिअय ! हत्थिदंता कुत्तो अम्हाण वग्घकित्तीओ ।
जाव लुलियालयमुही घरंमि परिसक्कए सुण्हा ॥

(ध्वन्या० उ० ३ पृ० २४२; काव्या० पृ० ६३, ३७; काव्य प्र० १०, ५२८)

हे वणिक ! हमारे घर में हाथीदांत और व्याघ्रचर्म कहाँ से आया जब कि चंचल केशों से शोभायमान मुख वाली पुत्रवधू घर में अनवरत क्रीड़ा में रत रहती है ! (उत्तर और नियम अलङ्कार का उदाहरण)

वाणीरकुडंगुड्डीणसउणिकोलाहलं सुणंतीए ।
घरकम्मवावडाए वहूए सीयंति अंगाइं ॥

(काव्या०, पृ० १५२, १७१; काव्यप्रकाश ५, १३२; साहित्य०, पृ० २८७; ध्वन्या० उ० २ पृ० २२१)

बेंत के कुंज से उड़ते हुए पक्षियों का कोलाहल सुनती हुई, घर के काम-काज में लगी वधू के अंग शिथिल हो रहे हैं। (असुंदर व्यंग्य का उदाहरण)

वारिज्जन्तो वि पुणो सन्दावकदत्थिएण हिअएण ।
थणहरवअस्सएण विसुद्धजाई ण चलइ से हारो ॥

(काव्य० प्र० ४, ८६)

संतप्त हृदय द्वारा रोका जाता हुआ भी विशुद्ध जाति के मोतियों से गूंथा हुआ हार अपने परम मित्र कुचद्वय से अलग नहीं होता है (पुरुषायित रति के प्रसंग की यह उक्ति है)।

वाहित्ता पडिवअणं ण देइ रूसेइ एक्कमेक्कम्मि।
असती कज्जेण विणा पइप्पमाणे णईकच्छे॥
(स० कं० ३, ५१; गा० स० ५, १६)

(जंगल की आग से) प्रदीप्यमान नदी के तट पर बिना काम के इधर-उधर भटकने वाली कुलटा बुलाई जाने पर भी प्रत्युत्तर नहीं देती, और प्रत्येक पुरुष को देख कर रोष करती है। (सूक्ष्म अलङ्कार का उदाहरण)

विअडे गअणसमुद्दे दिअसे सूरेण मन्दरेण व महिए।
णीइ मइरव्व संज्झा तिस्सा मग्गेण अमुअकलसो व्व ससी॥
(स० कं० ४, १९०)

महान् आकाशरूपी समुद्र में मन्दर गिरि की भाँति सूर्य के द्वारा दिवस के पूजित (अथवा मथित) होने पर, जैसे मदिरा निकलती है वैसे ही संध्या के मार्ग से अमृतकलश की भाँति चन्द्रमा उदित हो रहा है। (परिकर अलङ्कार का उदाहरण)

विअलिअविओअविअणं नवखणपब्भट्टराममरणाआसम्।
जनअतणआइ णवरं लद्धं मुच्छाणिमीलिअच्छीअ सुहं॥
(स० कं० ५, २६८; सेतु० ११, ५८)

मूर्च्छा के कारण जिसकी आँखें मुंद गई हैं ऐसी जानकी ने वियोगजनित पीड़ा को भुला कर राममरण के महाकष्ट से तत्क्षण मुक्ति पाकर सुख ही प्राप्त किया।

विअसन्तरअक्खउरं मअरन्दरसुद्धमायमुहलमहुअरम्।
उउणा दुमाण दिज्जइ हीरइ न उणाइ अप्पण च्चिअ कुसुमम्॥
(काव्या० पृ० ३६१, ५५०)

विकसित पराग से विचित्र और मकरंद रस की सुगंध से आकृष्ट हुए गुंजन करने वाले भौरों से युक्त ऐसे पुष्प वसंतऋतु द्वारा वृक्षों को प्रदान किये जाते हैं, उनका अपहरण नहीं किया जाता। (निदर्शन अलङ्कार का उदाहरण)

विक्किणइ माहमासम्मि पामरो पारडिं बइल्लेण।
णिद्धूममुम्मुरे सामलीए थणए णिअच्छन्तो॥
(स० कं० ५, ११; गा० स० ३, ३८)

षोडशी नववधू के निर्धूम तुष-अग्नि की भाँति ऊष्मा वाले स्तनों पर दृष्टिपात करता हुआ पामर कृषक माघ महीने में अपनी चादर बेच कर बैल खरीदता है।
(परिवृत्ति अलङ्कार का उदाहरण)

विमलिअरसाअलेण वि विसहरवइणा अदिट्ठमूलच्छेअं।
अप्पत्ततुंगसिहरं तिहुअणहरणे पवड्ढिएण वि हरिणा॥
(स० कं० ४, २२४; सेतु० ९, ७)

पाताल तक संचार करने पर भी उसके (सुवेल पर्वत के) मूल भाग को शेषनाग ने नहीं देखा, और उसका उच्च शिखर तीनों लोकों को मापने के लिये बढ़े हुए त्रिविक्रम द्वारा भी स्पर्श नहीं किया गया।
(अतिशयोक्ति अलङ्कार का उदाहरण)

विरला उवआरिच्चिअ णिरवेक्खा जलहरव्व वट्टन्ति।
झिज्जन्ति ताण विरहे विरलच्चिअ सरिप्पवाह व्व॥

(स० कं० ४, १६३)

मेघों के समान ऐसे पुरुष विरले ही होते हैं जो उपकार करके भी निरपेक्ष रहते हैं। इसी प्रकार नदी के प्रवाह की भाँति ऐसे लोग भी विरले ही होते हैं जो उपकार करने वालों के विरह में क्षीण होते है।

(अर्थान्तरन्यास अलङ्कार का उदाहरण)

विरहाणलो सहिज्जइ आसाबन्धेण वल्लहजणस्स।
एक्कग्गामपवासो माए! मरणं विसेसेइ॥

(स० कं० ५, २६५; गा० स० १, ४३)

हे मा! प्रियजन की (प्रवास से लौट कर आने की) आशा से तो विरहाग्नि किसी प्रकार सहन की जा सकती है, किंतु यदि वह एक ही गाँव में प्रवास करता है तो मरण से भी अधिक दुख होता है।

विवरीयरए लच्छी बम्भं दट्ठूण णाहिकमलत्थम्।
हरिणो दाहिणणयणं रसाउला झत्ति ढक्केइ॥

(काव्या०, पृ० ५२, १३८; काव्य० प्र० ५, १३७)

रति में पुरुष के समान आचरण करने वाली रसावेश से युक्त लक्ष्मी नाभि-कमल पर विराजमान ब्रह्मा को देखकर अपने प्रियतम विष्णु का दाहिना नेत्र झट से बंद कर देती है (इससे सूर्यास्त की ध्वनि व्यक्त होती है)।

विसमअओ विअ काणवि काणवि वोलेइ अमिअणिम्माओ।
काणवि विसामिअमओ काणवि अविसामिअमअओ कालो॥

(ध्वन्या० उ० ३, पृ० २३५)

किन्हीं के लिये काल विषरूप प्रतीत होता है, किन्हीं के लिए अमृतरूप, किन्हीं के लिये विष-अमृतरूप और किन्हीं के लिये न विषरूप और न अमृतरूप।

विसवेओ व्व पसरिओ जं जं अहिलेइ बहलधूमुप्पीडो।
सामलइज्जइ तं तं रुहिरं व महोअहिस्स विद्दुमवेण्टम्॥

(स० कं० ४, ५३; सेतु० ५, ५०)

विषवेग की भाँति फैला हुआ महाधूम का समूह जिस-जिस महासमुद्र के रुधिर की भाँति प्रवालमंडल के पास पहुँचता है उसे काला कर देता है (जैसे विष शरीर में प्रविष्ट होकर रुधिर को काला कर देता है)।

(साम्य अलङ्कार का उदाहरण)

विह(अ)लइ से णेवच्छं पम्माअइ मंडणं गई खलइ।
भूअच्छणणच्चणअम्मि सुहअ! मा णं पुलोएसु॥ (स० कं० ५, ३०९)

भूत-उत्सव के नृत्य के अवसर पर इसका वस्त्र विगलित हो उठता है, आभूषण मलिन हो जाता है और गति स्खलित हो जाती है, अतएव हे सुभग! इसे न देख।

विहलंखलं तुमं सहि ! दट्ठूण कुडेण तरलतरदिट्ठिम् ।
वारप्फंसमिसेण अ अप्पा गुरुओत्ति पाडिअ विहिण्णो ॥
(काव्य० प्र० ४, ९१)

हे सखि ! तुम्हारे घड़े ने, विशृंखल अवस्था में अपनी दृष्टि को चंचल करती हुई तुम्हें देखकर, दरवाजे की ठेस के बहाने अपने आपको गुरु समझकर गिराते हुए टुकड़े-टुकड़े कर दिया। (अप्रस्तुति, उद्भेद अलङ्कार का उदाहरण)

वेवइ जस्स सविडिअं वलिउं महइ पुलआइअत्थणअलसं ।
पेम्मसहावविमुहिअं बीआवासगमणूसुअं वामद्धम् ॥
(स० कं० ५, ४४८; सेतु० १, ६)

जिस अर्धनारीश्वर का रोमांचित स्तन-कलशों वाला, प्रेमानुराग से किंकर्तव्य-विमूढ़ तथा लज्जासहित वामांग, दक्षिण के अर्धभाग (नरभाग) की ओर जाने के लिये उत्सुक, कंपित होकर (आलिंगन करने के लिये) मुड़ना चाहता है।

वेवइ सेअदवदनी रोमञ्चिअगत्तिए ववइ ।
विललुल्लु तु वलअ लहु बाहोअल्लीए रणेत्ति ॥
मुहऊ सामलि होई खणे विमुच्छइ विअग्गेण ।
मुद्धा मुहअल्ली तुअ पेम्मेग सा वि ण धिज्जइ ॥
(दशरूपक प्र० ४ पृ० १८२)

हे युवक ! तेरे प्रेम के कारण वह नायिका काँपने लगती है, उसके चेहरे पर पसीना आ जाता है, शरीर में रोंगटे खड़े हो जाते हैं, उसका चंचल वलय बाहुरूपी लता में मंद-मंद शब्द करता है। उसका मुँह श्याम पड़ जाता है, क्षण भर के लिये व्यग्र होकर वह मूर्च्छित हो जाती है, और तुम्हारे प्रेम से उसकी मुग्ध मुखवल्ली थोड़ा भी धीरज धारण नहीं कर पाती। (स्तंभ आदि सात्त्विक भावों का उदाहरण)

वेवाहिऊण वहुआ सासुरअं दोलिआइ णिज्जन्ती ।
रोअइ दिअरो तां सण्ठवेइ पासेण वच्चन्तो ॥ (स० कं० १, ५६)

विवाह के पश्चात् डोली में बैठा कर श्वसुरगृह को ले जाई जाती हुई वधू रुदन कर रही है, उसका देवर उसके पास पहुँच कर उसे सांत्वना देता है।

वेविरसिण्णकरंगुलिपरिग्गहक्खलिअलेहणीमग्गे ।
सोत्थि च्चिअ ण समप्पइ पिअसहि ! लेहम्मि किं लिहिमो ॥
(स० कं० ५, २३३; गा० स० ३, ४४)

काँपती हुई, स्वेदयुक्त हाथ की उंगलियों से पकड़ी हुई स्खलित लेखनी स्वस्ति भी पूरी तौर से न लिख सकी, फिर भला हे सखि ! पत्र तो मैं क्या लिखती !

शदमाणशमंशभालके कुम्भशहश्श वशाहि शञ्चिदे ।
अणिशं च पिआमि शोणिदे वलिशशदे शमले हुवीअदि ॥
(स० कं० २, ३)

एक हजार कुंभ चरबी से संचित मनुष्य मांस के सौ भारक का यदि मैं भक्षण करूं और अनवरत शोणित का पान करूं तो सौ वर्ष तक युद्ध होगा।
(मागधी का उदाहरण)

सअणे चिंतामइअं काऊग पिअं णिमीलअच्छीए।
अप्पाणो उवऊढो- पसिढिलवलआहि बाहेहिं॥

(शृङ्गार० ५८, २५)

निमीलित नेत्रों वाली प्रिया ने अपने प्रियतम को शयन के ऊपर चिंताग्रस्त बना कर, शिथिल कंकणों वाली अपनी भुजाओं से उसे आलिंगन में बाँध लिया।

सअलुज्जोइअवसुहे समत्थजिअलोअवित्थरन्तपआवे।
ठाइ ण चिरं रविम्मि व विहाण पडिदा वि मइलदा सप्पुरिसे॥

(स० कं० ४, ५०; सेतु० ३, ३१)

समस्त पृथ्वी को प्रकाशित करने वाले, समस्त मनुष्यलोक में अपने प्रताप को फैलाने वाले ऐसे सूर्यरूपी सत्पुरुष में विधि के द्वारा उत्पादित (प्रभातकाल में पड़ी हुई) मलिनता चिरकाल तक नहीं ठहरती। (साम्य अलङ्कार का उदाहरण)

सकअग्गहरहसुण्णामिआणणा पिअइ पिअअमविइण्णम्।
थोअं थोअं रोसोसहं व उअ! माणिणी मइरम्॥

(स० कं० ५, २८८; गा० स० ६, ५०)

देखो, केशों को पकड़ कर जिसका मुख झट से ऊपर की ओर उठा दिया गया है ऐसी मानिनी अपने प्रियतम के द्वारा दी हुई मदिरा को मानो मान की औषधि के रूप में थोड़ा-थोड़ा करके पान कर रही है!

सग्गं अपारिजाअं कुत्थुहलच्छीविरहिअं महुमहस्स उरं।
सुमरामि महणपुरओ अमुद्धयंदं च हरजडापब्भारं॥

(सं० कं० ३,१७७; काव्या० पृ० ३६५, ५६०; सेतु० ४, २०)

समुद्रमंथन के पूर्व स्वर्ग को पारिजात पुष्प से शून्य, विष्णु के वक्षस्थल को कौस्तुभ मणि से रहित तथा शिवजी के जटाजूट को चन्द्रमा के खंड से शून्य स्मरण करता हूँ। (प्राग्भाव का उदाहरण)

सच्चं गरुओ गिरिणो को भणइ जलासआ ण गंभीरा।
धीरेहिं उवमाउं तहवि हु मह णत्थि उच्छाहो॥

(स० कं० ४, १५०)

पर्वत गुरु है, यह सत्य है, और कौन कहता है कि समुद्र गंभीर नहीं है। फिर भी धीर पुरुषों के साथ पर्वत और समुद्र की उपमा देने का मेरा उत्साह नहीं होता। (आक्षेप अलङ्कार का उदाहरण)

सच्चं विअ कट्ठमओ सुरणाहो जेण हलिअधूआए।
हत्थेहिं कमलदलकोमलेहिं छित्तो ण पल्लविओ॥

(स० कं० ५, ३१३)

यह सत्य है कि इन्द्र केवल लकड़ी का ठूंठ है, नहीं तो हलवाहे की पुत्री के कोमल हस्तकमल से स्पर्श किये जाने पर भी वह क्यों पल्लवित नहीं हुआ?

सच्चं जाणइ दट्ठुं सरिसम्मि जणम्मि जुज्जए राओ।
मरउ ण तुमं भणिस्सं मरणं पि सलाहणिज्जं से॥

(स० कं० ५, २५८; दशरूपक प्र० २, ११७; गा० स० १, १२)

यह देखने में ठीक है कि समान व्यक्तियों में ही अनुराग करना उचित है। यदि उसका मरण भी हो जाय तो मैं तुझे कुछ न कहूंगी, क्योंकि विरह में उसका मरण भी प्रशंसनीय है। (आक्षेप, व्यत्यास अलङ्कार का उदाहरण)

सच्छन्दरमणदंसणरसवड्ढिअगरुअवम्महविलासं।
सुविअड्ढवेसवणिआरमिअं को वण्णिउं तरइ॥

(स० कं० ५, ३९५)

जिसके साथ स्वच्छन्द रमण होता है, जिसके दर्शन के रस से कामदेव का विलास वृद्धिगत होता है, सुविदग्ध पुरुषों के ऐसे वेश्या-रमण का कौन वर्णन कर सकता है ? (गणिका का उदाहरण)

सज्जेहि सुरहिमासो ण दाव अप्पेइ जुअइजणलक्खमुहे।
अहिणवसहआरमुहे णवपल्लवपत्तले अणंगस्स सरे॥

(ध्वन्या० उ० २, पृ० १८७)

वसंत मास युवतियों को लक्ष्य करके नवीन पल्लवों की पत्ररचना से युक्त नूतन आम्रमञ्जरी रूपी कामबाणों को सज्जित करता है, लेकिन उन्हें छोड़ने के लिये कामदेव को अर्पित नहीं करता। (अर्थशक्ति-उद्भव ध्वनि का उदाहरण)

सणियं वच्च किसोयरि ! पए पयत्तेण ठवसु महिवट्ठे।
भज्जिहिसि वत्थयत्थणि! विहिणा दुक्खेण णिम्मविया॥

(काव्या० पृ० ५५, २१)

हे कृशोदरि ! जरा धीरे चल, अपने पैरों को जमीन पर संभाल कर रख। हे सुंदर स्तनों वाली ! तुझे कहीं ठोकर न लग जाये, बड़ी कठिनता से विधाता ने तुझे सिरजा है !

सद्धा मे तुज्झ पिअत्तणस्स कह तं तु ण याणामो।
दे पसिअ तुमं चिअ सिक्खवेसु जह ते पिआ होमि॥ (शृङ्गार ४,११)

तेरे प्रियत्व में मेरी श्रद्धा है, इसे हम कैसे नहीं जानते ? इसलिये प्रसन्न हो, तू ही इस प्रकार शिक्षा दे जिससे मैं तुम्हारी प्रिया बन सकूं।

समसोक्खदुक्खपरिवड्ढिआणं कालेण रूढपेम्माणम्।
मिहुणाणं मरइ जं, तं खु जिअइ, इअरं मुअं होइ॥

(स० कं० ५, २५०; गा० स० २, ४२)

समान सुख-दुख में परिवर्धित होने के कारण कालांतर में जिनका प्रेम स्थिर हो गया है ऐसे दम्पति में से जो पहले मरता है वह जीता है, और जो जीता है वह मर चुका है।

सयलं चेव निबन्धं दोहिं पर्णाहिं कलुसं पसण्णं च ठिअं।
जाणन्ति कईण कई सुद्धसहावेहिं लोअणेहिं च हिअअम्॥

(काव्या० पृ० ४५६, ६१४; रावणविजय)

समस्त रचना केवल दो बातों से कलुष और प्रसन्न होती है। शुद्ध स्वभाव और लोचनों द्वारा ही कवियों के कवि हृदय को समझते हैं !

('रावणविजय' में कविप्रशंसा)

सरसं मउअसहावं विमलगुणं मित्तसंगमोल्लसिअम् ।
कमलं णट्ठच्छायं कुणन्त दोसायर ! णमो दे ॥

(काव्या० ६९, १३९)

सरस, मृदुस्वभाववाले, निर्मल गुणों से युक्त, मित्र के संगम से शोभायमान ऐसे कमल (महापुरुष) को नाश करनेवाले हे दोषाकर (चन्द्रमा, दुष्टजन) ! तुझे नमस्कार है। (अप्रस्तुत प्रशंसा का उदाहरण)

सव्वस्सम्मि वि दड्ढे तहवि हु हिअअस्स णिव्वुदि च्चेअ ।
जं तेण गामडाहे हत्थाहत्थिं कुडो गहिओ ॥

(स० कं० ५, १५०; गा० स० ३, २९)

गाँव में आग लगने पर सब कुछ जल गया, फिर भी मेरे प्रियतम ने जब मेरे हाथ से घड़ा लिया तो मेरे हृदय को सुख ही प्राप्त हुआ ! (हर्ष का उदाहरण)

सह दिअसनिसाहिं दीहरा सासदण्डा, सह मणिवलएहिं बाहधारा गलन्ति।
तुह सुहअ! विओए तीए उव्वेविरीए, सह य तणुलदाए दुब्बला जीविदासा॥

(काव्यप्रकाश १०, ४९५; कर्पूर मं० २, ९)

हे सुभग ! तुम्हारे वियोग में उद्विग्न उस नायिका की सांसें दिन और रात के साथ-साथ लम्बी होती जा रही है, आँसुओं की धारा मणि-कंकणों के साथ नीचे गिरा करती है और उसके जीवन की आशा उसकी तनुलता के साथ-साथ दुर्बल होती जा रही है। (सहोक्ति अलङ्कार का उदाहरण)

सहसा मा साहिज्जउ पिआगमो तीअ विरहकिसिआए।
अच्चंतपहरिसेण वि जा अ मुआ सा मुआ च्चेअ ॥

(स० कं० ५, ५४)

विरह से कृश हुई उस नायिका को सहसा प्रिय के आगमन का समाचार न कहना, क्योंकि अतिशय हर्ष के कारण यदि वह कदाचित् मर गई तो फिर मर ही जायगी।

सहिआहिं पिअविसज्जिअकदम्बरअभरिअणिब्भरुच्छ्सिओ ।
दीसइ कलंबथवओव्व थणहरो हलिअसोण्हाए ॥

(स० कं० ५, ३३०)

प्रियतम द्वारा प्रदत्त कदंब की रज से पूर्ण अत्यधिक श्वास वाली हलवाहे की पतोहु का स्तनभाग सखियों को कदंब के गुच्छे की भाँति प्रतीत हुआ।

सहिआहिं भण्णमाणा थणए लग्गं कुसुम्भपुप्फं त्ति ।
मुद्धवहुआ हसिज्जइ पप्फोडन्ती णहवआइं ॥

(स० कं० ३, ५; ५, ३७७; गा० स० २, ४५)

मुग्धवधू के स्तनों पर लगे हुए नखक्षतों को देखकर सखियों ने हँसी में कहा कि देख तेरे स्तनों पर कुसुंबे के फूल लग रहे हैं, यह सुनकर वह मुग्धवधू उन्हें लगी ! (अभिनय, स्वाभावोक्ति और हेतु अलङ्कार का उदाहरण)

सहि ! णवणिहुवणसमरम्मि अंकवाली सहीए णिविडाए।
हारो णिवारिओ विअ उच्छेरंतो तदो कहं रमिअम् ॥
(काव्य० प्र० ४, ८९)

हे सखि ! तुम्हारे नवसुरत-संग्राम के समय तुम्हारी एक मात्र सखी अङ्कपाली (आलिंगन-लीला) ने तुम्हारे उछलते हुए हार को रोक दिया, उस समय तुमने कैसा रमण किया ! (व्यतिरेक अलङ्कार का उदाहरण)

सहि ! विरइऊणमाणस्स मज्झ धीरत्तणेण आसासम्।
पिअदंसणविहलंखलखणम्मि सहसत्ति तेण ओसरिअम् ॥
(काव्य० प्र० ४, ६९)

हे सखि ! तेरे धैर्य ने विराम को प्राप्त मेरे मन को बहुत आश्वासन दिया, किंतु प्रियदर्शन के विश्रृङ्खल क्षण में वह धैर्य सहसा ही भाग खड़ा हुआ।

(उत्प्रेक्षा, विभावना अलङ्कार का उदाहरण)

सहि ! साहसु सब्भावेण पुच्छिमो किं असेसमहिलाणं।
वड्ढंति करट्ठिअ च्चिअ वलआ दइए पउत्थंमि ॥
(शृङ्गार० ७१, ८९; गा० स० ५, ५३)

हे सखि ! बता, हम सरल भाव से पूछ रहे हैं, क्या दयिता के प्रवास में जाने पर सभी महिलाओं के हाथ के कंकण बढ़ जाते हैं ?

सहि ! साहसु तेण समं अहंपि किं णिग्गआ पहाअम्मि।
अण्णच्चिअ दीसइ जेण दप्पणे कावि सा सुमुही ॥
(स० कं० ५, २९)

हे सखि ! बता क्या उसके साथ प्रभात में मैं भी गई थी ? क्योंकि वह सुन्दरी दर्पण में कुछ और ही दिखाई दे रही है।

साअरविइण्णजोव्वणहत्थालम्बं समुण्णमन्तेहिं।
अब्भुट्ठाणं विअ मम्महस्स दिण्णं थणेहिं ॥
(ध्वन्या० उ० २, पृ० १८८)

हे बाले ! (यौवन द्वारा) आदरपूर्वक आगे बढ़ाये हुए यौवनरूपी हाथों का अवलंबन लेकर उठते हुए तुम्हारे दोनों उन्नत स्तन मानो कामदेव का स्वागत कर रहे हैं। (अर्थशक्ति-उद्भव ध्वनि का उदाहरण)

सा तइ सहत्थदिण्णं अज्ज वि ओ सुहअ ! गंधरहिअं पि।
उव्वसिअणअरघरदेवद व्व णोमालिअं वहइ ॥
(शृङ्गार० १४, ६६; गा० स० २, ९४)

हे सुन्दर ! वह तुम्हारे द्वारा दी हुई गंधविहीन नवमालिका को भी, नगर से निष्कासित गृहदेवता की भाँति, धारण कर रही है।

सा तइ सहत्थदिण्णं फग्गुच्छणकद्दमं थणुच्छंगे।
परिकुविआ इव साहइ सलाहिरां गामतरुणीणम् ॥
(स० कं० ५, २२९)

गाँव की युवतियों द्वारा प्रशंसनीय वह तुम्हारे द्वारा अपने हाथ से उसके स्तनों पर लगाई हुई फाग-उत्सव की कीचड़ को मानो कुपित होकर लगवा रही है।

सामण्णसुन्दरीणं विब्भममावहइ अविणओ च्चेअ।
धूम च्चिअ पज्जलिआणं बहुमओ सुरहिदारूण॥

(स० कं० ५, ३९७)

सामान्य सुन्दरियों का अविनय भी प्रीतिद्योतक हावभाव को उत्पन्न करता है। उदाहरण के लिये, जलाये हुए सुगन्धित काष्ठ के धूएँ का भी बहुत आदर किया जाता है। (विलासिनी का उदाहरण)

सा महइ तस्स ण्हाउं अणुसोत्ते सोवि से समुव्वहइ।
थणवट्टभिडणविलुलिअकल्लोलमहग्घिए सलिले॥

(स० कं ५, २५६)

वह उसके स्तनों को स्पर्श करनेवाली चञ्चल तरङ्गों से बहुमूल्य बने ऐसे जल के स्रोत में स्नान करने की इच्छा करता है।

सामाइ सामलीए अद्धच्छिप्पलोइरीअ मुहसोहा।
जम्बूदलकअकण्णावअंसे भमदि हलिअउत्ते॥

(स० कं० ३, ५२; गा० स० २, ८०)

हलवाहे का पुत्र जम्बूपत्रको अपने कानों का आभूषण बना कर घूम रहा है; अर्धनिमीलित नेत्रों से उसे देखती हुई श्यामा के मुख की शोभा मलिन हो जाती है।

(गूढ़, सूक्ष्म अलंकार का उदाहरण)

सालिवणगोविआए उड्डीयन्तीअ पूसविन्दाइं।
सव्वंगसुन्दरीएवि पहिआ अच्छीइ पेच्छन्ती॥ (स० कं० ३, १४०)

शालिवन में छिपकर तोतों को उड़ाती हुई सर्वांग सुंदरियों की केवल आँखों पर ही पथिक दृष्टिपात करते हैं। (भाव अलङ्कार का उदाहरण)

सालोए च्चिय सूरे घरिणी घरसामियस्स घेत्तूण।
नेच्छंतस्स य चलणे धुयइ हसन्ती हसंतस्स॥

(काव्या० पृ० ४१८, ७११; स० कं० ३, १३९; गा० स० २, ३०
दशरूपक प्र० २, पृ० १३२)

सूर्य का प्रकाश रहते हुए भी, गृहिणी हँसते हुए गृहस्वामी के पैरों को पकड़ कर, उसकी इच्छा न रहते हुए भी हँसती हुई उन्हें हिला रही है।

(भाव अलङ्कार का उदाहरण)

सा वसइ तुज्झ हिअए सा च्चिअ अच्छीसु सा अ वअणेसु।
अह्मारिसाण सुन्दर! ओआसो कत्थ पावाणम्॥

(काव्य० प्र० १०, ५६०)

हे सुन्दर! जब वही तुम्हारे हृदय में, तुम्हारी आँखों में और तुम्हारी वाणी में निवास करती है तो फिर हमारे जैसी पापिनियों के लिये तुम्हारे पास स्थान कहाँ?

(विशेष अलङ्कार का उदाहरण)

साहीणे वि पिअअमे पत्ते वि खणे ण मण्डिओ अप्पा ।
दुक्खिअपउत्थवइअं सअज्झिअं सण्ठवन्तीए ॥
(स० कं० ५, २६४; गा० स० १, ३९)

प्रियतम के पास रहने और उत्सव आने पर भी उस नायिका ने वेशभूषा धारण नहीं की, क्योंकि उसे प्रोषितभर्तृका अपनी दुखी पड़ोसिन को सान्त्वना देनी थी।

साहंती सहि ! सुहयं खणे खणे दुम्मिया सि मज्झकए ।
सब्भावनेहकरणिज्जसरिसयं दाव विरइयं तुमए ॥
(काव्या० पृ० ६२, ३६; काव्य प्र० २, ७)

हे सखि ! मेरे लिये उस सुभग को क्षण-क्षण में मनाती हुई तुम कितनी विह्वल हो उठती हो ! मेरे साथ जैसा सद्भाव, स्नेह और कर्तव्यनिष्ठा तुमने निभायी है, वैसी और कोई निभा सकती है ? (यहाँ अपने प्रिय के साथ रमण करती हुई सखि के प्रति नायिका की यह व्यंग्योक्ति है) ।

(लक्ष्य रूप अर्थ की व्यंजना का उदाहरण)

सिज्जइ रोमञ्चिज्जइ वेवइ रच्छातुलग्गपडिलग्गो ।
सो पासो अज्ज वि सुहअ ! तीइ जेणसि वोलीणो ॥
(ध्वन्या० उ० ४, पृ० ६२७)

हे सुभग ! उस सकरी गली में अकस्मात् उस मेरी सखी के जिस पार्श्व से लग कर तुम निकल गये थे, वह पार्श्व अब भी स्वेदयुक्त, पुलकित और कंपित हो रहा है । (विभावना अलङ्कार का उदाहरण)

सिहिपिच्छकण्णऊरा जाया वाहस्स गव्विरी भमइ ।
मुत्ताहलरइअपसाहणाणं मज्झे सवत्तीण ॥
(काव्या० पृ० ४२५, ७२५; ध्वन्या० उ० २, पृ० १९०)

मोरपंख को कानों में पहन शिकारी की वधू बहुमूल्य मोतियों के आभूषणों से अलंकृत अपनी सौतों के बीच गर्व से इठलाती फिरती है ।

(अर्थशक्ति उद्भव ध्वनि का उदाहरण)

सुप्पउ तइओ वि गओ जामोत्ति सहीओ कीस मं भणह ?
सेहालिआण गंधो ण देइ सोत्तुं सुअह तुम्हे ॥
(शृङ्गार० ५३, ३१; गा० स० ५, १२)

(रात्रि का) तीसरा पहर बीत गया है, अब तू सो जा—इस प्रकार सखियाँ क्यों कह रही हैं ? मुझे पारिजात के फूलों की गंध सोने नहीं देती; जाओ तुम सो जाओ ।

सुप्पं दड्ढं चणआ ण भज्जिआ पंथिओ अ वोलीणो ।
अत्ता घरंमि कुविआ भूआणं वाइओ वंसो ॥
(शृङ्गार० ४०, १९९; गा० स० ६, ५७)

सूप जल गया लेकिन चने नहीं भुने; पथिक ने अपना रास्ता लिया । सास घर में गुस्सा होने लगी । यह भूतों के आगे वंशी बजाने वाली बात हुई ।

सुरआवसाणविलिओणअओ सेउल्लवअणकमलाओ ।
अद्धच्छिपेच्छिरीओ पिआओ धण्णा पुलोअंति ॥
(शृङ्गार० ५४, ५)

सुरत के अन्त में जिन्होंने अपने लोचनों को बन्द कर लिया है, जिनका मुखकमल स्वेद से आर्द्र हो गया है और अर्ध नेत्र से जो देख रही हैं ऐसी प्रियाओं को भाग्यशाली पुरुष ही देखते हैं ।

सुहअ ! विलम्बसु थोअं जाव इमं विरहकाअरं हिअअं ।
संठविऊण भणिस्सं अहवा वोलेसु किं भणिमो ॥
(अलङ्कार० पृ० १४०)

हे सुभग ! जरा ठहर जा, विरह से कातर इस हृदय को संभाल कर कुछ कहूँगी, अथवा जाओ, अब कहूँ ही क्या ?

सुरकुसुमेहिं कलुसिअं जइ तेहिं चिअ पुणो पसाएमि तुमं ।
तो पेम्मस्स किसोअरि ! अवराहस्सं अ ण मे कअं अणुरूअं ॥
(स० कं० ५, २८७)

देवताओं के पुष्पों द्वारा कलुषित तुझे यदि मैं फिर से उन्हीं के द्वारा प्रसन्न करूँ तो हे कृशोदरि ! यह न तो प्रेम के ही अनुरूप होगा और न अपराध के ही ।

सुरहिमहुपाणलम्पडभमरगणाबद्धमण्डलीबन्धम् ।
कस्स मणं णाणन्दइ कुम्मीपुट्टट्ठिअं कमलम् ॥ (स० कं० १, ६९)

सुगंधित मधुपान से लंपट भौंरों के समूह से जिसका मंडल आबद्ध है ऐसा कछुए के पृष्ठ पर स्थित कमल किसके मन को आनंदित नहीं करता ? (युक्तिविरुद्ध का उदाहरण)

सुव्वइ समागमिस्सइ तुज्झ पिओ अज्ज पहरमित्तेण ।
एमेय किमिति चिट्ठसि सा सहि ! सज्जेसु करणिज्जं ॥
(काव्या०, पृ० ६१, ३२; काव्य० प्र० ३, १९)

हे सखि ! सुनते हैं कि तुम्हारा पति पहर भर में आने वाला है; फिर तुम इस तरह क्यों बैठी हो ? जो करना हो झट कर डालो ।

सुहउच्छअं जणं दुल्लहं वि दूराहि अम्ह आगन्त ।
उअआरअ जर ! जीअं वि णेन्त ण कआवराहोसि ॥
(स० कं० ४, ११६; गा० स० १, ५०)

कुशल पूछने वाले दुर्लभ जन को दूर से मेरे पास लाने वाले हे उपकारक ज्वर ! अब यदि तू मेरे जीवन का भी अपहरण कर ले तो भी तू अपराधी नहीं समझा जायेगा ! (अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार का उदाहरण)

सेउल्लिअसव्वंगी णामग्गहणेण तस्स सुहअस्स ।
दूइं अप्पाहेन्ती तस्सेअ घरं गणं पत्ता ॥
(स० कं० ५, २३१; गा० स० ५, ४०)

उस सुभग का नाममात्र लेने से उसका समस्त अंग स्वेद से गीला हो गया। उसके पास संदेश लेकर दूती को भेजती हुई वह स्वयं ही उसके घर के आंगन में जा पहुँची !

सेलसुआरुद्धद्धं मुद्धाणा बद्धमुद्धससिलेहम् ।
सीसपरिट्ठिअगङ्गं संझापणअं पमहणाहम् ॥ (स० कं० १, ४०)

जिसका अर्ध भाग पार्वती से रुद्ध है, जिसके मस्तक पर चन्द्रमा की मुग्ध रेखा है, जिसके सिर पर गंगा स्थापित है, संध्या के लिये प्रणत ऐसे गणों के नाथ शिवजी को (नमस्कार हो) ! (क्रियापदविहीन का उदाहरण)

सो तुह कएग सुन्दरि ! तह झीणो सुमहिलो हलिअउत्तो ।
जह से मच्छरिणीअ वि दोच्चं जाआए पडिवण्णम् ॥
(स० कं० ५, २०१; गा० स० १, ८४)

हे सुन्दरि ! रूपवती भार्या के रहते हुए भी तेरे कारण हलवाहे का पुत्र इतना दुर्बल हो गया है कि उसकी ईर्ष्यालु भार्या ने उसका दूतीकर्म स्वीकार कर लिया।
(अर्थावलि अलंकार का उदाहरण)

सो नत्थि एत्थ गामे जो एयं महमहन्तलायण्णम् ।
तरुणाण हिअयलूडिं परिसक्कन्तिं निवारेइ ॥
(काव्या० पृ० ३९८, ६६१; काव्य० प्र० १०, ५६९)

इस गाँव में ऐसा कोई युवक नहीं जो इस सौन्दर्य की कस्तूरी से मतवाली, तरुणों के हृदय को लूटनेवाली और इधर-उधर घूमने वाली (नायिका) को रोक सके ! (रूपक, संकर, संसृष्टि अलंकार का उदाहरण)

सो मुद्धमिओ मिअतण्हिआहिं तह दूणो तुह आसाहिम् ।
जह संभावमईणवि णईणं परम्मुहो जाओ ॥
(सं० क० ३, १११)

वह भोला मृग मृगतृष्णा से ठगा जाकर इतना खिन्न हो गया कि अब वह जलसंपन्न नदियों का जल पीने से भी परांमुख हो गया है !
(भ्रांति अलंकार का उदाहरण)

सो मुद्धसामलंगो धम्मिल्लो कलिअ ललिअणिअदेहो ।
तीए खंधाहि बलं गहिअ सरो सुरअसंगरे जअइ ॥
(काव्य० ४, ८७)

मुग्धा के श्यामल केशों का जूड़ा किसी सुन्दर कामदेव के समान प्रतीत होता है जो उस सुन्दरी के कन्धों पर फैलकर (केशाकर्षण के समय) रतिरूपी युद्ध में कामीजन को अपने वश में रखता है।

सोहइ विसुद्धकिरणो गअणसमुद्दम्मि रअणिवेलालग्गो ।
तारामुत्तावअरो फुडविहडिअमेहसिप्पिसम्पुडविमुक्को ॥
(स० कं० ४, ४१; सेतु० १, २२)

आकाशरूपी समुद्र में शुभकिरणों से युक्त, रात्रिरूपी तट में लग्न तथा स्फुट और विघटित मेघरूपी सीपी के संपुट में से प्रकीर्ण, ऐसा तारे रूपी मोतियों का समूह शोभित हो रहा है। (रूपक अलंकार का उदाहरण)

सोह व्व लक्खणमुहं वणमाल व्व विअडं हरिवइस्स उरं।
कित्ति व्व पवणतणयं आण व्व बलाइ से वलग्गए दिट्ठी॥
(काव्या० पृ० ३४६, ५१७; सेतु० १, ४८; सं० क० ४, १९)

राम की दृष्टि शोभा की भांति लक्ष्मण के मुख पर, वनमाला की भाँति सुग्रीव के विकट वक्षस्थल पर, कीर्ति की भाँति हनुमान पर और आज्ञा की भाँति सेनाओं पर जा गिरी। (मालोपमा अलंकार का उदाहरण)

संजीवणोसहिम्मिव सुअस्स रक्खेइ अणण्णवावारा।
सासू णवब्भदंसणकण्ठागअजीविअं सोह्णम्॥
(सं० कं० ५, २६७; गा० स० ४, ३६)

नूतन मेघों को देखकर कंठगत प्राणवाली अपनी पतोहु को अपने पुत्र की संजीवनी औषधि समझ, सब कुछ छोड़कर सास उसकी रक्षा में तत्पर है।
(हेतु अलंकार का उदाहरण)

संहअचक्कवाअजुआ विअसिअकमला मुणालसंच्छण्णा।
वावी वहु व्व रोअणविलित्तथणआ सुहावेइ॥
(स० कं० १, ३६; काव्या०, पृ० २०५, २१२)

गोरोचना से विलिप्त स्तनयुगल धारण करती हुई वधू की भांति चक्रवाक के युगलवाली, विकसित कमलवाला (वधू के पक्ष में नेत्र) और कमलनाल से युक्त (वधू के पक्ष में बाहु) वापी सुख देती है। (न्यून उपमा का उदाहरण)

हरिसुल्लावा कुलबालिआणं लज्जाकडच्छिए सुरए।
कंठब्भंतरभमिआ अहरे च्चिअ हुरुहुराअंति॥ (शृङ्गार० ५४, ४)

लज्जा से कदर्थित सुरत के समय कंठ के भीतर भ्रमण करने वाले कुलबालिकाओं के हर्षोल्लास मानो अधर के ऊपर घूर-घूर कर रहे हैं।

हसिअमविआरमुद्धं भमिअं विरहिअविलाससुच्छाअम्।
भणिअं सहावसरलं धण्णाण घरे कलत्ताणम्॥
(दशरूपक प्र० २, पृ० ९६)

भाग्यवान व्यक्तियों के घरों की स्त्रियाँ स्वाभाविक मुग्ध हँसी हसती हैं, उनकी चेष्टायें विलास से रहित होती हैं और बोलचाल उनकी स्वभाव से सरल होती है।

हसिआइं समंसलकोमलाइं वीसंभकोमलं वअणं।
सब्भावकोमलं पुलइअं च णमिमो सुमहिलाणं॥
(स० कं० ५, ३७४)

श्रेष्ठ महिलाओं के गंभीर और कोमल हास्य, विश्वस्त और कोमल वचन और सद्भावपूर्ण कोमल रोमांच को हम नमस्कार करते हैं।
(उत्तमा नायिका का उदाहरण)

हसिअं सहत्थतालं सुक्खवडं उवगएहि पहिएहिं ।
पत्तप्फलसारिच्छे उड्डीणे पूसबन्दम्मि ॥
(स० कं० ३, १०९; गा० स० ३, ६३)

पत्र और फल के समान शुकसमूह के उड़ जाने पर सूखे वटवृक्ष के समीप आये हुए पथिकजन हाथ से ताली बजाकर हसने लगे ।

(भ्रांति अलंकार का उदाहरण)

हसिएहिं उवालम्भा अच्चुवआरेहिं रूसिअव्वाइं ।
अंसूहिं भण्डणाइं एसो मग्गो सुमहिलाणं ॥
(स० कं० ५, ३९१; गा० स० ६, १३)

हँसकर उपालंभ देना, विशेष आदर से रोष व्यक्त करना और आंसू बहा कर प्रणय-कलह करना यह सुमहिलाओं की रीति है । (ललिता का उदाहरण)

हिअअट्ठियमन्नुं खुअ अणरुट्ठमुहं पि मं पसायन्त ।
अवरद्धस्स वि ण हु दे बहुजाणय ! रूसिउं सक्कम् ॥
(काव्या०, पृ० ७५, १४३; ध्वन्या० २, पृ० २०३)

हे बहुज्ञ प्रियतम ! अन्दर क्रोध से जलनेवाली और ऊपर से प्रसन्नता दिखाने वाली मुझको प्रसन्न करते हुए, तुम्हारे अपराधी होते हुए भी मैं तुम्हारे ऊपर रोष करने में असमर्थ हूं । (अर्थशक्ति-मूल अर्थान्तरन्यास ध्वनि का उदाहरण)

हिअए रोसुग्गिण्णं पाअप्पहरं सिरेण पत्थन्तो ।
ण हओ दइओ माणंसिणीए अ थोरं सुअं रुण्णम् ॥
(स० कं० ३, १४२)

हृदय के रोष के कारण पादप्रहार की सिर से इच्छा करते हुए प्रियतम को उस मनस्विनी ने ताड़ना नहीं की, बल्कि वह बड़े बड़े आंसू गिराने लगी ।

(भाव अलङ्कार का उदाहरण)

हुमि अवहत्थिअरेहो णिरंकुसो अह विवेकरहिओ वि ।
सिविणे वि तुमम्मि पुणो पत्तिअभत्तिं न पुप्फुसिमि ॥
(काव्या० पृ० ८२, १५२; काव्यप्रकाश ७, ३२०; विषमबाणलीला)

हे भगवन् ! भले ही मैं मर्यादारहित हो जाऊं, निरङ्कुश हो जाऊं, विवेकहीन बन जाऊँ, फिर भी स्वप्न में भी मैं तुम्हारी भक्ति को विस्मृत नहीं कर सकता ।

(गर्भितत्व गुण का उदाहरण)

हेमंते हिमरअधूसरस्स ओअसरणस्स पहिअस्स ।
सुमरिअजाआमुहसिज्जिरस्स सीअं चिअ पणट्टं ॥
(शृङ्गार० ५६, १६)

हेमंतऋतु में हिमरज से धूसरित, चादर से रहित और अपनी प्रिया के मुख का स्मरण करके जिसे पसीना आ गया है ऐसे पथिक की सर्दी नष्ट हो गयी !

होइ न गुणाणुराओ जडाण णवरं पसिद्धिसरणाणं ।
किर पण्हुवइ ससिमणी चंदे ण पियामुहे दिट्ठे ॥
(काव्या०, पृ० ३५३, ५४४; ध्वन्या० उ० ३ पृ० ५७)

यश के पीछे दौड़ने वाले जड़ पुरुषों का गुणों में अनुराग नहीं होता। चन्द्रकांत मणि चन्द्रमा को देखकर ही पिघलता है, प्रिया का मुख देखकर नहीं। (निदर्शना अलङ्कार का उदाहरण)

होन्तपहिअस्स जाआ आउच्छणजीअधारणरहस्सम् ।
पुच्छन्ती भमइ घरं घरेसु पिअविरहसहिरीआ ॥
(स० कं० ५, २४३; गा० स० १, ४७; दशरूपक ४, पृ० २६९)

प्रिय के भावी विरह की आशङ्का से दुखी पथिक की पत्नी, पड़ोस के लोगों से, पति के चले जाने पर प्राणधारण के रहस्य के बारे में पूछती हुई घर-घर घूम रही है।

हंतुं विमग्गमाणो हन्तुं तुरिअस्स अप्पणा दहवअणं।
किं इच्छसि काउं जे पवअवइ ! पिअं ति विप्पिअं रहुवइणो ॥
(स० कं० ४, १५२; सेतु० ४, ३६)

हे सुग्रीव ! रावण का वध करने की इच्छा करता हुआ तू, स्वयं रावण का वध करने की शीघ्रता करने वाले राम को यह प्रिय है, ऐसा मान कर तू उनका अप्रिय ही कर रहा है। (आक्षेप अलङ्कार का उदाहरण)

हंसाण सरेहिं सिरी सारिज्जइ अह सराण हंसेहिं ।
अण्णोण्णं चिअ एए अप्पाणं नवर गरुएन्ति ॥
(काव्या० पृ० ३५७, ५५४; काव्यप्रकाश १०, ५२७)

हंसों की शोभा तालाब से और तालाबों की हंसों से बढ़ती है, वास्तव में दोनों ही एक दूसरे के महत्त्व को बढ़ाते हैं। (अन्योन्य अलङ्कार का उदाहरण)

हंहो कण्णुल्लीणा भणामि रे सुहअ ! किम्पि मा जूर ।
णिज्जणपारद्धीसु कहं पि पुण्णेहिं लद्धोसि ॥
(स० कं० ५, २२४)

हे सुभग ! तेरे कान के पास चुपके से मैं कह रही हूँ तू जरा भी खेद मत कर; निर्जन गलियों में तू बड़े पुण्य से मिला है।

हुं णिल्लज्ज ! समोसर तं चिअ अणुणेसु जाइ दे एअम् ।
पाअंगुट्ठालत्तएण तिलअं विणिम्मविअम् ॥
(स० कं० ५, ४९)

अरे निर्लज्ज ! दूर हो। जिसके पैर के अंगूठे के महावर ने तेरे मस्तक पर यह तिलक लगाया है, जा तू उसी की मनुहार कर।

हुं हुं हे भगसु पुणो ण सुअन्ति (? सुअइ) करेइ कालविक्खेअं ।
घरिणी हिअअसुहाइं पइणो कण्णे भजन्तस्स ॥
(स० कं० ५, २२०)

पति अपने हृदय के सुख को अपनी पत्नी के कान में धीरे-धीरे कह रहा है। उसे सुन कर पत्नी अपने पति को बार-बार कहने का आग्रह कर रही है; उसे नींद नहीं आ रही है, इसी तरह वह समय यापन कर रही है।

सहायक ग्रन्थों की सूची

पिशल : प्राकृत भाषाओं का व्याकरण; अनुवादक, हेमचन्द्र जोशी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९५८।

पतंजलि : महाभाष्य, भार्गवशास्त्री, निर्णयसागर, बम्बई, सन् १९५१।

पी० एल० वैद्य : प्राकृत शब्दानुशासन की भूमिका, जीवराज जैन ग्रन्थमाला, शोलापुर, १९५४।

ए० एन० उपाध्ये : लीलावईकहा की भूमिका, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, १९४९। 'पैशाची लैंग्वेज एण्ड लिटरेचर,' एनल्स ऑव भांडारकर ओरिंटिएल इन्स्टिट्यूट, जिल्द २१, १९३९-४०।

बृहत्कथाकोश (हरिषेण), बम्बई, १९४३।

भरतसिंह उपाध्याय : पालि साहित्य का इतिहास, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, वि० सं० २००८।

बरुआ और मित्र : प्राकृतधम्मपद, युनिवर्सिटी ऑव कलकत्ता, १९२१।

हरदेव वाहरी : प्राकृत और उसका साहित्य, राजकमल प्रकाशन दिल्ली (प्रकाशन का समय नहीं दिया)।

एस० के० कत्रे : प्राकृत लैंग्वेजेज् एण्ड देअर कॉन्ट्रीब्यूशन टू इण्डियन कल्चर, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, १९४५।

ए० एम० घाटगे : 'शौरसेनी प्राकृत,' जरनल ऑव द युनिवर्सिटी ऑव बम्बई, मई, १९३५। 'महाराष्ट्री लैंग्वेज एण्ड लिटरेचर,' वही, जिल्द, ४, भाग ६।

मनमोहन घोष : कर्पूरमंजरी की भूमिका, युनिवर्सिटी ऑव कलकत्ता, १९३९। 'महाराष्ट्री ए लेटर फ्रेज़ ऑव शौरसेनी,' जरनल ऑव डिपार्टमेण्ट ऑव लेटर्स, जिल्द २३, कलकत्ता, १९३३।

ग्रामर ऑफ मिडिल इण्डो-आर्यन, कलकत्ता, १९५१।

एस० के० चटर्जी : 'द स्टडी ऑव न्यू इण्डो-आर्यन,' जरनल ऑव डिपार्टमेण्ट ऑव लेटर्स, जिल्द २९, कलकत्ता, १९३६।

सुकुमार सेन : ग्रामर ऑव मिडिल इण्डो-आर्यन, कलकत्ता, १९५१।

पं० हरगोविन्ददास सेठ : पाइयसद्दमहण्णव, कलकत्ता, वि० सं० १९८५।

जैन ग्रंथावलि : श्री जैन श्वेतांबर कन्फरेंस, मुम्बई, वि० सं० १९६५।

जगदीशचन्द्र जैन : लाइफ इन ऐंशियेण्ट इण्डिया ऐज़ डिपिक्टेड इन जैन कैनन्स, बंबई, १९४७।

दो हजार बरस पुरानी कहानियाँ, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९४६।

भारत के प्राचीन जैन तीर्थ, जैन संस्कृति संशोधन, मंडल, बनारस, १९५२।

प्राचीन भारत की कहानियां, हिन्द किताब्स लिमिटेड, बंबई, १९४६।

हीरालाल रसिकदास कापडिया : हिस्ट्री ऑव द कैनोनिकल लिटरेचर ऑव द जैन्स बंबई, १९४१। पाइय भाषाओ अने साहित्य, वही, १९५०।

आगमो नुं दिग्दर्शन, विनयचंद गुलाबचंद, शाह, भावनगर, १९४८।

मोहनलाल दलीचंद देसाई : जैन साहित्य नो इतिहास, श्री श्वेतांबर जैन कान्फरेंस, बम्बई, १९३३।

मौरिस विण्टरनीज़ : हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द, २, कलकत्ता, १९३३

मुनि कल्याणविजय : नागरीप्रचारिणी पत्रिका, जिल्द १०-११ में 'वीर निर्वाणसंवत्' नामक लेख।

मुनि पुण्यविजय : बृहत्कल्पसूत्र छठे भाग की प्रस्तावना, आत्मानंद जैन सभा भावनगर १९४२।

अंगविज्जा की प्रस्तावना, प्राकृत जैन टैक्स्ट सोयायटी १९५७।

कल्पसूत्र (साराभाई मणिलाल नवाब, अहमदावाद, वि. सं. २००८) की प्रस्तावना।

दीघनिकाय, राइस डैविड्स, पालि टैक्स्ट सोसायटी, लंदन १८८९-१९११; राहुल सांकृत्यायन, हिन्दी अनुवाद, सारनाथ, १९३६।

मज्झिमनिकाय, पालि टैक्स्ट सोसाइटी, १८८८–१८९९; राहुल सांकृत्यायन, सारनाथ, १९३३।

विनयपिटक, लंदन, १८७९–१८८३; राहुल सांकृत्यायन, १९३५।

विनयवस्तु, गिलगिट मैनुस्क्रिप्ट, जिल्द ३, भाग २, श्रीनगर-काश्मीर, १९४२।

धम्मपद अट्ठकथा, पालि टैक्स्ट सोसायटी, १९०६–१९१५।

मलालसेकर : डिक्शनरी ऑव पालि प्रौपर नेम्स, १–२, लंदन, १९३७–८।

सुत्तनिपात, राहुल सांकृत्यायन, रंगून, १९३७।

जातक, आनन्दकौसल्यायन का हिन्दी अनुवाद, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।

मिलिन्दपञ्ह, भिक्षु जगदीश काश्यप बम्बई, १९४०।

याज्ञवल्क्य : याज्ञवल्क्यस्मृति, चौथा संस्करण, बम्बई, १९३६।

मनु : मनुस्मृति, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९४६।

ए० एल० बाशम : हिस्ट्री एण्ड डॉक्ट्रीन्स ऑव द आजीविकाज़।

हीरालाल जैन : षट्खण्डागम की प्रस्तावना, सेठ शिताबराय लक्ष्मीचन्द्र जैन साहित्योद्धारक फंड, अमरावती, १९३९–५८।

बी० सी० लाहा : इंडिया एज़ डिस्क्राइब्ड इन अर्ली टैक्स्ट ऑव बुद्धिज़्म एण्ड जैनिज़्म, लंदन, १९४१।

ब्यूलर : द इण्डियन सैक्ट ऑव द जैन्स, लंदन, १९०३।

नाथूराम प्रेमी : जैन साहित्य और इतिहास, हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, १९५८।

जान हर्टल : ऑन द लिटरेचर ऑव श्वेतांबर जैन्स, लीप्जिंग, १९२२।

मेयर जे० जे० : हिन्दू टेल्स, लंदन, १९०९।

पेन्ज़र : कथासरित्सागर (सोमदेव), टॉनी का अंग्रेज़ी अनुवाद, लंदन, १९२४–२८।

आल्सडोर्फ : बुलेटिन ऑव द स्कूल ऑव द स्कूल ऑव ओरिंटिएल स्टडीज़ जिल्द ८।

हर्मन जैकोबी : परिशिष्ट पर्व, कलकत्ता, १९३२।

स० आ० जोगलेकर : हाल सातवाहनाची गाथासप्तशती, प्रसादप्रकाशन, पुर्णे, १९५६।

बिहारी : बिहारीसतसई, देवेन्द्र शर्मा, आगरा, १९५८।

ए० बी० कीथ : द संस्कृत ड्रामा, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी, १९४५।

भरत : नाट्यशास्त्र, गायकवाड ओरिंटिएल सीरीज़, १९३६।

कोनो : कर्पूरमंजरी, हार्वर्ड युनिवर्सिटी, १९०१।

मानकड डी० आर : टाइप्स ऑव संस्कृत ड्रामा, करांची, १९३६।

दिनेशचन्द्र सरकार : ग्रामर आव द प्राकृत लैंग्वैज, युनिवर्सिटी ऑव कलकत्ता, १९४३।

सेलेक्ट इंस्क्रिप्शन्स, जिल्द १, कलकत्ता, १९४२।



अनुक्रमणिका

प

फ

ब

म

य



